

जैन दर्शन में तत्त्व और ज्ञान

{प्रोफेसर सागरमल जैन के दार्शनिक निबन्धों का संग्रह}

लेखक

प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

जैन दर्शन में तत्त्व और ज्ञान

{ प्रोफेसर सागरमल जैन के दार्शनिक निबन्धों का संग्रह भाग 10-12 }

सम्पादक

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

जैन दर्शन में तत्त्व और ज्ञान

{प्रोफेसर सागरमल जैन के दार्शनिक निबन्धों का संग्रह भाग 10-12}

प्रकाशक:

प्राकृत भारती अकादमी,

13-ए, गुरुनानक पथ,

मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017

फोन : 0141-2524827, 2520230

E-mail : prabharati@gmail.com

प्रकाशन सहयोगी :



बैंक ऑफ महाराष्ट्र
Bank of Maharashtra

भारत सरकार का उद्यम

एक परिवार एक बैंक

के

सहयोग (सी.एस.आर.) से

प्रथम संस्करण 2016

ISBN No. : 978-93-81571-73-6

मूल्य : ₹ 650/- रुपये

© लेखक एवं प्रकाशकाधीन

सेटिंग : प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

मुद्रक : दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जौहरी बाजार, जयपुर

Jain Darshan Me Tatva aur Gyan by Prof. Sagarmal Jain
Prakrit Bharati Academy, Jaipur

स्वकीय (लेखकीय)

मेरे प्रकाशित आलेखों के संग्रह का प्रयास चल रहा है। पूरी योजना व्यापक है, क्योंकि मेरे प्राकृत और जैन विद्या सम्बन्धी कुल आलेख 400 के लगभग हैं और पृष्ठ संख्या लगभग पाँच हजार। अतः कई खण्डों में उनके प्रकाशन की योजना बनी है। अभी तक लगभग 9 खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। अब मैं अपनी वय का 85वाँ वर्ष पार कर रहा हूँ आँख और शरीर की शक्ति शिथिल हो रही है। अतः प्रो. अम्बिकादत्तजी ने मेरे दार्शनिक आलेखों के सम्पादन एवं प्रूफ संशोधन का दायित्व स्वेच्छा से अपने ऊपर लिया अतः तत् सम्बन्धी जो भी संग्रह मेरे पास था वह उन्हें दे दिया गया, उन्होंने अपने सहयोगी प्रदीपजी खरे को साथ लेकर इस विषय में जो भी श्रम किया वह अनुमोदनीय है एवं इस हेतु मैं-उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। उनके सहयोगी प्रदीपजी खरे ने जो भी सहयोग उन्हें प्रदान किया उसके लिये वे भी आभार के पात्र हैं।

मैं प्राकृत भारती संस्थान और विशेष रूप से भाई देवेन्द्र राज जी मेहता का भी आभारी हूँ जो उन्होंने इन आलेखों के प्रकाशन का दायित्व अपने ऊपर लिया। इस कार्य में संस्थान एवं प्रकाशन कार्य के सभी सहयोगीजनों के प्रति भी मेरा आभार।

भवीदय :

प्रो. सागरमल जैन

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर-465001

(मध्य प्रदेश)

प्रकाशकीय

जैन, बौद्ध एवं चार्वाक दर्शन के मूलभूत तत्त्वों में इतनी उदारता एवं व्यापकता है कि विश्व की समस्याओं का व्यावहारिक समाधान ढूँढा जा सकता है। “जैन दर्शन में तत्त्व और ज्ञान” पुस्तक के लेखक डॉ. सागरमल जैन ने इस पुस्तक में तत्त्वों की ऐतिहासिक क्रमिकता प्रस्तुत करते हुए आधुनिक विज्ञान के साथ भी तुलना स्पष्ट की है, जो अपने आप में रुचिकर है। वर्तमान युग की भौतिकता को ध्यान में रखते हुए यह वर्णन आवश्यक भी है कि युवा पीढ़ी इन सबको सहजता से समझे।

यह पुस्तक आगम मर्मज्ञ ख्याति प्राप्त विद्वान् डॉ. सागरमल जैन सा. का गहन व गूढ़ अध्ययन का परिणाय है। इसमें जैन कर्म सिद्धान्त, मोक्ष का स्वरूप, अनेकान्त, बौद्ध धर्म में सामाजिक चेतना, धर्मनिरपेक्षता आदि-आदि विभिन्न विषयों के आलेखों के साथ ही धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण स्पष्ट किया गया है। आशा है कि इससे जैन तत्त्व व ज्ञान के जिज्ञासुओं की ज्ञान पीपासा शान्त होगी तथा सूधी स्वाध्यायियों को बहुत लाभ होगा।

बैंक ऑफ महाराष्ट्र द्वारा प्राकृत भारती अकादमी को सी.एस.आर. कार्यक्रम के सांस्कृतिक कार्यकलापों के अन्तर्गत पुस्तकों के प्रकाशन हेतु सहयोग दिया गया, उसके लिए हम उनका विशेष आभार व्यक्त करते हैं।

प्रकाशन से जुड़े सभी सदस्यों को धन्यवाद!

देवेन्द्रराज मेहता

संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

पुरोवाक्

जैन वाङ्मय गुण और परिमाण की दृष्टि से विपुलकाय है। इस विपुलकाय शास्त्र परम्परा को अपने अध्यवसाय से स्वायत्त करने वाले प्रो. सागरमल जैन अपने ढंग के अकेले व्यक्ति हैं। उनकी अद्यावधि सारस्वत् साधना पर दृष्टिपात करने से सहज ही विदित होता है कि उनके जीवन में एक अज्ञात प्रेरणा सक्रिय रूप से उनका निर्माण करती रही है। इस दृष्टि से उनके जीवन को प्रायोजित जीवन कहा जा सकता है। जैनागमीय चिन्तन परम्परा के भाष्य में समर्पित उनका जीवन ऊपर से देखने पर कर्मयोगी की तरह दिखता है, परन्तु अन्दर से देखने पर वे ज्ञानयोग की साधना में निरत दिखाई पड़ते हैं। उनकी आत्मप्रतिमा एक ज्ञानयोगी की है। आजीवन उन्होंने इसी आत्मप्रतिमा को न केवल पल्लवित किया है, बल्कि उसका संस्थानीकरण भी किया है। उनके संपूर्ण जीवन को आत्मक्रियान्वयन की साधना से अभिहित किया जाना सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है। जैन धर्म और दर्शन को आधुनिक युग की पदावली में वाक्-विग्रहित करना उनके आत्मक्रियान्वयन का आलम्बन रहा है। शाजापुर में बालकृष्ण 'नवीन' महाविद्यालय की स्थापना में साधकतम सहयोग, काशी में पार्श्वनाथ विद्याश्रम का एक अग्रणी जैनविद्या शोधसंस्थान के रूप में पुनरोद्धार और फिर अपने ही गृहनगर शाजापुर में प्राच्य विद्यापीठ की स्थापना उनकी आत्मविस्तारक कर्मठता को ही प्रमाणित करते हैं। अपने जीवन की हर एक परिस्थिति और भूमिका में उन्होंने जैनागमीय ज्ञान-साधना के विस्तरण में ही अपना आत्मविस्तार देखा है। उनके बृहत्तर वाङ्मयी व्यक्तित्व को ज्ञान की निजी साधना की अनुमत सीमा में समझा ही नहीं जा सकता है। इसके लिए यह देखना जरूरी है कि उनके संपर्क में आया हुआ प्रत्येक विद्यार्थी और शोधार्थी अपने-अपने तरीके से सागरमल को ही किस तरह व्यंजित करता है। इतना ही नहीं, उनके द्वारा स्थापित संस्थाएँ,

संयोजित पुस्तकालय और स्वयं उनका वाङ्मयी कृतित्व अनेकानेक सागरमल के प्राज्ञ-पुनर्भव की सम्भावना को भी सुनिश्चित करते हैं।

प्रो. सागरमल जैन ने जैनागमीय धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रभूत लेखन किया है। पुस्तकीय योजना में किए गये लेखन से उनके प्रकीर्ण लेखन कमतर महत्त्व के नहीं रहे हैं। किसी भी पुस्तकाकार लेखन में बहुत कुछ पादपूर्तिपरक हुआ करता है लेकिन निबन्धात्मक प्रकीर्ण लेखन अपनी प्रकृति में रचनात्मक अधिक होते हैं। यह एक विडम्बना से कम नहीं कि भारत के बौद्धिक मानस में पुस्तकाकार ज्ञान की गतिशीलता एवं प्रभावमत्ता निबन्धात्मक प्रकीर्ण लेखन की अपेक्षा अधिक होती है। इसमें दो राय नहीं है कि निबन्ध शैली के लेखन विशृंखलित हुआ करते हैं और सम्भवतः इसी कारण वैसे लेखन पाठक को उतना प्रभावित नहीं करते, परन्तु यदि एक व्यक्ति के द्वारा किसी विशेष क्षेत्र में लम्बे समय तक निबन्ध शैली में लेखन किया गया हो तो कालान्तर में उन्हें एक सघन और व्यापक अर्थान्वयन के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। आज भी भारत में बहुत बड़े-बड़े विद्वानों का प्रकीर्ण लेखन स्मृतियों के गर्त में पड़ा हुआ है जिन्हें पुस्तकाकार रूप में प्रस्तुत करने की महती आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक 'जैन दर्शन में तत्त्व और ज्ञान' प्रो. सागरमल जैन के शोधपरक प्रकीर्ण निबन्धों का एक ऐसा ही विशिष्ट संग्रह है। इसमें तत्त्वदर्शन, ज्ञानदर्शन, भाषादर्शन, अनेकान्तदर्शन और धर्मदर्शन से संबंधित वैसे गवेषणात्मक निबन्धों का चयन किया गया है जो भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों से संवाद करते हुए जैन धर्म और दर्शन के मूलगामी स्वरूप को उद्घाटित करते हैं। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में श्रमणपरम्परा के जीवन-दर्शन से संबंधित आलेख निवृत्तिवादी चिन्तन धारा के प्रवृत्तिमूलक मूल्यात्मक पक्ष को उजागर करते हैं।

अवधेय है कि आधुनिक युग को ज्ञान के उत्पादन का अन्तरानुशासिक युग कहा जाता है, परन्तु इस युग में जैनागमीय धर्म

और दार्शनिक चिन्तन का विकास जिस रीति से हुआ है उसमें आत्ममुग्ध साम्प्रदायिक निष्ठा बलवती दिखाई पड़ती है। इसका एक बहुत बड़ा कारण जैनविद्या के प्रवर्तक केन्द्रों का अन्तरानुशासिक चरित्र का नहीं होना है। प्रो. सागरमल जैन के अकादमिक व्यक्तित्व का विकास विश्वविद्यालयीय वातावरण में हुआ है। अतः उनके लेखन में साम्प्रदायिक आत्ममुग्धता के बदले अन्तरानुशासिक आलोचनात्मकता दिखाई पड़ती है। उनके लेखन की इसी विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए इस संग्रह ग्रन्थ के माध्यम से उनके द्वारा प्रस्तुत जैन दर्शन के विविध पक्षों को तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इस संग्रह को तैयार करने में ऐसा कुछ भी नहीं जिसे मैं अपना कह सकूँ। यदि अपना जैसा कुछ है भी तो बस इतना कि मैंने इन आलेखों के अकादमिक मूल्य को पहचाना है और स्मृतियों गर्त से इन्हें निकालकर पुस्तकाकार रूप में मात्र संयोजित कर दिया है। मेरे इस प्रयास से यदि प्रो. सागरमल जैन की ज्ञान साधना को दीर्घायुष्य प्राप्त होता है और उससे जिज्ञासु विद्यार्थी एवं शोधार्थी लाभान्वित होते हैं तो यही मेरे प्रयास की सार्थकता होगी। इस ग्रन्थ को तैयार करने में अपने दो शोधार्थियों डॉ. ऋषभ कुमार जैन एवं सचिन्द्र कुमार जैन को उनके सहयोग के लिए साधुवाद देता हूँ। इसके प्रकाशन की जिम्मेवारी प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर ने अपने ऊपर लेकर बड़ा उपकार किया है। यद्यपि यह कार्य उसकी स्थापना के उद्देश्यों के सर्वथा अनुरूप ही है। इस अहेतुक उपकार के लिए मैं प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर और विशेष रूप से पद्मभूषण श्री डी.आर. मेहता जी के प्रति हृदय से आभार और कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

15 मार्च, 2016, सागर

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

अनुक्रम

पुरोवाक्

1. जैन तत्त्वदर्शन

1.1. जैन तत्त्वमीमांसा का ऐतिहासिक विकास क्रम	3
1.2. जैन दर्शन में सत् का स्वरूप	13
1.3. जैन दर्शन में द्रव्य, गुण एवं पर्याय की अवधारणा	23
1.4. जैन दर्शन में पंचास्तिकाय एवं षट्द्रव्य	40
1.5. जैन दर्शन में आत्मा या जीवतत्त्व	55
1.6. महावीर के समकालीन आत्मवाद एवं जैन आत्मवाद का वैशिष्ट्य	74
1.7. जैन दर्शन में पुद्गल तत्त्व और परमाणु की अवधारणा	85
1.8. जैन तत्त्वमीमांसा और आधुनिक विज्ञान	98

2. जैन ज्ञानदर्शन

2.1. जैन दर्शन में पंचज्ञानवाद	115
2.2. जैन दर्शन में प्रमाण विवेचन	133
2.3. जैन दर्शन में प्रमाण लक्षण विवेचन	139
2.4. जैन दर्शन में ज्ञान का प्रामाण्य और कथन की सत्यता	146
2.5. जैन दर्शन के तर्क प्रमाण का आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन	156
2.6. बौद्ध और जैन प्रमाणमीमांसा का तुलनात्मक अध्ययन	184
2.7. जैन दर्शन का नयसिद्धान्त	201
2.8. निश्चय (परमार्थ) और व्यवहार : किसका आश्रय लें ?	210
2.9. सप्तभंगी : प्रतीकात्मक और त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र के संदर्भ में	231
2.10. शब्द की वाच्य शक्ति	250
2.11. जैन वाक्य दर्शन	260

3. जैन धर्मदर्शन एवं आचार शास्त्र

3.1. प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक विकास एवं सांस्कृतिक प्रदेश	279
3.2. नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता एवं सापेक्षता का प्रश्न	285
3.3. मूल्य और मूल्यबोध की सापेक्षता का सिद्धान्त	299

3.4. हरिभद्र के धर्मदर्शन में क्रांतिकारी तत्त्व	319
3.5. हरिभद्र की क्रान्तदर्शी दृष्टि	329
3.6. हरिभद्र के धूर्तख्यान का मूल स्रोत एवं वैज्ञानिक महत्व	333
3.7. जैन दार्शनिकों का अन्य दर्शनों को त्रिविध अवदान	336
3.8. सामाजिक समस्याओं के समाधान में जैनधर्म का योगदान	347
3.9. जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त	358
3.10. जैन, बौद्ध और गीता के दर्शन में कर्म का अशुभत्व, शुभत्व और शुद्धत्व	398
3.11. जैन, बौद्ध और गीता दर्शन में मोक्ष का स्वरूप	418
3.12. गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव और विकास	428
3.13. संयम : जीवन का सम्यक् दृष्टिकोण	444
3.14. जैन-योग-पद्धति और उस पर अन्य योग-पद्धतियों का प्रभाव	455
3.15. तंत्र साधना और जैन जीवन-दृष्टि	472
3.16. ऋषिभाषित का धर्म संकुल	489
4. जैन अनेकान्तदर्शन	
4.1. जैन दर्शन में अनेकान्त : सिद्धान्त और व्यवहार	509
5. जैनागम और चार्वाक दर्शन	
5.1. प्राचीन जैनागमों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतिकरण	573
5.2. ऋषिभाषित में प्रस्तुत चार्वाक दर्शन	581
5.3. राजप्रश्नीय सूत्र में चार्वाकमत का प्रस्तुतिकरण एवं समीक्षा	586
6. जैन दृष्टि में बौद्ध धर्मदर्शन	
6.1. भारतीय संस्कृति के दो प्रमुख घटकों का सहसम्बन्ध	593
6.2. भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म एवं दर्शन	607
6.3. महायान बौद्ध धर्म की समन्वयात्मक जीवन-दृष्टि	629
6.4. बौद्ध धर्म में सामाजिक चेतना	640
6.5. धर्मनिरपेक्षता और बौद्ध धर्म	649
7. प्रो. सागरमल जैन का जीवनवृत्त	
7.1. प्रो. सागरमल जैन का अद्यावधि जीवनवृत्त	659

1

जैन तत्त्वदर्शन

जैन तत्त्वमीमांसा का ऐतिहासिक विकास क्रम

जैन धर्म मूलतः आचार प्रधान है अतः उसमें तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं का विकास भी आचार मीमांसा के परिप्रेक्ष्य में ही हुआ है। उसकी तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं में मुख्यतः पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य, षट्जीवनिकाय और नव या सप्त तत्त्वों की अवधारणा प्रमुख है। परम्परा की दृष्टि से तो ये सभी अवधारणाएं अपने पूर्ण रूप में सर्वज्ञ-प्रणीत और सार्वकालिक मानी गयी हैं, किन्तु साहित्यिक-साक्ष्यों की दृष्टि से विद्वानों ने इनका विकास कालक्रम में माना है। कालक्रम में निर्मित ग्रन्थों के आधार पर हमने भी जैनदर्शन की तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं में पंचास्तिकाय की अवधारणा को प्राचीनतम माना है। इसी के आधार पर हमने इसकी विकासयात्रा को चित्रित किया है अतः सर्वप्रथम उसकी चर्चा करेंगे।

अस्तिकाय की अवधारणा

विश्व के मूलभूत घटकों के रूप में पंचास्तिकायों की अवधारणा जैनदर्शन की अपनी मौलिक विचारणा है। पंचास्तिकायों का उल्लेख आचारांग-एवं सूत्रकृतांग में अनुपलब्ध है, किन्तु ऋषिभाषित (ई.पू. चतुर्थ शती) के पार्श्व नामक अध्ययन में पार्श्व की मान्यताओं के रूप में पंचास्तिकायों का वर्णन है। इससे फलित होता है कि यह अवधारणा कम-से-कम पार्श्वकालीन (ई.पू. आठवीं शती) तो है ही। महावीर की परम्परा में भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम हमें इसका उल्लेख मिलता है। जैनदर्शन में अस्तिकाय का तात्पर्य विस्तारयुक्त अस्तित्ववान् द्रव्य से है। ये पाँच अस्तिकाय निम्न हैं - जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल। इन पंचास्तिकायों में धर्म, अधर्म और आकाश को एक-एक द्रव्य और जीव तथा पुद्गल को अनेक द्रव्य रूप माना गया है। ई.सन् की तीसरी शती के पश्चात् से आज तक इस अवधारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता है। मात्र षट्द्रव्यों की अवधारणा के विकास के साथ-साथ काल को अनस्तिकाय-द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। ई.सन् की तीसरी-चौथी शती तक, अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पूर्व यह विवाद प्रारम्भ हो गया था कि काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाय या नहीं। विशेषावश्यकभाष्य के काल तक अर्थात् ईसा की सातवीं शती तक काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में

स्वीकार करने के संबंध में मतभेद था। कुछ जैन दार्शनिक काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते थे और कुछ उसे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानकर जीव एवं पुद्गल की पर्याय रूप ही मानते थे, किन्तु बाद में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-दोनों परम्पराओं में अस्तिकाय और द्रव्य की अवधारणाओं का समन्वय करते हुए काल को अनस्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार पंचास्तिकाय में काल को जोड़ने पर जैनदर्शन में षट्द्रव्य की अवधारणा विकसित हुई। अस्तिकाय की अवधारणा जैनों की मौलिक अवधारणा है। किसी अन्य दर्शन में इसकी उपस्थिति के संकेत नहीं मिलते। मेरी दृष्टि में प्राचीन काल में अस्तिकाय का तात्पर्य मात्र अस्तित्व रखने वाली सत्ता था, किन्तु आगे चलकर जब अस्तिकाय और अनस्तिकाय-ऐसे दो प्रकार के द्रव्य माने गये, तो अस्तिकाय का तात्पर्य आकाश में विस्तार युक्त द्रव्य से माना गया। पारम्परिक-भाषा में अस्तिकाय को बहु-प्रदेशी द्रव्य भी कहा गया है, जिसका तात्पर्य यही है कि जो द्रव्य आकाश-क्षेत्र में विस्तारित है, वही 'अस्तिकाय' है।

पंचास्तिकाय

जैसा कि जैनदर्शन में वर्तमान में जो षट्द्रव्य की अवधारणा है, उसका विकास इसी पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। पंचास्तिकायों में काल को जोड़कर लगभग ईसा की प्रथम-द्वितीय शती में षट्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई है। जहाँ तक पंचास्तिकाय की अवधारणा का प्रश्न है, वह निश्चित ही प्राचीन है, क्योंकि उसका प्राचीनतम उल्लेख हमें 'इसिभासियाई' के पार्श्व नामक अध्ययन में मिलता है। ऋषिभाषित की प्राचीनता निर्दिष्ट है। पं. दलसुखभाई के इस कथन में कि 'पंचास्तिकाय की अवधारणा परवर्ती काल में बनी हैं'- इतना ही सत्यांश है कि महावीर की परम्परा में आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के रचनाकाल तक इस अवधारणा का उल्लेख नहीं मिलता है, क्योंकि मूल में यह अवधारणा पार्श्वपत्न्यों की थी। जब पार्श्व के अनुयायियों को महावीर के संध में समाहित कर लिया गया, तो उसके साथ ही पार्श्व की अनेक मान्यताएँ भी महावीर की परम्परा में स्वीकृत की गयीं। इसी क्रम में यह अवधारणा महावीर की परम्परा में स्पष्ट रूप से मान्य हुई। भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम यह कहा गया कि यह लोक, धर्म, अधर्म, आकाश, अजीव और पुद्गल रूप है। ऋषिभाषित में तो मात्र पाँच अस्तिकाय हैं - इतना ही निर्देश है, उनके नामों का भी उल्लेख नहीं है। चाहे ऋषिभाषित के काल में पंचास्तिकायों के नाम निर्धारित हो भी चुके हों, किन्तु फिर भी उनके स्वरूप के विषय में वहाँ कोई भी सूचना नहीं मिलती। धर्म, अधर्म आदि का जो अर्थ, आज है, वह कालक्रम में विकसित हुआ है। भगवतीसूत्र में ही हमें

ऐसे दो संदर्भ मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में धर्म-अस्तिकाय और अधर्म-अस्तिकाय का अर्थ गति और स्थिति में सहायक द्रव्य नहीं था। भगवतीसूत्र के ही बीसवें शतक में धर्मास्तिकाय के जो पर्यायवाची दिये गये हैं, उनमें अट्ठारह पापस्थानों से विरति, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के पालन को ही धर्मास्तिकाय कहा गया है। इसी प्रकार, प्राचीनकाल में अठारह पापस्थानों के सेवन तथा पाँच समितियों और तीन गुप्तियों के परिपालन नहीं करने को ही अधर्मास्तिकाय कहा जाता था। इसी प्रकार, भगवतीसूत्र के सोलहवें शतक में यह प्रश्न उठाया गया कि लोकान्त में खड़ा होकर कोई देव अलोक में अपना हाथ हिला सकता है या नहीं? इसका न केवल नकारात्मक उत्तर दिया गया, अपितु यह भी कहा गया कि गति की सम्भावना जीव और पुद्गल में है और अलोक में जीव और पुद्गल का अभाव होने से ऐसा संभव नहीं है। यदि उस समय धर्मास्तिकाय को गति का माध्यम माना गया होता, तो पुद्गल का अभाव होने पर वह ऐसा नहीं कर सकता, इस प्रकार का उत्तर नहीं दिया जाता, अपितु यहाँ धर्मास्तिकाय का अभाव ही बताया जाता है। धर्मास्तिकाय गति में सहायक द्रव्य है और अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक द्रव्य है- यह अवधारणा एक परवर्ती घटना है, फिर भी इतना निश्चित है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक अर्थात् ईसा की तृतीय शताब्दी के उत्तरार्ध और चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह अवधारणा अस्तित्व में आ गई थी। भगवती आदि में जो पूर्व संदर्भ निर्दिष्ट किए गए हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल अर्थात् ई.पू. तीसरी-चौथी शती तक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अर्थ धर्म और अधर्म की ही अवधारणाएँ थीं।

द्रव्य की अवधारणा

विश्व के मूलभूत घटक को ही सत् या द्रव्य कहा जाता है। प्राचीन भारतीय-परम्परा में जिसे सत् कहा जाता था, वही आगे चलकर न्याय-वैशेषिकदर्शन के प्रभाव से द्रव्य के रूप में माना गया। जिन्होंने विश्व के मूलघटक को एक, अद्वय और अपरिवर्तनशील माना, उन्होंने सत् शब्द का ही अधिक प्रयोग किया, परन्तु जिन्होंने उसे अनेक व परिवर्तनशील माना, उन्होंने सत् के स्थान पर द्रव्य शब्द का प्रयोग किया। भारतीय-चिन्तन में वेदान्त, में सत् शब्द प्रयोग हुआ, जबकि दर्शन स्वतन्त्र धाराओं, यथा-न्याय, वैशेषिक आदि में द्रव्य और पदार्थ शब्द अधिक प्रचलन में रहा, क्योंकि द्रव्य शब्द ही परिवर्तनशीलता का सूचक है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है, आचारांग में दवी (द्रव्य) शब्द का प्रयोग तो उपलब्ध होता है, किन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ में नहीं, अपितु द्रवित के अर्थ में है। (जैनदर्शन का आदिकाल, पृ.21)

‘द्रव्य’ शब्द का प्रयोग प्राचीन स्तर के आगमों में सर्वप्रथम उत्तराध्ययन में मिलता है। उत्तराध्ययन के 26वें अध्ययन, जिसमें द्रव्य का विवेचन है, अपेक्षाकृत परवर्ती माना जाता है। वहाँ न केवल ‘द्रव्य’ शब्द का प्रयोग हुआ है, अपितु द्रव्य, गुण और पर्याय के पारस्परिक संबंध को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। उसमें द्रव्य को गुणों का आश्रयस्थल माना गया है। मेरी दृष्टि में उत्तराध्ययन की द्रव्य की यह परिभाषा न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित लगती है। पूज्यवाद देवनन्दी ने पाँचवीं शताब्दी में अपनी तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में गुणों के समुदाय को भी द्रव्य कहा है। इसमें द्रव्य और गुण की अभिन्नता पर अधिक बल दिया गया है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि में उद्धृत यह चिन्तन बौद्धों के पंच स्कन्धवाद से प्रभावित है। यद्यपि यह अवधारणा पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में ही सर्वप्रथम मिलती है, किन्तु उन्होंने “गुणानां समूहो द्रव्यो”- इस वाक्यांश को उद्धृत किया है, अतः यह अवधारणा पाँचवीं शती से पूर्व की है। द्रव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में ‘द्रव्य गुणों का आश्रयस्थान है’ और ‘द्रव्य गुणों का समूह है’- ये दोनों ही अवधारणाएँ मेरी दृष्टि में तीसरी शती से पूर्व की है। इस संबंध में जैनों की अनैकान्तिकदृष्टि से की गयी प्रथम परिभाषा हमें ईसा की चतुर्थ शती के प्रारम्भ में तत्त्वार्थसूत्र में मिलती है, जहाँ द्रव्य को गुण और पर्याययुक्त कहा गया है। इस प्रकार, द्रव्य की परिभाषा के संदर्भ में अनैकान्तिकदृष्टि का प्रयोग सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में मिलता है।

षट्द्रव्य

यह तो हम स्पष्ट कर चुके हैं कि षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। लगभग ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में ही पंचास्तिकायों के साथ काल को भी स्वतंत्र द्रव्य मानकर षट्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई थी। यद्यपि काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं? इस प्रश्न पर लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक यह विवाद चलता रहा है, जिसके संकेत हमें तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य से लेकर विशेषावश्यकभाष्य की रचनाओं तक अनेक ग्रंथों में मिलते हैं, किन्तु ऐसा लगता है कि सातवीं शताब्दी के पश्चात् यह विवाद समाप्त हो गया और श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों परम्पराओं में षट्द्रव्यों की मान्यता पूर्णतः स्थिर हो गई, उसके पश्चात् उसमें कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ये षट्द्रव्य निम्न हैं- धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल और काल। आगे चलकर इन षट्द्रव्यों का वर्गीकरण अस्तिकाय-अनस्तिकाय, चेतन-अचेतन अथवा मूर्त-अमूर्त के रूप में किया जाने लगा। अस्तिकाय और अनस्तिकाय द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म-अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल- इन पाँच को अस्तिकाय और काल को अनस्तिकाय-द्रव्य माना गया। चेतन-अचेतन द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म,

अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल इन पाँच को अचेतन द्रव्य और जीव को चेतन-द्रव्य माना गया है। मूर्त और अमूर्त द्रव्यों की अपेक्षा से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल- इन पाँच को अमूर्त द्रव्य और पुद्गल को मूर्त द्रव्य माना गया है।

जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि विद्वानों ने यह माना है कि जैन-दर्शन में द्रव्य की अवधारणा का विकास न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित है। जैनाचार्यों ने वैशेषिक-दर्शन की द्रव्य की अवधारणा को अपनी पंचास्तिकाय की अवधारणा से समन्वित किया है, अतः जहाँ वैशेषिक-दर्शन में नौ द्रव्य माने गए थे, वहाँ जैनों ने पंचास्तिकाय के साथ काल को जोड़कर मात्र छः द्रव्य ही स्वीकार किए। इनमें से भी जीव (आत्मा) आकाश और काल-ये तीन द्रव्य दोनों ही परम्पराओं में स्वीकृत रहे। पंचमहाभूतों, जिन्हें वैशेषिक दर्शन में द्रव्य माना गया है, में आकाश को छोड़कर शेष पृथ्वी, अप(जल), तेज(अग्नि) और मरुत(वायु)-इन चार द्रव्यों को जैनों ने स्वतंत्र द्रव्य न मानकर अजीव-द्रव्य के ही भेद माना है। दिक् और मन-इन दो द्रव्यों को जैनों ने स्वीकार नहीं किया, इनके स्थान पर उन्होंने पाँच अस्तिकायों में से धर्म, अधर्म और पुद्गल-ऐसे अन्य तीन द्रव्य निश्चित किए। ज्ञातव्य है कि जहाँ अन्य परम्पराओं में पृथ्वी, अप, वायु और अग्नि-इन चारों को जड़ माना गया, वहाँ जैनों ने पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय और वायुकाय के रूप में इन्हें चेतन माना है। इस प्रकार, जैनदर्शन की षट्द्रव्य की अवधारणा अपने आप में मौलिक है। अन्य दार्शनिक परम्पराओं से उसका आंशिक साम्य ही देखा जाता है। यद्यपि इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण थोड़ा भिन्न है। मेरा मानना है कि जब तक ये चारों जब तक किसी जीव के काय (शरीर) रूप में हैं, तब तक ही सजीव होते हैं। इसका मूल कारण यह है कि उन्होंने इस अवधारणा का विकास अपनी मौलिक पंचास्तिकाय की अवधारणा से किया है।

नवतत्त्व की अवधारणा

पंचास्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा के समान ही नवतत्त्वों की अवधारणा भी जैनपरम्परा की अपनी मौलिक एवं प्राचीनतम अवधारणा है। इस अवधारणा के मूल बीज आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम में भी मिलते हैं। उसमें सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि (मोक्ष), असिद्धि(बंधन) आदि के अस्तित्व को मानने वाली ऐकान्तिक विचारधाराओं के उल्लेख हैं (1/7/1/2000)। इस उल्लेख में आस्रव-संवर, पुण्य-पाप तथा बंधन-मुक्ति के निर्देश हैं। वैसे आचारांगसूत्र में जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष-ऐसे नवों तत्त्वों के उल्लेख प्रकीर्ण रूप से तो मिलते हैं, किन्तु एक साथ ये नौ तत्त्व हैं-ऐसा उल्लेख नहीं है।

सूत्रकृतांग में भी अस्ति और नास्ति की कोटियों की चर्चा हुई है। उसमें जिन्हें अस्ति कहना चाहिए, उनका निर्देश भी है। उसके अनुसार, जिन तत्त्वों को अस्ति कहना चाहिए, वे निम्न हैं - लोक, अलोक, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अक्रिया, क्रोध, मान, माया, प्रेम, द्वेष, चतुरंत संसार, देव, देवी, सिद्धि, असिद्धि, सिद्धनिजस्थान, साधु, असाधु, कल्याण और पाप।

इस विस्तृत सूची का निर्देश सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन में हुआ है। जहाँ जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अधिकरण, बंध और मोक्ष का उल्लेख है। पं. दलसुखभाई मालवणिया का मानना है कि इनमें से वेदना, क्रिया और अधिकरण को निकालकर ही आगे नौ तत्त्वों की अवधारणा बनी होगी, जिसका निर्देश हमें समवायांग(9) और उत्तराध्ययन (27/14) में मिलता है। उन्हीं नौ तत्त्वों में से आगे चलकर ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उमास्वामी ने पुण्य और पाप को आस्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके सात तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की। इन सात अथवा नौ तत्त्वों की चर्चा हमें परवर्ती सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों के ग्रन्थों में मिलती है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनों में सात, तत्त्वों की अवधारणा भी पंच-अस्तिकाय की अवधारणा से ही एक कालक्रम में विकसित होकर लगभग ईसा की तीसरी-चतुर्थ शती में अस्तित्व में आयी है। सातवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य जो मुख्य काम इन अवधारणाओं के संदर्भ में हुआ, वह यह कि उन्हें सम्यक् प्रकार से व्याख्यायित किया गया और उनके भेद-प्रभेद की विस्तृत चर्चा की गयी।

षट्जीवनिकाय की अवधारणा

पंचास्तिकाय के साथ-साथ षट्जीवनिकाय की चर्चा भी जैन ग्रंथों में उपलब्ध है। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय के विभाग के रूप में षट्जीवनिकाय की यह अवधारणा विकसित हुई है। षट्जीवनिकाय निम्न हैं- पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। पृथ्वी आदि के लिए 'काय' शब्द का प्रयोग प्राचीन है। दीर्घनिकाय में अजितकेशकम्बलिन् के मत को प्रस्तुत करते हुए- पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय और वायुकाय का उल्लेख हुआ है। उसी ग्रंथ में पकुधकच्चायन के मत के संदर्भ में पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु, सुख, दुःख और जीव-इन सात कार्यों की चर्चा है। इससे यह फलित होता है कि पृथ्वी, अप आदि के लिये काय संज्ञा अन्य श्रमण परम्पराओं में प्रचलित थी। यद्यपि काय कौन-कौन से और कितने हैं- इस प्रश्न को लेकर उनमें परस्पर मतभेद थे।

अजितकेशकम्बलिन् पृथ्वी, अप, तेजस् और वायु- इन चार महाभूतों को काय कहता था, तो पकुधकच्चायन इन चार के साथ सुख, दुःख और जीव-इन तीन को सम्मिलित कर सात काय मानते थे। जैनों की स्थिति इनसे भिन्न थी, वे जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल- इन पाँच को काय मानते थे, किन्तु इतना निश्चित है कि उनमें पंच अस्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा लगभग ई.पू. छठवीं-पाँचवीं शती में अस्तित्व में थी, क्योंकि आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में इन षट्जीवनिकायों का और ऋषिभाषित के पार्श्व अध्ययन में पंच अस्तिकायों का स्पष्ट उल्लेख है। इन सभी ग्रंथों को सभी विद्वानों ने ई.पू. पाँचवीं-चौथी शती का और पालिनिपिटक के प्राचीन अंशों का समकालिक माना है। हो सकता है कि ये अवधारणाएं क्रमशः पार्श्व और महावीरकालीन हों। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय की अवधारणा मूलतः पार्श्व की परम्परा की रही है, जिसे लोक की व्याख्या के प्रसंग में महावीर की परम्परा में भी मान्य कर लिया गया था। लोक के स्वरूप की व्याख्या के संदर्भ में महावीर ने पार्श्व की अवधारणाओं को स्वीकार किया था- ऐसा उल्लेख भगवतीसूत्र में है, अतः इसी क्रम में उन्होंने पार्श्व की पंचास्तिकाय की अवधारणा को भी मान्यता दी होगी।

यहाँ हमारा विवेच्य षट्जीवनिकाय की अवधारणा है, जो निश्चित रूप से महावीरकालीन तो है ही और उसके भी पूर्व की हो सकती है, क्योंकि इसकी चर्चा आचारांग के प्रथम अध्ययन में है। यह तो निश्चित सत्य है कि न केवल वनस्पति और अन्य जीव-जन्तु सजीव हैं, अपितु पृथ्वी, अप, तेज और वायु भी सजीव हैं, यह अवधारणा स्पष्ट रूप से जैनों की रही है। सांख्य, न्याय-वैशेषिक आदि प्राचीन दर्शन-धाराओं में इन्हें पंचमहाभूतों के रूप में जड़ ही माना गया था, जबकि जैनों में इन्हें चेतन/सजीव मानने की परम्परा रही है। पंचमहाभूतों में मात्र आकाश ही ऐसा है- जिसे जैन-परम्परा भी अन्य दर्शन परम्पराओं के समान अजीव (जड़) मानती है। यही कारण था कि आकाश की गणना पंचास्तिकाय में तो की गई, किन्तु षट्जीवनिकाय में नहीं, जबकि पृथ्वी, अप, तेज और वायु को षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत माना गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन-परम्परा ने; पृथ्वी, जल आदि के आश्रित जीव रहते हैं- इतना ही न मानकर यह भी माना कि ये स्वयं जीव हैं, अतः जैन-धर्म की साधना में और विशेष रूप से जैन मुनि-आचार में इनकी हिंसा से बचने के निर्देश दिये गये हैं। जैन-आचार में अहिंसा के परिपालन में जो सूक्ष्मता और अतिवादिता आयी है, उसका मूल कारण यह षट्जीवनिकाय की अवधारणा है। यह स्वाभाविक था कि जब पृथ्वी, पानी, वायु आदि को सजीव मान लिया गया, तो अहिंसा के परिपालन के लिये इनकी हिंसा से बचना आवश्यक हो गया।

यह स्पष्ट है कि षट्जीवनिकाय की अवधारणा जैन-दर्शन की प्राचीनतम अवधारणा है। प्राचीन काल से लेकर यह आज तक यथावत रूप से मान्य है। तीसरी शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी के मध्य इस अवधारणा में वर्गीकरण संबंधी कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों को छोड़कर अन्य कोई मौलिक परिवर्तन हुआ हो- ऐसा कहना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि आचारांग के बाद सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के जीव संबंधी अवधारणा में कुछ विकास अवश्य हुआ है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार, जीवों की उत्पत्ति किस-किस योनि में होती है तथा जब वे एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करते हैं, तो अपने जन्म-स्थान में किस प्रकार आहार ग्रहण करते हैं, इसका विवरण सूत्रकृतांग आहारपरिज्ञा नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध में है। यह भी ज्ञातव्य है कि उसमें जीवों के एक प्रकार को 'अनुस्यूत' कहा गया है। संभवतः इसी से आगे जैनों में अनन्तकाय और प्रत्येक वनस्पति की अवधारणाओं का विकास हुआ है। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों में किस वर्ग में कौन से जीव हैं, यह भी परवर्ती काल में ही निश्चित हुआ, फिर भी भगवती, जीवाजीवाभिगाम, प्रज्ञापना के काल तक, अर्थात् ई. की तीसरी शताब्दी तक यह अवधारणा विकसित हो चुकी थी, क्योंकि प्रज्ञापना में इन्द्रिय, आहार और पर्याप्ति आदि के संदर्भ में विस्तृत विचार होने लगा था।

ईसवीं सन् की तीसरी शताब्दी के बाद षट्जीवनिकाय में त्रस स्थावर के वर्गीकरण को लेकर एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। आचारांग से लेकर तत्त्वार्थसूत्र के काल तक पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर माना जाता था, जबकि अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस कहा जाता था। उत्तराध्ययन का अन्तिम अध्याय, कुन्दकुन्द का पंचास्तिकाय और उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर और अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि को त्रस मानता है। द्वीन्द्रिय आदि को त्रस मानने की परम्परा का विकास हुआ, यद्यपि कठिनाई यह थी कि अग्नि और वायु में स्पष्टतः गतिशीलता देखे जाने पर उन्हें स्थावर कैसे माना जाय? प्राचीन आगमों में जहाँ पाँच एकेन्द्रिय जीवों के साथ-साथ त्रस का उल्लेख है, वहाँ उसे त्रस और स्थावर का वर्गीकरण नहीं मानना चाहिये, अन्यथा एक ही आगम में अन्तर्विरोध मानना पड़ेगा, जो समुचित नहीं है। इस समस्या का मूल कारण यह था कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस नाम से अभिहित किया जाता था, अतः यह माना गया कि द्वीन्द्रिय से भिन्न सभी एकेन्द्रिय स्थावर हैं। इस चर्चा के आधार पर इतना तो मानना होगा कि लगभग छठवीं शताब्दी के पश्चात् ही त्रस और स्थावर के वर्गीकरण की धारणा में परिवर्तन हुआ तथा आगे

चलकर श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों परम्पराओं में पंच स्थावर की अवधारणा दृढ़ीभूत हो गयी। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जब वायु और अग्नि को त्रस माना जाता था, तब द्वीन्द्रियादि त्रसों के लिए उदार (उराल) त्रस शब्द का प्रयोग होता था, पहले गतिशीलता की अपेक्षा से त्रस और स्थावर का वर्गीकरण होता था और उसमें वायु और अग्नि में गतिशीलता मानकर उन्हें त्रस माना जाता था। वायु की गतिशीलता स्पष्ट थी, अतः सर्वप्रथम उसे त्रस कहा गया। बाद में सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात हुआ कि अग्नि भी ईंधन के सहारे धीरे-धीरे गति करती हुई फैलती जाती है, अतः उसे भी त्रस कहा गया।

जल की गति केवल भूमि के ढलान के कारण होती है, स्वतः नहीं, अतः उसे पृथ्वी एवं वनस्पति के समान स्थावर ही माना गया। किन्तु वायु और अग्नि में स्वतः गति होने से उन्हें त्रस माना गया। पुनः, जब आगे चलकर द्वीन्द्रिय आदि को ही त्रस और सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मान लिया गया, तो पूर्व आगमिक वचनों से संगति बैठाने का प्रश्न आया, अतः श्वेताम्बर परम्परा में यह माना गया कि लब्धि की अपेक्षा से तो वायु एवं अग्नि स्थावर हैं, किन्तु गति की अपेक्षा से उन्हें त्रस कहा गया है। दिगम्बर-परम्परा में धवला टीका (10वीं शती) में इसका समाधान यह कहकर किया गया कि वायु एवं अग्नि को स्थावर कहे जाने का आधार उनकी गतिशीलता न होकर स्थावर-नामकर्म का उदय है। दिगम्बर-परम्परा में ही कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने यह समन्वय निश्चय और व्यवहार के आधार पर किया है। वे लिखते हैं- पृथ्वी, अप और वनस्पति- ये तीन स्थावर- नामकर्म के उदय से स्थावर कहे जाते हैं, किन्तु वायु और अग्नि पंच स्थावर में वर्गीकृत किये जाते हुए भी चलन-क्रिया दिखाई देने से व्यवहार से त्रस कहे जाते हैं। वस्तुतः यह सब प्राचीन और परवर्ती ग्रन्थों में जो मान्यताभेद आ गया था, उससे संगति बैठाने का एक प्रयत्न था।

जहाँ तक जीवों के विविध वर्गीकरणों का प्रश्न है, निश्चय ही वे सब वर्गीकरण ई. सन् की दूसरी-तीसरी शती से लेकर दसवीं शती तक की कालावधि में स्थिर हुए हैं। इस काल में जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि अवधारणाओं का विकास हुआ है। भगवती जैसे अंग आगमों में जहाँ इन विषयों की चर्चा है, वहाँ प्रज्ञापना आदि अंगबाह्य ग्रंथों का निर्देश हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ये विचारणाएँ ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के बाद ही विकसित हुई। ऐसा लगता है कि प्रथम अंग बाह्य आगमों में उनका संकलन किया गया है और फिर माथुरी एवं वल्लभी वाचनाओं के समय उन्हें अंग आगमों में समाविष्ट कर इनकी विस्तृत विवेचना को

देखने के लिए तद्गत ग्रन्थों का निर्देश कर दिया गया। इस प्रकार, जैन साहित्यिक-साक्ष्यों के आधार पर माना जा सकता है कि जैन तत्त्वमीमांसा का कालक्रम में विकास हुआ है। यद्यपि परम्परागत मान्यता जैन-दर्शन को सर्वज्ञ प्रणीत मानने के कारण इस ऐतिहासिक विकासक्रम को अस्वीकार करती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में षट्द्रव्य, सात या नौ तत्त्व, षट्जीव निकाय की अवधारणा का जो विकास हुआ है, उसके मूल में पंचास्तिकाय की अवधारणा ही है, क्योंकि नवतत्त्वों की अवधारणा के मूल में भी जीव और पुद्गल मुख्य हैं, जो जीव के कर्म-पुद्गलों के साथ संबंध को सूचित करते हैं। कर्म-पुद्गलों का जीव की ओर आना आस्रव है, जो पुण्य या पाप-रूप होता है। जीव के साथ कर्म-पुद्गलों का संश्लिष्ट होना बंध है। कर्मपुद्गलों का आगमन रुकना संवर है और उनका आत्मा या जीव से अलग होना निर्जरा है। अन्त में, कर्म-पुद्गलों का आत्मा से पूर्णतः विलग होना मोक्ष है। जैन आचार्यों ने पंचास्तिकाय की अवधारणा का अन्य दर्शन परम्पराओं में विकसित द्रव्य की अवधारणा से समन्वय करके षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास किया। अग्रिम पंक्तियों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि षट्द्रव्यों की आधारभूत सत् की अवधारणा का और विशेष रूप से द्रव्य की परिभाषा का जैन-दर्शन में कैसे विकास हुआ है?



जैनदर्शन में सत् का स्वरूप

जैन आगम साहित्य में वर्णित विषय-वस्तु को मुख्य रूप से जिन चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है, वे अनुयोग कहे जाते हैं। अनुयोग चार हैं- (1) द्रव्यानुयोग, (2) गणितानुयोग, (3) चरणकरणानुयोग और (4) धर्मकथानुयोग। इन चार अनुयोगों में से जिस अनुयोग के अन्तर्गत विश्व के मूलभूत घटकों के स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन किया जाता है, उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। खगोल-भूगोल सम्बन्धी विवेचन गणितानुयोग के अंतर्गत और आचार सम्बन्धी विधि निषेधों का विवेचन चरणकरणानुयोग के अंतर्गत होता है और धर्म एवं नैतिकता में आस्था को दृढ़ करने हेतु सदाचारी, सत्पुरुषों के जो आख्यानक (कथानक) प्रस्तुत किये जाते हैं, वे धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन चार अनुयोगों में भी द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध तात्त्विक या दार्शनिक चिन्तन से है। जहाँ तक हमारे दार्शनिक चिन्तन का प्रश्न है आज हम उसे तीन भागों में विभाजित करते हैं- 1. तत्त्व-मीमांसा, 2. ज्ञान-मीमांसा और 3. आचार-मीमांसा। इन तीनों में से तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा दोनों ही द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। इनमें भी जहाँ तक तत्त्वमीमांसा का सम्बन्ध है, उसके प्रमुख कार्य जगत् के मूलभूत घटकों, उपादानों या पदार्थों और उनके कार्यों की विवेचना करना है। तत्त्वमीमांसा का आरम्भ तभी हुआ होगा, जब मानव में जगत् के स्वरूप और उसके मूलभूत उपादानों या घटकों को जानने की जिज्ञासा प्रस्फुटित हुई होगी तथा उसने अपने और अपने परिवेश के संदर्भ में चिन्तन किया होगा। इसी चिन्तन के द्वारा तत्त्वमीमांसा का प्रादुर्भाव हुआ होगा। “मैं कौन हूँ” “कहाँ से आया हूँ” “यह जगत् क्या है”, जिससे यह निर्मित हुआ है, वे मूलभूत उत्पादान या उपादान घटक क्या हैं”, “यह किन नियमों से नियंत्रित एवं संचालित होता है” इन्हीं प्रश्नों के समाधान हेतु ही विभिन्न दर्शनों का और उनकी तत्त्व-विषयक गवेषणाओं का जन्म हुआ। जैन परम्परा में भी उसके प्रथम एवं प्राचीनतम आगम ग्रंथ आचारांग का प्रारम्भ भी इसी चिन्तना से होता है कि “मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, इस शरीर का परित्याग करने पर कहाँ जाऊँगा।”

वस्तुतः ये ही ऐसे प्रश्न हैं, जिनसे दार्शनिक चिन्तन का विकास और तत्त्वमीमांसा का आविर्भाव होता है।

तत्त्वमीमांसा वस्तुतः विश्व-व्याख्या का एक प्रयास है। इसमें जगत् के मूलभूत उपादानों तथा उनके कार्यों का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। विश्व के मूलभूत घटक, जो अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य घटक पर आश्रित नहीं हैं तथा जो कभी भी अपने स्व-स्वरूप का परित्याग नहीं करते हैं वे सत् या द्रव्य कहलाते हैं। विश्व के तात्त्विक आधार या मूलभूत उपादान ही सत् या द्रव्य कहे जाते हैं और जो इन द्रव्यों का विवेचन करता है वही द्रव्यानुयोग है।

विश्व के सन्दर्भ में जैनों का दृष्टिकोण यह है कि यह विश्व अकृत्रिम है ('लोगो अकिट्टिमो खलु'; मूलाचार, गाथा 7/2)। इस लोक का कोई निर्माता या सृष्टिकर्ता नहीं है। अर्ध-मागधी आगम साहित्य में भी लोक को शाश्वत बताया गया है। उसमें कहा गया है कि यह लोक अनादिकाल से है और रहेगा। ऋषिभाषित के अनुसार लोक की शाश्वतता के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भगवान् पार्श्वनाथ ने किया था। आगे चलकर भगवतीसूत्र में महावीर ने भी इसी सिद्धान्त का अनुमोदन किया।¹ जैन दर्शन के अनुसार लोक का कोई रचयिता एवं नियामक नहीं है, वह स्वाभाविक है और अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु जैनागमों में लोक के शाश्वत कहने का तात्पर्य कथमपि यह नहीं है, कि उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। विश्व के सन्दर्भ में जैन चिन्तक जिस नित्यता को स्वीकार करते हैं, वह नित्यता कूटस्थ नित्यता नहीं, परिणामी नित्यता है, अर्थात् वे विश्व को परिवर्तनशील मानकर भी मात्र प्रवाह या प्रक्रिया की अपेक्षा से नित्य या शाश्वत कहते हैं।

भगवतीसूत्र में लोक के स्वरूप की चर्चा करते हुए लोक को पंचास्तिकाय रूप कहा गया है।² जैन दर्शन में इस विश्व के मूलभूत उपादान पाँच अस्तिकाय द्रव्य हैं - 1. जीव (चेतन तत्त्व), 2. पुद्गल (भौतिक तत्त्व), 3. धर्म (गति का नियामक तत्त्व), 4. अधर्म (स्थिति नियामक तत्त्व) और 5. आकाश (स्थान या अवकाश देने वाला तत्त्व)।

ज्ञातव्य है कि यहाँ काल को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना गया है। यद्यपि परवर्ती जैन विचारकों ने काल को भी विश्व के परिवर्तन के मौलिक कारण के रूप में या विश्व में होने वाले परिवर्तनों के नियामक तत्त्व के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य माना है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे पंचास्तिकायों और षट्द्रव्यों के प्रसंग में की जायेगी। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य तो यह है कि जैन दार्शनिक विश्व के मूलभूत उपादानों के रूप में पंचास्तिकायों एवं षट्द्रव्यों की चर्चा करते हैं। विश्व के इन मूलभूत उपादानों को द्रव्य अथवा सत् के रूप में विवेचित किया जाता है द्रव्य अथवा सत् वह है जो अपने

आप में परिपूर्ण, स्वतन्त्र और विश्व का मौलिक घटक है। जैन परम्परा में सामान्यता सत्, तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, अपर ध्येय, शुद्ध और परम इन सभी को एकार्थक या पर्यायवाची माना गया है। बृहद्नयचक्र में कहा गया है -

ततं तह परमदूठं दव्वसहायं तहेव परमपरं।

धेयं सुद्धं परमं एयदूठा हुंति अभिहाणा।।

- बृहद्नयचक्र, 411

जैनागमों में विश्व के मूलभूत घटक के लिए अस्तिकाय, तत्त्व और द्रव्य शब्दों का प्रयोग मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र में हमें तत्त्व और द्रव्य के, स्थानांग में अस्तिकाय के उल्लेख मिलते हैं। कुंदकुंद ने अर्थ, पदार्थ, तत्त्व, द्रव्य और अस्तिकाय-इन सभी शब्दों का प्रयोग किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि आगमयुग में तो विश्व के मूलभूत घटकों के लिए अस्तिकाय, तत्त्व, द्रव्य और पदार्थ शब्दों का प्रयोग होता था। 'सत्' शब्द का प्रयोग आगम युग में नहीं हुआ। उमास्वामी ने द्रव्य के लक्षण के रूप में 'सत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। वैसे अस्तिकाय शब्द प्राचीन और जैन दर्शन का अपना विशिष्ट परिभाषिक शब्द है। यह अपने अर्थ की दृष्टि से सत् के निकट है, क्योंकि दोनों ही अस्तित्व लक्षण के ही सूचक हैं। तत्त्व, द्रव्य और पदार्थ शब्द के प्रयोग सांख्य और न्याय-वैशेषिक दर्शनों में भी मिलते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र (5/29) में उमास्वामी ने भी द्रव्य और सत् दोनों को अभिन्न बताया है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सत्, परमार्थ, परमतत्त्व और द्रव्य सामान्य दृष्टि से पर्यायवाची होते हुए भी विशेष दृष्टि एवं अपने व्युत्पत्तिलभ्य- अर्थ की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं। वेद, उपनिषद् और उनसे विकसित वेदान्त दर्शन की विभिन्न दार्शनिक धाराओं में सत् शब्द प्रमुख रहा है। ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि "एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् सत् (परम तत्त्व) एक ही है- विप्र (विद्वान्) उसे अनेक रूप से कहते हैं। किन्तु दूसरी ओर स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर विकसित दर्शन परम्पराओं-विशेष रूप से वैशेषिक दर्शन में द्रव्य शब्द प्रमुख रहा है। ज्ञातव्य है कि व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से सत् शब्द अस्तित्व का अथवा प्रकारान्तर से नित्यता या अपरिवर्तनशीलता का एवं द्रव्य शब्द परिवर्तनशीलता का सूचक है। सांख्यों एवं नैयायिकों ने इसके लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि न्यायसूत्र के भाष्यकार ने प्रमाण आदि 16 तत्त्वों के लिए सत् शब्द का प्रयोग भी किया है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि न्याय और वैशेषिक दर्शन में क्रमशः तत्त्व और द्रव्य शब्द ही अधिक प्रचलित रहे हैं। सांख्य दर्शन भी प्रकृति और पुरुष इन दोनों को तथा इनसे उत्पन्न बुद्धि,

अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पंच तन्मात्राओं और पंच महाभूतों को तत्त्व ही कहता है। इस प्रकार स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर विकसित इन दर्शन परम्पराओं में तत्त्व, पदार्थ, अर्थ और द्रव्य शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं किन्तु इनमें अपने तात्पर्य को लेकर भिन्नता भी मानी गयी है। तत्त्व शब्द सबसे अधिक व्यापक है उसमें पदार्थ और द्रव्य भी समाहित है। न्यायदर्शन में जिन तत्त्वों को माना गया है। उनमें द्रव्य का उल्लेख प्रमेय के अन्तर्गत हुआ है। वैशेषिकसूत्र में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये षट् पदार्थ और प्रकारान्तर से अभाव को मिलाकर सात पदार्थ कहे जाते हैं। इनमें भी द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन की ही अर्थ संज्ञा है। अतः सिद्ध होता है; कि अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से तत्त्व की अपेक्षा पदार्थ और पदार्थ की अपेक्षा द्रव्य अधिक संकुचित है। तत्त्वों में पदार्थ का और पदार्थों में द्रव्य का समावेश होता है। सत् शब्द को इससे भी अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। वस्तुतः जो भी अस्तित्ववान् है वह सत् के अन्तर्गत आ जाता है। अतः सत् शब्द, तत्त्व, पदार्थ, द्रव्य आदि शब्दों की अपेक्षा भी अधिक व्यापक अर्थ का सूचक है।

उपर्युक्त विवेचन से एक निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि जो दर्शनधाराएँ अभेदवाद की ओर अग्रसर हुई, उनमें 'सत्' शब्द की प्रमुखता रही जबकि जो धाराएँ भेदवाद की ओर अग्रसर हुई, उनमें 'द्रव्य' शब्द की प्रमुखता रही।

जहाँ तक जैन दार्शनिकों का प्रश्न है उन्होंने सत् और द्रव्य में एक अभिन्नता सूचित की है। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वामी ने 'सत् द्रव्य लक्षणं' कहकर दोनों में अभेद स्थापित किया है, फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ 'सत्' शब्द एक सामान्य सत्ता का सूचक है वहाँ 'द्रव्य' शब्द विशेष सत्ता का सूचक है। जैन आगमों के टीकाकार अभयदेवसूरि ने और उनके पूर्व तत्त्वार्थभाष्य (1/35) में उमास्वामी ने 'सर्व एकं सद् विशेषात्' कहकर सत् शब्द से सभी द्रव्यों के सामान्य लक्षण अस्तित्व को सूचित किया है। अतः यह स्पष्ट है कि सत् शब्द अभेद या सामान्य का सूचक है और द्रव्य शब्द विशेष का। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जैन दार्शनिकों की दृष्टि में सत् और द्रव्य शब्द में तादात्म्य सम्बन्ध है। सत्ता की अपेक्षा वे अभिन्न हैं; उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। क्योंकि सत् अर्थात् अस्तित्व के बिना द्रव्य भी नहीं हो सकता। दूसरी ओर द्रव्य (सत्ता-विशेष) के बिना सत् की कोई सत्ता ही नहीं होगी। अस्तित्व (सत्) के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना अस्तित्व नहीं हो सकते। यही कारण है कि उमास्वामी ने सत् को द्रव्य का लक्षण कहा था। स्पष्ट है कि लक्षण और लक्षित भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं।

वस्तुतः सत् और द्रव्य दोनों में उनके व्युत्पत्तिपरक अर्थ की अपेक्षा से ही भेद है, अस्तित्व या सत्ता की अपेक्षा से नहीं। हम उनमें केवल विचार की अपेक्षा से भेद कर सकते हैं, सत्ता की अपेक्षा से नहीं। सत् और द्रव्य अन्योन्याश्रित है, फिर भी वैचारिक स्तर पर हमें यह मानना होगा कि सत् ही एक ऐसा लक्षण है जो विभिन्न द्रव्यों में अभेद की स्थापना करता है, किन्तु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि सत् द्रव्य का एकमात्र लक्षण नहीं है। द्रव्य में अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य लक्षण भी हैं, जो एक द्रव्य को दूसरे से पृथक् करते हैं। अस्तित्व लक्षण की अपेक्षा से सभी द्रव्य एक हैं किन्तु अन्य लक्षणों की अपेक्षा से वे एक-दूसरे से पृथक् भी हैं। जैसे चेतना लक्षण जीव और अजीव में भेद करता है। सत्ता में सत् लक्षण की अपेक्षा से अभेद और अन्य लक्षणों से भेद मानना, यही जैन दर्शन की अनैकान्तिक दृष्टि की विशेषता है।

अर्ध-मागधी आगम स्थानांग और समवायांग में जहाँ अभेद-दृष्टि के आधार पर जीव द्रव्य को एक कहा गया है।¹ वहीं उत्तराध्ययन में भेद-दृष्टि से जीव द्रव्य में भेद किए गये हैं।²

जहाँ तक जैन दार्शनिकों का प्रश्न है, वे सत् और द्रव्य दोनों ही शब्दों को न केवल स्वीकार करते हैं, अपितु उनको एक-दूसरे से समन्वित भी करते हैं। यहाँ हम सर्वप्रथम सत् के स्वरूप का विश्लेषण करेंगे, उसके बाद द्रव्यों की चर्चा करेंगे तथा अन्त में तत्त्वों के स्वरूप पर विचार करेंगे।

सत् का स्वरूप

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है जैन दार्शनिकों ने सत्, तत्त्व और द्रव्य इन तीनों को पर्यायवाची माना है किन्तु इनके शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से इन तीनों में अन्तर है। सत् वह सामान्य लक्षण है, जो सभी द्रव्यों और तत्त्वों में पाया जाता है एवं द्रव्यों के भेद में भी अभेद को प्रधानता देता है। जहाँ तक तत्त्व का प्रश्न है, वह भेद और अभेद दोनों को अथवा सामान्य और विशेष दोनों को स्वीकार करता है। सत् में कोई भेद नहीं किया जाता, जबकि तत्त्व में भेद किया जाता है। जैन आचार्यों ने तत्त्वों की चर्चा के प्रसंग पर न केवल जड़ और चेतन द्रव्यों अर्थात् जीव और अजीव की चर्चा की है, अपितु आस्रव, संवर आदि उनके पारस्परिक सम्बन्धों की भी चर्चा की है। तत्त्व की दृष्टि से न केवल जीव और अजीव में भेद माना गया, अपितु जीवों में भी परस्पर भेद माना गया, वहीं दूसरी ओर आस्रव, बन्ध आदि के प्रसंग में उनके तादात्म्य या अभेद को भी स्वीकार किया गया, किन्तु जहाँ तक 'द्रव्य' शब्द का प्रश्न है वह सामान्य होते हुए भी द्रव्यों की लक्षणगत् विशेषताओं के आधार पर उनमें भेद करता है। 'सत्' शब्द सामान्यात्मक है, तत्त्व

शब्द सामान्य-विशेष उभयात्मक है और द्रव्य विशेषात्मक है। पुनः सत् शब्द सत्ता के अपरिवर्तनशील पक्ष का, द्रव्य शब्द परिवर्तनशील पक्ष का और तत्त्व शब्द उभय-पक्ष का सूचक है। जैनों की नयों की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो सत् शब्द संग्रहनय का, तत्त्व नैगमनय का और द्रव्य शब्द व्यवहारनय का सूचक है। सत् अभेदात्मक है, तत्त्व भेदाभेदात्मक है और द्रव्य शब्द भेदात्मक है। चूँकि जैन दर्शन भेद, भेदाभेद और अभेद तीनों को स्वीकार करता है, अतः उसने अपने चिन्तन में इन तीनों को ही स्थान दिया है। इन तीनों शब्दों में हम सर्वप्रथम सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करेंगे। यद्यपि अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि सत् शब्द सत्ता के अपरिवर्तनशील, सामान्य एवं अभेदात्मक पक्ष का सूचक है। फिर भी सत् के स्वरूप को लेकर भारतीय दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। कोई उसे अपरिवर्तनशील मानता है तो कोई उसे परिवर्तनशील, कोई उसे एक कहता है तो कोई अनेक, कोई उसे चेतन मानता है तो कोई उसे जड़। वस्तुतः सत्, परम तत्त्व या परमार्थ के स्वरूप सम्बन्धी इन विभिन्न दृष्टिकोणों के मूल में प्रमुख रूप से तीन प्रश्न रहे हैं। प्रथम प्रश्न उसके एकत्व अथवा अनेकत्व का है। दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध उसके परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील का होने से है। तीसरे प्रश्न का विवेच्य उसके चित् या अचित् होने से है। ज्ञातव्य है कि अधिकांश भारतीय दर्शनों ने चित्त-अचित्त, जड़-चेतन या जीव-अजीव दोनों तत्त्वों को स्वीकार किया है अतः यह प्रश्न अधिक चर्चित नहीं बना, फिर भी इन सब प्रश्नों के दिये गये उत्तरों के परिणामस्वरूप भारतीय चिन्तन में सत् के स्वरूप में विविधता आ गयी।

सत् के परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील पक्ष की समीक्षा

सत् के परिवर्तनशील अथवा अपरिवर्तनशील स्वरूप के सम्बन्ध में दो अतिवादी अवधारणाएँ हैं। एक धारणा यह है कि सत् निर्विकार एवं अव्यय है। त्रिकाल में उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इन विचारकों का कहना है कि जो परिवर्तित होता है, वह सत् नहीं हो सकता। परिवर्तन का अर्थ ही है कि पूर्व अवस्था की समाप्ति और नवीन अवस्था का ग्रहण। इन दार्शनिकों का कहना है कि जिसमें उत्पाद एवं व्यय की प्रक्रिया हो उसे सत् नहीं कहा जा सकता। जो अवस्थान्तर को प्राप्त हो उसे सत् कैसे कहा जाये? इस सिद्धान्त के विरोध में जो सिद्धान्त अस्तित्व में आया वह सत् की परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त है। इन विचारकों के अनुसार परिवर्तनशीलता या अर्थक्रियाकारित्व की सामर्थ्य ही सत् का लक्षण है। जो गतिशील नहीं है दूसरे शब्दों में जो अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति से हीन है उसे सत् नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक भारतीय दार्शनिक चिन्तन का प्रश्न है कुछ औपनिषदिक चिन्तक और शंकर का अद्वैत वेदान्त सत् के अपरिवर्तनशील होने के प्रथम

सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। आचार्य शंकर के अनुसार सत् निर्विकार और अव्यय है। वह उत्पाद और व्यय दोनों से रहित है। इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त बौद्ध-दार्शनिकों का है। वे सभी एकमत से स्वीकार करते हैं कि सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया से पृथक् कोई वस्तु सत् नहीं हो सकती। जहाँ तक भारतीय चिन्तकों में सांख्य दार्शनिकों का प्रश्न है। उनकी दृष्टि में प्रकृति कूटस्थनित्य नहीं है वह परिवर्तनशील तत्त्व है। इस प्रकार सांख्य दार्शनिक अपने द्वारा स्वीकृत दो तत्त्वों में एक को परिवर्तनशील और दूसरे को अपरिवर्तनशील मानते हैं।

वस्तुतः सत् को निर्विकार और अव्यय मानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि उसके अनुसार जगत् को मिथ्या या असत् ही मानना होता है, क्योंकि हमारी अनुभूति का जगत् तो परिवर्तनशील है। इसमें कुछ भी ऐसा प्रतीत नहीं होता जो परिवर्तन से रहित हो। न केवल व्यक्ति और समाज, अपितु भौतिक पदार्थ भी प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। सत् को निर्विकार और अव्यय मानने का अर्थ है जगत् की अनुभूतिगत विविधता को नकारना और कोई भी विचारक अनुभवात्मक परिवर्तनशीलता को नकार नहीं सकता। चाहे आचार्य शंकर कितने ही जोर से इस बात को रखें कि निर्विकार ब्रह्म ही सत्य है और परिवर्तनशील जगत् मिथ्या है किन्तु आनुभविक स्तर पर कोई भी विचारक इसे स्वीकार नहीं कर सकेगा। अनुभूति के स्तर पर जो परिवर्तनशीलता की अनुभूति है उसे कभी नकारा नहीं जा सकता। यदि सत् त्रिकाल में अविकारी और अपरिवर्तनशील हो तो, फिर वैयक्तिक जीवों या आत्माओं के बंधन और मुक्ति की व्याख्या भी अर्थहीन हो जायेगी। धर्म और नैतिकता दोनों का ही उन दर्शनों में कोई स्थान नहीं होगा। जो सत् को अपरिणामी मानते हैं। जैसे जीवन में बाल्यावस्था, युवावस्था और प्रौढ़ावस्था आती है, उसी प्रकार सत्ता में भी परिवर्तन घटित होते हैं। आज का हमारे अनुभव का विश्व वही नहीं है, जो हजार वर्ष पूर्व था, उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन घटित होते हैं। न केवल जगत् में अपितु हमारे वैयक्तिक जीवन में भी परिवर्तन घटित होते रहते हैं अतः अस्तित्व या सत्ता के सम्बन्ध में अपरिवर्तनशीलता की अवधारणा समीचीन नहीं है।

इसके विपरीत यदि सत् को क्षणिक या परिवर्तनशील माना जाता है तो भी कर्मफल या नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या संभव नहीं होती। यदि प्रत्येक क्षण स्वतन्त्र है तो फिर हम नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या नहीं कर सकते। यदि व्यक्ति अथवा वस्तु अपने पूर्व क्षण की अपेक्षा उत्तर क्षण में पूर्णतः बदल जाती है तो फिर हम किसी को पूर्व में किए गये चोरी आदि कार्यों के लिए कैसे उत्तरदायी बना पायेंगे?

सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन दार्शनिकों का इस धारणा के विपरीत यह कहना है कि उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति संभव नहीं है दूसरे शब्दों में पूर्व-पर्याय के नाश के बिना उत्तर-पर्याय की उत्पत्ति संभव नहीं है किन्तु उत्पत्ति और नाश दोनों का आश्रय कोई वस्तुतत्त्व होना चाहिये। एकान्तनित्य वस्तुतत्त्व/पदार्थ में परिवर्तन संभव नहीं है और यदि पदार्थों को एकान्त क्षणिक माना जाय तो परिवर्तित कौन होता है, यह नहीं बताया जा सकता। आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में इस दृष्टिकोण की समालोचना करते हुए कहते हैं कि “एकान्त क्षणिकवाद में प्रेत्यभाव अर्थात् पुनर्जन्म असंभव होगा और प्रेत्यभाव के अभाव में पुण्य-पाप के प्रतिफल और बंधन-मुक्ति की अवधारणायें भी संभव नहीं होगी। पुनः एकान्त क्षणिकवाद में प्रत्यभिज्ञा भी संभव नहीं और प्रत्यभिज्ञा के अभाव में कार्यारम्भ ही नहीं होगा फिर फल कहाँ से?” इस प्रकार इसमें बंधन-मुक्ति, पुनर्जन्म का कोई स्थान नहीं है “युक्त्यानुशासन” में कहा गया है कि क्षणिकवाद संवृत्ति सत्य के रूप में भी बन्धन-मुक्ति आदि की स्थापना नहीं कर सकता क्योंकि उसकी दृष्टि में परमार्थ या सत् निःस्वभाव है। यदि परमार्थ निःस्वभाव है तो फिर व्यवहार का विधान कैसे होगा? आचार्य हेमचन्द्र ने अन्ययोगव्यवच्छेदिका में क्षणिकवाद पर पाँच आक्षेप लगाये हैं- 1. कृत-प्रणाश, 2. अकृत-भोग, 3. भव-भंग, 4. प्रमोक्ष-भंग और 5. स्मृति-भंग। यदि कोई नित्य सत्ता ही नहीं है और प्रत्येक सत्ता श्रणजीवी है तो फिर व्यक्ति द्वारा किये गये कर्मों का फलभोग कैसे सम्भव होगा, क्योंकि फलभोग के लिए कर्तृत्वकाल और भोक्तृत्व काल में उसी व्यक्ति का होना आवश्यक है अन्यथा कार्य कौन करेगा और फल कौन भोगेगा? वस्तुतः एकान्त क्षणिकवाद में अध्ययन कोई और करेगा, परीक्षा कोई और देगा, उसका प्रमाण-पत्र किसी और को मिलेगा, उस प्रमाण-पत्र के आधार पर नौकरी कोई अन्य व्यक्ति प्राप्त करेगा और जो वेतन मिलेगा वह किसी अन्य को। इसी प्रकार ऋण कोई अन्य व्यक्ति लेगा और उसका भुगतान किसी अन्य व्यक्ति को करना होगा।

यह सत्य है कि बौद्ध दर्शन में सत् के अनित्य एवं क्षणिक स्वरूप पर अधिक बल दिया गया है। यह भी सत्य है कि भगवान् बुद्ध सत् को एक प्रक्रिया (परिवर्तनशीलता) मानते हैं, उस प्रक्रिया से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। वे कहते हैं क्रिया है, किन्तु क्रिया से पृथक् कोई कर्ता नहीं है। इस प्रकार प्रक्रिया से अलग कोई सत्ता नहीं है किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बौद्ध दर्शन के इन मन्तव्यों का आशय एकान्त क्षणिकवाद या उच्छेदवाद नहीं है। आलोचकों ने उसे उच्छेदवाद समझकर, जो आलोचना प्रस्तुत की है, चाहे वह उच्छेदवाद के संदर्भ में संगत हो, किन्तु बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में नितान्त असंगत है। बुद्ध सत् के

परिवर्तनशील पक्ष पर बल देते हैं किन्तु इस आधार पर उन्हें उच्छेदवाद का समर्थक नहीं कहा जा सकता। बुद्ध के इस कथन का कि “क्रिया है, कर्ता नहीं” का आशय यह नहीं है कि वे कर्ता या क्रियाशील तत्त्व का निषेध करते हैं। उनके इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि क्रिया से भिन्न कर्ता नहीं है। परिवर्तन से भिन्न सत्ता की स्थिति नहीं है। परिवर्तन और परिवर्तनशील अन्योन्याश्रित हैं, दूसरे शब्दों में वे सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। वस्तुतः बौद्ध दर्शन का सत् सम्बन्धी यह दृष्टिकोण जैन दर्शन से उतना दूर नहीं है जितना माना गया है। बौद्ध दर्शन में भी सत्ता को अनुच्छेद और अशाश्वत कहा गया है, अर्थात् वे न उसे एकान्त अनित्य मानते हैं और न एकान्त नित्य वह न अनित्य है और न नित्य है जबकि जैन दार्शनिकों ने उसे नित्यानित्य कहा है, किन्तु दोनों परम्पराओं का यह अन्तर निषेधात्मक अथवा स्वीकारात्मक भाषा-शैली का अन्तर है। बुद्ध और महावीर के कथन का मूल उत्स एक-दूसरे से उतना भिन्न नहीं है, जितना कि हम उसे मान लेते हैं। भगवान् बुद्ध का सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में यथार्थ मन्तव्य क्या था, इसकी विस्तृत चर्चा हमने “जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन” भाग-1 (पृ. 192-194) में की है, इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं। सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रस्तुत विवेचना का मूल उद्देश्य मात्र इतना है कि सत् के सम्बन्ध में एकान्त अभेदवाद और एकान्त भेदवाद उन्हें मान्य नहीं रहे हैं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार सत्ता सामान्य-विशेषात्मक या भेदाभेदात्मक है। वह एक भी है और अनेक भी। वे भेद में अभेद और अभेद में भेद को स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में वे अनेकता में एकता का और एकता में अनेकता का दर्शन करते हैं। मानवता की अपेक्षा मनुष्यजाति एक है, किन्तु देश-भेद, वर्णभेद, वर्ग-भेद या व्यक्ति-भेद की अपेक्षा वह अनेक है। जैन दार्शनिकों के अनुसार एकता में अनेकता और अनेकता में एकता अनुस्यूत है।

सत् के सम्बन्ध में एकान्त परिवर्तनशीलता का या भेदवादी दृष्टिकोण और एकान्त अपरिवर्तनशीलता का या अभेदवादी (अद्वैतवादी) दृष्टिकोण इन दोनों में से किसी एक को अपनाने पर न तो व्यवहार जगत् की व्याख्या सम्भव है न धर्म और नैतिकता का कोई स्थान होगा। यही कारण था कि आचारमार्गीय परम्परा के प्रतिनिधि भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध ने उनका परित्याग आवश्यक समझा। महावीर की विशेषता यह रही कि उन्होंने न केवल एकान्त शाश्वतवाद का और एकान्त उच्छेदवाद का परित्याग किया अपितु अपनी अनेकान्तवादी और समन्वयवादी परम्परागत दृष्टि से यह माना जाता है कि सत् या सत्ता परिणामी नित्य है। परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। भगवान् महावीर ने “उपप्पेइ वा, विगमेइ वा,

ध्रुवेइ वा” इस त्रिपदी का उपदेश दिया था। समस्त जैन दार्शनिक वाङ्मय का विकास इसी त्रिपदी के आधार पर हुआ है। परमार्थ या सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में महावीर का उपर्युक्त कथन ही जैन दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही सत् के लक्षण हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी ने सत् को परिभाषित करते हुए कहा है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है (तत्त्वार्थ, 5/29) उत्पाद और व्यय सत् के परिवर्तनशील पक्ष को बताते हैं, तो ध्रौव्य उसके अविनाशी पक्ष को।

सत् का ध्रौव्य गुण उसके उत्पत्ति एवं विनाश का आधार है, उनके मध्य योजक कड़ी है। यह सत्य है कि विनाश के लिए उत्पत्ति और उत्पत्ति के लिए विनाश आवश्यक है, किन्तु उत्पत्ति और विनाश दोनों के लिए किसी ऐसे आधारभूत तत्त्व की भी आवश्यकता होती है, जिसमें उत्पत्ति के लिए विनाश की ये प्रक्रियायें घटित होती हों। यदि हम ध्रौव्य पक्ष को अस्वीकार करेंगे तो उत्पत्ति और विनाश परस्पर असम्बन्धित हो जायेंगे और सत्ता अनेक एवं असम्बन्धित क्षणजीवी तत्त्वों में विभक्त हो जायेगी। इन परस्पर असम्बन्धित क्षणिक सत्ताओं की अवधारणा से व्यक्तित्व की अवधारणा से व्यक्तित्व की एकात्मकता का ही विच्छेद हो जायेगा, जिसके अभाव में नैतिक उत्तरदायित्व और कर्मफल-व्यवस्था ही अर्थविहीन हो जायेगी। इसी प्रकार एकान्त ध्रौव्यता को स्वीकार करने पर इस जगत् में चल रहे उत्पत्ति और विनाश के क्रम को समझाया नहीं जा सकेगा। जैन दर्शन में सत् के इस अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्य और गुण तथा परिवर्तनशील पक्ष को पर्याय कहा जाता है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य को गुण एवं पर्याय से युक्त कहा गया है। चूंकि द्रव्य की इस अवधारणा का विकास भी पंचास्तिकाय की अवधारणा से हुआ है अतः यहाँ हम पंचास्तिकाय की अवधारणा की चर्चा करेंगे।

संदर्भ -

1. आचारंग - 1/1/1
2. ऋषिभाषित 31/9
3. भगवती 2/10/124-130
4. ऐगेआया - स्थानांग 1/1
5. उत्तराध्ययन 36/48+211
6. आप्तमीमांसा 40-41
7. स्वाद्धादमंजरी कारिका 18 की टीका



जैन दर्शन की द्रव्य, गुण एवं पर्याय की अवधारणा

वस्तुस्वरूप और पर्याय

पर्याय की अवधारणा जैन दर्शन की एक विशिष्ट अवधारणा है। जैन दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। किन्तु अनेकान्त का आधार पर्याय की अवधारणा है। सामान्यता पर्याय शब्द परि+आयः से निष्पन्न है। मेरी दृष्टि जो परिवर्तन को प्राप्त होती है, वही पर्याय है। राजवार्तिक (1/33/1/95/6) 'परि समन्तादायः पर्यायः, के अनुसार जो सर्व ओर से नवीनता को प्राप्त होती है वही पर्याय है। यह होना (Becoming) है। वह सत्ता की परिवर्तनशीलता की या सत् के बहु आयामी (Multi dimentional) होने की सूचक है। वह यह बताती है कि अस्तित्व प्रति समय परिणमन या परिवर्तन को प्राप्त होता है इसलिए यह भी कहा गया है कि जो स्वभाव या विभाव रूप परिणमन करती है, वही पर्याय है। जैन दर्शन में अस्तित्व या सत् को उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मक या परिणामी नित्य माना गया है। उत्पाद-व्यय का जो सतत् प्रवाह है वही पर्याय है और जो इन परिवर्तनों के स्वभाव से च्युत नहीं होता है, वही द्रव्य है। अन्य शब्दों में कहें तो अस्तित्व में जो अर्थक्रियाकारित्व है, गत्यात्मकता है, परिणामीपन या परिवर्तनशीलता है, वही पर्याय है। पर्याय अस्तित्व की क्रियाशीलता की सूचक है। वह परिवर्तनों के सातत्य की अवस्था है। अस्तित्व या द्रव्य दिक् और काल में जिन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता है, जैन दर्शन के अनुसार यही अवस्थाएं पर्याय हैं अथवा सत्ता का परिवर्तनशील पक्ष पर्याय है। बुद्ध के इस कथन का कि "क्रिया है, कर्ता नहीं", का आशय यह नहीं है कि वे किसी क्रियाशीलतत्त्व का निषेध करते हैं। उनके इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि क्रिया से भिन्न कर्ता नहीं है। सत्ता और परिवर्तन में पूर्ण तादात्म्य है। सत्ता से भिन्न परिवर्तन और परिवर्तन से भिन्न सत्ता की स्थिति नहीं है परिवर्तन और परिवर्तनशील अन्योन्याश्रित हैं, दूसरे शब्दों में वे सापेक्ष हैं, निरेपक्ष नहीं। वस्तुतः बौद्ध दर्शन का सत् सम्बन्धी यह दृष्टिकोण जैन दर्शन की पर्याय की अवधारणा से उतना दूर नहीं है जितना माना गया है। बौद्ध दर्शन में सत्ता को अनुच्छेद और अशाश्वत कहा गया है अर्थात् वे भी न उसे एकान्त अनित्य मानते हैं और न एकान्त नित्य। वह न अनित्य है और न नित्य है जबकि

जैन दार्शनिकों ने उसे नित्यानित्य कहा है, किन्तु दोनों परम्पराओं का यह अन्तर निषेधात्मक अथवा स्वीकारात्मक भाषा-शैली का अन्तर है। बुद्ध और महावीर के कथन का मूल उत्स एक-दूसरे से उतना भिन्न नहीं है, जितना कि हम उसे मान लेते हैं। सत् को अव्यय या अपरिवर्तनशील मानने का एकान्त पक्ष और सत् को परिवर्तनशील या क्षणिक मानने का एकान्त पक्ष जैन और बौद्ध विचारकों को स्वीकार्य नहीं रहा है। दोनों में मात्र अन्तर यह है कि महावीर जहाँ अस्तित्व के उत्पाद-व्यय पक्ष अर्थात् पर्याय पक्ष के साथ-साथ ध्रौव्यपक्ष के रूप में द्रव्य को भी स्वीकृति प्रदान की है। वहाँ भगवान् बुद्ध ने अस्तित्व के परिवर्तनशील पक्ष पर ही अधिक बल दिया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध दर्शन की अस्तित्व की व्याख्या जैन दर्शन की पर्याय की अवधारणा के अतिनिकट है। बौद्धों ने पर्याय अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति को ही अस्तित्व मान लिया। बौद्ध दर्शन ने परिवर्तनशीलता और अस्तित्व में तादात्म्य माना और कहा कि परिवर्तनशीलता ही अस्तित्व है (Becoming is real) जैन दर्शन ने भी द्रव्य (Being) और पर्याय (Becoming) अर्थात् 'अस्तित्व' और 'होने' में तादात्म्य तो माना किन्तु तादात्म्य के साथ साथ दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार किया अर्थात् उनमें भेदाभेद माना।

सत् के सम्बन्ध में एकान्त परिवर्तनशीलता का दृष्टिकोण और एकान्त अपरिवर्तनशीलता का दृष्टिकोण इन दोनों में से किसी एक को अपनाने पर न तो व्यवहार जगत् की व्याख्या सम्भव है न धर्म और नैतिकता का कोई स्थान है। यही कारण था कि आचारमार्गीय परम्परा के प्रतिनिधि भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध ने उनका परित्याग आवश्यक समझा। महावीर की विशेषता यह रही कि उन्होंने न केवल एकान्त शाश्वतवाद का और एकान्त उच्छेदवाद का परित्याग किया अपितु अपनी अनेकान्तवादी और समन्ववादी परम्परा के अनुसार उन दोनों विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित किया। परम्परागत दृष्टि से 'यह माना जाता है कि भगवान् महावीर ने केवल 'उपप्रेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ' या इस त्रिपदी का उपदेश दिया था। समस्त जैन दार्शनिक वाङ्मय का विकास इसी त्रिपदी के आधार पर हुआ है। परमार्थ या सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में महावीर का यह उपर्युक्त कथन ही जैन दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है और यही उसकी पर्याय की अवधारणा का आधार भी है।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही सत् के लक्षण हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** में उमास्वामी ने सत् को परिभाषित करते हुए कहा है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है (तत्त्वार्थ, 5/21), उत्पाद और व्यय सत् के परिवर्तनशील पक्ष को बताते हैं तो ध्रौव्य उसके अविनाशी पक्ष को। सत् का ध्रौव्य गुण उसके उत्पत्ति एवं विनाश का आधार है, उनके मध्य योजक कड़ी है। यह सत्य

है कि विनाश के लिए उत्पत्ति और उत्पत्ति के लिए विनाश आवश्यक है किन्तु उत्पत्ति और विनाश दोनों के लिए किसी ऐसे आधारभूत तत्त्व की आवश्यकता होती है जिसमें उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रियायें घटित होती हैं। यदि हम ध्रौव्य पक्ष को अस्वीकार करेंगे तो उत्पत्ति और विनाश परस्पर असम्बन्धित हो जायेंगे और सत्ता अनेक क्षणिक एवं असम्बन्धित क्षणजीवी तत्त्वों में विभक्त हो जायेगी। इन परस्पर असम्बन्धित क्षणिक सत्ताओं की अवधारणा से व्यक्तित्व की एकात्मकता का ही विच्छेद हो जायेगा, जिसके अभाव में नैतिक उत्तरदायित्व और कर्मफल व्यवस्था ही अर्थविहीन हो जायेगी। इसी प्रकार एकान्त ध्रौव्यता को स्वीकार करने पर भी इस जगत् में चल रहे उत्पत्ति और विनाश के क्रम को समझाया नहीं जा सकता। जैन दर्शन में सत् के अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्य और गुण तथा परिवर्तनशील पक्ष को पर्याय कहा जाता है। अग्रिम पृष्ठों में हम द्रव्य, गुण और पर्याय के सह सम्बन्ध के बारे में चर्चा करेंगे।

द्रव्य और पर्याय का सहसम्बन्ध

हम यह पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि जैन परम्परा में सत् और द्रव्य को पर्यायवाची माना गया है। मात्र यही नहीं, उसमें सत् के स्थान पर द्रव्य ही प्रमुख रहा है। आगमों में सत् के स्थान पर अस्तिकाय और द्रव्य इन दो शब्दों का ही प्रयोग देखा गया है। जो अस्तिकाय है वे निश्चय ही द्रव्य हैं। इन दोनों शब्दों में भी द्रव्य शब्द मुख्यतः अन्य परस्परों के प्रभाव से जैन दर्शन में आया है उसको अपना मूल शब्द तो अस्तिकाय ही है। इसमें 'अस्ति' शब्द सत्ता के शाश्वत पक्ष का और काय शब्द अशाश्वत पक्ष का सूचक माना जा सकता है। वैसे सत्ता को काय शब्द से सूचित करने की परम्परा श्रमण धारा के प्रकृद्यकात्यायन आदि अन्य दार्शनिकों में भी रही है। **भगवतीसूत्र** में द्रव्य पक्ष की शाश्वतता और पर्याय पक्ष की आशाश्वतता का चित्रण उपलब्ध होता है उसमें कहा गया है कि 'द्वद्वाए सिय सासया पज्जवद्वाए सिय असासया' अर्थात् अस्तित्व को द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत और पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत(अनित्य) कहा गया है। इस तथ्य की अधिक स्पष्टता से चित्रित करते हुए **सन्मतितर्क** में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर लिखते हैं -

उपज्जति चरति आ भावा नियमेण पज्जवनयस्स ।

द्व्वड्ढियस्स सव्वं सया अणुप्पन्न अविण्हं ।।

अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से अस्तित्व या वस्तु उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है। उमास्वामी के **तत्त्वार्थसूत्र** के सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में द्रव्यलक्षणं (4/21) कहकर सत् को द्रव्य का लक्षण बताया है। इस परिभाषा से यह फलित होता है

कि द्रव्य का मुख्य लक्षण अस्तित्व है। जो अस्तित्वान् है, वही द्रव्य है। किन्तु यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होता है कि द्रव्य शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ तो 'द्रूयते इति द्रव्यः' के आधार पर उत्पाद-व्यय रूप अस्तित्व को ही सिद्ध करता है। इसी आधार पर यह कहा गया है कि जो त्रिकाल में परिणमन करते हुए भी अपने स्व-स्वभाव का पूर्णतः परित्याग न करे उसे ही सत् या द्रव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र (5/29) में उमास्वामि ने एक ओर द्रव्य का लक्षण सत् बताया तो दूसरी ओर सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक भी बताया। यदि सत् और द्रव्य एक ही है तो फिर द्रव्य को भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा जा सकता है। साथ ही उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र (5/38) में द्रव्य को परिभाषित करते हुए उसे गुण, पर्याय से युक्त भी कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय संग्रह और प्रवचनसार में इन्हीं दोनों लक्षणों को मिलाकर द्रव्य को परिभाषित किया है। पंचास्तिकाय संग्रह (10) में वे कहते हैं कि द्रव्य सत् लक्षण वाला है। इसी परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार (15-16) में वे कहते हैं कि जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त तथा गुण-पर्याय सहित है, उसे द्रव्य कहा जाता है। इस प्रकार कुन्दकुन्द ने द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में उमास्वामि के सभी लक्षणों को स्वीकार कर लिया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामि की विशेषता यह है कि उन्होंने गुणपर्यायवत् द्रव्य कहकर जैन दर्शन के भेद-अभेदवाद को पुष्ट किया है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य की यह परिभाषा भी वैशेषिकसूत्र के 'द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता' (1/2/8) नामक सूत्र के निकट ही सिद्ध होती है। उमास्वामि ने इस सूत्र में कर्म के स्थान पर पर्याय को रख दिया है। जैन दर्शन के सत् सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि द्रव्य या सत्ता परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। इसी तथ्य को मीमांसा दर्शन में इस रूप में स्वीकार किया गया है-

वर्द्धमानकभङ्गे च, रुचकः क्रियते यदा ।

तदापूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ।। 121 ।।

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।

नोत्पादस्थितिभङ्गानामभावे सन्मति त्रयम् ।। 122 ।।

न नाशेन विनाशोको, नोत्पादेन विनासुखम् ।

स्थित्याविना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यं नित्यता ।। 123 ।।

मीमांसा श्लोकवार्तिक पृ-61

अर्थात् वर्द्धमानक (बाजूबंद) को तोड़कर रुचकहार बनाने में वर्द्धमानक को चाहने वाले को शोक, रुचक चाहने वाले को हर्ष और स्वर्ण चाहने वाले को न हर्ष और न शोक होता है। उसका तो माध्यस्थ भाव रहता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु या सत्ता उत्पाद भङ्ग और स्थिति रूप होती है क्योंकि नाश के अभाव में

शोक, उत्पाद के अभाव में सुख (हर्ष) और स्थिति के अभाव में मोध्यस्थ भाव नहीं हो सकता है। इससे यही सिद्ध होता है मीमांसा दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक मानता है। परिणमन यह द्रव्य का आधारभूत लक्षण है किन्तु इस प्रक्रिया में द्रव्य अपने मूल स्वरूप का पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। स्व स्वरूप का परित्याग किये बिना विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने से ही द्रव्य को नित्य कहा जाता है। किन्तु प्रति क्षण उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले पर्यायों की अपेक्षा से उसे अनित्य भी कहा जाता है। उसे इस प्रकार भी समझाया जाता है कि मृत्तिका अपने स्व-जातीय धर्म का परित्याग किये बिना घट आदि को उत्पन्न करती है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड पर्याय का विनाश होता है। जब तक पिण्ड नष्ट नहीं होता तब तक घट उत्पन्न नहीं होता किन्तु इस उत्पाद और व्यय में भी मृत्तिका लक्षण यथावत् बना रहता है। वस्तुतः कोई भी द्रव्य अपने स्व-लक्षण, स्व-स्वभाव अथवा स्व-जातीय धर्म का पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। द्रव्य अपने गुण या स्व-लक्षण की अपेक्षा से नित्य होता है, क्योंकि स्व-लक्षण का त्याग सम्भव नहीं है। अतः यह स्व-लक्षण ही वस्तु का नित्य पक्ष होता है। स्व-लक्षण का त्याग किये बिना वस्तु जिन विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती है, वे पर्याय कहलाती हैं। ये परिवर्तनशील पर्याय ही द्रव्य का अनित्य पक्ष है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य अपने स्व-लक्षण या गुण की अपेक्षा से नित्य और अपनी पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा जाता है। उदाहरण के रूप में जीव द्रव्य अपने चैतन्य गुण का कभी परित्याग नहीं करता, किन्तु इसके चेतना लक्षण का परित्याग के बिना वह देव, मनुष्य, पशु इन विभिन्न योनियों को अथवा बालक, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। जिन गुणों का परित्याग नहीं किया जा सकता है, वे ही गुण स्वलक्षण कहे जाते हैं। यह स्वलक्षण ही द्रव्य स्वरूप है। जिन गुणों का परित्याग किया जा सकता है, वे पर्याय कहलाती हैं। पर्याय बदलती रहती हैं, किन्तु गुण वही बना रहता है। ये पर्याय भी दो प्रकार की कही गयीं हैं- 1. स्वभाव पर्याय और 2. विभाव पर्याय। जो पर्याय या अवस्थायें स्व-लक्षण के निमित्त से होती हैं वे स्वभाव पर्याय कहलाती हैं और जो अन्य निमित्त से होती हैं वे विभाव पर्याय कहलाती हैं। उदाहरण के रूप में ज्ञान और दर्शन (प्रत्यक्षीकरण) सम्बन्धी विभिन्न अनुभूतिपरक अवस्थायें आत्मा की स्वभाव पर्याय हैं। क्योंकि वे आत्मा के स्व-लक्षण उपयोग से फलित होती हैं, जबकि क्रोध आदि कषाय भाव कर्म के निमित्त से या दूसरों के निमित्त से होती हैं, अतः वे विभाव पर्याय हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि इन गुणों और पर्यायों का अधिष्ठान या उपादान तो द्रव्य स्वयं ही है। द्रव्य गुण और पर्यायों से अभिन्न है, वे तीनों परस्पर सापेक्ष हैं।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने **सन्मतितर्कप्रकरण** में स्पष्ट रूप से कहा है, द्रव्य से रहित गुण और पर्याय की सत्ता नहीं है। साथ ही गुण और पर्याय से रहित द्रव्य की भी सत्ता नहीं है।

द्वयं पज्जव विउअं दव्व विउत्ता पज्जवा नत्थि ।

उप्पादड्ढि भंगा हदि दविय लक्खणं एयं ।।

- *सन्मतितर्क 12*

अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय में तादात्म्य है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि द्रव्य, गुण और पर्याय की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह सत्य है कि अस्तित्व की अपेक्षा से उनमें तादात्म्य है किन्तु विचार की अपेक्षा से वे पृथक्-पृथक् हैं। हम उन्हें अलग-अलग कर नहीं सकते किन्तु उन पर अलग-अलग विचार सम्भव है। बालपना, युवावस्था या बुढ़ापा व्यक्ति से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते हैं- फिर भी ये तीनों अवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न हैं। यही स्थिति द्रव्य, गुण और पर्याय की है।

गुण और पर्याय का सहसम्बन्ध

द्रव्य को गुण और पर्यायों का आधार माना गया है। वस्तुतः गुण द्रव्य के स्वभाव या स्व-लक्षण होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामि ने द्रव्याश्रया निर्गुणगुणाः (5/40) कहकर यह बताया है कि गुण द्रव्य में रहते हैं, पर वे स्वयं निर्गुण होते हैं। गुण निर्गुण होते हैं यह परिभाषा सामान्यतया आत्म-विरोधी सी लगती है किन्तु इस परिभाषा की मूलभूत दृष्टि यह है कि यदि हम गुण का भी गुण मानेंगे तो फिर अनवस्था दोष का प्रसंग आयेगा। आगमिक दृष्टि से गुण की परिभाषा इस रूप में की गयी है कि गुण द्रव्य का विधान है यानि उसका स्व-लक्षण है जबकि पर्याय द्रव्य विकार है। गुण भी द्रव्य के समान ही अविनाशी है। जिस द्रव्य का जो गुण है वह उसमें सदैव रहता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य का जो अविनाशी लक्षण है अथवा द्रव्य जिसका परित्याग नहीं कर सकता है वही गुण है। गुण वस्तु की सहभावी अवस्थाओं का सूचक है। फिर भी गुण की ये अवस्थाएँ अर्थात् गुण-पर्याय बदलती हैं। द्रव्य के समान ही गुणों की पर्याय होती हैं जो गुण की भी परिवर्तनशीलता को सूचित करती हैं। जीव में चेतना की अवस्थाएँ बदलती हैं फिर भी चेतना गुण बना रहता है।

वे विशेषताएँ या लक्षण जिनके आधार पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से अलग किया जा सकता है वे, विशिष्ट गुण कहे जाते हैं। उदाहरण के रूप में धर्म-द्रव्य का लक्षण गति में सहायक होना है। अधर्म-द्रव्य का लक्षण स्थिति में सहायक होना है। जो सभी द्रव्यों का अवगाहन करता है उन्हें स्थान देता है, वह आकाश कहा जाता है। इसी प्रकार परिवर्तन काल का और उपयोग जीव का लक्षण

है। अतः गुण वे हैं जिसके आधार पर हम किसी द्रव्य को पहचानते हैं और उसका अन्य द्रव्य से पृथक्त्व स्थापित करते हैं। **उत्तराध्ययन** (28/11-12) में जीव और पुद्गल के अनेक लक्षणों का भी चित्रण हुआ है। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य एवं उपयोग ये जीव के लक्षण बताये गये हैं और शब्द, प्रकाश, अन्धकार, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि को पुद्गल का लक्षण कहा गया है। ज्ञातव्य है कि द्रव्य और गुण विचार के स्तर पर ही अलग-अलग माने गये हैं लेकिन अस्तित्व की दृष्टि से वे पृथक्-पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। गुणों के सन्दर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुछ गुण सामान्य होते हैं और वे सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं और कुछ गुण विशिष्ट होते हैं, जो कुछ ही द्रव्यों में पाये जाते हैं। जैसे-अस्तित्व लक्षण सामान्य है जो सभी द्रव्य में पाया जाता है किन्तु चेतना आदि कुछ गुण ऐसे हैं जो केवल जीव द्रव्य में पाये जाते हैं, अजीव द्रव्य में उनका अभाव होता है। दूसरे शब्दों में कुछ गुण सामान्य और कुछ विशिष्ट होते हैं। सामान्य गुणों के आधार पर जाति या वर्ग की पहचान होती है। वे द्रव्य या वस्तुओं का एकत्व प्रतिपादित करते हैं, जबकि विशिष्ट गुण एक द्रव्य का दूसरे से अन्तर स्थापित करते हैं। गुणों के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अनेक गुण सहभावी रूप से एक ही द्रव्य में रहते हैं। इसीलिए जैन दर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक कहा गया है। विशेष गुणों की एक अन्य विशेषता यह है कि वे द्रव्य विशेष की विभिन्न पर्यायों में भी बने रहते हैं। जीवों की चेतना-पर्याय बदलती रहती है, फिर भी उनकी परिवर्तनशील चेतना पर्यायों में चेतना गुण और जीव द्रव्य बना रहता है।

कोई भी द्रव्य गुण से रहित नहीं होता। द्रव्य और गुण का विभाजन मात्र वैचारिक स्तर पर किया जाता है, सत्ता के स्तर पर नहीं। गुण से रहित होकर न तो द्रव्य की कोई सत्ता होती है न द्रव्य से रहित गुण की। अतः सत्ता के स्तर पर गुण और द्रव्य में अभेद है, जबकि वैचारिक स्तर पर दोनों में भेद किया जा सकता है।

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि द्रव्य और गुण अन्योन्याश्रित हैं। द्रव्य के बिना गुण का अस्तित्व नहीं है और गुण के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। **तत्त्वार्थसूत्र** (5/40) में गुण की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि स्व गुण को छोड़कर जिनका अन्य कोई गुण नहीं होता अर्थात् जो निर्गुण है वही गुण है। द्रव्य और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर जैन परम्परा में हमें तीन प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। आगम ग्रंथों में द्रव्य और गुण में आश्रय-आश्रयी भाव माना गया है। **उत्तराध्ययनसूत्र** (28/6) में द्रव्य को गुण का आश्रय स्थान माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्रकार के अनुसार गुण द्रव्य में रहते हैं अर्थात् द्रव्य गुणों का

आश्रय स्थल है किन्तु यहाँ आपत्ति यह हो सकती है कि जब द्रव्य और गुण की भिन्न-भिन्न सत्ता ही नहीं है तो उनमें आश्रय-आश्रयी भाव किस प्रकार होगा? वस्तुतः द्रव्य और गुण के सम्बन्ध को लेकर किया गया वह विवेचन मूलतः वैशेषिक परम्परा के समीप लगता है। जैनों के अनुसार सिद्धान्ततः तो आश्रय-आश्रयी भाव उन्हीं दो तत्त्वों में हो सकता है जो एक-दूसरे से पृथक् सत्ता रखते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर पूज्यपाद आदि कुछ आचार्यों ने 'गुणानां समूहो द्रव्यो' अथवा 'गुणसमुदायो द्रव्यमिति' कहकर कर द्रव्य को गुणों का संघात माना है। जब द्रव्य और गुण की अलग-अलग सत्ता ही मान्य नहीं है, तो वहाँ उनके तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अन्य कोई सम्बन्ध मानने का तात्पर्य यह है कि वे एक दूसरे से पृथक् होकर अपना अस्तित्व रखते हैं। यह दृष्टिकोण बौद्ध अवधारणा के समीप है। यह संघातवाद का ही अपररूप है जबकि जैन परम्परा संघातवाद को स्वीकार नहीं करती है। वस्तुतः द्रव्य के साथ गुण और पर्याय के सम्बन्ध को लेकर तत्त्वार्थसूत्रकार ने जो द्रव्य की परिभाषा दी है, वही अधिक उचित जान पड़ती है। तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार जो गुण और पर्यायों से युक्त है, वही द्रव्य है। वैचारिक स्तर पर तो गुण द्रव्य से भिन्न हैं और उस दृष्टि से उनमें आश्रय-आश्रयी भाव भी देखा जाता है किन्तु अस्तित्व के स्तर पर द्रव्य और गुण एक-दूसरे से पृथक् (विविक्त) सत्ताएँ नहीं हैं अतः उनमें तादात्म्य भी है। इस प्रकार गुण और द्रव्य में कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध हो सकता है। डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य जैन-दर्शन (पृ.144) में लिखते हैं कि गुण से द्रव्य को पृथक् नहीं किया जा सकता इसलिए, वह द्रव्य से अभिन्न है। किन्तु प्रयोजन आदि भेद से उसका विभिन्न रूप से निरूपण किया जा सकता है, अतः वे भिन्न भी हैं। एक ही पुद्गल परमाणु में युगपत् रूप से रूप, रस, गन्ध आदि अनेक गुण रहते हैं। अनुभूति के स्तर पर रूप, रस, गन्ध आदि पृथक्-पृथक् गुण हैं। अतः वैचारिक स्तर पर केवल एक गुण न केवल दूसरे गुण से भिन्न है अपितु उस स्तर पर यह द्रव्य से भी भिन्न कल्पित किया जा सकता है। पुनः गुण अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को धारण करता है और इस प्रकार वह परिवर्तित होता रहता है किन्तु उसमें यह पर्याय परिवर्तन द्रव्य से भिन्न होकर नहीं होता। पर्यायों में होने वाले परिवर्तन वस्तुतः द्रव्य के ही परिवर्तन हैं।

पर्याय और गुण को छोड़कर द्रव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। पर्यायों और गुणों में होने वाले परिवर्तनों के बीच जो एक अविच्छिन्नता का नियामक तत्त्व है, वही द्रव्य है। उदाहरण के रूप में एक पुद्गल परमाणु के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के गुण बदलते रहते हैं और उस गुण परिवर्तन के परिणामस्वरूप उसकी पर्याय

भी बदलती रहती है, किन्तु इन परिवर्तित होने वाले गुणों और पर्यायों के बीच भी एक तत्त्व है जो इन परिवर्तनों के बीच भी बना रहता है। वही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय स्वाभाविक गुण कृत और वैभाविक गुण कृत अर्थात् पर्यायकृत उत्पाद और व्यय होते रहते हैं। यह सब उस द्रव्य की सम्पत्ति या स्वरूप है। इसलिए द्रव्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कहा जाता है। द्रव्य के साथ-साथ उसके गुणों में भी उत्पाद, व्यय होता रहता है। जीव का गुण चेतना है उससे पृथक् होने पर जीव, जीव नहीं रहेगा, फिर भी जीव की चेतन अनुभूतियाँ स्थिर नहीं रहती हैं, वे प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। अतः गुणों में भी उत्पाद-व्यय होता रहता है। पुनः वस्तु का स्व-लक्षण कभी बदलता नहीं है अतः गुण में ध्रौव्यत्व पक्ष भी है। अतः गुण भी द्रव्य के समान उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य लक्षण युक्त है। गुण में जो उत्पाद-व्यय या अवस्थान्तरण होता है, उसे हम गुण की पर्याय कहते हैं। जिस प्रकार कोई भी द्रव्य पर्याय के बिना नहीं होता है, उसी प्रकार कोई भी गुण पर्याय से रहित नहीं होता है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार द्रव्य एवं गुण में घटित होने वाले विभिन्न परिवर्तन ही पर्याय कहलाते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय एक विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता रहता है। अपने पूर्व क्षण की अवस्था का त्याग करता है और एक नूतन विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता है इन्हें ही द्रव्य की पर्याय कहते हैं द्रव्य-पर्याय स्ववर्गीय अनेक द्रव्याश्रित होती है, जबकि गुण पर्याय एक द्रव्याश्रित होती हैं। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यदि द्रव्य गुण-संघात (समुदाय) रूप हैं तो फिर द्रव्य और गुण की अलग-अलग पर्याय मानने की क्या आवश्यकता है। ज्ञातव्य है कि द्रव्य के स्कन्ध, देश, प्रदेश तथा परमाणु रूप भी हैं अतः द्रव्य की स्कन्ध, देश, प्रदेश या परमाणु रूप पर्याय अर्थात् उसके आकार आदि द्रव्य पर्याय हैं। द्रव्य में अनन्तानन्त गुण होते हैं और उन गुणों में प्रति समय होने वाली षट् गुण हानि वृद्धि गुण पर्याय है। उदाहरण के रूप में एक मिट्टी का गड़ा है, वह मृत्तिका रूप पुद्गल द्रव्यों की आकृति है यह आकृति द्रव्य पर्याय है किन्तु यह काला या लाल है- यह काला या लाल होना गुण पर्याय है। जिस प्रकार जलती हुई दीपशिखा में प्रति क्षण जलने वाला तेज बदलता रहता है, फिर भी दीपक यथावत् जलता रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य सतत् रूप से परिवर्तन या परिणमन को प्राप्त होता रहता है। फिर भी द्रव्यत्व यथावत् रहता है। द्रव्य में होने वाला यह परिवर्तन या परिणमन ही उसकी पर्याय है। एक व्यक्ति जन्म लेता है, बालक से किशोर और किशोर से युवक, युवक से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। जन्म से लेकर मृत्यु काल तक प्रत्येक व्यक्ति के देह की शारीरिक संरचना में तथा विचार और अनुभूति की चैतसिक अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। उसमें प्रति क्षण होने वाले इन

परिवर्तनों के द्वारा वह जो भिन्न-भिन्न अवस्थायें प्राप्त करता है, वे ही पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि पर्याय जैन दर्शन का विशिष्ट शब्द है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय दर्शन में पर्याय की यह अवधारणा अनुपस्थित है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था की यह यात्रा कोई ऐसी घटना नहीं है जो एक ही क्षण में घटित हो जाती है। बल्कि यह सब क्रमिक रूप से घटित होता रहता है, हमें उसका पता ही नहीं चलता। यह प्रति समय होनेवाला परिवर्तन ही पर्याय है। पर्याय शब्द का सामान्य अर्थ अवस्था विशेष है। दार्शनिक जगत् में पर्याय का जो अर्थ प्रसिद्ध हुआ है, उसमें आगम में किंचित् भिन्न अर्थ में पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है। दार्शनिक ग्रन्थों में द्रव्य के क्रमभावी परिणाम को पर्याय कहा गया है तथा गुण एवं पर्याय से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहा गया है। वहाँ पर एक ही द्रव्य या वस्तु की विभिन्न पर्यायों की चर्चा है। आगम में पर्याय का निरूपण द्रव्य के क्रमभावी परिणामन के रूप में नहीं हुआ है। आगम में तो एक पदार्थ जितनी अवस्थाओं में प्राप्त होता है उन्हें उस पदार्थ का पर्याय कहा गया है। जैसे जीव की पर्याय है- नारक, देव, मनुष्य, तिर्यच, सिद्ध आदि। **प्रज्ञापनासूत्र** के पर्याय पद में जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य और उनके विभिन्न प्रकारों की पर्यायों अर्थात् अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन है। इसमें उन द्रव्यों को सामान्य अपेक्षा से सम्भावित कितनी पर्यायें होती हैं इसकी भी चर्चा है।

पर्याय द्रव्य की भी होती है और गुण की भी होती है। गुणों की पर्यायों का उल्लेख अनुयोगद्वारसूत्र में इस प्रकार हुआ है- एक गुण काला, द्विगुण काला, यावत् अनन्त गुण काला। इस प्रकार काले गुण की अनन्त पर्यायें होती हैं। इसी प्रकार नीले, पीले, लाल एवं सफेद वर्णों की पर्याय भी अनन्त होती हैं। वर्ण की भाँति गन्ध, रस, स्पर्श के भेदों की भी एक गुण से लेकर अनन्त गुण तक की पर्यायें होती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग को पर्याय का लक्षण कहा है। एक पर्याय का दूसरे पर्याय के साथ द्रव्य की दृष्टि से एकत्व (तादात्म्य) होता है, पर्याय की दृष्टि से दोनों पर्याय एक-दूसरे से पृथक् होती हैं। संख्या के आधार पर भी पर्यायों में भेद होता है। इसी प्रकार संस्थान अर्थात् आकृति की दृष्टि से भी पर्याय-भेद होता है। ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन में हम जिसे पर्याय कहते हैं उसे महर्षि पतंजलि ने **महाभाष्य** के पशपाशादिक में आकृति कहा है। वे लिखते हैं 'द्रव्य नित्यमाकृतिरनित्या'। जिस पर्याय का संयोग (उत्पाद) होता है उसका विनाश भी निश्चित रूप से होता है। कोई भी द्रव्य कभी भी पर्याय से रहित नहीं होता। फिर भी द्रव्य की वे पर्यायें स्थिर भी नहीं रहती हैं वे प्रति समय परिवर्तित

होती रहती हैं। जैन दार्शनिकों ने पर्याय परिवर्तन की इन घटनाओं को द्रव्य में होने वाले उत्पाद और व्यय के माध्यम से स्पष्ट किया है। द्रव्य में प्रति क्षण पूर्ण पर्याय का नाश या व्यय तथा उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है। उत्पाद और व्यय की घटना जिसमें या जिसके सहारे घटित होती है या जो परिवर्तित होता है, वही द्रव्य है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य और पर्याय में भी कथंचित् तादात्म्य इस अर्थ में है पर्याय से रहित होकर द्रव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। द्रव्य की पर्याय बदलते रहने पर भी द्रव्य में एक क्षण के लिए भी ऐसा नहीं होता कि वह पर्याय से रहित हो। सिद्धसेन दिवाकर का कथन है कि न तो पर्यायों से पृथक् होकर द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है और न द्रव्य से पृथक् होकर पर्याय का ही कोई अस्तित्व होता है। सत्तात्मक स्तर पर द्रव्य और पर्याय अलग-अलग सत्ताएँ नहीं हैं। वे तत्त्वतः अभिन्न हैं किन्तु द्रव्य के बने रहने पर भी पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश का क्रम घटित होता रहता है। यदि पर्याय उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है, तो उसे द्रव्य से कथंचित् भिन्न भी मानना होगा। जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था व्यक्ति से पृथक् कहीं नहीं देखी जाती। वे व्यक्ति में ही घटित होती हैं और व्यक्ति से अभिन्न होती हैं किन्तु एक ही व्यक्ति में बाल्यावस्था का विनाश और युवावस्था की प्राप्ति देखी जाती है। अतः अपने विनाश और उत्पत्ति की दृष्टि से वे पर्यायें व्यक्ति से पृथक् ही कही जा सकती हैं। वैचारिक स्तर पर प्रत्येक पर्याय द्रव्य से भिन्नता रखती है। संक्षेप में तात्त्विक स्तर पर या सत्ता की दृष्टि से हम द्रव्य और पर्याय को अलग-अलग नहीं कर सकते, अतः वे अभिन्न हैं। किन्तु वैचारिक स्तर पर द्रव्य और पर्याय को परस्पर पृथक् माना जा सकता है क्योंकि पर्याय उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं, जबकि द्रव्य बना रहता है, अतः वे द्रव्य से भिन्न भी होती हैं और अभिन्न भी। जैन आचार्यों के अनुसार द्रव्य और पर्याय की यह कथंचित् अभिन्नता उनके अनेकांतिक दृष्टिकोण की परिचायक है।

पर्याय के प्रकार

(क) जीव पर्याय और अजीव पर्याय

पर्यायों के प्रकारों की आगमिक आधारों पर चर्चा करते हुए द्रव्यानुयोग (पृ. 38) में उपाध्याय श्री कन्हैयालाल जी म.सा. कमल लिखते हैं कि प्रज्ञापना (सूत्र) में पर्याय के दो भेद प्रतिपादित हैं- 1. जीव पर्याय और 2. अजीव पर्याय। ये दोनों प्रकार की पर्यायें अनन्त होती हैं। जीव पर्याय किस प्रकार अनन्त होती है, इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि नैरयिक, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक तेजस्कायिक, वायुकायिक, द्विन्द्रिय, त्रेन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, तिर्क्ययोनिक और मनुष्य ये सभी जीव असंख्यात् हैं, किन्तु वनस्पतिकायिक

और सिद्ध जीव तो अनन्त हैं, इसलिए जीव पर्यायें अनन्त हैं। इसी प्रकार अजीव पुद्गल आदि रूप है, पुनः पुद्गल स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु रूप होता है, साथ ही उसमें वर्ण, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुण होते हैं, फिर में इनके भी अनेक आवान्तर भेद होते हैं, साथ ही प्रत्येक गुण के भी अनेक अंश (Degrees) होते हैं, अतः इन विभिन्न अंशों और उनके विभिन्न संयोगों की अपेक्षा से पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों की भी अनन्त पर्यायें होती हैं। जिनका विस्तृत विवेचन **प्रज्ञापनासूत्र** के पर्याय पद में किया गया है।

(ख) अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय

पुनः पर्याय दो प्रकार की होती है- 1. अर्थपर्याय और 2. व्यञ्जनपर्याय। एक ही पदार्थ की प्रतिक्षण में परिवर्तित होने वाली क्रमभावी पर्यायों को अर्थ पर्याय कहते हैं तथा पदार्थ की उसके विभिन्न प्रकारों एवं भेदों में जो पर्याय होती है उसे व्यञ्जन कहते हैं। अर्थ पर्याय सूक्ष्म एवं व्यञ्जन पर्याय स्थूल होती है। ज्ञातव्य है कि ध्वला (4/1/5.4/337/6) में द्रव्य पर्याय को ही व्यञ्जन पर्याय कहा गया है और गुण पर्याय को ही अर्थ पर्याय भी कहा गया है। द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि व्यञ्जन पर्याय ही द्रव्य पर्याय और अर्थ पर्याय ही गुण पर्याय है तो फिर इन्हें पृथक्-पृथक् क्यों बताया गया है, इसका उत्तर यह है कि प्रवाह की अपेक्षा से व्यञ्जन पर्याय चिरकायिक होती है, जैसे जीव की चेतन पर्याय सदैव बनी रहती है चाहे चेतन अवस्थाएं बदलती रहें, इसके विपरीत अर्थ पर्याय गुणों और उनके अंशों की अपेक्षा से प्रति समय बदलती रहती है। व्यञ्जन पर्याय सामान्य है, जैसे जीवों की चेतना पर्यायें जो सभी जीवों में और सभी कालों में पाई जाती हैं। वे द्रव्य की सहभागी पर्यायें हैं और अर्थ पर्याय विशेष है जैसे किसी व्यक्ति विशेष की काल विशेष में होने वाली क्रोध आदि की क्रमिक अवस्थाएं, अतः अर्थ पर्याय क्रमभावी हैं, वे क्रमिक रूप से काल क्रम में घटित होती रहती हैं अतः कालकृत भेद के आधार पर उन्हें द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय से पृथक् कहा गया है।

(ग) ऊर्ध्वपर्याय और तिर्यक्पर्याय

पर्याय को ऊर्ध्व पर्याय एवं तिर्यक् पर्याय के रूप में भी वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे भूत, भविष्य और वर्तमान के अनेक मनुष्यों की अपेक्षा से मनुष्यों की जो अनन्त पर्यायें होती हैं वे तिर्यक् पर्याय कही जाती हैं। जबकि एक ही मनुष्य के त्रिकाल में प्रति क्षण होने वाले पर्याय परिणमन को ऊर्ध्व पर्याय कहा जाता है। तिर्यक् अभेद में भेद ग्राही है और ऊर्ध्व पर्याय भेद में अभेद ग्राही है।

यद्यपि पर्याय दृष्टि भेदग्राही ही होती है, फिर भी अपेक्षा भेद से या उपचार से यह कहा गया है। दूसरे रूप में तिर्यक् पर्याय द्रव्य सामान्य के दिक् गत भेद का ग्रहण करती है और ऊर्ध्व पर्याय द्रव्य-विशेष के कालगत भेदों को।

(घ) स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय

द्रव्य में अपने निज स्वभाव की जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे स्वभाव पर्याय कही जाती हैं और पर के निमित्त से जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे विभाव पर्याय होती हैं। जैसे कर्म के निमित्त से आत्मा के जो क्रोधादि कषाय रूप परिणमन हैं वे विभाव पर्याय हैं और आत्मा या केवली का ज्ञाता-द्रष्टा भाव स्वभाव पर्याय है। जीवित शरीर पुद्गल की विभाव पर्याय है और वर्ण, गन्ध आदि स्वभाव पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल की विभाव पर्याय नहीं है। घटाकाश, मठाकाश आदि को उपचार से आकाश का विभाव पर्याय कहा जा सकता है, किन्तु यथार्थ से नहीं, क्योंकि आकाश अखण्ड द्रव्य है, उसमें भेद उपचार से माने जा सकते हैं।

(ङ) सजातीय और विजातीय द्रव्य पर्याय

सजातीय द्रव्यों के परस्पर मिलने से जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह सजातीय द्रव्य पर्याय है जैसे समान वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि-आदि से बना स्कन्ध। इससे भिन्न विजातीय पर्याय है।

(च) कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय

स्वभाव पर्याय के अन्तर्गत दो प्रकार की पर्यायें होती हैं कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय। पर्यायों में परस्पर कारण कार्य भाव होता है। जो स्वभाव पर्याय कारण रूप होती है कारण शुद्ध पर्याय है और जो स्वभाव पर्याय कार्य रूप होती है वे कार्य शुद्ध पर्याय हैं, किन्तु यह कथन सापेक्ष रूप से समझना चाहिए क्योंकि जो पर्याय किसी का कारण है, वही दूसरी का कार्य भी हो सकती है। इसी क्रम में विभाव पर्यायों को भी कार्य अशुद्ध पर्याय या कारण अशुद्ध पर्याय भी माना जा सकता है।

(छ) सहभावी पर्याय और क्रमभावी पर्याय

जब किसी द्रव्य में या गुण में अनेक पर्यायें एक साथ होती हैं, तो वे सहभावी पर्याय कही जाती हैं जैसे पुद्गल द्रव्य में वर्ण, गन्ध, रस आदि रूप पर्यायों का एक साथ होना। काल की अपेक्षा से जिन पर्यायों में क्रम पाया जाता है, वे क्रम भावी पर्याय हैं। जैसे वाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था।

(ज) सामान्य पर्याय और विशेष पर्याय

वैसे तो सभी पर्यायें विशेष ही हैं किन्तु अनेक द्रव्यों की जो समरूप पर्यायें हैं वे सामान्य पर्याय कहीं जा सकती हैं जैसे अनेक जीवों का मनुष्य पर्याय में होना।

ज्ञातव्य है कि पर्यायों में न केवल मात्रात्मक अर्थात् संख्या और अंशों (Degrees) की अपेक्षा से भेद होता है अपितु गुणों की अपेक्षा से भी भेद होते हैं। मात्रा की अपेक्षा से एक अंश काला, दो अंश वाला, अनन्त अंश काला आदि भेद होते हैं जबकि गुणात्मक दृष्टि से काला, लाल श्वेत आदि अथवा खट्टा-मीठा आदि अथवा मनुष्य, पशु, नारक, देवता आदि भेद होते हैं।

गुण और पर्याय की वास्तविकता का प्रश्न

जो दार्शनिक सत्ता और गुण में अभिन्नता या तादात्म्य के प्रतिपादक हैं और जो परम सत्ता को तत्त्वतः अद्वैत मानते हैं, वे गुण और पर्याय को वास्तविक नहीं, अपितु प्रतिभासिक मानते हैं। उनका मानना है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों की परम सत्ता से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है ये मात्र प्रतीतियाँ हैं। अनुभव के स्तर पर जिनका उत्पाद या व्यय है अर्थात् जो परिवर्तनशील है, वह सत् नहीं है, मात्र प्रतिभास है। उनके अनुसार परम सत्ता (ब्रह्म) निर्गुण है। इसी प्रकार विज्ञानवादी या प्रत्ययवादी दार्शनिकों के अनुसार परमाणु भी एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा रूपादि विभिन्न गुणों की प्रतीति कराता है, किन्तु वस्तुतः उसमें इन गुणों की कोई सत्ता नहीं होती है। इन दार्शनिकों की मान्यता यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की अनुभूति हमारे मन पर निर्भर करती है। अतः वे वस्तु के सम्बन्ध में हमारे मनोविकल्प ही हैं। उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि हमारी इन्द्रियों की संरचना भिन्न प्रकार की होती है तो उनसे हमें जो संवेदना होती वह भी भिन्न प्रकार की होती। यदि संसार के सभी प्राणियों की आँखों की संरचना में रंग अंधता होती तो वे संसार की सभी वस्तुओं को केवल श्वेत-श्याम रूप में ही देखते और उन्हें अन्य रंगों का कोई बोध नहीं होता। लालादि रंगों के अस्तित्व का विचार ही नहीं होता। जिस प्रकार इन्द्रधनुष के रंग मात्र प्रतीति हैं वास्तविक नहीं अथवा जिस प्रकार हमारे स्वप्न की वस्तुएँ मात्र मनोकल्पनाएँ हैं, उसी प्रकार गुण और पर्याय भी मात्र प्रतिभास है। चित्त-विकल्प वास्तविक नहीं हैं।

किन्तु जैन दार्शनिक अन्य वस्तुवादी दार्शनिकों (Realist) के समान द्रव्य के साथ-साथ गुण और पर्याय को भी यथार्थ/वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार प्रतीति और प्रत्यय यथार्थ के ही होते हैं। जो अयथार्थ हो उसका कोई प्रत्यय (Idea) या प्रतीति ही नहीं हो सकती है। आकाश-कुसुम या परी आदि की अयथार्थ कल्पनाएँ भी दो यथार्थ अनुभूतियों का चैतसिक स्तर पर किया गया मिश्रण मात्र है। स्वप्न भी यथार्थ अनुभूतियों और उनके चैतसिक स्तर पर किये गये मिश्रणों से ही निर्मित होते हैं, जन्मान्ध को कभी रंगों के कोई स्वप्न नहीं होते हैं। अतः

अयथार्थ की कोई प्रतीति नहीं हो सकती हैं, जैनों के अनुसार अनुभूति का प्रत्येक विषय अपनी वास्तविक सत्ता रखता है। इससे न केवल द्रव्य अपितु गुण और पर्याय भी वास्तविक (Real) सिद्ध होते हैं। सत्ता की इस वास्तविकता के कारण ही प्राचीन जैन आचार्यों ने उसे अस्तिकाय कहा है। अतः उत्पाद-व्यय धर्मा होकर भी पर्याय प्रतिभास न होकर वास्तविक हैं।

क्रमबद्ध पर्याय

पर्यायों के सम्बन्ध में जो एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न इन दिनों बहुचर्चित है, वह है पर्यायों की क्रमबद्धता। यह तो सर्वमान्य है कि पर्यायें सहभावी और क्रमभावी होती हैं, किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं, यह विवाद का विषय है। पर्यायें क्रम से घटित होती हैं, किन्तु इस आधार पर यह मान लेने पर कि पर्यायों के घटित होने का यह क्रम भी पूर्व नियत है, पुरुषार्थ के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है। पर्यायों को क्रमबद्ध मानने का मुख्य आधार जैन दर्शन में प्रचलित सर्वज्ञता की अवधारणा है। जब एक बार यह मान लिया जाता है कि सर्वज्ञ या केवली सभी द्रव्यों के त्रैकालिक पर्यायों को जानता है, तो इसका अर्थ है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में सभी द्रव्यों की सर्व पर्यायें क्रमबद्ध और नियत हैं, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। भवितव्यता को पुरुषार्थ के माध्यम से बदलने की सम्भवना नहीं है। जिसका जैसा पर्याय परिणाम होता है वह वैसा ही होगा। इस अवधारणा का एक अच्छा पक्ष यह है कि इसे मान लेने पर व्यक्ति भूत और भावी के सम्बन्ध के व्यर्थ के संकल्प-विकल्प से मुक्त रह कर समभाव में रह सकता है दूसरे उसमें कर्तृत्व का मिथ्या अहंकार भी नहीं होता है। किन्तु इसका दुर्बल पक्ष यह है कि इसमें पुरुषार्थ के लिए अवकाश नहीं रहता है और व्यक्ति निराशावादी और अकर्मण्य बन जाता है। अपने भविष्य को संवारने का विश्वास भी व्यक्ति के पास नहीं रह जाता है। क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद की समर्थक है अतः इसमें नैतिक उत्तरदायित्व भी समाप्त हो जाता है। यदि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से कुछ भी अन्यथा नहीं कर सकता है तो उसे किसी भी अच्छे-बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता।

यद्यपि इस सिद्धान्त के समर्थक जैनदर्शन के पंचकारणसमवाय के सिद्धान्त के आधार पर पुरुषार्थ की सम्भावना से इन्कार नहीं करते हैं किन्तु यदि उनके अनुसार पुरुषार्थ भी नियत है और व्यक्ति संकल्प स्वातन्त्र्य के आधार पर अन्यथा कुछ करने में समर्थ नहीं हैं तो उसे पुरुषार्थ कहना भी उचित नहीं है और यदि पुरुषार्थ नियत है तो फिर वह नियति से भिन्न नहीं है। क्रमबद्ध

पर्याय की अवधारणा में व्यक्ति नियति का दास बनकर रह जाता है। चाहे पंचकारणसमवाय के आधार पर कार्य में पुरुषार्थ आदि अन्य कारण घटकों की सत्ता मान भी ली जाये तो भी वे नियत ही होंगे अतः क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद से भिन्न नहीं होगी। नियतिवाद व्यक्ति को संकल्प-विकल्प से और कर्तृत्व के अहंकार से दूर रखकर चित्त को समाधि तो देता है, किन्तु उसमें नैतिक उत्तरदायित्व और साधनात्मक पुरुषार्थ के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

यदि क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा वाले पक्ष की ओर से यह कहा जाये कि जो असर्वज्ञ है वह अपने भावी को नहीं जानता है अतः उसे पुरुषार्थ करना चाहिए। किन्तु इस कथन को एक सुझाव मात्र कहा जाता है, इसके पीछे सैद्धान्तिक बल नहीं है। यदि सर्वज्ञ के ज्ञान में मेरी समस्त भावी पर्यायें नियत हैं तो फिर पुरुषार्थ करने का क्या अर्थ रह जाता है और जैसा कि पूर्व में कहा गया है यदि पुरुषार्थ की पर्यायें भी नियत हैं तो फिर उसके लिए प्रेरणा का क्या अर्थ है?

क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा के पक्ष में सर्वज्ञता की अवधारणा के अतिरिक्त एक अन्य तर्क कार्य कारण व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त की कठोर व्याख्या के आधार पर भी दिया जाता है। यदि कार्य कारण व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त को अपने कठोर अर्थ में लिया जाता है तो फिर इस व्यवस्था के अधीन भी सभी पर्यायें नियत ही सिद्ध होंगी। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सर्वज्ञता का जो अर्थ परवर्ती जैन आचार्यों ने लिया है, उसका ऐसा अर्थ प्राचीन काल में नहीं था। उस समय सर्वज्ञ का अर्थ धर्मज्ञ था या अधिक से अधिक तात्कालिक सभी दार्शनिक मान्यताओं का ज्ञान था। **भगवतीसूत्र** की यह अवधारणा कि “केवली सिय जाणई सिय ण जाणई” से भी सर्वज्ञता का वह अर्थ कि सर्वज्ञ सभी द्रव्यों त्रैकालिक पर्यायों को जानता है खण्डित होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट कहा है कि निश्चय नय से सर्वज्ञ आत्मज्ञ होता है, सर्वज्ञ सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को जानता है, यह मात्र व्यवहार कथन है और व्यवहार अभूतार्थ है। इस सम्बन्ध में पं. सुखलालजी, डॉ. नगीन जे. शाह और मैंने विस्तार से चर्चा की है, यहाँ उस चर्चा को दोहराना आवश्यक नहीं है। पुनः जैन कर्म सिद्धान्त में कर्मविपाक में उदीरणा, संक्रमण, अपवर्तन और उत्कर्षण आदि की जो अवधारणाएँ हैं वे कर्म व्यवस्था में पुरुषार्थ की सम्भावनाएँ स्पष्ट कर देती हैं। पुनः यदि महावीर को क्रमबद्धपर्याय की अवधारणा मान्य होती तो फिर गोशालक के नियतिवाद के स्थान पर पुरुषार्थ की स्थापना वे क्यों करते? जहाँ तक मेरी जानकारी है न तो भगवती, प्रज्ञापना आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में और न षट्खण्डागम, कसायपाहुड आदि दिगम्बर आगमों

में तथा न कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में कहीं क्रमबद्धपर्याय की स्पष्ट अवधारणा है। फिर भी क्रमबद्ध पर्याय के सम्बन्ध में डॉ. हुकमचन्द्र जी भारिल्ल का जो ग्रन्थ है वह दर्शन जगत् में इस विषय पर लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में मत वैभिन्न्य अपनी जगह है किन्तु पर्यायों की क्रमबद्धता के समर्थन में सर्वज्ञता को आधार मान कर दी गई उनकी युक्तियाँ अपनी महत्त्व रखती हैं। विस्तार भय से इस सम्बन्ध में गहन चर्चा में न जाकर अपने वक्तव्य को यही विराम देना चाहूंगा और विद्वानों से अपेक्षा करूंगा कि पर्याय के सम्बन्ध में उठाये गये इन प्रश्नों पर जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में अपना चिन्तन प्रस्तुत करें।



जैनदर्शन में पंचास्तिकाय एवं षट्द्रव्य

पंचास्तिकाय की अवधारणा

जैन दर्शन में 'द्रव्य' के वर्गीकरण का एक आधार अस्तिकाय और अनस्तिकाय की अवधारणा भी है। षट्द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पाँच अस्तिकाय माने गये हैं जबकि काल को अनस्तिकाय माना गया है। अधिकांश जैन दार्शनिकों के अनुसार काल का अस्तित्व तो है, किन्तु उसमें कायत्व नहीं है, अतः उसे अस्तिकाय के वर्ग में नहीं रखा जा सकता है। कुछ श्वेताम्बर आचार्यों ने तो काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने के सम्बन्ध में भी आपत्ति उठाई है, किन्तु यह एक भिन्न विषय है, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

अस्तिकाय का तात्पर्य

सर्वप्रथम तो हमारे सामने मूल प्रश्न यह है कि अस्तिकाय की इस अवधारणा का तात्पर्य क्या है? व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अस्तिकाय' दो शब्दों के मेल से बना है- अस्ति+काय। 'अस्ति' का अर्थ है सत्ता या अस्तित्व और 'काय' का अर्थ है- शरीर अर्थात् जो शरीर-रूप से अस्तित्ववान् है वह अस्तिकाय है। किन्तु यहाँ 'काय' (शरीर) शब्द भौतिक शरीर के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जैसा कि जन-साधारण समझता है। क्योंकि पंच-अस्तिकायों में पुद्गल को छोड़कर शेष चार तो अमूर्त हैं, अतः वे अस्तिकाय हैं। परमाणु आदि, मध्य और अन्त से रहित है, किन्तु परमाणु जुड़कर स्कन्ध बनाते हैं। परमाणु और स्कन्ध पुद्गल के ही रूप हैं अतः पुद्गल को भी अस्तिकाय माना जा सकता है। फिर भी उनका आकाश में विस्तार है।

वस्तुतः इस प्रसंग में कायत्व का अर्थ विस्तारयुक्त होना ही है। जो द्रव्य विस्तारवान् है वे अस्तिकाय हैं और जो विस्तार रहित हैं वे अनस्तिकाय हैं। विस्तार की यह अवधारणा, क्षेत्र की अवधारणा पर आश्रित है। वस्तुतः कायत्व के अर्थ के स्पष्टीकरण में सावयवत्व एवं सप्रदेशत्व की जो अवधारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं, वे सभी क्षेत्र के अवगाहन की संकल्पना से सम्बन्धित हैं। विस्तार का तात्पर्य है क्षेत्र का अवगाहन। जो द्रव्य जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है वही उसका विस्तार या

प्रदेश प्रचयत्व या कायत्व है। विस्तार या प्रचय दो प्रकार का माना गया है- ऊर्ध्व प्रचय और तिर्यक् प्रचय। आधुनिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः ऊर्ध्व-एकरेखीय विस्तार (Longitudinal Extension) और बहुआयामी विस्तार (Multi-dimensional Extension) कहा जा सकता है। अस्तिकाय की अवधारणा में प्रचय या विस्तार को जिस अर्थ में ग्रहण किया जाता है वह बहुआयामी विस्तार है न कि ऊर्ध्व-एकरेखीय विस्तार। जैन दार्शनिकों ने केवल उन्हीं द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है, जिनका तिर्यक् प्रचय या बहुआयामी विस्तार है। काल में केवल ऊर्ध्व-प्रचय या एक-आयामी विस्तार है, अतः उसे अस्तिकाय नहीं माना गया है। यद्यपि प्रो. जी. आर. जैन ने काल को एक-आयामी (Mono-dimensional) और शेष को द्वि-आयामी (Two-dimensional) माना है किन्तु मेरी दृष्टि में शेष द्रव्य त्रि-आयामी हैं, क्योंकि वे स्कन्धरूप हैं, अतः उनमें लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई के रूप में तीन आयाम होते हैं। अतः कहा जा सकता है कि जिन द्रव्यों में त्रि-आयामी विस्तार है, वे अस्तिकाय द्रव्य हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि काल भी लोकव्यापी है फिर उसे अस्तिकाय क्यों नहीं माना गया? इसका प्रत्युत्तर यह है कि यद्यपि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर कालाणु स्थित हैं, किन्तु प्रत्येक कालाणु (Time grains) अपने आप में एक स्वतंत्र द्रव्य हैं, वे परस्पर निरपेक्ष हैं, स्निग्ध एवं रूक्ष गुण के अभाव के कारण उनमें बंध नहीं होता है, अर्थात् उनके स्कन्ध नहीं बनते हैं। स्कन्ध के अभाव में उनमें प्रदेश प्रचयत्व की कल्पना संभव नहीं है, अतः वे अस्तिकाय द्रव्य नहीं हैं। काल-द्रव्य को अस्तिकाय इसलिये नहीं कहा गया, क्योंकि उसमें स्वरूपतः और उपचार दोनों ही प्रकार से प्रदेश प्रचयत्व की कल्पना का अभाव है।

यद्यपि पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त ने पुद्गल (Matter) का गुण विस्तार (Extention) माना है किन्तु जैनदर्शन की विशेषता तो यह है कि वह आत्मा; धर्म, अधर्म और आकाश जैसे अमूर्त-द्रव्यों में भी विस्तार की अवधारणा को स्वीकार करता है। इनके विस्तारवान् (कायत्व से युक्त) होने का अर्थ है, वे दिक् (pace) में प्रसारित या व्याप्त हैं। धर्म एवं अधर्म तो एक महास्कन्ध के रूप में सम्पूर्ण लोकाकाश के सीमित अंशस्व प्रदेशी क्षेत्र में प्रसारित या व्याप्त हैं। आकाश तो स्वतः ही अनन्त प्रदेश वाला होकर लोक एवं अलोक में विस्तारित है, अतः इसमें भी कायत्व की अवधारणा सम्भव है। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है देकार्त उसमें 'विस्तार' को स्वीकार नहीं करता है, किन्तु जैन दर्शन उसे विस्तारयुक्त मानता है। क्योंकि आत्मा जिस शरीर को अपना आवास बनाता है उसमें वह समग्रतः व्याप्त हो जाता है। हम

यह नहीं कह सकते हैं कि शरीर के अमुक भाग में आत्मा है और अमुक भाग में नहीं है, वह अपने चेतना लक्षण से सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करता है। अतः उसमें विस्तार है, वह अस्तिकाय है। हमें इस भ्रान्ति को निकाल देना चाहिए कि केवल मूर्त-द्रव्य का विस्तार होता है और अमूर्त का नहीं। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अमूर्त-द्रव्य का भी विस्तार होता है। वस्तुतः अमूर्त-द्रव्य के विस्तार की कल्पना उसके लक्षणों या कार्यों के आधार पर की जा सकती है, जैसे धर्म-द्रव्य का कार्य गति को सम्भव बनाना है, वह गति का माध्यम माना गया है। अतः जहाँ-जहाँ गति है या गति सम्भव है, वहाँ-वहाँ धर्म-द्रव्य की उपस्थिति एवं विस्तार है, यह माना जा सकता है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि किसी द्रव्य को अस्तिकाय कहने का तात्पर्य यह है कि वह द्रव्य दिक् में प्रसारित है या प्रसारण की क्षमता से युक्त है। विस्तार या प्रसार (Extention) ही कायत्व है क्योंकि विस्तार या प्रसार की उपस्थिति में ही प्रदेश प्रचयत्व तथा सावयवता की सिद्धि होती है। अतः जिन द्रव्यों में अस्तित्व के साथ-साथ विस्तार या प्रसार का लक्षण है, वे अस्तिकाय हैं। अब एक प्रश्न यह शेष रहता है कि काल को अस्तिकाय क्यों नहीं माना जा सकता? यद्यपि अनादि भूत से लेकर अनन्त भविष्य तक काल के विस्तार का अनुभव किया जा सकता है, किन्तु फिर भी उसमें कायत्व का आरोपण संभव नहीं है। क्योंकि काल का प्रत्येक घटक अपनी स्वतंत्र और पृथक् सत्ता रखता है। जैन दर्शन की पारम्परिक परिभाषा में कालाणुओं में स्निग्ध एवं रूक्ष गुण के अभाव होने से उनका कोई स्कन्ध या संघात नहीं बन सकता है। यदि उनके स्कन्ध की परिकल्पना भी कर ली जाय तो पर्याय-समय की सिद्धि नहीं होती है। पुनः काल के वर्तना लक्षण की सिद्धि केवल वर्तमान में ही है और वर्तमान अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः काल में विस्तार (प्रदेश प्रचयत्व) नहीं माना जा सकता और इसलिए वह अस्तिकाय भी नहीं है। प्रारंभ से ही ये अस्तिकाय पाँच माने गये हैं- 1. धर्म, 2. अधर्म, 3. जीव, 4. पुद्गल और 5. आकाश, इन पाँचों की विस्तृत चर्चा षट्द्रव्यों के प्रसंग में की गई है।

अस्तिकायों के प्रदेश प्रचयत्व का अल्पबहुत्व

ज्ञातव्य है कि सभी अस्तिकाय द्रव्यों का विस्तार-क्षेत्र समान नहीं है, उनमें भिन्नताएँ हैं। जहाँ आकाश का विस्तार-क्षेत्र लोक और अलोक दोनों हैं वहाँ धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य केवल लोक तक ही सीमित हैं। पुद्गल के प्रत्येक स्कन्ध और प्रत्येक जीव का विस्तार-क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न है। पुद्गल पिण्डों का

विस्तार-क्षेत्र उनके आकार पर निर्भर करता है। प्रत्येक जीवात्मा का विस्तार-क्षेत्र उसके द्वारा गृहीत शरीर के आकार पर निर्भर करता है। इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव अस्तिकाय होते हुए भी उनका विस्तार-क्षेत्र या कायत्व समान नहीं है। जैन दार्शनिकों ने उनमें प्रदेश दृष्टि से भिन्नता स्पष्ट की है। भगवतीसूत्र में बताया गया है कि धर्म-द्रव्य और अधर्म के प्रदेश अन्य द्रव्यों की अपेक्षा सबसे कम हैं। वे लोकाकाश तक (Within the limits of universe) सीमित हैं और असंख्य प्रदेशी हैं। आकाश की प्रदेश संख्या इन दोनों की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक मानी गयी है। आकाश अनन्त प्रदेशी हैं, क्योंकि वह ससीम लोक (Finite universe) तक सीमित नहीं है। उसका विस्तार अलोक में भी है। पुनः आकाश की अपेक्षा जीव द्रव्य के प्रदेश अनन्तगुणा अधिक हैं क्योंकि प्रथम तो जहाँ धर्म-अधर्म और आकाश का एकल-द्रव्य है वहाँ जीव अनन्त-द्रव्य हैं क्योंकि संख्या की अपेक्षा जीव अनन्त है। पुनः प्रत्येक जीव के असंख्य प्रदेश हैं। प्रत्येक जीव में अपने आत्म-प्रदेशों से सम्पूर्ण लोक को व्याप्त करने की क्षमता है। जीवद्रव्य के प्रदेशों की अपेक्षा भी पुद्गल-द्रव्य के प्रदेश अनन्त गुणा अधिक हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव के साथ अनन्त कर्म-पुद्गल संयोजित हैं। यद्यपि काल की प्रदेश संख्या पुद्गल की अपेक्षा भी अनन्त गुणी मानी गयी, क्योंकि प्रत्येक जीव और पुद्गल-द्रव्य की वर्तमान, अनादि भूत और अनन्त भविष्य की दृष्टि से अनन्त पर्यायें होती हैं अतः काल की प्रदेश-संख्या सर्वाधिक होनी चाहिए फिर कालाणुओं का समावेश पुद्गल-द्रव्य के प्रदेशों में होने की वजह से अस्तिकाय में पुद्गल-द्रव्य के प्रदेशों की संख्या ही सर्वाधिक मानी गयी है। इस समग्र विवेचन से यह ज्ञात होता है कि अस्तिकाय की अवधारणा और द्रव्य की अवधारणा के वर्ण्य-विषय एक ही हैं।

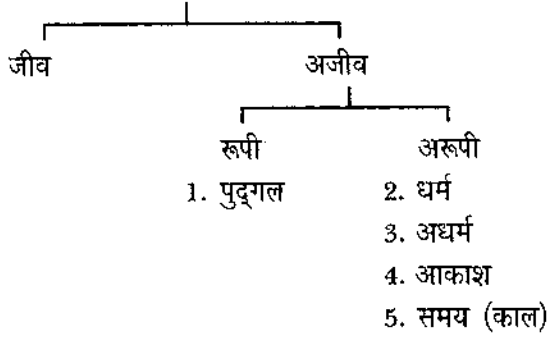
षट्द्रव्यों की अवधारणा

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि प्रारम्भ में जैन दर्शन में पंच अस्तिकाय की अवधारणा ही थी। अपने इतिहास की दृष्टि से यह अवधारणा पार्श्वयुगीन थी। 'इसिभासियाई' के पार्श्व नामक इकतीसवें अध्याय में पार्श्व के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रस्तुतीकरण करते हुए विश्व के मूल घटकों के रूप में पंचास्तिकायों का उल्लेख हुआ है। भगवतीसूत्र में महावीर ने पार्श्व को इसी अवधारणा का पोषण करते हुए यह माना था कि लोक पंचास्तिकाय रूप है। यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में जैनदर्शन में काल को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना गया था। उसे जीव एवं पुद्गल की पर्याय के रूप में ही व्याख्यायित किया जाता था। प्राचीन स्तर के आगमों में उत्तराध्ययन ही ऐसा आगम है जहाँ काल को सर्वप्रथम एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप

में स्वीकार किया गया है। यह स्पष्ट है कि जैन परम्परा में उमास्वामि के काल तक, काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं- इस प्रश्न को लेकर मतभेद था। इस प्रकार जैन आचार्यों में तृतीय-चतुर्थ शताब्दी तक काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएँ चल रही थीं। कुछ विचारक काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे। तत्त्वार्थसूत्र का भाष्यमान पाठ 'कालश्चेत्येके' का निर्देश करता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि कुछ विचारक काल को भी स्वतन्त्र द्रव्य मानने लगे थे। लगता है कि लगभग पाँचवी शताब्दी में आकर काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया था और यही कारण था कि सर्वार्थसिद्धिकार ने 'कालश्चेत्येके' सूत्र के स्थान पर 'कालश्च' इस सूत्र को मान्य किया था। जब श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मान लिया गया, तो अस्तिकाय और द्रव्य शब्दों के वाच्य विषयों में एक अन्तर आ गया। जहाँ अस्तिकाय के अन्तर्गत जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये पाँच ही द्रव्य माने गये, वहाँ द्रव्य की अवधारणा के अन्तर्गत जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल ये षट्द्रव्य माने गये। वस्तुतः अस्तिकाय की अवधारणा जैन परम्परा की अपनी मौलिक और प्राचीन अवधारणा थी। उसे जब वैशेषिक दर्शन की द्रव्य की अवधारणा के साथ स्वीकृत किया गया, तो प्रारम्भ में तो पाँच अस्तिकायों को ही द्रव्य माना गया किन्तु जब काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई तो द्रव्यों की संख्या पाँच से बढ़कर छह हो गई। चूँकि आगमों में कहीं भी अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत काल की गणना नहीं थी अतः काल को अनस्तिकाय वर्ग में रखा गया और यह मान लिया गया कि काल जीव और पुद्गल के परिवर्तनों का निमित्त है और कालाणु तिर्यक् प्रदेश प्रचयत्व से रहित है अतः काल अनस्तिकाय है। इस प्रकार द्रव्यों के वर्गीकरण में सर्वप्रथम दो प्रकार के वर्गीकरण बने- 1. अस्तिकाय द्रव्य और 2. अनस्तिकाय द्रव्य। अस्तिकाय द्रव्यों के वर्ग के अन्तर्गत जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन पाँच द्रव्यों को रखा गया और अनस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत काल को रखा गया। आगे चलकर द्रव्यों के वर्गीकरण का आधार चेतना-लक्षण और मूर्तता लक्षण को भी माना गया। चेतना-लक्षण की दृष्टि से जीव को चेतन द्रव्य और शेष पाँच-धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल को अचेतन द्रव्य कहा गया। इसी प्रकार मूर्तता-लक्षण की अपेक्षा से पुद्गल को मूर्त द्रव्य और शेष पाँच-जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को अमूर्त-द्रव्य माना गया। इस प्रकार द्रव्यों के वर्गीकरण की तीन शैलियाँ अस्तित्व में आईं। जिन्हें हम निम्न सारणियों व आधार पर स्पष्टतया समझ सकते हैं -

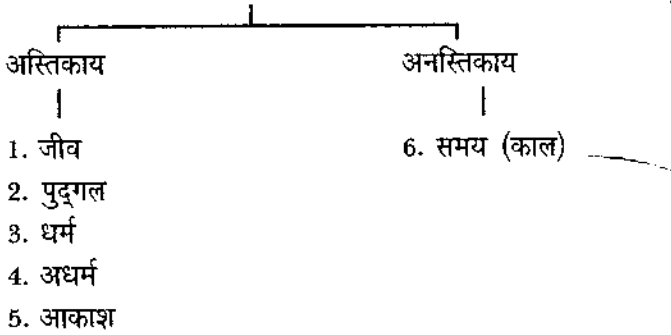
(1)

चेतना लक्षण के आधार पर द्रव्यों का वर्गीकरण



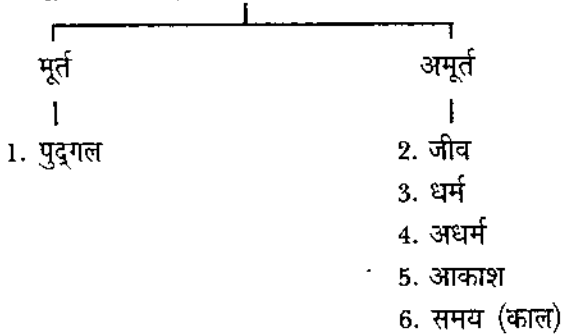
(2)

अस्तिकाय की अवधारणा के आधार पर द्रव्यों का वर्गीकरण



(2)

मूर्तता या अमूर्तता के आधार पर द्रव्यों का वर्गीकरण



द्रव्य गुण और पर्यायों के उपयुक्त वर्गीकरण के पश्चात् इन षट्द्रव्यों के स्वरूप और लक्षण पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। इन षट्द्रव्यों में पाँच-द्रव्य अस्तिकाय भी कहे जाते हैं। इन पंच अस्तिकायों में काल को मिलाकर षट्द्रव्य माने गये हैं। अब हम इन षट् द्रव्यों को पृथक्-पृथक् रूप से चर्चा करेंगे।

जीव द्रव्य

जीव द्रव्य को अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है। जीव द्रव्य का लक्षण उपयोग या चेतना को माना गया है। इसीलिए इसे चेतन द्रव्य भी कहा जाता है। उपयोग या चेतना के दो प्रकारों की चर्चा ही आगमों में मिलती है- निराकार उपयोग और साकार उपयोग। इन दोनों को क्रमशः दर्शन और ज्ञान कहा जाता है। निराकार उपयोग को वस्तु के सामान्य स्वरूप का ग्रहण करने के कारण दर्शन कहा जाता है और साकार उपयोग को वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का ग्रहण करने के कारण ज्ञान कहा जाता है। जीव द्रव्य के सन्दर्भ में जैन दर्शन की विशेषता यह है कि वह जीव द्रव्य को एक अखण्ड द्रव्य न मानकर अनेक द्रव्य मानता है। उसके अनुसार प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता है और विश्व में जीवों की संख्या अनन्त है। इस प्रकार संक्षेप में जीवतन्त्र अस्तिकाय, चेतन, अरूपी और अनेक द्रव्य वाला है।

धर्म द्रव्य

धर्म द्रव्य की इस चर्चा के प्रसंग में सर्वप्रथम हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ वह नहीं है जिसे सामान्यतया ग्रहण किया जाता है। यहाँ 'धर्म' शब्द न तो स्वभाव का वाचक है, न कर्तव्य का और न साधना या उपासना के विशेष प्रकार का, अपितु इसे जीव एवं पुद्गल की गति के सहायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जो जीव और पुद्गल की गति के माध्यम का कार्य करता है, उसे धर्म द्रव्य कहा जाता है। जिस प्रकार मछली की गति जल के माध्यम से ही सम्भव होती है अथवा जैसे-विद्युत धारा उसके चालक द्रव्य के तार आदि के माध्यम से ही प्रवाहित होती है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल विश्व में प्रसारित धर्म द्रव्य के माध्यम से ही गति करते हैं। इसका प्रसार क्षेत्र लोक तक सीमित है। अलोक में धर्म द्रव्य का अभाव है। इसीलिए उसमें जीव और पुद्गल की गति सम्भव नहीं होती और यही कारण है कि उसे अलोक कहा जाता है। अलोक का तात्पर्य है कि जिसमें जीव और पुद्गल का अभाव हो। धर्म द्रव्य प्रसारित स्वभाव वाला (अस्तिकाय) होकर भी अमूर्त (अरूपी) और अचेतन है। धर्म द्रव्य एक और अखण्ड द्रव्य है। जहाँ जीवात्माएँ अनेक मानी गई हैं, वहीं धर्म द्रव्य एक ही है। लोक तक सीमित होने के कारण इसे अनन्त प्रदेशी न कहकर असंख्य

प्रदेशी कहा गया है। जैन दर्शन के अनुसार लोक चाहे, कितना ही विस्तृत क्यों न हो वह असीम न होकर ससीम है और ससीम लोक में व्याप्त होने के कारण धर्म द्रव्य को भी आकाश के समान अनन्त प्रदेशी न मानकर असंख्य प्रदेशी मानना ही उपयुक्त है।

अधर्म द्रव्य

अधर्म द्रव्य भी अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत आता है। इसका भी विस्तार क्षेत्र या प्रदेश-प्रचयत्व लोकव्यापी है। अलोक में इसका अस्तित्व नहीं है। अधर्म द्रव्य का लक्षण या कार्य जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होना माना गया है। परम्परागत उदाहरण के रूप में यह कहा जाता है कि जिस प्रकार वृक्ष की छाया पथिक के विश्राम में सहायक होती है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की अवस्थिति में सहायक होता है। जहाँ धर्म द्रव्य गति का माध्यम (चालक) है, वहाँ अधर्म द्रव्य गति का कुचालक है अतः उसे स्थिति का माध्यम कहा गया है। यदि अधर्म द्रव्य नहीं होता तो जीव व पुद्गल की गति का नियमन असम्भव हो जाता और वे अनन्त आकाश में बिखर जाते। जिस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से गुरुत्वाकर्षण आकाश में स्थित पुद्गल पिण्डों को नियंत्रित करता है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी जीव व पुद्गल की गति का नियमन कर उसकी गति को विराम देता है। संख्या की दृष्टि से अधर्म द्रव्य को एक और अखण्ड द्रव्य माना गया है। प्रदेश-प्रचयत्व की दृष्टि से इसका विस्तार क्षेत्र लोक तक सीमित होने के कारण इसे भी असंख्य प्रदेशी माना जाता है, फिर भी वह एक अखण्ड द्रव्य है, क्योंकि उसका विखण्डन सम्भव नहीं है। धर्म और अधर्म द्रव्यों में देश-प्रदेश आदि की कल्पना मात्र वैचारिक स्तर पर ही होती है।

आकाश द्रव्य

आकाश द्रव्य भी अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत ही आता है किन्तु जहाँ धर्म और अधर्म द्रव्यों का विस्तार लोकव्यापी है। वहाँ आकाश का विस्तार क्षेत्र लोक और अलोक दोनों में है। आकाश का लक्षण 'अवगाहन' है। वह जीव और अजीव द्रव्यों को स्थान प्रदान करता है। लोक को भी अपने में समाहित करने के कारण आकाश का विस्तार क्षेत्र लोक के बाहर भी मानना आवश्यक है। यही कारण है कि जैन आचार्य आकाश के दो विभाग करते हैं- लोकाकाश और अलोकाकाश। विश्व में जो रिक्त स्थान है, वह लोकाकाश है और इस विश्व से बाहर जो रिक्त स्थान है वह अलोकाकाश है। इस प्रकार जहाँ धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य असंख्य प्रदेशी माने गए हैं, वहाँ आकाश को अनन्त प्रदेशी माना गया है। लोक की कोई सीमा हो सकती

है, किन्तु अलोक की कोई सीमा नहीं है- यह अनन्त है। चूँकि आकाश लोक और अलोक दोनों में है, इसलिए वह अनन्त प्रदेशी है। संख्या की दृष्टि से आकाश को भी एक और अखण्ड द्रव्य माना गया है। उसके देश-प्रदेश आदि की कल्पना भी केवल वैचारिक स्तर तक ही सम्भव है। वस्तुतः आकाश में किसी प्रकार का विभाजन कर पाना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि उसे अखण्ड द्रव्य कहा जाता है। जैन आचार्यों की अवधारणा है कि जिन्हें हम सामान्यतया ठोस पिण्ड समझते हैं उनमें भी आकाश अर्थात् रिक्त स्थान होता है। एक पुद्गल परमाणु में भी दूसरे अनन्त पुद्गल परमाणुओं को अपने में समाविष्ट करने की शक्ति तभी सम्भव हो सकती है जबकि उनमें विपुल मात्रा में रिक्त स्थान या आकाश हो। अतः मूर्त द्रव्यों में भी आकाश तो निहित ही रहता है। लकड़ी में हम जब कील ठोकते हैं तो वह वस्तुतः उसमें निहित रिक्त स्थान में ही समाहित होती है। इसका तात्पर्य यह है कि उसमें भी आकाश है। परम्परागत उदाहरण के रूप में यह कहा जाता है कि दूध या जल के भरे हुए ग्लास में यदि धीरे-धीरे शक्कर या नमक डाला जाये तो वह उसमें समाविष्ट हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि दूध या जल से भरे हुए ग्लास में भी रिक्त स्थान अर्थात् आकाश था। वैज्ञानिकों ने भी यह मान लिया है। कि प्रत्येक परमाणु में पर्याप्त रूप से रिक्त स्थान होता है। अतः आकाश को लोकालोकव्यापी, एक और अखण्ड द्रव्य मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

पुद्गल द्रव्य

पुद्गल को भी अस्तिकाय द्रव्य माना गया है। यह मूर्त और अचेतन द्रव्य है पुद्गल का लक्षण शब्द, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि माना जाता है। जैन आचार्यों ने हल्कापन, भारीपन, प्रकाश, अंधकार, छाया, आतप आदि को भी पुद्गल का लक्षण माना है। जहाँ धर्म, अधर्म और आकाश एक द्रव्य माने गये हैं वहाँ पुद्गल अनेक द्रव्य हैं। जैन आचार्यों ने प्रत्येक परमाणु को एक स्वतन्त्र द्रव्य इकाई माना है। वस्तुतः पुद्गल द्रव्य समस्त दृश्य जगत् का मूलभूत घटक है।

यह दृश्य जगत् पुद्गल द्रव्य के ही विभिन्न संयोगों का विस्तार है। अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर स्कंध की रचना करते हैं और इन स्कंधों से मिलकर दृश्य जगत् की सभी वस्तुएँ निर्मित होती हैं। नवीन स्कंधों के निर्माण और पूर्व निर्मित स्कंधों के संगठन और विघटन की प्रक्रिया के माध्यम से ही दृश्य जगत् में परिवर्तन घटित होते हैं और विभिन्न वस्तुएँ और पदार्थ अस्तित्व में आते हैं।

जैन आचार्यों ने पुद्गल को स्कंध और परमाणु इन दो रूपों में विवेचित किया है। विभिन्न परमाणुओं के संयोग से ही स्कंध बनते हैं। फिर भी इतना स्पष्ट

है कि पुद्गल द्रव्य का अंतिम घटक तो परमाणु ही है। प्रत्येक परमाणु में स्वभाव से एक रस, एक रूप, एक गंध और शीत-उष्ण या स्निग्ध-रूक्ष में से कोई दो स्पर्श पाये जाते हैं।

जैन आगमों में वर्ण पाँच माने गये हैं- लाल, पीला, नीला, सफेद और काला। गंध दो हैं- सुगन्ध और दुर्गन्ध; रस पाँच हैं- रिक्त, कटु, कसैला, खट्टा और मीठा और इसी प्रकार स्पर्श आठ माने गये हैं- शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, मृदु और कर्कश हल्का और भारी। ज्ञातव्य है कि परमाणुओं में मृदु, कर्कश, हल्का और भारी ये चार स्पर्श नहीं होते हैं। ये चार स्पर्श तभी संभव होते हैं जब परमाणुओं से स्कंधों की रचना होती है और तभी उनमें मृदु, कठोर, हल्के और भारी गुण भी प्रकट हो जाते हैं। परमाणु एक प्रदेशी होता है जबकि स्कंध में दो या दो से अधिक असंख्य प्रदेश भी हो सकते हैं। स्कंध, स्कंध-देश, स्कंध-प्रदेश और परमाणु ये चार पुद्गल द्रव्य के विभाग हैं। इनमें परमाणु निरवयव है, आगम में उसे आदि, मध्य और अन्त से रहित बताया गया है। इसके विपरीत आदि और अन्त होते हैं। न केवल भौतिक वस्तुएँ अपितु शरीर, इन्द्रियाँ और मन भी स्कंधों का ही खेल है। परमाणुओं से स्कन्ध कैसे बनते हैं इसकी विस्तृत चर्चा पुद्गल की अवधारणा के अन्तर्गत अलग से की गई है।

काल द्रव्य

काल द्रव्य को अनस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत माना गया है¹ जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं- आगमिक युग तक जैन परम्परा में काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने के सन्दर्भ में पर्याप्त मतभेद था। आवश्यकचूर्णि (भाग-1, पृ. 340-341) में काल के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न तीन मतों का उल्लेख हुआ है- 1. कुछ विचारक काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर पर्याय रूप मानते हैं। 2. कुछ विचारक उसे गुण मानते हैं। 3. कुछ विचारक उसे स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सातवीं शती तक काल के सम्बन्ध में उक्त तीनों विचारधाराएँ प्रचलित रहीं और श्वेताम्बर आचार्य अपनी-अपनी मान्यतानुसार उनमें से किसी एक का पोषण करते रहे, जबकि दिगम्बर आचार्यों ने एक मत से काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना। जो विचारक काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे, उनका तर्क यह था कि यदि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों (विभिन्न) अवस्थाओं में स्वतः ही परिवर्तित होते रहते हैं तो फिर काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने की क्या आवश्यकता है आगम में भी जब भगवान् महावीर से यह पूछा गया कि काल क्या है? तो इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि काल जीव-अजीवमय है अर्थात् जीव और

अजीव की पर्यायें ही काल हैं। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि वर्तना अर्थात् परिणमन या परिवर्तन से भिन्न कोई काल द्रव्य नहीं है। इस प्रकार जीव और अजीव द्रव्य की परिवर्तनशील पर्यायों को ही काल कहा गया है। कहीं-कहीं काल को पर्याय रूप द्रव्य कहा गया है। इन सब विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। चूँकि आगम में जीव-काल और अजीव-काल ऐसे काल के दो वर्गों के उल्लेख मिलते हैं अतः कुछ जैन विचारकों ने यह माना कि जीव और अजीव द्रव्यों की पर्यायों से पृथक् काल द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्राचीन स्तर के आगमों में सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र में काल का स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में उल्लेख पाया जाता है। जैसा कि हम पूर्व में संकेत कर चुके हैं कि न केवल उमास्वामि के युग तक अर्थात् ईसा की तृतीय-चतुर्थ तक अपितु चूर्णिकाल अर्थात् ईसा की सातवीं शती तक काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं- इस प्रश्न पर जैन दार्शनिकों में मतभेद था। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान पाठ में उमास्वामि को यह उल्लेख करना पड़ा। कि कुछ विचारक काल को भी द्रव्य मानते हैं (कालश्चेत्येगे तत्त्वार्थसूत्र 5/38)। इसका फलितार्थ यह भी है कि उस युग में कुछ जैन दार्शनिक काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे। इनके अनुसार सर्व द्रव्यों की जो पर्यायें हैं, वे ही काल हैं। इस मान्यता के विरोध में दूसरे पक्ष के द्वारा यह कहा गया कि अन्य द्रव्यों की पर्यायों से पृथक् काल स्वतन्त्र द्रव्य है क्योंकि किसी भी पदार्थ में बाह्य निमित्त अर्थात् अन्य द्रव्य के उपकार के बिना स्वतः ही परिणमन सम्भव नहीं होता है। जैसे ज्ञान आत्मा का स्वलक्षण है, किन्तु ज्ञानरूप पर्यायें तो अपने ज्ञेय विषय पर ही निर्भर करती हैं। आत्मा को ज्ञान तभी हो सकता है जब ज्ञान के विषय अर्थात् ज्ञेय वस्तु तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता हो। अतः अन्य सभी द्रव्यों के परिणमन के लिए किसी बाह्य निमित्त को मानना आवश्यक है, उसी प्रकार चाहे सभी द्रव्यों में पर्याय परिवर्तन की क्षमता स्वतः हो, किन्तु उनके निमित्त कारण के रूप में काल द्रव्य को स्वतन्त्र द्रव्य मानना आवश्यक है। यदि काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना जायेगा तो पदार्थों के परिणमन (पर्याय परिवर्तन) का कोई निमित्त कारण नहीं होगा। परिणमन के निमित्त कारण के अभाव में पर्यायों का अभाव होगा और पर्यायों के अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा क्योंकि द्रव्य का अस्तित्व भी पर्यायों से पृथक् नहीं है। इस प्रकार सर्वशून्यता का प्रसंग आ जायेगा। अतः पर्याय परिवर्तन (परिणमन) के निमित्त कारण के रूप में काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानना ही होगा। काल को स्वतन्त्र तत्त्व मानने वाले दार्शनिकों के द्वारा इस तर्क के विरोध में यह प्रश्न उठाया गया कि यदि अन्य द्रव्यों के परिणमन (पर्याय परिवर्तन) के हेतु के

रूप में काल नामक स्वतन्त्र द्रव्य का मानना आवश्यक है तो फिर अलोकाकाश में होने वाले पर्याय परिवर्तन का हेतु (निमित्त कारण) क्या है? क्योंकि अलोकाकाश में तो आगम में काल द्रव्य का अभाव माना गया है। यदि उसमें काल द्रव्य के अभाव में पर्याय परिवर्तन सम्भव है, तो फिर लोकाकाश में भी अन्य द्रव्यों के पर्याय परिवर्तन हेतु काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानना आवश्यक नहीं है। पुनः अलोकाकाश में काल के अभाव में यदि पर्याय परिवर्तन नहीं मानोगे तो फिर पर्याय परिवर्तन के अभाव में आकाश द्रव्य में द्रव्य का सामान्य लक्षण 'उत्पाद-व्यय-धौव्य' सिद्ध नहीं हो सकेगा और यदि अलोकाकाश में पर्याय परिवर्तन माना जाता है तो उस पर्याय परिवर्तन का निमित्त काल तो नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ उसका अभाव है। इस तर्क के प्रत्युत्तर में काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाले आचार्यों का प्रत्युत्तर यह है कि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है उसमें अलोकाकाश एवं लोकाकाश ऐसे दो भेद किए जाते हैं वे मात्र औपचारिक हैं। लोकाकाश में काल द्रव्य के निमित्त से होने वाला पर्याय परिवर्तन सम्पूर्ण आकाश द्रव्य का ही पर्याय परिवर्तन है। अलोकाकाश और लोकाकाश दोनों आकाश द्रव्य के ही अंश हैं, वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं। किसी भी द्रव्य के एक अंश में होने वाला परिवर्तन सम्पूर्ण द्रव्य का परिवर्तन माना जाता है, अतः लोकाकाश में जो पर्याय परिवर्तन होता है वह अलोकाकाश पर भी घटित होता है और लोकाकाश में पर्याय परिवर्तन काल द्रव्य के निमित्त से होता है। अतः लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों के पर्याय परिवर्तन का निमित्त काल द्रव्य ही है। ज्ञातव्य है कि लगभग सातवीं शताब्दी से काल का स्वतन्त्र द्रव्य होना सर्वमान्य हो गया।

जैन दार्शनिकों ने काल को अचेतन, अमूर्त (अरूपी) तथा अनस्तिकाय द्रव्य कहा है। इसका कार्य या लक्षण वर्तना माना गया है। विभिन्न द्रव्यों में जो पर्याय परिवर्तन होता है उसका निमित्त कारण काल द्रव्य होता है यद्यपि उस पर्याय परिणमन का उपादान कारण तो स्वयं वह द्रव्य ही होता है, जिस प्रकार धर्म-द्रव्य जीव, पुद्गल आदि की स्वतः प्रसूत गति का निमित्त कारण है या जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था प्राणी की अपनी शारीरिक संरचना के परिणामस्वरूप ही घटित होती है फिर भी उनमें निमित्त कारण के रूप में काल भी अपना कार्य करता है। जैनाचार्यों ने स्वभाव नियति, पुरुषार्थ, काल आदि जिस कारण पंचक की चर्चा की है उनमें काल को भी एक महत्वपूर्ण घटक माना गया है। जैन दार्शनिक साहित्य में काल द्रव्य की चर्चा अनेक प्रकार से की गई है सर्वप्रथम व्यवहारकाल और निश्चयकाल ऐसे काल के दो विभाग किये गये हैं,

निश्चयकाल अन्य द्रव्यों की पर्यायों के परिवर्तन का निमित्त कारण है। दूसरे शब्दों में सभी द्रव्यों की वर्तना या परिणमन की शक्ति ही द्रव्य काल या निश्चयकाल है। व्यवहार काल को समय, आवलिका, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि रूप कहा गया है। संसार में भूत, भविष्य और वर्तमान सम्बन्धी जो काल व्यवहार है वह भी इसी से होता है। जैन परम्परा में व्यवहार, काल का आधार सूर्य या चन्द्र की गति ही मानी गई है, साथ ही यह भी माना गया है कि यह व्यवहार काल मनुष्य क्षेत्र तक ही सीमित है। देवलोक आदि में इसका व्यवहार मनुष्य क्षेत्र की अपेक्षा से ही है। मनुष्य क्षेत्र में ही समय, आवलिका, घटिका, प्रहर, रात-दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी आदि का व्यवहार होता है। व्यक्तियों में बालक, युवा और वृद्ध अथवा नूतन, जीर्ण आदि का जो व्यवहार देखा जाता है वह सब भी काल के ही कारण हैं, वासनाकाल, शिक्षा काल, दीक्षा काल आदि की अपेक्षा से भी काल के अनेक भेद किये जाते हैं, किन्तु विस्तार भय से उन सबकी चर्चा यहाँ करना अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार कर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ में प्रत्येक कर्म प्रकृति के सत्ता काल आदि की भी चर्चा जैनागमों में मिलती है।

संख्या की दृष्टि से अधिकांश जैन आचार्यों ने काल द्रव्य को एक नहीं, अपितु अनेक माना है। उनका कहना है कि धर्म, अधर्म, आकाश की तरह काल एक और अखण्ड द्रव्य नहीं हो सकता। काल द्रव्य अनेक हैं क्योंकि एक ही समय में विभिन्न व्यक्तियों में अथवा द्रव्यों में जो विभिन्न पर्यायों की उत्पत्ति होती है, उन सबकी उत्पत्ति का निमित्त कारण एक ही काल नहीं हो सकता। अतः काल द्रव्य को अनेक या असंख्यात प्रदेशी द्रव्य मानना होगा। पुनः प्रत्येक पदार्थ की भूत, भविष्य की अपेक्षा से अनन्त पर्यायें होती हैं, और उन अनन्त पर्यायों के निमित्त अनन्त कालाणु होंगे, अतः कालाणु अनन्त माने गये हैं। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि काल द्रव्य को असंख्य कहा गया किन्तु कालाणु अनन्त माने गये ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि काल द्रव्य लोकाकाश तक सीमित है और उसकी इस सीमितता की अपेक्षा से उसे अनन्त द्रव्य न कहकर असंख्यात(ससीम) द्रव्य कहा गया। किन्तु जीव अनन्त है और उन अनन्त जीवों की भूत एवं भविष्य की अनन्त पर्यायें होती हैं, उन अनन्त पर्यायों में प्रत्येक का निमित्त एक कालाणु होता है अतः कालाणु अनन्त माने गये। सामान्य अवधारणा यह है कि प्रत्येक आत्मप्रदेशों पुद्गल परमाणु और आकाश प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान कालाणु स्थित रहते हैं- अतः कालाणु अनन्त हैं। राजवार्तिक आदि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कालाणुओं को अन्योन्य प्रवेश से रहित पृथक्-पृथक् असांचित दशा में लोकाकाश में स्थित माना गया है।

किन्तु कुछ श्वेताम्बर आचार्यों ने इस मत का विरोध करते हुए यह भी माना है कि काल द्रव्य एक एवं लोकव्यापी है। वह अणुरूप नहीं है। किन्तु ऐसी स्थिति में काल में भी प्रदेश-प्रचयत्व मानना होगा और प्रदेश-प्रचयत्व मानने पर वह भी अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत आ जायेगा। इसके उत्तर में यह कहा गया कि तिर्यक्-प्रचयत्व का अभाव होने से काल अनस्तिकाय है। ऊर्ध्व-प्रचयत्व एवं तिर्यक्-प्रचयत्व की चर्चा हम पूर्व में अस्तिकाय की चर्चा के अन्तर्गत कर चुके हैं। सूक्ष्मता की अपेक्षा से कालाणुओं की अपेक्षा आकाश प्रदेश और आकाश प्रदेश की अपेक्षा पुद्गल परमाणु अधिक सूक्ष्म माने गये हैं। क्योंकि एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त पुद्गल परमाणु समाहित हो सकते हैं। अतः वे सबसे सूक्ष्म हैं। इस प्रकार परमाणु की अपेक्षा आकाश प्रदेश और आकाश प्रदेश की अपेक्षा कालाणु स्थूल हैं।

संक्षेप में काल द्रव्य में वर्तना हेतुत्व के साथ-साथ अचेतनत्व; अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व आदि सामान्य गुण भी माने गये हैं। इसी प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण जो अन्य द्रव्य में हैं, वे भी काल द्रव्य में पाये जाते हैं। काल द्रव्य में यदि उत्पाद, व्यय लक्षण नहीं रहे तो वह अपरिवर्तनशील द्रव्य होगा और जो स्वतः अपरिवर्तनशील हो वह दूसरों के परिवर्तन में निमित्त नहीं हो सकेगा। किन्तु काल द्रव्य का विशिष्ट लक्षण तो उसका वर्तना नामक गुण ही है, जिसके माध्यम से वह अन्य सभी द्रव्यों के पर्याय परिवर्तन में निमित्त का कारण बनकर कार्य करता है। पुनः यदि काल द्रव्य में ध्रौव्यत्व का अभाव मानेंगे तो उसका द्रव्यत्व समाप्त हो जायेगा। अतः उसे स्वतन्त्र द्रव्य मानने पर उसमें उत्पाद, व्यय के साथ-साथ ध्रौव्यत्व भी मानना होगा।

कालचक्र

अर्धमागधी आगम साहित्य में काल की चर्चा उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल के रूप में भी उपलब्ध होती है। इनमें प्रत्येक के छह-छह विभाग किये जाते हैं, जिन्हें आरे कहा जाता है। यह छह आरे निम्न हैं - 1. सुषमा-सुषमा, 2. सुषमा, 3. सुषमा-दुषमा, 4. दुषमा-सुषमा, 5. दुषमा और 6. दुषमा-दुषमा। उत्सर्पिणी काल में इनका क्रम विपरीत होता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मिलकर एक कालचक्र पूरा होता है। जैनों की कालचक्र की यह कल्पना बौद्ध और हिन्दू कालचक्र की कल्पना से भिन्न है। किन्तु इन सभी में इस बात को लेकर समानता है कि इन सभी कालचक्र के विभाजन का आधार सुख-दुःख एवं मनुष्य के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की क्षमता को बनाया है।

जैनों के अनुसार उत्सर्पिणी काल में क्रमशः विकास और अवसर्पिणी काल में क्रमशः पतन होता है। ज्ञातव्य है कि कालचक्र का प्रवर्तन जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र आदि कुछ विभागों में ही होता है।

यद्यपि नव-तत्त्वों की इस अवधारणा में जीव(आत्मा) और पुद्गल महत्त्वपूर्ण हैं। अतः सर्वप्रथम इन दोनों पर थोड़े विस्तार से चर्चा करेंगे।

इन नवतत्त्वों में जीव और अजीव के अतिरिक्त जीव और अजीव (पुद्गल) के अथवा आत्मा और कर्म के सम्बन्ध के सूचक हैं। कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा की ओर आना आस्रव है। उन दोनों का सम्बन्ध बन जाना ही बन्ध है। अशुभ कर्मों का आस्रव एवं बन्ध पाप है और शुभ कर्मों का आस्रव और बन्ध पुण्य रूप है। आत्मा की ओर कर्मपुद्गलों का आगमन रुक जाना संवर है और आत्मा और कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध-विच्छेद होना निर्जरा है और आत्मा का कर्मपुद्गलों से पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना मोक्ष है। आगे हम इन्हीं नवतत्त्वों की चर्चा करेंगे।



जैन दर्शन में आत्मा या जीवतत्त्व

आत्मा या जीव तत्त्व को पंच अस्तिकाय षट्द्रव्य और नवतत्त्व-इन तीनों का लक्षण उपयोग या चेतना माना गया है, इसीलिए इसे चेतन द्रव्य भी कहा जाता है। उपयोग या चेतना के इन दो प्रकारों की चर्चा आगमों में भी मिलती है- निराकार उपयोग और साकार उपयोग। इन दोनों को क्रमशः दर्शन और ज्ञान भी कहा जाता है। निराकार उपयोग, वस्तु के सामान्य स्वरूप का ग्रहण करने के कारण, दर्शन कहा जाता है और साकार उपयोग वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का ग्रहण करने के कारण ज्ञान कहा जाता है।

जीव द्रव्य के सन्दर्भ में जैन-दर्शन की विशेषता यह है कि वह जीव द्रव्य को एक अखण्ड द्रव्य न मानकर अनेक द्रव्य मानता है। उसके अनुसार, प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता है और विश्व में जीवों की संख्या अनन्त है। इस प्रकार, संक्षेप में जीव अस्तिकाय, चेतन, अरूपी और अनेक द्रव्य रूप है और इसका लक्षण उपयोग या चेतना है।

जीव को जैन-दर्शन में आत्मा भी कहा गया है, अतः यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में कुछ मौलिक प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है -

आत्मा का अस्तित्व

जैन-दर्शन में जीव या आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य माना गया है। जहाँ तक हमारे आध्यात्मिक जीवन का प्रश्न है, आत्मा के अस्तित्व पर शंका करके आगे बढ़ना असम्भव है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास की पहली शर्त आत्म-विश्वास है। विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये हैं -

(1) जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है, क्योंकि असद् वस्तु की कोई सार्थक संज्ञा ही नहीं बनती है। (1575)

(2) जीव है या नहीं, यह सोचना मात्र ही किसी विचारशील सत्ता अर्थात् जीव की सत्ता को सिद्ध कर देता है। देवदत्त जैसा सचेतन प्राणी ही यह सोच संकता है कि वह स्तम्भ है या पुरुष है। (1571)

(3) शरीर में स्थित जो यह सोचता है कि 'मैं नहीं हूँ', वह तो जीव है। जीव के अतिरिक्त संशयकर्ता अन्य कोई नहीं है। यदि आत्मा ही न हो, तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव ही कैसे हो कि मैं हूँ या नहीं? जो निषेध कर रहा है, वह स्वयं ही आत्मा है। संशय के लिए किसी ऐसे तत्त्व के अस्तित्व की अनिवार्यता है, जो उस विचार का आधार हो। बिना अधिष्ठान के कोई विचार या चिन्तन सम्भव नहीं हो सकता। संशय का अधिष्ठान कोई-न-कोई अवश्य होना चाहिए। महावीर गौतम से कहते हैं- हे गौतम! यदि कोई संशयकर्ता ही नहीं है, तो 'मैं हूँ'- या 'नहीं हूँ' यह संशय कहाँ से उत्पन्न होता है? तुम स्वयं अपने ही विषय में सन्देह कैसे कर सकते हो? फिर किस में संशय न होगा? क्योंकि संशय आदि जितनी भी मानसिक और बौद्धिक क्रियाएँ हैं, वे सब आत्मा के कारण ही हैं। जहाँ संशय होता है, वहाँ आत्मा का अस्तित्व अवश्य स्वीकारना पड़ता है। वस्तुतः जो प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। आत्मा स्वयंसिद्ध है, क्योंकि उसी के आधार पर संशयादि उत्पन्न होते हैं, सुख-दुःखादि को सिद्ध करने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं जैनदर्शन-महेन्द्रकुमार जैन पृ. 54। ये संशय, विचार आदि सब आत्मपूर्वक ही हो सकते हैं। आचार्यसूत्र (1/5/5/166) में कहा गया है कि जिसके द्वारा जाना जाता है वही आत्मा है।

आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य (3/1/7) में ऐसे ही तर्क देते हुए कहते हैं कि जो निरसन कर रहा है, वही तो उसका स्वरूप है। आत्मा के अस्तित्व के लिए स्वतः बोध को आचार्य शंकर भी एक प्रबल तर्क के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि सभी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, कोई भी ऐसा नहीं है, जो यह सोचता हो कि 'मैं नहीं हूँ' (ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य 1/1/2)। अन्यत्र, शंकर स्पष्ट रूप से यह भी कहते हैं कि बोध से सत्ता को और सत्ता से बोध को पृथक् नहीं किया जा सकता (वहीं 3/2/21) यदि हमें आत्मा का स्वतः बोध होता है, तो उसकी सत्ता निर्विवाद है।

पाश्चात्य विचारक देकार्त ने भी इसी तर्क के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। वह कहता है कि सभी के अस्तित्व में सन्देह किया जा सकता है, परन्तु सन्देहकर्ता में सन्देह करना तो सम्भव नहीं है, सन्देहकर्ता का अस्तित्व सन्देह से परे है। सन्देह करना विचार करना है और विचारक के अभाव में विचार नहीं हो सकता। मैं विचार करता हूँ, अतः 'मैं हूँ' - इस प्रकार देकार्त के अनुसार भी आत्मा का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है (पश्चिमीदर्शन-दीवानचंद्र पृ.106)

(4) आत्मा अमूर्त है, अतः उसको उस रूप में तो नहीं जान सकते, जैसे घट, पट आदि वस्तुओं का इन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में ज्ञान होता है, लेकिन इतने मात्र से उनका निषेध नहीं किया सकता। जैन आचार्यों ने इसके लिए गुण और गुणी का तर्क दिया है। घट आदि जिन वस्तुओं को हम जानते हैं, उनका भी यथार्थ बोध-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि हमें जिनका बोध या प्रत्यक्ष होता है, वह घट के रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष है, लेकिन घट मात्र रूप नहीं है, वह तो अनेक गुणों का समूह है, जिन्हें हम पूर्णतः जानते, रूप (आकार) तो उनमें से एक गुण है। जब रूपगुण के प्रत्यक्षीकरण को घट का प्रत्यक्षीकरण मान लेते हैं और हमें कोई संशय नहीं होता, तो फिर ज्ञानगुण से आत्मा का प्रत्यक्ष क्यों नहीं मान लेते (विशेषावश्यक भाष्य 155.8)।

आधुनिक वैज्ञानिक भी अनेक तत्त्वों का वास्तविक बोध प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं, जैसे ईथर; फिर भी कार्यों के आधार पर उनका अस्तित्व मानते हैं एवं स्वरूप-विवेचन भी करते हैं फिर आत्मा के कार्यों के आधार पर उसके अस्तित्व को क्यों न स्वीकार किया जाए? वस्तुतः आत्मा या चेतना के अस्तित्व का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विवाद का विषय नहीं है। भारतीय चिन्तकों में चार्वाक तथा पाश्चात्य चिन्तकों में ह्यूम, आदि जो विचारक आत्मा का निषेध करते हैं, वस्तुतः उनका निषेध आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं, वरन् उसकी नित्यता का निषेध है। वे आत्मा को एक स्वतंत्र या नित्य द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन चेतन अवस्था या चेतना-प्रवाह के रूप में आत्मा का अस्तित्व तो उन्हें भी स्वीकार है। चार्वाक दर्शन भी यह नहीं कहता कि आत्मा का सर्वथा अभाव है, उसका निषेध मात्र आत्मा को स्वतन्त्र या मौलिक तत्त्व मानने से है। बुद्ध अनात्मवाद की प्रतिस्थापना में आत्मा (चेतना) का निषेध नहीं करते हैं वरन् उसकी नित्यता का निषेध करते हैं। ह्यूम भी अनुभूति से भिन्न किसी स्वतंत्र आत्मतत्त्व का ही निषेध करते हैं। 'न्यायवार्तिककार' का यह कहना समुचित जान पड़ता है कि आत्मा के अस्तित्व के विषय में दार्शनिकों में सामान्यतः कोई विवाद ही नहीं है, यदि विवाद है, तो उसका सम्बन्ध आत्मा के विशेष स्वरूप से है न कि उसके अस्तित्व से। स्वरूप की दृष्टि से कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को, और कोई विज्ञान-संघात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र आत्म-तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं न्यायवार्तिक पृ. 366 जैन दर्शन आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है।

आत्मा एक मौलिक तत्त्व है अथवा अन्य किसी तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। सभी दर्शन यह मानते हैं कि संसार आत्म और अनात्म का संयोग है, लेकिन इनमें मूल तत्त्व क्या हैं? यह विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध में चार प्रमुख धारणाएँ हैं- (1) मूल तत्त्व जड़ (अचेतन) है और उसी से चेतन की उत्पत्ति होती है। अजितकेशकम्बलिन, चार्वाक आदि दार्शनिक एवं भौतिकवादी वैज्ञानिक इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (2) मूल तत्त्व चेतन या बोध है और उसी की अपेक्षा से जड़ की सत्ता मानी जा सकती है। बौद्ध विज्ञानवाद, शांकर वेदान्त तथा बर्कले इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (3) कुछ विचारक ऐसे भी हैं जिन्होंने परम तत्त्व को एक मानते हुए भी उसे जड़-चेतन उभयरूप स्वीकार किया और दोनों को ही उसका पर्याय माना। गीता, रामानुज और स्पिनोजा इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (4) कुछ विचारक जड़ और चेतन-दोनों को ही परम तत्त्व मानते हैं और उनके स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। सांख्य, जैन और देकार्त इस धारणा में विश्वास करते हैं।

जैन विचारक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कभी भी जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती। सूत्रकृतांग की टीका में इस मान्यता का निराकरण किया गया है। शीलाकाचार्य लिखते हैं कि “भूत समुदाय स्वतन्त्रधर्मी है, उसका गुण चैतन्य नहीं है, क्योंकि पृथ्वी आदि भूतों के अन्य पृथक्-पृथक् गुण हैं, अन्य गुणों वाले पदार्थों से या उनके समूह से भी किसी अपूर्व (नवीन) गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे रुक्ष बालु कणों के समुदाय से स्निग्ध तेल की उत्पत्ति नहीं होती। अतः, चैतन्य आत्मा का ही गुण हो सकता है, भूतों का नहीं, जड़ भूतों से चेतन आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती (सूत्रकृतांग टीका 1/1/8)। शरीर भी ज्ञानादि चैतन्य गुणों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर भौतिक तत्त्वों का कार्य है और भौतिक तत्त्व चेतनाशून्य हैं। जब भूतों में ही चैतन्य नहीं है, तो उनके कार्य में चैतन्य कहाँ से आ जायेगा? प्रत्येक कार्य कारण में अव्यक्त रूप से रहा है। जब वह कारण कार्यरूप में परिणत होता है, तब वह शक्तिरूप से रहा हुआ कार्य व्यक्त रूप में सामने आ जाता है। जब भौतिक तत्त्वों में चेतना नहीं है, तब यह कैसे सम्भव है कि शरीर चैतन्य गुण वाला हो जाय? यदि चेतना प्रत्येक भौतिक तत्त्व में नहीं है, तो उन तत्त्वों के संयोग से भी वह उत्पन्न नहीं हो सकती। रेणु के प्रत्येक कण में न रहने वाला तेल रेणु-कणों के संयोग से उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः यह कहना युक्ति-संगत नहीं है कि चैतन्य महाभूतों के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है (जैनदर्शन-महेन्द्रकुमार पृ. 157) गीता भी कहती है कि असत् का प्रादुर्भाव नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता है (2/16)। यदि चैतन्य भूतों में नहीं है, तो वह उनके संयोग से निर्मित शरीर में भी नहीं हो सकता। शरीर में चैतन्य की उपलब्धि होती है; अतः उसका

आधार शरीर नहीं, आत्मा है। आत्मा की जड़ से भिन्नता सिद्ध करने के लिए शीलांकाचार्य एक दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि “पाँचों इन्द्रियों के विषय अलग-अलग हैं, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ही ज्ञान करती है, जबकि पाँचों इन्द्रियों के विषयों का एकत्रीभूत रूप में ज्ञान करने वाला अन्य कोई अवश्य है और वह आत्मा है (सूत्रकृतांग टीका 1/1/8)।

इसी सम्बन्ध में आचार्य शंकर की भी एक युक्ति है, जिसके सम्बन्ध में प्रो. ए.सी. मुखर्जी ने अपनी पुस्तक ‘नेचर ऑफ सेल्फ’ में काफी प्रकाश डाला है। शंकर पूछते हैं कि भौतिकवादियों के अनुसार भूतों से उत्पन्न होने वाली उस चेतना का स्वरूप क्या है? उनके अनुसार, या तो चेतना उन तत्त्वों की प्रत्यक्षकर्ता होगी या उनका ही एक गुण होगी। प्रथम स्थिति में यदि वह चेतना उन गुणों की प्रत्यक्षकर्ता होगी, तो वह उनसे प्रत्युत्पन्न नहीं होगी। दूसरे, यह कहना भी हास्यास्पद होगा कि भौतिक गुण अपने ही को ज्ञान की विषय-वस्तु बनाते हैं। यह मानना कि चेतना, जो भौतिक पदार्थों को ही अपने ज्ञान का विषय बनाती है, उतना ही हास्यास्पद है, जितना यह मानना कि आग अपने को ही जलाती है अथवा नट अपने ही कंधों पर चढ़ सकता है। इस प्रकार, शंकर का भी निष्कर्ष यही है कि चेतन (आत्मा) भौतिक तत्त्वों से व्यतिरिक्त और ज्ञानस्वरूप है।

आक्षेप एवं निराकरण

सामान्य रूप से जैन विचारणा में आत्मा या जीव को अपौद्गलिक, विशुद्ध चैतन्य एवं जड़ से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य माना जाता है, लेकिन-अन्य दार्शनिकों का आक्षेप है कि जैन-दर्शन के विचार में जीव का स्वरूप बहुत कुछ पौद्गलिक बन गया है। यह आक्षेप अजैन दार्शनिकों का ही नहीं, अनेक जैन चिन्तकों का भी है और उनके लिए आगमिक आधारों पर कुछ तर्क भी प्रस्तुत किये गये हैं। पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने इस विषय में एक प्रश्नावली भी प्रस्तुत की थी (अनेकांत जून 1942) यहाँ उस प्रश्नावली के कुछ प्रमुख मुद्दों पर ही चर्चा करना अपेक्षित है, जो जीव सम्बन्धी जैन दार्शनिक-मान्यताओं में ही पारस्परिक अन्तर्विरोध प्रकट करते हैं -

(1) जीव यदि पौद्गलिक नहीं है, तो उसमें सौक्ष्म्य-स्थौल्य अथवा संकोच-विस्तार की क्रिया और प्रदेश परिस्पन्दन कैसे बन सकता है? जैन विचारणा के अनुसार तो सौक्ष्म्य-स्थौल्य को पुद्गल की पर्याय माना गया है।

(2) जीव के अपौद्गलिक होने पर, आत्मा में पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना भी कैसे बन सकता है? क्योंकि प्रतिबिम्ब का ग्राहक पुद्गल ही होता है। जैन विचारणा में ज्ञान की उत्पत्ति पदार्थों के आत्मा में प्रतिबिम्बित होने से ही मानी गयी है।

(3) अपौद्गलिक और अमूर्तिक आत्मा पौद्गलिक एवं मूर्तिक कर्मों के साथ बद्ध होकर विकारी होना कैसे सम्भव हो सकता है? (इस प्रकार के बन्ध) का कोई दृष्टान्त भी उपलब्ध नहीं है) स्वर्ण और पाषाण के अनादिबन्ध का जो दृष्टान्त भी दिया जाता है, वह विषम दृष्टान्त है और एक प्रकार से तो वह जीव का पौद्गलिक होना ही सूचित करता है।

(4) रागादिक को पौद्गलिक कहा गया है और रागादिक जीव के परिणाम हैं-बिना जीव के उनका अस्तित्व नहीं। (यदि जीव पौद्गलिक नहीं है, तो रागादि भाव पौद्गलिक कैसे सिद्ध हो सकेंगे?) इसके सिवाय पौद्गलिक जीवात्मा में कृष्ण, नीलादि लेश्याएँ कैसे बन सकती हैं?

जैन-दर्शन जड़ और चेतन के द्वैत को और उनकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करता है। वह सभी प्रकार के अद्वैतवाद का विरोध करता है, चाहे वह शंकर का आध्यात्मिक अद्वैतवाद हो, अथवा चार्वाक एवं अन्य वैज्ञानिकों का भौतिकवादी अद्वैतवाद हो, लेकिन इस सैद्धान्तिक मान्यता से उपर्युक्त शंकाओं का समाधान नहीं होता। इसके लिए हमें जीव के स्वरूप को उस सन्दर्भ में देखना होगा, जिसमें उपर्युक्त शंकाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। प्रथमतः, संकोच-विस्तार तथा उसके आधार पर होने वाले सौक्ष्म्य एवं स्थूल्य तथा बन्धन और रागादिभाव का होना सभी बद्ध जीवात्माओं या हमारे वर्तमान सीमित व्यक्तित्व के कारण हैं। जहाँ तक सीमित व्यक्तित्व या बद्ध जीवात्मा का प्रश्न है, वह एकान्त रूप से न तो भौतिक है और न अभौतिक। जैन चिन्तक मुनि नथमलजी (महाप्रज्ञ जी) इन्हीं प्रश्नों का समाधान करते हुए लिखते हैं, कि “मेरी मान्यता यह है कि हमारा वर्तमान व्यक्तित्व न सर्वथा पौद्गलिक है और न सर्वथा अपौद्गलिक। यदि उसे सर्वथा अपौद्गलिक मानें, तो उसमें संकोच-विस्तार, प्रकाशमय, अनुभव, ऊर्ध्वगामीधर्मिता, रागादि नहीं हो सकते। मैं जहाँ तक समझ सकता हूँ, कोई भी शरीरधारी जीव अपौद्गलिक नहीं है। जैन आचार्यों ने उस में संकोच-विस्तार या बन्धन आदि माने हैं, अपौद्गलिकता उसकी अन्तिम परिणति है, जो शरीर-मुक्ति से पहले कभी प्राप्त नहीं होती है (तट दो प्रवाह एक पृ. 54)।” मुनिजी के इस कथन को अधिक स्पष्ट रूप में यों कहा जा सकता है कि जीव के अपौद्गलिक स्वरूप उसकी उपलब्धि नहीं, आदर्श हैं। जैन-दर्शन का लक्ष्य इसी अपौद्गलिक स्वरूप की उपलब्धि है। जीव की अपौद्गलिकता उसका आदर्श है, जागतिक तथ्य नहीं, जबकि ये सभी बातें बद्ध जीवों में ही पायी जाती हैं।

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

महावीर के सम्मुख जब यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि “भगवान! जीव वही है, जो शरीर है, या जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है?” तब महावीर ने उत्तर दिया- “हे गौतम! जीव शरीर भी है और शरीर से भिन्न भी है (भगवतीसूत्र

13/7/495)।” इस प्रकार महावीर ने आत्मा और देह के मध्य भिन्नत्व और एकत्व-दोनों को स्वीकार किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा और शरीर के एकत्व और भिन्नत्व को लेकर यही विचार प्रकट किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि व्यावहारिक-दृष्टि से आत्मा और देह एक ही हैं, लेकिन निश्चय-दृष्टि से आत्मा और देह कदापि एक नहीं हो सकते (समयसार 24)। वस्तुतः, आत्मा और शरीर में एकत्व माने बिना स्तुति, वन्दन, सेवा आदि अनेक नैतिक आचरण की क्रियाएँ सम्भव नहीं हो सकती। दूसरी ओर, आत्मा और देह में भिन्नता माने बिना आसक्तिनाश और भेदविज्ञान की सम्भावना नहीं हो सकती है। नैतिक और धार्मिक-साधना की दृष्टि से आत्मा का शरीर से एकत्व और अनेकत्व दोनों अपेक्षित हैं। यही जैन दर्शन की मान्यता है। महावीर ने एकान्तिक वादों की छोड़कर अनैकान्तिक-दृष्टि को स्वीकार किया था। और दोनों विरोधी वादों में समन्वय किया। उन्होंने कहा कि आत्मा और शरीर कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न हैं।

आत्मा परिणामी है

जैनदर्शन आत्मा को परिणामी नित्य मानता है, जबकि सांख्य एवं शांकर वेदान्त आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानते हैं। बुद्ध के समकालीन विचारक पूर्णकाश्यप भी आत्मा को अपरिणामी मानते थे। आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानने का तात्पर्य यह है कि आत्मा में कोई विकार, परिवर्तन या स्थित्यन्तर नहीं होता।

जैन आचार सम्बन्धी ग्रन्थों में यह वचन बहुतायत से उपलब्ध होते हैं कि आत्मकर्ता है। उत्तराध्ययनसूत्र (20/37) में कहा गया है कि आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्ता और भोक्ता है। यह भी कहा गया है कि सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता जितना दुराचरण में प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है (उत्तरा. 20/48)।

यही नहीं, सूत्रकृतांग (1/1/13-21) में आत्मा को अकर्ता मानने वाले लोगों की आलोचना करते हुए स्पष्ट रूप में कहा गया है- “कुछ दूसरे(लोग) तो धृष्टतापूर्वक कहते हैं कि करना, कराना आदि क्रिया आत्मा नहीं करता, वह तो अकर्ता है। इन वादियों को सत्य ज्ञान का पता नहीं और न उन्हें धर्म का ही भान है। उत्तराध्ययनसूत्र(23/37) में शरीर को नाव और जीव को नाविक कहकर जीव पर नैतिक या अनैतिक कर्मों का उत्तरदायित्व डाला गया है।

आत्माभोक्ता है

यदि आत्मा को कर्ता मानना आवश्यक है, तो उसे भोक्ता भी मानना पड़ेगा क्योंकि जो कर्मों का कर्ता है, उसे ही उनके फलों का भोग भी करना चाहिए। जैसे आत्मा का कर्तृत्व कर्मपुद्गलों के निमित्त से सम्भव है, वैसे ही आत्मा का

भोक्तृत्व भी कर्मपुद्गलों से निर्मित शरीर से ही सम्भव है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व-दोनों ही शरीरयुक्त बद्धात्मा में पाये जाते हैं, मुक्तात्मा या शुद्धात्मा में नहीं। भोक्तृत्व वेदनीय कर्म के कारण ही सम्भव है। जैन-दर्शन आत्मा के भोक्तृत्व को भी सापेक्ष दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा में स्वीकार करता है।

1. व्यावहारिक दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा भोक्ता है।
2. अशुद्धनिश्चयनय या पर्यायदृष्टि से आत्मा अपनी मानसिक अनुभूतियों या मनोभावों का वेदक है।
3. परमार्थ-दृष्टि से आत्मा भोक्ता और वेदक नहीं, मात्र दृष्टा या साक्षीस्वरूप है (समयसार 81-92)।

आत्मा में भोक्तृत्व मानना कर्म और उनके प्रतिफल के संयोग के लिए आवश्यक है। जो कर्ता है, वह अनिवार्य रूप से उनके फलों का भोक्ता भी है, अन्यथा कर्म और उसके फलभोग में अनिवार्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में धर्म एवं नैतिकता का भी कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। अतः यह मानना होगा कि आत्मा भोक्ता है, लेकिन आत्मा का भोक्ता होना बद्धात्मा या शरीर उधारी आत्मा के लिए ही समुचित है। अमुक्तात्मा भोक्ता नहीं है, वह तो मात्र साक्षीस्वरूप या दृष्टा होता है।

आत्मा स्वदेह परिमाण है

यद्यपि जैन विचारणा में आत्मा को रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श आदि से विवर्जित कहा गया है, तथापि आत्मा को शरीराकार स्वीकार किया गया है। आत्मा के आकार के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो दृष्टियाँ हैं- एक के अनुसार आत्मा विभु (सर्वव्यापी) है और दूसरी के अनुसार अणु है। सांख्य, न्याय और अद्वैत वेदान्त आत्मा को विभु मानते हैं और रामानुज अणु मानते हैं। जैन दर्शन इस सम्बन्ध में मध्यस्थ दृष्टि अपनाता है। उसके अनुसार, आत्मा अणु भी है और विभु भी है। वह सूक्ष्म है, तो इतना है कि एक आकाश-प्रदेश के अनन्तवें भाग में समा सकता है और विभु है, तो इतना है कि समग्र लोक को व्याप्त कर सकता है। जैन-दर्शन आत्मा में संकोच विस्तार को स्वीकार करता है और इस आधार पर आत्मा को स्वदेह-परिमाण मानता है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे कमरे में रहने पर छोटे कमरे को और बड़े कमरे में रहने पर बड़े कमरे को प्रकाशित करता है, वैसे ही आत्मा ही जिस देह में रहता है, उसे चैतन्याभिभूत कर देता है, किन्तु यह बात केवल संसारी आत्मा के सम्बन्ध में है। मुक्तात्मा का आकार अपने त्यक्त देह का दो तिहाई होता है (उत्तराध्ययन 36)।

आत्मा के विभुत्व की समीक्षा

1. यदि आत्मा विभु(सर्वव्यापक) है तो वह दूसरे शरीरों में भी होगा, फिर उन शरीरों के कर्मों के लिए उत्तरदायी होगा। यदि यह माना जाये कि आत्मा दूसरे शरीरों में नहीं है, तो फिर वह सर्वव्यापक नहीं होगा।
2. यदि आत्मा विभु है, तो दूसरे शरीरों में होने वाले सुख-दुःख के भोग से कैसे बच सकेगा?
3. विभु आत्मा के सिद्धान्त में कौन आत्मा किस शरीर का नियामक है, यह बताना भी कठिन होगा। वस्तुतः नैतिक और धार्मिक जीवन के लिए प्रत्येक शरीर में एक आत्मा का सिद्धान्त ही संगत हो सकता है, ताकि उस शरीर के कर्मों के आधार पर उसे उत्तरदायी ठहराया जा सके।
4. आत्मा की सर्वव्यापकता का सिद्धान्त अनेकात्मवाद के साथ कथमपि संगत नहीं हो सकता, साथ ही अनेकात्मवाद के अभाव में नैतिक जीवन की सुसंगत व्याख्या भी सम्भव नहीं।

आत्माएँ अनेक हैं

आत्मा एक है या अनेक-यह प्रश्न भी दार्शनिक-दृष्टि से विवाद का विषय रहा है। जैन दर्शन के अनुसार आत्माएँ अनेक हैं और प्रत्येक शरीर की आत्मा भिन्न है। यदि आत्मा को एक माना जाता है, तो नैतिक दृष्टि से निम्न अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं -

एकात्मवाद की समीक्षा

1. आत्मा को एक मानने पर सभी जीवों की मुक्ति और बन्धन एक साथ होंगे। इतना ही नहीं, सभी शरीरधारियों के नैतिक विकास एवं पतन की विभिन्न अवस्थाएँ भी युगपद् होंगी लेकिन ऐसा तो दिखता नहीं। सब प्राणियों का आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन का स्तर अलग-अलग है। यह भी माना जाता है कि अनेक व्यक्ति मुक्त हो चुके हैं और अनेक अभी बंधन में हैं, अतः आत्माएँ एक नहीं, अनेक हैं।
2. आत्मा को एक मानने पर वैयक्तिक नैतिक प्रयासों का मूल्य समाप्त हो जायेगा। यदि आत्मा एक ही है, तो व्यक्तिगत प्रयासों एवं क्रियाओं से न तो उसकी मुक्ति सम्भव होगी और न वह बन्धन में ही आयेगा।
3. आत्मा के एक मानने पर नैतिक उत्तरदायित्व तथा तज्जनित पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था का भी कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। सारांश में, आत्मा को एक मानने पर वैयक्तिकता के अभाव में नैतिक विकास, नैतिक उत्तरदायित्व और पुरुषार्थ आदि नैतिक प्रयत्नों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। मरण, बंधन

मुक्ति आदि के संतोषप्रद समाधान के लिए अनेक आत्माओं की स्वतंत्र सत्ता मानना आवश्यक है (विशेषावश्यक भाष्य 1582)। सांख्यकारिका (18) में भी जन्म-मरण इन्द्रियों की विभिन्नता, प्रत्येक की अलग-अलग प्रवृत्ति और स्वभाव तथा नैतिक विकास की विभिन्नता के आधार पर आत्मा की अनेकता सिद्ध की गयी है।

अनेकात्मवाद की नैतिक कठिनाई

अनेकात्मवाद नैतिक जीवन के लिए वैयक्तिकता का प्रत्यय तो प्रस्तुत कर देता है, तथापि अनेक आत्माएँ मानने पर भी कुछ नैतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन नैतिक कठिनाइयों में प्रमुखतम यह है कि नैतिकता का समग्र प्रयास जिस अहं के विसर्जन के लिए है, उसी अहं(वैयक्तिकता) को ही यह आधारभूत बना देता है। अनेकात्मवाद में वैयक्तिकता कभी भी पूर्णतया विसर्जित नहीं हो सकती। इसी वैयक्तिकता से राग और आसक्ति का जन्म होता है, जो तृष्णा का ही एक रूप है और यह तृष्णा ही बन्धन का मूल कारण है दूसरे में या अहंकार भी बंधन ही है।

जैन-दर्शन का निष्कर्ष

जैन दर्शन ने इस समस्या का भी अनेकान्तदृष्टि से सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार, आत्मा एक भी है और अनेक भी। समवायांग और स्थानांगसूत्र(1/1) में कहा गया है कि आत्मा एक है। अन्यत्र उसे अनेक भी कहा गया है। टीकाकारों ने इसका समाधान इस प्रकार किया कि आत्मा द्रव्यापेक्षा से एक है और पर्यायापेक्षा से अनेक, जैसे सिन्धु का जल न एक है, और न अनेक। वह जल राशि की दृष्टि से एक है और जल-बिन्दुओं की दृष्टि से अनेक भी। समस्त जल-बिन्दु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए उस जल-राशि से अभिन्न ही हैं।

उसी प्रकार, अनन्त चेतन आत्माएँ अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी अपने चेतना-स्वभाव के कारण एक चेतन आत्मद्रव्य ही हैं(समवायांग टीका 1/1/) इस प्रश्न का समाधान बड़े सुन्दर ढंग से आगमों के टीकाकारों के पहले ही कर दिया था। वे सोमिल नामक ब्राह्मण को अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहते हैं- 'हे सोमिल ! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ, ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायों की प्रधानता से मैं दो हूँ। कभी न्यूनाधिक नहीं होने वाले आत्म-प्रदेशों की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। किन्तु तीनों कालों में बदलते रहने वाले उपयोग-स्वभाव की दृष्टि से मैं अनेक हूँ (भगवतीसूत्र 1/8/10)।

इस प्रकार, भगवान् महावीर जहाँ एक ओर द्रव्यदृष्टि (Substantial View) से आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं, वहीं दूसरी ओर पर्यायार्थिक दृष्टि से

एक ही जीवात्मा में चेतन पर्यायों के प्रवाह के रूप से अनेक व्यक्तित्वों की संकल्पना को भी स्वीकार कर शंकर के अद्वैतवाद और बौद्धों के क्षणिक आत्मवाद की खाई को पाटने की कोशिश करते हैं।

जैन विचारक आत्माओं में गुणात्मक अन्तर नहीं मानते हैं, लेकिन विचार की दिशा में केवल सामान्य दृष्टि से काम नहीं चलता, विशेष दृष्टि का भी अपना स्थान है। सामान्य और विशेष के रूप में विचार की दो दृष्टियाँ हैं और दोनों का अपना महत्व है। महासागर की जल-राशि सामान्य दृष्टि से एक हैं, लेकिन विशेष दृष्टि से नहीं, जल-राशि अनेक जल-बिन्दुओं का समूह प्रतीत होती है। यही बात आत्मा के विषय में है। चेतना की पर्यायों की विशेष दृष्टि से आत्माएँ अनेक हैं और चेतना द्रव्य की दृष्टि से आत्मा एक है। जैन दर्शन के अनुसार आत्म-द्रव्य एक है, लेकिन उसमें अनन्त वैयक्तिक आत्माओं की सत्ता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक वैयक्तिक आत्मा भी अपनी परिवर्तनशील चैतन्य अवस्थाओं के आधार पर स्वयं भी एक स्थिर इकाई न होकर प्रवाहशील इकाई है। जैन दर्शन यह मानता है कि आत्मा का चरित्र या व्यक्तित्व परिवर्तनशील है, वह देशकालगत परिस्थितियों में बदलता रहा है, फिर भी वही रहता है। हमारे में भी अनेक व्यक्तित्व बनते और बिगड़ते रहते हैं, फिर भी वे हमारे ही अंग हैं। इस आधार पर हम उनके लिए उत्तरदायी रहते हैं। इस प्रकार, जैन दर्शन अभेद में भेद, एकत्व में अनेकत्व की धारणा को स्थान देकर धर्म और नैतिकता के लिए एक ठोस आधार प्रस्तुत करता है।

जैन-दर्शन जिन जीव की पर्याय अवस्थाओं की धारा कहता है, बौद्ध दर्शन उसे चित्त-प्रवाह कहता है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में प्रत्येक जीव अलग है, उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में प्रत्येक चित्त-प्रवाह अलग है। जैसे बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद में आलयविज्ञान है, वैसे जैन-दर्शन में आत्मद्रव्य है, यद्यपि हमें इन सबमें रहे हुए तात्त्विक अन्तर को विस्मृत नहीं करना चाहिए।

आत्मा के भेद

जैन-दर्शन अनेक आत्माओं की सत्ता को स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्येक आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर उसके भेद करता है। जैन आगमों में आत्मा के विभिन्न पक्षों की अपेक्षा से आत्मा के आठ भेद किये गये हैं (भगवतीसूत्र 12/10/467)

1. **द्रव्यात्मा-** आत्मा का तात्त्विक स्वरूप।
2. **कषायात्मा-** क्रोध, मान, माया आदि कषायों या मनोवेगों से युक्त चेतना की अवस्था।

3. **योगात्मा**- शरीर से युक्त होने पर चेतना की कायिक, वाचिक और मानसिक-क्रिया की अवस्था ।
4. **उपयोगात्मा**-आत्मा की ज्ञानात्मक और अनुभूत्यात्मक शक्तियाँ ।
यह आत्मा का चेतनात्मक व्यापार है ।
5. **ज्ञानात्मा**- चेतना की चिन्तन की शक्ति ।
6. **दर्शनात्मा**- चेतना की अनुभूत्यात्मक-शक्ति ।
7. **चरित्रात्मा**- चेतना की संकल्पात्मक शक्ति ।
8. **वीर्यात्मा**- चेतना की क्रियात्मक शक्ति ।

उपर्युक्त आठ प्रकारों में द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा और दर्शनात्मा-ये चार तात्त्विक आत्मा के स्वरूप के ही द्योतक हैं, शेष चार कषायात्मा, योगात्मा, चरित्रात्मा और वीर्यात्मा ये चारों आत्मा के अनुभवाधारित स्वरूप के निर्देशक हैं । तात्त्विक आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य होती है, यद्यपि उसमें ज्ञानादि की पर्यायें होती रहती हैं । अनुभवाधारित आत्मा-आत्मा की शरीर से युक्त अवस्था है । यह परिवर्तनशील एवं विकारयुक्त होती है । आत्मा के बंधन का प्रश्न भी इसी अनुभवाधारित आत्मा से संबंधित है । विभिन्न दर्शनों में आत्मा-सिद्धांत के संदर्भ में जो पारस्परिक विरोध दिखाई देता है, वह आत्मा के इन दो पक्षों में किसी पक्ष-विशेष पर बल देने के कारण होता है, भारतीय परम्परा में बौद्ध दर्शन ने आत्मा के अनुभवाधारित परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल दिया, जबकि सांख्य और शांकर वेदान्त ने आत्मा के तात्त्विक स्वरूप पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की । जैन-दर्शन दोनों ही पक्षों को स्वीकार कर उनके बीच समन्वय का कार्य करता है ।

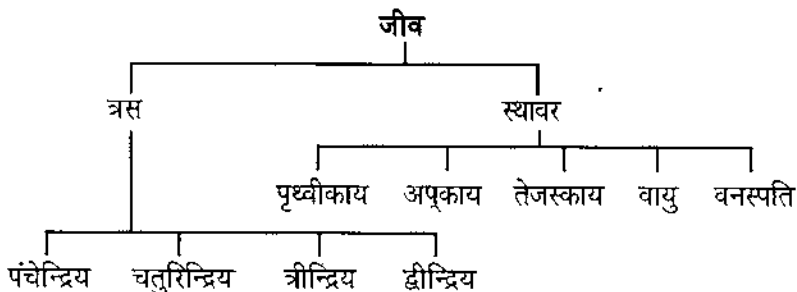
विवेक-क्षमता के आधार पर आत्मा के भेद

विवेक-क्षमता की दृष्टि से आत्माएँ दो प्रकार की मानी गई हैं- 1. समनस्क, 2. अमनस्क । समनस्क आत्माएँ वे हैं, जिन्हें विवेक-क्षमता से युक्त मन उपलब्ध हैं, और अमनस्क आत्माएँ वे हैं, जिन्हें ऐसी विवेक-क्षमता से युक्त मन उपलब्ध नहीं है । जहाँ तक धार्मिक जीवन के क्षेत्र का प्रश्न है, समनस्क आत्माएँ ही नैतिक आचरण कर सकती हैं और वे ही धार्मिक साध्य (मुक्ति) की उपलब्धि कर सकती हैं, क्योंकि विवेक-क्षमता से युक्त मन की उपलब्धि होने पर भी आत्मा में शुभाशुभ का विवेक करने की क्षमता होती है, साथ ही इसी विवेक-बुद्धि के आधार पर वे वासनाओं का संयमन भी कर सकती हैं । जिन आत्माओं में ऐसी विवेक-क्षमता का अभाव है, उनमें संयम की क्षमता का भी अभाव होता है, इसलिए वे आध्यत्मिक प्रगति भी नहीं कर सकती । नैतिक जीवन के लिए आत्मा में विवेक

और संयम-दोनों का होना आवश्यक है और वह केवल उन्हीं में संभव है, जो समनस्क हैं। यहाँ जैविक आधार पर भी आत्मा के वर्गीकरण पर विचार अपेक्षित है, क्योंकि जैन-धर्म का अहिंसा-सिद्धांत बहुत कुछ इसी पर निर्भर है।

जैविक आधार पर जीवों (प्राणियों) का वर्गीकरण

जैन-दर्शन के अनुसार जैविक आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण निम्न तालिका से स्पष्ट हो सकता है -



जैविक दृष्टि से जैन-परम्परा में दस प्राण-शक्तियाँ मानी गयी हैं। स्थावर एकेन्द्रिय जीवों में चार शक्तियाँ होती हैं- 1. स्पर्शअनुभव शक्ति, 2. शारीरिक शक्ति, 3. जीवन(आयु) शक्ति और 4. श्वसन-शक्ति। द्वीन्द्रिय जीवों में इन चार शक्तियों के अतिरिक्त स्वाद और वाणी की शक्ति भी होती है। त्रीन्द्रिय जीवों में सूँघने की शक्ति भी होती है। चतुरिन्द्रिय जीवों में इन छह शक्तियों के अतिरिक्त देखने की सामर्थ्य भी होती है। पंचेन्द्रिय अमनस्क जीवों में इन आठ शक्तियों के साथ-साथ श्रवण शक्ति भी होती है और समनस्क पंचेन्द्रिय जीवों में इनके अतिरिक्त मनःशक्ति भी होती है। इस प्रकार, जैन-दर्शन में कुल दस जैविक शक्तियाँ या प्राण-शक्तियाँ मानी गयी हैं। हिंसा-अहिंसा के अल्पत्व और बहुत्व आदि का विचार इन्हीं जैविक शक्तियों की दृष्टि से किया जाता है। जितनी अधिक प्राणशक्तियों से युक्त प्राणी की हिंसा की जाती है, वह उतनी ही भयंकर समझी जाती है।

गतियों के आधार पर जीवों का वर्गीकरण

जैन-परम्परा में गतियों के आधार पर जीव चार प्रकार के माने गए हैं- 1. देव, 2. मनुष्य, पशु (तिर्यक) और 4. नारक। जहाँ तक शक्ति और क्षमता का प्रश्न है, देव का स्थान मनुष्य से ऊँचा माना गया है, लेकिन जहाँ तक आध्यात्मिक साधना की बात है, जैन-परम्परा मनुष्य-जन्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानती है। उसके अनुसार, मानव-जीवन ही ऐसा जीवन है, जिससे मुक्ति या नैतिक पूर्णता प्राप्त की

जा सकती है। जैन-परम्परा के अनुसार केवल मनुष्य ही सिद्ध हो सकता है, अन्य कोई नहीं। बौद्ध-परम्परा में भी उपर्युक्त चारों जातियाँ स्वीकृत रही हैं, लेकिन उनमें देव और मनुष्य-दोनों में ही मुक्त होने की क्षमता को मान लिया गया है। बौद्ध-परम्परा के अनुसार, एक देव बिना मानव-जन्म ग्रहण किये देव-गति से सीधे ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है, जबकि जैन-परम्परा के अनुसार, केवल मनुष्य ही निर्वाण का अधिकारी है। इस प्रकार, जैन-परम्परा मानव-जन्म को चरम मूल्यवान् बना देती है।

आत्मा की अमरता

आत्मा की अमरता का प्रश्न नैतिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पाश्चात्य विचारक कांट आत्मा की अमरता को नैतिक जीवन की सुसंगत व्याख्या के लिए आवश्यक मानते हैं। भारतीय आचारदर्शनों के प्राचीन युग में आत्मा की अमरता का सिद्धान्त विवाद का विषय रहा है। उस युग में यह प्रश्न आत्मा की नित्यता एवं अनित्यता के रूप में अथवा शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के रूप में बहुचर्चित रहा है। वस्तुतः, आत्म-अस्तित्व को लेकर दार्शनिकों में इतना विवाद नहीं है, विवाद का विषय है - आत्मा की नित्यता और अनित्यता। यह विषय तत्त्वज्ञान की अपेक्षा नैतिक दर्शन से अधिक संबंधित है। जैन-विचारकों ने नैतिक व्यवस्था को प्रमुख मानकर उसके आधार पर ही नित्यता और अनित्यता की समस्या का हल खोजने की कोशिश की, अतः यह देखना भी उपयोगी होगा कि आत्मा को नित्य अथवा अनित्य मानने पर नैतिक दृष्टि से कौन-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

आत्मा की नित्यानित्यात्मकता

जैन-विचारकों ने संसार और मोक्ष की सिद्धि के लिए न तो नित्य-आत्मवाद को उपयुक्त समझा और न अनित्य-आत्मवाद को। एकान्त-नित्यवाद और एकान्त-अनित्यवाद-दोनों ही सदोष हैं। आचार्य हेमचन्द्र दोनों को नैतिक दर्शन की दृष्टि से अनुपयुक्त बताते हुए लिखते हैं- यदि आत्मा को एकान्त नित्य मानें, तो इसका अर्थ होगा कि आत्मा में अवस्थान्तर अथवा स्थित्यन्तर नहीं होता। यदि इसे एकान्त अनित्य मान लिया जाये, तो सुख-दुःख, शुभ-अशुभ आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ आत्मा में घटित नहीं होगी। फिर, स्थित्यन्तर या भिन्न-भिन्न परिणामों, शुभाशुभ भावों की शक्यता न होने से पुण्य-पाप की विभिन्न वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ भी सम्भव नहीं होंगी, न बन्धन और मोक्ष की उत्पत्ति ही सम्भव होंगी। क्योंकि वहाँ इस क्षण के पर्याय ने जो कार्य किया था, उसका फल दूसरे क्षण के पर्याय को मिलेगा, क्योंकि वहाँ उन सतत परिवर्तनशील पर्यायों के मध्य कोई अनुस्यूत एक स्थायी तत्त्व (द्रव्य) नहीं है, अतः यह कहा जा सकेगा कि जिसने किया था, उसे फल नहीं मिला और

जिसने नहीं किया था, उसे मिला, अर्थात् कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से अकृत-अभ्यागम और कृतप्रणाश का दोष होगा। (वीतरागस्तोत्र 8/2/3) अतः आत्मा को नित्य मानकर भी सतत परिवर्तनशील (अनित्य) माना जाये, तो उसमें शुभाशुभ आदि विभिन्न भावों की स्थिति मानने के साथ ही उसके फलों का भावान्तर में भोग भी सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार, जैन-दर्शन सापेक्ष रूप से आत्मा को नित्य और अनित्य दोनों स्वीकार करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र(14/19) में कहा गया है कि आत्मा अमूर्त होने के कारण नित्य है। भगवतीसूत्र(9/6/3/87) में भी जीव को अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य कहा गया है लेकिन सब स्थानों पर नित्यता का अर्थ परिणामी नित्यता ही समझना चाहिए। भगवतीसूत्र एवं विशेषावश्यकभाष्य में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है। भगवतीसूत्र(7/2/273)में भगवान् महावीर ने गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्मा को शाश्वत और अशाश्वत दोनों कहा है-

“भगवान्! जीव शाश्वत है या अशाश्वत?”

“गौतम! जीव शाश्वत(नित्य) भी है और अशाश्वत(अनित्य)भी।”

“भगवान्! यह कैसे कहा गया कि जीव नित्य भी है, अनित्य भी?”

“गौतम! द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, भाव की अपेक्षा से अनित्य।”

आत्मा द्रव्य(सत्ता) की ओर से नित्य है, अर्थात् आत्मा न तो कभी अनात्म(जड़) से उत्पन्न होती है और न किसी भी अवस्था में अपने चेतना लक्षण को छोड़कर जड़ बनती है। इसी दृष्टि से उसे नित्य कहा जाता है, लेकिन आत्मा की मानसिक अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, अतः इस अपेक्षा से उसे अनित्य भी कहा गया है। आधुनिक दर्शन की भाषा में जैन-दर्शन के अनुसार तात्त्विक आत्मा नित्य है और अनुभवाधारित आत्मा अनित्य है। जिस प्रकार स्वर्णाभूषण स्वर्ण की दृष्टि से नित्य और आभूषण की दृष्टि से अनित्य है, उसी प्रकार आत्मा आत्मा-तत्त्व की दृष्टि से नित्य और अपने विचारों और भावों की दृष्टि से अनित्य है।

जमाली के साथ हुए प्रश्नोत्तर में भगवान् महावीर ने अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है कि वे किस अपेक्षा से जीव को नित्य मानते हैं और किस अपेक्षा से अनित्य। भगवान् महावीर कहते हैं- “हे जमाली! जीव शाश्वत है, तीनों कालों में ऐसा कोई समय नहीं है, जब यह जीव(आत्मा) नहीं था, नहीं है, अथवा नहीं होगा। इसी अपेक्षा से यह जीवात्मा, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अक्षय और अव्यय है। हे जमाली! जीव अशाश्वत है, क्योंकि नारक मरकर तिर्यच होता है, तिर्यच मरकर मनुष्य होता है, मनुष्य मरकर देव होता है। इस प्रकार, इन नानावस्थाओं को

प्राप्त करने के कारण उसे अनित्य कहा जाता है। भगवतीसूत्र 9/6/3/87 या 1/4/42। नैतिक-विचारणा की दृष्टि से आत्मा को नित्यानित्य (परिणामी-नित्य) मानना ही समुचित है। नैतिकता की धारणा में जो विरोधाभास है, उसका निराकरण केवल परिणामीनित्य आत्मवाद में ही सम्भव है। नैतिकता का विरोधाभास यह है कि जहाँ नैतिकता के आदर्श के रूप में जिस आत्म-तत्त्व की विवक्षा है, उसे नित्य, शाश्वत, अपरिवर्तनशील, सदैव समरूप में स्थित, निर्विकार होना चाहिए, अन्यथा पुनः बन्धन एवं पतन की सम्भावनाएँ उठ खड़ी होंगी, वहीं दूसरी ओर नैतिकता की व्याख्या के लिए जिस आत्म-तत्त्व की विवक्षा है उसे, कर्त्ता, भोक्ता, वेदक एवं परिवर्तनशील होना चाहिए, अन्यथा कर्म और उनके प्रतिफल और साधना की विभिन्न अवस्थाओं की तरतमता की उपपत्ति नहीं होगी। जैन विचारकों ने इस विरोधाभास की समस्या के निराकरण का प्रयास किया है। प्रथमतः उन्होंने एकान्त नित्यात्मवाद और अनित्यात्मवाद के दोषों को स्पष्ट कर उनका निराकरण किया, फिर यह बताया है कि विरोधाभास तो तब होता है जब नित्यता और अनित्यता को एक ही दृष्टि से माना जाय। लेकिन जब विभिन्न दृष्टियों से नित्यता और अनित्यता का कथन किया जाता है, तो उसमें कोई विरोधाभास नहीं रहता है। जैन दर्शन आत्मा को पर्यायार्थिक दृष्टि (व्यवहारनय) की अपेक्षा से अनित्य तथा द्रव्यार्थिक दृष्टि (निश्चयनय) की अपेक्षा से नित्य मानकर अपनी आत्मा सम्बन्धी अवधारणा का प्रतिपादन करता है।

आत्मा और पुनर्जन्म

आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म का प्रत्यय जुड़ा हुआ है। भारतीय दर्शनों में चार्वाक को छोड़कर शेष सभी दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जब आत्मा को अमर मान लिया जाता है, तो पुनर्जन्म को स्वीकार करना ही होगा। गीता(2/22) कहती है - “जिस प्रकार मनुष्य वस्त्रों के जीर्ण हो जाने पर उनका परित्याग कर नये वस्त्र ग्रहण करता रहता है, वैसे ही आत्मा भी जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर ग्रहण करती रहती है” न केवल गीता में, वरन् बौद्ध दर्शन में भी इसी आशय का प्रतिपादन किया गया है (धेरगाथा 1/38-388)। डॉ. रामानन्द तिवारी शंकर का आचारदर्शन पृ.68 पुनर्जन्म के पक्ष में लिखते हैं कि “एक जन्म के सिद्धान्त के अनुसार चिरन्तन आत्मा और नश्वर शरीर का सम्बन्ध एक काल-विशेष में ही अन्त हो जाता है, किन्तु चिरन्तन का कालिक सम्बन्ध अन्याय (तर्क-विरुद्ध) है और इस (एक-जन्म के) सिद्धान्त में उसका कोई समाधान नहीं है- पुनर्जन्म का सिद्धान्त जीवन की एक न्यायसंगत और नैतिक व्याख्या देना

चाहता है। एक-जन्म सिद्धान्त से उसका कोई समाधान नहीं मिलता है- पुनर्जन्म का सिद्धान्त जीवन की एक न्यायसंगत और नैतिक व्याख्या देना चाहता है। एक-जन्म के इस सिद्धान्त के अनुसार जन्मकाल में भागदियों के भेद को अकारण एवं संयोगजन्य मानना होगा।”

डॉ. मोहनलाल मेहता (जैन साइकोलाजी पृ. 173) कर्म-सिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनके शब्दों में - “कर्म-सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म के प्रत्यय से संलग्न है, पूर्ण विकसित पुनर्जन्म-सिद्धान्त और कर्म सिद्धान्त एक-दूसरे के अति निकट हैं, फिर भी धार्मिक क्षेत्र में विकसित हुए कुछ दर्शनों ने कर्म को स्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं किया है।” कट्टर पाश्चात्य निरीश्वरवादी दार्शनिक निश्चे ने कर्म-शक्ति और पुनर्जन्म पर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे महत्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं - “कर्म-शक्ति से जो हमेशा रूपान्तर हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं तथा काल अनन्त है, इसलिए कहना पड़ता है कि जो नामरूप एक बार हो चुके हैं, वहीं फिर आगे यथापूर्व कभी-न-कभी अवश्य उत्पन्न ही होंगे (गीतारहस्य-तिलक पृ.268)।”

ईसाई और इस्लाम के धर्म-दर्शन यह तो मानते हैं कि व्यक्ति अपने नैतिक शुभाशुभ कृत्यों का फल अनिवार्य रूप से प्राप्त करता है और यदि वह अपने कृत्यों के फलों को इस जीवन में पूर्णतया नहीं भोग पाता है, तो मरण के बाद उनका फल भोगता है, लेकिन फिर भी वे पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार, व्यक्ति को सृष्टि के अनन्त में अपने कृत्यों की शुभाशुभता के अनुसार हमेशा के लिए स्वर्ग या किसी निश्चित समय के लिए नरक में भेज दिया जाता है, वहाँ व्यक्ति अपने कृत्यों का फल भोगता रहता है, इस प्रकार वे कर्म-सिद्धान्त को मानते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते हैं।

जो विचारणाएँ कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी पुनर्जन्म को नहीं मानती हैं, वे इस तथ्य की व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो पाती हैं कि वर्तमान जीवन में जो नैसर्गिक वैषम्य है, उसका कारण क्या है? क्यों एक प्राणी सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है, अथवा जन्मना ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक क्षमता से युक्त होता है और क्यों दूसरा दरिद्र एवं हीन कुल में जन्म लेता है और जन्मना हीनेन्द्रिय एवं बौद्धिक-दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है? क्यों एक प्राणी को मनुष्य-शरीर मिलता है और दूसरे को पशु-शरीर मिलता है? यदि इसका कारण ईश्वरेच्छा है, तो ईश्वर अन्यायी सिद्ध होता है। दूसरे, व्यक्ति को अपनी अक्षमताओं और उनके कारण उत्पन्न अनैतिक कृत्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकेगा। खानाबदोश जातियों में जन्म लेने वाला बालक संस्कारवश जो अनैतिक आचरण का मार्ग

अपनाता है, उसका उत्तरदायित्व किस पर होगा? वैयक्तिक विभिन्नताएँ ईश्वरेच्छा का परिणाम नहीं, वरन् व्यक्ति के अपने कृत्यों का परिणाम है। वर्तमान जीवन में जो भी क्षमता एवं अवसरों की सुविधा उसे अनुपलब्ध है और जिनके फलस्वरूप उसे नैतिक विकास का अवसर प्राप्त नहीं होता है, उनका कारण भी वह स्वयं ही है और उत्तरदायित्व भी उसी पर है।

नैतिक विकास केवल एक जन्म की साधना का परिणाम नहीं है, वरन् उसके पीछे जन्म-जन्मान्तर की साधना होती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्राणी को नैतिक विकास हेतु अनन्त अवसर प्रदान करता है। ब्रैडले नैतिक पूर्णता की उपलब्धि को अनन्त प्रक्रिया मानते हैं (एथिकलस्टडीज पृ. 313)। यदि नैतिकता आत्मपूर्णता एवं आत्म-साक्षात्कार की दिशा में सतत प्रक्रिया है, तो फिर बिना पुनर्जन्म के इस विकास की दिशा में आगे कैसे बढ़ा जा सकता है? गीता (6/45) में भी नैतिक पूर्णता की उपलब्धि के लिए अनेक जन्मों की साधना आवश्यक मानी गयी है। डॉ. टाटिया भी लिखते हैं कि “यदि आध्यात्मिक पूर्णता (मुक्ति) एक तथ्य है, तो उसके साक्षात्कार के लिए अनेक जन्म आवश्यक हैं (स्टडीज इन जैनफिलॉसफी पृ.22)।”

साथ ही आत्मा के बन्धन के कारण ही व्याख्या के लिए पुनर्जन्म की धारणा को स्वीकार करना होगा, क्योंकि वर्तमान बन्धन की अवस्था का कारण भूतकालीन जीवन में ही खोजा जा सकता है।

जो दर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते, वे व्यक्ति के साथ समुचित न्याय नहीं करते। अपराध के लिये दण्ड आवश्यक है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि विकास या सुधार का अवसर ही समाप्त कर दिया जाये। जैन-दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करके व्यक्ति को नैतिक विकास के अवसर प्रदान करता है तथा अपने को एक प्रगतिशील दर्शन सिद्ध करता है। पुनर्जन्म की धारणा दण्ड के सुधारवादी सिद्धान्त का समर्थन करती है, जबकि पुनर्जन्म को नहीं मानने वाली नैतिक विचारणाएँ दण्ड के बदला लेने के सिद्धान्त का समर्थन करती हैं, जो कि वर्तमान युग में एक परम्परागत, किन्तु अनुचित धारणा है।

पुनर्जन्म के विरुद्ध यह भी तर्क दिया जाता है कि यदि वही आत्मा (चेतना) पुनर्जन्म ग्रहण करती है, तो फिर पूर्व-जन्मों की स्मृति क्यों नहीं रहती है। स्मृति के अभाव में पुनर्जन्म को किस आधार पर माना जाये? लेकिन यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि हम अक्सर देखते हैं कि हमें अपने वर्तमान जीवन की अनेक घटनाओं की भी स्मृति नहीं रहती। यदि हम वर्तमान जीवन के विस्मरित भाग को स्वीकार नहीं करते हैं, तो फिर केवल स्मरण के अभाव में पूर्व-जन्मों की घटनाएँ भी

अचेतन स्तर पर बनी रहती हैं और विशिष्ट अवसरों पर चेतना के स्तर पर भी व्यक्त हो जाती हैं। यह भी तर्क दिया जाता है कि हमें अपने जिन कृत्यों की स्मृति नहीं है, हम क्यों उनके प्रतिफल का भोग करें? लेकिन यह तर्क भी समुचित नहीं है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि हमें अपने कर्मों की स्मृति है या नहीं? हमने उन्हें किया है तो उनका फल भोगना ही होगा। यदि कोई व्यक्ति इतना अधिक मद्यपान कर ले कि नशे में उसे अपने किये हुए मद्यपान की स्मृति भी नहीं रहे लेकिन इससे क्या वह उसके नशे से बच सकता है? जो किया है, उसका भोग अनिवार्य है, चाहे उसकी स्मृति हो या न हो। (जैन साइकोलाजी मेहता पृ.175)

जैन-चिन्तकों ने इसीलिए कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति के साथ-साथ आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि प्राणियों में क्षमता एवं अवसरों की सुविधा आदि का जो जन्मना नैसर्गिक वैषम्य है, उसका कारण प्राणी के अपने ही पूर्व-जन्मों के कृत्य हैं। संक्षेप में, वंशानुगत एवं नैसर्गिक वैषम्य पूर्व-जन्मों के शुभाशुभ कृत्यों का फल है। यही नहीं, वरन् अनुकूल एवं प्रतिकूल परिवेश की उपलब्धि भी शुभाशुभ कृत्यों का फल है। स्थानांगसूत्र में भूत, वर्तमान और भावी जन्मों में शुभाशुभ कर्मों के फल-सम्बन्ध की दृष्टि से आठ विकल्प माने गये हैं- (1) वर्तमान के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में ही फल देंगे। (2) वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म भावी जन्मों में फल देंगे। (3) भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देंगे। (4) भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म भावी जन्मों में फल देंगे। (5) वर्तमान जन्म के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देंगे। (6) वर्तमान जन्म के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देंगे। (7) भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देंगे। (8) भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देंगे (स्थानांग सूत्र 8/2)।

इस प्रकार, जैन-दर्शन में वर्तमान जीवन का सम्बन्ध भूतकालीन एवं भावी जन्मों से माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार चार प्रकार की योनियाँ हैं- (1) देव (स्वर्गीय जीवन), (2) मनुष्य, (3) तिर्यच (वानस्पतिक एवं पशु-जीवन) और (4) नरक (नारकीय जीवन) (तत्त्वार्थसूत्र 8/11)। प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इन योनियों में जन्म लेता है। यदि वह शुभ कर्म करता है, तो देव और मनुष्य के रूप में जन्म लेता है और अशुभ कर्म करता है, तो पशु-गति या नारकीय गति प्राप्त करता है। मनुष्य मरकर पशु भी हो सकता है और देव भी। प्राणी भावी जीवन में क्या होगा, यह उसके वर्तमान जीवन के आचरण पर निर्भर करता है।



महावीर के समकालीन आत्मवाद एवं जैन आत्मवाद का वैशिष्ट्य

धर्म और नैतिकता आत्मा सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताओं पर अधिष्ठित रहते हैं। किसी भी धर्म एवं उसकी नैतिक विचारणा को उसके आत्म सम्बन्धी सिद्धान्त के अभाव में समुचित रूप से नहीं समझा जा सकता। महावीर के धर्म एवं नैतिक सिद्धान्तों के औचित्य स्थापन के पूर्व उनके आत्मवाद का औचित्य-स्थापन आवश्यक है। साथ ही महावीर के आत्मवाद को समझने के लिये उनके समकालीन विभिन्न आत्मवादों का समालोचनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।

भारतीय आत्मवादों के सम्बन्ध में वर्तमान युग में श्री ए.सी. मुकर्जी ने अपनी पुस्तक *The nature of self* एवं श्री एस.के. सक्सेना ने अपनी पुस्तक *Nature of consciousness in Hindu Philosophy* में विचार किया है लेकिन उन्होंने महावीर के समकालीन आत्मवादों पर समुचित रूप से कोई विचार नहीं किया है। श्री धर्मानन्द कौशम्बी जी के द्वारा अपनी पुस्तक 'भगवान बुद्ध' में यद्यपि इस प्रकार का एक लघु प्रयास अवश्य है फिर भी इस सम्बन्ध में एक व्यवस्थित अध्ययन आवश्यक है।

पाश्चात्य एवं कुछ आधुनिक भारतीय विचारकों की यह मान्यता है कि महावीर एवं बुद्ध के समकालीन विचारकों में आत्मवाद सम्बन्धी कोई निश्चित दर्शन नहीं था। तत्कालीन सभी ब्राम्हण और श्रमण मतवाद केवल नैतिक-विचारणाओं एवं कर्मकाण्डी-व्यवस्थाओं को प्रस्तुत करते थे। सम्भवतः इस धारणा का आधार तत्कालीन औपनिषदिक साहित्य है, जिसमें आत्मवाद सम्बन्धी विभिन्न परिकल्पनायें, किसी एक आत्मवादी सिद्धान्त के विकास के निमित्त संकलित की जा रही थीं। उपनिषदों का आत्मवाद विभिन्न श्रमण-परम्पराओं के आत्मवादी सिद्धान्तों से स्पष्ट रूप से प्रभावित है उपनिषदों में आत्मा-सम्बन्धी परस्पर विपरीत धारणायें जिस बीज रूप में विद्यमान हैं वह इस तथ्य की पुष्टि का सबल प्रमाण है। हां, इन विभिन्न आत्मवादों की धारणा में संयोजित करने का प्रयास उनका अपना मौलिक है।

लेकिन यह मान लेना कि महावीर अथवा बुद्ध के समकालीन विचारकों में आत्मा-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त ही नहीं थे यह एक भ्रान्त धारणा है।

मेरी यह स्पष्ट धारणा है कि महावीर के समकालीन विभिन्न विचारकों की आत्मवाद सम्बन्धी विभिन्न धारणायें थीं। कोई उसे सूक्ष्म कहता था, तो कोई उसे विभु। किसी के अनुसार आत्मा नित्य थी, तो कोई उसे क्षणिक मानता था। कुछ विचारक उसे (आत्मा की) कर्ता मानते थे, तो दूसरे उसे निष्क्रिय एवं कूटस्थ मानते थे। इन्हीं विभिन्न आत्मवादों की अपूर्णता एवं नैतिक व्यवस्था को प्रस्तुत करने की अक्षमताओं के कारण ही तीन नये विचार सामने आये- एक और था उपनिषदों का सर्व आत्मवाद या ब्रह्मवाद, दूसरी और था बुद्ध का अनात्मवाद और तीसरी विचारणा थी जैन आत्मवाद की जिसने इन विभिन्न आत्मवादों को एक जगह समन्वित करने का प्रयास किया।

इन विभिन्न आत्मवादों की समालोचना के पूर्व इनके अस्तित्व-सम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत किये जाने आवश्यक हैं। बौद्ध-पालि-आगम-साहित्य, जैन-आगम एवं उपनिषदों के विभिन्न प्रसंग इस संदर्भ में कुछ तथ्य प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध-पालि-आगम के अन्तर्गत सुत्तपिटक में दीर्घनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त एवं मज्झिम निकाय के चूल सारोपमसुत्त में इन आत्मवादों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि उपर्युक्त सुत्तों में हमें जो जानकारी प्राप्त होती है, वह बाह्यतः नैतिक आचार-सम्बन्धी प्रतीत होती है; लेकिन यह जिस रूप में प्रस्तुत की गई है उसे देखकर हमें गहन विवेचना में उतरना होता है, जो अन्ततोगत्वा हमें किसी आत्मवाद-सम्बन्धी दार्शनिक निर्णय पर पहुंचा देती है।

पालि आगम में बुद्ध के समकालीन¹ इन आचार्यों को जहां एक ओर गणाधिपति, गण के आचार्य, प्रसिद्ध यशस्वी, तीर्थंकर तथा बहुजनों द्वारा सुसम्मत कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उनके नैतिक सिद्धान्तों को इतने गर्हित एवं निन्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है² कि साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी इनकी ओर आकृष्ट नहीं हो सकता। अतः यह स्वाभाविक रूप से शंका उपस्थित होती है कि क्या ऐसी निन्ध नैतिकता का उपदेश देने वाला व्यक्ति लोक सम्मानित धर्माचार्य हो सकता है, लोकपूजित हो सकता है?

यही नहीं कि ये आचार्यगण लोकपूजित ही थे वरन् वे आध्यात्मिक विकास के निमित्त विभिन्न साधनायें भी करते थे, उनके शिष्य एवं उपासक भी थे। उपरोक्त तथ्य किसी निष्पक्ष गहन विचारणा की अपेक्षा करते हैं, जो इसके पीछे रहे हुए सत्य का उद्घाटन कर सके।

मेरी विनम्र सम्मति में उपर्युक्त विचारकों की नैतिक विचारणा को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह उन विचारकों की नैतिक विचारणा नहीं है, वरन् उनके आत्मवाद या अन्य दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर निकाला हुआ नैतिक निष्कर्ष है, जो एक विरोधी पक्ष के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

जैनागमों में सूत्रकृतांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) एवं उत्तराध्ययन आदि में भी कुछ ऐसे स्थल हैं जिनके आधार पर तत्कालीन आत्मवादों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में प्राचीनतम उपनिषद् छान्दोग्य और बृहदारण्यक^१ हैं, उनमें भी तत्कालीन आत्मवाद के सम्बन्ध में कुछ जानकारी उपलब्ध होती है। कठोपनिषद् एवं गीता में इन विभिन्न आत्मवादी धारणाओं का प्रभाव यत्र-तत्र यथेष्ट रूप से देखने को मिल सकता है।

लेख के विस्तार भय से यहां इन सभी ग्रन्थों के विभिन्न सर्केतों के आधार पर उनसे प्रतिफलित होने वाले आत्मवादों की विचारणा सम्भव नहीं है, अतः हम यहां कुछ आत्मवादों का वर्गीकृत रूप में मात्र संक्षिप्त अध्ययन ही करेंगे। इनका विस्तृत और पूर्ण अध्ययन तो स्वतंत्र गवेषणा का विषय है।

वर्गीकरण की दृष्टि से हमारे अध्ययन में निम्न वर्गीकरण सहायक हो सकता है।

1. नित्य या शाश्वत आत्मवाद
2. अनित्य आत्मवाद, उच्छेद आत्मवाद, देहात्मवाद
3. कूटस्थ आत्मवाद, अक्रिय आत्मवाद, नियतिवाद
4. परिणामी आत्मवाद, आत्म कर्तव्यवाद, पुरुषार्थवाद
5. सूक्ष्म आत्मवाद
6. विभु आत्मवाद
7. अनात्मवाद
8. सर्व आत्मवाद या ब्रह्मवाद

प्रस्तुत निबन्ध में उपर्युक्त सभी आत्मवादों का विवेचन संभव नहीं है, दूसरे अमात्मवाद और सर्व आत्मवाद के सिद्धान्त क्रमशः बौद्ध और वेदान्त परम्परा में विकसित हुए हैं, जो काफी विस्तृत हैं साथ ही लोक प्रसिद्ध हैं। अतः उनका विवेचन प्रस्तुत निबन्ध में नहीं किया गया है। परिणामी आत्मवाद का सिद्धान्त स्वतंत्र रूप से किसका था, यह ज्ञात नहीं हो सका। अतः उसका भी विवेचन इस निबन्ध में नहीं किया गया है। प्रस्तुत प्रयास में इन विभिन्न आत्मवादों के वर्गीकरण

में मुख्यतः एक स्थूल दृष्टि रखी गई है और इसी हेतु कूटस्थ आत्मवाद, नियतिवाद या परिणामी आत्मवाद और पुरुषार्थवाद को उनमें परस्पर अन्तर होते हुए भी एक ही वर्ग में रखा गया है। वैसे पुरुषार्थवाद महावीर के आत्मवाद का मुख्य अंग है फिर भी महावीर का आत्म-दर्शन समन्वयात्मक है अतः उनके आत्म-दर्शन को एकान्त रूप से उस वर्ग में नहीं रखा जा सकता है।

अनित्यक आत्मवाद

महावीर के समकालीन विचारकों में इस अनित्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व अजितकेश कम्बल करते हैं। इस धारणा के अनुसार आत्मा या चैतन्य इस शरीर के साथ उत्पन्न होता है और इसके नष्ट हो जाने के साथ ही नष्ट हो जाता है। उनके दर्शन एवं नैतिक सिद्धान्तों को बौद्ध आगम में उस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

दान, यज्ञ, हवन, व्यर्थ हैं, सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल-विपाक नहीं। यह लोक-परलोक नहीं। माता-पिता नहीं, देवता नहीं... आदमी चार महाभूतों का बना है जब मरता है तब (शरीर की) पृथ्वी पृथ्वी में, पानी पानी में, आग आग में और वायु वायु में मिल जाती है दान यह मूर्खों का उपदेश है.... मूर्ख हो चाहे पण्डित शरीर छोड़ने पर उच्छिन्न हो जाते हैं

बाह्य रूप से देखने पर अजित की यह धारणा स्वार्थ सुखवाद की नैतिक धारणा के समान प्रतीत होती है और उसका दर्शन तथा आत्मवाद भौतिकवादी परिलक्षित होता है। लेकिन पुनः यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि यदि अजितकेश कम्बल नैतिक धारणा में सुखवादी और उनका वर्णन भौतिकवादी था, तो फिर वह स्वयं साधना मार्ग और देख दण्डन के पथ का अनुगामी क्यों था, किस हेतु उसने श्रमणों एवं उपासकों का संघ बनाया था। यदि उसकी नैतिकता योगवादी थी तो उसे स्वयं संन्यास-मार्ग का पथिक नहीं बनना था, न उसके संघ में संन्यासी या गृह-त्यागी को स्थान होना था।

सम्भवतः वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत होती है कि अजित दार्शनिक दृष्टि से अनित्यवादी था, जगत् की परिवर्तनशीलता पर ही उसका जो था। वह लोक, परलोक, देवता आत्मा आदि किसी भी तत्त्व को नित्य नहीं मानता था। उसका यह कहना यह लोक नहीं परलोक नहीं, माता-पिता नहीं, देवता नहीं. केवल इसी अर्थ का द्योतक हैं कि सभी की शाश्वत् सत्ता नहीं है, सभी अनित्य हैं। वह आत्मा को भी अनित्य मानता था और इसी आधार पर कि उसकी नैतिक धारणा में सुकृत और दुष्कृत कर्मों का विपाक नहीं।

पश्चिम में यूनानी दार्शनिक हेराक्लितु (535 ई.पू.) भी इसी का समकालीन था और वह भी अनित्यतावादी ही था।

सम्भवतः अजित नित्य आत्मवाद के आधार पर नैतिकता की धारणा को स्थापित करने में उत्पन्न होने वाली दार्शनिक कठिनाईयों से अवगत था। क्योंकि नित्य आत्मवाद के आधार पर हिंसा की बुराई को नहीं समाप्त किया जा सकता। यदि आत्मा नित्य है तो फिर हिंसा किसकी? अतः अजित ने यज्ञ, याग एवं युद्ध-जनित हिंसा से मानव-जाति को मुक्त करने के लिये अनित्य आत्मवाद का उपदेश दिया होगा।

साथ ही ऐसा भी प्रतीत होता है कि वह तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होने वाले सांसारिक क्लेशों से भी मानव-जाति को मुक्त करना चाहता था और इसी हेतु उसने गृह-त्याग और देह-दण्डन, जिससे आत्म-सुख और भौतिक-सुख की विभिन्नता को समझा जा सके, को आवश्यक माना था।

इस प्रकार अजित का दर्शन आत्म-अनित्यवाद का दर्शन है। और उसकी नैतिकता है - आत्म-सुख (Subjective pleasure) की उपलब्धि।

सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध ने अपने अनात्मवादी दर्शन के निर्माण में अजित का यह अनित्य आत्मवाद अपना लिया था और उसकी नैतिक धारणा में से देह-दण्डन की प्रणाली को समाप्त कर दिया गया था। यही कारण है कि अजित की यह दार्शनिक परम्परा बुद्ध की दार्शनिक परम्परा के प्रारम्भ होने पर विलुप्त हो गई। बुद्ध के दर्शन ने अजित के अनित्यतावादी आत्म-सिद्धान्त को आत्मसात् कर लिया और उसकी नैतिक धारणा को परिष्कृत कर उसे ही एक नये रूप में प्रस्तुत कर दिया।

अनित्य आत्मवाद के सम्बन्ध में जैनागम उत्तराध्ययन के 14 वें अध्ययन के 18 वीं गाथा में भी विवेचन प्राप्त होता है, जहाँ यह बताया गया कि यह आत्मा शरीर में उसी प्रकार रहती है जैसे तिल में तेल, अरणी में अग्नि या दूध में घृत रहता है और इस शरीर के नष्ट हो जाने के साथ ही वह नष्ट हो जाती है।

औपनिषदिक साहित्य में कठोपनिषद् की प्रथम बल्ली के अध्याय 1 के 20 वें श्लोक में नचिकेता भी यह रहस्य जानना चाहता है कि आत्म नित्यतावाद और आत्म-अनित्यतावाद में कौन सी धारणा सत्य है और कौन सी असत्य है।

इस प्रकार यह तो निश्चान्ति रूप से सत्य है कि महावीर के समकालीन विचारकों में आत्म-अनित्यतावाद को मानने वाले विचारक थे। लेकिन वह अनित्य आत्मवाद भौतिक आत्मवाद नहीं, वरन् दार्शनिक अनित्य आत्मवाद था। उनके मानने वाले विचारक आधुनिक सुखवादी विचारकों के समान भौतिक सुखवादी नहीं थे, वरन् वे आत्म-शान्ति एवं आसक्ति नाश या तृष्णाक्षय के हेतु प्रयासशील थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि अजित का दर्शन और धर्म (नैतिकता) बौद्ध दर्शन एवं धर्म की पूर्व कड़ी थी। बौद्धों ने उसके दर्शन की जो आलोचना अथवा नैतिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये थे कि उसके अनुसार दुष्कृत एवं सुकृत कर्मों का विपाक नहीं, यही आलोचना पश्चात काल में बौद्ध आत्मवाद को कृत प्रणाश एवं अकृत कर्मभोग कहकर-हेमचन्द्राचार्य ने प्रस्तुत की।

अनित्य-आत्मवाद की धारणा नैतिक दृष्टि से उचित नहीं बैठती क्योंकि उसके आधार पर कर्म-विपाक या कर्म-फल के सिद्धान्त को नहीं समझाया जा सकता क्योंकि समस्त शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफल तत्काल प्राप्त नहीं होता। अतः कर्म-फल की धारणा के लिये नित्य आत्मवाद की ओर आना होता है। दूसरे अनित्य आत्मवाद की धारणा में पुण्य-संचय, परोपकार एवं दान आदि के नैतिक आदेशों का भी कोई अर्थ नहीं रहता।

नित्य कूटस्थ आत्मवाद

वर्तमान दार्शनिक परम्पराओं में भी अनेक इस सिद्धान्त के समर्थक हैं कि आत्मा कूटस्थ(निष्क्रिय) एवं नित्य है, सांख्य और वेदान्त इसी का समर्थक है। जिन विचारकों ने आत्मा को कूटस्थ माना है, उन्होंने उसे नित्य भी माना है। अतः हमने भी अपने विवेचन हेतु नित्य आत्मवाद और कूटस्थ आत्मवाद दोनों को समन्वित रूप से एक ही साथ रखा है। महावीर के समकालीन कूटस्थ नित्य आत्मवाद के प्रतिनिधि पूर्ण कश्यप थे।

पूर्ण कश्यप के सिद्धान्तों का चित्रण बौद्ध-साहित्य में इस प्रकार है अगर कोई क्रिया करे कराये, काटे कटवाये, कष्ट दे या दिलाये.... चोरी करे.... प्राणियों को मार डाले.... परदारा गमन करे या असत्य बोले तो भी उसे पाप नहीं। तीक्ष्ण धार वाले चक्र से यदि कोई इस संसार के प्राणियों के मांस का ढेर लगा दे तो भी उसे कोई पाप नहीं है, दोष नहीं है.... दान, धर्म और सत्य-भाषण से कोई पुण्य-प्राप्ति नहीं होती।

इस धारणा को देखकर सहज ही शंका होती है इस प्रकार का उपदेश देने वाला व्यक्ति कोई यशस्वी, लोकसम्मानित व्यक्ति नहीं हो सकता, वरन् कोई धूर्त होगा। लेकिन पूर्ण कश्यप एक लोक पूजित शास्ता थे, अतः यह निश्चित है कि ऐसा अनैतिक दृष्टिकोण उनका नहीं हो सकता। यह उनके आत्मवाद का नैतिक फलित होगा जो एक विरोधी दृष्टिकोण वाले लोगों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। फिर भी इसमें इतनी सत्यता अवश्य होगी कि पूर्ण कश्यप आत्मा को अक्रिय मानते थे, वस्तुतः उनकी आत्म-अक्रियता की धारणा का उपर्युक्त निष्कर्ष निकालकर उनके विरोधियों ने उनके मत को विकृत रूप में प्रस्तुत किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ण कश्यप के इस आत्म-अक्रियवाद को उसके पश्चात् कपिल के सांख्य दर्शन और भगवद्गीता में भी अपना लिया गया था। कपिल और भगवद्गीता का काल लगभग 400 ई.पू. माना जाता है और इस आधार पर यह माना जा सकता है कि ये पूर्ण कश्यप के इस आत्म अक्रियवाद से अवश्य प्रभावित हुए होंगे। कपिल के दर्शन में आत्म-अक्रियवाद के साथ ही ईश्वर का अभाव इस बात का सबल प्रमाण है कि वह किसी अवैदिक श्रमण परम्परा के दर्शन से प्रभावित था और वह दर्शन पूर्ण कश्यप का आत्म अक्रियवाद का दर्शन ही होगा, क्योंकि उसमें भी ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं था। सांख्य दर्शन भी आत्मा को त्रिगुण युक्त प्रकृति से भिन्न मानता है और मारना, मरवाना आदि सभी को प्रकृति का परिणाम मानता है। आत्मा इन सब से प्रभावित नहीं होती है। वह यह भी नहीं मानता है कि आत्मा को नष्ट किया जा सकता है। आत्मा बन्धन में नहीं आता, वरन् प्रकृति ही प्रकृति को बांधती है। अतः शुभाशुभ कार्यों का प्रभाव भी आत्मा पर नहीं पड़ता इस प्रकार पूर्ण कश्यप का दर्शन कपिल के दर्शन का पूर्ववर्ती था। इसी प्रकार गीता में भी पूर्ण कश्यप के इस आत्म-अक्रियवाद की प्रतिध्वनि यत्र-तत्र सुनाई देती है*, जो सांख्य दर्शन के माध्यम से उस तक पहुँची थी। स्थानाभावे से हम यहां उन सब प्रमाणों को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। पाठकगण उल्लेखित स्थानों पर उन्हें देख सकते हैं।^१

उपर्युक्त संदर्भों के आधार पर बौद्ध आगम में प्रस्तुत पूर्ण कश्यप के दृष्टिकोण को एक सही दृष्टिकोण से समझा जा सकता है। फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त आत्म-अक्रियवाद की धारणा नैतिक सिद्धान्तों के स्थापन में तार्किक दृष्टि से उपर्युक्त नहीं ठहरती है।^२

यदि आत्मा अक्रिय है, वह किसी क्रिया का कर्ता नहीं है तो फिर वह शुभाशुभ कार्यों का उत्तरदायी भी नहीं माना जा सकता है। स्वयं प्रकृति भी चेतना एवं शुभाशुभ के विवेक के अभाव में उत्तरदायी नहीं बनती। इस प्रकार आत्म-अक्रियवाद के सिद्धान्त में उत्तरदायित्व की धारणा को अधिष्ठित नहीं किया जा सकता और उत्तरदायित्व के अभाव में नैतिकता, कर्तव्य, धर्म आदि का मूल्य शून्यवत् हो जाता है।

इस प्रकार आत्म-अक्रियतावाद सामान्य बुद्धि की दृष्टि से एवं नैतिक नियमों के स्थापन की दृष्टि से अनुपयोगी ठहरता है, फिर भी दार्शनिक दृष्टि से इसका कुछ मूल्य है क्योंकि स्वभावतया आत्मा को अक्रिय माने बिना मोक्ष एवं निर्वाण की व्याख्या सम्भव नहीं थी। यही कारण था कि आत्म-अक्रियतावाद या कूटस्थ-नित्य-आत्मवाद का प्रभाव दार्शनिक विचारणा पर बना रहा।

निष्क्रिय आत्म विकासवाद एवं नियतिवाद

आत्म अक्रियवाद या कूटस्थ-आत्मवाद की एक धारा नियतिवाद थी। यदि आत्मा अक्रिय है एवं कूटस्थ है तो पुरुषार्थवाद के द्वारा आत्म-विकास एवं निर्वाण-प्राप्ति की धारणा को नहीं समझाया जा सकता।

मक्खली पुत्र गौशालक-जो आजीवक सम्प्रदाय का प्रमुख था-पूर्ण कश्यप की आत्म-अक्रियतावाद की धारणा का तो समर्थक था लेकिन अक्रिय आत्मवाद के बंधन में आने के कारण एवं आत्म-विकास की परम्परा को व्यक्त करने में असमर्थ था। अतः निम्न योनि से आत्म-विकास की उच्चतम स्थिति निर्वाण को समझाने के लिये उसने निष्क्रिय आत्म-विकासवाद के सिद्धान्त को स्थापित किया। सामान्यतया उसके सिद्धान्त को नियतिवाद या अपुरुषार्थवाद किंवा भाग्यवाद कहा गया है, लेकिन मेरी दृष्टि में उसके सिद्धान्त को निष्क्रिय आत्म विकासवाद कहा जाना अधिक समुचित है।

ऐसा प्रतीत होता है गौशालक उस युग का चतुर व्यक्ति था, उसने अपने आजीवक सम्प्रदाय में पूर्ण कश्यप के सम्प्रदाय को भी शामिल कर लिया था। प्रारम्भ में उसने भगवान् महावीर के साथ अपनी साधना-पद्धति को प्रारम्भ किया था लेकिन उनसे वैचारिक मतभेद होने पर उसने पूर्ण कश्यप के सम्प्रदाय से मिलकर आजीवक सम्प्रदाय स्थापित कर लिया होगा।

जिसमें दर्शन एवं सिद्धान्त पूर्ण कश्यप की धारणाओं से-प्रभावित थे तो साधना मार्ग का बाल स्वरूप महावीर की साधना पद्धति से प्रभावित था।

बौद्ध आगम एवं जैनागम दोनों में ही उसकी विचारणा का कुछ स्वरूप प्राप्त होता है। यद्यपि उसका प्रस्तुतीकरण एक विरोधी पक्ष के द्वारा हुआ है यह तथ्य ध्यान में रखना होगा।

गौशालक की विचारणा का स्वरूप पालि आगम में निम्नानुसार है:-

.... हेतु के बिना.... प्राणी अपवित्र होता है, हेतु के बिना.... प्राणी शुद्ध होते हैं.... पुरुष की सामर्थ्य से कुछ नहीं होता.... सर्व सत्य सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव अवश, दुर्बल निर्वीर्य है, वे नियति (भाग्य), संगति एवं स्वभाव के कारण परिणित होते हैं....

इसके आगे उसकी नैतिकता की धारणा को पूर्ववत् प्रकार से भ्रष्टरूप में उपस्थित किया गया है, जो विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती।

उपर्युक्त आधार पर उसकी धारणा का सार यही है कि आत्मा निष्क्रिय है, अवीर्य है इसका विकास स्वभावतः होता रहता है। विभिन्न योनियों में होता हुआ यह जीवात्मा अपना विकास करता है और निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिक दृष्टि से वह व्यक्ति को अपनी स्थिति के अनुसार कर्तव्य करने का उपदेश देता था, अन्यथा वह स्वयं भी नग्न रहना आदि देह-दण्डन को क्यों स्वीकार करता? जिस प्रकार बाद में गीता में अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार कर्तव्य करने का उपदेश दिया गया था वर्तमान युग में भी ब्रेडले ने (My Station and its duties) समाज में अपनी स्थिति के अनुसार कर्तव्य करने के नैतिक सिद्धान्त को प्रतिपादित किया, उसी प्रकार वह छः अभिजातियों* (वर्गों) को उनकी स्थिति के अनुसार कर्तव्य करने का उपदेश देता होगा और यह मानता होगा कि आत्मा अपनी अभिजातियों के कर्तव्यों का पालन करते हुए स्वतः विकास की इस क्रमिक गति में स्वभावतः आगे बढ़ता रहता है।

पारमार्थिक दृष्टि से या तार्किक दृष्टि से नियतिवादी विचारणा का चाहे कुछ मूल्य रहा हो, लेकिन नैतिक विवेचना में नियतिवाद अधिक सफल नहीं हो पाया। नैतिक विवेचना में इच्छा-स्वातंत्र्य (Free-will) की धारणा आवश्यक है, जबकि नियतिवाद में उसका कोई स्थान नहीं रहता है। फिर दार्शनिक दृष्टि से भी नियतिवादी तथा स्वतः विकासवादी धारणाएँ निर्दोष हों, ऐसी बात भी नहीं हैं।

नित्यकूटस्थ-सूक्ष्म-आत्मवाद

बुद्ध का समकालीन एक विचारक पकुधकच्चायन आत्मा को नित्य और कूटस्थ (अक्रिय) मानने के साथ ही सूक्ष्म मानता था। ब्रह्मजालसुत्त के अनुसार उसका दृष्टिकोण इस प्रकार का था-

सात पदार्थ किसी के.... बने हुए नहीं हैं (नित्य हैं), वे तो बन्ध्य कूटस्थ.... अचल हैं।.... जो कोई तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का सिर काट डालता है, वह उसका प्राण नहीं लेता बस इतना ही समझना चाहिये कि सात पदार्थों के बीच अवकाश में उसका शस्त्र घुस गया है।

इस प्रकार इस धारणा के अनुसार आत्मा नित्य और कूटस्थ तो थी ही साथ ही वह सूक्ष्म और भी थी। पकुधकच्चायन की इस धारणा के तत्व उपनिषदों* तथा गीता* में भी पाये जाते हैं। उपनिषदों में आत्मा को जो, सरसों या चावल के दाने से सूक्ष्म माना गया है तथा गीता में उसे अक्केद्रय, अवलेहय कहा गया है।

सूक्ष्म आत्मवाद की धारणा भी दार्शनिक दृष्टि से अनेक दोषों से पूर्ण है। अतः वाद में इस धारणा में काफी परिष्कार हुआ है।

महावीर का आत्मवाद

यदि उपर्युक्त आत्मवादों का तार्किक वर्गीकरण किया जावे तो हम उसके छः वर्ग बना सकते हैं-

1. अनित्य आत्मवाद या उच्छेद आत्मवाद
2. नित्य आत्मवाद या शाश्वत आत्मवाद
3. कूटस्थ आत्मवाद या निष्क्रिय आत्मवाद एवं नियतिवाद
4. परिणामी आत्मवाद या कर्ता आत्मवाद या पुरुषार्थवाद
5. सूक्ष्म आत्मवाद
6. विभु आत्मवाद (यही बाद में उपनिषदों का सर्वात्मवाद या ब्रह्मवाद बना है।)

महावीर अनेकांतवादी थे, साथ ही वे इन विभिन्न आत्मवादों की दार्शनिक एवं नैतिक कमजोरियों को भी जानते रहे होंगे। अतः उन्होंने अपने आत्मवाद को इनमें से किसी भी एक सिद्धान्त के साथ नहीं बांधा। उनका आत्मवाद इनमें से किसी भी एक वर्ग के अन्तर्गत नहीं आता, वरन् उनका आत्मवाद इन सबका एक सुन्दर संयोजित समन्वय है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने वीतराग स्तोत्र में एकांत नित्य आत्मवाद और एकांत अनित्य आत्मवाद के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए बताया है कि वीतराग का दर्शन इन दोनों के दोषों से मुक्त है। विस्तारभय से यहाँ नित्य आत्मवाद और अनित्य आत्मवाद तथा कूटस्थ आत्मवाद और परिणामी आत्मवाद के दोषों की विवेचना में पड़कर हमें केवल यही देखना है कि महावीर ने इन विभिन्न आत्मवादों का किस रूप से समन्वय किया है-

1. **नित्यता** - आत्मा अपने अस्तित्व की दृष्टि से सदैव रहता है अर्थात् नित्य है। दूसरे शब्दों में आत्म तत्त्व रूप से नित्य है, शाश्वत है।
2. **अनित्यता** - आत्मा पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। आत्मा के एक समय में जो पर्याय रहते हैं, वे दूसरे समय में नहीं रहते हैं। आत्मा की अनित्यता व्यावहारिक दृष्टि से है, बद्धात्मा में ही पर्यायपरिवर्तन के कारण अनित्य का गुण रहता है।
3. **कूटस्थता** - स्वभाव की दृष्टि से आत्मा कर्ता या भोक्ता अथवा परिणमनशील नहीं है।
4. **परिणामीपन या कर्तृत्व** :- सभी बद्धात्माएँ कर्मों की कर्ता और भोक्ता हैं। यह एक आकस्मिक, गुण है, जो कर्म पुद्गलों के संयोग से उत्पन्न होता है।
5. **सूक्ष्मता तथा विभुता** - आत्मा संकोच एवं विकासशील है। आत्म-प्रदेश घनीभूत होकर इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि आगमिक दृष्टि से एक सूचिका भू-भाग पर असंख्य आत्मा सशरीर निवास कर सकती है। तलवार की सूक्ष्म तीक्ष्ण धार भी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के शरीर तक को नष्ट नहीं कर सकती। विभुता की दृष्टि से एक ही आत्मा के प्रदेश यदि प्रसारित हों तो समस्त लोक को व्याप्त कर सकते हैं।

संदर्भ -

1. मज्झिम निकाय 2/3/7
2. सुत्त निकाय 3/1/1
3. ये प्राचीनतम माने जाने वाले उपनिषद् महावीर के समकालीन ही हैं, क्योंकि महावीर के समकालीन अजातशत्रु का नाम निर्देश इनमें उपलब्ध हैं। बृहदा. 2/15-17
4. गीता अध्याय 3 श्लोक 27
5. गीता अध्याय 2 श्लोक 21
6. अंगुत्तरनिकाय का छक्कनिपात सुत्त तथा भगवान् बुद्ध, पृ. 185 धर्मानन्द कौशाम्बी
7. गोशातक की छः आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ हैं - 1. कृष्ण, 2. नील 3. लोहित 4. हरित 5. शुक्ल 6. परमशुक्ल तुलनीय जैनों का लेश्या सिद्धान्त - 1. कृष्ण 2. नील 3. कपोत 4. तेज 5. पद्म 6. शुक्ल
(विचारणीय तथ्य यह है कि गोशातक के अनुसार निर्ग्रन्थ साधु तीसरे लोहित नामक वर्ग में है, जबकि जैन धारणा भी उसे तेजो लेश्या (लोहित) वर्ग का साधन मानती है।)
8. छन्दोग्य उपनिषद् 3/14/3
बृहदारण्यक 5/6/1
कठोपनिषद् 2/4/12
9. गीता : अध्याय 2 श्लोक



पुद्गल तत्त्व और परमाणु

पुद्गल को भी अस्तिकाय द्रव्य एवं तत्त्व माना गया है। यह मूर्त और अचेतन तत्त्व है। पुद्गल का लक्षण शब्द, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि माना जाता है। इसके अतिरिक्त, जैन आचार्यों ने हल्कापन, भारीपन, प्रकाश, अंधकार, छाया, आतप, शब्द, बन्ध-सामर्थ्य, सूक्ष्मतत्त्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद आदि को भी पुद्गल का लक्षण माना है। (उत्तराध्ययन 28/127 एवं तत्त्वार्थ-5/23-24)। जहाँ धर्म, अधर्म और आकाश एक द्रव्य माने गये हैं, वहाँ पुद्गल अनेक द्रव्य हैं। जैन आचार्यों ने प्रत्येक परमाणु को एक स्वतन्त्र द्रव्य या इकाई माना है। वस्तुतः यह पुद्गल द्रव्य समस्त दृश्य जगत् का मूलभूत घटक है।

ज्ञातव्य है कि बौद्धदर्शन में और भगवती जैसे आगमों के प्राचीन अंशों में पुद्गल शब्द का प्रयोग जीव या चेतन तत्त्व के लिए भी हुआ है, किन्तु इसे पौद्गलिक शरीर की अपेक्षा से ही जानना चाहिए। यद्यपि बौद्ध-परम्परा में तो पुद्गल-प्रज्ञप्ति (पुग्गल पज्जति) नामक एक ग्रन्थ ही है, जो जीव के प्रकारों आदि की चर्चा करता है, फिर भी जीवों के लिए पुद्गल शब्द का प्रयोग मुख्यतः शरीर की अपेक्षा से ही देखा जाता है। परवर्ती जैन दार्शनिकों ने तो पुद्गल शब्द का प्रयोग स्पष्टतः भौतिक तत्त्व के लिए ही किया है और उसे ही दृश्य जगत् का कारण माना है, क्योंकि जैन-दर्शन में पुद्गल ही ऐसा तत्त्व है, जिसे मूर्त या इन्द्रियों की अनुभूति का विषय कहा गया है। वस्तुतः पुद्गल के उपरोक्त गुण ही उसे हमारी इन्द्रियों की अनुभूति का विषय बनाते हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन-दर्शन में प्राणीय-शरीर, यहाँ तक कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति का शरीर-रूप दृश्य स्वरूप भी पुद्गल का ही निर्मित है। विश्व में जो कुछ भी मूर्तिमान या इन्द्रिय-अनुभूति का विषय है, वह सब पुद्गल का खेल है। इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जहाँ जैन-दर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु-इन चारों को शरीर अपेक्षा पुद्गलरूप मानने के कारण इनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण- ये चारों गुण माने गये हैं। जबकि वैशेषिक आदि दर्शन मात्र पृथ्वी को ही उपर्युक्त चारों वर्णों से युक्त मानते हैं। वे

जल को गन्धरहित त्रिगुण वाला तेज को गन्ध और रसरहित मात्र द्विगुण वाला और वायु को मात्र एक स्पर्शगुणवाला मानते हैं। यहाँ एक विशेष तथ्य यह भी है- जहाँ अन्य दार्शनिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है, वहाँ जैन-दार्शनिकों ने शब्द को पुद्गल का ही गुण माना है। उनके अनुसार, आकाश का गुण तो मात्र अवगाह अर्थात् स्थान देना है।

यह दृश्य जगत् पुद्गल के ही विभिन्न संयोगों का विस्तार है, अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर स्कंध की रचना करते हैं और स्कंधों से ही मिलकर दृश्य जगत् की सभी वस्तुएँ निर्मित करती हैं। नवीन स्कंधों के निर्माण और पूर्व निर्मित स्कंधों के संगठन और विघटन की प्रक्रिया के माध्यम से ही दृश्य जगत् में परिवर्तन घटित होते हैं और विभिन्न वस्तुएँ और पदार्थ अस्तित्व में आते हैं।

जैन आचार्यों ने पुद्गल को स्कंध और परमाणु- इन दो रूपों में विवेचित किया है। विभिन्न परमाणुओं के संयोग से ही स्कंध बनता है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि पुद्गल-द्रव्य का अंतिम घटक तो परमाणु ही है। उसमें स्वभाव से एक रस, एक वर्ण, एक गंध और शीत-उष्ण या स्निग्ध-रुक्ष में से कोई दो स्पर्श पाये जाते हैं।

जैन आगमों में वर्ण पाँच माने गये हैं- लाल, पीला, नीला, सफेद और काला; गंध दो हैं- सुगन्ध और दुर्गन्ध; रस पाँच हैं- तिक्त, कटु, कसैला, खट्टा और मीठा और इसी प्रकार स्पर्श आठ माने गये हैं- शीत और उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष, मृदु और कर्कश तथा हल्का और भारी।

इस प्रकार, जैनदर्शन में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श-गुणों के बीच भेद माने गये हैं। पुनः जैन दर्शन इनमें से प्रत्येक में भी उनकी तरतमता (डिग्री या मात्रा) के आधार पर भेद करता है। उदाहरण के रूप में, वर्ण में लाल, काला आदि वर्ण हैं, किन्तु इनमें भी लालिमा और कालिमा के हल्के, तेज आदि अनेक स्तर देखे जाते हैं। लाल वर्ण एक गुण (डिग्री) लाल से लगाकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तगुण लाल हो सकता है। यही स्थिति काले आदि अन्य वर्णों की भी होगी। इसी प्रकार, रस में खट्टा, मीठा आदि रस भी एक ही प्रकार के नहीं होते हैं, उनमें भी तरतमता होती है। मिठास, खटास या सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि के भी अनेकानेक स्तर हैं। यही स्थिति उष्ण आदि स्पर्शों की है, जैन दार्शनिकों के अनुसार, उष्ण भी एक गुण (एक डिग्री) से लेकर संख्यात, असंख्यात या अनन्त गुण (डिग्री) की हो सकती है। इस प्रकार, जैन-दार्शनिकों ने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में प्रत्येक के अवान्तर भेद किये हैं तथा तरतमता या डिग्री के आधार पर उनके अनन्त भेद भी माने हैं। उनका यह दृष्टिकोण आज भी विज्ञानसम्मत है।

जैन-दार्शनिकों के अनुसार, शब्द भाषावर्गणा के पुद्गलों का एक विशिष्ट प्रकार का परिणाम है। निमित्त-भेद से उसके अनेक भेद माने जाते हैं। जो शब्द जीवों या प्राणियों से उत्पन्न होता है, वह प्रायोगिक है और जो किसी के प्रयत्न के बिना ही उत्पन्न होता है, वह वैस्त्रसिक है, जैसे-बादलों का गर्जन। प्रायोगिक शब्द के मुख्यतः निम्न छह प्रकार हैं - 1. भाषा-मनुष्य आदि की व्यक्त और पशु, पक्षी आदि की अव्यक्त- ऐसी अनेकविध भाषाएँ; 2. तत-चमड़े से लपेटे हुए वाद्यों अर्थात् मृदंग, पटह आदि का शब्द, 3. वित्त- तार वाले वीणा, सारंगी आदि वाद्यों के शब्द, 4. घन-झालर घंट आदि का शब्द; 5. शुषिर-फूँककर बजाये जाने वाले शंख, बाँसुरी आदि का शब्द और 6. संघर्ष- दो वस्तुओं के घर्षण से उत्पन्न किया गया शब्द।

इस प्रकार, परस्पर आश्लेषरूप बन्ध के भी प्रायोगिक और वैस्त्रसिक-ये दो भेद हैं। जीव और शरीर का बन्ध तथा लाख आदि की जोड़कर बनाई गई वस्तुओं का बन्ध प्रयत्नसापेक्ष होने से प्रायोगिक-बन्ध है। बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का बन्ध प्राणी के प्रयत्न-निरपेक्ष पौद्गलिक संश्लेष वैस्त्रसिक बन्ध है।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के भी अन्त्य तथा आपेक्षिक होने से ये दो-दो प्रकार के भेद हैं। जो सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व- दोनों एक ही वस्तु में अपेक्षा-भेद से घटित न हों, वे अन्त्य कहे जाते हैं और जो घटित हो, वे आपेक्षिक कहे जाते हैं। परमाणुओं का सूक्ष्मत्व और जगत्-व्यापी महास्कन्ध का स्थूलत्व अन्त्य है, क्योंकि अन्य पुद्गल की अपेक्षा परमाणुओं में स्थूलत्व और महास्कन्ध में सूक्ष्मत्व घटित नहीं होता। द्वयणुक आदि मध्यवर्ती स्कन्धों के सूक्ष्मत्व व स्थूलत्व-दोनों आपेक्षिक हैं, जैसे-आँवले का सूक्ष्मत्व और बिल्व का स्थूलत्व है सापेक्षिक है, आँवला बिल्व की अपेक्षा छोटा है, अतः सूक्ष्म है और बिल्व आँवले की अपेक्षा बड़ा है, अतः स्थूल है, परन्तु वही आँवला बेर की अपेक्षा स्थूल है और वही बिल्व या कृष्माण्ड की अपेक्षा सूक्ष्म है। प्रकार जैसे आपेक्षिक होने से एक ही वस्तु में सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व-दोनों विरुद्ध गुण-धर्म होते हैं, किन्तु अन्त्य सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व एक वस्तु में एक ही साथ नहीं होते हैं।

संस्थान इत्थत्व और अनित्यत्व-दो प्रकार का है। जिस आकार की किसी के साथ तुलना की जा सके वह इत्थंवरूप है और जिसकी तुलना न की जा सके, वह अनित्यत्वरूप है। मेघ आदि का संस्थान(रचना-विशेष) अनित्यत्वरूप है, क्योंकि अनियत होने से किसी एक प्रकार से उसका निरूपण नहीं किया जा सकता, जबकि अन्य पदार्थों का संस्थान इत्थंत्वरूप है, जैसे- गेंद, सिंघाड़ा, आदि गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, दीर्घ, पारिमण्डल (वलयाकार) आदि रूप में इत्थत्व रूप संस्थान के अनेक भेद हैं। स्कन्धरूप में परिणत पुद्गलपिण्ड का विश्लेषण (विभाग) होना भेद है।

इसके पाँच प्रकार हैं - 1. औत्करिक- चीरे या खोदे जाने पर होने वाले लकड़ी, पत्थर आदि के बड़े टुकड़े 2. चौर्णिक-कण-कण रूप में चूर्ण हो जाना, जैसे गेहूँ, जौ आदि का आटा 3. खण्ड-टुकड़े-टुकड़े होकर टूट जाना, जैसे- घड़े के कपालादि; 4. प्रतर-परतें या तहें निकलना, जैसे- भोजपत्र अभ्रक आदि; 5. अनुतट-छाल निकलना, जैसे- बाँस, ईख आदि।

इसी प्रकार तम अर्थात् अन्धकार, देखने में रुकावट डालने वाला, प्रकाश का विरोधी एक परिणाम-विशेष है।

छाया प्रकाश के ऊपर आवरण आ जाने से होती है। इसके दो प्रकार हैं- दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में पड़ने वाला मुखादि का प्रतिबिम्ब, ज्यों-का-त्यों दिखाई देता है और अन्य अस्वच्छ वस्तुओं पर पड़ने वाली परछाई प्रतिबिम्बरूप छाया है। सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश ताप आतप और चन्द्र, मणि, खद्योत आदि का अनुष्ण(शीतल) प्रकाश उद्योत है।

स्पर्श, वर्ण, गन्ध, रस, शब्द आदि सभी पर्यायें पुद्गल के कार्य होने से पौद्गलिक मानी गयी हैं। (तत्त्वार्थसूत्र, पं. सुखलाल जी, पृ.129-30)

ज्ञातव्य है कि पुद्गल में मृदु, कर्कश, हल्का और भारी-चार स्पर्श भी होते हैं। ये चार स्पर्श तभी संभव होते हैं, जब परमाणुओं से स्कंधों की रचना होती है और तभी उनमें मृदु, कठोर, हल्के और भारी गुण भी प्रकट हो जाते हैं। परमाणु एकप्रदेशी होता है, जबकि स्कंध में दो या दो से अधिक असंख्य प्रदेश तक भी हो सकते हैं। स्कंध, स्कंध-देश, स्कंध-प्रदेश और परमाणु-ये चार पुद्गल द्रव्य के विभाग हैं। इनमें परमाणु निरवयव है। आगम में उसे आदि, मध्य और अन्त से रहित बताया गया है, जबकि स्कंध में आदि और अन्त होते हैं। न केवल भौतिक वस्तुएँ, अपितु शरीर, इन्द्रियाँ और मन भी स्कंधों का ही खेल हैं।

स्कंधों के प्रकार

जैन-दर्शन में स्कंध के निम्न 6 प्रकार माने गये हैं-

1. **स्थूल**- स्थूल इस वर्ग के अन्तर्गत विश्व के समस्त ठोस पदार्थ आते हैं। इस वर्ग के स्कंधों की विशेषता यह है कि वे छिन्न-भिन्न होने पर मिलने में असमर्थ होते हैं, जैसे-पत्थर।
2. **स्थूल**- जो स्कंध छिन्न-भिन्न होने पर स्वयं आपस में मिल जाते हैं, वे स्थूल स्कंध कहे जाते हैं। इसके अन्तर्गत विश्व के तरल द्रव्य आते हैं, जैसे- पानी, तेल आदि।
3. **स्थूल-स्थूल**- जो पुद्गल-स्कन्ध छिन्न-भिन्न नहीं किये जा सकते हों, अथवा जिनका ग्रहण या लाना-ले जाना संभव नहीं हो, किन्तु जो चक्षु इन्द्रिय के

अनुभूति के विषय हों, वे स्थूल-सूक्ष्म या बादर-सूक्ष्म कहे जाते हैं, जैसे-प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि।

4. **सूक्ष्म-सूक्ष्म** - जो विषय दिखाई नहीं देते हैं, किन्तु हमारी ऐन्द्रिक-अनुभूति के विषय बनते हैं, जैसे-सुगन्ध, शब्द आदि। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विद्युत् धारा का प्रवाह और किन्तु अनुभूत अदृश्य गैस भी इस वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। जैन आचार्यों ने ध्वनि, तरंग आदि को भी इसी वर्ग के अन्तर्गत माना है। वर्तमान युग में इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों द्वारा चित्र आदि का सम्प्रेषण किया जाता है, उसे भी हम इसी वर्ग के अन्तर्गत रख सकते हैं।
5. **सूक्ष्म**- जो स्कन्ध इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते हों, वे इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। जैनाचार्यों ने कर्मवर्गणा, (जो जीवों के बन्धन का कारण है) मनोवर्गणा, भाषावर्गणा आदि को इसी वर्ग में माना है।
6. **अति सूक्ष्म**- द्वयणुक आदि अत्यन्त छोटे स्कन्ध अति सूक्ष्म माने गये हैं।

स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया

स्कन्ध की रचना दो प्रकार से होती है- एक ओर बड़े-बड़े स्कन्धों के टूटने से या छोटे-छोटे स्कन्धों के संयोग से नवीन स्कन्ध बनते हैं, तो दूसरी ओर परमाणुओं में निहित स्वाभाविक स्निग्धता और रूक्षता के कारण परस्पर बन्ध होता है, जिससे भी स्कन्धों की रचना होती है (संघातभेदेभ्यः उत्पद्यन्ते-तत्त्वार्थ 5/26)। संघात का तात्पर्य एकत्रित होना और भेद का तात्पर्य टूटना या अलग-अलग होना है। किस प्रकार के परमाणुओं के परस्पर मिलने से स्कन्ध आदि की रचना होती है- 'इस प्रश्न पर भी जैनाचार्यों ने विस्तृत चर्चा की है।

पौद्गलिक स्कन्ध की उत्पत्ति मात्र उसके अवयवभूत परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से नहीं होती है। इसके लिए उनकी कुछ विशिष्ट योग्यताएं भी अपेक्षित होती हैं। पारस्परिक संयोग के लिए उनमें स्निग्धत्व (चिकनापन), रूक्षत्व (रूखापन) आदि गुणों का होना भी आवश्यक है। जब स्निग्ध और रूक्ष परमाणु या स्कन्ध आपस में मिलते हैं, तब उनका बन्ध (एकत्वपरिणाम) होता है, इसी बन्ध से द्वयणुक आदि स्कन्ध बनते हैं।

स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं या स्कन्धों का संयोग सदृश और विसदृश-दो प्रकार का होता है। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्ध सदृश बन्ध है। स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध विसदृश-बन्ध है।

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, जिन परमाणुओं में स्निग्धत्व या रूक्षत्व का अंश जघन्य अर्थात् न्यूनतम हो, उन जघन्य गुण (डिग्री) वाले परमाणुओं का पारस्परिक बन्ध नहीं होता है। इससे यह भी फलित होता है कि मध्यम और उत्कृष्टसंख्यक

अंशों वाले स्निग्ध एवं रूक्ष सभी परमाणुओं या स्कन्धों का पारस्परिक बन्ध हो सकता है, परन्तु इसमें भी अपवाद है, तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार समान अंशों वाले स्निग्ध तथा रूक्ष परमाणुओं का स्कन्ध नहीं बनता। इस निषेध का फलितार्थ यह भी है कि असमान गुण वाले सदृश अवयवी स्कन्धों का बन्ध होता है। इस फलितार्थ का संकोच करके तत्त्वार्थसूत्र (5/35) में सदृश असमान अंशों की बन्धोपयोगी, मर्यादा नियत की गई है। तदनुसार, असमान अंशवाले सदृश अवयवों में भी जब एक अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो अंश, तीन अंश, चार अंश आदि अधिक हो, तभी उन दो सदृश अवयवों का बन्ध होता है, इसलिए यदि एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व केवल एक अंश अधिक हो, तो भी उन दो सदृश अवयवों का बन्ध नहीं होता है। उनमें कम से कम दो या दो से अधिक गुणों का अंतर होना चाहिए। पं. सुखलालजी लिखते हैं -

श्वेताम्बर और दिगम्बर - दोनों परम्पराओं में बन्ध सम्बन्धी प्रस्तुत तीनों सूत्रों में पाठभेद नहीं है, पर अर्थभेद अवश्य है। अर्थभेद की दृष्टि से ये तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं -

1. जघन्यगुण परमाणु एक अंश वाला हो, तब बन्ध का होना या न होना,
2. 'आदि' पद से तीन आदि अंश लिए जाए या नहीं और
3. बन्ध विधान केवल सदृश अवयवों के लिए माना जाए अथवा नहीं।

इस सम्बन्ध में पंडित जी आगे लिखते हैं-

1. तत्त्वार्थभाष्य और सिद्धसेनगणि की उसकी वृत्ति के अनुसार जब दोनों परमाणु जघन्य गुणवाले हों, तभी उनके बन्ध का निषेध है, अर्थात् एक परमाणु जघन्यगुण हो और दूसरा जघन्यगुण न हो, तभी उनका बन्ध होता है, परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार एक जघन्यगुण परमाणु का दूसरे अजघन्यगुण परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता।
2. तत्त्वार्थभाष्य और उसकी वृत्ति के अनुसार सूत्र के 35 'आदि' पद का तीन आदि अंश अर्थ लिया जाता है, अतएव उसमें किसी एक परमाणु से दूसरे परमाणु में स्निग्धत्व या रूक्षत्व के अंश दो, तीन, चार तथा बढ़ते-बढ़ते संख्यात, असंख्यात अनन्त अधिक होने पर भी बन्ध माना जाता है। केवल एक अंश अधिक होने पर ही बन्ध नहीं माना जाता है, परन्तु सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार केवल दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है, अर्थात् एक अंश की तरह तीन, चार, संख्यात् असंख्यात् अनन्त अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता।

3. भाष्य और वृत्ति के अनुसार दो, तीन आदि अंशों के अधिक होने पर बन्ध का विधान सदृश अवयवों पर ही लागू होता है, विसदृश पर नहीं, परन्तु दिगम्बर व्याख्याओं में वह विधान सदृश की भाँति विसदृश परमाणुओं के बन्ध पर भी लागू होता है।

इस अर्थभेद के कारण दोनों परम्पराओं में बन्ध विषयक जो विधि निषेध फलित होता है, वह इस प्रकार है -

भाष्य-वृत्त्यनुसार

गुण-अंश	सदृश	विसदृश
1. जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
2. जघन्य+एकाधिक	नहीं	है
3. जघन्य+द्वयधिक	है	है
4. जघन्य+त्र्यादि अधिक है	है	है
5. जघन्येतर+सम जघन्येतर	नहीं	है
6. जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
7. जघन्येतर+द्वयधिक जघन्येतर	है	है
8. जघन्येतर+त्र्यादि अधिक जघन्येतर	है	है

सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थों के अनुसार

गुण-अंश	सदृश	विसदृश
1. जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
2. जघन्य+एकाधिक	नहीं	नहीं
3. जघन्य+द्वयधिक	नहीं	नहीं
4. जघन्य+त्र्यादि अधिक है	नहीं	नहीं
5. जघन्येतर+सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
6. जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
7. जघन्येतर+द्वयधिक जघन्येतर	है	है
8. जघन्येतर+त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

इस बन्ध-विधान को स्पष्ट करते हुए अपनी तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या में पं. सुखलालजी लिखते हैं कि स्निग्धत्व और रुक्षत्व- दोनों स्पर्श-विशेष हैं। ये अपनी-अपनी जाति की अपेक्षा एक-एक रूप होने पर भी परिणामन की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। तरतमता यहाँ तक होती है कि निकृष्ट स्निग्धत्व और निकृष्ट रुक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रुक्षत्व के बीच अनन्तानन्त अंशों का अन्तर रहता है, जैसे- बकरी और ऊँटनी के दूध के

स्निग्धत्व में। स्निग्धत्व दोनों में ही होता है, परन्तु एक में अत्यल्प होता है और दूसरे में अत्यधिक। तरतमतावाले स्निग्धत्व और रूक्षत्व-परिणामों में जो परिणाम सबसे निकृष्ट अर्थात् अविभाज्य हो, उसे जघन्य अंश कहते हैं। जघन्य को छोड़कर शेष सभी जघन्येतर कहे जाते हैं। जघन्येतर में मध्यम और उत्कृष्ट संख्या आ जाती है। सबसे अधिक स्निग्धत्व परिणाम उत्कृष्ट है और जघन्य तथा उत्कृष्ट के बीच के सभी परिणाम मध्यम हैं। जघन्य स्निग्धत्व की अपेक्षा उत्कृष्ट स्निग्धत्व अनन्तानन्त गुणा अधिक होने से यदि जघन्य स्निग्धत्व को एक अंश कहा जाए, तो उत्कृष्ट स्निग्धत्व को अनन्तानन्त अंश परिमित मानना चाहिए। दो, तीन, यावत् संख्यात्, असंख्यात् और अनन्त से एक कम उत्कृष्ट तक के सभी अंश मध्यम हैं।

यहाँ सदृश का अर्थ है- स्निग्ध का स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्ध होना और विसदृश का अर्थ है- स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होना। एक अंश जघन्य है और उससे एक अधिक अर्थात् दो अंश एकाधिक हैं। दो अंश अधिक होने पर चतुरधिक यावत् अनन्तानन्त अधिक कहलाता है। सम अर्थात् दोनों के अंशों की संख्या समान हो, तब वह सम है। दो अंश जघन्येतर का सम जघन्येतर दो अंश है, दो अंश जघन्येतर का एकाधिक जघन्येतर तीन अंश है, दो अंश जघन्येतर का द्व्यधिक जघन्येतर चार अंश है, दो अंश जघन्येतर का त्र्यधिक जघन्येतर पाँच अंश है और चतुरधिक जघन्येतर छः अंश है। इसी प्रकार, तीन आदि से अनन्तांश जघन्येतर तक के सम, एकाधिक, द्व्यधिक और त्र्यादि जघन्येतर अंश होते हैं।

यहाँ यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि समांश स्थल में सदृश बन्ध तो होता ही नहीं, विदृश होता है, जैसे दो अंश स्निग्ध का दो अंश रूक्ष के साथ या तीन अंश स्निग्ध का तीन अंश रूक्ष के साथ। ऐसे स्थल में कोई एक सम दूसरे सम को अपने रूप में परिणत कर लेता है, अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार कभी स्निग्धत्व रूक्षत्व को स्निग्धत्व में बदल देता है और कभी रूक्षत्व स्निग्धत्व को रूक्षत्व में बदल देता है, परन्तु अधिकांश स्थल में अधिकांश ही हीनांश को अपने स्वरूप में बदल सकती है, जैसे पंचांश स्निग्धत्व तीन अंश स्निग्धत्व को अपने रूप में परिणत करता है, अर्थात् तीन अंश स्निग्धत्व भी पाँच अंश स्निग्धत्व के सम्बन्ध से पाँच अंश परिणत हो जाता है। इसी प्रकार, पाँच अंश स्निग्धत्व तीन अंश रूक्षत्व को भी स्वस्वरूप में मिला लेता है, अर्थात् रूक्षत्व स्निग्धत्व में बदल जाता है। रूक्षत्व अधिक हो, तो वह अपने से कम स्निग्धत्व को अपने रूप का बना लेता है। मेरे विचार में यहाँ यह भी सम्भव है कि दोनों के मिलन से अंशों की अपेक्षा कोई तीसरी अवस्था भी बन सकती है।

जैन-दर्शन में परमाणु

जैन दर्शन में परमाणु को पुद्गल का सबसे छोटा अविभागी अंश माना गया है। यथा “जंदव्वं अविभागी तं परमाणु वियाणेहि”², अर्थात् जो द्रव्य अविभागी है उसको निश्चय से परमाणु जानो। इसी तरह की परिभाषा डेमोक्रीटस ने भी दी है, जिसका उल्लेख पूर्व में कर आये हैं। परमाणु का लक्षण स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं -

अंतादि अंतमज्झं अंतंतं नेव इंदिए गेज्झं ।

जं अविभागी दव्वं तं परमाणुं पसंसंति ।। - नियमासार 29

अर्थात्, परमाणु का वही आदि, वही अंत तथा वही मध्य होता है। वह इंद्रियग्राह्य नहीं होता। वह सर्वथा अविभागी है- उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। ऐसे अविभागी द्रव्य को परमाणु कहते हैं। परमाणु सत् है, अतः अविनाशी है, साथ ही उत्पाद-व्यय-धर्मा, अर्थात् रासायनिक स्वभाव वाला भी है। इस तथ्य को वैज्ञानिकों ने भी माना है। वे भी परमाणु को रासायनिक परिवर्तन क्रिया में भाग लेने योग्य परिणामनशील मानते हैं। परमाणु जब अकेला- असम्बद्ध होता है, तब उसमें प्रतिक्षण स्वभावानुकूल पर्यायें या अवस्थाएँ होती रहती हैं तथा जब वह अन्य परमाणु से सम्बद्ध होकर स्कंध की दशांश रूप में होता, तब उसमें विभाव या स्वभावेतर पर्यायें भी द्रवित होती रहती हैं। इसी कारण ही उसे द्रव्य कहा जाता है। द्रव्य की व्युत्पत्ति का सम्यक् अर्थ यही है कि जो द्रवित अर्थात् परिवर्तित हो। परमाणु भी इसका अपवाद नहीं है।

परमाणु की उत्पत्ति

यहां परमाणु की उत्पत्ति का तात्पर्य उसका अस्तित्व में आने से नहीं, क्योंकि परमाणु सत् स्वरूप है। सत् की न तो उत्पत्ति होती है और न नाश। सत् तो सदाकाल अनादि-अनंत है, अतः वह अविनाशी है। यहां परमाणु की उत्पत्ति का तात्पर्य मिले हुए परमाणुओं के समूह से या स्कंधों से विखण्डित होकर परमाणु का आविर्भाव है। वस्तुतः परमाणुओं से स्कन्ध और स्कन्ध से परमाणु आविर्भूत होते रहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार “भेदादणुः” अर्थात् भेद से अणु प्रकट होता है, किन्तु यह भेद की प्रक्रिया तब तक होनी चाहिए, जब पुद्गल स्कंध एक प्रदेशी अंतिम इकाई के रूप में अविभाज्य न हो जाये। यह अविभाज्य परमाणु किसी भी इंद्रिय या अणुवीक्षण यंत्रादि से भी ग्राह्य (दृष्टिगोचर) नहीं होता है। जैन दर्शन में इसे केवल सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय माना गया है। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए प्रोफेसर जान पिल्ले लिखते हैं- वैज्ञानिक पहले अणु को ही पुद्गल का सबसे छोटा, अभेद्य अंश मानते थे, परन्तु जब उसके भी विभाग होने लगे, तो उन्होंने अपनी धारणा बदल दी और अणु को मालीक्यूल अर्थात् सूक्ष्म स्कन्ध नाम दिया तथा परमाणु को एटम

नाम दिया, किन्तु अब तो परमाणु के भी न्यूट्रान, प्रोटान और इलेक्ट्रान जैसे भेद कर दिये गये हैं, जिससे सिद्ध होता है कि आधुनिक वैज्ञानिकों का परमाणु अविभागी नहीं है। जैन-दर्शन तो ऐसे परमाणु को भी सूक्ष्म स्कन्ध ही कहता है। पुद्गल के समान परमाणु में भी वर्ण, रस, गंध, एक रस और मात्र दो स्पर्श शीत और उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक पाये जाते हैं।

जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने शब्द, अन्धकार, प्रकाश, छाया, गर्मी आदि को पुद्गल द्रव्य का ही पर्याय माना है। इस दृष्टि से जैन दर्शन का पुद्गल विचार आधुनिक विज्ञान के बहुत अधिक निकट है।

जैन दर्शन की ही ऐसी अनेक मान्यताएँ हैं, जो कुछ वर्षों तक अवैज्ञानिक व पूर्णतः काल्पनिक लगती थीं, किन्तु आज विज्ञान से प्रमाणित हो रही हैं। उदाहरण के रूप में, प्रकाश, अन्धकार, ताप, छाया, शब्द आदि पौद्गलिक हैं, जैन आगमों की इस मान्यता पर कोई विश्वास नहीं करता था, किन्तु आज उनकी पौद्गलिकता सिद्ध हो चुकी है। जैन-आगमों का कथन है कि शब्द न केवल पौद्गलिक है, अपितु वह ध्वनि रूप में उच्चरित होकर लोकान्त तक की यात्रा करता है, इस तथ्य को कल तक कोई भी स्वीकार नहीं करता था, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने अब इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक ध्वनि उच्चरित होने के बाद अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देती है और उसकी यह यात्रा, चाहे अत्यन्त सूक्ष्म रूप में क्यों न हो, लोकान्त तक होती है। जैनों की यह अवधारणा कि अवधिज्ञानी चर्म-चक्षु के द्वारा गृहीत नहीं हो रहे दूरस्थ विषयों का सीधा प्रत्यक्षीकरण कर लेता है- कुछ वर्षों पूर्व तक यह कपोलकल्पना ही लगती थी, किन्तु आज जब टेलीविजन का आविष्कार हो चुका है, यह बात बहुत आश्चर्यजनक नहीं रही है। जिस प्रकार से ध्वनि की यात्रा होती है, उसी प्रकार से प्रत्येक भौतिक पिण्ड से प्रकाश-किरणें परावर्तित होती हैं और वे भी ध्वनि के समान ही लोक में अपनी यात्रा करती हैं तथा प्रत्येक वस्तु या घटना का चित्र विश्व में संप्रेषित कर देती हैं।

आज यदि मानव मस्तिष्क में टेलीविजन सेट की ही तरह चित्रों को ग्रहण करने का सामर्थ्य विकसित हो जाये, तो दूरस्थ पदार्थों एवं घटनाओं के हस्तामलकवत् ज्ञान में कोई बाधा नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ से प्रकाश व छाया के रूप में जो किरणें परावर्तित हो रही हैं, वे तो हम सबके पास पहुँच ही रही हैं। आज यदि हमारे चैतन्य मस्तिष्क की ग्रहण-शक्ति विकसित हो जाए तो दूरस्थ विषयों का ज्ञान असम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन धार्मिक कहे जाने वाले साहित्य में भी बहुत कुछ ऐसा है, जो या तो आज विज्ञानसम्मत सिद्ध हो चुका है अथवा जिसके विज्ञान सम्मत सिद्ध होने की सम्भावना अभी पूर्णतः निरस्त नहीं हुई है। अनेक आगम-वचन या सूत्र ऐसे हैं, जो कल तक अवैज्ञानिक प्रतीत होते थे,

वे आज वैज्ञानिक सिद्ध हो रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं, इन सूत्रों की वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में जो व्याख्या की गयी, वह अधिक समीचीन प्रतीत होती है। उदाहरण के रूप में, परमाणुओं के पारस्परिक बन्धन से स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया को समझने हेतु तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय का एक सूत्र है- स्निग्धरूक्षत्वात् बन्धः। इसमें स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओं के एक-दूसरे से जुड़कर स्कन्ध बनाने की बात कही गयी है। सामान्य रूप से इसकी व्याख्या यह कहकर ही की जाती थी कि स्निग्ध (चिकने) एवं रुक्ष (खुरदरे) परमाणुओं में बन्ध होता है, किन्तु आज इस सूत्र की वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या होगी, तो स्निग्ध अर्थात् धनात्मक विद्युत् से आवेशित एवं रुक्ष अर्थात् ऋणात्मक विद्युत् से आवेशित सूक्ष्म-कण, जैन दर्शन की भाषा में परमाणु, मिलकर स्कन्ध (Molecule) का निर्माण करते हैं। इस प्रकार तो तत्त्वार्थसूत्र का यह सूत्र अधिक विज्ञानसम्मत प्रतीत होता है। प्रो. जी.आर. जैन ने अपनी पुस्तक Comology Old and New में इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है और इस सूत्र की वैज्ञानिकता को सिद्ध किया है।

जहाँ तक भौतिक तत्त्व के अस्तित्व एवं स्वरूप का प्रश्न है, वैज्ञानिकों एवं जैन आचार्यों में अधिक मतभेद नहीं है। परमाणु या पुद्गल कणों में जिस अनन्त शक्ति का निर्देश जैन आचार्यों ने किया था, वह अब आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों से सिद्ध हो रहा है। आधुनिक वैज्ञानिक इस तथ्य को सिद्ध कर चुके हैं कि एक परमाणु का विस्फोट भी कितनी अधिक शक्ति का सृजन कर सकता है। वैसे भी भौतिक पिण्ड या पुद्गल की अवधारणा को लेकर वैज्ञानिकों एवं जैन विचारकों में कोई अधिक मतभेद नहीं देखा जाता। परमाणुओं के द्वारा स्कन्ध (Molecule) की रचना का जैन सिद्धान्त कितना वैज्ञानिक है, इसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। विज्ञान जिसे परमाणु कहता था, वह अब टूट चुका है। वास्तविकता तो यह है कि विज्ञान ने जिसे परमाणु मान लिया था, वह परमाणु था ही नहीं, वह तो स्कन्ध ही था, क्योंकि जैनों की परमाणु की परिभाषा यह है कि जिसका विभाजन नहीं हो सके, ऐसा भौतिक तत्त्व परमाणु है। इस प्रकार, आज हम देखते हैं कि विज्ञान का तथाकथित परमाणु खण्डित हो चुका है, जबकि जैन दर्शन का परमाणु अभी वैज्ञानिकों की पकड़ में आ ही नहीं पाया है। वस्तुतः जैन दर्शन में जिसे परमाणु कहा जाता है, उसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने क्वार्क नाम दिया है और वे आज भी उसकी खोज में लगे हुए हैं। समकालीन भौतिकीविदों की क्वार्क की परिभाषा यह है कि जो विश्व का सरलतम और अन्तिम घटक है, वही क्वार्क है। आज भी क्वार्क को व्याख्यायित करने में वैज्ञानिक सफल नहीं हो पाए हैं। आधुनिक विज्ञान प्राचीन जैन अवधारणाओं को सम्पुष्ट करने में किसी प्रकार सहायक हुआ है कि उसका एक उदाहरण यह है कि जैन तत्त्व-मीमांसा में एक ओर

यह अवधारणा रही है कि एक पुद्गल-परमाणु जितनी जगह घेरता है- वह एक आकाश प्रदेश कहलाता है, दूसरे शब्दों में, एक आकाश-प्रदेश में एक परमाणु ही रह सकता है, किन्तु दूसरी ओर आगमों में यह भी उल्लेख है कि एक आकाश प्रदेश में अनन्त पुद्गल-परमाणु समा सकते हैं। इस विरोधाभास का सीधा समाधान हमारे पास नहीं था, लेकिन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व में कुछ ऐसे ठोस द्रव्य हैं, जिनका एक वर्ग इंच का वजन लगभग 8 सौ टन होता है। इससे यह भी फलित होता है कि जिन्हें हम ठोस समझते हैं, वे वस्तुतः कितने पोले हैं। अतः सूक्ष्म अवगाहन शक्ति के कारण यह संभव है कि एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणु भी समाहित हो जाएं।

जैन दर्शन का परमाणुवाद आधुनिक विज्ञान के कितना निकट है, इसका विस्तृत विवरण श्री उत्तमचन्द्र जैन ने अपने लेख 'जैन दर्शन का तात्त्विक पक्ष परमाणुवाद' में दिया है। हम यहाँ उनके मन्तव्य का कुछ अंश आंशिक परिवर्तन के साथ उद्धृत कर रहे हैं -

जैन परमाणुवाद और आधुनिक विज्ञान

जैन-दर्शन की परमाणुवाद पर आधारित निम्न घोषणाएँ आधुनिक विज्ञान के परीक्षणों द्वारा सत्य साबित हो चुकी हैं-

1. परमाणुओं के विभिन्न प्रकार के यौगिक, उनका विखण्डन एवं संलयन, विसरण, उनकी बंध, शक्ति, स्थिति, प्रभाव, स्वभाव, संख्या आदि का अतिसूक्ष्म वैज्ञानिक विवेचन जैन ग्रन्थों में विस्तृत रूप में उपलब्ध है।
2. पानी स्वतंत्र तत्त्व नहीं, अपितु पुद्गल की ही एक अवस्था है। यह वैज्ञानिक सत्य है कि जल यौगिक है।
3. शब्द आकाश का गुण नहीं, अपितु भाषावर्णारूप स्कंधों का अवस्थान्तर है, इसलिए यंत्रग्राह्य है।
4. विश्व किसी के द्वारा निर्मित नहीं, क्योंकि सत् की उत्पत्ति या विनाश संभव नहीं। सत् का लक्षण ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त होना है। पुद्गल निर्मित विश्व मिथ्या एवं असत् नहीं है, सत् स्वरूप है।
5. प्रकाश-अंधकार तथा छाया- ये पुद्गल की ही पृथक्-पृथक् पर्याय हैं। यंत्र ग्राह्य हैं। इनके स्वरूप की सिद्धि आधुनिक सिनेमा, फोटोग्राफी, कैमरा आदि द्वारा हो चुकी है।
6. आतप एवं उद्योत भी परमाणु एवं स्कंधों की ही पर्याय हैं, संग्रहणीय हैं।
7. जीव तथा पुद्गल के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक आने जाने में सहकारी अचेतन अमूर्तिक धर्म नामक द्रव्य है, जो सर्व जगत् में व्याप्त है। विज्ञानवेत्ताओं ने उसे ईश्वर नाम दिया है।

8. जीव और पुद्गलों की स्थिति (ठहरने) में अधर्म द्रव्य सहकारी है, जिसे अमूर्त, अचेतन एवं विश्वव्यापी बताया गया है। वैज्ञानिकों ने इसे गुरुत्वाकर्षण शक्ति नाम दिया है।
9. आकाश एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो समस्त द्रव्यों को अवकाश(स्थान) प्रदान करता है। विज्ञान की भाषा में इसे 'स्पेस' कहते हैं।
10. काल भी एक भिन्न स्वतंत्र द्रव्य है, जिसे भिन्नों ने 'फोर डाइमेन्शनल थ्योरी' के नाम से अभिहित किया है। समय को काल द्रव्य का ही एक पर्याय माना गया है। (देखिए-सम्मति सन्देश, फरवरी 67, पृष्ठ 24, प्रो. निहालचन्द्र)
11. वनस्पति एकेन्द्रिय जीव है, उसमें स्पर्श संबंधी ज्ञान होता है। स्पर्श-ज्ञान के कारण ही 'लाजवन्ती' नामक पौधा स्पर्श करते ही झुक जाता है। वनस्पति में प्राण-सिद्धि करने वाले प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु हैं। वनस्पति शास्त्र चेतनतत्त्व को प्रोटोप्लाज्म नाम देता है।
12. जैन दर्शन ने अनेकांत स्वरूप वस्तु के विवेचन की पद्धति 'स्याद्वाद' बताया, जिसे वैज्ञानिक आइंस्टीन ने सापेक्षवाद सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध किया है।
13. जैन दर्शन एक लोकव्यापी महास्कंध के अस्तित्व को भी मानता है, जिसके निमित्त से तीर्थंकरों के जन्म आदि की खबर जगत् में सर्वत्र फैल जाती है, यह तथ्य आज टेलीपैथी के रूप में मान्य है।
14. पुद्गल को शक्ति रूप में परिवर्तित किया जा सकता है परन्तु मैटर और उसकी शक्ति को अलग नहीं किया जा सकता।
15. इंद्रिय, शरीर, भाषा आदि 6 प्रकार की पर्याप्तियों का वर्णन आधुनिक जीवनशास्त्र में कोशिकाओं और तन्तुओं के रूप में है।
16. जीव विज्ञान तथा वनस्पति विज्ञान का जैन वर्गीकरण-आधुनिक जीवनशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र द्वारा आंशिक रूप में स्वीकृत हो चुका है।
17. तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित सूर्य, तारा, नक्षत्र आदि की आयु प्रकार, अवस्थाएँ आदि का सूक्ष्म वर्णन आधुनिक सौर्य जगत् के अध्ययन से आंशिक रूप में प्रमाणित होता है, यद्यपि कुछ अन्तर भी है।

प्रयोग से प्राप्त सत्य की तरह चिन्तन से प्राप्त सत्य स्थूल आकार में सामने नहीं आता, अतः साधारणतया जनता की श्रद्धा को अपनी ओर आकृष्ट करना विज्ञान के लिए जितना सहज है, दर्शन के लिए उतना नहीं। इतना होने पर भी दोनों कितने नजदीक हैं- यह देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है।

श्री उत्तमचन्द्र जैन की उपरोक्त तुलना का निष्कर्ष यही है कि जैन-दर्शन का परमाणुवाद आज विज्ञान के अति निकट है। आज आवश्यकता है, हम अपनी आगमिक-मान्यताओं का वैज्ञानिक-विश्लेषण कर उनकी सत्यता का परीक्षण करें।



जैन तत्त्वमीमांसा और आधुनिक विज्ञान

यह सत्य है कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति के परिणामस्वरूप विभिन्न धर्मों और दर्शनों की लोक के स्वरूप एवं सृष्टि सम्बन्धी तथा खगोल-भूगोल सम्बन्धी अनेक प्राचीन मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लग गये हैं इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ प्रबुद्धजनों ने वैज्ञानिक मान्यताओं को चरम सत्य स्वीकार करके विविध धर्मों की परम्परागत मान्यताओं को काल्पनिक एवं अप्रामाणिक बताना प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप अनेक धर्मानुयायियों की श्रद्धा को ठेस पहुँची और आप्त-पुरुषों के वचन या सर्वज्ञ के कथन में अथवा आगमों के आप्तप्रणीत होने में उन्हें संदेह होने लगा। इस सम्बन्ध में अनेक पत्र-पत्रिकाओं में गवेषणापरक लेखों के माध्यम से पर्याप्त उदाहरण भी हुआ और दोनों पक्षों ने अपनी बात को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया। विशेष रूप से यह बात तब अधिक विवादास्पद विषय बन गई, जब पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा की सफल यात्रा कर ली और उस सम्बन्ध में अनेक ऐसे ठोस प्रमाण प्रस्तुत कर दिए, जो विभिन्न धर्मों की खगोल-भूगोल सम्बन्धी मान्यताओं के विरोध में जाते हैं।

यह सत्य है कि विज्ञान के माध्यम से धर्म के क्षेत्र में अन्धविश्वास एवं मिथ्याधारणाएं समाप्त हुई हैं, किन्तु जो लोग वैज्ञानिक निष्कर्षों को चरम सत्य मानकर धर्म व दर्शन के निष्कर्षों पर और उनकी उपयोगिता पर चिह्न लगा रहे हैं, वे भी किसी भ्रान्ति में हैं। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि कालक्रम में पूर्ववर्ती अनेक वैज्ञानिक धारणाएं अवैज्ञानिक बन चुकी हैं। न तो विज्ञान और न प्रबुद्ध वैज्ञानिक इस बात का दावा करते हैं; कि हमारे जो निष्कर्ष हैं, वे अन्तिम सत्य हैं। जैसे-जैसे वैज्ञानिक ज्ञान में प्रगति हो रही है, वैसे-वैसे वैज्ञानिकों की ही पूर्व स्थापित मान्यताएं निरस्त होकर नवीन-नवीन निष्कर्ष एवं मान्यताएं सामने आ रही हैं, अतः आज न तो विज्ञान से भयभीत होने की आवश्यकता है और न पूर्ववर्ती मान्यताओं को पूर्णतः निरर्थक या काल्पनिक कहकर अस्वीकार कर देने में कोई औचित्य है। उचित यही है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जो मान्यताएं निर्विवाद रूप से विज्ञानसम्मत सिद्ध हो रही हैं, उन्हें स्वीकार कर लिया जाए, शेष को भावी वैज्ञानिक परीक्षणों के लिए परिकल्पना के रूप में मान्य किया जाए क्योंकि धर्मग्रन्थों में

उल्लेखित जो घटनाएँ एवं मान्यताएँ कुछ वर्षों पूर्व तक कपोल-कल्पित लगती थीं, वे आज विज्ञानसम्मत सिद्ध हो रही हैं। सौ वर्ष पूर्व धर्मग्रन्थों में उल्लेखित आकाशगामी विमानों की बात अथवा दूरस्थ ध्वनियों को सुन पाने और दूरस्थ घटनाओं को देख पाने की बात काल्पनिक लगती थी, किन्तु आज वे यथार्थ बन चुकी हैं।

जैनधर्म की ही ऐसी अनेक मान्यताएँ हैं, जो कुछ वर्षों पूर्व तक अवैज्ञानिक व पूर्णतः काल्पनिक लगती थीं, आज विज्ञान से प्रमाणित हो रही हैं। उदाहरण के रूप में, प्रकाश, अन्धकार, ताप, छाया और शब्द आदि पौद्गलिक हैं- जैन आगमों की इस मान्यता पर कोई विश्वास नहीं करता था, किन्तु आज उनकी पौद्गलिकता सिद्ध हो चुकी है। जैन-आगमों का यह कथन है कि शब्द न केवल पौद्गलिक है, अपितु वह ध्वनि रूप में उच्चरित होकर लोकान्त तक की यात्रा करता है- इस तथ्य को कल तक कोई भी स्वीकार नहीं करता था, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने अब इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक ध्वनि उच्चरित होने के बाद अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देती है और उसकी यह यात्रा, चाहे अत्यन्त क्षीण रूप में ही क्यों न हो, लोकान्त तक होती है। जैनों की केवलज्ञान सम्बन्धी यह अवधारणा कि केवली या सर्वज्ञ समस्त लोक के पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष रूप से जानता है, अथवा अवधिज्ञान सम्बन्धी यह अवधारणा कि-अवधिज्ञानी चर्म-चक्षु के द्वारा गृहीत नहीं हो रहे दूरस्थ विषयों का सीधा प्रत्यक्षीकरण कर लेता है- कुछ वर्षों पूर्व तक यह सब कपोलकल्पना ही लगती थी, किन्तु आज सब टेलीविजन का आविष्कार हो चुका है, यह बात बहुत आश्चर्यजनक नहीं रही है। जिस प्रकार से ध्वनि की यात्रा होती है, उसी प्रकार से प्रत्येक भौतिक पिण्ड से प्रकाश-किरणें परावर्तित होती हैं, और वे भी ध्वनि के समान ही लोक में अपनी यात्रा करती हैं, तथा प्रत्येक वस्तु या घटना का चित्र विश्व में संप्रेषित कर देती है। आज यदि मानव-मस्तिष्क में टेलीविजन सेट की ही तरह चित्रों को ग्रहण करने की सामर्थ्य विकसित हो जाएँ, तो दूरस्थ पदार्थों एवं घटनाओं के हस्तामलकवत् ज्ञान में कोई बाधा नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ से प्रकाश व छाया के रूप में जो किरणें परावर्तित हो रही हैं, वे तो हम सबके पास पहुँच ही रही हैं। आज यदि हमारे चैतन्य मस्तिष्क की ग्रहण-सामर्थ्य विकसित हो जाय, तो दूरस्थ विषयों का ज्ञान असम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन धार्मिक कहे जाने वाले साहित्य में भी बहुत-कुछ ऐसा है, जो या तो आज विज्ञानसम्मत सिद्ध हो चुका है, अथवा जिसके विज्ञानसम्मत सिद्ध होने की सम्भावना अभी पूर्णतः निरस्त नहीं हुई है।

अनेक आगम-वचन या सूत्र ऐसे हैं, जो कल तक अवैज्ञानिक प्रतीत होते थे, वे आज वैज्ञानिक प्रतीत हो रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं, इन सूत्रों की जो वैज्ञानिक व्याख्या की गयी, वह अधिक समीचीन प्रतीत होती है उदाहरण के रूप में परमाणुओं के पारस्परिक-बन्धन से स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया को समझाने हेतु तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय का एक सूत्र आता है- स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। इसमें स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं के एक-दूसरे से जुड़कर स्कन्ध बनाने की बात कही गयी है। सामान्य रूप से इसकी व्याख्या यह कहकर ही की जाती थी कि स्निग्ध (चिकने) एवं रूक्ष (खुरदुरे) परमाणु में बन्ध होता है, किन्तु आज जब हम इस सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं कि स्निग्ध अर्थात् धनात्मक विद्युत् से आवेशित एवं रूक्ष अर्थात् ऋणात्मक विद्युत् से आवेशित सूक्ष्म-कण-जैन-दर्शन की भाषा में परमाणु परस्पर मिलकर स्कन्ध का निर्माण करते हैं, तो तत्त्वार्थसूत्र का यह सूत्र अधिक विज्ञानसम्मत प्रतीत होता है। इसी प्रकार, आचारांगसूत्र में वानस्पतिक जीवन की प्राणीय-जीवन से जो तुलना की गई है, वह आज अधिक विज्ञानसम्मत सिद्ध हो रही है। आचारांग का यह कथन है कि वानस्पतिक-जगत् में उसी प्रकार की संवेदनशीलता है, जैसी प्राणी-जगत् में-इस तथ्य को सामान्यतया पाश्चात्य वैज्ञानिकों की आधुनिक खोजों के पूर्व सत्य नहीं माना जाता था, किन्तु सर जगदीशचन्द्र बसु और अन्य जैव-वैज्ञानिकों ने अब इस तथ्य की पुष्टि कर दी है कि वनस्पति में प्राणी जगत् की तरह ही संवेदनशीलता है, अतः आज आचारांग का कथन विज्ञानसम्मत सिद्ध होता है।

हमें यह बात ध्यान में रखना है कि न तो विज्ञान धर्म का शत्रु है और न धार्मिक आस्थाओं को खण्डित करना ही उसका उद्देश्य है, यह जिसे खण्डित करता है, वे हमारे तथाकथित धार्मिक अन्धविश्वास होते हैं, साथ ही हमें यह भी समझना चाहिये कि वैज्ञानिक खोजों के परिणामस्वरूप अनेक धार्मिक अवधारणाएं पुष्ट हो गई हैं। अनेक धार्मिक आचार-नियम, जो केवल हमारी शास्त्र के प्रति श्रद्धा के बल पर टिके थे, अब उनकी वैज्ञानिक उपयोगिता सिद्ध हो रही हैं।

जैन-परम्परा में रात्रि-भोजन का निषेध एक सामान्य नियम है, चाहे परम्परागत रूप में रात्रि-भोजन के साथ हिंसा की बात जुड़ी हो, किन्तु आज रात्रि भोजन का निषेध मात्र हिंसा-अहिंसा के आधार पर स्थित न होकर जीव-विज्ञान, चिकित्साशास्त्र और आहारशास्त्र की दृष्टि से अधिक विज्ञानसम्मत सिद्ध हो रहा है। सूर्य के प्रकाश में, भोजन के विषाणुओं को नष्ट करने की तथा शरीर में भोजन को पचाने की जो सामर्थ्य होती है, वह रात्रि के अन्धकार में नहीं होती- यह बात विज्ञानसम्मत सिद्ध हो चुकी है। इसी प्रकार, सूर्यास्त के बाद भोजन चिकित्साशास्त्र

की दृष्टि से भी अनुचित माना जाने लगा है। चिकित्सकों ने बताया है कि रात्रि में भोजन के बाद अपेक्षित मात्रा में पानी न ग्रहण करने से भोजन का परिपाक सम्यक् रूप से नहीं होता है। यदि व्यक्ति जल की सम्यक् मात्रा का ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसे बार-बार मूत्र-त्याग के लिए उठना होता है, फलस्वरूप निद्रा भंग होती है। नींद पूरी न होने के कारण वह सुबह देरी से उठता है और इस प्रकार न केवल उसकी प्रातःकालीन दिनचर्या अस्त-व्यस्त होती है, अपितु वह अपने शरीर को भी अनेक विकृतियों का घर बना लेता है।

जैनों में सामान्य रूप से अवधारणा थी कि वे अन्नकण, जो अंकुरित हो रहे हैं अथवा किसी वृक्ष आदि का वह हिस्सा, जहाँ अंकुरण हो रहा है, वे अनन्तकाय है और अनन्तकाय का भक्षण अधिक पापकारी है। आज तक यह एक साधारण सिद्धान्त लगता था, किन्तु आज वैज्ञानिक गवेषणा के आधार पर यह सिद्ध हो रहा है कि जहाँ भी जीवन के विकास की सम्भावनाएँ हैं, उसके भक्षण या हिंसा से अनन्त जीवों की हिंसा होती है, क्योंकि जीवन के विकास की वह प्रक्रिया कितने जीवों को जन्म देगी-यह बता पाना भी सम्भव नहीं है, यदि हम उसकी हिंसा करते हैं, जो जीवन की जो नवीन सत्तुधारा चलने वाली थी, उसे ही हम बीच में अवरुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार, अनन्त जीवन के विनाश के कर्ता सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार, मानव का स्वाभाविक आहार शाकाहार है, मांसाहार एवं अण्डे आदि के सेवन से कौन-से रोगों की उत्पत्ति होती है आदि तथ्यों की-प्रामाणिक जानकारी आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के द्वारा ही सम्भव हुई है। आज वैज्ञानिकों और चिकित्साशास्त्रियों ने अपनी खोजों के माध्यम से मांसाहार के दोषों की जो विस्तृत विवेचनाएँ की हैं, वे सब जैन आचारशास्त्र कितना वैज्ञानिक है- इसकी ही पुष्टि करते हैं।

इसी प्रकार, पर्यावरण की शुद्धि के लिए जैन-परम्परा में वनस्पति, जल आदि के अनावश्यक दोहन पर जो प्रतिबन्ध लगाया गया है, वह आज कितना सार्थक है, यह बात आज हम बिना वैज्ञानिक खोजों के नहीं समझ सकते। पर्यावरण के महत्त्व के लिए और उसे दूषित होने से बचाने के लिए जैन आचारशास्त्र की भूमिका कितनी महत्वपूर्ण है, इसकी पुष्टि आज वैज्ञानिक खोजों के माध्यम से ही सम्भव हो सकी है। आज वैज्ञानिक ज्ञान के परिणामस्वरूप हम धार्मिक आचार-सम्बन्धी अनेक मान्यताओं का सम्यक् मूल्यांकन कर सकते हैं और इस प्रकार विज्ञान की खोज धर्म के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। जैन धर्म एवं दर्शन की जो बातें कल तक अवैज्ञानिक-सी लगती थीं, आज वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप सत्य सिद्ध

हो रही हैं, अतः विज्ञान को धर्म व दर्शन का विरोधी न मानकर उसका सम्पूर्ण ही मानना होगा। आज जब हम जैन-तत्त्वमीमांसा, जैवविज्ञान और आचारशास्त्र की आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा करते हैं, तो हम यही पाते हैं कि विज्ञान ने जैन-अवधारणाओं की पुष्टि ही की है।

वैज्ञानिक खोजों के परिणामस्वरूप जो सर्वाधिक प्रश्न-चिह्न लगे हैं, वे जैन धर्म की खगोल व भूगोल-सम्बन्धी मान्यताओं पर हैं। यह सत्य है कि खगोल व भूगोल सम्बन्धी जैन अवधारणाएं आज की वैज्ञानिक खोजों से भिन्न पड़ती हैं और आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में उनका समीकरण बैठा पाना भी कठिन है। यहाँ सबसे पहला प्रश्न यह है कि क्या जैन-खगोल व भूगोल सर्वज्ञ प्रणीत है या या सर्वज्ञ की वाणी है? इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार की आवश्यकता है।

सर्वप्रथम तो हमें जान लेना चाहिए कि जैन खगोल व भूगोल संबंधी विवरण स्थानांग, समवायांग, एवं भगवती को छोड़कर अन्य अंग-आगमों में कहीं भी उल्लेखित नहीं है। स्थानांग और समवायांग में भी वे सुव्यवस्थित रूप में प्रतिपादित नहीं हैं, मात्र संख्या के संदर्भ-क्रम में उनकी सम्बन्धित संख्याओं का उल्लेख कर दिया गया है। वैसे भी जहाँ तक विद्वानों का प्रश्न है, व इन्हें संकलनात्मक एवं अपेक्षाकृत परवर्ती ग्रन्थ मानते हैं, साथ ही यह भी मानते हैं कि इनमें समय-समय पर सामग्री प्रक्षिप्त होती रही है, अतः उनका वर्तमान स्वरूप पूर्णतः जिन-प्रणीत नहीं कहा जा सकता है। जैन खगोल व भूगोल सम्बन्धी जो अवधारणाएं उपलब्ध हैं, उनका आगमिक आधार चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति एवं जम्बूद्वीप्रज्ञप्ति है, जिन्हें वर्तमान में उपांग के रूप में मान्य किया जाता है, किन्तु नन्दीसूत्र की सूची के अनुसार ये ग्रन्थ आवश्यक व्यतिरिक्त अंग बाह्य आगमों में परिगणित किये जाते हैं। परम्परागत दृष्टि से अंग-बाह्य आगमों के उपदेष्टा एवं रचयिता जिन न होकर स्थविर ही माने गये हैं और इससे यह फलित होता है कि ये ग्रन्थ सर्वज्ञ प्रणीत न होकर छद्मस्थ जैन आचार्यों द्वारा प्रणीत हैं, अतः यदि इनमें प्रतिपादित तथ्य आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल जाते हैं, तो उससे सर्वज्ञ की सर्वज्ञता पर आँच नहीं आती है। हमें इस भय का परित्याग कर देना चाहिए कि यदि हम खगोल एवं भूगोल के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक-गवेषणाओं को मान्य करेंगे, तो उससे जिन की सर्वज्ञता पर कोई आंच आयेगी। यहाँ पर यह भी स्मरण रहे कि सर्वज्ञ या जिन केवल उपदेश देते हैं, ग्रन्थ-लेखन का कार्य तो उनके गणधर या अन्य स्थविर आचार्य ही करते हैं, साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सर्वज्ञ के लिए उपदेश का विषय तो अध्यात्म व आचारशास्त्र ही होता है, खगोल व भूगोल उनके मूल प्रतिपाद्य नहीं हैं। खगोल व भूगोल-सम्बन्धी जो अवधारणाएं जैन-परम्परा में मिलती हैं, वे थोड़े

अन्तर के साथ समकालिक बौद्ध एवं हिन्दू परम्परा में भी पायी जाती है, अतः यह मानना ही उचित होगा कि खगोल एवं भूगोल सम्बन्धी जैन-मान्यताएँ आज यदि विज्ञान-सम्मत सिद्ध नहीं होती हैं, तो उससे न तो सर्वज्ञ की सर्वज्ञता पर आँच आती है और न जैन धर्म की अध्यात्मशास्त्रीय, तत्त्वमीमांसीय एवं आचारशास्त्रीय-अवधारणाओं पर कोई खरोंच आती है। सूर्यप्रज्ञप्ति जैस ग्रन्थ जिसमें जैन-आचारशास्त्र और उसकी अहिंसक निष्ठा के विरुद्ध प्रतिपादन पाये जाते हैं, किसी भी स्थिति में सर्वज्ञ-प्रणीत नहीं माना जा सकता है। जो लोग खगोल-भूगोल सम्बन्धी वैज्ञानिक तथ्यों को केवल इसलिए स्वीकार करने से कतराते हैं कि इससे सर्वज्ञ की अवहेलना होगी, वे वस्तुतः जैसे आध्यात्मशास्त्र के रहस्यों से य तो अनभिज्ञ हैं, या उनकी अनुभूति से रहित है, क्योंकि हमें सर्वप्रथम तो यह स्मरण रखना होगा कि जो आत्म-द्रष्टा सर्वज्ञ प्रणीत हैं ही नहीं, उसके अमान्य होने से सर्वज्ञ की सर्वज्ञता कैसे खण्डित हो सकती है? आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि सर्वज्ञ आत्मा को जानता है- यही यथार्थ/सत्य है। सर्वज्ञ बाह्य-जगत् को जानता है- यह केवल व्यवहार है। भगवतीसूत्र का यह कथन भी कि 'केवली सिय जाणइ सिय ण जाणइ'-इस सत्य को उद्धाटित करता है कि सर्वज्ञ आत्मद्रष्टा होता है। वस्तुतः सर्वज्ञ का उपदेश भी आत्मानुभूति और आत्म-विशुद्धि के लिए होता है। जिन साधनों से हम शुद्धात्मा की अनुभूति कर सकें, आत्मशुद्धि या आत्मविमुक्ति को उपलब्ध कर सकें, वही सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपाद्य है।

यह सत्य है कि आगमों के रूप में हमारे पास जो कुछ उपलब्ध है, उसमें जिन वचन भी संकलित हैं और यह भी सत्य है कि आगमों का और उनमें उपलब्ध सामग्री का जैनधर्म, प्राकृत-साहित्य और भारतीय-इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्त्व है, फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आगमों के नाम पर हमारे पास जो कुछ उपलब्ध है, उसमें पर्याप्त विस्मरण, परिवर्तन, परिवर्द्धन और प्रक्षेपण भी हुआ है, अतः इस तथ्य को स्वयं अन्तिम वाचनाकार देवर्द्धि ने भी स्वीकार किया है। अतः आगम-वचनों में कितना अंश जिन-वचन हैं- इस सम्बन्ध में पर्याप्त समीक्षा, सतर्कता और सावधानी आवश्यक है।

आज दो प्रकार की अतियों देखने में आती हैं- एक अति यह है कि चाहे पन्द्रहवीं शती के लेखक ने महावीर-गौतम के संवाद के रूप में किसी ग्रन्थ की रचना की हो उसे भी बिना समीक्षा के जिन-वचन के रूप में मान्य किया जा रहा है और उसे ही चरम सत्य माना जाता है, दूसरी ओर, सम्पूर्ण आगम-साहित्य को अन्धविश्वास कहकर नकारा जा रहा है। आज आवश्यकता है नीर-क्षीर-बुद्धि से आगम-वचनों की समीक्षा करके मध्यम मार्ग अपनाने की।

आज न तो विज्ञान ही चरम सत्य है और न आगम के नाम पर जो कुछ है, वही चरम सत्य है। आज न तो आगमों को नकारने से कुछ होगा और न वैज्ञानिक सत्तों को नकारने से। विज्ञान और आगम के सन्दर्भ में आज एक तटस्थ समीक्षक-बुद्धि की आवश्यकता है।

जैन-सृष्टिशास्त्र और जैन खगोल-भूगोल में भी, जहाँ तक सृष्टिशास्त्र का सम्बन्ध है, वह आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणाओं के साथ एक सीमा तक संगति रखता है। जैन सृष्टिशास्त्र के अनुसार, सर्वप्रथम इस जगत् को अनादि और अनन्त माना गया है, किन्तु उसमें जगत् की अनादि-अनन्तता उसके प्रवाह की दृष्टि से है। इसे अनादि-अनन्त इसलिए कहा जाता है कि कोई भी काल ऐसा नहीं था, जब सृष्टि नहीं थी या नहीं होगी। प्रवाह की दृष्टि से जगत् अनादि-अनन्त होते हुए भी इसमें प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश अर्थात् सृष्टि और प्रलय का क्रम भी चलता रहता है, दूसरे शब्दों में यह जगत् अपने प्रवाह की अपेक्षा से शाश्वत होते हुए भी इसमें सृष्टि एवं प्रलय होते रहते हैं, क्योंकि जो भी उत्पन्न होता है, उसका विनाश अपरिहार्य है। फिर भी, उसका सृष्टि या कर्त्ता कोई भी नहीं है। यह सब प्राकृतिक नियम से ही शासित है। यदि वैज्ञानिक-दृष्टि से इस पर विचार करें, तो विज्ञान को भी इस तथ्य को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि यह विश्व अपने मूल तत्त्व या मूल घटक की दृष्टि से अनादि-अनन्त होते हुए भी इसमें सृजन और विनाश की प्रक्रिया सत् रूप से चल रही है। यहाँ तक विज्ञान व जैनदर्शन-दोनों साथ जाते हैं। दोनों इस संबंध में भी एक मत हैं कि जगत् का कोई सृष्टि नहीं है और यह प्राकृतिक नियम से शासित है, साथ ही अनन्त विश्व में सृष्टि-लोक की सीमितता जैन-दर्शन एवं विज्ञान-दोनों को मान्य है। इन मूल-भूत अवधारणाओं में साम्यता के होते हुए भी जब हम इनमें विस्तार में जाते हैं, तो हमें जैन आगमिक मान्यताओं एवं आधुनिक विज्ञान-दोनों में पर्याप्त अन्तर भी प्रतीत होता है।

अधोलोक, मध्यलोक एवं स्वर्ग लोक की कल्पना लगभग सभी धर्म-दर्शनों में उपलब्ध होती है, किन्तु आधुनिक विज्ञान के द्वारा खगोल का जो विवरण प्रस्तुत किया जाता है, उसमें इस प्रकार की कोई कल्पना नहीं है। वह यह भी नहीं मानता है कि पृथ्वी के नीचे नरक व ऊपर स्वर्ग है। आधुनिक खगोल-विज्ञान के अनुसार, इस विश्व में असंख्य सौरमण्डल हैं और प्रत्येक सौरमण्डल में अनेक ग्रह-नक्षत्र व पृथ्वियाँ हैं। असंख्य सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र की अवधारणा जैन-परम्परा में भी मान्य है। यद्यपि आज तक विज्ञान यह सिद्ध नहीं कर पाया है कि पृथ्वी के अतिरिक्त किन ग्रह-नक्षत्रों पर जीवन पाया जाता है, किन्तु उसने इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया कि इस ब्रह्माण्ड में अनेक ऐसे ग्रह-नक्षत्र हो सकते हैं, जहाँ

जीवन की संभावनाएं हैं, अतः इस विश्व में जीवन केवल पृथ्वी पर है- यह भी चरम सत्य नहीं है। पृथ्वी के अतिरिक्त कुछ ग्रह-नक्षत्रों पर जीवन की संभावनाएं हो सकती हैं। यह भी संभव है कि पृथ्वी की अपेक्षा कहीं जीवन अधिक सुखद एवं समृद्ध हो और कहीं यह विपन्न और कष्टकर स्थिति में हो, अतः चाहे स्वर्ग एवं नरक और खगोल एवं भूगोल सम्बन्धी हमारी अवधारणाओं पर वैज्ञानिक-खोजों के परिणामस्वरूप प्रश्नचिह्न लगें, किन्तु इस पृथ्वी के अतिरिक्त इस विश्व में कहीं भी जीवन की संभावना नहीं है- यह बात तो स्वयं वैज्ञानिक भी नहीं कहते हैं। पृथ्वी के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड के अन्य ग्रह-नक्षत्रों पर जीवन की संभावनाओं को स्वीकार करने के साथ ही प्रकारान्तर से स्वर्ग एवं नरक की अवधारणाएं भी स्थान पा जाती हैं। उड़न तश्तरियों सम्बन्धी जो भी खोजें हुई हैं, उससे इतना तो निश्चित सिद्ध ही होता है कि इस पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य ग्रह-नक्षत्रों पर भी जीवन है और वह पृथ्वी से अपना सम्पर्क बनाने के लिए प्रयत्नशील भी है। उड़न-तश्तरियों के प्राणियों का यहाँ आना व स्वर्ग से देव लोगों की आने की परम्परागत कथा में कोई बहुत अन्तर नहीं है, अतः जो परलोक-सम्बन्धी अवधारणा उपलब्ध होती है, वह अभी पूर्णतया निरस्त नहीं की जा सकती, हो सकता है कि वैज्ञानिक खोजों के परिणामस्वरूप ही एक दिन पुनर्जन्म व लोकोत्तर जीवन की कल्पनाएं यथार्थ सिद्ध हो सकें।

जैन-परम्परा में लोक को षड्द्रव्यमय कहा गया है। ये षड्द्रव्य निम्न हैं- जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल एवं काल। इनमें से जीवन (आत्मा), धर्म, अधर्म, आकाश व पुद्गल- ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं। इन्हें अस्तिकाय कहने का तात्पर्य यह है कि ये प्रसारित हैं। दूसरे शब्दों में जिसका आकाश में विस्तार होता है, वह अस्तिकाय कहलाता है। षड्द्रव्यों में मात्र काल को अनस्तिकाय कहा गया है, क्योंकि इसका प्रसार बहुआयामी न होकर एकरेखीय है। यहाँ हम सर्वप्रथम तो यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि षड्द्रव्यों की जो अवधारणा है, वह किस सीमा तक आधुनिक विज्ञान के साथ संगति रखती है।

षड्द्रव्यों में सर्वप्रथम हम जीव के सन्दर्भ में विचार करेंगे। चाहे विज्ञान आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार न करता हो, किन्तु वह जीवन के अस्तित्व से इंकार भी नहीं करता है, क्योंकि जीवन की उपस्थिति एक अनुभूत तथ्य है। चाहे विज्ञान एक अमर आत्मा की कल्पना को स्वीकार नहीं करें, लेकिन वह जीवन एवं उसके विविध रूपों से इंकार नहीं कर सकता है। जीव-विज्ञान का आधार ही जीवन के अस्तित्व की स्वीकृति पर अवस्थित है। मात्र इतना ही नहीं, अब वैज्ञानिकों ने अतीन्द्रिय ज्ञान तथा पुनर्जन्म के सन्दर्भ में भी अपनी शोध-यात्रा प्रारम्भ कर दी है।

विचार-सम्प्रेषण या टेलीपैथी का सिद्धान्त अब वैज्ञानिकों की रुचि का विषय बनता जा रहा है और इस सम्बन्ध में हुई खोजों के परिणाम अतीन्द्रिय-ज्ञान की सम्भावना को पुष्ट करते हैं। इसी प्रकार, पुनर्जन्म की अवधारणा के सन्दर्भ में भी अनेक खोजें हुई हैं। अब अनेक ऐसे तथ्य प्रकाश में आये हैं, जिनकी व्याख्याएं पुनर्जन्म एवं अतीन्द्रिय ज्ञान-शक्ति को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है। अब विज्ञान जीवन-धारा की निरन्तरता और उसकी अतीन्द्रिय शक्तियों से अपरिचित नहीं है, चाहे अभी वह उनकी वैज्ञानिक व्याख्याएं प्रस्तुत न कर पाया हो। मात्र इतना ही नहीं अनेक प्राणियों में मानव की अपेक्षा भी अनेक क्षेत्रों में इतनी अधिक ऐन्द्रिकज्ञान-सामर्थ्य होती है, जिस पर सामान्य बुद्धि विश्वास नहीं करती है, किन्तु उसे अब आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है। अतः इस विश्व में जीवन का अस्तित्व है और वह जीवन अनन्त शक्तियों का पुंज है- इस तथ्य से अब वैज्ञानिकों का विरोध नहीं है।

जहाँ तक भौतिक तत्त्व के अस्तित्व एवं स्वरूप का प्रश्न है, वैज्ञानिकों एवं जैन-आचार्यों में अधिक मतभेद नहीं हैं। परमाणु या पुद्गल कणों में जिस अनन्तशक्ति का निर्देश जैन-आचार्यों ने किया था, वह अब आधुनिक वैज्ञानिक-अन्वेषणों से सिद्ध हो रही है। आधुनिक वैज्ञानिक इस तथ्य को सिद्ध कर चुके हैं कि एक परमाणु का विस्फोट भी कितनी अधिक शक्ति का सृजन कर सकता है। वैसे भी भौतिक पिण्ड या पुद्गल की अवधारणा ऐसी है, जिस पर वैज्ञानिकों एवं जैन-विचारकों में कोई अधिक मतभेद नहीं देखा जाता। परमाणुओं के द्वारा स्कन्ध की रचना का जैन-सिद्धान्त कितना वैज्ञानिक है, इसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। विज्ञान जिसे परमाणु कहता था, वह मान्यता अब टूट चुकी है वास्तविकता तो यह है कि विज्ञान ने जिसे परमाणु मान लिया था, वह परमाणु था ही नहीं, वह तो स्कन्ध ही था, क्योंकि जैनों की परमाणु की परिभाषा यह है कि जिसका विभाजन नहीं हो सके, ऐसा भौतिक तत्त्व परमाणु है। इस प्रकार, आज हम देखते हैं कि विज्ञान का तथाकथित परमाणु खण्डित हो चुका है, जबकि जैन-दर्शन का परमाणु अभी वैज्ञानिकों की पकड़ में आ ही नहीं पाया है। वस्तुतः जैन-दर्शन में जिसे परमाणु कहा जाता है, उसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने क्वार्क नाम दिया है और वे आज भी उसकी खोज में लगे हुए हैं। समकालीन भौतिकी-विदों की क्वार्क की परिभाषा यह है कि जो विश्व का सरलतम और अन्तिम घट है, वही क्वार्क है। आज भी क्वार्क को व्याख्यायित करने में वैज्ञानिक सफल नहीं हो पाये हैं।

आधुनिक विज्ञान प्राचीन अवधारणाओं को सम्पुष्ट करने में किस प्रकार सहायक हुआ है उसका एक उदाहरण यह है कि जैन तत्त्व-मीमांसा में एक ओर यह अवधारणा रही है कि एक पुद्गल-परमाणु जितनी जगह घेरता है, वह एक

आकाश-प्रदेश कहलाता है। दूसरे शब्दों में, मान्यता यह है कि एक आकाश-प्रदेश में एक परमाणु ही रह सकता है, किन्तु दूसरी ओर आगमों में यह भी उल्लेख है कि एक आकाशप्रदेश में असंख्यात् पुद्गल-परमाणु समा सकते हैं। इस विरोधाभास का सीधा समाधान हमारे पास नहीं था, लेकिन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व में कुछ ऐसे ठोस द्रव्य हैं, जिनका एक वर्ग इंच का वजन लगभग आठ सौ टन होता है। इससे यह भी फलित होता है कि जिन्हें हम ठोस समझते हैं, वे वस्तुतः कितने पोले हैं। अतः सूक्ष्म अवगाहन-शक्ति के कारण यह संभव है कि एक ही आकाश-प्रदेश में अनन्त परमाणु भी समाहित हो जाएं।

धर्म-द्रव्य एवं अधर्म-द्रव्य की जैन अवधारणा भी आज वैज्ञानिक सन्दर्भ में अपनी व्याख्याओं की अपेक्षाएँ रखती हैं। जैन-परम्परा में धर्मास्तिकाय को न केवल एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है, अपितु धर्मास्तिकाय के अभाव में जड़ व चेतन किसी की भी गति संभव नहीं होगी-ऐसा भी माना गया है। यद्यपि जैन-दर्शन में धर्मास्तिकाय को अमूर्त द्रव्य कहा गया है, किन्तु अमूर्त होते हुए भी यह विश्व का महत्वपूर्ण घटक है। यदि विश्व में धर्म-द्रव्य एवं अधर्म-द्रव्य, जिन्हें दूसरे शब्दों में हम गति व स्थिति के नियामक तत्त्व कह सकते हैं, न होंगे, तो विश्व का अस्तित्व ही सम्भव नहीं होगा, क्योंकि जहाँ अधर्म-द्रव्य विश्व की वस्तुओं की स्थिति को सम्भव बताता है और पुद्गल-पिण्डों को अनन्त आकाश में बिखरने से रोकता है, वहीं धर्म-द्रव्य उनकी गति को सम्भव बनाता है। गति एवं स्थिति-यही विश्व-व्यवस्था का मूल आधार है।

यदि विश्व में गति एवं स्थिति संभव न हो, तो विश्व नहीं हो सकता है। गति के नियमन के लिये स्थिति एवं स्थिति की जड़ता को तोड़ने के लिए गति आवश्यक है। यद्यपि जड़ व चेतन में स्वयं गति करने एवं स्थित रहने की क्षमता है, किन्तु उनकी यह क्षमता कार्य के रूप में तभी परिणत होगी, जब विश्व में गति और स्थिति के नियामक तत्त्व या कोई माध्यम हो। जैन-दर्शन के धर्म-द्रव्य व अधर्म-द्रव्य को आज विज्ञान की भाषा में ईथर एवं गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के नाम से भी जाना जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि धर्म-द्रव्य नाम की वस्तु है, तो उसके अस्तित्व को कैसे जाना जायेगा? वैज्ञानिकों ने जो ईथर की कल्पना की है, उसे हम जैन-धर्म की भाषा में धर्मद्रव्य कहते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार ईथर को स्वीकार नहीं करते हैं, तो प्रश्न उठता है कि प्रकाश-किरणों की यात्रा का माध्यम क्या है? यदि प्रकाश-किरणें यथार्थ में किरणें हैं, जो उसका परावर्तन किसी माध्यम से ही सम्भव होगा और जिसमें ये प्रकाश-किरणें परावर्तित होती हैं, वह भौतिक पिण्ड नहीं,

अपितु ईश्वर ही है। यदि मात्र आकाश हो, किन्तु ईश्वर न हो, तो कोई गति सम्भव नहीं होगी। किसी भी प्रकार की गति के लिए कोई-न-कोई माध्यम आवश्यक है, जैसे मछली को तैरने के लिए जल। इसी गति के माध्यम को विज्ञान ईश्वर और जैन-दर्शन धर्म-द्रव्य कहता है।

साथ ही, हम यह भी देखते हैं कि विश्व में केवल गति ही नहीं है, अपितु स्थिति भी है। जिस प्रकार गति का नियामक तत्त्व आवश्यक है, उसी प्रकार से स्थिति का भी नियामक तत्त्व आवश्यक है। विज्ञान इसे गुरुत्वाकर्षण के नाम से जानता है, जैन-दर्शन उसे ही अधर्म-द्रव्य कहता है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में अधर्म-द्रव्य को विश्व की स्थिति के लिए आवश्यक माना जाता है। यदि अधर्म द्रव्य न हो और केवल अनन्त आकाश और गति ही हो, तो समस्त पुद्गल-पिण्ड अनन्त आकाश में छितर जाएंगे और विश्व-व्यवस्था समाप्त हो जायेगी। अधर्म-द्रव्य एक नियामक-शक्ति है, जो एक स्थिर विश्व के लिए आवश्यक है। इसके अभाव में एक ऐसी अव्यवस्था होगी कि विश्व-विश्व ही न रह जायेगा। आज जो आकाशीय-पिण्ड अपने-अपने यात्रा पथ में अवस्थित रहते हैं- जैनों के अनुसार, उसका कारण अधर्म-द्रव्य है, तो विज्ञान के अनुसार उसका कारण गुरुत्वाकर्षण है।

इसी प्रकार, आकाश की सत्ता भी स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि आकाश के अभाव में अन्य द्रव्य किसमें रहेंगे? जैनों के अनुसार, आकाश मात्र एक शून्यता नहीं, अपितु वास्तविकता है, क्योंकि लोक आकाश में ही अवस्थित है, अतः जैनाचार्यों ने आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश- ऐसे भागों की कल्पना की। लोक जिसमें अवस्थित है, वही लोकाकाश है।

इसी अनन्त आकाश के एक भाग-विशेष अर्थात् लोकाकाश में अवस्थित होने के कारण लोक को सीमित कहा जाता है, किन्तु उसकी यह सीमितता आकाश की अनन्ता की अपेक्षा से ही है। वैसे जैन-आचार्यों ने लोक का परिणाम चौदह राजू माना है, जो कि वैज्ञानिकों के प्रकाशवर्ष के समान एक प्रकार का माप-विशेष है। यह लोक नीचे चौड़ा, मध्य में पतला पुनः ऊपरी भाग के मध्य में चौड़ा व अन्त में पतला है। इसके आकार की तुलना कमर पर हाथ रखे खड़े पुरुष के आकार से की जाती है। इस लोक के अधोभाग में सात नरकों की अवस्थिति मानी गयी है- प्रथम नरक से ऊपर और मध्यलोक से नीचे बीच में भवनपति देवों का आवास है। इस लोक के मध्य-भाग में मनुष्यों एवं तिर्यचों का आवास है। इसे मध्य लोक या तिर्यक्-लोक कहते हैं। तिर्यक्-लोक के मध्य में मेरु पर्वत हैं, उसके आस-पास का समुद्र पर्यन्त भू-भाग जम्बूद्वीप के नाम से जाना जाता है। यह गोलाकार है। उसे वलयाकार लवण-समुद्र घेरे हुए है। लवण-समुद्र को वलयाकार में घेरे हुए

धातकी खण्ड है। उसको बलयाकार में घेरे हुए कालोदधि नामक समुद्र है। उसको पुनः बलयाकार में घेरे हुए पुष्कर-द्वीप है। उसके आगे पुनः बलयाकार में पुष्कर-समुद्र है। इसके पश्चात् अनुक्रम से एक के बाद एक बलयाकार में एक-दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप एवं समुद्र हैं। ज्ञातव्य है कि हिन्दू-परम्परा में मात्र सात द्वीपों एवं समुद्रों की कल्पना है, जिसकी जैनआगमों में आलोचना की गई है, किन्तु जहाँ तक मानव जाति का प्रश्न है, वह केवल जम्बूद्वीप, धातकी-खण्ड और पुष्करावर्त द्वीप के अर्धभाग में ही उपलब्ध होती है। उसके आगे मानव-जाति का अभाव है। इस मध्यलोक या भूलोक से ऊपर आकाश में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तारों के आवास या विमान हैं। यह क्षेत्र ज्योतिषिक देव क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तारे आदि मेरुपर्वत को केन्द्र बनाकर प्रदक्षिणा करते हैं। इस क्षेत्र के ऊपर श्वेताम्बर मान्यतानुसार क्रमशः बारह अथवा दिगम्बर मतानुसार सोलह स्वर्ग या देवलोक हैं। उनके ऊपर क्रमशः नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर-विमान हैं। लोक के ऊपरी अन्तिम भाग को सिद्ध क्षेत्र या लोकाग्र कहते हैं यहाँ सिद्धों या मुक्त आत्माओं का निवास है। यद्यपि सभी धर्म-परम्पराओं में भूलोक के नीचे नरक या पाताल-लोक और ऊपर स्वर्ग की कल्पना समान रूप से पायी जाती है, किन्तु उनकी संख्या आदि के प्रश्न पर विभिन्न परम्पराओं में मतभेद देखा जाता है। खगोल एवं भूगोल का जैनों का यह विवरण आधुनिक विज्ञान से कितना संगत, अथवा असंगत है? यह निष्कर्ष पाना सहज नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य श्री यशोदेवसूरिजी ने संग्रहणीरत्न-प्रकरण की भूमिका में विचार किया है, अतः इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार में न जाकर पाठकों को उसे आचार्य श्री की गुजराती भूमिका एवं हिन्दी व्याख्या में देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

खगोल-भूगोल सम्बन्धी जैन-अवधारणा का अन्य धर्मों की अवधारणाओं से एवं आधुनिक विज्ञान की अवधारणा से क्या सम्बन्ध है- यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में हमें दो प्रकार के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। जहाँ विभिन्न धर्मों में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि को देव के रूप में चित्रित किया गया है, वहीं आधुनिक विज्ञान में वे अनन्ताकाश में बिखरे हुए भौतिक पिण्ड ही हैं। धर्म उनमें देवत्व का आरोपण करता है, किन्तु विज्ञान उन्हें मात्र एक भौतिक-संरचना मानता है। जैन-दृष्टि में इन दोनों अवधारणाओं का एक समन्वय देखा जाता है। जैन विचारक यह मानते हैं कि जिन्हें हम सूर्य, चन्द्र, आदि मानते हैं, वह उनके विमानों से निकलने वाला प्रकाश है। ये विमान सूर्य, चन्द्र आदि देवों के आवासीय-स्थल हैं, जिनमें उस नाम वाले देवगण निवास करते हैं।

इस प्रकार, जैन-विचारकों ने सूर्य-विमान चन्द्र-विमान आदि को भौतिक-संरचना के रूप में स्वीकार किया है और उन विमानों में निवास करने वालों को देव बताया। इसका फलित यह है कि जैन-विचारक वैज्ञानिक-दृष्टि तो रखते थे, किन्तु परम्परागत धार्मिक-मान्यताओं को भी ठुकराना नहीं चाहते थे, इसीलिए उन्होंने दोनों अवधारणाओं के बीच एक समन्वय करने का प्रयास किया है।

जैन-ज्योतिषशास्त्र की विशेषता है कि वह भी वैज्ञानिकों के समान इस ब्रह्माण्ड में असंख्य, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व तारागणों का अस्तित्व मानता है। उनकी मान्यता है कि जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं, लवण-समुद्र में चार सूर्य व चार चन्द्रमा हैं। धातकी खण्ड में आठ सूर्य व आठ चन्द्रमा हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्वीप व समुद्र में सूर्य व चन्द्रमाओं की संख्या द्विगुणित होती जाती है।

जहाँ तक आधुनिक खगोल-विज्ञान का प्रश्न है, वह अनेक सूर्य व चंद्र की अवधारणा को स्वीकार करता है, फिर भी सूर्य, चन्द्र आदि के क्रम एवं मार्ग, उनका आकार एवं उनकी पारस्परिक दूरी आदि के सम्बन्ध में आधुनिक खगोल-विज्ञान एवं जैन आगमिक-मान्यताओं में स्पष्ट रूप से अन्तर देखा जाता है। सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारागण आदि की अवस्थिति सम्बन्धी मान्यताओं को लेकर भी जैन धर्म-दर्शन व आधुनिक विज्ञान में मतैक्य नहीं है। जहाँ आधुनिक खगोल-विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा पृथ्वी के अधिक निकट एवं सूर्य दूरी पर है, वहाँ जैन ज्योतिष-शास्त्र में सूर्य को निकट व चन्द्रमा को दूर बताया गया है। जहाँ आधुनिक विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा का आकार सूर्य की अपेक्षा छोटा बताया गया, वहाँ जैन परम्परा में सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा को बृहत् आकार का माना गया है। इस प्रकार, अवधारणागत दृष्टि से कुछ निकटता होकर भी दोनों में भिन्नता ही अधिक देखी जाती है।

जो स्थिति जैन-खगोल एवं आधुनिक खगोल-विज्ञान संबंधी मान्यताओं में मतभेद की है, वही स्थिति प्रायः जैन भूगोल और आधुनिक भूगोल की है। इस भूमण्डल पर मानव-जाति के अस्तित्व की दृष्टि से ढाई द्वीपों की कल्पना की गयी है- जम्बूद्वीप, धातकी-खण्ड और पुष्कराब्ध। जैसा कि हमने पूर्व में बताया है कि जैन-मान्यता के अनुसार मध्यलोक के मध्य में जम्बूद्वीप है, जो कि गोलाकार है, उसके आस-पास उससे द्विगुणित क्षेत्रफल वाला लवण-समुद्र है, फिर लवणसमुद्र से द्विगुणित क्षेत्रफल वाला वलयाकार धातकी खण्ड है। धातकी-खण्ड के आगे पुनः क्षीरसमुद्र है, जो क्षेत्रफल में जम्बूद्वीप से आठ गुणा बड़ा है, उसके आगे पुनः वलयाकार में पुष्कर द्वीप है, जिसके आधे भाग में मनुष्यों का निवास है। इस प्रकार, एक-दूसरे से द्विगुणित क्षेत्रफल वाले असंख्य द्वीप-समुद्र वलयाकार में अवस्थित हैं।

यदि हम जैन-भूगोल की अढ़ाई द्वीप की इस कल्पना को आधुनिक भूगोल की दृष्टि से समझने का प्रयत्न करें, तो हम कह सकते हैं कि आज भी स्थल रूप में एक जुड़े हुए अफ्रीका, यूरोप व एशिया, जो किसी समय एक-दूसरे से सटे हुए थे, मिलकर जम्बूद्वीप की कल्पना को साकार करते हैं।

ज्ञातव्य है कि किसी प्राचीन जमाने में पश्चिम में वर्तमान अफ्रीका और पूर्व में जावा, सुमात्रा एवं आस्ट्रेलिया आदि एशिया महाद्वीप से सटे हुए थे, जो गोलाकार महाद्वीप की रचना करते थे। यही गोलाकार महाद्वीप जम्बूद्वीप के नाम से जाना जाता था। उसके चारों ओर के समुद्र को घेरे हुए उत्तरी अमेरिका व दक्षिणी अमेरिका की स्थिति आती है। यदि हम पृथ्वी को सपाट मानकर इस अवधारणा पर विचार करें, तो उत्तर-दक्षिण अमेरिका मिलकर इस जम्बूद्वीप को बलयाकार रूप में घेरे हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार, मोटे रूप में अढ़ाई द्वीप की जो कल्पना है, यह सिद्ध तो हो जाती है, फिर भी जैनों ने जम्बूद्वीप आदि में जो ऐरावत, महाविदेह क्षेत्रों आदि की कल्पना की है, वह आधुनिक भूगोल से अधिक संगत नहीं बैठती है। वास्तविकता यह है कि प्राचीन, भूगोल, जो जैन, बौद्ध व हिन्दुओं में लगभग समान रहा है उसकी सामान्य निरीक्षणों के आधार पर ही कल्पना की गई थी, फिर भी उसे पूर्णतः असत्य नहीं कहा जा सकता।

आज हमें यह सिद्ध करना है कि विज्ञान धार्मिक आस्थाओं का संहारक नहीं पोषक भी हो सकता है। आज यह दायित्व उन वैज्ञानिकों का एवं उन धार्मिकों का है, जो विज्ञान व धर्म को परस्पर विरोधी मान बैठे हैं, उन्हें यह दिखाना होगा कि विज्ञान व धर्म एक-दूसरे के संहारक नहीं, अपितु पोषक हैं। यह सत्य है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में कुछ ऐसी अवधारणाएँ हैं, जो वैज्ञानिक ज्ञान के कारण ध्वस्त हो चुकी हैं, लेकिन इस संबंध में हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम तो हमें यह निश्चित करना होगा कि धर्म का संबंध केवल मानवीय जीवन-मूल्यों से है, खगोल के वे तथ्य, जो आज वैज्ञानिक अवधारणा के विरोध में हैं, उनका धर्म व दर्शन से कोई सीधा संबंध नहीं है, अतः उनके अवैज्ञानिक सिद्ध होने पर भी धर्म अवैज्ञानिक सिद्ध नहीं होता। हमें यह ध्यान रखना होगा कि धर्म के नाम जो अनेक मान्यताएँ आरोपित कर दी गयी हैं, वे सब धर्म का अनिवार्य अंग नहीं हैं। अनेक तथ्य ऐसे हैं, जो केवल लोक व्यवहार के कारण धर्म से जुड़ गये हैं।

आज उनके यथार्थ स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। भरतक्षेत्र कितना लंबा चौड़ा है? मेरु पर्वत की ऊँचाई क्या है? उनके ऊपर कौन है? आदि। ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनका धर्म व साधना से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम देखते

हैं कि न केवल जैन-परंपरा में, अपितु बौद्ध व ब्राह्मण परम्परा में भी ये मान्यताएं समान रूप से प्रचलित रही हैं। एक तथ्य और हमें समझ लेना होगा, वह यह कि तीर्थंकर या आप्त पुरुष केवल हमारे बंधन व मुक्ति के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं। वे मनुष्य की नैतिक कमियों को इंगित करके वह मार्ग बताते हैं, जिससे नैतिक कमजोरियों पर या वासनामय जीवन पर विजय पायी जा सके। उनके उपदेशों का मुख्य संबंध व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास, सदाचार तथा सामाजिक-जीवन में शान्ति व सह अस्तित्व के मूल्यों पर बल देने के लिए होता है। अतः सर्वज्ञ के नाम पर कही जाने वाली सभी मान्यताएं सर्वज्ञप्रणीत हैं- ऐसा नहीं है। कालक्रम में ऐसी अनेक मान्यताएं आयीं, जिन्हें बाद में सर्वज्ञप्रणीत कहा गया। जैन-धर्म में खगोल व भूगोल की मान्यताएं भी किसी अंश में इसी प्रकार की हैं। पुनः विज्ञान कभी अपनी अंतिमता का दावा नहीं करता है, अतः कल तक जो अवैज्ञानिक कहा जाता था, वह नवीन वैज्ञानिक-खोजों से सत्य सिद्ध हो सकता है। आज न तो विज्ञान से भयभीत होने की आवश्यकता है और न उसे नकारने की। आवश्यकता है विज्ञान और अध्यात्म के रिश्ते के सही मूल्यांकन की।



2

जैन ज्ञानदर्शन

जैनदर्शन में पंचज्ञानवाद

जैन ज्ञान मीमांसा

जैन न्यायशास्त्र को मूलतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- 1. ज्ञान मीमांसा और 2. प्रमाण मीमांसा। ज्ञान मीमांसा और प्रमाण मीमांसा में जैन ज्ञान मीमांसा, प्रमाण मीमांसा की अपेक्षा प्राचीन और उनकी अपनी मौलिक है। जबकि जैन प्रमाण मीमांसा का विकास अन्य प्रमाण मीमांसाओं के प्रकाश में ही हुआ है। जैन ज्ञान मीमांसा की चर्चा मूलभूत जैन आगम साहित्य में भी है, जबकि जैन प्रमाण मीमांसा का प्रारम्भ सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार से ही देखा जाता है। आगमों में एक दो सन्दर्भों के अतिरिक्त प्रमाणशास्त्र की कोई चर्चा नहीं है। जैनो के प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में भी प्रमाण मीमांसा की कोई विस्तृत चर्चा नहीं है। जैन प्रमाण मीमांसा पर कहीं बौद्धों का और कहीं नैयायिकों का प्रभाव देखा जाता है। प्रमाण मीमांसा में जैनो ने अपने अनेकांत सिद्धान्त का व्यापक प्रयोग किया है और इस क्षेत्र में रही हुई दो विरोधी धारणाओं को अनेकांत दृष्टि से समन्वित करने का प्रयास किया है।

जैन ज्ञान मीमांसा के उल्लेख प्राकृत आगम साहित्य में विस्तार से मिलता है। नन्दीसूत्र तो पूर्णतः जैन ज्ञान मीमांसा का ही ग्रन्थ है। किन्तु इस परवर्ती आगम ग्रन्थ की अपेक्षा भी प्राचीन स्तर के भगवतीसूत्र और प्रज्ञापनासूत्र में भी पंचज्ञानों की चर्चा मिलती है। तत्त्वार्थसूत्र भी पंच ज्ञानों की चर्चा प्रमाण चर्चा की अपेक्षा विस्तार से करता है, जबकि प्रमाण चर्चा में ज्ञान को प्रमाण कहकर अपनी बात समाप्त कर देता है। यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि ज्ञान या प्रमाण क्या है? इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि जो बोध (आत्म संवेदन) संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान) और अनध्यवसाय रूप, आत्म सजगता से रहित अर्थात् सहित हो वह अज्ञान है और अप्रमाण है। इसके विपरीत जो बोध है, वही ज्ञान है, इसे अभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं।

जैन परम्परा में ज्ञान पाँच माने गये हैं - 1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मन पर्यायज्ञान और 5. केवलज्ञान। इन पाँच ज्ञानों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान-ये तीन ज्ञान मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों की अपेक्षा से अज्ञान

रूप भी माने गये हैं। जैन कर्म सिद्धान्त में आत्मा के ज्ञानोपयोग को भी आठ प्रकार का माना गया है- 1. मति-ज्ञान 2. मति-अज्ञान 3. श्रुत-ज्ञान और 4. श्रुत-अज्ञान 5. अवधि ज्ञान और 6. विभंग ज्ञान 7. मनःपर्यायज्ञान और 8. केवलज्ञान। मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान अज्ञान रूप नहीं हो सकते, क्योंकि वे साक्षात् ज्ञान है। अवधिज्ञान भी यद्यपि साक्षात् ज्ञान है, फिर भी विकृत आत्मा अर्थात् विभाव दशायुक्त नारकी जीवों या तिर्यञ्चों आत्मा में इसकी सम्भावना होने से वह अज्ञान रूप भी हो सकता है। प्रथमतया मनपर्याय केवल सम्यक् दृष्टि अप्रमत्त मुनियों को होता है वे मिथ्यात्व से युक्त नहीं होते हैं अतः मनपर्यायज्ञान विकृत या अज्ञान रूप नहीं होता है। दूसरे यदि मनःपर्यायज्ञान पर, स्व-चेतना की अपेक्षा विचार करे तो मन की पर्याये तो चेतना में यथावत ही अनुभूत होती है, अतः वे अज्ञान रूप नहीं हो सकती है। मनपर्यायज्ञान और केवलज्ञान भी मन और इन्द्रियों के आश्रित नहीं है, अतः वे विकृत नहीं होते हैं।

मतिज्ञान

मन और इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु का जो विशेष-ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। प्रथमतया इन्द्रियों के माध्यम से बाह्यार्थों का जो सामान्य अवबोध होता है उसे 'दर्शन' (ऐन्द्रियकसंवेदन) कहते हैं, वह बोध सामान्य रूप होता है। उस बोध में मन का योगदान होने पर वस्तु का उसकी विशेषताओं सहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान कहलाता है। मतिज्ञान की इस प्रक्रिया के चार स्तर होते हैं, जिन्हें क्रमशः 1. अवग्रह 2. ईहा 3. अवाय (अपाय) और 4. धारणा कहा जाता है। प्रथम इन्द्रिय का अपने विषय से सम्पर्क होता है, किन्तु उस समय जो अस्पष्ट अवबोध होता है, उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं, जैसे गहरी निद्रा में किसी के द्वारा एक-दो बार पुकारे जाने पर श्रवणेन्द्रिय का अपने विषय 'शब्द' से सम्पर्क तो होता है, किन्तु उसका स्पष्ट अवबोध नहीं होता है। उसके पश्चात् जब चेतना में यह बोध होता है कि कोई मुझे पुकार रहा है, तब उसे अर्थावग्रह कहते हैं। उसके पश्चात् जब चेतना उस बोध को विशेष रूप से जानने में प्रवृत्त होती है तो उस प्रक्रिया को ईहा कहते हैं, जैसे यह किसकी आवाज है? फिर भी ईहा संशय की अवस्था नहीं है, यह बोध की निर्णयाभिमुख अवस्था है, जैसे-ये किसी स्त्री के शब्द होना चाहिए, क्योंकि ये मधुर हैं। उसके पश्चात् जो निर्णयात्मक निश्चित बोध होता है, उसे अवाय या अपाय कहा जाता है। जब यह निश्चित बोध स्मृति में सुरक्षित किया जाता है तो उसे धारणा कहते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान की प्रक्रिया अवग्रह से प्रारंभ होकर धारणा में पूर्ण होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र आदि की प्राचीन परम्परा में मतिज्ञान को परोक्ष ज्ञान ही माना गया था, क्योंकि इसमें आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से ही होता है। जो ज्ञान इन्द्रियों या मन के द्वारा होता है, उसे परोक्ष ज्ञान ही कहा गया, क्योंकि यह पराश्रित है। इस प्रकार के ज्ञान में हम वस्तु के निज स्वरूप को न जानकार इन्द्रिय या मन उसे जिस प्रकार दिखाते हैं, वैसा देखते हैं। दूसरे यह कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से पदार्थ या मनोविकल्पों का बोध करता है- ये सभी स्व से भिन्न है, परापेक्षी है, अतः मतिज्ञान परोक्ष ज्ञान ही है। किन्तु लगभग पांचवी शती से जैनाचार्यों ने इस ज्ञान को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा है, क्योंकि अन्य दार्शनिक परम्पराएं मन और इन्द्रियजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही मान रही थी।

मतिज्ञान के विषय

मतिज्ञान के विषय पदार्थ अथवा मनोविकल्प ही हैं। पदार्थ स्व से भिन्न है, अतः 'पर' पर है। मनोविकल्प हमारे होकर भी हम उनके द्रष्टा होते हैं, अतः वे हमारे ज्ञान के विषय होते हैं। हम ज्ञाता होते हैं, और वे ज्ञेय होते हैं। ज्ञेय होने से वे हमसे इतर या भिन्न होते हैं, अतः मतिज्ञान भेद दृष्टिवाला होता है। मतिज्ञान यद्यपि सीमित ज्ञान है, फिर भी उसका विषय समस्त पदार्थ (द्रव्य), समस्त क्षेत्र, सभी काल और समस्त अवस्थाएँ (भाव) होते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के विषयों के निम्न बारह प्रकार बनते हैं- 1. एक (अल्प) 2. अनेक (बहु) 3. एक प्रकार के (एक विध) 4. अनेक प्रकार के (अनेक विध) 5. शीघ्रग्राही (क्षिप्र) 6. कठिनता या देरी से ग्राही (अक्षिप्र) 7. निश्चित (अन्य के आश्रित) 8. अनिश्चित (अन्य किसी पर आश्रित नहीं) 9. असंदिग्ध (स्पष्ट) 10. संदिग्ध (अस्पष्ट) 11. ध्रुवग्राही (शाश्वत मूल्य वाले) और 12. अध्रुव ग्राही (सामयिक मूल्य वाला)।

मतिज्ञान के भेद

अपने विषय की अपेक्षा से यह मतिज्ञान एक वस्तु का, अनेक वस्तुओं का, एक प्रकार की वस्तुओं का, अनेक प्रकार की अनेक वस्तुओं का हो सकता है। इसी प्रकार ज्ञान के स्वरूप की अपेक्षा से शीघ्रग्राही, संकेत से अर्थ का ग्राही, साक्षात् अर्थ का ग्राही, संदिग्ध, असंदिग्ध तथा स्थायी या अस्थायी होता है। इस प्रकार मतिज्ञान के उपरोक्त बारह भेद भी होते हैं। अवग्रह के मूलतः दो भेद हैं- व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यञ्जनावग्रह अव्यक्त अनुभूति है, यह चार प्रकार का होता है- चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है, इनसे सीधा अर्थबोध या अर्थवग्रह होता है। चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों अर्थात् श्रोतेन्द्रिय (कान), घ्राणेन्द्रिय (नासिका), रसनेन्द्रिय (जीभ) और स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) से होने

के कारण यह चार प्रकार का है, जबकि अर्थावग्रह पांचों इन्द्रियों और मन से होने के कारण छः प्रकार का होता है। व्यञ्जनावग्रह के चार एवं अर्थावग्रह के छः इस प्रकार अवग्रह के दस, ईहा के छः, अवाय के छः, धारणा के छः, कुल 28 भेद होते हैं। इनका उपरोक्त 12 प्रकारों से गुणा करने पर मतिज्ञान के कुल 336 भेद माने गये हैं।

एक अन्य अपेक्षा से मतिज्ञान के अन्य दो भेद भी हैं- 1. श्रुतनिश्चित मतिज्ञान और 2. अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान। भाषायी ज्ञान के आधार पर मतिज्ञान की जो अभिव्यक्ति होती है, वह श्रुत-निश्चित मतिज्ञान है, किन्तु अन्तःप्रज्ञा या विवेक-बुद्धि के द्वारा जो मतिज्ञान होता है, वह अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान है। श्रुतनिश्चित मतिज्ञान को बौद्धिक ज्ञान भी कहा गया है, इसके चार भेद हैं- 1. औत्पतिक बुद्धि (तात्कालिक बुद्धि) 2. वैयक्तिक बुद्धि (गुरु परम्परा से प्राप्त बुद्धि) 3. कर्मजा बुद्धि (शिल्पज्ञान की शक्ति) 4. परिणामिकी बुद्धि (किसी कार्य को करते हुए देखकर उसे सीख जाने की शक्ति) इन चारों को मिलाने पर मतिज्ञान के $336+4=340$ कुल भेद भी होते हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का सम्बन्ध

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक दूसरे से अभिन्न हैं, जहाँ तक इन्द्रिय संवेदनाजन्य मतिज्ञान का प्रश्न है, वह ज्ञान श्रुतज्ञान का आधार बनता है। इन्द्रिय संवेदनाओं का अर्थबोध श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आता है, अतः ऐन्द्रिक संवेदनाओं के बिना श्रुतज्ञान नहीं होता। ऐन्द्रिक संवेदनाओं से हम जो अर्थ का बोध करते हैं, वही श्रुतज्ञान कहा जाता है। अतः तत्त्वार्थसूत्र का यह कथन सत्य है कि मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है, किन्तु यह भी एकान्तः सत्य नहीं है, जिन प्राणियों के मन है, अर्थात् जिनमें मानसिक स्तर पर संकल्प-विकल्प चलते हैं वे सभी विकल्प शब्दों पर आधारित होने से मतिज्ञान के लिए भी श्रुतज्ञान आवश्यक होता है, क्योंकि बिना शाब्दिक अर्थबोध के विचार या विकल्प संभव नहीं होते इसलिए जैन आचार्यों ने इस दृष्टि से मतिज्ञान के भी दो भेद किए हैं- 1. श्रुत निश्चित मतिज्ञान और 2. अश्रुत निश्चित मतिज्ञान। मात्र ऐन्द्रिक संवेदनों से जो बोध प्राप्त होता है, वह अश्रुत निश्चित मतिज्ञान है, जबकि चित्त में जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे विकल्प शब्द रूप होने से विकल्प या विचार रूप मतिज्ञान श्रुत निश्चितमतिज्ञान कहलाता है, क्योंकि विकल्प शब्दों के बिना नहीं बनते हैं।

जैन दार्शनिकों ने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का संबंध बताते हुए, एकांगी दृष्टिकोण नहीं अपनाया है, एक ओर वे यह मानते हैं ऐन्द्रिक संवेदनों से जो ज्ञान होता है, उसमें मतिज्ञान प्रथम और श्रुतज्ञान बाद में होता है। जबकि इसके विपरीत

मनोविकल्पों का जो बोध होता है, उसमें श्रुतज्ञान प्रथम और मतिज्ञान बाद में होता है। यही कारण है कि जैन आचार्यों ने यह माना है कि जहाँ मतिज्ञान है, वहाँ श्रुतज्ञान है, और जहाँ श्रुतज्ञान है, वहाँ मतिज्ञान है।

मतिज्ञान का एक पर्यायवाची शब्द 'अभिबोध' या आभिनिबोधिकज्ञान भी है, इसका अर्थ होता है एक समग्र और सम्बन्धित अर्थ बोध। अतः श्रुतज्ञान से भिन्न मतिज्ञान और मतिज्ञान से भिन्न श्रुतज्ञान सम्भव नहीं है। जहाँ भी वस्तु के स्वरूप के संबंध में यह ऐसी है और ऐसी नहीं है, इस प्रकार का जो बोध होता है, उसमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक दूसरे में पूरी तरह समाहित होते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को हम वैचारिक स्तर पर अलग-अलग कर सकते हैं लेकिन सत्ता के स्तर पर तो वे अभिन्न ही है, अर्थात् (They are disting uisable but not spreatable)। वे पृथक्-पृथक् रूप से जाने जा सकते हैं, किन्तु पृथक्-पृथक् किये नहीं जा सकते हैं। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने यह माना कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सदैव साथ-साथ रहते हैं और एकेन्द्रिय आदि सभी जीवों में पाये जाते हैं।

श्रुतज्ञान का स्वरूप

श्रुतज्ञान शाब्दिक ज्ञान है। शब्दों के माध्यम से हमें जो अर्थ बोध होता है, उसको सामान्यतया श्रुतज्ञान कहते हैं। कुछ लोगों ने इस आधार पर इसे भाषायी ज्ञान भी कहा है। वस्तुतः ऐन्द्रिक एवं मानसिक संवेदनो से जो भी अर्थ बोध हम ग्रहण करते हैं, वह चाहे शब्द या अक्षर रूप हो या न हो उसे श्रुतज्ञान ही कहा जाता है। इसलिए अनुभूतिजन्य संकेतो से जो अर्थबोध होता है, वह भी श्रुतज्ञान या लेखन के बिना भी संकेतों के आधार पर जो अर्थबोध किया जाता है, वह भी श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आता है। सामान्यतया श्रुतज्ञान का अर्थ सुनकर ऐसा होता है और सुनने की यह प्रक्रिया शब्दों के उच्चारणपूर्वक होती है और इसलिए कुछ लोगों ने यह मान लिया कि श्रुतज्ञान शाब्दिक या भाषायी ज्ञान है, किन्तु जैन आगमों में एकेन्द्रिय जीवों में भी श्रुतज्ञान की सम्भावना मानी है, उसका कारण यह है कि एकेन्द्रियजीव भी स्पर्श-इन्द्रिय के माध्यम से जो संकेत उन्हें मिलते हैं, उनसे अर्थबोध ग्रहण कर लेते हैं, अतः श्रुतज्ञान में शब्द या भाषा का उपयोग होता है, फिर भी वह आवश्यक नहीं होता। श्रुतज्ञान में मात्र इतना आवश्यक है कि इन्द्रियों के माध्यम से हमें जो संवेदनाएँ प्राप्त होती है, उनके अर्थ का बोध हमें हो, उदाहरण के रूप में स्काउट्स झण्डियों या सीटियों आदि के माध्यम से अर्थबोध प्राप्त करते हैं। यद्यपि सीटि ध्वनि रूप है, शब्द रूप नहीं है, इसलिए जैन आचार्यों ने भाषा को भी दो प्रकार का माना है, शब्द या ध्वनि रूप भाषा और संकेत ग्रहण रूप भाषा।

व्यवहार में हम शब्दों का प्रयोग करते हैं और उन शब्दों से अर्थ बोध करते हैं। किन्तु इन्द्रिय संकेतों में चाहे वे शब्द रूप हो या ना हो, उनसे अर्थबोध करने की, जो सामर्थ्य रही है वही तो श्रुतज्ञान है। अतः श्रुतज्ञान शब्द रूप भी होता है और अर्थ रूप भी होता है।

श्रुतज्ञान का एक सामान्य अर्थ होता है, जो ज्ञान सुनकर प्राप्त होता है, वह ज्ञान। किन्तु मतिज्ञान में भी श्रोतिन्द्रिय से सुनकर ज्ञान प्राप्त होता है, फिर भी दोनों में अन्तर है। सुनकर जो अर्थ बोध होता है वह श्रुतज्ञान है, जबकि मात्र ध्वनितरंगों का श्रवण मात्र मतिज्ञान है जैसे किसी तमिल भाषा के अज्ञानी व्यक्ति के सम्मुख कोई तमिल भाषा में गाना गाये तो वह ध्वनियों को सुनता तो है, वे ध्वनियाँ उसे अनुकूल या प्रतिकूल भी लगती है, किन्तु यह ध्वनिसंवेदन मात्र मतिज्ञान है। किन्तु जब कोई तमिल भाषा का ज्ञाता उन ध्वनि तरंगों का संवेदन कर अर्थात् उन्हें सुनकर जो अर्थ बोध करता है, अर्थात् क्या कहा जा रहा है और उसका अर्थ क्या है? यह जानता है तो वह अर्थ बोध श्रुतज्ञान होता है। श्रुतज्ञान मात्र ध्वनि संवेदन रूप न होकर अर्थबोध रूप होता है, अतः श्रुतज्ञान भाषिक ज्ञान है और भाषिक ज्ञान के रूप में यह अर्थ संकेत ग्रहण रूप है, अतः अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत संवेदनों से भी जब अर्थबोध प्राप्त होता है, तो वे भी श्रुतज्ञान रूप हो जाते हैं - जैसे कोई व्यक्ति हमे हाथ के संकेत से प्रवेश-निषेध का संकेत देता है, तो यह अर्थबोध भी श्रुतज्ञान होता है, इसलिए श्रुत के दो भेद हैं- 1. अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत। श्रुतज्ञान भाषिक या शब्द ध्वनि रूप भी हो सकता है। शब्द ध्वनि से रहित आकृति के संवेदनपूर्वक उससे होने वाले अर्थबोध रूप भी। वह शब्द ध्वनि रूप भी होता है और शब्द-आकृति के चक्षु संवेदन रूप या अन्य संकेत रूप भी होता है- जैसे ऐकेन्द्रिय जीव मात्र शारीरिक संवेदन से भी अर्थ बोध करते हैं, अथवा पशु-पक्षी अनक्षर ध्वनि संकेतों से अथवा शारीरिक संवेदनों से भी अर्थ बोध कर लेते हैं, जैसे पक्षियों को तूफान, भूकम्प आदि का पूर्व से ही बोध हो जाता है। अतः मेरी दृष्टि में पाँचों इन्द्रियों एवं मन द्वारा जो मात्र संवेदन रूप है वह मतिज्ञान है और जो अर्थरूप है वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान में भाषा का वही तक स्थान है, जहाँ तक अर्थबोध या अर्थाभिव्यक्ति में सहायक है। श्रुतज्ञान का एक अर्थ शास्त्र-ज्ञान भी है। शास्त्र को श्रुति या आगम भी कहते हैं- यहाँ श्रुतज्ञान का सम्बन्ध भाषायीज्ञान या शास्त्रज्ञान भी होता है। प्राचीन परम्परा में श्रुतज्ञान का तात्पर्य आगमज्ञान या शास्त्रज्ञान भी था। नन्दीसूत्र में श्रुतज्ञान को आगमज्ञान या शास्त्रज्ञान को भी श्रुतज्ञान कहा गया है।

श्रुतज्ञान के भेद

किसी भी शब्द का श्रवण करने पर वाच्य-वाचकभाव संबंध के आधार से जो अर्थबोध की जो उपलब्धि होती है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान भी मन और इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होता है, किन्तु फिर भी इसके उत्पन्न होने में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की मुख्यता होती है, अतः इसे मन का विषय माना गया है या श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान की तरह परोक्ष है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है इसीलिए सूत्रकार ने मतिज्ञान के पश्चात् श्रुतज्ञान का वर्णन किया है। नन्दीसूत्र में श्रुतज्ञान के चौदह भेदों का नामोल्लेख किया गया है। इस आधार पर श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का भी है। जैसे 1. अक्षरश्रुत 2. अनक्षरश्रुत 3. संज्ञिश्रुत 4. असंज्ञिश्रुत 5. सम्यक्श्रुत 6. मिथ्याश्रुत 7. सादिकश्रुत 8. अनादिकश्रुत 9. सपर्यवसितश्रुत 10. अपर्यवसितश्रुत 11. गमिकश्रुत 12. अगमिकश्रुत 13. अंगप्रविष्टश्रुत 14. अनंगप्रविष्टश्रुत।

परम्परागत दृष्टि से श्रुतज्ञान आगमज्ञान है किन्तु श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा का कथन इससे भिन्न है। उनके अनुसार मतिज्ञान 'पर' वस्तु का ज्ञान या पदार्थ-ज्ञान है, क्योंकि वह इन्द्रियाधीन है, उनके विषय वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि है। पुनः मन की अपेक्षा से भी वह बौद्धिकज्ञान है, विचारजन्य है, अतः भेदरूप है। फिर भी मतिज्ञान के समान श्रुतज्ञान को इन्द्रिय या बुद्धि की अपेक्षा नहीं है, वह शाश्वत सत्यों का बोध है। वे लिखते हैं कि "श्रुतज्ञान इन्द्रिय, मन, बुद्धि की अपेक्षा से रहित स्वतः होने वाला निज का ज्ञान है अर्थात् स्व स्वभाव का ज्ञान है"। श्रुतज्ञान स्वाध्याय रूप है और स्वाध्याय का एक अर्थ है स्व का अध्ययन या स्वानुभूति। यदि श्रुतज्ञान का अर्थ आगम या शास्त्रज्ञान लें, तो भी वह हेय, ज्ञेय या उपादेश का बोध है, इस प्रकार वह विवेक-ज्ञान है। विवेक अन्तःस्फूर्त है। वह उचित-अनुचित का सहज बोध है। निष्कर्ष यह कि मतिज्ञान पराधीन है जबकि श्रुतज्ञान स्वाधीन है। इस प्रकार आदरणीय लोढ़ाजी ने आगमिक आधारों को मान्य करके भी श्रुतज्ञान की एक नवीन दृष्टि से व्याख्या की है।

अवधिज्ञान

जैन दर्शन में पंच ज्ञानों में अवधि, मनःपर्ययों और केवलज्ञान- ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। अवधिज्ञान शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है, सीमित ज्ञान। सीमित ज्ञान होते हुए भी यह प्रत्यक्ष ज्ञान है, क्योंकि इस ज्ञान में आत्मा, मन एवं इन्द्रियों पर निर्भर नहीं रहता है, अतः इसे आत्मिक प्रत्यक्ष अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञान या सर्वज्ञ के ज्ञान की अपेक्षा इसका विषय एवं क्षेत्र सीमित होने के कारण ही उसे अवधिज्ञान कहते हैं। षट्द्रव्यों में यह लोक में स्थित मात्र

मूर्त पुद्गल द्रव्य को जान पाता है। अवधिज्ञानी इन्द्रियों के माध्यम के बिना जगत् के भौतिक पदार्थों को जानने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। अन्य परम्परा में इसे अतीन्द्रियज्ञान (Extra Sensory Perception) कहते हैं, किन्तु यहां यह ज्ञातव्य है कि सभी अवधिज्ञानियों की ज्ञान सामर्थ्य समान नहीं होती है, उनमें तारतम्यता होती है, कम से कम एक अंगुल के असंख्यातवें भाग को और अधिकतम लोकान्त तक के भौतिक द्रव्यों को जानने की क्षमता उसमें होती है। यह अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है- 1. भवप्रत्यय और 2. क्षायोपशमिक।

तीर्थकरों, देवों और नारकीय जीवों को, जो अवधिज्ञान जन्म से ही प्राप्त होता है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। किसी प्रकार की साधना या चारित्रिक पवित्रता के द्वारा मनुष्य या पंचेन्द्रिय समनस्क तिर्यच जीवों अर्थात् पशुओं को, जो अवधिज्ञान प्राप्त होता है, वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है। इसे क्षायोपशमिक इसलिए कहते हैं कि साधना के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय या उपशम से यह ज्ञान प्राप्त होता है।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान के छह भेद हैं - 1. **आनुगमिक** - जो जीव का अनुगमन करता है अर्थात् जो अवधिज्ञान जीव को जिस क्षेत्र या स्थान पर उत्पन्न होता है, वहाँ-से उठकर जाने पर भी समाप्त नहीं जाता है - वह आनुगमिक अवधिज्ञान कहलाता है। 2. **अनानुगमिक** अवधिज्ञान वह है जो इस क्षेत्र या स्थान से उठकर जाने पर भी समाप्त नहीं होता है। 3. **वर्धमान** अर्थात् जो अवधिज्ञान क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान है। 4. **हीयमान** अर्थात् जो क्रमशः क्षीण होता रहता है, वह अवधिज्ञान हीयमान अवधिज्ञान है। 5. **प्रतिपातिक** अर्थात् जो अवधिज्ञान एक बार प्राप्त होने पर कुछ समय बाद समाप्त हो जाता है, प्रतिपातिक अवधिज्ञान है और 6. **अप्रतिपातिक** अवधिज्ञान वह है, जो प्राप्त होने पर समाप्त नहीं होता है।

अवधिज्ञान का क्षेत्र एवं विषय

अवधिज्ञान का न्यूनतम क्षेत्र एक अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और अधिकतम क्षेत्र सम्पूर्ण लोक होता है। उसमें लोक के बाहर अलोक के कुछ भाग तक जानने की शक्ति तो होती है, फिर भी अलोक में उसका विषय- 'रूपी द्रव्य' नहीं होता है, अतः वह लोक में स्थित रूपी द्रव्यों को ही जानता है।

दूसरे यह कि अवधिज्ञान केवल तीर्थकर, देव और नारक तीनों को जन्मना होता है। नारक और देवता सभी दिशाओं और विदिशाओं में देखते हैं, फिर भी उनके अवधिज्ञान का क्षेत्र सीमित ही होता है। मात्र तीर्थकर को जब वे केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व बारहवें गुणस्थान में होते हैं तब वे परमअवधि को प्राप्त करते हैं, किन्तु कोई

भी देव, नारक और तिर्यञ्च परम अवधिज्ञान को प्राप्त नहीं करते हैं। मनुष्यों में केवल वे मनुष्य, जो तद्भव में मोक्षगामी है वे भी केवलज्ञान और निर्वाण के पूर्व बारहवें गुणस्थान में परम अवधिज्ञान को प्राप्त करते हैं।

परम अवधिज्ञान

अवधिज्ञान के जिन भेदों की चर्चा की, उनमें उसके ये दो भेद भी समाहित हैं - 1. प्रतिपाती-अवधिज्ञान और 2. अप्रतिपाती-अवधिज्ञान। परम-अवधिज्ञान अप्रतिपाती अवधिज्ञान है- यह प्राप्त होने पर जाता नहीं है, किन्तु इसका समापन केवलज्ञान में होता है। जब आत्मा में ज्ञानावरणीय कर्म का एक प्रदेश मात्र अवशिष्ट रह जाता है, तब यह परम अवधिज्ञान प्राप्त होता है। इसका विषय और क्षेत्र लोक के समस्तरूपी द्रव्य होते हैं। केवलज्ञान में और परम अवधिज्ञान में अन्तर यह है कि केवलज्ञानी लोक में स्थित सभी रूपों और अरूपी द्रव्यों को जानता है, जबकि परम अवधिज्ञानी केवल लोक को और उसमें स्थित सभी रूपी द्रव्यों को ही जानता है। परम अवधिज्ञान यद्यपि अप्रतिपाती है, फिर भी इसका समापन केवलज्ञान में हो जाता है। दूसरे यह परम अवधिज्ञान की शक्ति लोकाकाश के बाहर जानने की है, किन्तु लोकाकाश के बाहर रूप द्रव्य है ही नहीं, अतः वह व्यवहार में लोकाकाश तक ही जानता है। परम अवधिज्ञान की प्राप्ति मात्र बारहवें गुणस्थान में स्थित जीवों (आत्माओं) को ही होती है अन्य किसी गुणस्थानवर्ती जीव को नहीं होती है।

मनःपर्यायज्ञान और उसका विषय

मनःपर्यायज्ञान के विषय को लेकर जैन परम्परा में भी दो भिन्न मत प्रचलित रहे हैं - प्रथम मत के अनुसार मनःपर्यायज्ञान का विषय चिन्त्यमान वस्तु है, अतः मनःपर्यायज्ञानी मन के ज्ञेय विषय या वस्तु के स्वरूप को जानता है। निर्युक्ति साहित्य और तत्त्वार्थसूत्र इस मत के समर्थक है, यह वस्तुवादी प्राचीन मत है। दूसरे मत के अनुसार मनःपर्यायज्ञान का विषय-चिन्तन में प्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाएँ अर्थात् मनोवृत्तियाँ हैं। इस दूसरे पक्ष का समर्थन विशेषावश्यकभाष्य में मिलता है। इन दोनों मतों में मूल अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम मत चिन्त्यमान वस्तु को मनःपर्यायज्ञान का विषय मानता है, वहाँ दूसरे मत की अपेक्षा मनःपर्यायज्ञान मनोवर्णनाओं अर्थात् पौद्गलिक द्रव्य मन की अवस्थाओं का विषय मानता है, अतः उसका विषय मनोविज्ञान है। यह विज्ञानवादी मत है। जहाँ प्रथम मान्यता पर न्याय-वैशेषिक दर्शन का प्रभाव है। यह मत Realist है। वहीं दूसरे मत पर विज्ञानवादी बौद्धों का प्रभाव है। यह मत Idealist है। सत्य ही यही है कि मनःपर्यायज्ञान मनोद्रव्य की चिन्त्यमान वस्तु को नहीं, किन्तु मानसिक आकृति (Mentalimage) को जानता है। मनःपर्यायज्ञान का विषय पौद्गलिक द्रव्यमन है,

फिर भी चिन्त्यमान मन में चिन्त्यपदार्थ की जो आकृतियाँ बनती हैं, मनपर्यायवान् उन्हें आकृतियों को जो पौद्गलिक मनोवर्गणाओं से बनती हैं, उनको जानता है वह वस्तु को सीधे न जानकर वस्तु के मनोगत आकार को जानता है। उसका मनोआकृति का यह ज्ञान अपरोक्ष है, फिर भी उस आकृति की आधारभूत वस्तु का ज्ञान तो परोक्ष ही है, फिर भी इतना सत्य है कि मनःपर्यायज्ञान का विषय रूपी मूर्त द्रव्य ही है, अमूर्त द्रव्य नहीं। क्योंकि द्रव्यमन में निर्मित ये आकृतियाँ भी सक्ष्य मनोवर्गणाओं से ही बनती हैं।

मनःपर्यायज्ञान स्व के मन की पर्यायों का जानता है या पर (दूसरों) के मन की पर्यायों को जानता है। यह प्रश्न ही विवादास्पद रहा है। जैन ग्रन्थों में सामान्य रूप से यह कथन प्रचलित है कि मनःपर्यायज्ञानी न केवल अपने मन की पर्यायों (अवस्थाओं) को जानता है, अपितु दूसरों के मन की पर्यायों को भी जानता है। योगसूत्र (पतंजलि) एवं मज्झिम निकाय में परचित्त (दूसरों के चित्त) के ज्ञान की सम्भावना भी मानी गई है। इसी आधार पर जैन परम्परा में मनःपर्यायज्ञान के द्वारा पर चित्त ज्ञान पर बल दिया गया किन्तु मेरी दृष्टि में यह मान्यता उचित नहीं है। क्योंकि मनःपर्यायज्ञान के लिए जो अप्रयन्त संयत मुनि होने की जो शर्त लगाई गई है। वह शर्त आवश्यक इसलिए है कि अप्रमत्त संयत मुनि ही अपनी मनोवृत्तियों को सम्यक् प्रकार से जान सकता है, प्रमत्त व्यक्ति नहीं। मनःपर्यायज्ञान के लिए जो अप्रयन्त संयत मुनि होने की जो शर्त लगाई गई है। वह शर्त आवश्यक इसलिए है कि अप्रमत्त संयत मुनि ही अपनी मनोवृत्तियों को सम्यक् प्रकार से जान सकता है, प्रमत्त व्यक्ति नहीं है। मनःपर्यायज्ञान के लिए अप्रमत्ता की शर्त यही सूचित करती है कि मनःपर्यायज्ञान स्वचित्त या अपने ही मन की पर्यायों का ज्ञान है। मनःपर्यायज्ञानी स्वचित्त का ज्ञाता होता है, अतः वह आत्म-सजग या अप्रमत्त होता है। दूसरे मनःपर्यायज्ञान के लिए जो आत्मसजगता या अप्रमत्तता की स्थिति इसलिए भी आवश्यक मानी गई है, जो मनो-विकल्पों का ज्ञाता-द्रष्टा होता है, वह मनोविकल्पों का कर्ता नहीं होता है। मनःपर्यायज्ञान आत्मसजगता स्व बोध की अवस्था है, अतः उसमें 'पर' के विकल्पयुक्त चित्त जानने की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। चाहे एक बार परम्परागत मान्यता के अनुसार यह मान भी ले कि मनःपर्यायज्ञानी में परचित्त को जानने की शक्ति होती है, किन्तु उसमें परचित्त को जानने प्रयत्न नहीं होता है। अतः मेरी दृष्टि मनःपर्यायज्ञान अपने मन की पर्यायों अर्थात् मानसिक अवस्थाओं या चित्तवृत्तियों का ज्ञान है उसका सम्बन्ध स्वचित्त ही से है। परम्परागत दृष्टि से उसे परचित्त का ज्ञान मानने पर तो उसमें अनेक बाधाएँ आती हैं। यदि वह परचित्त का ज्ञान है तो उसका क्षेत्र ढाई द्वीप से बाहर भी माना जाना था, क्योंकि

पंचेन्द्रियसमनस्क (संज्ञी) जीव तो ढाई द्वीप से बाहर भी होते हैं। अतः मेरी दृष्टि में मनःपर्यायज्ञान स्वमन की पर्यायों अर्थात् मनोदशाओं का ज्ञान है। वह आत्म सजगता या अप्रमत्तता की अवस्था है। यह ज्ञाता-द्रष्टाभाव में आत्मरमणता की स्थिति है। अतः जैन दर्शन में यह माना गया है कि तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण करते ही मनःपर्यायज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

मनःपर्यायज्ञान के भेद

मनःपर्यायज्ञान के दो भेद हैं - ऋजुमति और विपुलमति। यद्यपि अपने विषय आदि की अपेक्षा से मनःपर्यायज्ञान में भेद नहीं है, फिर भी चित्तवृत्ति की सरलता और व्यापकता की अपेक्षा से या अपने विषय की अपेक्षा से उसमें भेद है। ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान चित्त की सरल वृत्तियों को जानता है या सरल मनोभावों को जानता है, संक्लिष्ट मनोभावों को नहीं। ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान की अपेक्षा विपुलमति का विषय अधिक व्यापक होता है और वह मन के संक्लिष्ट परिणामों को भी जानता है। अतः एक अपेक्षा से इन दोनों मनःपर्यायज्ञानों चित्तवृत्ति सरलता या विशुद्धि की अपेक्षा से अन्तर है। एक अन्य अपेक्षा से इन दोनों में ज्ञान की स्पष्टता की अपेक्षा भी अन्तर होता है।

केवलज्ञान

कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा से ज्ञान के दो प्रकार हैं- 1. क्षायोपशमिक और 2. क्षायिक। मतिश्रुत आदि चारों ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, जबकि केवल-ज्ञान क्षायिक है। क्षायिक होने के कारण यह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार धाती कर्मों का पूर्णतः क्षय होने पर ही होता है, अतः निरावरण और पूर्णज्ञान है। अनन्त और पूर्णज्ञान होने से इसमें न तो किसी प्रकार अपूर्णता या कमी होती है और न इसे किसी प्रकार के अन्य साधनों की अपेक्षा होती है, अतः यह ज्ञान निरपेक्ष या असहाय होता है। ज्ञानावरण आदि धाती कर्मों का पूर्णक्षय होने पर ही यह ज्ञान होता है, अतः पूर्णतः शुद्ध भी होता है। केवलज्ञान सभी ज्ञानों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। जैन दर्शन की मान्यता है किसी व्यक्ति में पांचों ज्ञानों में से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान - ये चारों ज्ञान एक साथ हो सकते हैं, किन्तु केवलज्ञान तो अकेला ही होता है। केवलज्ञान होने पर अन्य ज्ञानों की अपेक्षा ही नहीं होती है। केवलज्ञान होते ही इन चारों ज्ञानों की स्थिति वैसी ही हो जाती है, जैसे सूर्य के उदित होते ही चन्द्र और तारागणों के प्रकाश की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती है, उनका प्रकाश गौण हो जाता है। केवलज्ञान को असहाय कहा है। अर्थात् इस ज्ञान के लिए किसी प्रकार के ज्ञानों या ज्ञान के साधनों की अपेक्षा नहीं होती है। दूसरे, केवलज्ञान अनन्त, पूर्ण एवं अपर्यवसित ज्ञान होता है। यह ज्ञान

प्राप्त होने पर ज्ञाता भी नहीं है, इसलिए यह ज्ञान अप्रतिपाति ज्ञान है और इसमें न कभी कमी रहती है। यह सभी कालों के लोक में स्थित सभी मूर्त-अमूर्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों को जानता है।

केवलज्ञान का विषय

सामान्यतया मति, श्रुत, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान का विषय रूपी द्रव्य ही होते हैं। मनःपर्यायज्ञान का विषय भी सूक्ष्म रूपी द्रव्य ही है क्योंकि वह भी मूर्त रूपी द्रव्य की सूक्ष्म मनोवर्गणाओं को ही जानता है, जबकि केवलज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त अर्थात् रूपी और अरूपी दोनों द्रव्य हैं। अतः केवलज्ञान पुद्गल के अतिरिक्त आत्मा, धर्म, अधर्म और आकाश ऐसी पांचों अस्तिकायों को भी काल सहित छहों द्रव्यों को भी जानता है। उमास्वामि ने तत्त्वार्थसूत्र में केवलज्ञान का विषय सभी द्रव्यों की लोक और अलोकवर्ती सभी पर्यायों को भी जानता है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में केवलज्ञान का विषय-क्षेत्र बताते हुए कहा गया है कि 'सर्वद्रव्येषु वा सर्वपर्यायेषु'। वह लोक-अलोक में स्थित सर्वद्रव्यों की सर्वत्रैकालिक पर्यायों (अवस्थाओं) को जानता है, अतः उसका विषय क्षेत्र की अपेक्षा लोक और अलोक दोनों ही है। साथ ही, द्रव्यों की अपेक्षा वह लोक-अलोक के सभी द्रव्यों को और भाव एवं काल की अपेक्षा से उनकी त्रैकालिक पर्यायों को भी जानता है। अतः वह केवलज्ञान त्रैकालिक ज्ञान है, अतः वह भूत, वर्तमान और भविष्य- त्रिकालों को जानता है। नन्दीसूत्र (33) के अनुसार जो ज्ञान सर्वद्रव्यों, सर्वक्षेत्रों, सर्वकालों और सर्वभावों (पर्यायों या अवस्थाओं) को जानता है- वह केवलज्ञान है।

किन्तु केवलज्ञान के विषय के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द का मन्तव्य थोड़ा भिन्न है, वे नियमसार गाथा 159 में लिखते हैं कि व्यवहारनय से तो केवलज्ञानी सबको जानते और देखते हैं, किन्तु निश्चयनय से तो केवलज्ञानी अपनी आत्मा को ही जानते और देखते हैं। केवलज्ञान की दशा में आत्मा निरावरण और शुद्ध होता है। अतः सभी कुछ जो आत्मा में प्रतिबिम्बित होता है, केवलज्ञानी उसे जानता और देखता है। इसी अपेक्षा से यह कहा जाता है कि केवली सब कुछ जानता और देखता है, केवली सर्वद्रव्यों की सभी त्रैकालिक पर्यायों को जानता और देखता है - ऐसा एकान्ततः मानने पर अनेक विसंगतियाँ भी उत्पन्न होती हैं और जैनदर्शन पुरुषार्थवादी से नियतिवादी बन जाता है। यदि केवली सभी द्रव्यों की त्रैकालिक पर्यायों को जानता है ऐसा माने तो उसके ज्ञान की अपेक्षा से समग्र भविष्य भी नियत होगा, अतः उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। अतः हमें नियतिवाद या क्रमबद्धपर्यायवाद मानना होगा। किन्तु आगमिक दृष्टि से ऐसा नहीं है। भगवतीसूत्र में जब यह प्रश्न उठाया गया कि केवली क्या जानता है और

क्या नहीं जानता है? तो उसका उत्तर दिया गया कि “केवली सिय जाणई सिय ण जाणई”। जैन दर्शन की दृष्टि से भी कहे जो ‘अनादि’ है केवली भी उसकी आदि/प्रारम्भ को नहीं जान सकता है। केवली से यदि प्रश्न पूछा जाये कि आत्मा कब से है? संसार कब से है? षट्द्रव्य कब से है? आत्मा कर्म से बद्ध कब और कैसे हुआ? जीवात्मा संसार में कब से भय-भ्रमण कर रहा है? किसी जीव का प्रथम भव कौन सा था? तो केवली भी इनका उत्तर नहीं देकर मात्र यहीं कहेगा कि ये अनादिकाल से है। अनादि तथ्यों की आदि बताना यह केवली के लिए भी सम्भव नहीं है। इसीलिए भगवतीसूत्र में कहा गया है केवली भी कुछ जानता है, कुछ नहीं जानता है। केवली को सर्वज्ञ भी कहा जाता है।

सर्वज्ञता की धारणा श्रमण और वैदिक- दोनों परम्पराओं की प्राचीन धारणा है। सर्वज्ञतावाद यह मानता है कि सर्वज्ञ देश और काल की सीमाओं से ऊपर उठकर कालातीत दृष्टि से सम्पन्न होता है और इस कारण उसे भूत के साथ-साथ भविष्य का भी पूर्वज्ञान होता है, लेकिन जो केवल ज्ञान है, उसमें सम्भावना, संयोग या अनियतता नहीं हो सकती। नियत घटनाओं का पूर्वज्ञान हो सकता है, अनियत घटनाओं का नहीं। यदि सर्वज्ञ को भविष्य का पूर्वज्ञान होता है और वह यथार्थ भविष्यवाणी कर सकता है, तो इसका अर्थ है कि भविष्य की समस्त घटनाएँ नियत है। भविष्यदर्शन और पूर्वज्ञान में पूर्वनिर्धारण गर्भित है। यदि भविष्य की सभी घटनाएँ पूर्वनियत है, तो नैतिक-आदर्श, वैयक्तिक-स्वातन्त्र्य और पुरुषार्थ का कोई अर्थ नहीं रहता। सर्वज्ञ के पूर्वज्ञान में कर्म का चयन निश्चित होता है, उसमें कोई अन्य विकल्प नहीं होता, तब वह चयन-चयन ही नहीं होगा और चयन नहीं है, तो उत्तरदायित्व भी नहीं होगा, अर्थात् सर्वज्ञतावाद अनिवार्यतः नियतिवाद की ओर ले जाता है।

सर्वज्ञता का अर्थ

जैन-दर्शन सर्वज्ञता को स्वीकार करता है। जैनागमों में अनेक ऐसे स्थल हैं, जिनमें तीर्थंकरों एवं केवलज्ञानियों को त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ कहा गया है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, अंतकृतदशांगसूत्र एवं अन्य जैनागमों में इस त्रिकालज्ञ सर्वज्ञतावादी धारणा के अनुसार गोशालक, श्रेणिक, कृष्ण आदि के भावी जीवन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी की गई है। यह भी माना गया है कि सर्वज्ञ जिस रूप में घटनाओं का घटित होना जानता है, वे उसी रूप में घटित होती हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि जिसकी जिस देश, जिस काल और जिस प्रकार से जन्म अथवा मृत्यु की घटनाओं को सर्वज्ञ ने देखा है, वे उसी देश, उसी काल और उसी प्रकार से होंगी। उसमें इन्द्र या तीर्थंकर कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता। उत्तरकालीन जैन-ग्रन्थों

में इस त्रैकालिक ज्ञान सम्बन्धी सर्वज्ञत्व की अवधारणा का मात्र विकास ही नहीं हुआ, वरन् उसको तार्किक-आधार पर सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है। यद्यपि बुद्ध ने महावीर की त्रिकालज्ञ सर्वज्ञता की धारणा का खण्डन करते हुए उसका उपहासात्मक-चित्रण भी किया और अपने सम्बन्ध में त्रिकालज्ञा सर्वज्ञता की इस धारणा का निषेध भी किया था, लेकिन परवर्ती बौद्ध-साहित्य में बुद्ध को भी उसी अर्थ में सर्वज्ञ स्वीकार कर लिया गया, जिस अर्थ में जैन-तीर्थंकरों अथवा ईश्वरवादी-दर्शनों में ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाता है।

सर्वज्ञत्व के इस अर्थ को लेकर कि “सर्वज्ञ हस्तामलकवत् सभी जागतिक-पदार्थों की त्रैकालिक-पर्यायों को जानता है” जैन-विद्वानों ने भी काफी उहापोह किया है। इतना ही नहीं, जैनदर्शन में सर्वज्ञता की नई परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं।

कुन्दकुन्द और हरिभद्र का दृष्टिकोण

प्राचीन युग में आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य हरिभद्र ने सर्वज्ञता की त्रिकालदर्शी उपयुक्त परम्परागत परिभाषा को मान्य रखते हुए भी नई परिभाषाएँ प्रस्तुत की। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में कहा कि -

जाणदि पस्सदिसव्वं ववहारणएण केवलीभगवं ।

केवलणाणी जाणदिपस्सदि नियमेण अप्पाणं ।।

- नियमसार 159

सर्वज्ञ लोकालोक जैसी आत्मेतर सभी वस्तुओं को जानता है, यह व्यवहारनय है, जबकि यह कहना कि सर्वज्ञ अपने आत्मस्वरूप को जानता है, यह परमार्थदृष्टि है। इसके अतिरिक्त नियमसार (166), प्रवचनसार (80) एवं समयसार (11) द्रष्टव्य है। आचार्य हरिभद्र ने भी सर्वज्ञता का सर्वसम्प्रदाय-अविरुद्ध अर्थ किया था। पं. सुखलालजी लिखते हैं कि प्रथमतः हरिभद्र ने सर्वज्ञत्व त्रैकालिकज्ञान हेतुवाद से समर्थन किया, किन्तु जब उनको हेतुवाद में त्रुटि या विरोध दिखाई दिया तो उन्होंने सर्वज्ञत्व सर्वसम्प्रदाय अविरुद्ध अर्थ किया एवं अपना योग सुलभ माध्यस्थ भाव प्रकट किया (देखें, दर्शन और चिन्तन खण्ड पृ. 553)।

पं. सुखलालजी का दृष्टिकोण

वर्तमान युग के पण्डित सुखलालजी ने आचारांग एवं व्याख्याप्रज्ञप्ति के सन्दर्भों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि आत्म, जगत् एवं साधना मार्ग सम्बन्धी दार्शनिक ज्ञान को ही उस युग में सर्वज्ञत्व माना जाता था न कि त्रैकालिक-ज्ञान को। जैन-परम्परा का सर्वज्ञत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण मूल में केवल इतना ही था कि द्रव्य और पर्याय उभय को समानभाव से जानना ही ज्ञान की पूर्णता है। बुद्ध जब मालुङ्क्यपुत्त नामक अपने शिष्य से कहते हैं कि मैं चार आर्यसत्त्वों के

ज्ञान का ही दावा करता हूँ और दूसरे अगम्य एवं काल्पनिक तत्त्वों के ज्ञान का नहीं, तब वह वास्तविकता की भूमिका पर है। उसी भूमिका के साथ महावीर के सर्वज्ञत्व की तुलना करने पर भी फलित यही होता है कि अत्युक्ति और अल्पोक्ति नहीं करने वाले सन्त प्रकृति के महावीर द्रव्य-पर्यायवाद की पुरानी निर्ग्रन्थ-परम्परा के ज्ञान को ही सर्वज्ञत्व रूप मानते होंगे। जैन और बौद्ध परम्परा में इतना फर्क अवश्य रहा है कि अनेक तार्किक बौद्ध-विद्वानों ने बुद्ध को त्रैकालिक-ज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ स्थापित करने का प्रयत्न किया है, तथापि अनेक असाधारण (प्रतिभासम्पन्न) बौद्ध-विद्वानों ने उनको सीधे-सादे अर्थ में ही सर्वज्ञ घटाया है, बौद्ध परम्परा में सर्वज्ञ का अर्थ धर्मज्ञ या वस्तु स्वरूप का ज्ञाता इतना ही रहा है। जबकि जैन-परम्परा में सर्वज्ञ का सीधा-सादा अर्थ भुला दिया गया और उसके स्थान में तर्कसिद्ध अर्थ ही प्रचलित एवं प्रतिष्ठित हो गया। जैन परम्परा में सर्वज्ञ के स्थान पर प्रचलित पारिभाषिक-शब्द केवलज्ञानी भी अपने मूल अर्थ में दार्शनिक-ज्ञान की पूर्णता को ही प्रकट करता है न कि त्रैकालिक ज्ञान को। 'केवल' शब्द सांख्यदर्शन में भी प्रकृतिपुरुषविवेक के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है और यदि यह शब्द सांख्य-परम्परा से जैन-परम्परा में आया है, यह माना जाए, तो इस आधार पर भी केवलज्ञान का अर्थ दार्शनिक-ज्ञान अथवा तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ही होगा न कि त्रैकालिक-ज्ञान। आचारांग का यह वचन 'जे एगं जाणई से सव्वं जाणइ' यही बताता है कि जो एक आत्मस्वरूप को यथार्थ रूप से जानता है, वह उसकी सभी कषायपर्यायों को भी यथार्थ रूप से जानता है, न कि त्रैकालिक-सर्वज्ञता। केवलज्ञानी के सम्बन्ध में आगम का यह वचन कि 'सी जाणइ सी ण जाणइ' (भगवतीसूत्र) भी यही बताता है कि केवलज्ञान त्रैकालिक-सर्वज्ञता नहीं है, वरन् आध्यात्मिक या दार्शनिक-ज्ञान है।

डॉ. इन्द्रचन्द्रशास्त्री का दृष्टिकोण

सर्वज्ञता के स्थान पर प्रयुक्त होने वाला अनन्तज्ञान भी त्रैकालिक-ज्ञान नहीं हो सकता। अनन्त का अर्थ सर्व नहीं माना जा सकता। वस्तुतः यह शब्द स्तुतिपरक अर्थ में ही आया है, जैसे वर्तमान में भी किसी असाधारण विद्वान के बारे में कह देते हैं कि उनके ज्ञान का क्या अन्त? उनका ज्ञान तो अथाह है। इसी प्रकार दूसरा पर्यायवाची शब्द केवलज्ञान आत्म-अनात्म के विवेक या आध्यात्मिक-ज्ञान से सम्बन्धित है।

सर्वज्ञता का त्रैकालिक-ज्ञान सम्बन्धी अर्थ और पुरुषार्थ की सम्भावना

लेकिन, एक गवेषक विद्यार्थी के लिए यह उचित नहीं होगा कि परम्परासिद्ध त्रैकालिक-सर्वज्ञता की धारणा की अवहेलना कर दी जाए। न केवल जैन-परम्परा में वरन् बौद्ध और वेदान्त की परम्परा में भी सर्वज्ञता का त्रैकालिक-ज्ञानपरक

अर्थ स्वीकृत रहा है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह कहकर कि “उन अनेक जन्मों को मैं जानता हूँ, तू नहीं”, अपनी सर्वज्ञता का ही निर्देश किया है। यद्यपि मीमांसा दर्शन के अनुसार यह प्रश्न शंका की दृष्टि से देखा जा सकता है कि महावीर, बुद्ध और कृष्ण सर्वज्ञ थे या नहीं, अथवा किसी व्यक्ति को ऐसा त्रैकालिक-ज्ञान हो सकता है या नहीं? फिर भी त्रैकालिक-सर्वज्ञ की कल्पना तर्कविरुद्ध नहीं कही जा सकती। देश और काल की सीमाओं से ऊपर उठकर त्रिकालज्ञ-सर्वज्ञ की धारणा सिद्ध हो जाती है। प्रबुद्ध वैज्ञानिक एवं सापेक्षवाद के प्रवर्तक आइन्स्टीन ने निरपेक्ष-दृष्टि की परिकल्पना को स्वीकार किया था। कोई त्रिकालज्ञ-सर्वज्ञ हो सकता है, यह तार्किक सत्य अवश्य है, क्योंकि यदि जगत् एक नियमबद्ध व्यवस्था है, तो उस व्यवस्था के ज्ञान के साथ ही ठीक वैसे ही त्रैकालिक-घटनाओं के ज्ञान के आधार पर भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी सूर्य एवं चन्द्र-ग्रहणों की घटनाओं का त्रैकालिक-ज्ञान हो जाता है। यदि सर्वज्ञ आत्म-द्रव्य की सभी पर्यायों को जानता है, तो हमें आत्मा की सभी पर्यायों को नियत भी मानना होगा। यह मान्यता स्पष्ट रूप से पूर्व निर्धारणवाद या नियतिवाद की दिशा में ले जाती है। यद्यपि नियतिवाद और जैन-सर्वज्ञता की धारणा में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ नियतिवाद में पुरुषार्थ या व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अस्वीकार कर नियतता को स्वीकार किया जाता है। आचार्य हस्तीमलजी म.सा. ने अपने एक लेख में इसका समर्थन किया था। यद्यपि उन्होंने महावीर के जीवनप्रसंगों के आधार पर घटनाओं को नियतानियत मानकर सर्वज्ञता और पुरुषार्थवाद में संगति बिठाने का प्रयास किया है, तथापि पर्यायों को नियतानियत मानने से त्रिकालज्ञ-सर्वज्ञता की धारणा काफी निर्बल हो जाती है। त्रिकालज्ञ-सर्वज्ञता की धारणा में पुरुषार्थ की सम्भावना नियत-पुरुषार्थ के रूप में ही हो सकती है। पाश्चात्य-विचारक स्पीनोजा ने भी ऐसे ही नियत-पुरुषार्थ की धारणा को स्वीकार किया है। सर्वज्ञता की धारणा में पुरुषार्थ नियत होता है, अनियत नहीं। वह धारणा पुरुषार्थ या वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण तो नहीं करती लेकिन उसे अनियत भी नहीं रहने देती। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं कि नियतिवाद पुरुषार्थ का अपलाप नहीं करता है, वह कहता है कि सिद्धरूप साध्य रूप भी नियत है तथैव पुरुषार्थ रूप साधन भी नियत है। दोनों ही आत्मा की पर्याय हैं। एक सिद्धिरूप पर्याय है दूसरी साधनरूप पर्याय है। नियतिवाद में पुरुषार्थ को स्थान नहीं है, बिना कारण के ही वहाँ कार्य होता है, यह बात नहीं है। नियति में पुरुषार्थ होता है, पर वह भी नियत ही होता है, अनियत नहीं, साथ ही सर्वज्ञता की धारणा में पुरुषार्थ का अपलाप इसलिए भी नहीं होता कि सर्वज्ञता की धारणा नियतता का प्रमाण हो सकती है,

लेकिन कारण नहीं। सर्वज्ञता का प्रत्यय व्यक्ति का नियामक नहीं बनता, वह मात्र उसकी नियतता को जानता है। पुरुषार्थ ज्ञान की दृष्टि से नियत अवश्य होता है, लेकिन पुरुषार्थ जिनके द्वारा किया जाता है, वह तो ज्ञाता है और ज्ञाता ज्ञान से नियत नहीं होता। इस प्रकार, सर्वज्ञता के प्रत्यय में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कुण्ठन नहीं होता। सर्वज्ञ से व्यक्ति का कर्तृत्व निर्धारित नहीं होता, वरन् सर्वज्ञ भविष्य में जो किया जाने वाला है, उसको जानता है। सर्वज्ञ जो जानता है, व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला है, उसे सर्वज्ञ जानता है-ऐसा मानने पर सर्वज्ञता की धारणा में पुरुषार्थ और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपलाप नहीं होता। श्री यदुनाथ सिन्हा भी लिखते हैं कि ईश्वर का पूर्वज्ञान भी मानवीय-स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है। प्राक्दृष्टि अथवा पूर्वाज्ञान का अर्थ अनिवार्यतः पूर्वनिर्धारण नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वज्ञतावाद, निर्धारणवाद या नियतिवाद नहीं है।

क्या केवलज्ञान निर्विकल्प है?

पण्डित कन्हैयालालजी लोढ़ा ने सर्वज्ञता में एक यह प्रश्न उपस्थित किया है कि केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर विकल्प रहते हैं या नहीं रहते हैं? सामान्य दृष्टिकोण यह है कि केवलज्ञान की अवस्था निर्विचार और निर्विकल्प की अवस्था है, किन्तु जैन कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से यही प्रश्न उपस्थित होता है कि केवली में ज्ञानोपयोग और दर्शनापयोग दोनों ही होते हैं। दर्शनापयोग को निर्विकल्प या अनाकार तथा ज्ञानोपयोग को सविकल्प या साकार माना गया है। पुनः केवली भी जब चौदहवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान के चतुर्थपाद पर आरूढ़ होते हैं तब ही वे निर्विचार अवस्था को प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान की अवस्था में विचार तो रहता है, क्योंकि केवलज्ञानी जब तक सयोग अवस्था में रहता है, तब तक उसकी मन, वचन और काया की प्रवृत्ति होती है। उसमें मनोयोग का अभाव नहीं है, मन की प्रवृत्ति है, अतः विचार है। यदि केवली निर्विचार या निर्विकल्प होता तो फिर उसे अयोगी केवली अवस्था में पहले स्थूल मन और फिर सूक्ष्म मन के निरोध की आवश्यकता ही नहीं रहती। मन की प्रवृत्तियों का निरोध यदि अयोगी केवली अवस्था में ही होता है तो फिर सयोगी केवली अवस्था में मन क्या कार्य करता है? क्योंकि निर्विकल्पता की अवस्था में तो मन के लिए कोई कार्य ही शेष नहीं रहता है। यदि ऐसा माने कि केवली में भाव मन नहीं रहता है, मात्र द्रव्य मन रहता है, किन्तु द्रव्यमन भी बिना भाव मन के नहीं रह सकता। भाव मन के अभाव में द्रव्य मन तो मात्र एक पौद्गलिक संरचना होगा, जो जड़ होगा और जड़ में विचार सामर्थ्य संभव नहीं है और विचार के बिना मनोयोग के निरोध का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता है। मेरी दृष्टि में इस संदर्भ में पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा का यह मंतव्य उचित

ही लगता है कि वस्तुतः विचार या विकल्प दो प्रकार के होते हैं - एक कामना रूप विचार और दूसरा निर्विकार या निष्कामबोध विचार। निष्काम विचार में मात्र कर्तव्य बुद्धि होती है। केवली में कामनारूप या जिज्ञासा रूप विकल्प नहीं होते, किन्तु विवेक रूप विकल्प तो होते हैं। यह भी द्रव्य को द्रव्य के रूप में गुण को गुण के रूप में और पर्याय को पर्याय के रूप में जानता है और ऐसा ज्ञान विकल्परूप ज्ञान है।

क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष होता है?

यद्यपि जैन दर्शन में यह माना गया है कि सर्वज्ञ या केवली सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष है। इस सन्दर्भ में जैन दार्शनिकों में भी मतभेद पाया जाता है। कुछ समकालीन जैन विचारक सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष मानते हैं जबकि दूसरे कुछ विचारकों के अनुसार सर्वज्ञ का ज्ञान भी सापेक्ष होता है। पं. दलसुखभाई मालविण्या ने “स्याद्वादमंजरी” की भूमिका में सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष बताया है। जबकि मुनि श्री नगराजजी ने “जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान” नामक पुस्तिका में यह माना है कि सर्वज्ञ का ज्ञान भी कहने भर को ही निरपेक्ष है क्योंकि स्यादस्ति, स्यान्नस्ति से परे वह भी नहीं है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ तक सर्वज्ञ के वस्तु जगत् के ज्ञान का प्रश्न है उसे निरपेक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके ज्ञान का विषय अनन्त धर्मात्मक वस्तु है। अतः सर्वज्ञ भी वस्तुतत्त्व के अनन्त गुणों को अनन्त अपेक्षाओं से ही जान सकता है। वस्तुगत ज्ञान या वैषयिक ज्ञान (Objective Knowledge) कभी भी निरपेक्ष नहीं हो सकता, फिर चाहे वह सर्वज्ञ का ही क्यों न हो? इसीलिए जैन आचार्यों का कथन है कि दिप से लेकर व्योम तक वस्तु मात्र स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि जहाँ तक सर्वज्ञ के आत्म-बोध का प्रश्न है वह निरपेक्ष हो सकता है क्योंकि वह विकल्प रहित होता है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा था कि व्यवहार दृष्टि से सर्वज्ञ सभी द्रव्यों को जानता है किन्तु परमार्थतः तो वह आत्मा को ही जानता है। सर्वज्ञ का आत्म बोध तो निरपेक्ष होता है किन्तु उसका वस्तु विषयक ज्ञान सापेक्ष होता है।

□□

जैनदर्शन में प्रमाण विवेचन

जैनदर्शन में प्रमाण चर्चा एक परवर्ती अवधारणा है। नैयायिकों और बौद्धों के पश्चात् ही जैनों ने प्रमाण विवेचन को अपना विषय बनाया है। सम्भवतः इसका काल लगभग ईसा की चौथी-पांचवी शताब्दी से प्रारम्भ होता है, क्योंकि लगभग तीसरी शताब्दी के जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में 'ज्ञानं प्रमाणम्' मात्र इतना ही उल्लेख मिलता है। जैन आगमों में भी प्रमाण (प्रमाण) शब्द का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उनमें प्रायः प्रमाण से क्षेत्रगत या कालगत परिणाम को ही सूचित किया गया है। प्राचीन स्तर के दिगम्बर ग्रन्थों में भी उक्त प्रमाण शब्द वस्तुतः नापतौल की ईकाई के रूप में ही देखा जाता है। आगमों में केवल एक स्थान पर ही चार प्रमाणों की चर्चा हुई है, किन्तु वे चार प्रमाण वस्तुतः नैयायिकों के प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान प्रमाण के समरूप ही हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि जैनों में प्रमाण चर्चा का विकास एक परवर्ती घटना है। आगमों में उक्त प्रमाण चर्चा का विशेष उल्लेख हमें नहीं मिलता है। जैसा कि हमने पूर्व में कहा आगमों में मात्र एक स्थान पर नैयायिकों का अनुसरण करते हुए चार प्रमाणों का उल्लेख देखा जा सकता है।

कालक्रम की अपेक्षा से आगमयुग के पश्चात् जैन दर्शन में 'अनेकान्त स्थापना' का युग आता है। इसका काल लगभग चौथी शताब्दी से प्रारम्भ करके आठवीं-नवीं शताब्दी तक जाता है। इस काल खण्ड के प्रथम दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर और दिगम्बर परम्परा की अपेक्षा से समन्तभद्र माने जा सकते हैं। इस युग में प्रमाण चर्चा का विकास हो रहा था। इस युग में प्रमाण को परिभाषित करते हुए जैनाचार्यों ने कहा "प्रमीयते येन तत् प्रमाणम्" अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण है, इस प्रकार ज्ञान का साधन है। तत्त्वार्थसूत्र में सर्वप्रथम प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों का ही उल्लेख मिलता है, उसमें जैनों के द्वारा मान्य पाँच ज्ञानों को ही इन दो प्रमाणों में वर्गीकृत किया गया है। कालान्तर में 'नन्दीसूत्र' में प्रत्यक्ष प्रमाण के दो विभाग किये गये - 1. पारमार्थिक प्रत्यक्ष और 2. सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में प्रत्यक्ष के ऐसे दो विभाग नहीं करके मात्र पाँच ज्ञानों में मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष तथा अवधि, मनपर्यय तथा केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। यह स्पष्ट है कि जैनों ने लगभग पाँचवी शताब्दी में ही ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को जो

कि पूर्व में परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत ही आता था, लोक परम्परा का अनुसरण करते हुए सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष नाम दिया। इस प्रकार प्रत्यक्ष के दो विभाग सुनिश्चित हुए- सांख्यावहारिकप्रत्यक्ष और पारमार्थिकप्रत्यक्ष। इनमें पारमार्थिकप्रत्यक्ष को आत्मिकप्रत्यक्ष और सांख्यावहारिकप्रत्यक्ष को ऐन्द्रिकप्रत्यक्ष भी कहा गया। परोक्षप्रमाण के विभागों की चर्चा परवर्तीकाल में उठी थी। दिगम्बर परम्परा में अकलंक ने प्रायः आठवीं शती में और श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धत्रयि ने लगभग नवीं शताब्दी में परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद किये, जो क्रमशः इस प्रकार हैं- (1) स्मृति, (2) प्रत्यभिज्ञान (पहचानना), (3) तर्क, (4) अनुमान और (5) आगम। दिगम्बर परम्परा में आचार्य अकलंक ने भी प्रत्यक्ष को मिलाकर अपनी कृतियों में छः प्रमाणों की चर्चा की थी- (1) प्रत्यक्ष, (2) स्मृति, (3) प्रत्यभिज्ञान, (4) तर्क, (5) आगम। किन्तु इस व्यवस्था के पूर्व जैनों में भी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम या शब्द- ऐसे तीन ही प्रमाण थे। यद्यपि जैन आगमों ने उपमान को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया था, किन्तु कालान्तर में इसका अन्तर्भाव अनुमान में करके स्वतंत्र प्रमाण के रूप में इसका परित्याग कर दिया गया था। जहाँ तक भारतीय चिन्तन का प्रश्न है उसमें सामान्यतया जैनों को तीन प्रमाण मानने वाला ही स्वीकार किया गया है। भारतीय चिन्तन में प्रमाणों की संख्या सम्बन्धी चर्चा को लेकर विभिन्न दर्शनों में इस प्रकार की व्यवस्था रही है -

- (1) चार्वाक- प्रत्यक्ष
- (2) वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन - 1. प्रत्यक्ष और 2. अनुमान
- (3) सांख्य एवं प्राचीन जैन दर्शन - 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान और 3. आगम या शब्द
- (4) न्याय दर्शन - 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. शब्द और 4. उपमान
- (5) मीमांसा दर्शन(प्रभाकर सम्प्रदाय) - 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. शब्द 4. उपमान और 5. अर्थापत्ति
- (6) मीमांसा दर्शन का भाट्ट सम्प्रदाय और वेदान्त - 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. शब्द 4. उपमान 5. अर्थापत्ति और 6. अभाव

प्रमाण लक्षण

सामान्यतः प्रमाण शब्द से प्रमाणिक ज्ञान का ही अर्थबोध होता है किन्तु कौन सा ज्ञान प्रमाणिक होगा इसके लिये विभिन्न दर्शनों में प्रमाण के लक्षणों का निरूपण किया गया है। सामान्यतः उस ज्ञान को ही प्रमाण माना जा सकता था, जो ज्ञान किसी अन्य ज्ञान या प्रमाण से खण्डित न हो, और वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करे, किन्तु कालान्तर में प्रमाण के लक्षणों की चर्चा काफी विकसित हुई। सामान्यतः इसमें प्रमाण के स्वरूप को लेकर दो वर्ग सामने आये- प्रथम वर्ग में

नैयायिकों (न्याय दर्शन) का कहना यह था कि प्रमाण वह है जो पदार्थ को उसके यथार्थ रूप में जानता हो, किन्तु इसके विपरीत दूसरे वर्ग में बौद्धों का कहना यह था कि प्रमाण वह है जो अपने स्वानुभूत ज्ञान को ही प्रामाणिक रूप से जानता है। इस दूसरे वर्ग ने प्रमाण के संबंध में यह निश्चित किया कि स्वानुभूत 'ज्ञान ही प्रमाण है।' इस प्रकार प्रमाण-लक्षण के सन्दर्भ में पुनः दो मत देखे जाते हैं। जहाँ बौद्धों ने ज्ञान को प्रमाण मानकर भी ज्ञानाकारता/तदाकारता को प्रमाण रूप माना जबकि जैनों ने इस तदाकारता का खण्डन करके स्व-पर प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण रूप माना। जहाँ नैयायिकों कहना था, कि ज्ञान पर (पदार्थ) प्रकाशक है, अर्थात् ज्ञान के करण (साधन) ही प्रमाण होते हैं, वे "इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष" को प्रमाण मानते थे। जहाँ तत्त्वार्थसूत्र में जैनों ने "तत् प्रमाणे" कहकर ज्ञान को प्रमाण मानने के मत का समर्थन किया था, वहाँ नैयायिकों ने ज्ञान के करण अर्थात् साधन-इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष अर्थात् संयोग को ही प्रमाण माना, यद्यपि बौद्ध और जैन दोनों ज्ञान को ही प्रमाण मानते थे। जैनों के अनुसार न तो बौद्धों द्वारा मान्य ज्ञान में वस्तु की चेतना जो तदाकारता बनती है, वही ज्ञान रूपता प्रमाण है, और न नैयायिकों द्वारा मान्य 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' ही प्रमाण है। जैनाचार्यों ने इस सम्बन्ध में बौद्धों और नैयायिकों दोनों की आलोचना की। नैयायिकों के मत के अनुसार प्रमाण 'पर' (पदार्थ) का प्रकाशक अर्थात् पदार्थ का ज्ञान कराने वाला होता है, जबकि बौद्धों ने यह माना था कि प्रमाण 'स्व' का अर्थात् अपने ज्ञानों का ही ज्ञान करता है, अर्थात् वह स्व-प्रकाशक है। इस प्रकार प्रमाण के लक्षण में दो प्रकार की अवधारणाएँ बनी- एक प्रमाण स्व-प्रकाशक है और दूसरी प्रमाण पर (पदार्थ)-प्रकाशक है। प्रमाण पर प्रकाशक है इस मत के समर्थक नैयायिक और वैशेषिक दर्शन थे, जबकि प्रमाण मात्र स्व प्रकाशक है इस मत के समर्थक विज्ञानवादी बौद्ध थे। जैनों के सामने जब प्रमाण के स्वप्रकाशकत्व और परप्रकाशकत्व का प्रश्न आया तो उन्होंने अपनी अनेकान्त दृष्टि के आधार पर उसे स्व-पर प्रकाशक माना। सर्वप्रथम श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार (1) में और दिगम्बर परम्परा में आचार्य समन्तभद्र ने सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थसूत्र की टीका (1/10) में इस मत का समर्थन किया और इस प्रकार प्रमाण का जैनों ने जो लक्षण निर्धारित किया उसमें उन्होंने उसे 'स्व' अर्थात् अपने ज्ञान का तथा 'पर' अर्थात् पदार्थ-ज्ञान का प्रकाशक माना। बौद्ध पदार्थ ज्ञान को इसलिए प्रमाणभूत नहीं मानते थे कि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान से पृथक् ज्ञेय अर्थात् पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं मानते थे। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार निम्न कारिका में इस बात को स्पष्ट किया है -

प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं, बाधविवर्जितम् ।

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा, मेयविनिश्चयात् ।। - न्यायावतार ।

इस प्रकार न्यायावतार में प्रमाण का लक्षण करते हुए उसे स्व-पर दोनों का प्रकाशक माना है। साथ ही, उसे बाधविवर्जित अर्थात् स्वतः सुसंगत भी माना गया है। सुसंगत होने का अर्थ है, अविस्वादिता या पारस्परिक विरोध से रहित होना। इस प्रकार प्रारम्भ में प्रमाण के दो मुख्य लक्षण माने गये। इसके पश्चात् अकलंक ने बौद्ध परम्परा का अनुसरण करते हुए अष्टशती में बाधविवर्जित अर्थात् अविस्वादिता को भी प्रमाण का लक्षण स्वीकार किया गया। इसी क्रम में मीमांसकों के प्रभाव से अकलंक ने अनधिगतार्थक या अपूर्व को भी प्रमाण-लक्षण में संनिविष्ट किया गया। अकलंक और माणिक्यनंदी ने प्रमाण लक्षण के रूप में अपूर्व को अधिक महत्व दिया था। इस प्रकार जैन परम्परा में प्रारम्भ में प्रमाण के चार लक्षण माने थे - 1. स्वप्रकाशक 2. परप्रकाशक 3. बाधविवर्जित या अविस्वादिता 4. अनधिगतार्थक या अपूर्व। लगभग हेमचन्द्र के पूर्व तक परम्परा में प्रमाण के वही चार लक्षण माने गये थे, किन्तु उन्होंने अन्य शब्दावली में प्रकट किया है, उनके अनुसार सम्यक् अर्थनिर्णयः ही प्रमाण है।

यद्यपि यह ठीक है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में नयी शब्दावली का प्रयोग किया है, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि उन्होंने अपने पूर्व के जैनाचार्यों के प्रमाण-लक्षणों को पूरी तरह से छोड़ दिया है। यद्यपि इतना अवश्य है कि हेमचन्द्र ने दिगम्बराचार्य विद्यानन्द और श्वेताम्बरचार्य अभयदेव और वादिदेवसूरि का अनुसरण करके अपने प्रमाणलक्षण में अपूर्व पद को स्थान नहीं दिया है। साथ ही, पं. सुखलालजी के शब्दों में उन्होंने 'स्व' पद को, जो सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्यों की परिभाषा में था, निकाल दिया। अवभास, व्यवसाय आदि पदों का भी स्पष्ट निर्देश नहीं किया और उमास्वामि, धर्मकीर्ति, भासवर्ज आदि के 'सम्यक्' पद को अपनाकर 'सम्यगर्थनिर्णयः' प्रमाणम् के रूप में अपना-प्रमाणलक्षण प्रस्तुत किया। इस परिभाषा या प्रमाण-लक्षण में सम्यक् पद किसी सीमा तक पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रयुक्त बाधविवर्जित या अविस्वादिता का ही पर्याय माना जा सकता है। 'अर्थ' शब्द का प्रयोग बौद्धों के विज्ञानवादी दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए प्रमाण के 'पर' अर्थात् वस्तु के अवबोधक होने का सूचक है, जो जैनों के वस्तुवादी (Realistic) दृष्टिकोण का समर्थक भी है।

पुनः 'निर्णय' शब्द जहाँ एक ओर अवभास, व्यवसाय आदि का सूचक है, वहीं दूसरी ओर वह प्रकारान्तर से प्रमाण के 'स्वप्रकाशक' होने का भी सूचक है। इस प्रकार प्रमाण-लक्षण-निरूपण में अनधिगतार्थक या अपूर्वार्थग्राहक होना ही

एक ऐसा लक्षण है, जिसका हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर आचार्यों के समान परित्याग किया है। वस्तुतः स्मृति को प्रमाण मानने वाले जैनागमों को यह लक्षण आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ। श्वेताम्बर परम्परा ने तो उसे कभी स्वीकार ही नहीं किया। दिगम्बर परम्परा अकलंक और माणिक्यनन्दी के पश्चात् विद्यानन्द ने इसका परित्याग कर दिया। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्वाचार्यों के दृष्टिकोणों का सम्मान करते हुए और उनके प्रमाण-लक्षणों को सन्निविष्ट करते हुए प्रमाणमीमांसा में 'प्रमाण' की एक विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में 'स्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर स्वयं उन्होंने प्रथम अध्याय के प्रथम आहिक के चतुर्थ पद की स्वोपज्ञ टीका में दिया है, उन्होंने बताया है कि ज्ञान तो स्व-प्रकाश ही है, किन्तु 'पर' का व्यावर्तक नहीं होने से लक्षण में इसका प्रवेश अनावश्यक है। पं. सुखलालजी के अनुसार ऐसा करके उन्होंने एक ओर अपने विचार-स्वातन्त्र को स्पष्ट किया वहीं दूसरी ओर पूर्वाचार्यों के मत का खण्डन न करके, 'स्व' पद के प्रयोग करने की उनकी दृष्टि दिखाकर उनके प्रति आदर भी व्यक्त किया। साथ ही, ज्ञान के स्वभावतः स्व-प्रकाशक होने से उन्होंने अपने प्रमाण-लक्षण में 'स्व' पद नहीं रखा।

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र के अपने प्रमाण-लक्षण में 'अधिगत' या 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा? इसका उत्तर भी प्रमाणमीमांसा में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की चर्चा में मिल जाता है। भारतीय दर्शन में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य को लेकर दो दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। एक ओर न्याय-वैशेषिक और मीमांसकों के प्रभाकर एवं भाट्ट सम्प्रदाय कुछ सूक्ष्म मतभेदों को छोड़कर सामान्यता धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर बौद्ध परम्परा सामान्य-व्यक्ति (प्रमाता) के ज्ञान में सूक्ष्म काल-भेद का ग्रहण नहीं होने से धारावाहिक ज्ञान को अप्रमाण मानती है। यद्यपि कुमारिल भट्ट की परम्परा भी अपने प्रमाण-लक्षण में अपूर्व पद रखने के कारण सूक्ष्म काल-कला के भान (बोध) को मानकर ही उसमें प्रामाण्य का उत्पादन करती है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक अर्चट ने अपन हेतुबिन्दु की टीका में सूक्ष्म-कला के भान के कारण योगियों के धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना है।

जहाँ तक जैनो का प्रश्न है, सामान्यता कुछ दिगम्बर आचार्यों ने अपने प्रमाण-लक्षण में 'अपूर्व' पद को स्थान दिया है, अतः उनके अनुसार भी धारावाहिक ज्ञान, जब क्षण भेदादि की स्थिति में विशेष का बोध कराता हो और विशिष्ट प्रमाजनक हो तभी प्रमाण कहा जाता है। इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा के

आचार्य अपने प्रमाण-लक्षण में 'अपूर्व' पद नहीं रखते हैं और स्मृति के समान धारावाहिक ज्ञान की भी प्रमाण मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्यों में हेमचन्द्र ने अपने प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर भी उनकी प्रमाणमीमांसा में मिल जाता है। आचार्य स्वयं ही स्वोपज्ञ टीका में इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की उद्भावना करके उत्तर देते हैं। प्रतिपक्ष का कथन है कि धारावाहिक स्मृति आदि ज्ञान अधिगतार्थक पूर्वार्थक है और इन्हें सामान्यतया अप्रमाण समझा जाता है। यदि इन्हें अप्रमाण मानते हो तो (तुम्हारा) सम्यगर्थनिर्णय रूप लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है? प्रतिपक्ष के इस प्रश्न का उत्तर में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा था कि यदि धारावाहिक ज्ञान और स्मृति प्रमाण है तो फिर प्रमाण के लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद निरर्थक हो जाता है। पं. सुखलालजी का कथन है कि "श्वेताम्बर आचार्यों में हेमचन्द्र की खास विशेषता यह है कि उन्होंने गृहीतग्राही और ग्रहीष्यमाणग्राही में समत्व दिखाकर सभी धारावाहिक ज्ञानों में प्रामाण्य का जो समर्थन किया है, वह विशिष्ट है। यही कारण है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद की उद्भावना नहीं की है।

वस्तुतः हेमचन्द्र की प्रमाण-लक्षण की अवधारणा हमें पाश्चात्य तर्कशास्त्र के सत्य के संवादितासिद्धान्त का स्मरण करा देती है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में सत्यता-निर्धारण के तीन सिद्धान्त हैं - 1. संवादिता सिद्धान्त, 2. संगति सिद्धान्त और 3. उपयोगितावादी या अर्थक्रियावादी सिद्धान्त। उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों में हेमचन्द्र का सिद्धान्त अपने प्रमाण-लक्षण में अविस्वादिता और अपूर्वता के लक्षण नहीं होने से तथा प्रमाण को सम्यगर्थनिर्णय के रूप में परिभाषित करने के कारण सत्य के संवादिता सिद्धान्त के निकट हैं। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में अपने पूर्वाचार्यों के मतों को समाहित करते हुए भी एक विशेषता प्रदान की है। प्रमाण लक्षण निरूपण में यही उनका वैशिष्ट्य है।



जैनदर्शन में प्रमाणलक्षण विवेचन

जैन न्याय का विकास

न्याय एवं प्रमाण-चर्चा के क्षेत्र में सामान्य रूप से जैन दार्शनिकों का और विशेष रूप से आचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थ प्रमाणमीमांसा का क्या अवदान है, यह जानने के लिए जैन न्याय के विकासक्रम को जानना आवश्यक है। यद्यपि जैनो का पंचज्ञान का सिद्धान्त पर्याप्त प्राचीन है और जैन विद्या के कुछ विद्वान उसे पार्श्व के युग तक ले जाते हैं, किन्तु जहाँ तक प्रमाण-विचार का क्षेत्र है, उसमें जैन का प्रवेश नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्धों के पश्चात् ही हुआ है। प्रमाण-चर्चा के प्रसंग में जैनो का प्रवेश चाहे परवर्ती हो, किन्तु इस कारण वे इस क्षेत्र में जो अवदान दे सके हैं, वह हमारे लिए गौरव की वस्तु है।

इस क्षेत्र में परवर्ती होने का लाभ यह हुआ कि “जैनो ने पक्ष और प्रतिपक्ष के सिद्धान्तों के गुण-दोषों का सम्यक् मूल्यांकन करके फिर अपने मन्तव्य को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह पक्ष और प्रतिपक्ष की तार्किक कमियों का परिमार्जन करते हुए एक व्यापक और समन्वयात्मक सिद्धान्त बन सके।” पं. सुखलालजी के अनुसार जैन प्रमाण-मीमांसा ने मुख्यतः तीन युगों में अपने क्रमिक विकास को पूर्ण किया है। - 1. आगम युग, 2. अनेकान्त स्थापन युग और 3. न्याय एवं प्रमाण स्थापन युग। यहाँ हम इन युगों की विशिष्टताओं की चर्चा न करते हुए केवल इतना कहना चाहेंगे कि जैनो ने अपने अनेकान्त सिद्धान्त को स्थिर करके फिर प्रमाण विचार के क्षेत्र में कदम रखा था। उनके इस परवर्ती प्रवेश का एक लाभ तो यह हुआ कि पक्ष और प्रतिपक्ष का अध्ययन कर वे उन दोनों की कमियों और तार्किक असंगतियों को समझ सके तथा दूसरे पूर्व-विकसित उनकी अनेकान्त दृष्टि का लाभ यह हुआ कि वे उन दोनों के मध्य समन्वय स्थापित कर सके। उन्होंने पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच समन्वय स्थापित करने का जो प्रयास किया, उसी में उनका सिद्धान्त स्थिर हो गया और यही उनका न्याय एवं क्षेत्र में विशिष्ट अवदान कहलाया। इस क्षेत्र में उनकी भूमिका सदैव एक तटस्थ न्यायाधीश की रही। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की समीक्षा के माध्यम से सदैव अपने चिन्तन को समृद्ध किया और जहाँ आवश्यक लगा, वहाँ अपनी पूर्व मान्यताओं को संशोधित और

परिमार्जित भी किया। चाहे सिद्धसेन हों या समन्तभद्र, अकलंक हों या विद्यानन्द, हरिभद्र हों या हेमचन्द्र, सभी ने अपने ग्रन्थों के निर्माण में जहाँ अपनी परम्पराओं के पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन किया, वहीं अन्य परम्परा के पक्ष और प्रतिपक्ष का भी गम्भीर अध्ययन किया। अतः जैनन्याय या प्रमाण-विचार स्थिर न रहकर गतिशील बना रहा। वह युग-युग में परिष्कृत, विकसित और समृद्ध होता रहा।

प्रमाणमीमांसा का उपजीव्य

आचार्य हेमचन्द्र का प्रमाणमीमांसा नामक यह ग्रन्थ भी इसी क्रम में हुए जैन न्याय के विकास का एक चरण है। प्रमाणमीमांसा एक अपूर्ण ग्रन्थ है। न तो मूलग्रन्थ और न उसकी वृत्ति ही पूर्ण है। उपलब्ध मूल सूत्र 100 हैं और इन्हीं पर वृत्ति भी उपलब्ध है। इसका तात्पर्य यही है कि यह ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र अपने जीवन-काल में पूर्ण नहीं कर सके थे। इसका फलित यह है कि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम चरण में ही इस कृति का लेखन प्रारम्भ किया होगा। यह ग्रन्थ भी कणादसूत्र या वैशेषिकसूत्र, ब्रह्मसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र की तरह सूत्र-शैली का ग्रन्थ है, फिर भी इस ग्रन्थ की वर्गीकरण शैली भिन्न ही है। आचार्य की योजना इसे पाँच अध्यायों में समाप्त करने की थी और वे प्रत्येक अध्याय को दो-दो आह्निकों में विभक्त करना चाहते थे, किन्तु आज इसके मात्र दो अध्याय अपने दो-दो आह्निकों के साथ उपलब्ध हैं। अध्याय और आह्निक का यह विभाग क्रम इसके पूर्व अक्षपाद के न्यायसूत्रों एवं जैन परम्परा में अकलंक के ग्रन्थों में देखा जाता है। अपूर्ण होने पर भी इस ग्रन्थ की महत्ता व मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी हुई है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ के लेखन में अपनी परम्परा और अन्य दार्शनिक परम्पराओं के न्याय सम्बन्धी ग्रन्थों का पूरा अवलोकन किया है। पं. सुखलालजी के शब्दों में “आगमिक साहित्य के अतिविशाल खजाने के उपरान्त ‘तत्त्वार्थ’ से लेकर ‘स्याद्वादरत्नाकर’ तक के संस्कृत तार्किक जैन साहित्य की भी बहुत बड़ी राशि हेमचन्द्र के परिशीलन पथ में आई, जिससे हेमचन्द्र का सर्वांगीण सर्जक व्यक्तित्व सन्तुष्ट होने के बजाय एक ऐसे नए सर्जन की ओर प्रवृत्त हुआ, जो अब तक के जैन वाङ्मय में अपूर्व स्थान रख सके।”¹ वस्तुतः निर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, तत्त्वार्थ और उसका स्वोपज्ञ भाष्य जैसे आगमिक एवं दार्शनिक ग्रन्थ तथा सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, अकलंक, माणिक्यनन्दी और विद्यानन्द की प्रायः समग्र कृतियाँ इसकी उपादान सामग्री बनी हैं। पं. सुखलाल जी की मान्यता है कि प्रभाचन्द्र के ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ अनन्तवीर्य की ‘प्रमेयरत्नमाला’ और वादिदेवसूरि के ‘स्याद्वादरत्नाकर’ का इसमें स्पष्ट उपयोग हुआ है। फिर भी उनकी दृष्टि में अकलंक और माणिक्यनन्दी का मार्गानुगमन प्रधानतया देखा जाता है। इसी प्रकार बौद्ध और वैदिक परम्परा के वे

सभी ग्रन्थ, जिनका उपयोग उनकी कृति की आधारभूत, पूर्वाचार्यों की जैनन्याय की कृतियों में हुआ है, स्वाभाविक रूप से उनकी कृति के आधार बने हैं। पुनः वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि बौद्ध परम्परा के दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट और शान्तरक्षित तथा वैदिक परम्परा के कणाद, भासर्वज्ञ, व्योमशिव, श्रीधर, अक्षपाद, वात्सायन, उद्योतकर, जयन्त, वाचस्पति मिश्र, शबर, प्रभाकर और कुमारिल की कृतियाँ उनके अध्ययन का विषय रही हैं।^१ वस्तुतः अपनी परम्परा के और प्रतिपक्षी बौद्ध एवं वैदिक परम्परा के इन विविध ग्रन्थों के अध्ययन के परिणामस्वरूप ही हेमचन्द्र जैन न्याय के क्षेत्र में एक विशिष्ट कृति प्रदान कर सके। हेमचन्द्र को इस कृति की आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई? जब उनके सामने अभयदेव का 'वादार्णव' और वादिदेव के 'स्याद्वादरत्नाकर' जैसे अपनी परम्परा के सर्वसंग्राहक ग्रन्थ उपस्थित थे, फिर उन्होंने यह ग्रन्थ क्यों रचा? इस सम्बन्ध में पं. सुखलालजी कहते हैं कि "यह सब हेमचन्द्र के सामने था, पर उन्हें मालूम हुआ कि न्याय-प्रमाण-विषयक (इस) साहित्य में कुछ भाग तो ऐसा है, जो अति महत्त्व का होते हुए भी एक-एक विषय की ही चर्चा करता या बहुत संक्षिप्त है। दूसरा (कुछ) भाग ऐसा है कि जो सर्व विषय संग्राही तो है, पर वह उत्तरोत्तर इतना अधिक विस्तृत तथा भाषा की अपेक्षा क्लिष्ट है कि सर्वसाधारण के अभ्यास को विषय नहीं बना सकता। इस विचार से हेमचन्द्र ने एक ऐसा प्रमाण विषयक ग्रन्थ बनाना चाहा जो उनके समय तक चर्चित एक भी दार्शनिक विषय की चर्चा से खाली न रहे, फिर भी वह सामान्य बुद्धि के पाठक के पठन-पाठन के योग्य तथा मध्यम कद का हो। इसी दृष्टि से 'प्रमाणमीमांसा' का जन्म हुआ।^१

यह ठीक है कि प्रमाणमीमांसा सामान्य बौद्धिक स्तर के पाठकों के लिए मध्यम आकार का पठन-पाठन के योग्य ग्रन्थ है, किन्तु इससे वैदुष्यपूर्ण और विशिष्ट होने में कोई आँच नहीं आती है। यद्यपि हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना में अपने एवं इतर परम्परा के पूर्वाचार्यों का उपयोग किया है, फिर भी इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र अपने स्वतन्त्र चिन्तन और प्रतिभा का उपयोग भी उन्होंने किया है। अतः इसकी मौलिकता को नकारा नहीं जा सकता है। इस ग्रन्थ की रचना में अनेक स्थलों पर हेमचन्द्र ने विषय को अपने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक सुसंगत ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और इसी कारण ग्रन्थ में यत्र-तत्र उनके वैदुष्य और स्वतन्त्र चिन्तन के दर्शन होते हैं, किन्तु उस सबकी चर्चा इस लघु निबन्ध में कर पाना सम्भव नहीं है। पं. सुखलालजी इस ग्रन्थ में हेमचन्द्र के वैशिष्ट्य की चर्चा अपने भाषा-टिप्पणों में की है, जिन्हें वहाँ देखा जा सकता है।^१ यहाँ तो हम मात्र प्रमाण-निरूपण में हेमचन्द्र के प्रमाणमीमांसा के वैशिष्ट्य तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

प्रमाणमीमांसा में प्रमाणलक्षण

प्रमाणमीमांसा में हेमचन्द्र ने प्रमाण का लक्षण 'सम्यगर्थनिर्णयः' कह कर दिया है। यदि हम हेमचन्द्र द्वारा निरूपित इस प्रमाणलक्षण पर विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि यह प्रमाणलक्षण पूर्व में दिये गए प्रमाणलक्षणों से शाब्दिक दृष्टि से तो नितान्त भिन्न ही है। वस्तुतः शाब्दिक दृष्टि से इसमें न तो 'स्व-पर-प्रकाशत्व' की चर्चा है, न बाधविवर्जित या अविसंवादित्व की, जबकि पूर्व के सभी जैन-आचार्यों ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में इन दोनों की चर्चा अवश्य की है। इसमें 'अपूर्वता' को भी प्रमाण के लक्षण के रूप में निरूपित नहीं किया गया है, जिसकी चर्चा कुछ दिगम्बर जैनाचार्यों ने की है। न्यायावतार में प्रमाण के जो लक्षण निरूपित किये गये हैं, उनमें स्व-पर प्रकाशत्व और बाधविवर्जित होना- ये दोनों उसके आवश्यक लक्षण बनाए गये हैं।^१ न्यायावतार की इस परिभाषा में भी बाधविवर्जित अविसंवादित्व का ही पर्याय है। जैन परम्परा में यह लक्षण बौद्ध-परम्परा के प्रभाव से गृहीत हुआ है।^२ जिसे अष्टशती आदि ग्रन्थों में स्वीकार किया गया है।^३ इसी प्रकार मीमांसकों के प्रभाव से अनधिगतार्थक होना या अपूर्व होना भी जैन प्रमाण लक्षण में सन्निविष्ट हो गया। अकलंक और माणिक्यनन्दी ने इसे भी प्रमाण-लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।^४

इस प्रकार जैन-परम्परा में हेमचन्द्र के पूर्व प्रमाण के चार लक्षण निर्धारित हो चुके थे -

1. स्व-प्रकाशक - 'स्व' की ज्ञानपर्याय की बोध कराने वाला।
2. पर-प्रकाशक - पदार्थ का बोध कराने वाला।
3. बाधविवर्जित या अविसंवादित्व।
4. अनधिगतार्थक या अपूर्व (सर्वथा नवीन)

इन चार लक्षणों में से 'अपूर्व' लक्षण का प्रतिपादन माणिक्यनन्दी के पश्चात् दिगम्बर परम्परा में भी नहीं देखा जाता है। विद्यानन्द ने अकलंक और माणिक्यनन्दी की परम्परा से अलग होकर सिद्धसेन और समन्तभद्र के तीन ही लक्षण ग्रहण किये।^५ श्वेताम्बर परम्परा में किसी आचार्य ने प्रमाण का 'अपूर्व' लक्षण प्रतिपादित किया हो, ऐसा हमारे ध्यान में नहीं आता है। यद्यपि विद्यानन्द ने माणिक्यनन्दी के 'अपूर्व' लक्षण को महत्वपूर्ण नहीं माना, किन्तु उन्होंने 'व्यवसायात्मकता' को आवश्यक समझा। परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने भी विद्यानन्द का ही अनुसरण किया है। अभयदेव, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र सभी ने प्रमाण-लक्षण-निर्धारण में 'अपूर्व' पद को आवश्यक नहीं माना है।

जैन परम्परा में हेमचन्द्र तक प्रमाण की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उन्हें पं. सुखलालजी ने चार वर्गों में विभाजित किया है -

1. प्रथम वर्ग में स्व पर अवभास वाला सिद्धसेन (सिद्धर्षि) और समन्तभद्र का लक्षण आता है,¹⁰ स्मरण रहे कि ये दोनों लक्षण बौद्धों एवं नैयायिकों के दृष्टिकोण के समन्वय का फल है।
2. इस वर्ग में अकलंक और माणिक्यनन्दी की अनधिगत, अविसंवादि और अपूर्व लक्षण वाली परिभाषाएँ आती हैं। ये लक्षण स्पष्ट रूप से बौद्ध मीमांसकों के प्रभाव से आए हैं। ज्ञातव्य है कि न्यायावतार में 'बाधविवर्जित' रूप में अविसंवादित्व का लक्षण आ गया है।
3. तीसरे वर्ग में विद्यानन्द, अभयदेव और वादिदेवसूरि के लक्षण वाली परिभाषाएँ आती हैं जो वस्तुतः सिद्धसेन(सिद्धर्षि) और समन्तभद्र के लक्षणों का शब्दान्तरण मात्र हैं और जिनमें अवभास पद के स्थान पर व्यवसाय या निर्णीत पद रख दिया गया है।
4. चतुर्थ वर्ग में आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाण-लक्षण की परिभाषा आती है, जिसमें 'स्व' बाधविवर्जित, अनधिगत या अपूर्व आदि सभी पद हटाकर परिष्कार किया गया है।

यद्यपि यह ठीक है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में नयी शब्दावली का प्रयोग किया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने अपने पूर्व के जैनाचार्यों के प्रमाण-लक्षणों को पूरी तरह से छोड़ दिया है। यद्यपि इतना अवश्य है कि हेमचन्द्र ने दिगम्बराचार्य विद्यानन्द और श्वेताम्बरचार्य अभयदेव और वादिदेवसूरि का अनुसरण करके अपने प्रमाणलक्षण में अपूर्व पद को स्थान नहीं दिया है। पं. सुखलालजी के शब्दों में उन्होंने 'स्व' पद, जो सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्यों की परिभाषा में था, निकाल दिया। अवभास, व्यवसाय आदि पदों को दाखिल किया¹¹ और उमास्वामि, धर्मकीर्ति, भासर्वज्ञ आदि के 'सम्यक्' पद को अपनाकर 'सम्यगर्थनिर्णय' प्रमाणम् के रूप में अपना-प्रमाणलक्षण प्रस्तुत किया। इस परिभाषा या प्रमाण-लक्षण में सम्यक् पद किसी सीमा तक पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रयुक्त बाधविवर्जित या अविसंवादि का पर्याय माना जा सकता है। 'अर्थ' शब्द का प्रयोग बौद्धों के विज्ञानवादी दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए प्रमाण के 'पर' अर्थात् वस्तु के अवबोधक होने का सूचक है, जो जैनों के वस्तुवादी (Realistic) दृष्टिकोण का समर्थक भी है।

पुनः 'निर्णय' शब्द जहाँ एक ओर अवभास, व्यवसाय आदि का सूचक है, वहीं दूसरी ओर वह प्रकारान्तर से प्रमाण के 'स्वप्रकाशक' होने का भी सूचक है। इस प्रकार प्रमाण-लक्षण-निरूपण में अनधिगतार्थक या अपूर्वार्थग्राहक होना ही ऐसा लक्षण है, जिसका हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर आचार्यों के समान परित्याग

किया है। वस्तुतः स्मृति को प्रमाण मानने वाले जैनाचार्यों को यह लक्षण आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ। श्वेताम्बर परम्परा ने तो उसे कभी स्वीकार ही नहीं किया। दिगम्बर परम्परा में भी अकलंक और माणिक्यनन्दी के पश्चात् विद्यानन्द ने इसका परित्याग कर दिया। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्वाचार्यों के दृष्टिकोणों का सम्मान करते हुए और उनके प्रमाण-लक्षणों को सन्निविष्ट करते हुए प्रमाणमीमांसा में 'प्रमाण' की एक विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण-निरूपण में 'स्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर स्वयं उन्होंने प्रथम अध्याय के प्रथम आहिक के चतुर्थ पद की स्वोपज्ञ टीका में दिया है उन्होंने बताया है कि ज्ञान तो स्व-प्रकाश ही है, 'पर' का व्यावर्तक नहीं होने से लक्षण में इसका प्रवेश अनावश्यक है।¹² पं. सुखलालजी के अनुसार ऐसा करके उन्होंने एक ओर अपने विचार-स्वातन्त्र्य को स्पष्ट किया वहीं दूसरी ओर पूर्वाचार्यों के मत का खण्डन न करके, 'स्व' पद के प्रयोग की उनकी दृष्टि से उन्होंने अपने प्रमाण-लक्षण में 'स्व' पद नहीं रखा।¹³

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण में 'अधिगत' या 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा? इसका उत्तर भी प्रमाणमीमांसा में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य को लेकर दो दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। एक ओर न्याय-वैशेषिक और मीमांसकों के प्रभाकर एवं भाट्ट सम्प्रदाय कुछ सूक्ष्म मतभेदों को छोड़कर सामान्यता धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर बौद्ध परम्परा सामान्य-व्यक्ति (प्रमाता) के ज्ञान में सूक्ष्म काल-भेद का ग्रहण नहीं होने से धारावाहिक ज्ञान को अप्रमाण मानती है। यद्यपि कुमारिल भट्ट की परम्परा भी अपने प्रमाण-लक्षण में अपूर्व पद रखने के कारण सूक्ष्म काल-कला का भान मानकर ही उसमें प्रामाण्य का उत्पादन करती है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक अर्चट ने अपने हेतु बिन्दु की टीका में सूक्ष्म-कला के भान के कारण योगियों के धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना है।¹⁴

जहाँ तक जैनों का प्रश्न है, सामान्यता दिगम्बर आचार्यों ने अपने प्रमाण-लक्षण में 'अपूर्व' पद को स्थान दिया है, अतः उनके अनुसार धारावाहिक ज्ञान, जब क्षण भेदादि विशेष का बोध कराता हो और विशिष्ट प्रमाजनक हो तभी प्रमाण कहा है। इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य अपने प्रमाण-लक्षण में 'अपूर्व' पद नहीं रखते हैं और स्मृति के समान धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्यों में हेमचन्द्र ने अपने प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर भी उनकी प्रमाणमीमांसा में मिल जाता है। आचार्य स्वयं ही स्वोपज्ञ टीका में इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की उद्भावना करके उत्तर देते हैं। प्रतिपक्ष का कथन

है कि धारावाहिक स्मृति आदि ज्ञान अधिगतार्थक पूर्वार्थक है और इन्हें सामान्यता अप्रमाण समझा जाता है। यदि इन्हें अप्रमाण मानते हो तो (तुम्हारा) सम्यगर्थ निर्ययरूप लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है? प्रतिपक्ष के इस प्रश्न का उत्तर आचार्य हेमचन्द्र ने कहा था कि यदि धारावाहिक ज्ञान और स्मृति प्रमाण है तो फिर प्रमाण के लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद निरर्थक हो जाता है। पं. सुखलालजी का कथन है कि “श्वेताम्बर आचार्यों में हेमचन्द्र की खास विशेषता यह है कि उन्होंने गृहीतग्राही और ग्रहीष्यमाणग्राही में समत्व दिखाकर सभी धारावाहिक ज्ञानों में प्रामाण्य का जो समर्थन किया है, वह विशिष्ट है।¹⁶ यही कारण है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण-लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद की उद्भावना नहीं की है।

संदर्भ -

1. प्रमाणमीमांसा, सम्पादक पं. सुखलालजी, प्रस्तावना, पृ.16
2. वही, पृ.17.
3. वही, पृ. 16-17.
4. वही, भाषा-टिप्पणानि, पृ. 1-143 तक.
5. प्रमाण स्वपराभासि ज्ञान बाधविवर्जितम्-न्यायातवार, 1.
6. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः - प्रमाणवार्तिक, 2/1
7. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् - अष्टशती/ अष्टसहस्री. पृ. 175.
8. (अ) अनधिगतार्थाधिगमलक्षत्वात् - वही.
(ब) स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् - परीक्षामुख, 1/1
9. प्रमाणमीमांसा (पं. सुखलालजी), भाषाटिप्पणनि, पृ. 16.
10. ज्ञातव्य है कि प्रो. एम.ए. ढाकी के अनुसार 'न्यायावतार' सिद्धसेन की रचना नहीं है, जैसा कि पं. सुखलालजी ने मान लिया था, अपितु उनके अनुसार यह सिद्धर्षि की M.A. Dhaky's article "The Date and Author of Nyayavatara, 'Nirgrantha' Shardaben Chimanbha Educational Research Centre Ahmedabad Vol. 1
11. प्रमाण-मीमांसा (पं. सुखलालजी,) भाषाटिप्पणनि, पृ. 7.
12. वही (मूलग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीका), 1/1/3, पृ. 4.
13. वही, भाषाटिप्पणनि, पृ. 11.
14. देखें, वही. पृ. 12-13.
15. वही (मूलग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीका), 1/1/4, पृ. 4-5.
16. वही, भाषाटिप्पणानि, पृ.14.



जैन दर्शन में ज्ञान का प्रामाण्य और कथन की सत्यता

समकालीन पाश्चात्य दर्शन में भाषा-विश्लेषण का दर्शन एक स्वतन्त्र विधा के रूप में विकास हुआ और आज वह एक सबसे प्रभावशाली दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में अपना अस्तित्व रखता है। प्रस्तुत शोधनिबन्ध का उद्देश्य मात्र यह दिखाना है कि पाश्चात्य दर्शन की ये विधाएँ जैन दर्शन में सहस्राधिक वर्ष पूर्व किस रूप में चर्चित रही हैं और उनकी समकालीन पाश्चात्य दर्शन में किस सीमा तक निकटता है।

ज्ञान की सत्यता का प्रश्न

सामान्यतया ज्ञान के प्रामाण्य या सत्यता का अर्थ ज्ञान की ज्ञेय विषय के साथ समरूपता या संवादिता है। यद्यपि, ज्ञान की सत्यता के सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टिकोण-स्वयं ज्ञान का संगतिपूर्ण होना भी है, क्योंकि जो ज्ञान आन्तरिक विरोध से युक्त है, वह भी असत्य माना गया है। जैन दर्शन में वस्तु स्वरूप को अपने यथार्थ रूप में अर्थात् जैसा वह है उस रूप में जानना अर्थात् ज्ञान का ज्ञेय (प्रमेय) से अव्यभिचारी होना ही ज्ञान की प्रामाणिकता है।¹ यहाँ यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि ज्ञान की इस प्रामाणिकता या सत्यता का निर्णय कैसे होता है? क्या ज्ञान स्वयं ही अपनी सत्यता का बोध देता है या उसके लिए किसी अन्य ज्ञान (ज्ञानान्तर ज्ञान) की अपेक्षा होती है? अथवा ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए ज्ञान और ज्ञेय की संवादिता (अनुरूपता) को देखना होता है? पाश्चात्य परम्परा में ज्ञान की सत्यता के प्रश्न को लेकर तीन प्रकार की अवधारणाएँ हैं - (1) संवादिता सिद्धान्त; (2) संगति सिद्धान्त और (3) उपयोगितावादी (अर्थक्रियाकारी) सिद्धान्त। भारतीय दर्शन में यह संवादिता का सिद्धान्त परतः प्रामाण्यवाद के रूप में और संगति-सिद्धान्त स्वतः प्रामाण्यवाद के रूप में स्वीकृत हैं। अर्थक्रियाकारी सिद्धान्त को परतः प्रामाण्यवाद की ही एक विशेष विधा कहा जा सकता है। जैन दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में किसी ऐकान्तिक दृष्टिकोण को न अपनाकर माना कि ज्ञान के प्रामाण्य या सत्यता का निश्चय स्वतः और परतः दोनों प्रकार से होता है। यद्यपि, जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति का आधार (कसौटी) ज्ञान स्वयं न होकर ज्ञेय है। प्रमाणनयतत्वालोक में वादिदेवसूरि

ने कहा है कि “तदुभयमुत्पत्तौ परत एव” अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति तो परतः ही होती है। क्योंकि ज्ञान की प्रामाण्यता और अप्रामाण्यता का आधार ज्ञान न होकर ज्ञेय है और ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है। तथापि अभ्यास दशा में ज्ञान की सत्यता की निश्चय अर्थात् ज्ञप्ति तो स्वतः अर्थात् स्वयं ज्ञान के द्वारा ही हो जाती है, जबकि अनभ्यास दशा में उसका निश्चय परतः अर्थात् ज्ञानान्तर ज्ञान से होता है।¹ यद्यपि वादिदेवसूरि के द्वारा ज्ञान की सत्यता की कसौटी (उत्पत्ति) को एकान्तः परतः मान लेना समुचित प्रतीत नहीं होता है। गणितीय ज्ञान और परिभाषाओं के सन्दर्भ, सत्यता की कसौटी ज्ञान की आन्तरिक संगति ही होती है। वे सभी ज्ञान जिनका ज्ञेय ज्ञान से भिन्न नहीं है, स्वतः प्रामाण्य हैं। इसी प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान भी उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही दृष्टि से स्वतः ही प्रामाण्य है। जब हम यह मान लेते हैं कि निश्चय दृष्टि से सर्वज्ञ अपने को ही जानता है, तो हमें उसके ज्ञान के सन्दर्भ में उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों को स्वतः मानना होगा क्योंकि ज्ञान कथञ्चित् रूप से ज्ञेय से अभिन्न भी होता है जैसे स्व-संवेदन।

वस्तुगत ज्ञान में भी सत्यता की कसौटी उत्पत्ति और ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों को स्वतः और परतः दोनों माना जा सकता है। जब कोई यह सन्देश कहे कि “आज अमुक प्रसूतिगृह में एक बन्ध्या ने पुत्र का प्रसव किया” तो हम इस ज्ञान के मिथ्यात्व के निर्णय के लिए किसी बाहरी कसौटी का आधार न लेकर इसकी आन्तरिक असंगति के आधार पर ही इसके मिथ्यापन को जान लेते हैं। इसी प्रकार “त्रिभुज तीन भुजाओं से युक्त आकृति है” - इस ज्ञान की सत्यता इसकी आन्तरिक संगति पर ही निर्भर करती है। अतः ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की उत्पत्ति (कसौटी) और ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों ही ज्ञान के स्वरूप या प्रकृति के आधार पर स्वतः अथवा परतः और दोनों प्रकार से हो सकती है।

सकल ज्ञान, पूर्ण ज्ञान और आत्मगत ज्ञान में ज्ञान की प्रामाण्यता का निश्चय स्वतः होगा, जबकि विकल ज्ञान, अपूर्ण (आंशिक) ज्ञान या नयज्ञान और वस्तुगत ज्ञान में वह निश्चय परतः होगा। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के द्वारा होने वाले ज्ञान में उनके प्रामाण्य का बोध स्वतः होगा, जबकि व्यावहारिक प्रत्यक्ष और अनुमानादि में प्रामाण्य का बोध स्वतः और परतः दोनों प्रकार से सम्भव है। पुनः सापेक्ष ज्ञान में सत्यता का निश्चय परतः और स्वतः दोनों प्रकार से और निरपेक्ष ज्ञान में स्वतः होगा। इसी प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान की सत्यता की उत्पत्ति और ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों ही स्वतः और सामान्य व्यक्ति के ज्ञान की उत्पत्ति परतः और ज्ञप्ति स्वतः और परतः दोनों रूपों में हो सकती है। अतः वादिदेवसूरि का यह कथन सामान्य व्यक्ति के

ज्ञान को लेकर ही है, सर्वज्ञ के ज्ञान के सम्बन्ध में नहीं हैं। सामान्य व्यक्तियों के ज्ञान की सत्यता का मूल्यांकन पूर्व अनुभव दशा में स्वतः और पूर्व अनुभव में अभाव में परतः अर्थात् ज्ञानान्तर ज्ञान से होता है, यद्यपि पूर्व अनुभव भी ज्ञान का ही रूप है, अतः उसे भी अपेक्षा विशेष से परतः कहा जा सकता है। जहाँ तक की ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है, स्वानुभव को छोड़कर वह परतः ही होती है क्योंकि वह ज्ञेय अर्थात् “पर” पर निर्भर है। अतः ज्ञान की सत्यता की उत्पत्ति या कसौटी को परतः ही माना गया है। जहाँ तक कथन की सत्यता का प्रश्न है, वह ज्ञान की सत्यता से भिन्न है।

कथन की सत्यता का प्रश्न

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि मानव अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति करता है। भाषा शब्द प्रतीकों और सार्थक ध्वनि संकेतों का एक सुव्यवस्थित रूप है। वस्तुतः हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के लिए शब्द प्रतीक बना लिये हैं। इन्हीं शब्द प्रतीकों एवं ध्वनि संकेतों के माध्यम से हम अपने विचारों, अनुभूतियों और भावनाओं का सम्प्रेषण करते हैं।

यहाँ मूल प्रश्न यह है कि हमारी इस भाषायी अभिव्यक्ति को हम किस सीमा तक सत्यता का अनुषांगिक मान सकते हैं। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भाषा और उसकी सत्यता के प्रश्न को लेकर एक पूरा दार्शनिक सम्प्रदाय ही बन गया है। भाषा और सत्य का सम्बन्ध आज के युग का एक महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न है किसी कथन की सत्यता या असत्यता को निर्धारित करने का आधार आज सत्यापन का सिद्धान्त है। समकालीन दार्शनिकों की यह मान्यता है कि जिन कथनों का सत्यापन या मिथ्यापन संभव है, वे ही कथन सत्य या असत्य हो सकते हैं। शेष कथनों का सत्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है। ए.जे. एयर ने अपनी पुस्तक में इस समस्या को उठाया है। इस सन्दर्भ में सबसे पहले हमें इस बात का विचार कर लेना होगा कि कथन के सत्यापन से हमारा क्या तात्पर्य है। कोई भी कथन जब इन्द्रियानुभव के आधार पर पुष्ट या अपुष्ट किया जा सकता है, तब ही वह सत्यापनीय कहलाता है। जिन कथनों को हम इन्द्रियानुभव के आधार पर पुष्ट या खण्डित नहीं कर सकते, वे असत्यापनीय होते हैं। किन्तु, इन दोनों प्रकार के कथनों के बीच कुछ ऐसे भी कथन होते हैं जो न सत्यापनीय होते हैं और असत्यापनीय। उदाहरण के लिए मंगल ग्रह में जीव के पाये जाने की संभावना है। यद्यपि यह कथन वर्तमान में सत्यापनीय नहीं है, किन्तु यह संभव है कि इसे भविष्य में पुष्ट या

खण्डित किया जा सकता है। अतः वर्तमान में यह न तो सत्यापनीय है और न तो असत्यापनीय। किन्तु, संभावना की दृष्टि से इसे सत्यापनीय माना जा सकता है। भगवती-आराधना में सत्य का एक रूप संभावना सत्य माना गया है।

वस्तुतः कौन-सा कथन सत्य है, इसका निर्णय इसी बात पर निर्भर करता है कि उसका सत्यापन या मिथ्यापन संभव है या नहीं है। वस्तुतः जिसे हम सत्यापन या मिथ्यापन कहते हैं, वह भी उस अभिकथन और उसमें वर्णित तथ्य की संवादिता या अनुरूपता पर निर्भर करता है, जिसे जैन परम्परा में परतः प्रामाण्य कहा जाता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि कोई भी कथन कथित तथ्य का संवादी (अनुरूप) होगा तो वह सत्य होगा और विसंवादी (विपरीत) होगा तो वह असत्य होगा। यद्यपि, यह भी स्पष्ट है कि कोई भी कथन किसी तथ्य की समग्र अभिव्यक्ति नहीं दे पाता है। जैन दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से यह माना था कि प्रत्येक कथन वस्तु-तत्त्व के सम्बन्ध में हमें आंशिक जानकारी ही प्रस्तुत करता है। अतः प्रत्येक कथन वस्तु के सन्दर्भ में आंशिक सत्य का ही प्रतिपादक होगा। यहाँ भाषा की अभिव्यक्ति, सामर्थ्य की सीमितता को भी हमें ध्यान में रखना होगा। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि भाषा, तथ्य नहीं, तथ्य की संकेतक मात्र है। उसकी इस सांकेतिकता के सन्दर्भ में ही उसकी सत्यता-असत्यता का विचार किया जा सकता है। जो भाषा अपने कथ्य को जितना अधिक स्पष्ट रूप से संकेतित कर सकती है वह उतनी ही अधिक सत्य के निकट पहुँचती है। भाषा की सत्यता और असत्यता उसकी संकेत शक्ति के साथ जुड़ी हुई है। शब्द-अर्थ(वस्तु का तथ्य) के संकेतक है वे उसके हू-ब-हू (यथार्थ) प्रतिबिम्ब नहीं है। शब्द में मात्र यह सामर्थ्य रही हुई है कि वे श्रोता के मनस् पर वस्तु का मानस प्रतिबिम्ब उपस्थित कर देते हैं। अतः शब्द के द्वारा प्रत्युत्पन्न मानस प्रतिबिम्ब तथ्य का संवादी है, उससे अनुरूपता रखता है तो वह कथन सत्य माना जाता है। यद्यपि, यहाँ भी अनुरूपता वर्तमान मानस प्रतिबिम्ब और पूर्ववर्ती या परवर्ती मानस प्रतिबिम्ब में ही होती है। जब किसी मानस प्रतिबिम्ब का सत्यापन परवर्ती मानस प्रतिबिम्ब अर्थात् ज्ञानान्तर ज्ञान से होता है तो उसे परतः प्रामाण्य कहा जाता है और जब उसका सत्यापन पूर्ववर्ती मानस प्रतिबिम्ब से होता है तो स्वतः प्रामाण्य कहा जाता है; क्योंकि अनुरूपता या विपरीतता मानस प्रतिबिम्बों में ही हो सकती है। यद्यपि दोनों ही प्रकार के मानस प्रतिबिम्बों का आधार या उनकी उत्पत्ति ज्ञेय (प्रमेय) से होती है। यही कारण था कि वादिदेवसूरि ने प्रामाण्य (सत्यता) और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति को परतः माना था। प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति को परतः करने का तात्पर्य यही है- इन मानस प्रतिबिम्बों का उत्पादक तत्त्व इनसे भिन्न है। कुछ

विचारक यह भी मानते हैं कि कथन के सत्यापन या सत्यता के निश्चय में शब्द द्वारा उत्पन्न मानस प्रतिबिम्ब में तुलना होती है। यद्यपि एकांत वस्तुवादी दृष्टिकोण यह मानेगा कि ज्ञान और कथन की सत्यता का निर्धारण मानस प्रतिबिम्ब की तथ्य या वस्तु से अनुरूपता के आधार पर होता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि यह अनुरूपता भी वस्तुतः मानस प्रतिबिम्ब और वस्तु के बीच न होकर शब्द निर्मित मानस प्रतिबिम्ब और परवर्ती इन्द्रिय अनुभव के आधार पर होता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि यह अनुरूपता भी वस्तुतः मानस प्रतिबिम्ब और वस्तु के बीच न होकर शब्द निर्मित मानस प्रतिबिम्ब और परवर्ती इन्द्रिय अनुभव के द्वारा उत्पन्न मानस प्रतिबिम्ब के बीच होती है, यह तुलना दो मानसिक प्रतिबिम्बों के बीच है, न कि तथ्य और कथन के बीच। तथ्य और कथन दो भिन्न स्थितियाँ हैं। उनमें कोई तुलना या सत्यापन सम्भव नहीं है। शब्द वस्तु के समग्र प्रतिनिधि नहीं, संकेतक हैं और उनकी यह संकेत सामर्थ्य भी वस्तुतः उनके भाषायी प्रयोग (Convention) पर निर्भर करती है। हम वस्तु को कोई नाम दे देते हैं और प्रयोग के द्वारा उस “नाम” में एक ऐसी सामर्थ्य विकसित हो जाती है कि उस “नाम” में श्रवण या पाठन से हमारे मानस में एक प्रतिबिम्ब खड़ा हो जाता है। यदि उस शब्द के द्वारा प्रत्युत्पन्न वह प्रतिबिम्ब हमारे परवर्ती इन्द्रियानुभव से अनुरूपता रखता है, हम उस कथन को - “सत्य” कहते हैं। भाषा में अर्थ बोध की सामर्थ्य प्रयोगों के आधार पर विकसित होती है। वस्तुतः कोई शब्द या कथन अपने आप में न तो सत्य होता है और न असत्य This is a table - यह कथन अंग्रेजी भाषा के जानकार के लिए सत्य या असत्य हो सकता है, किन्तु हिन्दी भाषा के लिए न तो सत्य और न असत्य। कथन की सत्यता और असत्यता तभी सम्भव होती है, जबकि श्रोता को कोई अर्थ बोध (वस्तु का मानस प्रतिबिम्ब) होता है, अतः पुनरुक्तियों और परिभाषाओं को छोड़कर कोई भी भाषायी कथन निरपेक्ष रूप से न तो सत्य होता है और न असत्य। किसी भी कथन की सत्यता या असत्यता किसी सन्दर्भ विशेष में ही सम्भव होती है।

जैन दर्शन में कथन की सत्यता का प्रश्न

जैन दार्शनिकों ने भाषा की सत्यता और असत्यता के प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया है। प्रज्ञापनासूत्र (पनवन्ना) में सर्वप्रथम भाषा को पर्याप्त भाषा और अपर्याप्त भाषा ऐसे दो भागों में विभाजित किया है। पर्याप्त भाषा वह है जिसमें अपने विषय को पूर्णतः निर्वचन करने की सामर्थ्य है और अपर्याप्त भाषा वह है जिसमें अपने विषय का पूर्णतः निर्वचन, सामर्थ्य नहीं है। अंशतः, सापेक्ष एवं अपूर्ण कथन अपर्याप्त भाषा का लक्षण है। तुलनात्मक दृष्टि से पौराणिक परम्परा की

गणितीय भाषा टॉटोलाजी एवं परिभाषाएँ पर्याप्त या पूर्ण भाषा के समतुल्य मानी जा सकती है जबकि शेष भाषा व्यवहार अपर्याप्त या अपूर्ण भाषा का ही सूचक है। सर्वप्रथम उन्होंने पर्याप्त भाषा की सत्य और असत्य ऐसी दो कोटियाँ स्थापित की। उनके अनुसार अपर्याप्त की दो कोटियाँ होती हैं- (1) सत्य-मृषा (मिश्र) और (2) असत्य-अमृषा।

सत्य भाषा - वे कथन, जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक हैं, सत्य कहलाते हैं। कथन और तथ्य की संवादिता या अनुरूपता ही सत्य की मूलभूत कसौटी है। जैन दार्शनिकों ने पाश्चात्य अनुभववादियों के समान ही यह स्वीकार किया है कि जो कथन तथ्य का जितना अधिक संवादी होगा, वह उतना ही अधिक सत्य माना जायेगा। यद्यपि जैन दार्शनिक कथन की सत्यता को उसकी वस्तुगत सत्यापनीयता तक ही सीमित नहीं करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि आनुभविक सत्यापनीयता के अतिरिक्त भी कथनों में सत्यता हो सकती है। जो कथन ऐन्द्रिक अनुभवों पर निर्भर न होकर अपरोक्षानुभूति के विषय होते हैं उनकी सत्यता का निश्चय तो अपरोक्षानुभूति के विषय ही करते हैं। अपरोक्षानुभव के ऐसे अनेक स्तर हैं, जिनकी तथ्यात्मक संगति खोज पाना कठिन है। जैनदार्शनिकों ने सत्य को अनेक रूपों में देखा है। स्थानांग, प्रश्नव्याकरण, प्रज्ञापना, मूलाधार और भगवती-आराधना में सत्य के दस भेद बताये गये हैं :- 1. जनपद सत्य, 2. सम्मत सत्य, 3. स्थापना सत्य, 4. नाम सत्य, 5. रूप सत्य, 6. प्रतीत्य सत्य, 7. व्यवहार-सत्य, 8. भाव सत्य, 9. योग सत्य, 10. उपमा सत्य अकलंक ने सम्मत सत्य, भाव सत्य और उपमा सत्य का उल्लेख किया है। मूलाचार और भगवती आराधना में योग सत्य के स्थान पर सम्भावना सत्य का उल्लेख हुआ है। सत्य के इन दस भेदों का विवेचन इस प्रकार है-

1. **जनपद सत्य** - जिस देश में जो भाषा या शब्द व्यवहार प्रचलित हो उसी के द्वारा वस्तु तत्त्व का संकेत करना जनपद सत्य है। एक जनपद या देश में प्रयुक्त होने वाला वही शब्द दूसरे देश में असत्य हो जावेगा। बाईजी शब्द मालवा में माता के लिए प्रयुक्त होता है जबकि उत्तर प्रदेश में वेश्या के लिए। अतः बाईजी से माता का अर्थबोध मालव के व्यक्ति के लिए सत्य होगा, किन्तु उत्तर प्रदेश के व्यक्ति के लिए असत्य।
2. **सम्मत-सत्य** - वस्तु के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करना सम्मत-सत्य है, जैसे - राजा, नृप, भूपति आदि। यद्यपि ये व्युत्पत्ति की दृष्टि से अलग-अलग अर्थों के सूचक हैं। जनपद-सत्य एवं सम्मत-सत्यप्रयोग सिद्धान्त (Use Theory) से आधारित अर्थबोध से सूचक हैं।

3. **स्थापना सत्य** - शतरंज के खेल में प्रयुक्त विभिन्न आकृतियों को राजा, वजीर आदि नामों से सम्बोधित करना स्थापना सत्य है। यह संकेतीकरण का सूचक है।
4. **नाम सत्य** - गुण निरपेक्ष मात्र दिये गये नाम के आधार पर वस्तु का सम्बोधन करना यह नाम सत्य है। एक गरीब व्यक्ति भी नाम से “लक्ष्मीपति” कहा जा सकता है, उसे इस नाम से पुकारना सत्य है। यहाँ भी अर्थबोध संकेतीकरण के द्वारा ही होता है।
5. **रूप सत्य** - वेश के आधार पर व्यक्ति को उस नाम से पुकारना रूप सत्य है, चाहे वस्तुतः वह वैसा न हो, जैसे- नाटक में राम का अभिनय करने वाले व्यक्ति को “राम” कहना या साधुवेशधारी को साधु कहना।
6. **प्रतीत्य सत्य** - सापेक्षिक कथन अथवा प्रतीति को सत्य मानकर चलना प्रतीत्य सत्य है। जैसे अनामिका बड़ी है, मोहन छोटा है आदि। इसी प्रकार आधुनिक खगोल विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी स्थिर है, यह कथन भी प्रतीत्य सत्य है, वस्तुतः सत्य नहीं।
7. **व्यवहार** - सत्य-व्यवहार में प्रचलित भाषायी प्रयोग व्यवहार सत्य कहे जाते हैं, यद्यपि वस्तुतः वे असत्य होते हैं- घड़ा भरता है, बनारस आ गया, यह सड़क बम्बई जाती है। वस्तुतः घड़ा नहीं पानी भरता है, बनारस नहीं आता, हम बनारस पहुँचते हैं। सड़क स्थिर है वह नहीं जाती है, उस पर चलने वाला जाता है।
8. **भाव सत्य** - वर्तमान पर्याय में किसी एक गुण की प्रमुखता के आधार पर वस्तु को वैसा कहना भाव सत्य है। जैसे- अंगूर मीठे हैं, यद्यपि उनमें खट्टापन भी रहा हुआ है।
9. **योग सत्य** - वस्तु के संयोग के आधार पर उसे उस नाम से पुकारना योग सत्य है; जैसे- दण्ड धारण करने वाले को दण्डी कहना या जिसे घड़े में घी रखा जाता है उसे घी का घड़ा कहना।
10. **उपमा सत्य** - यद्यपि चन्द्रमा और मुख दो भिन्न तथ्य हैं और उनमें समानता भी नहीं है, फिर भी उपमा में ऐसे प्रयोग होते हैं - जैसे चन्द्रमुखी, मृगनयनी आदि। भाषा में इन्हें सत्य माना जाता है।

वस्तुतः सत्य के इन दस रूपों का सम्बन्ध तथ्यगत सत्यता के स्थान पर भाषागत सत्यता से है। कथन-व्यवहार में इन्हें सत्य माना जाता है। यद्यपि कथन की सत्यता मूलतः तो उसकी तथ्य से संवादिता पर निर्भर करती है। अतः ये सभी केवल व्यावहारिक सत्यता के सूचक हैं, वास्तविक सत्यता के नहीं।

जैन दार्शनिकों ने सत्य के साथ-साथ असत्य के स्वरूप पर भी विचार किया है। असत्य का अर्थ है कथन का तथ्य से विसंवादी होना या विपरीत होना। प्रश्नव्याकरण में असत्य की काफी विस्तार से चर्चा है, उनमें असत्य के 30 पर्यायवाची नाम दिये गये हैं। यहाँ हम उनमें से कुछ की चर्चा तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

अलीक - जिसका अस्तित्व नहीं है, उसको अस्ति रूप कहना अलीक वचन है। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय में इसे असत्य कहा है।

अपलाप - सद्बस्तु को नास्ति रूप कहना अपलाप है।

विपरीत - वस्तु के स्वरूप का भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करना विपरीत कथन है।
एकान्त - ऐसा कथन, तो तथ्य के सम्बन्ध में अपने पक्ष का प्रतिपादन करने के साथ अन्य पक्षों या पहलुओं का अपलाप करता है, वह भी असत्य माना गया है। इसे दुर्नय या मिथ्यात्व कहा गया है।

इनके अतिरिक्त हिंसाकारी वचन, कटुवचन, विश्वासघात, दोषारोपण आदि भी असत्य के ही रूप हैं। प्रज्ञापना में क्रोध, लोभ आदि के कारण निःसृत वचन को तथ्य से संवादी होने पर भी असत्य माना गया है।

सत्य - मृषा कथन

वे कथन जिनका अर्थ उभय कोटिक हो सकता है, सत्य - मृषा कथन हैं। “अश्वत्थामा मारा गया” वक्ता और श्रोता इसके भिन्न-भिन्न अर्थ-ग्रहण कर सकते हैं। अतः जो कथन दोहरा अर्थ रखते हैं, वे मिश्र भाषा के उदाहरण हैं। असत्य - अमृषा कथन

लोकप्रकाश के तृतीय सर्ग के योगाधिकार में बारह (12) प्रकार के कथनों को असत्य-अमृषा कहा गया है। वस्तुतः वे कथन जिन्हें सत्य या असत्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता, असत्य-अमृषा कहे जाते हैं। जो कथन किसी विधेय का विधान या निषेध नहीं करते, उनका सत्यापन सम्भव नहीं होता है और जैन आचार्यों ने ऐसे कथनों को असत्य-अमृषा कहा है, जैसे आदेशात्मक कथन। निम्न 12 प्रकार के कथनों को असत्य अमृषा-कहा गया है -

1. **आमन्त्रणी** - “आप हमारे यहाँ पधारें” “आप हमारे विवाहोत्सव में सम्मिलित हों” - इस प्रकार आमन्त्रण देने वाले कथनों की भाषा आमन्त्रणी कही जाती है। ऐसे कथन सत्यापनीय नहीं होते। इसलिए ये सत्य या असत्य की कोटि से परे होते हैं।
2. **आज्ञापनीय** - “दरवाजा बन्द कर दो” “बिजली जला दो” आदि आज्ञावाचक कथन भी सत्य या असत्य की कोटि में नहीं आते। ए.जे.एयर प्रभृति आधुनिक तार्किकभाववादी विचारक भी आदेशात्मक भाषा को सत्यापनीय नहीं मानते हैं।

इतना ही नहीं, उन्होंने समग्र नैतिक कथनों के भाषायी विश्लेषण के आधार पर यह सिद्ध किया है कि वे विधि या निषेध रूप में आज्ञासूचक या भावसूचक ही हैं, इसलिए वे न तो सत्य हैं और न तो असत्य ।

3. **याचनीय** - 'यह दो' इस प्रकार की याचना करने वाली भाषा भी सत्य और असत्य की कोटि से परे होती है ।
4. **प्रच्छनीय** - यह रास्ता कहाँ जाता है? आप मुझे इस पद्य का अर्थ बतायें? इस प्रकार के कथनों की भाषा प्रच्छनीय कही जाती है । चूँकि यह भाषा भी किसी तथ्य का विधि-निषेध नहीं करती है, इसलिए इसका सत्यापन सम्भव नहीं है ।
5. **प्रज्ञापनीय अर्थात् उपदेशात्मक भाषा** - जैसे चोरी नहीं करना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए आदि । चूँकि इस प्रकार के कथन भी तथ्यात्मक विवरण न हो कर उपदेशात्मक होते हैं, इसलिए ये सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आते । आधुनिक भाषा विश्लेषवादी दार्शनिक नैतिक प्रकथनों का अन्तिम विश्लेषण प्रज्ञापनीय भाषा के रूप में ही करते हैं और इसलिए इसे सत्यापनीय नहीं मानते हैं, उनके अनुसार वे नैतिक प्रकथन जो बाह्य रूप से तो तथ्यात्मक प्रतीत होते हैं, लेकिन वस्तुतः तथ्यात्मक नहीं होते; जैसे- चोरी करना बुरा है, उसके अनुसार इस प्रकार के कथनों का अर्थ केवल इतना ही है कि तुम्हें चोरी नहीं करना चाहिए या चोरी के कार्य को हम पसन्द नहीं करते हैं । यह कितना सुखद आश्चर्य है कि जो बात आज के भाषा-विश्लेषक दार्शनिक प्रस्तुत कर रहे हैं, उसे सहस्राधिक वर्ष पूर्व जैन विचारक सूत्र रूप में प्रस्तुत कर चुके हैं । आज्ञापनीय और प्रज्ञापनीय भाषा को असत्य-अमृषा कहकर उन्होंने आधुनिक भाषा-विश्लेषण का द्वार उद्घाटित कर दिया था ।
6. **प्रत्याख्यानीय** - किसी प्रार्थी की माँग को अस्वीकार करना प्रत्याख्यानीय भाषा है । जैसे, तुम्हें यहाँ नौकरी नहीं मिलेगी अथवा तुम्हें भिक्षा नहीं दी जा सकती ।
7. **इच्छानुकूलिका** - किसी कार्य में अपनी अनुमति देना अथवा किसी कार्य के प्रति अपनी पसन्दगी स्पष्ट करना इच्छानुकूलिका भाषा है । तुम्हें यह कार्य करना ही चाहिए, इस प्रकार के कार्य को मैं पसन्द करता हूँ । मुझे झूठ बोलना पसन्द नहीं है । आधुनिक नीतिशास्त्र का संवेगवादी सिद्धान्त भी नैतिक कथनों को अभिरुचि या पसन्दगी का एक रूप बताता है, और उसे सत्यापनीय नहीं मानता है ।
8. **अनभिग्रहीत** - ऐसा कथन जिसमें वक्ता अपनी न तो सहमति प्रदान करता है और न असहमति, अनभिग्रहीत कहलाता है । जैसे, 'जो पसन्द हो, वह कार्य करो', 'जो तुम्हें सुखप्रद हो, वैसा करो' आदि । ऐसे कथन भी सत्यापनीय नहीं होते । इसलिए इन्हें भी असत्य- अमृषा कहा गया है ।

9. **अभिग्रहीत** - किसी दूसरे व्यक्ति के कथन को अनुमोदित करना अभिग्रहीत कथन है। जैसे - 'हाँ, तुम्हें ऐसा ही करना चाहिए', ऐसे कथन भी सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आते हैं।
10. **संदेहकारिणी** - जो कथन द्व्यर्थक हो या जिनका अर्थ स्पष्ट न हो, संदेहात्मक कहे जाते हैं। जैसे, सैन्धव अच्छा होता है। यहाँ वक्ता का यह तात्पर्य स्पष्ट नहीं है कि सैन्धव से नमक अभिप्रेत है या सिन्धु देश का घोड़ा। अतः ऐसे कथनों को भी न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य।
11. **व्याकृता** - व्याकृता से जैन विचारकों को क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं होता है। हमारी दृष्टि में व्याकृत का अर्थ परिभाषित करना ऐसा हो सकता है, वे कथन जो किसी तथ्य की परिभाषाएं हैं, इस कोटि में आते हैं। आधुनिक भाववादी विश्लेषक दार्शनिकों की दृष्टि से कहें तो वे पुनरुक्तियाँ हैं। जैन विचारकों ने इन्हें भी सत्य या असत्य की कोटि में नहीं रखा है, क्योंकि इनका कोई अपना विधेय नहीं होता है या ये कोई नवीन कथन नहीं करते हैं।
12. **अव्याकृता** - वह भाषा जो स्पष्ट रूप से कोई विधि निषेध नहीं करती है, अव्याकृत भाषा है। यह भी स्पष्ट रूप से विधि-निषेध को अभिव्यक्त नहीं करती है। इसलिए यह भी सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आती है।

आज समकालीन दार्शनिकों ने भी आमंत्रणी, आज्ञापनीय, याचनीय, पृच्छनीय और प्रज्ञापनीय आदि कथनों को असत्य-अमृषा (असत्यापनीय) माना है। एयर आदि ने नैतिक प्रकथनों को आज्ञापनीय मानकर उन्हें (असत्यापनीय) माना है जो जैन दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या के साथ संगतिपूर्ण है।



जैन दर्शन के तर्क-प्रमाण का आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन

तर्क की प्रमाण के रूप में प्रतिस्थापना का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

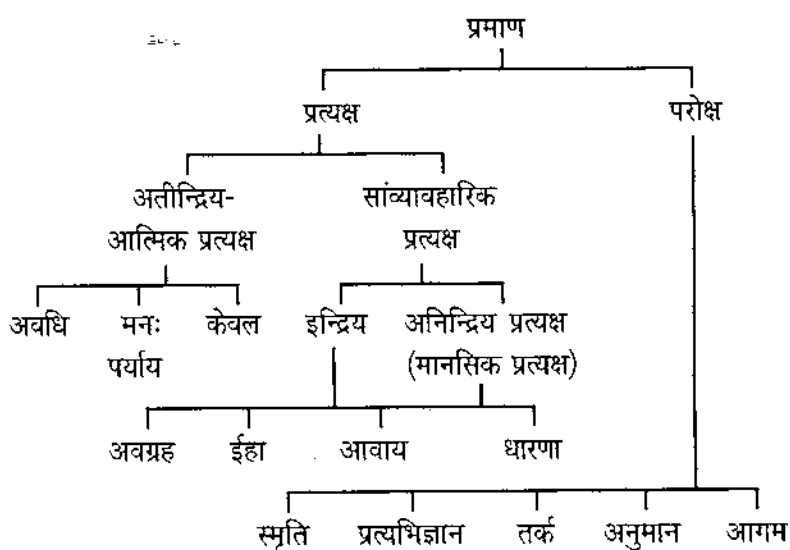
भारतीय दर्शनों में केवल जैन दर्शन की ही यह विशेषता है कि वह प्रमाण विवेचन में तर्क को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानता है फिर भी, हमें इतना ध्यान अवश्य ही रखना होगा कि प्रमाण के रूप में तर्क की प्रतिस्थापना जैन न्याय की विकास यात्रा का एक परवर्ती चरण है। तत्त्वार्थसूत्र और श्वे. आगम नन्दीसूत्र में तो हमें ज्ञान और प्रमाण के बीच भी कोई विभाजक रेखा ही नहीं मिलती है, उनमें पाँचों ज्ञानों को ही प्रमाण मान लिया गया है (मति श्रुतावधिः पर्यायकेवलानि ज्ञानम्। तत् प्रमाणे-तत्त्वार्थ 1/9-10) किन्तु श्वे. आगम भगवती, स्थानांग और अनुयोग द्वार से प्रमाणों का स्वतन्त्र विवेचन उपलब्ध है। उनमें कहीं प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम इन तीन प्रमाणों की और कहीं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणों की चर्चा मिलती है। सम्भवतः प्रमाणों का यह स्वतन्त्र विवेचन आगम साहित्य में सर्वप्रथम अनुयोग द्वार में किया गया हो, क्योंकि भगवती सूत्र में केवल उनका नाम निर्देश करके यह कह दिया गया है कि 'जहा अणुओगद्वारे' अर्थात् अनुयोग द्वार सूत्र के समान ही इन्हें यहाँ भी समझ लेना चाहिए।' यद्यपि इन आधारों पर नन्दीसूत्र, अणुयोगद्वार, स्थानांग और भगवती के वर्तमान पाठों की पूर्वापरता के प्रश्न को एक नये सन्दर्भ में विचारा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत चर्चा के लिए यह आवश्यक नहीं है। एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि स्थानांग सूत्र में इनके लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग न होकर हेतु और व्यवसाय शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ 'हेतु' का तात्पर्य प्रमाणिक ज्ञान के साधनों से और 'व्यवसाय' का तात्पर्य ज्ञानात्मक व्यापार से है जो कि अपने लाक्षणिक अर्थ में प्रमाण अर्थ में प्रमाण चर्चा से भिन्न नहीं है। ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि स्थानांग सूत्र में व्यवसाय के अन्तर्गत केवल तीन प्रमाणों^१ की और हेतु के अन्तर्गत चार प्रमाणों^२ की चर्चा उपलब्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन न्याय में प्रमाण चर्चा के प्रसंग में भी आगम युग तक 'तर्क' को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने

का कोई प्रयास नहीं किया गया था। यद्यपि इसकी सम्भावना के बीज आगम साहित्य में तथा तत्त्वार्थसूत्र में अवश्य ही उपस्थित थे। क्योंकि नन्दीसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य में ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, स्मृति, संज्ञा, प्रज्ञा और मति को पर्यायवाची मान लिया गया था। इसी प्रकार उमास्वामि के तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य में भी मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को एक ही अर्थ का वाचक माना था। मेरी दृष्टि में यहाँ इन्हें पर्यायवाची या एकार्थवाचक कहने का मात्र इतना ही है कि ये सब मतिज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। उमास्वामि के तत्त्वार्थ भाष्य में ईहा के पर्याय के रूप में भी तर्क और ऊह इन दोनों शब्दों का स्पष्ट उल्लेख है। क्योंकि ईहा अवग्रहीत अर्थ (पदार्थ) के विशेष स्वरूप को जानने की आकांक्षा के रूप में गुण-दोष विचारात्मक ज्ञान-व्यापार ही है, अतः उसका पर्याय तर्क या ऊह हो सकता है। फिर भी यहाँ तर्क को ईहा से पृथक् एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है। साथ ही 'तर्क प्रमाण' में 'तर्क' शब्द का जो अर्थ गृहीत है वह भी यहाँ अनुपस्थित ही है। इससे प्रमाण चर्चा के प्रसंग में तर्क शब्द का जो अर्थ विकास हुआ है वह एक परवर्ती घटना ही सिद्ध होता है। फिर भी ये सब बातें एक ऐसी आधार भूमि तो अवश्य प्रस्तुत कर रही थी जिसके सहारे अकलंक के द्वारा 7वीं शती में तर्क को प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सका। वस्तुतः तर्क को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मानना इसलिए आवश्यक हो गया कि उसके बिना व्याप्तिग्रहण की समस्या का सही हल प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं था क्योंकि प्रत्यक्ष-चाहे वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो या अनिन्द्रिय मानस प्रत्यक्ष हो, त्रैकालिक एवं सार्वलौकिक व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकता था। दूसरी ओर अनुमान तो स्वयं व्याप्ति पर निर्भर था, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच एक सेतु की आवश्यकता थी जिसे तर्क को प्रमाण मानकर पूरा किया। 'तर्क' को प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित करने के साथ ही अकलंक के सामने दूसरी महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि उसे साव्यावहारिक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में से किस प्रमाण के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जावे? चूँकि तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य में ईहा का अन्तर्भाव साव्यावहारिक प्रत्यक्ष में होता था अतः सूत्रकार के मत की रक्षा करने हेतु उसका समावेश साव्यावहारिक प्रत्यक्ष में ही होना था, किन्तु प्रत्यक्ष का ही एक भेद होने की स्थिति में तर्क व्याप्ति का ग्राहक नहीं बन सकता था। इस हेतु उसके बौद्धिक, विमर्शात्मक एवं सामान्य ज्ञानात्मक स्वरूप पर बल देना भी जरूरी था और यह तभी सम्भव था जबकि उसे शब्द संसर्ग युक्त एवं ऐन्द्रिक तथा मानसिक प्रत्यक्ष ने भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण माना जावे, किन्तु ऐसी स्थिति में उसे परोक्ष प्रमाण में वर्गीकृत करना जरूरी था। अकलंक ने दोनों ही दृष्टिकोणों की रक्षा हेतु यह माना कि 'तर्क' आदि जब शब्द संसर्ग से रहित हो तो उनका समावेश

सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष में और शब्द संसर्ग से युक्त हो तो उनका समावेश परोक्ष श्रुतज्ञान में करना चाहिए। लेकिन परम्परा की रक्षा करने का उनका यह प्रयास सफल नहीं हुआ और उत्तरकालीन अनन्तवीर्य, विद्यानन्द आदि सभी जैन तार्किकों ने तर्क का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण में ही किया है। (वर्गी. पृ. 191)

सभी जैन तार्किकों ने परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पाँच भेद किये हैं, केवल एक अपवाद है न्याय विनिश्चय के टीकाकारवादी राज सूरि। उन्होंने पहले परोक्ष के दो भेद किये 1 - अनुमान, और 2 - आगम। और फिर अनुमान के मुख्य और गौण ऐसे दो भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का अन्तर्भाव गौण अनुमान में किया है। जैन-दर्शन द्वारा स्वीकृत इस प्रमाण-योजना का अतीन्द्रिय आत्मिक प्रत्यक्ष न्याय दर्शन में योगज प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकृत है। जहाँ तक सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष या इन्द्रिय प्रत्यक्ष का प्रश्न है उसे सभी भारतीय दर्शनों ने प्रमाण माना है, चाहे उसके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद रहा हो।

जैन दर्शन के 'तर्क प्रमाण' का आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन



परोक्ष प्रमाणों में अनुमान और आगम को भी अधिकांश भारतीय दर्शनों ने प्रमाण की कोटि में माना है। प्रत्यभिज्ञान को भी न्याय दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण के एक भेद के रूप में स्वीकार करता है, मात्र अन्तर यही है कि जहाँ जैन दार्शनिक

उसे परोक्ष प्रमाण का भेद मानते हैं, वहाँ न्याय दर्शन उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का एक भेद मानता है। यद्यपि यह अन्तर अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि अकलंक ने तो उसे शब्द संसर्ग से रहित होने पर सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मान ही लिया था। अपने स्वरूप की दृष्टि से भी प्रत्यभिज्ञान में ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों का योग होता है अतः वह आंशिक रूप से प्रत्यक्ष और आंशिक रूप से परोक्ष सिद्ध होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों में केवल स्मृति और तर्क ही ऐसे हैं जिन्हें अन्य दर्शनों में प्रमाण की कोटि में वर्गीकृत नहीं किया गया है। न्याय दर्शन प्रमा और अप्रमा के वर्गीकरण में स्मृति और तर्क दोनों को ही अप्रमा अथवा अयथार्थ ज्ञान मानता है। यद्यपि अन्नमभट्ट का वर्गीकरण थोड़ा भिन्न है। वे पहले ज्ञान को स्मृति और अनुभव इन दो भागों में वर्गीकृत करते हैं और बाद में अनुभव को यथार्थ और अयथार्थ इन दो भागों में बाँट देते हैं। इस प्रकार वे स्पष्ट रूप से स्मृति को अयथार्थ ज्ञान नहीं मानते हैं, तथापि जहाँ तक तर्क का प्रश्न है वे उसे अयथार्थ ज्ञान में ही वर्गीकृत करते हैं। यद्यपि वे उसे संशय और विपर्यय से भिन्न अवश्य मानते हैं। उन्होंने अयथार्थ ज्ञान के तीन भेद किये हैं : 1. संशय, 2. विपर्यय, और 3. तर्क। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय दर्शन तर्क को प्रमाण की कोटि में नहीं रखता है। यद्यपि यह स्वतन्त्र प्रश्न है, कि क्या संशय, विपर्यय और तर्क एक ही स्तर के ज्ञान हैं या भिन्न-भिन्न स्तर के ज्ञान हैं? क्या अयथार्थ ज्ञान का अर्थ भ्रमयुक्त या मिथ्या ज्ञान है? जिन पर आगे विचार करेंगे। चाहे न्याय दर्शन ने तर्क को प्रमाण नहीं माना हो फिर भी वह अपने षोडश पदार्थों में तर्क को एक स्वतन्त्र स्थान तो देता ही है तथा व्याप्ति स्थापना में तर्क की उपयोगिता को भी निर्विवाद रूप से स्वीकार करता है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में सांख्य-योग तथा मीमांसा दर्शन तर्क को 'प्रमाण' मानते हैं, किन्तु उनके तर्क को प्रमाण मानने के सन्दर्भ बिल्कुल भिन्न हैं। वह सन्दर्भ ज्ञान मीमांसा के न होकर भाषा शास्त्रीय एवं कर्मकाण्डीय है। ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में तो वे ही अपनी-अपनी प्रमाणों की मान्यता में तर्क की कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं देते हैं। मात्र यही नहीं, मीमांसा दर्शन तो व्याप्ति निश्चय में भी तर्क की उपादेयता को स्वीकार नहीं करता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय दर्शन में एकमात्र जैन दर्शन ही ऐसा दर्शन जो तर्क की स्वतन्त्र रूप से प्रमाण की कोटि में रखता है।

तर्क शब्द का अर्थ

सर्वप्रथम प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व तर्क के अर्थों की जो विकास यात्रा है, उस पर भी यहाँ विचार कर लेना अपेक्षित है। प्राचीन भारतीय साहित्य में तर्क शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में होता रहा है और अर्थों की यह

विविधता ही भारतीय दर्शन में तर्क के स्वरूप के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाओं के निर्माण के लिए उत्तरदायी भी है। यह दृष्टव्य है कि शब्दों का अनियत एवं विविध अर्थों में प्रयोग ही उनके सम्बन्ध में गलत धारणाओं को जन्म देता है। इसी लिए डॉ. बारलिंगे न्याय दर्शन के तर्क स्वरूप की समीक्षा करते हुए यह कहते हैं कि, "It is such a loose use of words which has been responsible for mis-carriage of the true import of words and concepts". (A Modern Introduction to Indian Logic p. 121) अतः तर्क प्रमाण की चर्चा प्रसंग में हमें यह भी देख लेना होगा कि तर्क शब्द के अर्थों में किस प्रकार का परिवर्तन होता रहा है। अपने व्यापक अर्थ में तर्क शब्द उस बुद्धि-व्यापार का सूचक है जिस विमर्शात्मक चिन्तन (Speculative Thinking) भी कहा जा सकता है। अभिधान राजेन्द्र कोष में तर्क के तर्कना, पर्यावलोचना, विमर्श, विचार आदि पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। इस प्रसंग में उसका अंग्रेजी पर्याय रीजनिंग (Reasoning) है। कटोपनिषद् के नैषां तर्केण मतिरापनेया आचारांग के तत्क तत्त्व न विज्जइ मयी तत्त्व न गहिया अथवा महाभारत के तर्कोऽप्रतिष्ठी आदि प्रसंगों में तर्क शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में हुआ है। तर्क का एक दूसरा अर्थ भी है - जिसके अनुसार आनुभविक एवं बौद्धिक आधारों पर किसी बात को सिद्ध करने, पुष्ट करने या खण्डित करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया को भी तर्क कहा जाता है। तर्क शास्त्र, तर्क विज्ञान आदि में तर्क शब्द इसी अर्थ का सूचक है, इसे आन्वीक्षिकी भी कहा जाता है। यहाँ उसका अंग्रेजी पर्याय 'ताजिक' (logic) है। इस प्रसंग में तर्क शब्द सामान्य रूप से सभी प्रमाणों को अपने में समाविष्ट कर लेता है। न्याय दर्शन में तर्क शब्द का प्रयोग एक तीसरे अर्थ में हुआ है यहाँ वह चिन्तन की ऐसी अवस्था है जो संशय से जनित दोलन में निर्णयाभिमुख है। इस प्रकार वह संशय और निर्णय के मध्य निर्णयाभिमुख ज्ञान है। सांख्य, योग और मीमांसा दर्शन में उसके लिए ऊह शब्द का प्रयोग हुआ जिसे भाषायी-विवेक कहा जा सकता है। किन्तु जैन दर्शन के तर्क प्रमाण के प्रसंग में तर्क शब्द का प्रयोग एक चौथे अत्यन्त सीमित और निश्चित अर्थ में हुआ है। यहाँ तर्क एक अन्तः प्रज्ञात्मक (Intuitive) सुनिश्चित ज्ञान है। उसे 'सामान्य' का ज्ञान (Knowledge of universals) भी कहा जा सकता है। वस्तुतः यह इन्द्रिय ज्ञान के माध्यम से अतीन्द्रिय ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश है। ज्ञात से अज्ञात खोज है। यहाँ तक वह पाश्चात्य तर्कशास्त्र की आगमनात्मक कूदान (Inductive leap) का सूचक है। वह उन त्रैकालिक एवं सार्वलौकिक सम्बन्धों का ज्ञान है जिन्हें हम व्याप्ति सम्बन्ध या कार्य कारण सम्बन्ध के रूप में जानते हैं और जिनके आधार पर कोई अनुमान निकाला जा सकता है। यह अनुमान की एक

अनिवार्य पूर्व शर्त है उसे हम विशेष से सामान्य की ओर, प्रत्यक्ष से अनुमान की ओर अथवा आगमन से निगमन की ओर जाने का सेतु या प्रवेश द्वार कह सकते हैं। प्रमाण मीमांसा में तर्क के उपरोक्त स्वरूप की स्पष्ट करते कहा गया है - उपलम्भानुपलम्भ निमित्त व्याप्तिज्ञानम् ऊहः -2/5

अर्थात् उपलम्भ अर्थात् यह होने पर यह होता है और अनुपलम्भ अर्थात् यह नहीं होने पर यह नहीं होता है, के निमित्त से जो व्याप्ति का ज्ञान होता है वही तर्क है। दूसरे शब्दों में प्रत्यक्षादि के निमित्त से जिसके द्वारा अबिनाभाव सम्बन्ध या कार्य कारण सम्बन्ध को जान लिया गया है वही तर्क है। यह अबिनाभाव सम्बन्ध तथा कार्य कारण सम्बन्ध सार्वकालिक और सार्वलौकिक होता है, अतः इसका ग्रहण इन्द्रिय ज्ञान से ही नहीं होता है अपितु अतीन्द्रिय प्रज्ञा से होता है। अतः तर्क ऐन्द्रिक ज्ञान नहीं अपितु अतीन्द्रिय प्रज्ञा है जिसे हम अन्तःप्रज्ञा या अन्तर्बोधि कह सकते हैं। तर्क के इस अतीन्द्रिय स्वरूप का समर्थन प्रमाण मीमांसा की स्वोपज्ञ वृत्ति में स्वयं हेमचन्द्र ने किया है।

वे कहते हैं कि 'व्याप्ति ग्रहण काले योगीव प्रमाता (2/5 वृत्ति) अर्थात् ग्रहण के समय ज्ञाता योगी के समान हो जाता है। तर्क अबिनाभाव को अपने ज्ञान का विषय बनाता है और अबिनाभाव एक प्रकार का सम्बन्ध है, अतः तर्क सम्बन्धों का ज्ञान है। पुनः यह अबिनाभाव सम्बन्ध सार्वकालिक एवं सार्वलौकिक होता है अतः तर्क का स्वरूप सामान्य ज्ञानात्मक होता है। अबिनाभाव क्या है और उसका तर्क से क्या सम्बन्ध है इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि - 'सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावऽनियमो बिनाभावः ऊहात् तन्निश्चय- प्रमाण मीमांसा 2/10-11। अर्थात् सहभावियों का सहभाव नियम और क्रमभावियों का क्रमभाव नियम ही अबिनाभाव है और इसका निर्णय तर्क से होता है। ये सहभाव एवं क्रमभाव भी दो-दो प्रकार के हैं। सहभाव के दो भेद हैं : 1. सहकारी सम्बन्ध से युक्त जैसे रस और रूप, तथा 2. व्याप्त व्यापक या व्यक्ति जाति सम्बन्ध से युक्त -जैसे बटत्व और वृक्षत्व। इसी प्रकार क्रमभाव के भी दो भेद हैं : 1. पूर्ववर्ती और परवर्ती सम्बन्ध जैसे ग्रीष्म ऋतु और वर्षा ऋतु, तथा 2. कार्य कारण सम्बन्ध जैसे घूम और अग्नि। इस प्रकार सहकार सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, व्यक्ति जाति सम्बन्ध पूर्वोपर सम्बन्ध और कार्य कारण सम्बन्ध रूप नियम अबिनाभाव है इनका निश्चय तर्क के द्वारा होता है। इस प्रकार तर्क सम्बन्धों/नियमों का ज्ञान है। चूँकि ये सम्बन्ध पदों के आपादन (Implication) को सूचित करते हैं, अतः तर्क आपादन का निश्चय करना है और यह आपादन व्याप्ति की अनिवार्य शर्त है। अतः तर्क व्याप्ति का ग्राहक है इसीलिए जैन दार्शनिकों ने कहा 'व्याप्तिज्ञानसमूहः उहात्

तत्रिश्चय' अर्थात् व्युत्पत्तिज्ञान ही तर्क है और तर्क से ही व्याप्ति (अविनाभाव आपादन) का निश्चय होता है। जैन दर्शन में तर्क प्रमाण के इन लक्षणों की पुष्टि डॉ. बारलिंगे ने न्याय दर्शन के तर्क के स्वरूप की समीक्षा करते हुए अनजाने में ही कर दी है। उनकी विवेचना के कुछ अंश हैं - "Tarka is something non-empirical, Tarka is that argument which goes to the root of Anuman and so is its Pre-supposition or condition". It gives the relation between Apadya and Apadak in its anuava of vyatireka form. It is clearly the knowledge of the implication which is evidently pre-supposed by any vyapti Tarka indicates the relation which is pre-supposed by vyapti. (See : A modern introduction to Indian Logic p. 123 -125) वस्तुतः तर्क को अन्तर्बोधात्मक या अन्तःप्रज्ञात्मक प्रतिभ ज्ञान कहना इसलिए आवश्यक है कि उनकी प्रकृति इन्द्रियानुभवात्मक ज्ञान अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष (Empirical knowledge or perception) से और बौद्धिक निगमनात्मक अनुमान (Deductive inference) दोनों से भिन्न है। तर्क अतीन्द्रिय (Non-empirical) और अति-बौद्धिक (Super rational) है क्योंकि वह अतीन्द्रिय एवं अमूर्त सम्बन्धों (Non-empirical relations) को अपने ज्ञान का विषय बनाता है। उसके विषय हैं- जाति-उपजाति सम्बन्ध, जाति-व्यक्ति सम्बन्ध, सामान्य-विशेष सम्बन्ध, कार्यकारण सम्बन्ध आदि। वह आपादन (Implication), अनुवर्तिता (Entailment), वर्ग सदस्यता (Class membership), कार्यकारणता (Causality) और सामान्यता (Universality) का ज्ञान है। वह वस्तुओं को ही नहीं, अपितु उनके तात्त्विक स्वरूप एवं सम्बन्धों को भी जानता है इसलिए उसे आपादान का नाम (Knowledge of implication) भी कहा जा सकता है। तर्क उन नियमों का दृष्टा (यहाँ मैं दृष्टा शब्द का प्रयोग जान-बूझकर कर रहा हूँ) है, जिसके द्वारा विश्व की वस्तुयें परस्पर सम्बन्धित या असम्बन्धित हैं, जिनके आधार पर सामान्य वाक्यों की स्थापना कर उनसे अनुमान निकाले जाते हैं और जिन्हें पाश्चात्य आगमनात्मक तर्कशास्त्र में कार्य-कारण और प्रकृति की समरूपता के नियमों के रूप में तथा निगमनात्मक तर्कशास्त्र में विचार के नियमों के रूप में जाना जाता है और जो क्रमशः आगमन और निगमन की पूर्व-मान्यता के रूप में स्वीकृत है। इस प्रकार तर्क प्रमाण की विषय वस्तु तर्क शास्त्र की अधिमान्यतायें (Postulates of Logic and Reasoning) है वह प्रत्यक्ष और अनुमान से तथा आगमन और निगमन से विलक्षण है। वह सम्पूर्ण तर्क शास्त्र का आधार है क्योंकि वह उस आपादन (Implication) या व्याप्ति के ज्ञान को प्रदान करता है जिस पर निगमनात्मक तर्क शास्त्र टिका हुआ है और जो आगमनात्मक तर्क शास्त्र का साध्य है। तर्क का यही

विलक्षण स्वरूप एक ओर उसे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करता है। दूसरी ओर उसे आगमन और निगमन के बीच एक योजक कड़ी के रूप में प्रस्तुत करता है। सम्भवतः यह न्याय शास्त्र के इतिहास में जैन तार्किकों का स्याद्वाद और सप्तभंगी के सिद्धान्तों के बाद एक और मौलिक योगदान है। जैन दार्शनिकों के इस योगदान का सम्यक् प्रकार से मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रस्तुत तर्क के स्वरूप की समीक्षा करके यह देखें कि जैन दर्शन के द्वारा प्रस्तुत तर्क के स्वरूप की उनसे किस अर्थ में विशेषता है।

अन्य भारतीय दर्शनों में तर्क का स्वरूप

भारतीय दर्शनों में 'तर्क' की प्रामाणिकता को स्वीकार करने वालों में जैन दर्शन के साथ-साथ सांख्य योग एवं मीमांसा दर्शन का भी नाम आता है, किन्तु इन दर्शनों ने जिन प्रसंगों में तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार किया वे प्रसंग बिल्कुल भिन्न हैं। सांख्य दर्शन के लिए ऊह या तर्क, वाक्यों के अर्थ निर्धारण में भाषागत नियमों की उपयोग की प्रक्रिया है। डा. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता लिखते हैं - 'सांख्य के लिए ऊह शब्दों अथवा वाक्यों के अर्थ को निर्धारित करने के लिए मान्य भाषागत नियमों के प्रयोग की प्रक्रिया है (युक्त्या प्रयोग निरूपणमूहः - न्याय मंजरी, पृ. 588)⁶ पंतजलि ने भी व्याकरण शास्त्र के प्रयोजन हेतु ऊह की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है क्योंकि वेदादि में सभी लिंगों और विभक्तियों में मंत्रों का कथन हुआ है। अतः देवता द्रव्य का ध्यान रखकर उनमें परिणमन कर लेना चाहिए (महाभाष्य 1/111) यहाँ ऊह भाषायी विवेक और भाषायी नियमों के पालन से अधिक कुछ नहीं है। भाषायी नियमों के आधार पर स्वरूप एवं अर्थ को निर्धारित करने की प्रक्रिया वस्तुतः अनुमान का ही एक रूप है, अतः तर्क अनुमान के ही अन्तर्गत है उसका स्वतन्त्र स्थान नहीं है। इस प्रकार इन दोनों दर्शनों में ही तर्क का प्रसंग ज्ञान मीमांसीय न होकर भाषा शास्त्रीय ही है। मीमांसा दर्शन में भी तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया है किन्तु उसका सन्दर्भ भी प्रमाण मीमांसा का न होकर विशुद्ध रूप से कर्मकाण्ड सम्बन्धी भाषा का ही है। मीमांसा कोष में ऊह के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखा है- अन्यथा श्रुतस्य शब्दस्य अन्यथा लिंग वचनादिभेदेन विपरिणमनम् ऊहः अर्थात् मंत्र आदि में दिये गये मूल पाठ में विनियोग के अनुसार लिंग, वचन आदि में परिवर्तन करना ऊह कहा जाता है। मीमांसा शास्त्र के सम्पूर्ण नवम अध्याय के चार पादों के 224 सूत्रों में ऊह पर विस्तार से विचार किया गया है, किन्तु सारा प्रसंग कर्मकाण्डीय भाषाशास्त्र का ही है। उनमें तीन प्रकार के ऊह माने गये हैं : 1. मंत्र विषयक ऊह, 2. साम विषयक

ऊह और ३. संस्कार विषयक ऊह। किन्तु तीनों के सन्दर्भ कर्मकाण्डीय भाषा से सम्बन्धित है। भाट्ट दीपिकाकार का कथन है कि प्रकृति योग (अर्थात् जिसके लिए वह मंत्र रचा गया है) में पठित मंत्र का विकृति योग में उसके अनुरूप परिवर्तन कर लेना ही ऊह है।^{१०} उदाहरण के लिए यज्ञ कर्म में जहाँ ब्रीहि (चावल) द्रव्य है वहाँ अवहनन ब्रीहि में किया जाता है। यही यज्ञ कर्म अगर नीवार (जंगली चावल) से किया जावे तो अवहनन नीवार में सम्पन्न होगा यह द्रव्य विषयक ऊह है। इसी प्रकार अग्नि देवता के लिए चरु निर्वपन करते समय 'अग्नयेत्वा जुष्टं निर्वपामि' मंत्र का प्रयोग प्रकृत है, किन्तु जब अग्नि के स्थान पर सूर्य देवता के लिए चरु निर्वपन करना हो तो चतुर्थी विभक्त्यन्त सूर्य शब्द का प्रयोग करते हुए 'सूर्याम त्वा जुष्टं निर्वपामि' मंत्र का प्रयोग होता है। यह मंत्र श्रुति में पठित नहीं है, किन्तु ऊह सिद्ध है।^{११} संक्षेप में यज्ञ एवं संस्कार आदि को सम्पन्न करते समय देवता, द्रव्य, यजमान आदि का ध्यान रखते हुए परिस्थिति के अनुरूप मंत्रों के शब्दों तथा लिंग, वचन एवं विभक्ति आदि में परिवर्तन कर लेना ऊह या तर्क है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन में ऊह या तर्क का अर्थ कर्मकाण्डीय भाषा के विवेक से अधिक कुछ नहीं है।

संक्षेप में उपरोक्त तीनों दर्शनों में तर्क का कार्य या तो व्याकरण सम्बन्धी नियमों का ध्यान रखते शब्द एवं वाक्य के अर्थ का निर्धारण करना है या यज्ञ-योग आदि कर्मों में सम्पन्न करते भाषायी-विवेक का उपयोग है, चाहे इन दर्शनों ने तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार किया हो। किन्तु न तो वे उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं और न व्याप्ति ग्रहण में उसके योगदान को ही स्वीकार करते हैं।

न्याय दर्शन में तर्क का स्वरूप : तुलनात्मक विवेचन

न्याय दर्शन यद्यपि तर्क को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं मानता है फिर भी वह उसे प्रमाण-ज्ञान एवं व्याप्ति ग्रहण में सहयोगी अवश्य मानता है। वात्स्यायन कहते हैं कि-

तर्को न प्रमाण संग्रहितो न प्रमाणन्तरम् ।

प्रमाणानामनुग्राहक स्तावज्ञानाय परिकल्प्यते ।।^{१०}

अर्थात् तर्क न तो स्वीकृत प्रमाणों में समाविष्ट किया जाता है और न वह पृथक् प्रमाण ही है किन्तु वह एक ऐसा व्यापार है जो प्रमाणों के सत्य ज्ञान को निर्धारित करने में सहायता देता है। विश्वनाथ कहते हैं^{११} कि तर्क हेतु के व्यभिचार के सम्भाव्य उदाहरणों के सम्बन्ध में संशय का निवारण करता है और इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान को अचूक बना देता है अर्थात् परोक्ष रूप से व्याप्ति ग्रहण में सहायक होता है। इस प्रकार लगभग सभी न्याय-दार्शनिक व्याप्ति ग्रहण में तर्क की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

न्याय सूत्र के भाष्य में वात्सायन तर्क के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं¹² कि 'जिस वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञान नहीं है उस विषय को यथार्थतः जानने के लिए स्वाभाविक रूप से जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे जिज्ञासा कहा जाता है, जिज्ञासा के पश्चात् यह विचार उठता है कि इसका कारण यह है या वह? इस प्रकार यहाँ परस्पर भिन्न दो कोटियाँ उपस्थित हो जाती हैं, इन दो कोटियों में कौन-सी ठीक है यह संशय या विमर्श है? दोनों कोटियों में से यथार्थ कोटि को जानने के लिए एवं उक्त संशय से मुक्ति पाने के लिए उन सँदिग्ध पक्षों में जिस ओर भी कारण की उपपत्ति दृष्टिगोचर होती है उसी सम्भावना को तर्क कहा जाता है अतः तार्किक ज्ञान निर्णयात्मक यह ऐसा ही है 'इस प्रकार का न होकर' 'इसे ऐसा होना चाहिए या यह ऐसा हो सकता है' इस प्रकार का होता है। अतः तर्क एक सम्भावना मूलक ज्ञान है। उदयन का कथन है कि 'एव' शब्दार्थ अर्थात् 'यह ऐसा ही है' को विषय करती हुई, किन्तु 'एव' शब्द से विहित कारण की उत्पत्ति द्वारा एक पक्ष का बोधन करती हुई संशय तथा निर्णय के मध्य में होने वाली सम्भावना मूलक प्रतीति तर्क कहलाती है। न्याय दर्शन में तर्क संशय और निर्णय के बीच दोलन की अवस्था है। यद्यपि वह निर्णयाभिमुख अवश्य होती है। संशय में प्रतीति उभय पक्ष अवगाहिनी होती है जैसे 'यह स्तम्भ है या पुरुष'। जबकि निर्णय में वह निश्चित रूप से एक ही पक्ष को ग्रहण करती है। जैसे यह पुरुष ही है। तर्क में वह निर्णयोन्मुख तो होती है किन्तु निश्चयात्मक नहीं जैसे 'यह पुरुष होगा या यह पुरुष हो सकता है'। इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्क शब्द को न्याय दर्शन जिस अर्थ में ग्रहण करता है वह उसके जैन दर्शन में गृहीत अर्थ से भिन्न है। वस्तुतः न्याय दर्शन के तर्क का स्वरूप जैन दर्शन के 'ईहा' शब्द के समान है। जैन दार्शनिकों ने ईहा शब्द की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह भी ठीक ऐसी ही है। प्रमाण नयनत्यालोक में ईहा की परिभाषा निम्न प्रकार दी गई है -

‘अवग्रहीतार्थ विशेषाकांक्षणीहा’ (2/8) अर्थात् अवग्रह में जिस विषय का ज्ञान होता है उसका ही विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना ईहा है। मान लीजिये कि मुझे कोई शब्द सुनाई दिया है। वह अवग्रह है, किन्तु शब्द सुनने पर हम यह सोचते हैं कि वह किसका शब्द है, पुरुष का या स्त्री का? यह संशय है - इस संशय से हम उस स्वर की विभिन्न स्वरों से तुलना करते हैं और यह पाते हैं कि यह स्वर पुरुष का नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें माधुर्य है, अतः इसे स्त्री का स्वर होना चाहिए। संशय में दोनों पलड़े बराबर रहते हैं, किन्तु ईहा में अन्य साधक प्रमाणों के कारण ज्ञान का झुकाव उस ओर हो जाता है, जिसका निश्चय हम आवाय (निर्णय) में करते हैं, अतः यदि हम आवाय को निर्णय कहें तो ईहा निर्णय की पूर्वावस्था होगी। चूँकि

जैन दर्शन ईहा और न्याय दर्शन का तर्क दोनों निर्णय के पूर्व की अवस्था है, अतः दोनों समान हैं। दोनों में ही ज्ञान का स्वरूप निर्णायक न होकर निर्णयोन्मुख ही होता है। ऐसा लगता है कि प्रमाण युग के पूर्व तक जैन दार्शनिक भी तर्क के निश्चयात्मक स्वरूप की स्थापना नहीं कर पाये थे। उमास्वामि ने तत्त्वार्थ भाष्य में ईहा के पर्यायवाची शब्दों में ईहा और तर्क दोनों का प्रयोग किया है। इससे हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्रमाण युग के पूर्व तक न्याय दर्शन के तर्क और जैन दर्शन के ईहा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं था। सम्भवतः यह प्रश्न तब उपस्थित हुआ होगा जबकि व्याप्ति के ग्रहण की समस्या उपस्थित हुई होगी। व्याप्ति का ग्रहण केवल निश्चयात्मक ज्ञान से ही सम्भव था। और इसलिए जहाँ जैन दार्शनिकों को ईहा से स्वतन्त्र तर्क की प्रमाण के रूप में स्थापना करनी पड़ी, वहीं न्याय दार्शनिकों ने सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के रूप में प्रत्यक्ष के ही एक नवीन प्रकार की कल्पना करनी पड़ी। जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे। वात्स्यायन ने तर्क की जो परिभाषा प्रस्तुत की थी और जैन दार्शनिकों ने ईहा का जो स्वरूप स्पष्ट किया था, वह पाश्चात्य आगमनात्मक तर्क शास्त्र में स्वीकृत परिकल्पना (Hypothesis) के समान है।

जैन दर्शन की ईहा, न्याय दर्शन का तर्क और पाश्चात्य आगमनात्मक तर्कशास्त्र की प्राक्कल्पना- तीनों ही निर्णयाभिमुख एवं निर्णय के सम्बन्ध में सुझाव देने वाली निर्णय के पूर्व की अवस्था में है और इस रूप में तीनों में समानता परिलक्षित होती है। पाश्चात्य तर्क शास्त्रियों ने वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की व्याख्या भी इसी रूप में की है। प्राक्कल्पना वह कल्पना है जिसके सत्य होने की सर्वाधिक सम्भावना होती है। यह बात प्राक्कल्पना के एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। मान लीजिए हम किसी जिले में अधिक चोरियाँ होने की घटना की व्याख्या करना चाहते हैं। हम सोचते हैं कि यदि इस जिले में अधिक चोरियाँ होती हैं तो या तो यहाँ के निवासी अपराधिक प्रवृत्ति के हैं, या यहाँ की पुलिस सजग नहीं है या लोगों में गरीबी बढ़ गई है। हम यह पाते हैं कि यहाँ के लोग अपराधिक प्रवृत्ति के नहीं हैं अन्यथा पूर्व वर्षों में भी चोरियाँ अधिक होनी थीं, किन्तु ऐसी बात नहीं है। अतः यह विकल्प निरस्त हो जाता है कि दूसरा विकल्प पुलिस सजग नहीं, इसलिए निरस्त हो जाता है कि चोरी के लगभग सभी केस पकड़े जा रहे हैं, अतः हम इस निश्चय की ओर अभिमुख होते हैं कि सम्भावना यही हो सकती है कि यहाँ के लोगों में गरीबी बढ़ जाना है। यही सम्भावित कारण कि कल्पना प्राक्कल्पना है। प्रतीकात्मक दृष्टि से इन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है -

$t^1 \supset \text{सं} (k_1 V k_2 V k_3)$	 विकल्प
$(k_1 \cdot k_2)$	 विकल्प निषेध

$t_1 \supset \text{सं} (k_3)$	 सम्भावित निर्णय (प्राक्कल्पना)
$\text{S} \quad \text{S}$	

जबकि

त = तथ्य, कार्य या घटना (परवर्ती)

सं = सम्भावना

क = कारण या पूर्ववर्ती

$\supset$ = कारण सम्बन्ध आपादन

V = विकल्प

S = निषेध

इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी- किसी तथ्य, कार्य अथवा घटना के सम्बन्ध में कुछ सम्भावित विकल्प परिलक्षित होते हैं, एक को छोड़कर शेष सम्भावित विकल्प आनुभविक या तार्किक आधार पर निरस्त हो जाते हैं, अतः इस निर्णय की ओर अभिमुख होते हैं कि वह तथ्य, कार्य या घटना उस अवशिष्ट विकल्प से सम्बन्धित हो सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईहा, तर्क (न्याय-दर्शन) और प्राक्कल्पना तीनों ही हमें संशय के विभिन्न विकल्पों का निरसन करते हुए सर्वाधिक सम्भावित सत्यता की ओर पहुंचाने का प्रयास करती है। तीनों का निर्णय सम्भावित और सुझावात्मक होता है उसका भाषायी रूप होता है 'इसे ऐसा होना चाहिए' या 'यह ऐसा हो सकता है'। किन्तु निष्कर्ष के इस भाषायी स्वरूप की एकरूपता के आधार पर हमें इन्हें एक मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। गम्भीरता से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये तीनों एक नहीं हैं। प्रथम तो यह कि इनकी विचार की विषय वस्तु भिन्न-भिन्न हैं दूसरे यह कि ईहा प्राक्कल्पना और तर्क का प्रतीकात्मक स्वरूप भी एक नहीं है। सम्भवतः न्याय दार्शनिक इसी भ्रान्ति के कारण तर्क को सीधे-साधे व्याप्ति ग्राहक नहीं मानकर मात्र सहयोगी मानते रहे। यदि 'तर्क' का भी वास्तविक रूप सम्भावनामूलक ही है तो निश्चय ही न्याय दार्शनिकों की यह धारणा सत्य होती कि इस पद्धति से व्याप्ति ग्रहण नहीं हो सकता है। प्रथम तो यह कि सम्भावित विकल्पों का निरसन करते हुए हमारे पास जो अवशिष्ट विकल्प रह जायेगा वह भी सम्भावित ही होगा निर्णायक नहीं। दूसरे यह कि सम्भावित विकल्पों के निरसन की इस पद्धति के द्वारा अविनाभाव या व्याप्ति

ग्रहण कभी भी सम्भव नहीं है। क्योंकि इस बात की क्या गारण्टी है कि सभी सम्भावित विकल्पों को जान लिया गया है और उसकी तथा व्याख्या के सम्बन्ध में जितने भी विकल्प हो सकते हैं उनमें एक को छोड़कर शेष सभी निरस्त हो गये। जब तक हम इस सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं हो जाते (जो कि सम्भव नहीं है) व्याप्ति या अविनाभाव को नहीं जान सकते। तीसरे यदि यह विधि ऐन्द्रिक अनुभव पर आधारित है तो केवल जो कारण नहीं है उनके निरसन में ही सहायक हो सकती है, व्याप्ति ग्राहक नहीं। जैन दार्शनिकों का यह मानना कि चाहे ईहात्मक ज्ञान प्रमाणिक हो किन्तु उससे व्याप्ति ग्रहण नहीं होता, उचित ही है। पाश्चात्य तार्किकों के द्वारा कारण सम्बन्ध की खोज में प्राक्कल्पना की सुझावात्मक भूमिका मानना भी सही है और यदि तर्क का यही स्वरूप होता तो नैयायिकों का यह मानना भी सही होता कि तर्क व्याप्ति ग्रहण में मात्र सहयोगी है। किन्तु मेरी दृष्टि में तर्क का वास्तविक स्वरूप ऐसा नहीं है जैसा कि वात्सायन एवं जयन्त आदि टीकाकारों ने मान लिया है। स्वयं डा. बारलिंगे ने भी तर्क स्वरूप के सम्बन्ध में उनके इस दृष्टिकोण को समुचित नहीं माना है। वे लिखते हैं- (It appears to me that this particular function of Tarka has been overlooked by commentators of Nyaya Sutra and by many other Logicians (A modern Introduction to Indian Logic p. 123)। सर्वप्रथम तो हमें यह जान लेना चाहिए कि तर्क का विषय वस्तु के गुणों का ज्ञान या विधेय ज्ञान नहीं है, अपितु कार्य-कारण सम्बन्ध, अविनाभाव सम्बन्ध या आपादान सम्बन्ध या ज्ञान है। 'यह पुरुष हो सकता' इस प्रकार के ज्ञान का तर्क से कोई लेना देना नहीं है। यह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है। इस समस्त भ्रान्ति के पीछे न्याय सूत्र में दी गई तर्क की परिभाषा की गलत व्याख्या है। न्याय सूत्र में तर्क की निम्न परिभाषा दी गई है - अविज्ञातत्वे अर्थ कारणोपपत्तिः तत्त्वज्ञानार्थम ऊहा तर्कः (न्याय सूत्र 1/1/40)।

वस्तुतः यहाँ तर्क का तात्पर्य मात्र अविज्ञान वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान के लिए की गई ऊहा (बौद्धिक) से नहीं है। अपितु इसमें महत्वपूर्ण शब्द है- 'कारणोपपत्तिः' वह कारण सम्बन्ध की युक्ति द्वारा होने वाला तत्त्व ज्ञान है या दो तथ्यों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का ज्ञान है। जब तर्क कार्य कारण सम्बन्ध सूचित करता है तो फिर तर्क सम्भावना मूलक एवं अनिश्चित ज्ञान है यह कहने का क्या आधार है ? उपपत्तिः सिद्ध होने (To be proved) का सूचक है और जब कार्य कारण भाव सिद्ध हो गये तो फिर वह सम्भावना मूलक एवं अनिश्चित ज्ञान कैसे कहा जा सकता है। दूसरे मूल सूत्र में कहीं ऐसा संकेत नहीं है कि जिससे यह कहा जा सके कि तर्क सम्भावनात्मक या अनिश्चित ज्ञान है। अतः न्यायिकों की यह धारणा कि तर्क सम्भावना मूलक ज्ञान है स्वतः खण्डित हो जाती

है। साथ ही सूत्र में रखा गया 'तत्त्वज्ञानार्थम्' शब्द भी इस बात को सिद्ध करता है। कि तर्क वस्तु के मूर्त या बाह्य स्वरूप का ज्ञान ही अपितु मूर्त (Non empirical) स्वरूप का ज्ञान है वह वस्तु ज्ञान (Material knowledge) नहीं, तत्त्व ज्ञान (Metaphysical Knowledge) है।

जैसा कि हमने पूर्व में बताया तर्क का विषय अबिनाभाव सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध, जाति-जाति सम्बन्ध, वर्ग सदस्यता सम्बन्ध आदि है। तर्क किसी धूम विशेष या अग्नि विशेष को नहीं अपितु धूम जाति और अग्नि जाति को अपना विषय बनाता है। क्योंकि धूम विशेष या अग्नि विशेष से हजारों उदाहरण भी व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं दे सकते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इसके लिए विशेष का प्रत्यक्षीकरण आवश्यक है। क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार सामान्य विशेष से पृथक् नहीं पाया जाता है। फिर व्यक्ति या अबिनाभाव सम्बन्ध की सिद्धि सामान्य के ज्ञान से होगी विशेष के ज्ञान से नहीं। तर्क सामान्य का ज्ञान है। न्याय दार्शनिक तर्क की इस प्रकृति को स्पष्ट नहीं कर सके, अतः व्याप्ति ग्रहण की इस समस्या को सुलझाने हेतु उन्हें सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के नाम से प्रत्यक्ष के एक नये प्रकार की कल्पना करनी पड़ी। तुलनात्मक दृष्टि से जैन दर्शन का तर्क न्याय दर्शन के तर्क और सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के योग के बराबर है। मात्र यही नहीं जैन दार्शनिकों ने तर्क की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह इतनी व्यापक है कि उसमें व्याप्ति ग्रहण के इतर साधनों का भी समावेश हो जाता है। स्याद्वाद मंजरी में तर्क की निम्न परिभाषा दी गई है - उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलित साध्य साधन सम्बन्धाद्या लम्बनमिदस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तर्का-परपर्याय यथा यावान् कश्चिद् घूमः स सर्वा वहनौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसति अहौ न भवत्येवेति वा। (स्याद्वाद मंजरी 28)

उपलम्भ अर्थात् सहचार दर्शन और अनुपलम्भ अर्थात् व्यभिचार अदर्शन से फलित साध्य-साधन के त्रैकालिक सम्बन्ध आदि के ज्ञान का आधार तथा 'इसके होने पर ही यह होना' जैसे यदि कोई धुआँ है तो वह सब अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं होता है' इस आकार वाला जो (मानसिक) संवेदन है वह ऊह है, उसका ही दूसरा नाम तर्क है। लगभग सभी जैन दार्शनिकों ने तर्क की अपनी व्याख्याओं में उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्दों का प्रयोग किया है। सामान्यतया उपलम्भ का अर्थ उपलब्धि होता है। लाक्षणिक दृष्टि से उपलम्भ का अर्थ है एक की उपलब्धि पर दूसरे की उपलब्धि अर्थात् अन्वय या सहचार और अनुपलम्भ का अर्थ है एक की अनुपलब्धि (अभाव) पर दूसरे की अनुपलब्धि (अभाव) अर्थात् व्यतिरेक। किन्तु अनुपलम्भ का एक दूसरा भी अर्थ है, वह है व्याघात के उदाहरण की अनुपलब्धि अर्थात् व्यभिचार अदर्शन। इस प्रकार जैन दर्शन

के अनुसार अन्वय, व्यतिरेक रूप सहचार दर्शन और व्यभिचार अदर्शन के निमित्त से तर्क के द्वारा व्याप्ति ज्ञान होता है। यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि अन्वय और व्यतिरेक दोनों सहचार के ही रूप हैं। एक उपस्थिति में सहचार है और दूसरा अनपुस्थिति में सहचार है। फिर भी ये तीनों सीधे व्याप्ति के ग्राहक नहीं हैं क्योंकि आनुभविक तथ्य प्रत्यक्ष के ही रूप हैं (जैन दार्शनिक अनुपलब्धि या अभाव को भी समावेश प्रत्यक्ष में ही करते हैं)। अतः इनसे व्याप्ति ग्रहण सम्भव नहीं है। कोई भी अनुभविक पद्धति चाहे वह अन्वय व्यतिरेक हो या उनका ही मिला-जुला कोई अन्य रूप हो व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं कर सकती है। पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम ने भी इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अनुभववाद या प्रत्यक्ष के माध्यम से कार्य कारण ज्ञान अर्थात् व्याप्ति ज्ञान सम्भव नहीं है। प्रत्याधारित आगमन कभी भी सार्वकालिक और सार्वदैविक सामान्य वाक्य की स्थापना नहीं कर सकता है। इसलिए जैन दार्शनिकों ने तर्क की परिभाषा में अन्वय व्यतिरेक एवं व्यभिचार अदर्शन रूप प्रत्यक्ष के तथ्यों को केवल व्याप्ति का निमित्त या सहयोगी मात्र माना। उनके अनुसार वस्तुतः व्याप्ति का ग्रहण उस आकारिक (मानसिक) संवेदन से होता है जो त्रैकालिक साध्य-साधन सम्बन्ध को अपना विषय बनाकर यह निर्णय देता है कि 'इसके-होने पर यह होगा' तर्क की उपरोक्त परिभाषा में महत्वपूर्ण शब्द है- इति आकारं संवेदनं ऊहः तर्का पर पर्याय।

इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान के ग्राहक तर्क में एक अन्तः प्रज्ञात्मक तत्त्व होता है। जो प्रत्यक्ष के अनुभवों को अपना आधार बनाकर अपना त्रैकालिक निर्णय देता है या सामान्य वाक्य की स्थापना करता है।

तर्क तथा आगमन की प्रकृति को लेकर अभी काफी विवाद चल रहा है। डा. बारलिंगे तर्क को आपादन (Implication) या निगमनात्मक मानते हैं। उन्होंने बड़ी गम्भीरता के साथ इस मत का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ *A Modern Introduction to Indian Logic* में किया है। इसके विपरीत डा. भारद्वाज ने विश्व दर्शन कांग्रेस के देहली अधिवेशन में पठित अपने निबन्ध में न्याय सूत्र के टीकाकारों के मत की रक्षा करते हुए तर्क को व्यभिचार शंका प्रतिबन्धक (Tarka as Contrafactual conditional) माना है जो कि उसके आगमनात्मक पक्ष पर बल देता है। किन्तु ऐसा तर्क व्याप्ति ग्राहक नहीं बन सकता केवल सहयोगी बन सकता, अतः उसमें अन्तः प्रज्ञात्मक पक्ष को स्वीकार करना आवश्यक है। स्वयं डा. बारलिंगे ने तर्क को अनानुभविक (Non-empirical) माना है। वस्तुतः व्याप्ति ग्रहण को एक अनानुभविक पद्धति चाहिए। इसीलिए न्याय दार्शनिकों ने व्याप्ति ग्रहण का अन्तिम एवं सीधा उपाय सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति को माना जो कि अनानुभविक एवं अन्तः प्रज्ञात्मक है। डॉ. बारलिंगे ने भी स्वयं इस बात को स्वीकार किया है। वे लिखते

हैं- It is not also ordinary perception because there is no Indriya Sannikarsha with smoke in all the cases उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि अमूर्त जाति सम्बन्ध के ज्ञान के लिए ऐसी ही अनानुभविक पद्धति आवश्यक है। जैन दार्शनिकों ने तर्क को एक अतीन्द्रिय अर्थात् ऐन्द्रिक अनुभवों पर आधारित किन्तु उससे पार जाने वाला, उनका अतिक्रमण करने वाला मानकर इस आवश्यकता की पूर्ति कर ली है। डॉ. प्रणवकुमार सेन ने विश्व दर्शन परिषद् के देहली अधिवेशन में प्रस्तुत अपने लेख में इस बात का स्पष्ट संकेत किया है। समस्या चाहे आगमन की हो या निगमन की उन्हें बिना अन्तःप्रज्ञात्मक आधार के सुलझाया नहीं जा सकता है (देखिए Knowledge, Culture and Value, p.41-50)। जैन दार्शनिकों के अनुसार व्यक्ति और जाति में कथंचित् अभेद है, अतः तक अपनी अन्तः प्रज्ञात्मक शक्ति के द्वारा विशेष के प्रत्यक्षीकरण के समय ही सामान्य को भी जान लेता है और इस प्रकार विशेषों के प्रत्यक्ष के आधार पर सामान्य वाक्य की स्थापना कर सकती है। यह कार्य अन्तः प्रज्ञा या तर्क के अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी अन्य प्रमाण के द्वारा सम्भव नहीं है।

ईहा का स्वरूप और तर्क से उसकी भिन्नता

यह सत्य है कि जैन दार्शनिकों ने प्रारम्भ में ईहा और तर्क को पर्यायवाची माना था, किन्तु प्रमाण युग में ईहा और तर्क दोनों स्वतन्त्र प्रमाण मान लिये गये थे। यद्यपि यह प्रश्न स्वतन्त्र रूप से विचारणीय अवश्य है कि जैन दार्शनिक ने ईहा के स्वरूप को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उस रूप में क्या उसे प्रमाण माना जा सकता है? क्योंकि ईहा निर्णयात्मक ज्ञान नहीं होकर तो मात्र ज्ञान प्रक्रिया (Process of knowledge) है। जैन दर्शन में प्रत्यक्ष से अनुमान तक की ज्ञान प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार है -

ऐन्द्रिक संवेदन....अवग्रह....संशय....ईहा....आवाय
धारणा....स्मृति....प्रत्यभिज्ञा....तर्क....अनुमान

इसमें संशय और धारणा को छोड़कर शेष सभी को प्रमाण माना है- यद्यपि ये किस अर्थ में प्रमाण है यह एक अलग प्रश्न है- जिस पर किसी स्वतन्त्र निबन्ध में विचार किया जा सकता है, किन्तु मैं अभी इस प्रश्न को हाथ में लेना नहीं चाहूँगा। यहाँ मूल प्रश्न यह है कि ईहा स स्वतन्त्र तर्क को प्रमाण क्यों मानना पड़ा-मेरी दृष्टि में इसका मूल आधार व्याप्ति ग्रहण की समस्या ही रहा होगा। अनुमान के लिए व्याप्ति ग्रहण एक अनिवार्य पूर्व शर्त (Pre-condition) है और ईहा से व्याप्ति ग्रहण सम्भव नहीं था। प्रमाण मीमांसा में ईहा की चर्चा के प्रसंग में यह प्रश्न उठाया गया था कि यदि ईहा और तर्क एक ही अर्थ के द्योतक हैं, तो फिर ईहा से पृथक् तर्क को पृथक् प्रमाण क्यों माना गया? उसके उत्तर में कहा गया कि ईहा वर्तमान

में उपस्थित अर्थ को ही अपना विषय बनाती है। अतः उसके आधार पर त्रैकालिक व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव नहीं है। पुनः ईहा प्रत्यक्ष के विषय को अर्थात् मूर्त वस्तु ज्ञान विषय बनाती है, किन्तु व्याप्ति ज्ञान या कार्य कारण भाव या जाति के प्रत्यय अमूर्त है, अतः वे ऐन्द्रिक ज्ञान के विषय नहीं बनते। तर्क एवं ईहा के स्वरूप में भी अन्तर है- (1) सर्वप्रथम ईहा विशेष का ज्ञान है जबकि तर्क सामान्य का ज्ञान है, (2) दूसरे ईहा वस्तु के गुण धर्मों का ज्ञान है जबकि तर्क सम्बन्धों का ज्ञान है, (3) तीसरे ईहा निर्णय के पूर्व की या संशय और निर्णय के मध्य निर्णयोन्मुख दोलन की अवस्था है जबकि तर्क निर्णयात्मक है, (4) चौथे ईहा ऐन्द्रिक और बौद्धिक ज्ञान है जबकि तर्क में अन्तः प्रज्ञा का तत्त्व होता है, (5) पाँचवाँ ईहा वर्तमान कालिक ज्ञान है जबकि तर्क त्रैकालिक ज्ञान है। अतः ईहा और तर्क में पर्याप्त अन्तर है क्योंकि तर्क व्याप्ति-ग्राहक है और ईहा व्याप्ति ग्राहक नहीं है। अतः तर्क को ईहा से स्वतन्त्र प्रमाण इसलिए मानना पड़ा कि ईहा का अन्तर्भाव तो लौकिक प्रत्यक्ष में होता है जबकि तर्क का अन्तर्भाव परोक्ष ज्ञान में किया गया है। अतः दोनों को अलग-अलग प्रमाण मानना आवश्यक है।

ईहा का प्रतीकात्मक स्वरूप भी तर्क से भिन्न है। ईहा के पूर्व जो संशय होता है वह कार्य कारण, अविनाभाव या आपादान के सम्बन्ध में नहीं होकर केवल विधेय के सम्बन्ध में होता है। यह स्वर स्त्री का है या पुरुष का? तथा यह स्तम्भ है या पुरुष ऐसे वाक्यों में संशय इस बारे में भी होता है कि विधेय के इन वैकल्पिक वर्गों में उद्देश्य किस वर्ग का सदस्य है, अतः ईहा का जो सुज्ञावात्मक निर्णय होता है वह आपादान के बारे में न होकर वर्ग सदस्यता के बारे में होता है। उसका प्रतीकात्मक रूप होता है -

$$\begin{array}{ll} \text{उ}_1 & \text{सं (वि}^1\text{Vवि}_2) \quad \text{-----संशय} \\ \cup \text{ वि}_2 & \text{-----विकल्प निषेध} \\ \hline \therefore \text{उ} \subset \text{सं (वि}_1) & \text{-----सम्भावित निर्णय (ईहा)} \end{array}$$

जबकि -

$$\begin{array}{ll} \text{उ} & = \text{उद्देश्य} \\ \text{वि} & = \text{विधेय} \\ \text{सं} & = \text{सम्भावना} \\ \subset & = \text{विधेय सम्बन्ध या सदस्यता} \\ \cup & = \text{निषेध} \end{array}$$

इस प्रकार प्रतीकात्मक दृष्टि से विचार करने पर तीनों की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है।

तर्क का संशय निवर्तक स्वरूप

न्याय दार्शनिक तर्क को संशय निवर्तक मानते हैं, किन्तु जैन दार्शनिक ने स्पष्ट रूप से तर्क के इस स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है। इसका कारण यह हो सकता है कि उनके अनुसार तर्क व्याप्ति ग्राहक है, अतः संशय का निवर्तन उसकी पूर्ण अवस्था ही हो सकती है, स्वरूप नहीं। उन्होंने इस प्रक्रिया को अन्तर्भाव अनुपलम्भ में कर लिया है। सहचार दर्शन के पश्चात् जो विकल्प या संशय बनते हैं उनका निरसन व्यभिचार अदर्शन से हो जाता है। जहाँ तक न्याय दार्शनिकों का प्रश्न है वे स्पष्ट रूप से तर्क को 'क्वचिच्छंकानिवर्तक' कहते हैं। अतः इस सम्बन्ध में विचार करना अपेक्षित है कि तर्क किस प्रकार के संशय को छिन्न करता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तर्क विधेय सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, अतः उसके द्वारा जिन संशयों को छिन्न किया जाता है वे इस रूप में नहीं होते कि यह स्तम्भ है या पुरुष? अथवा यह स्वर स्त्री का है या पुरुष का? अतः तर्क में संशय का प्रतीकात्मक स्वरूप $t_1 \subset k_1 V k_2$ ऐसा नहीं है। यहाँ संशय वस्तु के स्वरूप के बारे में न होकर आपादन, अविनाभाव और कार्य-कारण आदि के सम्बन्धों के बारे में होते हैं। जब संशय सम्बन्ध के बारे में ही होता है उसका प्रतीकात्मक स्वरूप निम्न होगा (हे $\supset$ सा) $V \in$ (हे $\supset$ सा)। यहाँ विकल्प व्याप्ति के होने या नहीं होने के बारे में ही होता है। इस संशय का निवर्तन तभी हो सकता है जब हेतु (धूम) साध्य (अग्नि) के अभाव में भी कहीं उपलब्ध हो ऐसा प्रत्यक्ष में उदाहरण नहीं मिलने से अर्थात् व्यभिचार के अदर्शन से संशय छिन्न हो जाता है। क्योंकि यदि धूम और अग्नि में अविनाभाव नहीं होता तो अग्नि के अभाव में भी कहीं धूम उपलब्ध होता अर्थात् 'हे सा अथवा $\in$ सा. हे' का उदाहरण मिलना था; चूँकि ऐसा उदाहरण नहीं मिला है, अतः उनमें व्याप्ति है। न्याय दर्शन तर्क को केवल संशय छेदक मानता है। किन्तु जैन दर्शन व्याप्ति ग्राहक के रूप में उसके निश्चयात्मक एवं विधायक कार्य को भी स्पष्ट कर देता है। जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि अनुपलब्धि अर्थात् व्यभिचार अदर्शन से सन्देह का निवर्तन हो जाने पर जो ज्ञान होगा वह निश्चयात्मक ही होगा। अतः यह तर्क संशय निवर्तक है, तो वह उसी समय व्याप्ति ग्राहक भी है।

तर्क का प्रतीकात्मक स्वरूप

तर्क का कोई प्रतीकात्मक स्वरूप निश्चित कर पाना इसलिए कठिन है कि वह एक कूदान (Leap) की अवस्था है। विशेषों के ज्ञान के आधार पर हम सामान्य की स्थापना अवश्य करते हैं, किन्तु इसका कोई नियम नहीं बताया जा सकता है; यह अन्तःप्रज्ञा की आश्वस्ति है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में जिस कार्य-कारण

सम्बन्ध के ज्ञान के आधार पर या प्रकृति की समरूपता के नियम के आधार पर सामान्य ज्ञान का दावा किया जाता है वह भी आनुभविक आधार पर तो सिद्ध नहीं होता है। ह्यूम ने इसीलिए उसे एक विश्वास (Belief) मात्र कहा था। फिर भी यह न तो अन्ध-विश्वास है और न साधारण विश्वास ही, अपितु वह हमारी अन्तःप्रज्ञा की आश्वस्ति है, एक विवेक पूर्ण बौद्धिक आस्था है जिसकी सत्यता के बारे में हमें कोई अनिश्चय नहीं है। यदि हम तर्क के इस स्वरूप को मान्य करते हैं तो उसे कोई प्रतीकात्मक रूप देना कठिन है, किन्तु जैन दार्शनिकों ने 'व्याप्तिज्ञानसमूहः' कहकर प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद मानते हुए तर्क का तादात्म्य व्याप्ति ज्ञान की जो प्रतिष्ठा है उसी आधार पर तर्क प्रतीकात्मक स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है -

(1) हे. सा - सहभाव एवं क्रमभाव का अन्वय दृष्टान्त- भावात्मक उपलम्भ

(2) ∞ सा. ∞ हे- सहभाव एवं क्रमभाव का अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्त -

अभावात्मक उपलम्भ

(3) ∞ (हे. ∞ सा).

∞ (हे. ∞ सा. हे.)

व्यभिचार अदर्शन- अनुपलम्भ

(4) $\therefore$ स (हे $\supset$ सा)

व्याप्ति सुझाव

(5) (हे $\supset$ सा) $\vee \infty$ (हे $\supset$ सा)

संशय

(6) ∞ (∞ सा. हे)

संशय निरसन- व्यभिचार अदर्शन के आधार पर

(7) S सा $\supset$ S हे

व्याप्ति (अभावात्मक)

(8) हे $\supset$ सा

व्याप्ति (भावात्मक)

जबकि -

हे = हेतु

सा = साध्य

= सहभाव

$\supset$ = आपादन

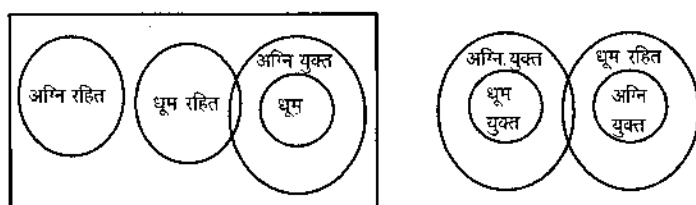
S = निषेध

S = आपादन निषेध

इसे निम्न ठोस उदाहरण से भी स्पष्ट किया जाता है- यदि हम वह परम्परागत उदाहरण लें जिसमें धुआं हेतु है और अग्नि साध्य है तो सर्वप्रथम (1) धुआँ के साथ अग्नि का सहचार देखा जाता है (यद्सत्त्वेयद्सत्त्वं)। (2) अग्नि के अभाव में धुएँ का भी अभाव देखा जाता है (यद्भावे यद्भावः)। इस प्रकार अन्वय

और व्यतिरेक दोनों में सहचार देखा जाता है पुनः (3) ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं देखा जाता है कि धुआँ है, किन्तु अग्नि नहीं है, अथवा अग्नि नहीं है और धुआँ है। (4) इसलिए सम्भावना यह प्रतीत होती है कि धूम और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध या अबिनाभाव सम्बन्ध होना चाहिए। (5) पुनः यह संशय हो सकता है कि धुएँ और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध होगा या नहीं होगा। (6) किन्तु यह दूसरा विकल्प सत्य नहीं है, क्योंकि अग्नि के अभाव में धूम की उपस्थिति का एक भी व्यभिचारी उदाहरण नहीं मिला है। (7) अतः निष्कर्ष यह है कि अग्नि के अभाव में, धुएँ के अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध या अबिनाभाव सम्बन्ध है। (8) इसी आधार पर धूम के सद्भाव और अग्नि के सद्भाव में भी व्याप्ति सम्बन्ध सिद्ध हो जावेगा। यहाँ हमें यह ध्यान रखना होगा कि जहाँ न्याय दर्शन केवल S सा $\supset S$ हे को तर्क का प्रतीक मानता है, वहाँ जैन दर्शन $\supset$ सा $\supset$ हे और $\supset$ हे $\supset$ सा दोनों को ही स्वीकार करता है। डा. बारलिंगे ने भी माना है कि S सा $\supset S$ हे से हम हे $\supset$ सा के निष्कर्ष पर निर्दोष रूप से पहुँच सकते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन न्याय दर्शन से एक कदम आगे बढ़कर यह निर्णय देता है कि हे $\supset$ सा अर्थात् धूम का सद्भाव अग्नि के सद्भाव का सूचक है। धूम के सद्भाव और अग्नि सद्भाव में भी व्याप्ति सम्बन्ध है। जैन दर्शन के इस दृष्टिकोण का समर्थन नव्य न्याय में हमें मिलता है। यह तर्क के व्याप्ति परिशोधक तर्क और व्याप्ति ग्राहक तर्क-ऐसे दो विभाग करता है। उपरोक्त उदाहरण में छठा चरण व्याप्ति परिशोधक तर्क का और सातवाँ तथा आठवाँ चरण व्याप्ति ग्राहक तर्क का है। यद्यपि इस सब में तर्क का मुख्य कार्य तो वहाँ है जब हम सद्भाव एवं क्रमभाव के अन्वय और व्यतिरेक के साधक दृष्टान्तों तथा व्यभिचार दर्शन रूप बाधक दृष्टान्त के अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध का निश्चय करते हैं। यह विशेष के दृष्टान्तों से सामान्य नियम की ओर अथवा सहभाव एवं क्रमभाव से आपादन (Implication) का कार्य-कारण सम्बन्ध की ओर जो छलांग है, तर्क उसी का प्रतीक है। यद्यपि तर्क के इस प्रतीकात्मक स्वरूप के बारे में अभी काफी विचार और संशोधन की आवश्यकता है, किन्तु फिर भी इसे मान्य करना इसलिए आवश्यक है कि हम भाषा सम्बन्धी कुछ सम्भावित भ्रान्तियों से बच सकें। उदाहरण के लिए जैन न्याय के अद्वितीय विद्वान पं. कैलाशचन्द्र जी जैन न्याय नामक ग्रन्थ में तर्क की परिभाषा व्याख्या करते हुए लिखते हैं - उपलम्भ-साध्य के होने पर ही साधन का होना और अनुपलम्भ-साध्य के अभाव में साधन का न होना के निमित्त से होने वाले व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं (जैन न्याय पृ. 209)। किन्तु क्या साध्य (अग्नि) के सद्भाव से साधन या हेतु (धुएँ) का सद्भाव सिद्ध हो सकता है; कदापि नहीं। वस्तुतः यहाँ साध्य के होने पर ही साधन का होना इस

कथन का अर्थ भावात्मक न होकर अभावात्मक ही है अर्थात् यह साध्य के अभाव में साधन के अभाव का द्योतक है न कि साध्य के सद्भाव में साधन के सद्भाव का। क्योंकि धूम ही अग्नि से नियत है, अग्नि धूम से नियत नहीं है। इसका नियम है साधन (हेतु) का सद्भाव साध्य के सद्भाव का और साध्य का अभाव साधन या हेतु के प्रभाव का सूचक है, जिसका प्रतीकात्मक रूप होगा हे $\supset$ तथा S सा. S हे, अतः इस नियम का कोई भी व्यतिक्रम असत्य निष्कर्ष की ओर ले जावेगा। हम साध्य की उपस्थिति से हेतु की उपस्थिति या अनुपस्थिति के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय नहीं ले सकते हैं। भावात्मक दृष्टान्तों में व्याप्ति हेतु और साध्य अर्थात् धूम के सद्भाव और अग्नि के सद्भाव के बीच होती है, किन्तु अभावात्मक दृष्टान्त में वह साध्य और हेतु अर्थात् अग्नि के अभाव और धूम के अभाव के बीच होती है। इसका निर्देश हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी व्याप्य-व्यापक भाव या गम्य-गमक भाव के रूप में किया है। उन्होंने यह बताया है कि धूम की उपस्थिति से अग्नि की उपस्थिति का और अग्नि की अनुपस्थिति से धूम की अनुपस्थिति का निश्चय किया जा सकता है किन्तु इसका नियम कोई भी व्यतिक्रम सत्य नहीं होगा। क्योंकि धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक है। प्रतीकात्मकता से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। वर्ग सदस्यता का निम्न चित्र रेखांकन भी इसे स्पष्ट कर देता है।



वर्ग सदस्य सम्बन्ध के इस चित्र से निम्न फलित निकलते हैं-

(1) सब धूमयुक्त वस्तुयें अग्नियुक्त वस्तुयें हैं, क्योंकि धूमयुक्त वस्तुओं के वर्ग का प्रत्येक सदस्य अग्नियुक्त वस्तुओं के वर्ग का सदस्य है, धूमयुक्त वस्तुओं का वर्तुल अग्नियुक्त वस्तुओं के वर्तुल में समाविष्ट है। अर्थात् धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक है। अतः धूम और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध है, किन्तु इसके विपरीत अग्नि और धूम में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बनता है क्योंकि अग्नियुक्त वस्तुओं की जाति (वर्ग) के सभी सदस्य नहीं हैं।

हे (धू) $\supset$ सा (अ) सत्य
सा (अ) $\supset$ हे (धू) असत्य

(2) अब अग्नि रहित वस्तुयें धूम रहित वस्तुयें हैं क्योंकि अग्नि रहित वस्तुओं के वर्ग का प्रत्येक सदस्य धूम रहित वस्तुओं के वर्ग का सदस्य है अर्थात् अग्नि रहित वस्तुओं का वर्तुल धूम रहित वस्तुओं के वर्तुल में समाविष्ट है अर्थात् अग्नि रहित वस्तुयें व्याप्त हैं और धूमरहित वस्तुयें व्यापक हैं। अतः अग्नि रहित वस्तु और धूमरहित वस्तु में व्याप्ति सम्बन्ध है, किन्तु इसके विपरीत धूमरहित और अग्निरहित वस्तु में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बनता है, इसमें व्यभिचार हो सकता है क्योंकि धूमरहित वस्तुओं को जाति के सभी सदस्य अग्निरहित वस्तुओं की जाति के सदस्य नहीं हैं।

हे (S अ) $\supset$ सा (S घू) सत्य

सा (S घू) $\supset$ हे (S घू) असत्य

प्रथम उदाहरण में धूम हेतु है और अग्नि साध्य है अ जबकि दूसरे उदाहरण अग्निरहित हेतु है और धूमरहित साध्य है।

(3) कोई भी धूमयुक्त वस्तु अग्निरहित नहीं है क्योंकि धूमयुक्त वस्तुओं का वर्तुल अग्नि रहित वस्तुओं के वर्तुल से पृथक् है अतः धूमयुक्त और अग्नि रहित में निषेधात्मक व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा नहीं है जो धूमयुक्त है वह अग्नि रहित नहीं हो सकता और जो अग्नि रहित है वह धूमयुक्त नहीं हो सकता।

हे (धू) S $\supset$ सा (S अ) सत्य

सा (S अ) S $\supset$ हे (धू) सत्य

सा (S अ) S $\supset$ सा (धू) सत्य

सा (धू) S $\supset$ हे (S अ) सत्य

अर्थात् निषेधात्मक व्याप्ति में दोनों ही सत्य हैं।

तर्क को व्याप्ति ग्रहण का साधन और स्वतन्त्र प्रमाण क्यों मानें

जैन तार्किकों ने तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण इसीलिए माना था कि तर्क प्रमाण माने बिना व्याप्ति ज्ञान तथा अनुमान की प्रमाणिकता सम्भव नहीं है? यदि हम अनुमान को प्रमाण मानते हैं तो हमें तर्क को भी प्रमाण मानना होगा क्योंकि अनुमान की प्रमाणिकता व्याप्ति ज्ञान की प्रमाणिकता पर निर्भर है और व्याप्ति ज्ञान की प्रमाणिकता स्वयं उसके ग्राहक साधन तर्क की प्रमाणिकता पर निर्भर होगी। यदि व्याप्ति का निश्चय करने वाला साधन तर्क ही प्रमाण रही है तो व्याप्ति ज्ञान भी प्रमाणिकता नहीं होगा और फिर उसी व्याप्ति सम्बन्ध के ज्ञान पर आश्रित अनुमान प्रमाण कैसे होगा? अतः तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है।

पुनश्च यदि हम तर्क को प्रमाण नहीं मानते हैं तो हमें यह मानना होगा कि व्याप्ति-ग्रहण तर्क से इतर अन्य किसी प्रमाण से होता है, किन्तु तर्क पर अन्य प्रमाण व्याप्ति ज्ञान के ग्राहक नहीं हो सकते। सर्वप्रथम इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की समीक्षा करके देखें कि क्या उनसे व्याप्ति-ग्रहण सम्भव है। इस सम्बन्ध में जैन तार्किकों का उत्तर स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति ग्रहण सम्भव नहीं है।

लौकिक प्रत्यक्ष अर्थात् ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष से व्याप्ति या अबिनाभाव सम्बन्ध का निश्चय इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम तो प्रत्यक्ष का विषय होता है और विशेषों के कितने ही उदाहरण। ज्ञान से सामान्य का ज्ञान सम्भव नहीं है; हम मोहन, सोहन आदि हजारों या लाखों मनुष्यों को मरता हुआ देखकर भी उसके आधार पर यह दावा नहीं कर सकते कि सब मनुष्य मरणशील हैं। दूसरे विशेषों के सभी उदाहरणों को जान पाना भी सम्भव नहीं है। पुनः प्रत्यक्ष वर्तमान काल को ही विषय बनाता है जबकि व्याप्ति का निश्चय तो त्रैकालिक ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। भूतकाल के अनेकों उदाहरणों का प्रत्यक्ष यह भी गारण्टी नहीं देता है कि भविष्य में भी ऐसा होगा। भूतकाल के अनेकानेक (लगभग सभी) मनुष्य मर गये और व वर्तमान में अनेक मर रहे हैं, किन्तु इससे हम यह कैसे कह सकते हैं कि भविष्यकाल के सभी मनुष्य मरेंगे ही। हो सकता है कि भविष्य में कोई ऐसी औषधि निकल आवे कि मनुष्य अमर हो जावे। प्रत्यक्ष के विषय सदैव ही दैशिक और कालिक तथ्य होते हैं, अतः उससे सार्वभौमिक और सार्वकालिक व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता।

प्रत्यक्ष अथवा प्रेक्षण पर आधारित व्याप्ति स्थापन की कई विधियाँ हैं, जैसे अन्वय, व्यतिरेक, भूयो दर्शन, नियत सहचार दर्शन, व्यभिचार अदर्शन और सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति आदि। इनमें से सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी विधि त्रैकालिक व्याप्ति सम्बन्ध को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। जहाँ तक सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति का प्रश्न है उसे प्रत्यक्षात्मक कहना भी कठिन है, वह मूलतः जैन दर्शन के 'तर्क' के प्रत्यय से भिन्न नहीं है क्योंकि दोनों की मूल प्रकृति अन्तः प्रज्ञात्मक है, वे इन्द्रिय ज्ञान नहीं अपितु प्रातिभ ज्ञान है। यह सुनिश्चित सत्य है कि मात्र प्रत्यक्ष पर आधारित कोई भी विधि त्रैकालिक व्याप्ति सम्बन्ध या अबिनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकती है जब तक कि वह तर्क या प्रातिभ ज्ञान का सहारा नहीं लेती है। सामान्यतः व्याप्ति स्थापन में अन्वय और व्यतिरेक को महत्वपूर्ण माना जाता है। अन्वय का अर्थ है हेतु और साध्य का सभी उदाहरणों

मे साथ पाया जाना उदाहरणार्थः जहाँ-जहाँ धुआँ देखा गया उसके साथ आग भी देखी गई है तो हम धुएँ और आगम में व्याप्ति मान लेते हैं किन्तु अन्वय के आधार पर व्याप्ति की स्थापना सम्भव नहीं है। यदि दो चीजें सदैव एक दूसरे के साथ देखी जावें तो उनमें व्याप्ति हो ही यह आवश्यक नहीं है। अन्वय के आधार पर व्याप्ति मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अन्वय के सभी दृष्टान्त नहीं देखे जा सकते हैं और केवल इन कुछ दृष्टान्तों के आधार पर व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है। केवल व्यतिरेक के आधार पर व्याप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती है। अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति संयुक्त रूप से भी व्याप्ति स्थापन नहीं कर सकते हैं। यहाँ ठीक है कि अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्तों के प्रेक्षण से व्याप्ति की धारणा पुष्ट होती है, किन्तु ये केवल इतना सुझाव देते हैं कि इन दो तथ्यों के बीच व्याप्ति सम्बन्ध हो सकता है। इनसे व्याप्ति का निश्चय या सिद्धि नहीं होती है क्योंकि अन्वय, व्यतिरेक और अन्वय व्यतिरेक की संयुक्त विधि तीनों ही में सीमित उदाहरणों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव होता है। अतः इनके आधार पर त्रैकालिक व्याप्ति की स्थापना सम्भव नहीं है। तीनों कालों में और तीनों लोकों में जो कुछ धूम है वह सब अग्नियुक्त है इतना व्यापार प्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव नहीं है फिर वह प्रत्यक्ष चाहे अन्वय रूप हो या व्यतिरेक रूप। न्यायिकों ने इस कठिनाई से बचने के लिए अन्वय व्यतिरेक भूयो दर्शन व्याप्ति स्थापन का आधार बनाने का प्रयास किया था। किरणावली में भूयः अवलोकन को ही व्याप्ति निश्चय के प्रति कारण-भूत उपाय माना गया है। भूयो दर्शन का अर्थ है अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्तों का बार-बार अवलोकन करना। यह ठीक है कि अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्तों के बार-बार अवलोकन से व्याप्ति होने की धारणा की पुष्टि होती है। किन्तु यह भूयो दर्शन या बार-बार अवलोकन प्रथमतः त्रैकालिक नहीं हो सकता है, अतः इससे त्रैकालिक व्याप्ति ज्ञान की सम्भावना नहीं है। दूसरे भूयो दर्शन से ही उपाधि के अनुभव का निश्चय नहीं हो सकता। जहाँ-जहाँ आग होती है वहाँ-वहाँ आग होती है इस प्रकार अन्वय के सैकड़ों उदाहरण तथा जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ-वहाँ धूम नहीं है। इस प्रकार व्यतिरेक के सैकड़ों उदाहरण अग्नि का धूम के साथ स्वाभाविक व त्रैकालिक सम्बन्ध सूचित नहीं कर सकते। ईधन के गीलेपन की उपाधि से दूषित होने के कारण यह औपाधिक सम्बन्ध है स्वाभाविक नहीं। सहचार दर्शन स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति का चाहे निश्चय कर भी ले, किन्तु औपाधिक सम्बन्ध रूप व्याप्ति का निश्चय उसके द्वारा सम्भव नहीं है। गंगेश ने इसकी आलोचना में लिखा है कि साध्य और साधन के सहचार का भूयो दर्शन क्रमिक अथवा सामूहिक रूप से व्याप्ति

ज्ञान का कारण नहीं है। रघुनाथ शिरोमणि, गंगाधर भट्टाचार्य, विश्वनाथ, अन्नम भट्ट तथा नीलकण्ठ ने एक मत से भूयो दर्शन को व्याप्ति ग्राह्य प्रमाण नहीं माना है। श्रीधर के अनुसार व्याप्ति का निश्चय प्रतिपक्ष शंका रहित अन्तिम प्रत्यक्ष से होता है, जिसमें उसे सहभाव विषयक प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाले संस्कार की सहायता भी अपेक्षित रहती है, किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा व्यभिचार शंकाओं का पूर्णतः निर्मूलन न होने के कारण यह मत की युक्ति संगत नहीं है।

जयन्त भट्ट ने नियमित सहचार दर्शन को ही व्याप्ति निश्चित का कारणीभूत उपाय माना है, किन्तु यह मत इसलिए समीचीन नहीं है कि नियत सहचार दर्शन केवल अतीत और वर्तमान पर आधारित है, किन्तु उसकी क्या गारण्टी है कि यह सम्बन्ध भविष्य के लिए भी तथा देशान्तर और कालान्तर में भी कार्यकारी सिद्ध होगा। इस शंका का निरसन करने के लिए सहचार नियम क्षमताशील नहीं है।

इस प्रकार प्रेक्षण या इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित कोई भी विधि व्याप्ति स्थापन में समर्थ नहीं है। अनुमान से भी व्याप्ति ज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि प्रथम तो अनुमान की वैधता तो स्वयं ही व्याप्ति सम्बन्ध के ज्ञान की वैधता पर निर्भर है। यदि हमारा व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान प्रमाणिक हो ही नहीं सकता।

अनुमान को व्याप्ति ज्ञान का आधार मानने में मुख्य कठिनाई यह है कि जब तक व्याप्ति ज्ञान न हो जाय, अनुमान की कल्पना ही नहीं हो सकती। यदि अनुमान स्वयं ही अपनी व्याप्ति का ग्राहक है तो हम आत्मश्रय दोष से बच नहीं सकते। इससे भिन्न यदि हम यह मानें कि एक अनुमान की व्याप्ति का ग्रहण दूसरे अनुमान से होगा तो ऐसी स्थिति में एक अनुमान की व्याप्ति के ग्रहण के लिए दूसरे अनुमान की ओर, दूसरे अनुमान की व्याप्ति के लिए, तीसरे अनुमान की ओर तीसरे अनुमान की व्याप्ति के लिए चौथे अनुमान की आवश्यकता होगी और इस श्रृंखला का कहीं अन्त नहीं होगा अर्थात् अनवस्था दोष का प्रसंग उत्पन्न होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न तो प्रत्यक्ष से, न अनुमान से ही व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है। यद्यपि कुछ विचारकों ने इन कठिनाईयों को जानकर व्याप्ति ग्रहण के अन्य उपाय भी सुझाए हैं। इन उपायों में एक अन्य उपाय निर्विकल्प प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाले विकल्प ज्ञान को व्याप्ति ग्रहण का आधार मानता है। यह सही है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष अविचारक होने से व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु यदि निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहीत विषय तक ही विकल्प की प्रवृत्ति है तो भी उसमें व्याप्ति ज्ञान सम्भव नहीं है। यदि वह विकल्प निर्विकल्प प्रत्यक्ष को अवैध नहीं रखता है और उसका विषय उससे व्यापक हो सकता है, तो निश्चय ही उसमें

व्याप्ति ग्रहण माना जा सकता है। यदि हम उस विकल्प को प्रमाण मानते हैं, तो हमें उसे प्रत्यक्ष और अनुमान से अलग ही प्रमाण मानना होगा और ऐसी स्थिति में उसका स्वरूप वही होगा जिसे जैन दार्शनिक तर्क प्रमाण कहते हैं। यदि हम उस विकल्प ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं तो व्याप्ति प्रमाणिक नहीं होगी। अप्रमाणिक ज्ञान से चाहे यथार्थ व्याप्ति प्राप्त भी हो जावे, किन्तु उसे प्रमाण नहीं मान सकते। यह ठीक ऐसा ही होगा जैसे कि असत्य आधार वाक्य से सत्य निष्कर्ष प्राप्त करना। इसलिए जैन दार्शनिकों ने व्यंग्य में इसे हिजड़े से सन्तान उत्पन्न करने की आशा करने के समान माना है।

वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष के फलस्वरूप होने वाले ऊहापोह को व्याप्ति ग्रहण का साधन माना है। यदि इस ऊहापोह का विषय मात्र प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा स्मृति रहती है तो फिर उसमें भी कोई विशिष्टता नहीं रहती है क्योंकि उसका विषय प्रत्यक्ष जितना सीमित ही रहता है। यदि इस ऊहापोह का विषय प्रत्यक्ष से व्यापक है, तो उसे अपनी इस विशिष्टता के कारण एक अन्य प्रमाण ही मानना होगा और यहाँ वह जैन दर्शन के तर्क प्रमाण से भिन्न नहीं कहा जा सकेगा।

न्याय दार्शनिकों ने तर्क सहकृत भूयो दर्शन को व्याप्ति ग्राहक साधन माना है। वाचस्पति मिश्र ने न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका में इसे स्पष्ट किया है कि अकेले प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता अपितु तर्क सहित प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण होता है क्योंकि व्याप्ति उपाधिविहीन स्वाभाविक सम्बन्ध है। चूँकि भूयो दर्शन या प्रत्यक्ष से सकल उपाधियों का उन्मूलन सम्भव नहीं है, अतः इस हेतु एक नवीन उपकरण की आवश्यकता होगी और वह उपकरण तर्क है। किन्तु यह अकेला प्रत्यक्ष व्याप्ति ग्रहण में समर्थ नहीं है तो ऐसी स्थिति में व्याप्ति का ग्राहक अन्तिम साधन तर्क को ही मानना होगा। यद्यपि यह सही है कि तर्क प्रत्यक्ष के अनुभवों को साधक अवश्य बनाता है किन्तु व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं होकर तर्क से ही होता है। इसलिए तर्क के महत्त्व को स्वीकार करना होगा तर्क को प्रमाण की कोटि में स्वीकार न कर, उसकी महत्ता को अस्वीकार करना, कृतघ्नता ही होगी। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने व्यंग्य करते हुए कहा था कि यह तो तपस्वी के यश को समाप्त करने जैसा ही है।

जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि तर्क प्रत्यक्ष की सहायता से ही व्याप्ति का ग्रहण करता है तो जैन दार्शनिकों का इससे कोई विरोध नहीं है। उन्होंने तर्क की परिभाषा में ही इस बात को स्वीकार कर लिया है कि प्रत्यक्ष आदि के निमित्त से तर्क की प्रवृत्ति होनी है। यह भी सही है कि प्रत्येक परवर्ती प्रमाण को अपने

पूर्ववर्ती प्रभाव की सहायता प्राप्त होती है, किन्तु इससे उस प्रमाण की स्वतन्त्रता पर कोई बाधा नहीं होती। अनुमान के लिए प्रत्यक्ष और व्याप्ति सम्बन्ध की अपेक्षा होती है, किन्तु इससे उसके स्वतन्त्र प्रमाण होने में कोई बाधा नहीं आती। जैन दार्शनिकों की विशेषता यह है कि वे तर्क की केवल शंका को निर्वृतक के ही नहीं, अपितु ज्ञान प्रदान करने वाला भी मानते हैं। अतः वह स्वतन्त्र प्रमाण है। जैन दर्शन और न्याय दर्शन में तर्क की महत्ता को लेकर मात्र विवाद इतना ही है कि जहाँ न्याय दर्शन तर्क का कार्य निषेधात्मक मानता है वहाँ जैन दर्शन में तर्क का विधायक कार्य भी स्वीकार किया है।

पाश्चात्य निगमनात्मक न्याय मुक्ति में प्रमाणिक निष्कर्ष की प्राप्ति के लिए कम से कम एक आधार वाक्य का सामान्य होना आवश्यक है, किन्तु ऐसे सामान्य वाक्य की, जो कि दो तथ्यों के बीच स्थित कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित होता है, की स्थापना कौन करे? इसके लिए उस आगमनात्मक तर्कशास्त्र का विकास हुआ जो कि ऐन्द्रिक अनुभवों पर आधारित था, किन्तु ऐन्द्रिक अनुभववाद (प्रत्यक्ष-वाद) और उसी भित्ति पर स्थित मिल की अन्वय व्यतिरेक आदि की पाँचों आगमनिक विधियाँ भी निर्विवाद रूप से कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित सामान्य वाक्य की स्थापना में असफल ही रही है। श्री कोहेन एवं श्री नेगेल अपनी पुस्तक (Logic and Scientific Method) में मिल की आगमनात्मक युक्तियों की अक्षमता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं - *The canons of experimental inquiry are not therefore capable of demonstrating any casual laws. The experimental methods are neither methods of proof nor methods of discovery* (P. 266-67)। वस्तुतः कोई भी अनुभवात्मक पद्धति जो निरीक्षण या प्रयोग पर आधारित होगी एक अधिक युक्तिसंगत प्राक्कल्पना से अधिक कुछ नहीं प्रदान कर सकती हैं। ह्यूम तो अनुभववाद की इस अक्षमता को बहुत पहले ही प्रकट कर चुका था, अतः पाश्चात्य तर्कशास्त्र में आगमनात्मक कुदान (Inductive Leap) की जो समस्या अभी भी बनी हुई है उसे भी जैन दर्शन के इस तर्क प्रमाण की अन्तः प्रमाण की अन्तः प्रज्ञात्मक पद्धति के आलोक में सुलझाने का एक प्रयास अवश्य किया जा सकता है। वस्तुतः आगमन के क्षेत्र में विशेष से सामान्य की ओर जाने के लिए जिन आगमनात्मक कुदान की आवश्यकता होती है- तर्क उसी का प्रतीक है वह विशेष और सामान्य के बीच की खाई के लिए एक पुल का काम करता है जिसके माध्यम से हम प्रत्यक्ष से व्याप्ति ज्ञान की ओर तथा विशेष से सामान्य की ओर बढ़ सकते हैं।

संदर्भ -

1. से किं तं प्रमाणे? प्रमाणे चदव्विहे पण्णते तं जहाँ पच्चक्खे, अणुमाणे ओवम्मे, आगमे, जहाँ अणुओगद्वारे। भगवती 5/4/191-192
2. तिविहे व्यवसाए पण्णते तं जहाँ-पच्चक्खे, पच्चइए, अनुगामिए। स्थानांग 185
3. अहवा हेउ चउव्विहे पण्णते तं जहाँ पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे अ स्थानांग 338
4. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽमिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् तत्त्वार्थ 1/1
5. तत्त्वार्थ भाष्य 1/15
6. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 4 पृ. 190-191
7. मीमांसा कोष, पृ. 1638
8. तत्रोहो नाम प्रकृतावन्यथा दूषण्य विकृतावन्यथा भावः।
9. मीमांसा दर्शन 9-2, 1-1
10. न्याय सूत्र पर वात्सायने भाष्य 1/1/1, पृ. 53
11. न्याय सूत्र पर विश्वनाथ वृत्ति 1/1/40
12. न्याय सूत्र पर वात्सायन भाष्य, पृ. 320-21



बौद्ध और जैन प्रमाणमीमांसा का तुलनात्मक अध्ययन

जैन एवं बौद्ध प्रमाणशास्त्र का एक ऐतिहासिक विकासक्रम

जैन और बौद्ध दर्शन भारतीय श्रमण संस्कृति के दर्शन हैं। आचारशास्त्र के सिद्धान्त पक्ष की अपेक्षा से दोनों में बहुत कुछ समानताएं हैं किन्तु जहाँ तक तत्त्वमीमांसीय और प्रमाणशास्त्रीय विवेचनों का प्रश्न है, दोनों में कुछ समानताएँ और कुछ अंतर परिलक्षित होते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शन एकांतवाद के विरोधी हैं। दोनों के दार्शनिक विवेचन के मूल में विभज्यवादी दृष्टिकोण समाहित है। तत्त्वमीमांसा एवं आचारमीमांसा के क्षेत्र में बौद्ध दर्शन जहाँ एकांतवाद का निषेध करके मध्यमप्रतिपदा की बात करता है, वहीं जैन एकांतवाद का निषेध कर अनेकांतवाद की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दोनों दर्शनों की मूलभूत दृष्टि अर्थात् एकांतवाद के निषेध में समानता है किन्तु अपनी दार्शनिक विवेचनाओं के अग्रिम चरणों में दोनों दर्शनों की मान्यताओं में अन्तर देखा जाता है। उसका कारण यह है कि जहाँ एकांतवाद से बचने के लिए बौद्धदर्शन निषेधपरक रहा, वहाँ जैन दर्शन ने विधिमुख से अपनी बात कही। जैन दर्शन का चरम विकास उसके अनेकांतवाद और स्याद्वाद के सिद्धांत के रूप में हुआ, वहीं बौद्ध दर्शन का चरम विकास अपनी मध्यमप्रतिपदा पर आधारित होते हुए भी अंततः विज्ञानवाद और शून्यवाद के रूप में हुआ।

जहाँ तक जैन और बौद्ध प्रमाणशास्त्र का प्रश्न है। प्राचीन जैन आगमसाहित्य और बौद्ध त्रिपिटक में हमें प्रमाणशास्त्र संबंधी विशेष विवेचनाएं उपलब्ध नहीं होती हैं। परवर्ती जैन आगमों **समवायांग**, **अनुयोगद्वारसूत्र** और **नन्दीसूत्र** में ज्ञानमीमांसा की तो विस्तृत चर्चा है, किंतु प्रमाणशास्त्र संबंधी चर्चा का उनमें भी कुछ शब्द संकेतों के अतिरिक्त प्रायः अभाव ही है। इस प्रकार पालि त्रिपिटक और अर्द्धगामी आगमों में प्रमाणशास्त्र संबंधी छुटपुट शब्दों तथा तक्क, विमंसी, प्रमाण, हेतु, व्यवसाय आदि के प्रयोग तो मिल जाते हैं, किंतु एक सुव्यवस्थित प्रमाणशास्त्र की उपलब्धि नहीं होती है। बौद्ध परम्परा में सर्वप्रथम नागार्जुन ने लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी में शून्यवाद की स्थापना के साथ विग्रहव्यावर्तनी और वैदल्यसूत्र में प्रमाणों का स्पष्ट

रूप से खण्डन किया है। बौद्ध परम्परा में प्रमाणशास्त्र में दिङ्नाग (चौथी-पाँचवीं शती) को बौद्ध प्रमाणशास्त्र का प्रथम प्रस्तोता माना जा सकता है। मल्लवादी (चौथी-पाँचवीं शती) आदि प्राचीन जैन आचार्यों ने बौद्ध प्रमाणमीमांसा के खण्डन में पूर्वपक्ष के रूप में दिङ्नाग के ग्रंथों को ही आधार बनाया है। मल्लवादी की कृति द्वादशासन्यचक्र में दिङ्नाग की अवधारणाओं को उद्धृत करके उनकी समीक्षा की गई है।

दिङ्नाग के गुरु बौद्ध विज्ञानवादी असंग के लघुभ्राता वसुबन्ध रहे हैं। यद्यपि वसुबन्धु के ग्रंथों में भी न्यायशास्त्र संबंधी कुछ विवेचन उपलब्ध होते हैं, फिर भी प्रमाणशास्त्र की विवेचना की दृष्टि से दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय ही बौद्ध परम्परा का प्रथम स्वतंत्र और महत्वपूर्ण ग्रंथ है। परवर्ती जैन और जैनेतर दार्शनिकों ने बौद्ध प्रमाणमीमांसा के खण्डन में इसे ही आधार बनाया है। दिङ्नाग के पश्चात् बौद्ध न्याय के प्रस्तोताओं में धर्मकीर्ति प्रमुख माने जाते हैं। धर्मकीर्ति के सत्ताकाल को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद है, फिर भी इतना सुनिश्चित है कि वे ईसा की सातवीं शताब्दी के बौद्ध विद्वान् हैं। जैन विद्वान् पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने उनका काल 620 ईस्वी से 690 ईस्वी माना है, जो समुचित ही प्रतीत होता है। यद्यपि धर्मकीर्ति के पश्चात् भी धर्मोत्तर, अर्चट, शांतरक्षित, कमलशील, देवेन्द्रबुद्धि, शाक्यबुद्धि, प्रज्ञाकरगुप्त, रविगुप्त, कर्णकगौमी आदि अनेक बौद्ध आचार्य हुए हैं, जिन्होंने बौद्ध प्रमाणमीमांसा पर ग्रन्थ लिखे हैं, किंतु प्रस्तुत विवेचना में हम अपने को धर्मकीर्ति तक ही सीमित रखने का प्रयत्न करेंगे। क्योंकि अकलंक (आठवीं शती) आदि जैन आचार्यों ने दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति की स्थापनाओं को ही अपने खण्डन का विषय बनाया है।

जहाँ तक जैन प्रमाणशास्त्र का प्रश्न है, उसका प्रारम्भ सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार से होता है। सिद्धसेन दिवाकर को लगभग चौथी-पाँचवीं शताब्दी का विद्वान् माना जाता है। उनका न्यायावतार जैन प्रमाणशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। इसमें प्रमाण की परिभाषा के साथ-साथ प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द) प्रमाणों का उल्लेख हुआ है, यद्यपि इस ग्रंथ की मूल कारिकाओं में बौद्ध प्रमाणशास्त्र के खण्डन का स्पष्ट रूप से कोई निर्देश नहीं है। फिर भी “स्वपराभासिज्ञानं प्रमाणम्” कहकर प्रमाण को मात्र स्वप्रकाशक मानने वाली बौद्ध परम्परा के खण्डन का संकेत अवश्य मिलता है, किन्तु बौद्ध प्रमाणशास्त्र की स्पष्ट समीक्षा का इस ग्रंथ में प्रायः अभाव ही है। इस ग्रन्थ के अवलोकन से इतना तो निश्चित हो जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर बौद्ध प्रमाणशास्त्र से परिचित अवश्य थे, क्योंकि इस ग्रन्थ में कहीं बौद्धमत से समरूपता और कहीं विरोध परिलक्षित होता है। यद्यपि जैन परम्परा में सिद्धसेन के पूर्व उमास्वामि (तीसरी शती) ने तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान के आगमिक पाँच प्रकारों

का उल्लेख करके अगले सूत्र में उन्हें प्रमाण के रूप में उल्लेखित किया है, साथ ही प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदों का भी उल्लेख किया है फिर भी उमास्वामि को जैन न्याय के आद्यप्रणेता के रूप में स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि उनके तत्त्वार्थसूत्र और उसके **स्वोपज्ञभाष्य** में इन दो सूत्रों के अतिरिक्त प्रमाण संबंधी कोई विशेष चर्चा उपलब्ध नहीं है। उनके पश्चात् सिद्धसेन दिवाकर ने यद्यपि जैन प्रमाणव्यवस्था के संबंध में एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना तो की, किंतु उन्होनें प्रमाणमीमांसा संबंधी बौद्ध एवं अन्य दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा का कोई प्रयत्न नहीं किया। जैन परम्परा में बौद्ध प्रमाणमीमांसा की समीक्षा यदि सर्वप्रथम किसी ने की है, तो वे **द्वादशारनयचक्र** के प्रणेता मल्लवादी (लगभग पाँचवीं शती) हैं। मल्लवादी ने दिङ्नाग के **प्रमाणसमुच्चय** से अनेक संदर्भों को उद्धृत करके उनकी समीक्षा की है। मल्लवादी दिङ्नाग से परवर्ती और धर्मकीर्ति से पूर्ववर्ती हैं। बौद्ध विद्वानों ने दिङ्नाग का काल ईसा की पाँचवीं शती माना है। किन्तु द्वादशारनयचक्र की प्रशस्ति से मल्लवादी का काल विक्रम सं. 414 तदनुसार ई. सन् 357 माना है। इस दृष्टि से दिङ्नाग को भी ईसा की चौथी शती के उत्तरार्द्ध से पाँचवीं शती के पूर्वार्द्ध का मानना होगा। जैन परम्परा, बौद्ध प्रमाणशास्त्र से यदि परिचित हुई है तो वह प्रथमतः दिङ्नाग और फिर धर्मकीर्ति से ही विशेष रूप से परिचित प्रतीत होती है, क्योंकि जैन आचार्यों ने बौद्ध प्रमाण शास्त्र की समीक्षा में इन्हीं के ग्रन्थों को मुख्य आधार बनाया है, यद्यपि धर्मोत्तर, अर्चट, शान्तरहित और कमलशील के भी संदर्भ जैन ग्रंथों में मिलते हैं। तिब्बती परम्परा के अनुसार दिङ्नाग के **प्रमाणसमुच्चय** के अतिरिक्त प्रमाणशास्त्र पर उनकी जो दूसरी प्रमुख कृति है, वह **न्यायप्रवेश** है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने उसके कर्ता दिङ्नाग के शिष्य शंकरस्वामी को माना है। बौद्ध प्रमाणशास्त्र में न्यायप्रवेश ही एक ऐसा ग्रंथ है, जिस पर जैन आचार्यों ने टीकाएं रचीं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने (लगभग आठवीं शताब्दी में) दिङ्नाग के न्यायप्रवेश पर वृत्ति लिखी, जो उपलब्ध है। आगे चलकर हरिभद्र की इस न्यायप्रवेशवृत्ति पर पार्श्ववेदगणि ने पंजिका की रचना की। यद्यपि ये दोनों टीका ग्रंथ जैन परम्परा के आचार्यों की रचनाएँ हैं, किंतु ये समीक्षात्मक न होकर विवेचनात्मक ही हैं। समीक्षा की दृष्टि से दिङ्नाग के **प्रमाणसमुच्चय** के पश्चात् जैन आचार्यों ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक को ही अधिक उद्धृत किया है। ज्ञातव्य है कि **प्रमाणवार्तिक** दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय की ही टीका है। फिर भी जैन आचार्यों ने अपनी बौद्ध प्रमाणशास्त्र की समीक्षा में इसको ही प्रमुख आधार बनाया है। धर्मकीर्ति के दूसरे दो ग्रंथ जो जैन आचार्यों की समीक्षा के विषय रहे हैं वे हैं **प्रमाणविनिश्चय** और **संबंधपरीक्षा**। प्रमाणविनिश्चय वस्तुतः उनके प्रमाणवार्तिक का

ही संक्षिप्त रूप है और इसके आधे से अधिक श्लोक **प्रमाणवार्तिक** से ही ग्रहण किए गये हैं। धर्मकीर्ति की दूसरी कृति संबंधपरीक्षा वर्तमान में अनुपलब्ध है। किन्तु इसका कुछ अंश, जो आज सुरक्षित है उसका श्रेय जैनाचार्यों को ही है। दिगम्बर जैनाचार्य प्रभाचन्द्र के **प्रमेयकमलमार्तंड** (10वीं शती) में न केवल इसकी बाईस कारिकायें उपलब्ध हैं, अपितु उन्होंने उन पर व्याख्या भी की है। इसी प्रकार श्वेताम्बर विद्वान् बृहद्गच्छीय वादिदेवसूरि (11वीं शती) ने भी स्याद्वादरत्नाकर में इसकी कुछ कारिकाएं उद्धृत की है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ जैन ग्रन्थ द्वादशारनयचक्र की मूलकारिकाओं की पुनर्रचना का आधार धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की तिब्बती स्रोत रहे हैं, वही धर्मकीर्ति की **संबंधपरीक्षा** के कुछ अंशों के संरक्षण का आधार प्रभाचन्द्र का **प्रमेयकमलमार्तंड** है। जैन परम्परा में बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जो समीक्षा उपलब्ध होती है, उसमें सिद्धसेन के न्यायावतार और मल्लवादी के **द्वादशारनयचक्र** के बाद उसके टीकाकार सिंहसूरि का क्रम आता है। किन्तु सिंहसूरि की **द्वादशारनयचक्र** पर लिखी गई टीका में भी बौद्ध परंपरा का जो खण्डन हुआ है, वह वसुबंधु और दिङ्नाग के दार्शनिक मंतव्यों को ही पूर्वपक्ष के रूप में रखकर किया गया है। उन्होंने बौद्धों के प्रमाण लक्षण एवं उनकी प्रत्यक्ष प्रमाण की अवधारणा की विभिन्न दृष्टिकोणों से समीक्षा की, किन्तु सिंहसूरि ने कहीं भी धर्मकीर्ति को उद्धृत नहीं किया है। उन्होंने मुख्यतया वसुबंधु और दिङ्नाग के मंतव्यों को ही अपनी समीक्षा का विषय बनाया, इससे यह सिद्ध होता है कि सिंहसूरि वसुबंधु एवं दिङ्नाग के परवर्ती, किन्तु धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती रहे हैं। इनका काल छठी शताब्दी का उत्तरार्ध या सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। जैन प्रमाणशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से सिद्धसेन और मल्लवादी के पश्चात् इन्हीं का क्रम आता है, क्योंकि ये मल्लवादी के **द्वादशारनयचक्र** के टीकाकार भी हैं।

पाँचवी-छठी शताब्दी पश्चात् से जैन आचार्यों ने बौद्ध तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा की समीक्षा की, इस क्रम में यहाँ हम प्रमुख रूप से उन्हीं आचार्यों का उल्लेख करेंगे जिन्होंने न केवल जैन प्रमाणशास्त्र के विकास में अपना अवदान दिया है अपितु प्रमाणशास्त्रीय बौद्ध मंतव्यों की समीक्षा भी की है अथवा उनके प्रमाणशास्त्रीय मंतव्यों की समीक्षा बौद्ध आचार्यों ने की। सिद्धसेन, मल्लवादी और सिंहसूरि के पश्चात् आचार्य सुमति (लगभग 7वीं शती) हुए हैं, ये जैनधर्म की यापनीय परम्परा के आचार्य रहे हैं। दुर्भाग्य से आज उनकी कोई भी कृति उपलब्ध नहीं होती है, किन्तु बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित (आठवीं शती) ने अपने ग्रंथ **तत्त्वसंग्रह** में सुमति के नामोल्लेखपूर्वक उनके प्रमाणशास्त्रीय मंतव्यों की समीक्षा की है। ज्ञातव्य है कि आचार्य सुमति ने श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेन के **सम्मतितर्क** पर एक विवृति भी रची

धी जो आज अनुपलब्ध है, इससे लगता है कि आचार्य सुमति उस उदार यापनीय परम्परा के आचार्य रहे हैं, जो आज लुप्त हो चुकी है। इसी काल के अर्थात् सातवीं-आठवीं शती के अन्य जैन नैयायिक पात्रकेसरी हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना **त्रिलक्षणकदर्शन** है। इसमें बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु का विस्तार से खण्डन किया गया है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह (136) में इनके ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत किया है, वहीं अकलंक आदि जैन दार्शनिकों ने भी पात्रकेसरी के **त्रिलक्षणकदर्शन** के श्लोकों को उद्धृत करके बौद्धों के त्रिरूपहेतु का खण्डन किया है। लगभग इसी काल में श्वेताम्बर जैन परम्परा में आचार्य हरिभद्रसूरि (आठवीं शती) हुए हैं। हरिभद्रसूरि ने **शास्त्रवार्तासमुच्चय** और **षट्दर्शनसमुच्चय** जैसे ग्रन्थों में बौद्ध परम्परा के मंतव्यों का निर्देश किया है, किन्तु वे एक समन्वयवादी आचार्य रहे हैं। अतः उन्होंने अन्य दर्शनों के खण्डन की अपेक्षा उनकी दार्शनिक अवधारणाओं की जैन दर्शन के साथ संगति कैसे संभव है, यही दिखाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बौद्धप्रमाणमीमांसा की समीक्षा नहीं की, किंतु जैसा हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, उन्होंने दिङ्नाग के **न्यायप्रवेश** की टीका अवश्य रची है।

जैन प्रमाणशास्त्र के व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ बौद्ध प्रमाणशास्त्र की तार्किक समीक्षा करने वाले आचार्यों में भट्ट अकलंक (ईस्वी 720 से 780) का स्थान प्रथम है। उन्होंने **तत्त्वार्थवार्तिक** के अतिरिक्त **लघीयस्त्रय**, **न्यायविनिश्चय**, **सिद्धिविनिश्चय**, **प्रमाणसंग्रह** आदि अनेक ग्रंथ रचे हैं, जिनमें जहाँ एक ओर जैन प्रमाणमीमांसा का सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण है, वहीं दूसरी ओर अन्य दर्शनों के साथ-साथ बौद्ध प्रमाणमीमांसा के प्रमाणलक्षण, निर्विकल्पप्रत्यक्ष, अपोहवाद, शब्दार्थ संबंध, हेतु की त्रिरूपता आदि का खण्डन तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क के प्रामाण्य का स्थापन तथा उनको प्रमाण न मानने संबंधी बौद्धों के तर्कों का निरसन किया गया है। अकलंक के पश्चात् विद्यानन्द (9वीं शती) के **श्लोकवार्तिक**, **प्रमाणपरीक्षा** आदि ग्रन्थों में भी प्रमाण संबंधी बौद्ध मंतव्यों की स्पष्ट समीक्षा की गई है। जहाँ अकलंक के ग्रंथों में बौद्ध मंतव्यों की समीक्षा हेतु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के ग्रंथ ही आधार रहे हैं, वहाँ विद्यानन्द ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अतिरिक्त प्रज्ञाकरगुप्त के मंतव्यों का भी युक्तिसंगत खण्डन किया है। विद्यानन्द के पश्चात् जैन प्रमाणशास्त्र के एक प्रमुख आचार्य अनन्तवीर्य हुए हैं, इनका काल दसवीं शती है। इन्होंने अकलंक के दो ग्रंथों **सिद्धिविनिश्चय** और **प्रमाणसंग्रह** पर व्याख्या लिखी है। इनमें दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के अतिरिक्त धर्मांतर, अर्चट, प्रज्ञाकरगुप्त, शांतरक्षित और कमलशील जैसे बौद्ध दार्शनिक को न केवल उद्धृत किया गया है, अपितु उनके मंतव्यों की समीक्षा भी की गई है। अनन्तवीर्य के पश्चात्

जैन न्याय के क्षेत्र में **तत्त्वबोधविधायनी** नामक **सन्मतितर्क** की टीका के कर्ता अभयदेवसूरि (11वीं शती), **प्रमेयकमलमार्तण्ड** और **न्यायकुमुदचन्द्र** के रचनाकार प्रभाचन्द्र (11वीं शती), प्रमाणनयतत्त्वालोक और उसकी स्वोपज्ञ टीका स्याद्वादरत्नाकर के कर्ता वादीदेवसूरि (12वीं शती) तथा उसी ग्रन्थ की **रत्नाकरावतारिका** नामक टीका के रचनाकार आचार्य रत्नप्रभ और **प्रमाणमीमांसा** के कर्ता आचार्य हेमचन्द्र (12वीं शती) आदि जैनप्रमाणशास्त्र के प्रबुद्ध आचार्य हुए हैं। इन सभी ने दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, अर्चट, प्रज्ञाकरगुप्त, शांतरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध आचार्यों और उनके ग्रन्थों का न केवल उल्लेख किया है अपितु उनके ग्रन्थों से उनके मंतव्यों को उद्धृत कर उनकी समीक्षा भी की है। इनके पश्चात् भी जैन न्याय की यह परम्परा यशोविजय, विमलदास आदि के काल तक अर्थात् लगभग 18वीं शती तक चलती रही और जैन आचार्य बौद्ध मन्तव्यों को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर उनकी समीक्षा करते रहे। यही नहीं, बीसवीं शती में भी पं. सुखलालजी, पं. दलसुख भाई, डॉ. नथमलजी टाटिया, मुनि जम्बूविजयजी आदि जैन विद्वान् बौद्ध प्रमाणशास्त्र के ज्ञाता रहे हैं। मुनि जम्बूविजयजी ने तो तिब्बती सीखकर **द्वादशारनयचक्र** जैसे प्राचीन त्रुटितग्रंथ का पुनः संरक्षण किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 5वीं शती से लेकर 20वीं शती तक अनेक जैन आचार्य बौद्ध प्रमाणशास्त्र के ज्ञाता और समीक्षक रहे हैं, किन्तु बौद्ध न्याय का विकास भारत में लगभग 11वीं-12वीं शती के बाद अवरुद्ध हो गया।

प्रमाणलक्षण

बौद्धदर्शन में प्रमाणलक्षण के निरूपण के संबंध में तीन दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं- सर्वप्रथम दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थ को प्रमाणसमुच्चय में स्मृति, इच्छा द्वेष आदि को पूर्व अधिगत विषय का ज्ञान कराने वाला होने से प्रमाण का विषय नहीं माना है इसी आधार पर दिङ्नाग के टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने **प्रमाणसमुच्चय** की टीका में प्रमाण को अज्ञात अर्थ का ज्ञापक कहा है। उनके पश्चात् आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाण की परिभाषा देते हुए “प्रमाण” अविसंवादीज्ञानम् कहकर प्रमाण को अविसंवादी ज्ञान कहा है। यद्यपि उन्होंने प्रमाण की यह स्वतंत्र परिभाषा दी है, किन्तु उन्होंने “अज्ञातार्थप्रकाशकोवा” कहकर दिङ्नाग की प्रमाण की पूर्व परिभाषा को भी स्वीकार किया है। बौद्ध परम्परा में प्रमाणलक्षण के संबंध में तीसरा दृष्टिकोण ‘अर्थसारूप्यस्य प्रमाणम्’ के रूप में प्रस्तुत किया गया है किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमारा विवेचन धर्मकीर्ति तक सीमित है। अतः हम प्रथम एवं द्वितीय प्रमाणलक्षण की ही जैन दृष्टि से समीक्षा करेंगे, क्योंकि ये दोनों लक्षण धर्मकीर्ति को भी मान्य हैं। उनके द्वारा तृतीय वस्तुतः प्रमाणफल के रूप में विवेचित है। धर्मकीर्ति का

कथन है कि ज्ञान का अर्थ के साथ जो सारूप या सादृश्य है वही प्रमाण है जहाँ तक अनाधिगत या अज्ञात अर्थ के ज्ञापक ज्ञान को प्रमाण मानने का प्रश्न है, मीमांसक और बौद्ध दोनों ही इस संबंध में एकमत प्रतीत होते हैं। जैन आचार्यों में अकलंक (8वीं शती), माणिक्यनंदी आदि कुछ दिगम्बर विद्वानों ने भी प्रमाण को अपूर्ण अर्थ का ज्ञापक माना था, किन्तु कालांतर में जैन दार्शनिकों को प्रमाण के इस लक्षण को स्वीकार करने में तार्किक असंगति प्रतीत हुई, क्योंकि स्वयं अकलंक ने स्मृति और प्रत्यभिज्ञान को परोक्ष प्रमाण के भेद के रूप में स्वीकार किया है और ये दोनों ही अधिगत ज्ञान हैं, अपूर्व ज्ञान नहीं, इसलिए आगे चलकर विद्यानन्द ने **श्लोकवार्तिक** में, वादीदेवसूरि ने **स्याद्वादरत्नाकर** में तथा हेमचन्द्र ने **प्रमाणमीमांसा** में प्रमाणलक्षण निरूपण में उसे अपूर्व अर्थ का ग्राहक होना आवश्यक नहीं माना। मात्र यही नहीं, इन आचार्यों ने अपनी कृतियों में इसकी विस्तृत समीक्षा भी की है। प्रमाणमीमांसा में स्पष्ट रूप से यह कहा है कि ग्रहीष्ममानज्ञान की भाँति ग्रहीताग्राही ज्ञान भी प्रमाण है (1/1/4)।

जहाँ तक धर्मकीर्ति के द्वारा अविस्वादी ज्ञान को ही प्रमाण लक्षण स्वीकार करने का प्रश्न है जैन दार्शनिकों का इससे सांख्यवहारिक स्तर पर कोई विशेष विरोध नहीं रहा है, क्योंकि अकलंक आदि ने तो इसे प्रमाणलक्षण के रूप में स्वीकार किया भी है। बौद्ध प्रमाणशास्त्र में धर्मकीर्ति का यह प्रमाणलक्षण ही सर्वाधिक मान्य रहा है। यहाँ ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति ने अविस्वादिता का तात्पर्य, अर्थ और ज्ञान में सारूप्य या अभ्रान्तता न मानकर अर्थक्रियास्थिति को स्वीकार किया। प्रमाणवार्तिक (1/3) में वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि “अर्थक्रिया की स्थिति ही अविस्वादिता” है। पुनः अर्थक्रिया की स्थिति का भी अर्थप्रापण की योग्यता के रूप में प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध परम्परा में धर्मकीर्ति के टीकाकार धर्मोत्तर ने इसकी विस्तृत विवेचना भी की है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणलक्षण की विवेचना में जैन दृष्टिकोण को न तो पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और न ही उसकी समीक्षा की है। जबकि जैन दार्शनिकों ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों की ही प्रमाण संबंधी अवधारणा को अपनी समीक्षा का विषय बनाया है। यद्यपि यहाँ यह ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती जैन दार्शनिकों में सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी ने प्रमाणलक्षण की चर्चा में दिङ्नाग की मान्यताओं की समीक्षा की है। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर स्पष्ट नामोल्लेखपूर्वक दिङ्नाग के प्रमाणलक्षण की समीक्षा नहीं करते हैं। अपने प्रमाणलक्षण की चर्चा में उन्होंने उसे स्व और पर का आभासक तथा बाधविवर्जित ज्ञान कहा है (प्रमाणस्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्, न्यायावतार 1)।

सिद्धसेन द्वारा प्रतिपादित इस प्रमाणलक्षण में नैयायिकों के समान ज्ञान के कारण (हेतुओं) को प्रमाण न कहकर ज्ञान को ही प्रमाण कहा गया है। ज्ञान को ही प्रमाण मानने के संबंध में जैन और बौद्ध दार्शनिकों में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है।

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है कि सिद्धसेन दिवाकर स्पष्ट रूप से तो अपने ग्रंथ में बौद्धों का नाम लेकर उनका खण्डन नहीं करते हैं, किन्तु प्रमाणलक्षण की उनकी यह परिभाषा एक ओर ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धविज्ञानवाद (योगाचार) का, दूसरी ओर बाह्यार्थवादी मीमांसको और नैयायिकों की ऐकांतिक मान्यताओं का खण्डन कर उनमें समन्वय करती है। ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धविज्ञानवाद अर्थात् योगाचारदर्शन बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है, इसलिए उनके अनुसार प्रमाण (ज्ञान) स्वप्रकाशक है। दूसरे शब्दों में ज्ञान अपने को ही जानता है। जैन दार्शनिकों में सिद्धसेन के पश्चात् अकलंक, विद्यानन्द, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि सभी अपने प्रमाण संबंधी ग्रन्थों में बाह्यार्थ का निषेध करने वाले या यह मानने वाले कि ज्ञान केवल स्व प्रकाशक है, विज्ञानवादी बौद्धों का विस्तार से खण्डन करते हैं। उनकी समीक्षा का सार यह है कि ज्ञान से भिन्न ज्ञेय रूप बाह्यार्थ का अभाव मानने पर स्वयं ज्ञान के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। क्योंकि ज्ञान ज्ञेय के अभाव में संभव नहीं है, इसके विरोध में बौद्धों का उत्तर यह है कि स्वप्न आदि में अर्थ के अभाव में ज्ञान होता है। किन्तु उनका यह कथन सार्थक नहीं है। प्रथम तो यह कि सभी ज्ञान अर्थ के बिना होते हैं। यह मानना युक्तिसंगत नहीं है, दूसरे यह कि स्वप्न में जिन वस्तुओं का अनुभव होता है, वे उसके पूर्व यथार्थ रूप से अनुभूत होती है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सिद्धसेन दिवाकर ने अपने प्रमाणलक्षण की चर्चा में उसे अपूर्व अर्थ का ग्राहक अथवा अनधिगतज्ञान नहीं माना है।

जहाँ तक धर्मकीर्ति द्वारा प्रमाण को अविश्ववादक मानने का प्रश्न है जैन परंपरा में सिद्धसेन दिवाकर ने भी न्यायावतार में प्रमाण को बाधविवर्जित कहा है। यद्यपि बाधविवर्जित और अविश्ववादी में आंशिक समानता और आंशिक अन्तर है, इसकी चर्चा आगे की गई है। जैन दर्शन में अकलंक एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने अष्टसहस्री में प्रमाणलक्षण का निरूपण करते हुए प्रमाण को अविश्ववादी एवं अनधिगत अर्थ का ज्ञान माना है (प्रमाणमविश्ववादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्-अष्टशती, अष्टसहस्री, पृ. 175)। यहाँ हम देखते हैं कि अकलंक ने बौद्ध दार्शनिकों में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों के प्रमाणलक्षण को समन्वित कर अपना प्रमाणलक्षण बनाया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्वयं धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणलक्षण में अविश्ववादिता के साथ-साथ अनधिगतता को स्वीकार किया था। इस प्रकार

प्रमाणलक्षण के निरूपण में बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति और जैनाचार्य अकलंक दोनों का भन्तव्य समान है। यही कारण है कि कुछ विद्वान् स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि अकलंक ने जो प्रमाणलक्षण निरूपित किया है, वह बौद्धों से और विशेष रूप से धर्मकीर्ति से प्रभावित है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अकलंक (8वीं शती) और धर्मकीर्ति (7वीं शती) में लगभग एक शती का अंतर है। अतः उनके चिन्तन पर धर्मकीर्ति का प्रभाव परिलक्षित होना अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि जैनन्याय के प्रमुख विद्वान् अकलंक जहाँ एक ओर तत्त्वार्थवार्तिक में प्रमाण को अनाधिगत ज्ञान मानने का खण्डन करते हैं, वही अष्टशती में वे उसका समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। इस संदर्भ में जैन और बौद्ध न्याय के युवा विद्वान् डॉ. धर्मचन्द्र जैन का यह कथन युक्ति संगत है कि क्षणिकवादी एवं प्रमाणविप्लववादी बौद्धों की तत्त्वमीमांसा व प्रमाणमीमांसा में अनाधिगत अर्थ के ग्राहक ज्ञान का प्रमाण होना उपयुक्त हो सकता है, किन्तु नित्यानित्यवादी एवं प्रमाणसंप्लववादी जैन दार्शनिकों के मत में नहीं (बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा, पृ. 79)।

जैनन्याय में अनाधिगत अर्थात्-ग्राही ज्ञान या अपूर्वज्ञान को प्रमाणलक्षण में सर्वप्रथम स्थान अकलंक ने ही दिया था, उसके पश्चात् माणिक्यनन्दी आदि अनेक दिगम्बर जैन दार्शनिक प्रमाणलक्षण में अपूर्व या अनाधिगत शब्द का प्रयोग करते रहे हैं, किन्तु अकलंक के निकटपरवर्ती विद्यानन्द (लगभग 9वीं शती) ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में स्पष्ट रूप से अपूर्व या अनाधिगत विशेषण को प्रमाणलक्षण में व्यर्थ माना है (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1/10/77)। उनके पश्चात् प्रभाचन्द्र (दसवीं शती) ने अपूर्व या अनाधिगत अर्थ के ग्राही ज्ञान को प्रमाणलक्षण निरूपण में एकांतरूप से अव्यर्थ तो नहीं कहा, लेकिन इतना अवश्य कहा है कि प्रमाण कथंचित् ही अपूर्व अर्थ का ग्राही होता है, किन्तु सर्वथा अपूर्व का ग्राही नहीं होता।

जहाँ तक धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविसंवादक लक्षण का प्रश्न है, यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर ने बाधविवर्जित कहकर किसी अर्थ में उसे स्वीकार किया है, किन्तु बाधविवर्जित एवं अविसंवादकता दोनों एक नहीं हैं। बाधविवर्जित होने का अर्थ है स्वतः एवं अन्य किसी प्रमाण का विरोधी या अविसंवादी नहीं होना है, जबकि अविसंवादिता का सामान्य अर्थ है ज्ञान और ज्ञेय में सारूप्य या संगति। जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि जैन दार्शनिक अकलंक ने धर्मकीर्ति के इस अविसंवादकता नामक प्रमाण लक्षण को स्वीकार किया है। उनके परवर्ती माणिक्यनन्दी आदि अन्य दिगम्बर जैन आचार्यों ने भी उसका समर्थन किया, किन्तु दिगम्बर विद्वान् विद्यानन्द तथा श्वेताम्बर विद्वान् सिद्धर्षि (9वीं शती) ने प्रमाण के अविसंवादिता नामक लक्षण का खण्डन किया है। विद्यानन्द का कहना है कि बौद्धों ने स्वसंवेदना,

इन्द्रिय, मानस एवं योगज ऐसे चार प्रकार के प्रत्यक्ष माने हैं, किन्तु बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के अनुसार ये प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होते हैं। निर्विकल्पक होने से व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) नहीं हो सकते और जो व्यवसायात्मक नहीं है, वह स्वविषय का उपदर्शक भी हो सकता है और जो स्वविषय का उपदर्शक नहीं हो सकता है वह अर्थ का प्रापक भी नहीं हो सकता है, और जो अर्थ का प्रापक ही नहीं हो सकता है वह अर्थ से अविसंवादक कैसे हो सकता है? इस प्रकार विद्यानन्द, धर्मकीर्ति की प्रत्यक्ष-प्रमाण की अविसंवादकता का खण्डन कर देते हैं।

अनुमान के संदर्भ में भी विद्यानन्द लिखते हैं कि बौद्धों के अनुसार अनुमान भ्रान्त है, और यदि अनुमान भ्रान्त है तो फिर वह अविसंवादक कैसे हो सकता है? दूसरे अनुमान का आलम्बन सामान्य और बौद्ध परम्परा के अनुसार सामान्य, मिथ्या या अवास्तविक है। सामान्य के आलम्बन के बिना अनुमान संभव ही नहीं है, अतः उसके अविसंवादक होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार विद्यानन्द, धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविसंवादक नामक लक्षण का उन्हें मान्य प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाणों से खण्डन कर देते हैं। विद्यानन्द का कहना है कि बौद्ध प्रमाणव्यवस्था में प्रमाण अविसंवादक नामक लक्षण घटित नहीं हो सकता है। धर्मकीर्ति के प्रमाण के अविसंवादक लक्षण का खण्डन जैन दार्शनिक विद्यानन्द के अतिरिक्त अभयदेवसूरि ने अपनी **सन्मतितर्कप्रकरण** की **तत्त्वबोधायनीटीका** में, सिद्धिर्षि ने **न्यायावतार** की विवृति में, प्रभावन्द्र ने **प्रमेयकमलमार्तण्ड** में, वादिदेवसूरि ने **प्रमाणनयतत्त्वालोक** की स्वोपज्ञवृत्ति **स्याद्वादरत्नाकर** में तथा हेमचन्द्र ने **प्रमाणमीमांसा** की स्वोपज्ञटीका में इसका खण्डन किया है। विस्तार भय से यहाँ उस समस्त चर्चा में जाना संभव नहीं है। ज्ञातव्य है कि जैन दार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के प्रमाणलक्षण में अविसंवादकता का जो खण्डन किया है वह बौद्धों की पारमार्थिक दृष्टि के आधार पर ही किया है। जैनों का कथन है कि अविसंवादिता नामक प्रमाणलक्षण पारमार्थिकदृष्टि से घटित होना चाहिए, तभी अविसंवादक ज्ञान को प्रमाण का सामान्य लक्षण स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु यह भी सत्य है कि धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिक प्रमाण के अविसंवादिता नामक लक्षण को सांख्यव्यवहारिक दृष्टि से ही घटित करते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं, क्योंकि बौद्ध दार्शनिक प्रमाणव्यवस्था को सांख्यव्यवहारिक आधार पर ही मान्य करते हैं, पारमार्थिक दृष्टि से तो उनके यहाँ प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था बनती ही नहीं है।

प्रमाणों के प्रकार

जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या में कालक्रम में परिवर्तन होता रहा है। अर्धमागधी जैन आगमों में **भगवतीसूत्र** एवं **अनुयोगद्वारसूत्र** में प्रत्यक्ष अनुमान, औपम्य और आगम ऐसे चार प्रमाण प्रतिपादित किये गए हैं। स्थानांगसूत्र में इन्हीं

चार प्रमाणों को हेतु शब्द से अभिहित किये गये हैं। इसी सूत्र में अन्यत्र व्यवसाय शब्द से अभिहित करते हुए प्रमाणों के तीन भेद बताए गए हैं - 1. प्रत्यक्ष, 2. प्रात्ययिक और 3. अनुगामी। इस प्रकार जैन आगमों में कहीं चार और कहीं तीन प्रमाणों के उल्लेख मिलते हैं। आगमों में जिन चार या तीन प्रमाणों का उल्लेख हुआ है, वे क्रमशः न्यायदर्शन एवं सांख्यदर्शन को भी मान्य रहे हैं। चाहे इन प्रमाणों के स्वरूप एवं भेद-प्रभेद विवेचनाओं में अंतर हो, किन्तु नामों के संदर्भ में कोई मतभेद नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण के भेदों के संबंध में जैनों ने न्यायदर्शन का अनुकरण न करके अपनी ही दृष्टि से चर्चा की है और वहाँ प्रत्यक्ष के “केवल” और “नो केवल” ऐसे दो विभाग किए गए हैं। यही दोनों विभाग परवर्ती जैन न्याय के ग्रंथों में भी सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष के रूप में उपलब्ध होते हैं। **अनुयोगद्वारसूत्र** में इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष मानकर उसके इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद किए हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का उल्लेख होते हुए भी उसके भेद-प्रभेद की अपेक्षा से जैन दर्शन और न्याय दर्शन में मतभेद है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन आगमों में प्रमाण के जो चार भेद किये गए हैं, वे ही चार भेद बौद्ध ग्रंथ **उपायहृदय** में भी मिलते हैं। (अथ कतिविधं चतुर्विधं प्रमाणम्। प्रत्यक्षमनुमानपुपमानमागमश्चेति - **उपायहृदय**, पृ. 13)

उपायहृदय को यद्यपि चीनी स्रोत नागार्जुन की रचना मानते हैं, किन्तु जहाँ नागार्जुन वैदल्यसूत्र में एवं **विग्रहव्यावर्तनी** में प्रमाण एवं प्रमेय का खण्डन करते हैं, वहाँ **उपायहृदय** में वे उनका मण्डन करें, यह संभव प्रतीत नहीं होता, फिर भी यह ग्रंथ बौद्ध न्याय का प्राचीन ग्रंथ होने के साथ-साथ न्यायदर्शन और जैनों की आगमिक प्रमाण व्यवस्था का अनुसरण करता प्रतीत होता है। यहाँ एक विशेष महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि जैनग्रन्थ **अनुयोगद्वारसूत्र**, बौद्धग्रन्थ **उपायहृदय**, न्यायदर्शन और सांख्यदर्शन में अनुमान प्रमाण के पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् - ऐसे तीन भेद भी समान रूप से उपलब्ध होते हैं। यही ज्ञातव्य है कि, बौद्धग्रन्थ **उपायहृदय** **न्यायसूत्र** और सांख्यदर्शन में **दृष्टसाधर्म्यवत्** के स्थान पर ‘सामान्यतोदृष्ट’ शब्द का उल्लेख हुआ है। ऐसा लगता है कि भारतीय न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक विकास के काल में जैन, बौद्ध, न्याय एवं सांख्य दर्शन में कुछ एकरूपता थी, जो कालांतर में नहीं रही। प्रमाण संख्या को लेकर जहाँ जैन परम्परा में कालक्रम में अनेक परिवर्तन हुए हैं वहाँ बौद्ध परम्परा में **उपायहृदय** के पश्चात् एक स्थिरता परिलक्षित होती है। **उपायहृदय** के पश्चात् दिङ्नाग से लेकर परवर्ती सभी बौद्ध आचार्यों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो ही प्रमाण माने हैं।

प्रमाणों की संख्या को लेकर जैन परम्परा में हमें तीन प्रकार की अवधारणाएं मिलती हैं। सर्वप्रथम आगम युग में जैन परम्परा में चार प्रमाण स्वीकार किए गए थे। उसके पश्चात् तत्त्वार्थसूत्र (२री-३री शती) में प्रमाण के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ऐसे दो भेद किये गये। सिद्धसेन दिवाकर (चौथी शती) ने अपने न्यायावतार में आगमिक युग के औपम्य को अलग करके तीन प्रमाण ही स्वीकार किए। तत्त्वार्थसूत्र में पांच ज्ञानों को प्रमाण कहकर मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष प्रमाण के रूप में तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया था। उमास्वामि का प्रमाणवाद वस्तुतः आगमिक पंच ज्ञानवाद से प्रभावित है। जबकि सिद्धसेन की प्रमाण व्यवस्था आगमिक एवं अन्य दर्शनों के प्रमाणवाद से प्रभावित है। सिद्धसेन के पश्चात् और अकलंक के पूर्व तक हरिभद्र आदि जैन आचार्य प्रत्यक्ष, अनुमान आगम ये तीन प्रमाण ही मानते रहे, किन्तु लगभग आठवीं शताब्दी में अकलंक ने सर्वप्रथम स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को प्रमाण मानकर जैन दर्शन में प्रमाणों की संख्या छः निर्धारित की। अकलंक ने अपने ग्रंथों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को स्वतंत्र प्रमाण सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क भी प्रस्तुत किए हैं। उनके पश्चात् सिद्धर्षि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि जैन आचार्यों ने अपनी-अपनी कृतियों में विस्तार से स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क का स्वतंत्र प्रमाण्य स्थापित किया है। विस्तार भय से यहाँ उन तर्कों को प्रस्तुत करना संभव नहीं है। फिर भी यह ज्ञातव्य है कि अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि ने बौद्धाचार्यों द्वारा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण नहीं मानने का अनेक युक्तियों से खण्डन किया है।

जहाँ तक आगम प्रमाण का प्रश्न है, बौद्ध वैशेषिकों के समान ही इसका अंतर्भाव अनुमान प्रमाण में करते हैं। जबकि जैन उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, किन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन दार्शनिकों के समान ही धर्मकीर्ति भी शब्द को पौरुषेय मानते हैं। फिर भी वे उसे स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते। जबकि जैन दार्शनिक अकलंक, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि ने आगम को स्वतंत्र प्रमाण मानने के संदर्भ में अनेक युक्तियाँ दी हैं, साथ ही बौद्धों द्वारा आगम को अनुमान में समाहित करने के दृष्टिकोण की विस्तृत समीक्षा भी की है। जैन दार्शनिकों का यह वैशिष्ट्य है कि उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम का परोक्षप्रमाण में अन्तर्भाव करके भी प्रत्येक को स्वतंत्र रूप से प्रमाण माना है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को स्वतंत्र रूप से प्रमाण का स्थान देना केवल जैनदर्शन का ही वैशिष्ट्य है। अन्य दर्शनों ने इनकी उपयोगिता को तो स्वीकार किया, किन्तु उन्हें स्वतंत्र प्रमाण होने का गौरव नहीं दिया।

प्रमेय का स्वरूप एवं समीक्षा

जहाँ तक प्रमेय का प्रश्न है, जैन दर्शन में उत्पादव्ययघ्नौव्यलक्षणयुक्त सामान्य, विशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु तत्त्व या अर्थ को ही समस्त प्रमाणों का विषय माना है। जैन दार्शनिक बौद्ध दार्शनिकों के समान अलग-अलग प्रमाणों के लिए अलग-अलग प्रमेयों की व्यवस्था नहीं करते हैं। वस्तुतः जहाँ बौद्ध प्रमाणव्यवस्थावादी हैं वहाँ जैन प्रमाणसंप्लववादी हैं। बौद्ध दर्शन में प्रमेय दो हैं— 1. स्वलक्षण और 2. सामान्य लक्षण। पुनः उनके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण अर्थ अर्थात् परमार्थसत् है और अनुमान प्रमाण का विषय सामान्यलक्षण या सवृत्तिसत् है। यद्यपि बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति स्वलक्षण को ही एक मात्र प्रमेय मानते हैं, क्योंकि उसी में अर्थक्रियासामर्थ्य है। जैन दार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के दर्शन को विज्ञानाद्वैतवाद माना है, विज्ञानाद्वैतवादी होने के कारण धर्मकीर्ति के मत में परमार्थसत् तो एक ही है अतः प्रमेय भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते हैं, यदि सामान्यलक्षण को प्रमेय कहा जायेगा तो वह तो काल्पनिक और अवस्तु रूप है, वह प्रमेय नहीं हो सकता है। पुनः जैन दार्शनिकों का कहना है प्रमेय या अर्थ जब भी प्रतिभासित होता है, वह सामान्य विशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक ही होता है। द्रव्य से रहित पर्याय और पर्याय से रहित द्रव्य की अनुभूति नहीं है, उसी प्रकार सामान्य से रहित विशेष और विशेष से रहित सामान्य की भी कहीं अनुभूति नहीं है। व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि अनस्यूत हैं, अतः बौद्ध दार्शनिकों का सामान्यलक्षण प्रमेय नहीं हो सकता, क्योंकि वह वस्तुसत् या स्वलक्षण नहीं है। पुनः अकलंक का कहना है कि मात्र स्वलक्षण भी प्रमेय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका भी अलग से कहीं बोध नहीं होता है और न वह अभिधेय होता है। अतः प्रमाण का विषय या प्रमेय तो सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही है। पुनः बौद्धों ने जिसे स्वलक्षण कहा उसे या तो क्षणिक मानना होगा या नित्य मानना होगा, किन्तु एकांत क्षणिक और एकांत नित्य में भी अर्थक्रिया सम्भव नहीं हैं, जबकि स्वलक्षण को अर्थक्रिया में समर्थ होना चाहिए, अतः जैन दार्शनिकों का कथन है कि नित्यानित्य या उत्पादव्ययघ्नौव्यात्मक वस्तु ही प्रमेय हो सकती है। यहाँ ज्ञातव्य है कि बौद्ध दार्शनिक भी परमतत्त्व, परमार्थ या स्वलक्षण को न तो नित्य मानते हैं और न अनित्य मानते हैं। जैन और बौद्ध दर्शन में मात्र अन्तर यह है कि जहाँ जैन दर्शन विधिमुख से उसे नित्यानित्य, सामान्यविशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक कहता है, वहाँ बौद्ध दर्शन उसके संबंध में निषेधमुख से यह कहता है कि वह सामान्य भी नहीं है आदि। प्रमेय के स्वरूप के संबंध में दोनों में जो अन्तर है वह प्रतिपादन की विधिमुख और निषेधमुख शैली का है। इस प्रकार दोनों दर्शनों में प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप के संबंध में क्वचित् समानताएँ और क्वचित् भिन्नतायें हैं।

उपसंहार

बौद्ध और जैन प्रमाणमीमांसा में जो समानताएँ और असमानताएँ परिलक्षित होती हैं, उनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है -

1. जैन और बौद्ध दर्शन दोनों ही दो प्रमाण मानते हैं, किन्तु जहाँ जैनदर्शन प्रमाण के इस द्विविध में प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों का उल्लेख करता है, वहाँ बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करता है। इस प्रकार प्रमाण के द्विविधवर्गीकरण के संबंध में एकमत होते हुए भी उनके नाम और स्वरूप को लेकर दोनों में मतभेद है। दोनों दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण तो समान रूप से स्वीकृत हैं, किन्तु दूसरे प्रमाण के रूप में जहाँ बौद्ध अनुमान का उल्लेख करते हैं, वहाँ जैन परोक्ष प्रमाण का उल्लेख करते हैं और परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदों में एक भेद अनुमान प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्षप्रमाण में वे स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम को भी प्रमाण मानते हैं।
2. बौद्धदर्शन में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक दो प्रमेयों के लिए दो अलग-अलग प्रमाणों की व्यवस्था की गई है, क्योंकि उनके अनुसार स्वलक्षण का निर्णय प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। किन्तु जैन दर्शन वस्तुतत्त्व को सामान्यविशेषात्मक मानकर यह मानता है कि जिस प्रमेय को किसी एक प्रमाण से जाना जाता है उसे अन्य-अन्य प्रमाणों से भी जाना जा सकता है, अर्थात् सभी प्रमेय सभी प्रमाणों के विषय हो सकते हैं, जैसे अग्नि को प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से जाना जा सकता है। इस आधार पर विद्वानों ने बौद्धदर्शन को प्रमाणव्यवस्थावादी और जैनदर्शन को प्रमाणसंप्तववादी कहा है।
3. प्रमाणलक्षण के संबंध में भी दोनों में कुछ समानताएँ और कुछ मतभेद हैं। प्रमाण की अविसंवादकता दोनों को मान्य है, किन्तु अविसंवादकता के तात्पर्य को लेकर दोनों में मतभेद है। जहाँ जैनदर्शन अविसंवादकता का अर्थ ज्ञान में आत्मगत संगति और ज्ञान और उसके विषय (अर्थ) में वस्तुगत संगति और उसका प्रमाणों से अबाधित होना मानता है, वहीं बौद्धदर्शन अविसंवादकता का संबंध अर्थक्रिया से जोड़ता है। बौद्ध दर्शन में अविसंवादकता का अर्थ है अर्थक्रियास्थिति, अवंचकता और अर्थप्रापकता। इस प्रकार दोनों दर्शनों में अविसंवादिता का अभिप्राय भिन्न-भिन्न है। दूसरे बौद्धदर्शन में अविसंवादिता को सांख्यवहारिक स्तर पर माना गया है। जबकि जैन दर्शन का कहना है कि अविसंवादिता पारमार्थिक स्तर पर होना चाहिए। प्रमाण के दूसरे लक्षण अनधिगत अर्थ का ग्राहक होना, अकलंक आदि कुछ दार्शनिकों को तो मान्य है, किन्तु विद्यानन्द आदि कुछ जैन दार्शनिक इसे प्रमाण का आवश्यक लक्षण नहीं मानते हैं।

4. जैन और बौद्ध दोनों दर्शन इस संबंध में एकमत हैं कि प्रमाण ज्ञानात्मक है। वे ज्ञान के कारण या हेतु (साधन) को प्रमाण नहीं मानते हैं, फिर भी जहाँ जैन दार्शनिक प्रमाण को व्यवसायात्मक मानते हैं वहाँ बौद्ध दार्शनिक कम से कम प्रत्यक्ष प्रमाण को तो निर्विकल्पक मानकर व्यवसायात्मक नहीं मानते हैं।
5. बौद्ध दर्शन में जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्पक और अनुमान प्रमाण को सविकल्पक माना गया है। वहाँ जैन दर्शन दोनों ही प्रमाणों को सविकल्पक मानता है, क्योंकि उनके अनुसार प्रमाण व्यवसायात्मक या निश्चयायात्मक ही होता है। उनका कहना है कि प्रमाण ज्ञान है और ज्ञान सदैव सामान्यविशेषणात्मक और सविकल्पक ही होता है। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में दर्शन और ज्ञान में भेद किया गया है। यहाँ दर्शन को सामान्य एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुतः जैनों का “दर्शन” है।
6. जैनदर्शन में सिद्धसेन दिवाकर ने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों को ही अभ्रान्त माना है, जबकि बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष को अभ्रान्त तथा अनुमान को भ्रान्त कहा गया है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की अभ्रान्तता तो दोनों को स्वीकार्य है, किन्तु अनुमान की अभ्रान्तता के संबंध में दोनों में वैमत्य (मतभेद) है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि जो भ्रान्त हो, उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है?
7. बौद्धदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को अभ्रान्त कहकर उसे प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है, जबकि जैनदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को, जिसे वे अपनी पारिभाषिक शैली में “दर्शन” कहते हैं, प्रमाण की कोटि में स्वीकार नहीं करते हैं। जैनों के यहाँ दर्शन प्रमाण नहीं है क्योंकि वह मात्र अनुभूत है, निर्णीत नहीं। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण व्यवसायात्मक होने से सविकल्पक ही होता है निर्विकल्पक दर्शन अर्थात् बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है।
8. प्रमाण की परिभाषा को लेकर भी दोनों में कथंचित् मतभेद देखा जाता है। बौद्ध दर्शन में प्रमाण को स्व प्रकाशक माना गया है, पर का प्रकाशक नहीं। क्योंकि उनके यहाँ योगाचार दर्शन में अर्थ अर्थात् प्रमाण का विषय (प्रमेय) भी वस्तुरूप न होकर ज्ञान रूप ही है। जबकि जैन दर्शन में प्रमाण को स्व पर अर्थात् अपना और अपने अर्थ का प्रकाशक माना गया है। (स्वपरव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्) जैनों के अनुसार प्रमाण स्वयं अपने को और विषय को दोनों को ही जानता है। जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शन “प्रत्यक्ष” को कल्पनाजन्य तो नहीं

मानते हैं, किन्तु कल्पना रहित होने का तात्पर्य है वस्तुसत् अर्थात् वस्तुगतसत्ता (Objective Reality) होना है, जबकि बौद्ध दर्शन में कल्पना रहित होने का अर्थ अनुभूत सत् या आत्मगतसत्ता (Subjective Reality) है।

9. बौद्ध दार्शनिक अनुमान के दो भेद करते हैं, स्वार्थ और परार्थ। जैन दार्शनिक भी अनुमान के इन दोनों भेदों को स्वीकार करते हैं, किन्तु जैनदार्शनिक सिद्धसेन न्यायावतार में प्रत्यक्ष के भी स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद करते हैं। सिद्धसेन दिवाकर के अतिरिक्त कुछ अन्य जैन आचार्यों जैसे शातिसूरि एवं वादिदेवसूरि ने भी इन भेदों का उल्लेख किया है।
10. प्रत्यक्षप्रमाण के स्वरूप एवं भेदों को लेकर भी दोनों में मतभेद देखा जा सकता है। प्रथम तो जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है जहाँ बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष को कल्पना से रहित और निर्विकल्पक मानते हैं वहाँ जैन दार्शनिक उसे सविकल्पक कहते हैं। पुनः बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष के जैनों के समान सांख्यवहारिक और पारमार्थिक ऐसे दो भेद नहीं करते हैं। उनके यहाँ प्रत्यक्ष के भेद हैं - 1. स्वसंवेदना प्रत्यक्ष 2. इन्द्रिय प्रत्यक्ष 3. मानस प्रत्यक्ष और 4. योगज प्रत्यक्ष।

प्रथम तो जहाँ जैन इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, वहाँ बौद्ध प्रत्यक्ष में ऐसा कोई विभाजन नहीं करते। पुनः जहाँ जैन दर्शन में इन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-ऐसे चार भेद किए गए हैं वहाँ बौद्ध दर्शन में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। बौद्ध दर्शन में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में योगज प्रत्यक्ष को रखा गया है जबकि जैन दर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान या पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप में अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान को रखा गया है। जहाँ तक बौद्ध स्वसंवेदन का प्रश्न है, जैनों ने उसे दर्शन कहा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के स्वरूप और प्रकारों को लेकर दोनों में मतभेद है।

11. पुनः प्रत्यक्ष प्रमाण के अंतर्गत इन्द्रिय प्रत्यक्ष में जहाँ बौद्ध दार्शनिक श्रोतेन्द्रिय और चक्षु-इन्द्रिय दोनों को अप्राप्यकारी मानते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक केवल चक्षु- इन्द्रिय को ही अप्राप्यकारी मानते हैं। जैनों के अनुसार श्रोतेन्द्रिय शब्द का ग्रहण इन्द्रिय सम्पर्क होने के आधार पर ही करती हैं, दूर से नहीं करती है। इस प्रकार श्रोतेन्द्रिय की प्राप्यकारिता को लेकर दोनों में मतभेद है। रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका में अनेक तर्कों के आधार पर श्रोतेन्द्रिय को प्राप्यकारी सिद्ध किया गया है। किन्तु चक्षु-इन्द्रिय को दोनों की अप्राप्यकारी मानते हैं।

12. हेतु के कारण को लेकर भी दोनों परम्पराओं में मतभेद देखा जा सकता है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक त्रैरूप्य हेतु अर्थात् पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष-असत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक साध्यसाधन अविनाभाव अर्थात् अन्यथानुपलब्धि को ही हेतु का एकमात्र लक्षण बताते हैं। जैन दार्शनिक पात्रकेसरी ने तो एतदर्थ त्रिलक्षणकदर्शन नामक स्वतंत्र ग्रंथ की ही रचना की थी।
13. अनुपलब्धि को जहाँ बौद्ध दार्शनिक मात्र निषेधात्मक या अभाव रूप मानते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक उसे विधि-निषेध रूप मानते हैं।



जैन दर्शन का नयसिद्धान्त

कथन का वाच्यार्थ और नय

शब्दों अथवा कथन के सही अर्थ को समझने के लिए यह आवश्यक है कि श्रोता न केवल वक्ता के शब्दों की ओर जाये, अपितु उसके अभिप्राय को भी समझने का प्रयत्न करे। अनेक बार समान पदावली के वाक्य भी वक्ता के अभिप्राय, वक्ता की कथनशैली और तात्कालिक सन्दर्भ के आधार पर भिन्न अर्थ के सूचक हो जाते हैं। वक्ता के अभिप्राय को समझने के लिए जैन आचार्यों ने नय और निक्षेप ऐसे दो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। नय और निक्षेप के सिद्धान्तों का मूलभूत उद्देश्य यही है कि श्रोता वक्ता के द्वारा कहे गये शब्दों अथवा कथनों का सही अर्थ जान सके। नय की परिभाषा करते हुए जैन आचार्यों ने कहा है कि 'वक्ता के कथन का अभिप्राय' ही नय कहा जाता है। कथन के सम्यक् अर्थ निर्धारण के लिए वक्ता के अभिप्राय को एवं तात्कालिक सन्दर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है। नय सिद्धान्त हमें वह पद्धति बताता है, जिसके आधार पर वक्ता के आशय एवं कथन के तात्कालिक सन्दर्भ (Context) को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। जैन दर्शन में नय और निक्षेप की अवधारणाएँ स्याद्वाद और सप्तभंगी के विकास के भी पूर्व की है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में हमें नय एवं निक्षेप ही अवधारणाएँ स्पष्ट हो जाती हैं, जबकि वहाँ स्याद्वाद और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा अनुपस्थित है। तत्त्वार्थ के पाँचवें अध्याय का 'अर्पितानार्पिते सिद्धे' सूत्र भी मूलतः नय-सिद्धान्त अर्थात् सामान्य एवं विशेष दृष्टि का ही सूचक है। आगमिक विभज्यवाद एवं दार्शनिक नयवाद की अवधारणा के आधार पर ही आगे स्याद्वाद और सप्तभंगी का विकास हुआ है। यदि हम गम्भीरतापूर्वक देखें तो जैनों के नय, निक्षेप, स्याद्वाद और सप्तभंगी - इन सभी सिद्धान्तों का सम्बन्ध भाषा-दर्शन एवं अर्थ-विज्ञान (Science of meaning) से है।

नयों की अवधारणा को लेकर जैनाचार्यों ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वक्ता का अभिप्राय अथवा वक्ता की कथन शैली या अभिव्यक्ति शैली ही नय है तो फिर नयों के कितने प्रकार होंगे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य सिद्धसेन द्वारा

कहा गया है कि जितने वचन-पक्ष (कथन करने की शैलियाँ) हो सकती है, उतने ही नयवाद हो सकते हैं। वस्तुतः नयवाद भाषा अर्थ-विश्लेषण का सिद्धान्त है। भाषायी अभिव्यक्ति के जितने प्रारूप हो सकते हैं उतने ही नय हो सकते हैं, फिर भी मोटे रूप से जैन दर्शन में दो, पाँच और सप्त नयों की अवधारणा मिलती है। यद्यपि इन सात नयों के अतिरिक्त निश्चय नय और व्यवहार नय तथा द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय का भी उल्लेख जैन ग्रन्थों में है, किन्तु ये नय मूलतः तत्त्वमीमांसा या अध्यात्मशास्त्र से सम्बन्धित हैं। जबकि नैगम आदि सप्त नय मूलतः भाषा-दर्शन से सम्बन्धित हैं।

नय और निक्षेप दोनों ही सिद्धान्त यद्यपि शब्द एवं कथन के वाच्यार्थ (Meaning) का निर्णय करने से सम्बन्धित हैं, फिर भी दोनों में अन्तर है। निक्षेप मूलतः शब्द के अर्थ का निश्चय करता है, जबकि नय वाक्य या कथन के अर्थ का निश्चय करता है। जैन दर्शन में नयों का विवेचन तीन रूपों में मिलता है - (1) निश्चयनय और व्यवहारनय (2) द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय तथा (3) नैगमादि सप्तनय। भगवतीसूत्र आदि आगमों में नयों के प्रथम एवं द्वितीय वर्गीकरण ही-वर्णित हैं, जबकि समवायांग, अनुयोगद्वार, नन्दीसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र में नयों का तृतीय वर्गीकरण नैगमादि के रूप में पाया जाता है, इसका भाष्य मान्य पाठ नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र एवं शब्द ऐसे पाँच नयों का उल्लेख करता है, जबकि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ नैगम आदि सात नयों का उल्लेख करता है। निश्चय और व्यवहार नय मूलतः ज्ञान परक दृष्टिकोण से सम्बन्धित हैं। वे वस्तु स्वरूप के विवेचन की शैलियाँ हैं, जबकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय वस्तु के शाश्वत पक्ष और परिवर्तनशील पक्ष का विचार करते हैं। सप्त नयों की चर्चा में जहाँ तक नैगमादि प्रथम चार नयों का प्रश्न है वे मूलतः वस्तु के सामान्य और विशेष स्वरूप की चर्चा करते हैं। जबकि शब्दादि तीन नय वस्तु का कथन किसी प्रकार से किया गया है- यह बताते हैं।

निश्चयनय और व्यवहारनय

ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन हैं - (1) अपरोक्षानुभूति, (2) इन्द्रियजन्यनुभूति और (3) बुद्धि। इनमें अपरोक्षानुभूति या आत्मानुभूति निश्चयनय की और इन्द्रियानुभूति या बुद्धि व्यवहारनय की प्रतीक है। तत्त्वमीमांसा में सत् के स्वरूप की व्याख्या के लिए प्रमुख रूप से निश्चय और व्यवहार ये दो दृष्टिकोणों के आधार पर होती है। जैन दर्शन के अनुसार सत् अपने आप में एक पूर्णता है, अनन्तता है। इन्द्रियानुभूति, बुद्धि, भाषा और वाणी, अपनी-अपनी सीमा के कारण अनन्त गुण धर्मात्मक सत्

के एकांश का ही ग्रहण कर पाते हैं, यही एकांश का बोध नय कहलाता है। दूसरे शब्दों में सत् के अनन्त पक्षों को जिन-जिन दृष्टिकोणों से देखा जाता है, वे सभी नय कहलाते हैं।

नयों का स्वरूप

जैन दार्शनिकों का कहना है कि सत् की अभिव्यक्ति के लिए भाषा के जितने प्रारूप (कथन के ढंग) हो सकते हैं, उतने ही नय, वाद, अथवा दृष्टिकोण हो सकते हैं। वैसे तो जैन दर्शन में नयों की संख्या अनन्त मानी गई है, लेकिन मोटे तौर पर नयों के दो भेद किये जाते हैं - जिन्हें 1. निश्चयनय और 2. व्यवहारनय कहते हैं। निश्चयनय और व्यवहारनय में सभी नयों का अन्तर भाव हो जाता है। भगवतीसूत्र में इन दोनों नयों का प्रतिपादन बड़े ही रोचक रूप में किया गया है- गौतमस्वामी भगवान महावीर से पूछते हैं कि भगवन् प्रवाही गुड़ में कितने रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्श होते हैं? महावीर कहते हैं कि गौतम में इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से देता हूँ। व्यवहारनय से तो वह मधुर कहा जाता है, लेकिन निश्चयनय से उनमें पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श होते हैं। वस्तुतः निश्चय और व्यवहार दृष्टियों का विश्लेषण यह बताता है कि वस्तु तत्त्व न केवल उतना ही है, जितना इन्द्रियों के माध्यम से वह हमें प्रतीत होता है अथवा बुद्धि उसके स्वरूप का निश्चय कर पाती है। सत् स्वरूप को समझने के लिए इन्द्रियानुभूतिज्ञान और बुद्धिजन्यज्ञान उसके व्यावहारिक पक्ष को ही पकड़ पाते हैं, क्योंकि बुद्धि भी भाषा पर आधारित है और भाषा का शब्द भण्डार अति सीमित है। इसी प्रकार अपरोक्षानुभूति भी या आत्मिक अनुभूति भाषा और बुद्धि निरपेक्ष होती है। जिसे अन्तर्दृष्टि या प्रज्ञा कहा जाता है। निश्चयनय अपरोक्षानुभूति पर और व्यवहारनय इन्द्रियानुभूति और बौद्धिक ज्ञान पर निर्भर करती है। इस प्रकार व्यवहारनय भी इन्द्रियानुभूति और बौद्धिक विमर्श दोनों की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार जैन दर्शन में ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति के इन्द्रियानुभूतिजन्यज्ञान, बौद्धिकज्ञान और आत्मिकज्ञान ऐसे ज्ञान के तीन विभाग भी किये गये हैं। ठीक इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद में भी परिकल्पित, परतंत्र और परिनिषपन्न ऐसे ज्ञान के तीन भेद किये गये हैं। बौद्ध दर्शन का शून्यवाद भी इसे मिथ्या संवृत्ति, तथ्य और परमार्थ ऐसे तीन रूपों में व्यक्त करता है। आचार्य शंकर ने भी इन्हें ही प्रतिभाषित सत्य, व्यवहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य ऐसे तीन विभागों में बाँटा है। इन्द्रियानुभूति और बौद्धिक ज्ञान व्यवहार पक्ष को प्रधानता देते हैं, अतः इनको मिला देने पर दो विधाएँ ही शेष रहती हैं- व्यवहार (व्यवहारनय) और परमार्थ (निश्चयनय)।

पाश्चात्य - परम्परा में ज्ञान की ही विधाएँ - निश्चयनय और व्यवहारनय

न केवल भारतीय दर्शनों में, वरन् पाश्चात्य दर्शनों में भी प्रमुख रूप से व्यवहार और परमार्थ के दृष्टिकोण स्वीकृत रहे हैं। डॉ. चन्द्रधर शर्मा के अनुसार भी पश्चिमी दर्शनों में भी व्यवहार और परमार्थ दृष्टिकोणों का यह अन्तर सदैव ही माना जाता रहा है। विश्व के सभी महान दार्शनिकों ने इसे किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। हेराक्लिटस के (Kato) और आनोपारमेनीडीज के मत (Opinion) और सत्य (Truth), सुकरात के मत में रूप और आकार (Word and Form), प्लेटो के दर्शन में संवेदन (Sense) और प्रत्यय (Idea), अरस्तू के पदार्थ (Matter) और चालक (Mover) स्पिनोजा के द्रव्य (Substance) और पर्याय (Modes), कांट के प्रपञ्च (Phenomenal) और तत्त्व, हेगल के विपर्यय और निरपेक्ष तथा ब्रैडले के आभास (Appearance) और सत् (Reality) किसी न किसी रूप में उसी व्यवहार और परमार्थ की धारणा को स्पष्ट करते हैं। भले ही इनमें नामों की भिन्नता को, लेकिन उनके विचार इन्हीं दो दृष्टिकोणों की ओर संकेत करते हैं।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है, उसके ज्ञान के साधन इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं, और ये तीनों सीमित और सापेक्ष हैं। इसलिए समस्त व्यवहारिक ज्ञान सापेक्ष होता है। जैन दार्शनिकों का कथन है कि एक भी कथन और उसका अर्थ ऐसा नहीं है जो नय शून्य हो, सारा ज्ञान दृष्टिकोणों पर आधारित है, यही दृष्टिकोण मूलतः निश्चयनय और व्यवहारनय कहे जाते हैं।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयनय और व्यवहारनय का अर्थ

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि सत् के उस स्वरूप का प्रतिपादन करती है, जो सत् की त्रिकालाबाधित स्वभावदशा और स्वलक्षण है, जो पर्याय या परिवर्तनों में भी सत्ता के सार के रूप में बना रहता है। निश्चयदृष्टि अभेदगामी सत्ता के शुद्धस्वरूप या स्वभावदशा की सूचक है और उसके पर-निरपेक्ष स्वरूप की व्याख्या करती है। जबकि व्यवहारनय प्रतीति को आधार बनाती है अतः वह वस्तु के पर-सापेक्ष स्वरूप का विवेचन करता है। निश्चयनय वस्तु या आत्मा के शुद्ध स्वरूप या स्वभाव लक्षण का निरूपण करता है जो पर से निरपेक्ष होता है। जबकि व्यवहारनय पर-सापेक्ष प्रतीति रूप वस्तु स्वरूप को बताता है। आत्मा कर्म-निरपेक्ष शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त है - यह निश्चय नय का कथन है, जबकि व्यवहारनय कहता है कि संसार दशा में आत्मा कर्ममूल से लिप्त है, राग-द्वेष एवं काषायिक भावों से युक्त है। पानी स्व-स्वरूपतः शुद्ध है यह निश्चयनय है। पानी में कचरा है, मिट्टी है वह गन्दा है यह व्यवहारनय है।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि सत्ता के उस पक्ष का प्रतिपादन करती है, जिस रूप में वह प्रतीत होती है। व्यवहारदृष्टि भेदगामी है और सत् के आगन्तुक लक्षणों या विभावदशा की सूचक है। सत् के परिवर्तनशील पक्ष का प्रस्तुतीकरण व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय देश और काल सापेक्ष है। व्यवहारदृष्टि के अनुसार आत्मा जन्म भी लेती है और मरती भी है, वह बन्धन में भी आती है और मुक्त भी होती है।

आचारदर्शन के क्षेत्र में व्यवहारनय और निश्चयनय का अन्तर

जैन परम्परा में व्यवहार और निश्चय नामक दो नयों या दृष्टियों का प्रतिपादन किया जाता है। वे तत्त्वज्ञान और आचारदर्शन - दोनों क्षेत्रों पर लागू होती हैं, फिर भी आचारदर्शन और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। पं. सुखलालजी इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहार रूप से दो दृष्टियाँ मानी गई हैं, वे तत्त्वज्ञान और आचार- दोनों क्षेत्रों में लागू की गई हैं। सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैन-दर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार दोनों का समावेश है। निश्चयनय और व्यवहारनय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार दोनों में होता है, लेकिन सामान्यतः शास्त्राभ्यासी इस अन्तर को जान नहीं पाता। तात्त्विक निश्चयदृष्टि और आचारविषयक निश्चयदृष्टि - दोनों एक नहीं है। यही बात उभयविषयक व्यवहारदृष्टि की भी है। तात्त्विक निश्चय दृष्टि शुद्ध विशय दृष्टि है, और आचार विषयक निश्चय दृष्टि अशुद्ध निश्चयनय है। इसी प्रकार तात्त्विक व्यवहार दृष्टि भी आचार सम्बन्धी व्यवहार दृष्टि से भिन्न है। यह अन्तर ध्यान में रखना आवश्यक है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय

जैन दर्शन के अनुसार सत्ता अपने आप में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। उसका ध्रौव्य (स्थायी) पक्ष अपरिवर्तनशील है और उसका उत्पाद-व्यय का पक्ष परिवर्तनशील है। सत्ता के अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्यार्थिक नय और परिवर्तनशील पक्ष को पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। पाश्चात्य दर्शनों में सत्ता के उस अपरिवर्तनशील पक्ष को (Being) और परिवर्तनशील को (Becoming) भी कहा गया है। सत्ता का वह पक्ष जो तीनों कालों में एक रूप रहता है, जिसे द्रव्य भी कहते हैं उसका बोध द्रव्यार्थिक नय से होता है, और सत्ता का वह पक्ष जो परिवर्तित होता रहता है उसे पर्याय कहते हैं, उसका कथन पर्यायार्थिक नय ही है। ज्ञान मीमांसा की दृष्टि से यह परिवर्तनशील पक्ष भी दो रूपों में काम करता है, जिन्हें स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय के रूप में जाना जाता है। जिसमें स्वभाव पर्यायवस्था को प्राप्त करना ही उसका नैतिक आदर्श है। स्वभाव पर्याय तत्त्व के निजगुणों के कारण होती है,

एवं अन्य तत्त्वों से निपरेक्ष होती है, इसके विपरीत विभाव पर्याय अन्य तत्त्व से सापेक्ष विभाव पर्याय होती है। आत्मा में ज्ञाता द्रष्टा भाव या ज्ञाता द्रष्टा की अवस्था स्वभाव पर्याय रूप होती है। क्रोधादिभाव विभाव पर्यायरूप होते हैं। परिवर्तनशील स्वभाव एवं विभाव पर्यायों को कथन व्यवहार नय होता है। जबकि सत्तारूप आत्मा के ज्ञाता द्रष्टा नायक गुण का कथन निश्चय नय से होता है।

नैगम आदि सप्तनय

यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत एक परवर्ती घटक है। तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य मान्य पाठ में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दनय ऐसे पाँच भेद किये गये हैं। ये पाँचों भेद दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम में भी उल्लेखित हैं। तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य मान्य पाठ में उसके पश्चात् नैगमनय के दो भेद और शब्दनय के दो भेद भी किये गये हैं। परवर्तीकाल में शब्द नय के इन दो भेदों को मूल-पाठ में समाहित करके सार्वार्थ सिद्धि मान्य पाठ में नयों के नैगम आदि सप्त नयों की चर्चा भी की गई है। दिगम्बर परम्परा इस सार्वार्थसिद्धि मान्य पाठ को आधार मानकर इन सात नयों की ही चर्चा करता है। वर्तमान में तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में इन सप्तनयों की चर्चा ही मुख्य रूप से मिलती है। इन सात नयों में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र इन चार नयों को अर्थनय अर्थात् वस्तु स्वरूप का विवेचन करने वाले और शब्द समभिरूढ़ और एवं भूत इन तीन नयों को शब्दनय अर्थात् वाच्य के अर्थ का विश्लेषण करने वाले कहा गया है। अर्थनय का संबंध वाच्य-विषय (वस्तु) से होता है। अतः ये नय अपने वाच्य विषय की चर्चा सामान्य और विशेष इन पक्षों के आधार पर करते हैं। जबकि शब्दनय का संबंध वाच्यार्थ (Meaning) से होता है। आगे हम इन नैगम आदि सप्तनयों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

नैगमनय

इन सप्त नयों में सर्वप्रथम नैगमनय आता है। नैगमनय मात्र वक्ता के संकल्प को ग्रहण करता है। नैगमनय की दृष्टि से किसी कथन के अर्थ का निश्चय उस संकल्प अथवा साध्य के आधार पर किया जाता है जिसे वक्ता वह बताना चाहता है। नैगमनय सम्बन्धी प्रकथनों में वक्ता की दृष्टि सम्पादित की जाने वाली क्रिया के अन्तिम साध्य की ओर होती है। वह कर्म के तात्कालिक पक्ष पर ध्यान न देकर कर्म के प्रयोजन की ओर ध्यान देती है। प्राचीन आचार्यों ने नैगमनय का उदाहरण देते हुए बताया है कि जब कोई व्यक्ति स्तम्भ के लिए किसी जंगल से लकड़ी लेने जाता है और उससे जब पूछा जाता है कि भाई तुम किसलिए जंगल जा रहे हो? तो वह कहता है मैं स्तम्भ लेने जा रहा हूँ। वस्तुतः वह जंगल से स्तम्भ

नहीं अपितु स्तम्भ बनाने की लकड़ी ही लाता है। लेकिन उसका संकल्प या प्रयोजन स्तम्भ बनाना ही है। अतः वह अपने प्रयोजन को सामने रखकर ही वैसा ही कथन करता है। हमारी व्यावहारिक भाषा में ऐसे अनेक कथन होते हैं जब हम अपने भावी संकल्प के आधार पर ही वर्तमान व्यवहार का प्रतिपादन करते हैं। डॉक्टरी में पढ़ने वाले विद्यार्थी को उसके भावी लक्ष्य की दृष्टि से डॉक्टर कहा जाता है। नैगमनय के कथनों का वाच्यार्थ भूत पर आधारित भविष्यकालीन साध्य या संकल्पों के आधार पर होता है। जैसे- प्रत्येक भाद्रकृष्णा अष्टमी को कृष्णजन्माष्टमी कहना। यहाँ वर्तमान में भूतकालीन घटना का उपचार किया गया है।

संग्रहनय

भाषा के क्षेत्र में अनेक बार हमारे कथन व्यष्टि को गौण कर समष्टि के आधार पर होते हैं। जैनाचार्यों के अनुसार जब विशेष या भेदों की उपेक्षा करके मात्र सामान्य लक्षणों या अभेद के आधार पर जब कोई कथन किया जाता है तो वह संग्रहनय का कथन माना गया है। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति यह कहे कि 'भारतीय गरीब हैं' तो उसका यह कथन व्यक्ति विशेष पर लागू न होकर सामान्यरूप से समग्र भारतीय जनसमाज का वाचक होता है। प्रज्ञापनासूत्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि जाति प्रज्ञापनीय भाषा सत्य मानी जाये अथवा असत्य मानी जाये या व्यक्ति विशेष के आधार पर सत्य या असत्य मानी जाये। जाति प्रज्ञापनीय भाषा में समग्र जाति के सम्बन्ध में गुण, स्वभाव आदि का प्रतिपादन होता है, किन्तु ऐसे कथनों में अपवाद की सम्भावना से इंकार भी नहीं किया जा सकता। सामान्य या जाति के सम्बन्ध में किये गये कथन उसी व्यक्ति के सम्बन्ध में सत्य भी होते हैं और कभी असत्य भी होते हैं। अतः यह प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि उस कथन के अपवाद उपस्थित हैं तो उसे सत्य किस आधार पर कहा जाय। उदाहरण के लिए यदि कोई कहे कि स्त्रियाँ भीरू (डरपोक) होती हैं, तो यह कथन सामान्यतया स्त्री जाति के सम्बन्ध में तो सत्य माना जा सकता है, किन्तु किसी स्त्री विशेष के सम्बन्ध में यह सत्य ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। अतः संग्रह नय के आधार पर किये गये कथन जैसे - 'भारतीय गरीब हैं' अथवा स्त्रियाँ भीरू होती हैं, समष्टि के सम्बन्ध में ही सत्य हो सकते हैं, उन्हें उस जाति के प्रत्येक सदस्य के बारे में सत्य नहीं कहा जा सकता है। यदि कोई इस सामान्य वाक्य से यह निष्कर्ष निकाले कि सभी भारतीय गरीब हैं और बिड़ला भारतीय है, इसलिए बिड़ला गरीब है, तो उसका यह निष्कर्ष सत्य नहीं होगा। सामान्य या समष्टिगत कथनों का अर्थ समुदाय रूप से ही सत्य होता है। यह समष्टि या जाति के पृथक-पृथक व्यक्तियों के सम्बन्ध में सत्य भी हो सकता है और असत्य भी हो सकता है।

संग्रहनय हमें यही संकेत करता है कि समष्टिगत कथनों के तात्पर्य को समष्टि के सन्दर्भ में ही समझने का ही प्रयत्न करना चाहिए और उसके आधार पर उस समष्टि के प्रत्येक सदस्य के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए।

व्यवहारनय

व्यवहारनय सामान्य गर्भित विशेष पर बल देता है। व्यवहारनय को हम उपयोगितावादी दृष्टि भी कह सकते हैं। वैसे, जैन आचार्यों ने इसे व्यक्ति प्रधान दृष्टिकोण भी कहा है। अर्थ प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह नय हमें यह बताता है कि कुछ व्यक्तियों के सन्दर्भ में निकाले गए निष्कर्षों एवं कथनों को समष्टि के अर्थ में सत्य नहीं माना जाना चाहिए। साथ ही व्यवहार नय कथन के शब्दार्थ पर न जाकर वक्ता की भावना या लोकपरम्परा (अभिसमय) को प्रमुखता देता है। व्यवहार भाषा के अनेक उदाहरण हैं। जब हम कहते हैं कि घी के घड़े में लड्डू रखे हैं यहाँ घी के घड़े का अर्थ ठीक वैसा नहीं है जैसा कि मिट्टी के घड़े का अर्थ है। यहाँ घी के घड़े का तात्पर्य वह घड़ा है जिसमें पहले घी रखा जाता था।

ऋजुसूत्रनय

ऋजुसूत्रनय को मुख्यतः पर्यायार्थिक दृष्टिकोण का प्रतिपादक कहा जाता है और उसे बौद्ध दर्शन का समर्थक बताया जाता है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान स्थितियों को दृष्टि में रख कर कोई प्रकथन करता है। उदाहरण के लिए 'भारतीय व्यापारी प्रामाणिक नहीं है' - यह कथन केवल वर्तमान सन्दर्भ में ही सत्य हो सकता है। इस कथन के आधार पर हम भूतकालीन और भविष्यकालीन भारतीय व्यापारियों के चरित्र का निर्धारण नहीं कर सकते। ऋजुसूत्रनय हमें यह बताता है कि उसके आधार पर कथित कोई भी वाक्य अपने तात्कालिक सन्दर्भ में ही सत्य होता है, अन्य कालिक सन्दर्भों में नहीं। जो वाक्य जिस कालिक सन्दर्भ में कहा गया है उसके वाक्यार्थ का निश्चय उसी कालिक सन्दर्भ में होना चाहिए।

शब्दनय

नय सिद्धान्त के उपर्युक्त चार नय मुख्यतः शब्द के वाच्य-विषय (अर्थ) से सम्बन्धित है, जब कि शेष तीन नयों का सम्बन्ध शब्द के वाच्यार्थ (Meaning) से है। शब्दनय यह बताता है शब्दों का वाच्यार्थ उसकी क्रिया या विभक्ति के आधार पर भिन्न-भिन्न हो सकता है। उदाहरण के लिए 'बनारस भारत का प्रसिद्ध नगर था' और 'बनारस भारत का प्रसिद्ध नगर है' इन दोनों वाक्यों में बनारस शब्द का वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न है। एक भूतकालिन बनारस की बात कहता है, तो दूसरा वर्तमानकालीन। इसी प्रकार 'कृष्ण ने मारा' इसमें कृष्ण का वाच्यार्थ कृष्ण नामक वह व्यक्ति है जिसने किसी को मारने की क्रिया सम्पन्न की है। जबकि 'कृष्ण को

मारा'- इसमें कृष्ण का वाच्यार्थ वह व्यक्ति है जो किसी के द्वारा मारा गया है। शब्दनय हमें यह बताता है कि शब्द का वाच्यार्थ कारक, लिंग, उपसर्ग, विभक्ति, क्रिया-पद आदि के आधार पर बदल जाता है।

समभिरूढनय

भाषा की दृष्टि से समभिरूढनय यह स्पष्ट करता है कि अभिसमय या रूढ़ि के आधार पर एक ही वस्तु के पर्यायवाची शब्द यथा - नृप, भूपति, भूपाल, राजा आदि अपने व्युत्पत्त्यार्थ की दृष्टि से भिन्न-भिन्न अर्थ के सूचक हैं। जो मनुष्य का पालन करता है, वह नृप कहा जाता है। जो भूमि का स्वामी होता है, वह भूपति होता है। जो शोभायमान होता है वह राजा कहा जाता है। इस प्रकार पर्यायवाची शब्द अपना अलग-अलग वाच्यार्थ रखते हुए भी अभिसमय या रूढ़ि के आधार पर एक ही वस्तु के वाचक मान लिए जाते हैं, किन्तु यह नय पर्यायवाची शब्दों यथा- इन्द्र, शुक्र, पुरन्दर में व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थ-भेद मानता है।

एवंभूतनय

एवंभूतनय शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण मात्र उसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ के आधार पर करता है। उदाहरण के लिए कोई राजा जिस समय शोभायमान हो रहा है उसी समय राजा कहा जा सकता है। एक अध्यापक उसी समय अध्यापक कहा जा सकता है जब वह अध्यापन का कार्य करता है। यद्यपि व्यवहार जगत में भिन्न प्रकार के ही शब्द प्रयोग किये जाते हैं। जो व्यक्ति किसी समय अध्यापन करता था। अपने बाद में जीवन में वह चाहे कोई भी पेशा अपना ले 'मास्टर जी' के ही नाम से जाना जाता है। इस नय के अनुसार जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, गुणवाचक, संयोगी-द्रव्य-शब्द आदि सभी शब्द मूलतः क्रियावाचक हैं। शब्द का वाच्यार्थ क्रिया शक्ति का सूचक है। अतः शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण उसकी क्रिया के आधार पर करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार्यों का नय-सिद्धान्त यह प्रयास करता है कि पर वाक्य प्रारूपों के आधार पर कथनों का श्रोता के द्वार सम्यक् अर्थ ग्रहण किया जाय। वह यह बताता है कि किसी शब्द अथवा वाक्य का अभिप्रेत अर्थ क्या होगा। यह बात उस कथन के प्रारूप पर निर्भर करती है जिसके आधार पर वह कथन किया जाता है। नय-सिद्धान्त यह भी बतलाता है कि कथन के वाच्यार्थ का निर्धारण भाषायी संरचना एवं वक्ता की अभिव्यक्ति शैली पर आधारित है और इसलिए यह कहा गया है कि जितने वचन पथ हैं उतने ही नयवाद है। नय-सिद्धान्त शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण ऐकान्तिक दृष्टि से न करके उस समग्र परिप्रेक्ष्य में करता है जिसमें वह कहा गया है।

निश्चय (परमार्थ) और व्यवहार : किसका आश्रय लें ?

चाहे तत्त्वज्ञान का क्षेत्र हो या आचरण का, बौद्धिक विश्लेषण हमारे सामने यथार्थता या सत्य के दो पहलू उपस्थित कर देता है, एक वह जैसा कि हमें दिखाई पड़ता है और दूसरा वह जो इस दिखाई पड़ने वाले के पीछे है; एक वह जो प्रतीत होता है, दूसरा वह जो इस प्रतीति के आधार में है। हमारी बुद्धि स्वयं कभी भी इस बात से सन्तुष्ट नहीं होती है कि जो कुछ प्रतीति है वही उसी रूप में सत्य है वरन् वह स्वयं ही उस प्रतीति के पीछे झाँकना चाहती है। वह वस्तुतत्त्व के इन्द्रियगम्य स्थूल स्वरूप से सन्तुष्ट नहीं होकर उसके सूक्ष्म स्वरूप तक जाना चाहती है। दूसरे शब्दों में दृश्य से ही सन्तुष्ट नहीं होकर उसकी तह तक प्रवेश पाना यह मानवीय बुद्धि की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। जब वह अपने इस प्रयास में वस्तुतत्त्व के प्रतीत होने वाले स्वरूप और उस प्रतीति के पीछे रहे हुए स्वरूप में अन्तर पाती है, तो स्वयं ही स्वतः प्रसूत इस द्विविधा में उलझ जाती है कि इनमें से यथार्थ कौन है ? प्रतीति का स्वरूप या प्रतीति के पीछे रहा हुआ स्वरूप ?

व्यवहार और परमार्थ दृष्टिकोण की स्वीकृति आवश्यक क्यों ?

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सत् के स्वरूप को लेकर मुख्यतः दो दृष्टियाँ मानी गई है, एक तत्त्ववाद और 2. अनेक तत्त्ववाद।¹ एक तत्त्ववादी व्यवस्था में परमतत्त्व एक या अद्वय माना जाता है। यदि परम तत्त्व एक है तो प्रश्न उठता है यह नानारूप जगत् कहाँ से आया ? यदि अनेकता यथार्थ है तो वह एक अनेक रूप में क्यों और कैसे हो गया ? यदि एकत्व ही यथार्थ है तो इस प्रतीति के विषय में नानारूपात्मक जगत् की क्या व्याख्या ? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका समुचित उत्तर एकतत्त्ववाद नहीं दे सकता। इसी प्रकार द्वितत्त्ववादी या अनेक तत्त्ववादी दार्शनिक मान्यताएँ उन दो या अनेक तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करने में असफल हो जाती है क्योंकि सत्ताओं को एक दूसरे से स्वतन्त्र मानकर उनमें पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता। अद्वैतवाद या एकत्ववाद इस नानारूपात्मक जगत् की व्याख्या नहीं कर सकता और द्वितत्त्ववाद या अनेक तत्त्ववाद उन दो अथवा अनेक सत्ताओं में

पारस्परिक सम्बन्ध नहीं बता सकता। एक के लिए अनेकता अयथार्थ होती है, दूसरे के लिए उनका सम्बन्ध अयथार्थ होता है। लेकिन इन्द्रियानुभव से अनेकता भी यथार्थ दिखती है और सत्ताओं का पारस्परिक सम्बन्ध भी यथार्थ दिखता है, अतः इन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। एकतत्त्ववाद या अद्वैतवाद में अनेकता की समस्या का और अनेक तत्त्ववाद में उनके पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या का ठीक निदान नहीं मिलता। यही कारण था कि दार्शनिकों को अपनी व्याख्याओं के लिए सत्य के सम्बन्ध में दृष्टिकोणों (नयों) का अवलम्बन लेना ही पड़ा और जिन दार्शनिकों ने दृष्टिकोणों का अवलम्बन लेने से इन्कार किया वे एकांगी बनकर रह गये। इन्हें इन्द्रियजन्य संवेदनात्मक ज्ञान और तार्किक चिन्तनात्मक ज्ञान में से किसी एक को अयथार्थ कहकर त्यागना पड़ा। चार्वाक या भौतिकवादियों ने वस्तुतत्त्व या सत् के इन्द्रियप्रदत्त ज्ञान को ही यथार्थ समझा और बुद्धि की विधाओं या विकल्पों से प्रदत्त ज्ञान को जो इन्द्रियानुभूति पर खरा नहीं उतरता था, अयथार्थ कहा। दूसरी ओर कुछ विचारकों ने उस इन्द्रियगम्य ज्ञान को अयथार्थ कहा जो कि बौद्धिक विश्लेषण में खरा नहीं उतरता है और बुद्धि-प्रदत्त ज्ञान को ही यथार्थ माना। लेकिन यह समस्या का समाधान नहीं था। सम्भवतः इस दार्शनिक समस्या के निराकरण का प्रथम प्रयास जैन और बौद्ध आगमों में परिलक्षित होता है।

महावीर ने कहा कि न तो इन्द्रियजन्य अनुभूति ही असत्य है और न बुद्धि प्रदत्त ज्ञान ही असत्य है। एक में वस्तुतत्त्व या सत् का वह ज्ञान है जिस रूप में वह हमारी इन्द्रियों को परिलक्षित होता है अथवा जिस रूप में हमारी इन्द्रियाँ उसे ग्रहण कर पाती हैं, दूसरे में वस्तुतत्त्व या सत् का वह ज्ञान है कि जिस रूप में वह है। जैनगमों के अनुसार पहली लोकदृष्टि या व्यवहार नय है। और दूसरी परमार्थ दृष्टि या निश्चयनय है। लोकदृष्टि या व्यावहारिकदृष्टि स्थूल तत्त्वग्राही है, वह हमें यह बताती है कि तत्त्व या सत्ता को जनसाधारण किस रूप में समझता है¹ जबकि परमार्थ दृष्टि या निश्चयनय सूक्ष्म तत्त्वग्राही है, वह हमें यह बताती है कि सत्ता का बुद्धिप्रदत्त वास्तविक स्वरूप क्या है?² जैसे पृथ्वी सपाट है या स्थिर है यह व्यवहारनय या लोकदृष्टि है, क्योंकि वह हमें इस रूप में प्रतीत होती है या हमारा व्यवहार ऐसा मानकर ही चलता रहता है। जबकि पृथ्वी गोल है या चलती है यह निश्चय दृष्टि है अर्थात् वह इस रूप में है। दोनों में से अयथार्थ तो किसी को कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि एक इन्द्रिय प्रतीति के रूप में सत्य है या इन्द्रियगम्य सत्य है और दूसरा बुद्धि निष्पन्न सत्य है या बुद्धिगम्य सत्य है। यह तो सत्ता (Reality) के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं और इनमें से अयथार्थ या मिथ्या कोई भी नहीं है। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में सत्य है। यद्यपि दोनों में कोई भी एक, स्वतन्त्र रूप में वस्तु तत्त्व या सत्ता का पूर्ण स्वरूप प्रगट नहीं करती है।

वस्तुतः सत्ता या तत्त्व (Reality) अपने आप में ही एक पूर्णता हैं, अनन्तता है और अनन्त के अनन्त पक्षों का प्रगटन वाणी और भाषा के माध्यम से सम्भव नहीं हो सकता है। इन्द्रियानुभूति, भाषा और वाणी सभी अनन्त के एकांश को ग्रहण कर पाती है। वही एकांश का बोध नय कहलाता है।¹⁴ उसके अनन्त पक्षों को जिन-जिन दृष्टिकोणों से देखा जाता है वे सभी नय (Standpoints) कहे जाते हैं और इसीलिए जैन विचारकों ने कह दिया था कि जितने वचन के प्रकार अथवा भाषा के प्रारूप (कथन के ढंग) हो सकते उतने ही नय के भेद हैं।¹⁵ लेकिन फिर भी जैन विचारकों ने नयों का एक द्विविध वर्गीकरण प्रस्तुत किया था जिसमें अन्य सभी वर्गीकरण भी अन्तर्भूत है।¹⁶

जैनागमों भगवती सूत्र में व्यवहार और निश्चय दृष्टि का प्रतिपादन बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। गौतम भगवान महावीर से पूछते हैं, भन्ते! फाणित-प्रवाही गुड़ में कितने रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्श होते हैं? महावीर इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि गौतम! मैं इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से देता हूँ। व्यवहारिक नय (लोकदृष्टि) की अपेक्षा से तो वह मधुर कहा जाता है, लेकिन निश्चय नय (वास्तविक दृष्टि) की अपेक्षा से उसमें पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध और आठ स्पर्श होते हैं। इस प्रकार वहाँ अनेक विषयों को लेकर उनका निश्चय एवं व्यवहार दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। वस्तुतः यह निश्चय एवं व्यवहार दृष्टि का विश्लेषण हमें यही बताता है कि सत् (Reality) न उतना ही है जितना वह हमें इन्द्रियों के माध्यम से प्रतीत होता है और न उतना ही जितना कि बुद्धि उसके स्वरूप का निश्चय कर पाती है।

जैनाचार्यों ने सत्य को समझने की इन दोनों विधियों का प्रयोग न केवल तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में ही किया। वरन् आचार दर्शन की अनेक गुत्थियों के सुलझाने में भी इनका प्रयोग किया है आचार्य कुन्दकुन्द ने आगमोक्त इन दो नयों (दृष्टिकोणों) का प्रयोग आत्मा के बन्धन-मोक्ष, कर्तृत्व-अकर्तृत्व तथा नैतिक जीवन-प्रणाली या ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से किया है और इनके आधार पर तत्त्वज्ञान तथा आचारदर्शन सम्बन्धी अनेक विवादास्पद प्रश्नों का समुचित निराकरण भी किया है। यही नहीं, आचार्य कुन्दकुन्द की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने निश्चय दृष्टि को भी अशुद्ध निश्चय दृष्टि और शुद्ध निश्चयदृष्टि ऐसे दो रूपों में विभाजित किया है और इस प्रकार उनके अनुसार एक व्यवहारनय दूसरा निश्चयनय, तीसरा शुद्ध निश्चयनय ऐसे तीन विभाग बनाये गये। इस प्रकार सत् के निरूपण की इन दो दृष्टियों को दर्शन जगत में प्रस्तुत करने और उनके आधार पर दार्शनिक समस्याओं के निराकरण करने का प्रथम श्रेय

जैनविचारणा को मिलना चाहिए। फिर भी यह जान लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैनदर्शन और वेदान्तदर्शन में सत् के स्वरूप को समझने के लिए इन शैलियों का खुलकर प्रयोग हुआ है। अजैन दर्शनों में सर्वप्रथम बौद्ध आगमों में हम दो दृष्टियों का वर्णन पाते हैं, जहाँ उन्हें नीतार्थ और नेयार्थ कहा गया है। भगवान बुद्ध ने अगुंतुरनिकाय में कहा है-भिक्षुओ! ये दो तथागत पर मिथ्यारोप करते हैं, कौन से दो? जो नेय्यार्थ-सूत्र (व्यवहारभाषा) को नीतार्थ-सूत्र (परमार्थभाषा) करके प्रगट करता है और नीतार्थ-सूत्र (परमार्थभाषा) को नेय्यार्थ-सूत्र (व्यवहारभाषा) करके प्रगट करता है।¹⁷

बौद्ध दर्शन की दो प्रमुख शाखाओं-विज्ञानवाद और शून्यवाद-में भी तथता या सत् के स्वरूप को समझने के लिए दृष्टिकोणों की इन शैलियों का उपयोग हुआ है। बौद्ध विज्ञानवाद तीन दृष्टिकोणों का प्रतिपादन करता है (1) परिकल्पित (2) परतन्त्र (3) परिनिष्पन्न। शून्यवाद में नागार्जुन दो दृष्टिकोणों को प्रतिपादन करते हैं- 1 लोकसंवृति सत्य और 2 परमार्थ सत्य।¹⁸ चन्द्रकीर्ति ने लोकसंवृति को भी मिथ्यासंवृति इन दो भागों में विभाजित किया है। इस प्रकार शून्यवाद में भी 1. मिथ्यासंवृति, 2. तथ्यसंवृति और 3. परमार्थ, यह तीन दृष्टिकोण मिलते हैं। वेदान्तदर्शन में शंकर ने भी अपने पूर्ववर्तियों की इस शैली को ग्रहण किया और उन्हें 1. प्रतिभासिक सत्य, 2. व्यवहारिक सत्य और 3. पारमार्थिक सत्य कहा। इस प्रकार जैनागमों ने जिसे व्यवहारनय और निश्चयनय, पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनय अथवा अभूतार्थनय और भूतार्थनय कहा उसे ही बौद्धागमों में नीतार्थ और नेयार्थ कहा गया। विज्ञानवादियों ने उन्हें परतन्त्र और परिनिष्पन्न कहा और शून्यवाद में उन्हें ही लोकसंवृति और परमार्थ नाम से बताया गया, जबकि शंकर ने व्यवहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य के नाम से अभिहित किया। न केवल भारतीय विचारकों ने अपितु अनेक पाश्चात्य विचारकों ने भी व्यवहार और परमार्थ के दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। हिरेक्लिट्स, पारमेनाइडीस, साक्रेटीज, प्लेटो, अरस्तु, स्पिनोजा, कांट, हेगल और ब्रेडले ने भी। किसी-न-किसी रूप में इसे माना है। भले ही उनकी मान्यताओं में नामों की भिन्नतायें ही हों, अन्ततोगत्वा उनके विचार इन्हीं दो नयों अर्थात् व्यवहार और परमार्थ की ओर ही संकेत करते हैं।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि शंकर के प्रतिभासिक, चन्द्रकीर्ति की मिथ्यासंवृति या विज्ञानवाद के परिकल्पित दृष्टिकोणों के समरूप किसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन जैनागमों में नहीं है। यदि इनकी तुलना की जानी हो, तो वह किसी सीमा तक जैन विचारणा में मिथ्यादृष्टि से की जा सकती है, यद्यपि दोनों में काफी अन्तर भी है। इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द का अशुद्ध निश्चयनय

व्यवहार और परमार्थ की मध्यस्थिति का द्योतक माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में एक और महत्वपूर्ण अन्तर जैन और जैनेतर विचारणाओं में किया जा सकता है और वह यह कि बौद्ध और वेदान्त विचारणा में व्यवहारदृष्टि या लोकसंवृति को परमार्थ की अपेक्षा निम्नस्तरीय माना गया है, जबकि जैनदर्शन के अनुसार व्यवहार और निश्चय अपने-अपने स्वस्थानों की अपेक्षा से समस्तरीय हैं। वस्तुतः उनमें कोई तुलना करना ही अनुचित है। जैनदृष्टि के अनुसार व्यवहारनय के निराकरण के लिए निश्चयनय का अवलम्बन है, किन्तु निश्चयनयावलम्बन भी कर्तव्य की इतिश्री नहीं, उसके आश्रय से आत्मा के स्वरूप का बोध करके उसे छोड़ने पर ही तत्त्व साक्षात्कार सम्भव है। वस्तुतः सत्ता का परमस्वरूप विचार का विषय नहीं है। वह तो विशुद्ध अनुभूति का विषय है। वह तत्त्वदर्शन है, तत्त्वज्ञान नहीं है। यदि वह ज्ञान कहा जा सकता है तो तत्त्वदर्शन या विशुद्ध अनुभूति आत्मा पर जो कुछ चिह्न बनाती है, वही ज्ञान है। ज्ञान अपनी पूर्णता में दर्शन या अनुभूति से पूर्ण तादात्म्य कर लेता है उसमें कोई संश्लेषण या विश्लेषण नहीं होता, कोई विकल्प नहीं होता है। सत् की यथार्थ उपलब्धि विकल्पों के ऊपर उठने पर ही सम्भव है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं “तत्त्ववेदी दृष्टिकोण या नयपक्ष रूपी वन, जिसमें विकल्प रूपी जाल उठते हैं, को लांघकर जो अन्तर और बाह्य सभी ओर समरस एवं एकरस है वही स्वभावमात्र की अनुभूति करता है। तत्त्ववेदी तो उठती हुई चंचल विकल्प रूपी लहरों और उन विकल्पों की लहरों से प्रवर्तन होने वाले नयों (दृष्टिकोणों) के इन्द्रजाल को तत्काल दूर कर देता है।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्ता के यथार्थ बोध के लिए न केवल व्यवहार या निश्चय (परमार्थ) दृष्टिकोणों को जानना ही पर्याप्त है वरन् उनके भी परे जाना होता है जहाँ दृष्टिकोणों के समस्त विकल्प शून्य हो जाते हैं। जैन विचारणा के उपरोक्त दृष्टिकोण का समर्थन हमें बौद्ध और वेदान्त की परम्परा में भी मिलता है। बौद्ध और वेदान्त की परम्परा में पाया जाने वाला यह विचारसाम्य तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है।

बौद्ध शून्यवादी-परम्परा के प्रखर दार्शनिक आचार्य नागार्जुन, आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के साथ समस्वर हो कह उठते हैं¹⁰ - भगवान बुद्ध ने समस्त दृष्टियों की शून्यता (नयपक्षकक्ष रहितता) का उपदेश दिया है, जिसकी शून्य ही दृष्टि है ऐसा साधक ही परमतत्त्व का साक्षात्कार करता है।

आगे परमतत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं - वह परमतत्त्व न शून्य है, न अशून्य है, न दोनों है और न दोनों नहीं है। शून्यवादी बौद्ध दार्शनिक

तो परम तत्व को शून्य और अशून्य आदि किसी भी संज्ञा से अभिहित करना उचित नहीं समझते क्योंकि परम तत्व को शून्य अशून्य, आदि किसी संज्ञा से अभिहित करना उसे बुद्धि की कल्पना के भीतर लाना है। परम तत्व तो विचार की विधाओं से परे है, चतुष्कोटी विनिर्मुक्त है, विकल्पों के जाल से परे है।

गीता भी कहती है 'परम तत्व के बोध के लिए विकल्पों के जनक मन को आत्मा में स्थित करके कुछ भी चिन्तन या विकल्प नहीं करना चाहिए। जिस साधक के मन में विकल्पों का यह ज्वार शांत हो चुका है और जिसके मन की समस्त चंचलता समाप्त हो गई है, वही योगी ब्रह्मभूत, निष्पाप और उत्तम से युक्त होता।'¹¹

व्यवहार और परमार्थ की आचारदर्शन के लिए आवश्यकता

इस प्रकार आचार दर्शन अपने आदर्श के रूप में जिस सत्ता के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि चाहता है वह दृष्टिकोणों या नयों के द्वारा प्राप्त नहीं होती, लेकिन नयपक्षों या दृष्टिकोणों से प्रत्युत्पन्न विकल्पों के समस्त जाल के विलय होने पर शुद्ध निर्विकल्प समाधि की अवस्था में प्राप्त होता है। यही निर्विकल्प समाधि की अवस्था ही जैन, बौद्ध और वेदान्त के आचारदर्शन का चरम लक्ष्य है, जिसमें सत् साक्षात्कार हो जाता है। लेकिन सम्भवतः यहाँ विद्वत्त्वर्ग यह विचार करेगा कि यदि साधना का लक्ष्य ही नयपक्षों या विकल्पों से ऊपर उठना है, तो फिर आचारदर्शन या तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में नयपक्षों या तत्त्वदृष्टियों के निरूपण की क्या आवश्यकता है? लेकिन इस प्रश्न का समुचित उत्तर जैन आचार्य कुन्दकुन्द और बौद्ध शून्यवादी दार्शनिक नागार्जुन बहुत पहले दे गये हैं।

यद्यपि साधना की पूर्णता या यथार्थ की उपलब्धि विकल्पों से अथवा नयपक्षों से ऊपर उठने में ही है लेकिन यह ऊपर उठना उनके ही सहारे सम्भव होता है, व्यवहार के सहारे परमार्थ को जाना जाता है और उस परमार्थ के सहारे उस निर्विकल्प सत्ता का बोध होता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं जिस प्रकार किसी अनार्य जन को उसकी अनार्य भाषा के अभाव में वस्तुस्वरूप समझाने में कोई भी आर्यजन सफल नहीं होता, उसे यथार्थ का ज्ञान कराने के लिए उसी की भाषा का अबलम्बन लेना होता है, इसी प्रकार व्यवहार दृष्टि के अभाव में व्यवहार जगत में रहने वाले प्राणियों को परमार्थ को बोध नहीं कराया जा सकता।¹²

आचार्य कुन्दकुन्द के ही उपरोक्त रूपक को ही लगभग समान शब्दों में ही शून्यवादी बौद्ध आचार्य नागार्जुन भी प्रस्तुत करते हैं।¹³ यही नहीं, समकालीन भारतीय विचारकों में प्रो. हरियन्ना तथा पाश्चात्य विचारक ब्रेडले भी (Reality) ज्ञान के लिए आभास (व्यवहार Appearances) की उपादेयता को स्वीकार करते हैं, किन्तु विस्तार भय से उनके विस्तृत विचारों को यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं।

वास्तविकता यह है कि व्यवहार के बिना परमार्थ का बोध नहीं हो सकता और परमार्थ या निश्चयदृष्टि का बोध हुए बिना निर्वाण रूपी नैतिक आदर्श की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः पक्षातिक्रान्त नैतिक आदर्श निर्वाण तत्त्व-साक्षात्कार आत्म-साक्षात्कार के लिए परमार्थ और व्यवहार दोनों को जानना आवश्यक है, मात्र यही नहीं, दोनों को जानकर छोड़ देना भी आवश्यक है।

तत्त्वज्ञान और आचारदर्शन के क्षेत्र में व्यवहार और परमार्थ का अन्तर

जैन परम्परा में व्यवहार और निश्चय नामक जिन दो दृष्टियों का प्रतिपादन किया गया है, वे तत्त्वज्ञान और आचारदर्शन, दोनों क्षेत्रों के लिए स्वीकार की गई हैं, फिर भी आचारदर्शन और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय (परमार्थ) और व्यवहार दृष्टि का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है।

पं. सुखलाल जी इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहार रूप से दो दृष्टियाँ मानी गई हैं वे तत्त्वज्ञान और आचारदर्शन दोनों क्षेत्रों में लागू की गई हैं। इधर सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार दोनों का समावेश है। जब निश्चय, व्यवहार नय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार दोनों में होता है तब सामान्य रूप से शास्त्र चिन्तन करने वाला यह अन्तर जान नहीं पाता कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में किया जाने वाला निश्चय और व्यवहार का प्रयोग आचार के क्षेत्र में किये जाने वाले प्रयोग से भिन्न है और भिन्न परिणाम का सूचक भी है। तत्त्वज्ञान की निश्चयदृष्टि आचारविषयक निश्चयदृष्टि दोनों एक नहीं हैं। इसी तरह उभय विषयक व्यवहारदृष्टि के बारे में भी समझना चाहिए। मैं इतना ही सूचित करना चाहता हूँ कि निश्चय और व्यवहारनय यह दो शब्द भले ही समान हों, फिर भी तत्त्वज्ञान और आचार के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न अभिप्राय से लागू होते हैं और हमें विभिन्न परिणामों पर पहुँचाते हैं।¹⁴

यह देखने के पहले कि इन दोनों में यह विभिन्नता किस रूप में है, हमें भी देख लेना होगा कि इस विभिन्नता का कारण क्या है? वस्तुतः आचरण का सारा क्षेत्र ही व्यवहार का क्षेत्र है। तत्त्वज्ञान की नैश्चयिक (पारमार्थिक) दृष्टि से तो सारी नैतिकता ही एक व्यावहारिक संकल्पना है, यदि विशुद्ध पारमार्थिक दृष्टि से बन्धन और मुक्ति भी व्यवहारिक सत्य ही ठहरते हैं, तो फिर आत्मा को बन्धन में मानकर उसकी मुक्ति के निमित्त किया जाने वाला सारा नैतिक आचरण भी व्यवहार के क्षेत्र में ही सम्भव है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जीव कर्म से बद्ध है तथा जीवन कर्म उसका स्पर्श करता है यह व्यवहारनय का वचन है, जीव कर्म से अबद्ध है अर्थात् न बंधता है और न स्पर्श करता है। यह निश्चय (शुद्ध) नय का कथन है। अर्थात् आत्मा का बंधन और मुक्ति यह व्यवहारसत्य है।

परमार्थ-सत्य की दृष्टि से न तो बंधन है और न मुक्ति क्योंकि बंधन और मुक्ति सापेक्ष पद ही हैं। यदि बंधन नहीं तो मुक्ति भी नहीं। आगे आचार्य स्वयं कहते हैं कि आत्मा का बंधन और अबंधन यह दोनों ही दृष्टि सापेक्ष हैं, नय पक्ष हैं, परम तत्त्व समयसार (आत्मा) तो पक्षातिक्रान्त है, निर्विकल्प है¹⁵ इस प्रकार समस्त नैतिक आचरण व्यवहार के क्षेत्र में होता है यद्यपि जीवन का आदर्श इन समस्त दृष्टियों से परे निर्विकल्पावस्था में स्थित है। अतः आचार के क्षेत्र में निश्चय दृष्टि का प्रतिपादन नैतिकता के आदर्शन निर्विकल्पावस्था या वीतरागदशा जिसे प्रसंगांतर से मोक्ष भी कहा जाता है कि अपेक्षा से ही हुआ है, जबकि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय दृष्टि का आधार भिन्न है। तत्त्वज्ञान का काम मात्र व्याख्याओं का प्रस्तुतीकरण है जबकि आचार दर्शन का काम यथार्थता की उपलब्धि करा देना है।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय और व्यवहार¹⁶

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि का काम सत्ता के उस यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करना होता है जो देश काल आदि से निरपेक्ष है। निश्चयदृष्टि सत्ता के उस यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करती है जो सत्ता की स्वभाव दशा है, उसका मूल स्वरूप है या स्व-लक्षण है, जो किसी देश-कालगत परिवर्तन में भी उसके सार के रूप में बना रहता है। जैसे निश्चयदृष्टि से आत्मा ज्ञानस्वरूप है, साक्षी है, अकर्ता है। निश्चयदृष्टि द्रव्यदृष्टि है जो सत्ता के मूल तत्त्व की ओर ही अपनी निगाह जमाती है और उसकी पर्यायों पर ध्यान नहीं देती है। निश्चयदृष्टि से स्वर्णाभूषणों में निहित स्वर्णत्व ही मूल वस्तु है, फिर चाहे वह स्वर्ण कंकण हो या मुद्रिका हो। निश्चयदृष्टि से दोनों में अभेद ही है, दूसरे शब्दों में निश्चय नय अभेद गामी है। निश्चय दृष्टि, द्रव्य दृष्टि या इस अभेदगामी दृष्टि से आत्मा चैतन्य ही है, अन्य कुछ नहीं। न वह जन्म लेता है, न मरता है, न वह बद्ध है, न वह मुक्त है, न वह स्त्री है, न वह पुरुष है, न वह मनुष्य है, न पशु है, न देव है, न नारक है। तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि सत्ता के उस पक्ष का प्रतिपादन करती है जिस रूप में वह प्रतीत होती है, वह सत्ता के आगन्तुक लक्षणों को प्रगट करती है जो स्थायी नहीं है वरन् किसी देशकाल में उससे संयोजित हुए है और किसी देशकाल में अलग हो जाने वाले हैं। सत्ता के उस परिवर्तनशील पक्ष का प्रस्तुतीकरण व्यवहारनय का विषय है जो क्षणिक है, देश एवं काल सापेक्ष है। सत्ता की विभाव दशा का विवेचन करना उसके इन्द्रियग्राह्य स्वरूप का विवेचन करना व्यवहार नय का सीमा क्षेत्र है जैसे आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, बद्ध है, ज्ञानदर्शन की दृष्टि से सीमित है। व्यवहार की दृष्टि के अनुसार आत्मा जन्म लेता है और मरता भी है, वह बन्धन में भी आता और मुक्त भी होता है, वह बालक भी बनता है और वृद्ध भी होता है।

आचारदर्शन के क्षेत्र में निश्चय और व्यवहार का तत्त्वज्ञान के क्षेत्र से अन्तर

महाप्राज्ञ पं. सुखलाल जी ने आचारलक्षी निश्चय और व्यवहार का निरूपण तत्त्वलक्षीय निश्चय (परमार्थ) और व्यवहार के निरूपण से किस प्रकार भिन्न है, इसे निम्न आधारों पर स्पष्ट किया है -

(1) आचारगामी नैश्चयिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि मुख्यतया मोक्ष पुरुषार्थ की दृष्टि से विचार करती है जबकि तत्त्वनिरूपक निश्चय और व्यवहारिक दृष्टि केवल जगत के स्वरूप को लक्ष्य में रखकर ही प्रवृत्त होती है। यदि इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया जावे तो हम कह सकते हैं कि तत्त्व निरूपण की दृष्टि में 'क्या है' यह महत्त्वपूर्ण है जबकि आचारनिरूपण में क्या होना चाहिए यह महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः तत्त्वज्ञान की विधायक (Positive) व्याख्यात्मक प्रकृति ही तथा आदर्श दर्शन की नियामक (Normative) या आदर्श मूलक प्रकृति ही इनमें यह अन्तर बना देती है। तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि यह बताती है कि सत्ता का मूल स्वरूप क्या है? उसका सार क्या है? और व्यवहार दृष्टि यह बताती है सत्ता किस रूप में प्रतीत हो रही है, उसका इन्द्रियग्राह्य स्थूल स्वरूप क्या है? उसका आकार क्या है? जबकि आचारदर्शन के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि कर्ता के प्रयोजन अथवा कर्म की आदर्शोन्मुखता के आधार पर उसकी शुभाशुभता का मूल्यांकन करती है। निश्चयनय में आचार का बाह्य स्वरूप महत्त्वपूर्ण नहीं होता वरन् उसका अन्तर स्वरूप ही महात्वपूर्ण होता है। इसके विपरीत आचार के क्षेत्र में व्यवहार दृष्टि के अनुसार समाचरण के बाह्य पक्ष पर अधिक विचार किया जाता है।

(2) आचार दर्शन और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय और व्यवहार नय के सम्बन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में नैश्चयिक दृष्टि-सम्मत तत्त्वों का स्वरूप हम सभी साधारण जिज्ञासु कभी भी प्रत्यक्ष नहीं कर पाते, हम ऐसे किसी व्यक्ति के कथन पर श्रद्धा रखकर ही वैसा स्वरूप मानते हैं, जिसने तत्त्वस्वरूप का साक्षात्कार किया हो। जबकि आचार के बारे में ऐसा नहीं है कोई जागरूक साधक अपनी आन्तरिक सत्-असत् वृत्तियों को व उनकी तीव्रता और मन्दता के तारतम्य को सीधा प्रत्यक्ष कर सकता है।

संक्षेप में नैश्चयिक आचार का प्रत्यक्ष व्यक्ति स्वयं के लिए सम्भव है जबकि नैश्चयिक तत्त्व का साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। हमारी सत्-असत् वृत्तियों का हमें सीधा प्रत्यक्ष होता है, वे हमारी आन्तरिक अनुभूति का विषय हैं जबकि तत्त्व के निश्चय स्वरूप का सीधा प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं होता है, वह तो मात्र बुद्धि की खोज है। तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में पर्यायों से पृथक् शुद्ध वस्तु तत्त्व की उपलब्धि साधारण रूप में सम्भव नहीं होती है जबकि आचार के क्षेत्र में समाचरण से पृथक् आन्तरिक वृत्तियों का हमें अनुभव होता है।

(३) तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय दृष्टि आत्मा के बन्धन, मुक्ति, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि प्रत्ययों को महत्व नहीं देती है, वे उसके लिए गौण होते हैं क्योंकि वे आत्मा की पर्याय दशा को ही सूचित करते हैं। जबकि आचारलक्षी निश्चयदृष्टि में तो बन्धन और मुक्ति आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व ऐसी मौलिक धारणाएँ हैं जिसे वह स्वीकार करके ही आगे बढ़ती है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द एवं अन्य जैनाचार्यों ने निश्चय में दो भेद स्वीकार किए हैं। आचार्य कुन्दकुन्द तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले निश्चयनय (परमार्थदृष्टि) को शुद्ध निश्चयनय कहते हैं जबकि आचारलक्षी निश्चयदृष्टि को अशुद्ध कहते हैं। अन्य आचार्यों ने निश्चयनय के द्रव्यार्थिक निश्चयनय और पर्यायार्थिक निश्चयनय ऐसे दो विभाग किये हैं। इसमें द्रव्यार्थिक निश्चयनय तत्त्वदर्शन के क्षेत्र में उपयोग की जाने वाली निश्चयदृष्टि है जबकि पर्यायार्थिक निश्चयनय आचार दर्शन के क्षेत्र में उपयोग की जाने वाली निश्चयदृष्टि है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की दृष्टि से नैतिकता का विचार

इसी तथ्य को जैन विचारणा के अनुसार एक दूसरी प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। जैनागमों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो दृष्टिकोण या नय भी स्वीकार किए गए हैं। सांख्यदर्शन परिणामवाद को मानता है लेकिन वह केवल प्रकृति की दृष्टि से, जबकि जैन दर्शन जड़ और चेतन उभय परम तत्वों की दृष्टि से परिणामवाद मानता है। सत् का एक पक्ष वह है जिसमें-वह, प्रतिक्षण बदलता रहता है जबकि दूसरा पक्ष वह है जो इन परिवर्तनों के पीछे है। जैनदर्शन उस अपरिवर्तनशील शाश्वत पक्ष को अपनी पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार कर लेता है लेकिन नैतिकता की सारी सम्भावना एवं सारी विवेचना तो इस परिवर्तनशील पक्ष के लिए है - नैतिकता एक गत्यात्मकता है, एक प्रक्रिया है, एक होना है (Becoming) जो परिवर्तन की दशा में ही सम्भव है। उस अपरिवर्तनीय पक्ष की दृष्टि से जो मात्र (Being) है, कोई नैतिक विचारणा सम्भव ही नहीं। जैन विचारणा यही भी नहीं कहती है कि हमारा नैतिक आदर्श परिवर्तनशीलता (becoming) से अपरिवर्तनशीलता (being) की अवस्था को प्राप्त करना है क्योंकि यदि सत् स्वयं उत्पाद, व्यय और ध्रुव्यगुण युक्त है तो फिर मोक्ष अवस्था में यह गुण रहेंगे। जैन विचारणा मोक्षावस्था में आत्मा का परिणामीपन स्वीकार करती है। जैन विचारणा के अनुसार परिवर्तन या पर्याय (Mode) दो प्रकार के होते हैं- एक स्वभाव पर्याय या सरूप-परिवर्तन (Homogenous changes) और दूसरे विभावपर्याय या विरूप-परिवर्तन (Hetrogenous changes) होते हैं। जैन नैतिकता का आदर्श मात्र आत्मा को विभाव पर्याय की अवस्था से स्वभाव पर्याय में लेना है।

इस प्रकार जैन नैतिकता सत् के द्रव्यार्थिक पक्ष को अपनी विवेचना का विषय न बनाकर सत् पर्यायार्थिक पक्ष को अपनी विवेचना का विषय बनाती है। जिसमें स्वभाव पर्यायावस्था को प्राप्त करना ही उसका नैतिक आदर्श है। स्वभावपर्याय या सरूप-परिवर्तन वे अवस्थाएं हैं जो वस्तुतत्त्व के निज गुणों के कारण होते हैं एवं अन्य तत्त्व से निरपेक्ष होते हैं।¹⁷ इसके विपरीत अन्य तत्त्व से सापेक्ष परिवर्तन-अवस्थाएं विभावपर्याय होती हैं। अतः नैतिकता के प्रत्यय की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आत्मा का स्व स्वभाव दशा में रहना यह नैतिकता का निरपेक्ष है। इसे ही आचारलक्षी निश्चयनय कहा जा सकता है क्योंकि जैनदृष्टि से सारे नैतिक समाचरण का सार या साध्य यही है, जिसे किसी अन्य का साधन नहीं माना जा सकता। यही स्वलक्ष्य मूल्य (end in itself) है। शेष सारा समाचरण इसी के लिये है, अतः साधन रूप है, सापेक्ष है और साधन रूप होने के कारण मात्र व्यवहारिक नैतिकता है।

आचार दर्शन के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि का अर्थ

आचार के क्षेत्र में निश्चयनय का अर्थ

जैन आचार दर्शन का नैतिक आदर्श मोक्ष है, अतएव जो आचार सीधे रूप में मोक्ष लक्ष्य है वह नैश्चयिक अर्थात् समाचरण का वह पक्ष जिसका सीधा सम्बन्ध हमारे बन्धन और मुक्ति से है, नैश्चयिक आचार है। वस्तुतः बन्धन और मुक्ति का सीधा कारण समाचरण का बाह्य स्वरूप नहीं होता वरन् व्यक्ति की आभ्यन्तर मनोवृत्तियां ही होती हैं अतः वे चैतसिक तत्त्व या आभ्यन्तर मनोवृत्तियां जो हमारे बन्धन और मुक्ति का सीधा कारण बनती हैं आचार दर्शन के क्षेत्र में निश्चय नय या परमार्थ दृष्टि के सीमा क्षेत्र में आती हैं। मिथ्यात्व और कषाय अथवा राग, द्वेष और मोह की त्रिपुटी का सम्बन्ध हमारे नैश्चयिक आचार से है। संक्षेप में समाचरण का आन्तर पक्ष आचारलक्षी निश्चयनय का सीमा क्षेत्र है। नैतिक निर्णयों की वह दृष्टि जो बाह्य समाचरण या क्रियाकलापों से निरपेक्ष मात्र कर्ता के प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर शुभाशुभता विचार करती है, निश्चय दृष्टि है।¹⁸ आचारदर्शन के क्षेत्र में भी नैश्चयिक आचार सदैव ही एक होता है। नैश्चयिक दृष्टि से जो शुभ है वह सदैव ही शुभ है, जो अशुभ है वह सदैव अशुभ है। देश, काल एवं व्यक्तिक भिन्नताओं में भी उसमें विभिन्नताएं नहीं होती हैं। वैचारिक या मनोजन्य अध्यवसायों का शुभत्व और अशुभत्व देश-कालगत भेदों से नहीं बदलता, उसमें अपवाद के लिये कोई स्थान नहीं होता है। व्यवहारिक नैतिकता में या समाचरण के बाह्य भेदों में भी उसकी एकरूपता बनी रह सकती है। पं. सुखलालजी के शब्दों में नैश्चयिक आचार की (एक ही) भूमिका पर वर्तमान एक ही व्यक्ति अनेकविध व्यवहारिक आचारों में से गुजरता है।¹⁹ यही नहीं, इसके विपरीत

समाचरण की बाह्य एकरूपता में भी नैश्चयिक दृष्टि आचार की भिन्नता हो सकती है। वस्तुतः आचार दर्शन के क्षेत्र में नैश्चयिक आचार वह केन्द्र है जिसके आधार से व्यवहारिक आचार के वृत्त बनते हैं। एक केन्द्र से खींचे गये अनेक वृत्त बाह्य रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी अपने केन्द्र की दृष्टि से एक ही रूप माने जाते हैं, उनमें परिधिगत विभिन्नता होते हुए भी केन्द्रगत एकता होती है। जैनदृष्टि के अनुसार निश्चय आचार सारे बाह्य आचरण का केन्द्र है, सार होता है।²⁰

आचार दर्शन के क्षेत्र में निश्चय और व्यवहार के सही मूल्यांकन के लिये हम एक दूसरी दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं। आचार दर्शन में निश्चय दृष्टि या परमार्थ दृष्टि नैतिक समाचरण का मूल्यांकन उसके आन्तर पक्ष, प्रयोजन या उसकी लक्ष्योन्मुखता के आधार पर करती है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह एक वैयक्तिक दृष्टि से ही जो व्यक्ति के समाचरण का मूल्यांकन उसके लक्ष्य की दृष्टि से करती है। जैनदर्शन के अनुसार नैश्चयिक नैतिकता समाचरण के संकल्पात्मक पक्ष का अध्ययन करती है, लेकिन नैतिकता मात्र संकल्प ही नहीं है। नैतिक जीवन के लिए संकल्प अत्यन्त आवश्यक, अनिवार्य तत्व है लेकिन मात्र ऐसा संकल्प जिसमें समाचरण (Performance) का प्रयास न हो, सच्चा संकल्प नहीं होता। इसलिए नैतिक जीवन के लिए संकल्प नहीं होता। इसलिए नैतिक जीवन के लिए संकल्प को मात्र संकल्प नहीं रहना चाहिए वरन् कार्य रूप में परिणत भी होना चाहिए यही संकल्प की कार्य रूप में परिणति नैतिकता का दूसरा पक्ष-प्रस्तुत करती है। मात्र संकल्प तो व्यक्ति तक सीमित हो सकता है, उसका समाज पर कोई प्रभाव नहीं होता, वह समाज निरपेक्ष हो सकता है, लेकिन संकल्प को जब कार्य रूप में परिणत किया जाता है, तो वह मात्र वैयक्तिक नहीं रहता है वरन् सामाजिक बन जाता है। अतः नैतिकता का विचार केवल नैश्चयिक या पारमार्थिक दृष्टि पर ही नहीं किया जा सकता है। ऐसा नैतिक मूल्यांकन मात्र आंशिक होगा, अपूर्ण होगा। अतः नैतिकता के समुचित मूल्यांकन के लिए नैतिकता में बाह्य या सामाजिक पक्ष पर भी विचार करना होगा, लेकिन यह सीमा क्षेत्र आचारलक्षी निश्चय नय का नहीं वरन् व्यवहार नय का है।

आचार के क्षेत्र में व्यवहार नय का अर्थ

नैतिकता के क्षेत्र में व्यवहार दृष्टि वह है जो समाचरण के बाह्य पक्ष पर बल देती है उसमें एकरूपता नहीं विविधता होती है। डॉ. सुखलाल जी संघवी के शब्दों में व्यवहारिक आचार ऐसा एक रूप नहीं नैश्चयिक आचार की भूमिका से निष्पन्न ऐसे भिन्न-भिन्न देश-काल-जाति-स्वभाव-रुचि आदि के अनुसार कभी-कभी-परस्पर दिखाई देने वाले आचार व्यवहारिक आचार की कोटि में गिने जाते हैं।²¹

व्यवहारिक आचार देश, काल एवं व्यक्ति सापेक्ष होता है, उसका स्वरूप परिवर्तनशील होता है। वह तो उन परिधियों के समान है जो समकेन्द्रक होते हुए देश (space) में अलग होती है। आचार दर्शन के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि कर्ता के प्रयोजन को गौण कर कर्मपरिणामों को लोकदृष्टि से विचार करती है।¹²² वह यह बताती है कि देशकालगत नैतिकता क्या है, किस देश और किस काल में समाचरण के नियमों का बाह्य स्वरूप क्या होगा? इसका निश्चय नैतिकता की व्यवहार दृष्टि करती है। वह देश, काल एवं नैयव्यक्तिक परिस्थितियों के आधार पर नैतिक समाचरण के बाह्य स्वरूप का निर्धारण करती है।¹²³ जहाँ तक समाचरण के शुभत्व और अशुभत्व के मूल्यांकन करने का प्रश्न है आचरण के आभ्यन्तर पक्ष या कर्ता के प्रयोजन के आधार पर उनके शुभत्व और अशुभत्व का मूल्यांकन नैतिकता की निश्चय दृष्टि करती है जबकि आचरण के बाह्य पक्ष या उसके फल के आधार उनके शुभत्व और अशुभत्व निश्चय नैतिकता की व्यवहार दृष्टि करती है। जैन विचारणा के अनुसार कर्मों के इस द्विविध मूल्यांकन में ही उसका समुचित मूल्यांकन सम्भव होता है, यद्यपि यह भी सम्भव है कि कोई कर्म निश्चय दृष्टि से शुद्ध या नैतिक होते हुए भी व्यवहारदृष्टि से अशुद्ध या अनैतिक हो सकता है। जैसे-साधु का वह व्यवहार जो शुद्ध मनोभाव और आगमिक आज्ञाओं के अनुकूल होते हुए भी यदि लोकनिन्दा या लोकघृणा का कारण है तो वह निश्चयदृष्टि से शुद्ध होते हुए भी व्यवहारदृष्टि से अशुद्ध है। इसी प्रकार कोई कर्म या समाचरण का रूप व्यवहारदृष्टि से शुद्ध या नैतिक प्रतीत होते हुए भी निश्चयदृष्टि से अशुभ या अनैतिक हो सकता है, जैसे फलाकांक्षा से किया हुआ तप अथवा परोपकार, यह व्यवहार दृष्टि से शुभ होते हुए भी निश्चय दृष्टि से अशुभ है। जैन आचार दर्शन इस तथ्य को स्वीकार करता है कि नैतिक समाचरण में मात्र आन्तर पक्ष या कर्ता प्रयोजन ही पर्याप्त नहीं है, लोकव्यवहार की दृष्टि से बाह्य आचरण भी आवश्यक है। यही नहीं, ऐसा साधक जिसने नैतिक आदर्श की उपलब्धि कर ली है उसे-व्यवहार की दृष्टि का आचरण करना आवश्यक है।

निश्चय नैतिकता का स्वरूप

नैतिकता के नैश्चयिक या पारमार्थिक स्वरूप की चर्चा करने के पूर्व पुनः यह बता देना आवश्यक है कि प्रथमतः विशुद्ध द्रव्यार्थिकनय या शुद्ध जो कि तत्त्वमीमांसा की एक विधि है, जब नैतिकता के क्षेत्र में प्रयुक्त की जाती है तो वह दो बातें प्रस्तुत करती है -

1. - नैतिक आदर्श या साध्य का शुद्ध स्वरूप,
2. - नैतिकता साध्य का नैतिक साधना से अभेद।

हमें इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट रहना चाहिए कि नैतिक साध्य वह स्थिति है कि जहाँ आकर नैतिकता स्वयं समाप्त हो जाती है क्योंकि उसके आगे कोई पाना नहीं है, कोई चाहिए नहीं है और इसलिए कोई नैतिकता नहीं है। क्योंकि नैतिकता के लिए 'चाहिए' या 'आदर्श' आवश्यक है, अतः नैतिक साध्य उस स्थान पर स्थित है जहाँ तत्त्वमीमांसा और आचार दर्शन मिलते हैं, अतः नैतिक साध्य की व्याख्या शुद्ध निश्चयनय, विशुद्ध परामार्थिक दृष्टि से ही सम्भव है। वस्तुतः तो वह अवाच्य एवं निर्विकल्प अवस्था है।

दूसरी ओर नैतिक साध्य पूर्णता की वह स्थिति है कि जब हम उस साध्य की भूमिका पर स्थित होकर विचार करते हैं, तो वहाँ साध्य, साधक और साधनापथ का अभेद हो जाता है क्योंकि जब आदर्श उपलब्ध हो जाता है तो आदर्श, आदर्श नहीं रहता और साधक, साधक नहीं रहता, न साधनापथ; साधनापथ ही रहता है। नैतिक पूर्णता की अवस्था में साधक, साध्य और साधनापथ का विभेद टिक नहीं पाता है। यदि साधक है तो उसका साध्य होगा और यदि कोई साध्य है तो फिर नैतिक पूर्णता कैसी? साध्य, साधक और साधना सापेक्षिक पद हैं, यदि एक है तो दूसरा है। साध्य के अभाव में न साधक, साधक होता है और न साधनापथ, साधनापथ। उस अवस्था में तो मात्र विशुद्ध सत्ता है, आत्मा है। यदि पूर्वावस्था की दृष्टि से उपचार रूप में कहना हो, तो कह सकते हैं कि उस दृष्टि से साध्य भी आत्मा है, साधक भी आत्मा है और ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप-साधना पथ भी आत्मा है। तीसरे आचार दर्शन में पारमार्थिक दृष्टि या आन्तरिक नैतिकता की दृष्टि आचरण की शुभाशुता का निर्णय आचरण के बाह्य रूप से नहीं करती वरन् कर्ता के आन्तरिक प्रयोजन अथवा नैतिक साधना के आदर्श के सन्दर्भ में करती है। आचरण का दिखाई देने वाला रूप उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। आचरण के विधि-विधानों से पारमार्थिक या नैश्चयिक आचार का कोई सम्बन्ध नहीं होता है, उसका सम्बन्ध तो विशुद्ध रूप के कर्ता की आन्तरिक मनोवृत्तियों से है।

संक्षेप में नैतिकता की नैश्चयिक दृष्टि का सम्बन्ध वैयक्तिक नैतिकता (Individual morality) है। जैन विचारणा के अनुसार कषायों (अन्तरिक वासनाओं) का सम्बन्ध इसी नैश्चयिक नैतिकता से है। मनुष्य में वासना एवं आसक्ति या तृष्णा की अग्नि जिस मात्रा में शांत होती है, उसी मात्रा में वह नैश्चयिक आचार की दृष्टि से विकास की ओर बढ़ा हुआ माना जाता है। नैश्चयिक नैतिकता में क्रिया या आचरण का महत्व है मनोभावों का नैश्चयिक नैतिकता क्रिया (Doing) या आचरण की अवस्था नहीं, वरन् अनुभूति या साक्षात्कार की अवस्था है। इसमें शुभाशुभत्व का माप इस आधार पर नहीं होता कि व्यक्ति क्या करता है, वरन् इस

आधार पर होता है कि वह अपने परमात्मत्व को कहाँ तक पहचान पाया है। आत्मोपलब्धि (Self realization) या परम तत्त्व (Reality) का साक्षात्कार ही नैतिक जीवन का परमादर्श है और इस आदर्श के सन्दर्भ में मनोभावों का आकलन करना ही परमार्थिक या नैश्चयिक नैतिकता का प्रमुख कार्य है। व्यक्ति के आन्तरिक विचलन या संघर्ष को समाप्त कर विकार एवं मनोजगत में सांगसंतुलन या आन्तरिक समत्व को बनाए रखना नैश्चयिक आचारदर्शन का क्षेत्र है।

व्यवहार नैतिकता का स्वरूप

व्यवहारिक नैतिकता का सम्बन्ध आचरण के उन बाह्य विधि-विधानों से है जिनके पालन की नैतिक साधक से अपेक्षा की जाती है। समाजदृष्टि या लोकदृष्टि ही व्यवहारिक नैतिकता के शुभाशुभत्व का आधार है। व्यवहार नैतिकता कहती है कि कार्य चाहे कर्ता के प्रयोजन की दृष्टि से शुद्ध हो, लेकिन यदि वह लोकविरुद्ध या जनसभावना के प्रतिकूल है तो उसका आचरण नहीं करना चाहिए।²⁴

वस्तुतः नैतिकता का व्यवहारदर्शन आचरण को सामाजिक सन्दर्भ में परखता है। यह आचरण शुभाशुभत्व के मापन की समाजसापेक्ष पद्धति है जो व्यक्ति के सम्मुख समाजिक नैतिकता (Social Morality) को प्रस्तुत करती है। इसका परिपालन वैयक्तिक साधना की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना समाज या संघ व्यवस्था की दृष्टि से। यही कारण है वैयक्तिक साधना की परिपूर्णता के पश्चात् भी जैन आचारदर्शन समान रूप से इसके परिपालन को आवश्यक मानता रहा है।

आचरण के सारे विधि-विधान, आचरण की समग्र विविधताएँ, व्यवहार नैतिकता का विषय हैं। व्यवहार नैतिकता (Doing) क्रिया है, अतः आचरण कैसे करना इस तथ्य का निर्धारण करना व्यवहारिक नैतिकता का विषय है। गृहस्थ एवं संन्यास जीवन के सारे विधि-विधान जो व्यक्ति और समाज अथवा व्यक्ति और उसके बाह्य वातावरण के मध्य एक सांग संतुलन को बनाए रखने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं, व्यवहारिक नैतिकता का क्षेत्र है।

नैतिकता के क्षेत्र में व्यवहार दृष्टि के पाँच आधार

व्यवहार दृष्टि से नैतिक समाचरण एक सापेक्ष तथ्य सिद्ध होता है। उसके अनुसार देशकाल, वैयक्तिक, स्वभाव, शक्ति और रुचि के आधार पर आचार के नियमों में परिवर्तन सम्भव है। यदि व्यवहारिक आचार में भिन्नता सम्भव है, तो प्रश्न होता है कि इस बात निश्चय कैसे किया जावे कि किस देश काल एवं परिस्थिति में कैसा आचरण किया जावे? आचरण का बाह्य स्वरूप क्या हो? जैन विचारकों ने इस प्रश्न का गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया है। वे कहते हैं कि निश्चय

दृष्टि से तो संकल्प (अध्यवसाय) की शुभता ही नैतिकता का आधार है, लेकिन व्यवहार के क्षेत्र में शुभत्व और अशुभत्व के मूल्यांकन करने, आचरण के नियमों का निर्धारण करने के पाँच आधार हैं और इन्हीं पाँच आधारों पर व्यवहार के भी पाँच भेद होते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन पाँच आधारों में पूर्वापरत्व का क्रम भी है और पूर्व में आचरण के हेतु निर्देशन की उपलब्धि होते हुए भी पर (निम्न) का उपयोग करना भी नैतिकता है।

(1) आगम-व्यवहार

किसी देश-काल एवं वैयक्तिक परिस्थिति में किसी प्रकार का आचरण करना इसका प्रथम निर्देश हमें आगम ग्रन्थों में मिल जाता है, अतः आचरण के क्षेत्र में प्रथमतः आगमों में वर्णित नियमों के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। यही आगम-व्यवहार है।

(2) श्रुत-व्यवहार

श्रुत शब्द के दो अर्थ होते हैं- 1 अभिधारण और 2 परम्परा। जब किसी विशेष परिस्थिति में कैसा समाचरण किया जावे, इसके सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता हो या आगम अनुपलब्ध हो, ऐसी स्थिति में कर्तव्य क्या है? इसका निर्णय इस सम्बन्ध में जो पूर्वाचार्यों से सुन रखा हो उसके आधार पर करना चाहिए अथवा प्राचीन समय में ऐसी विशेष परिस्थिति में कैसा व्यवहार किया गया था या परम्परा क्या थी, इसके आधार पर करना चाहिए। (परम्परायामपि विभाषा कर्तव्याः)

(3) आज्ञा-व्यवहार

किसी देश काल एवं वैयक्तिक वैभिन्य के आधार पर उत्पन्न विशेष परिस्थिति में किस प्रकार का समाचरण करना इसके सम्बन्ध में न तो आगमों में स्पष्ट निर्देशन हो, न परम्परा या पूर्वाचार्यों के अनुभव ही कुछ बता पाते हों तो ऐसी स्थिति में कर्तव्य का निश्चय अपने से वरिष्ठजनों की आज्ञा के आधार पर ही करना चाहिए। वरिष्ठजनों, गुरुजनों अथवा देशकाल आदि परिस्थितियों से विज्ञ विद्वान (गीतार्थ) की आज्ञा के अनुरूप आचरण करना आज्ञा-व्यवहार है।

(4) धारणा-व्यवहार

यदि परिस्थिति ऐसी हो कि जिसके सम्बन्ध में न तो आगमों में स्पष्ट निर्देश मिल रहा हो, न पूर्व परम्परा ही कुछ बता पाने में समर्थ हो और न निकट में कोई देश-काल विज्ञ वरिष्ठजन ही हो, न इतना समय ही हो कि किसी दूरस्थ विज्ञ एवं गुरुजन से कोई निर्देश प्राप्त किया जा सके, ऐसी स्थिति में किकर्तव्य या कर्म शुभाशुभता का निश्चय स्व-विवेक से करना चाहिए। स्व-विवेकबुद्धि से निश्चित किए हुए कर्तव्यपथ पर आचरण करना धारणा-व्यवहार है।

(5) जीत-व्यवहार

यदि परिस्थिति ऐसी हो कि जिसमें किकर्तव्य या कर्म की शुभाशुभता के निश्चय का उपरोक्त कोई भी साधना सुलभ न हो और स्व-बुद्धि भी कुण्ठित हो गई हो अथवा कोई निर्णय देने में असमर्थ हों वहाँ पर लोकरूढ़ि के अनुसार आचरण करना चाहिए। यह लोकरूढ़ि के अनुसार आचरण करना जीत-व्यवहार है।

यहाँ सम्भवतः एक आक्षेप जैन विचारणा पर किया जा सकता है, वह यह है कि, आगम, श्रुत, एवं आज्ञा के पश्चात् स्व-विवेक को स्थान देकर मानवीय बुद्धि के महत्व का समुचित अंकन नहीं किया गया है। लेकिन यह मान्यता भ्रान्त है। वस्तुतः बुद्धि के जिस रूप को निम्न स्थान दिया गया है वह बुद्धि का वह रूप है जिसमें वासना या राग-द्वेष की उपस्थिति की सम्भावना बनी हुई है। सामान्य साधक जो वासनात्मक जीवन या राग द्वेष के ऊपर नहीं उठ पाया उसके स्व-विवेक के द्वारा किकर्तव्य मीमांसा में गलत निर्णय की सम्भावना बनी रहती, बुद्धि की इस अपरिपक्व दशा में यदि स्व-निर्णय का अधिकार प्रदान कर दिया जावे तो यथार्थ कर्तव्यपथ से च्युति की सम्भावना ही अधिक होती है। यदि मूल शब्द धारणा को देखें तो यह अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है। धारणा शब्द विवेक-बुद्धि या निष्पक्ष की अपेक्षा आग्रह-बुद्धि का सूचक है और आग्रह-बुद्धि में स्वार्थपरायणता या रूढ़ता के भाव ही प्रबल होते हैं, अतः ऐसी आग्रह बुद्धि को किकर्तव्यमीमांसा में अधिक उच्च स्थान प्रदान नहीं किया जा सकता। साथ ही, यदि धारणा या स्व-विवेक को अधिक महत्व दिया जावेगा तो नैतिक प्रत्ययों की सामान्यता या वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जायेगी और नैतिकता के क्षेत्र में वैयक्तिकता का स्थान ही प्रमुख हो जावेगा। दूसरी ओर यदि हम देखें तो आज्ञा, श्रुत और आगम भी अबौद्धिक नहीं हैं वरन् उनमें क्रमशः बुद्धि की उज्ज्वलता या निष्पक्षता ही बढ़ती जाती है। आज्ञा देने के योग्य जिस गीतार्थ का निर्देश जैनागमों में किया गया है वह एक ओर देश, काल या परिस्थिति को यथार्थ रूप में समझता है, दूसरी ओर आगम ग्रन्थों का मर्मज्ञ भी होता है। वस्तुतः वह आदर्श (आगमिक आज्ञाएँ) एवं यथार्थ (वास्तविक परिस्थितियाँ) के मध्य समन्वय कराने वाला होता है। वह यथार्थ को दृष्टिगत रखते हुए आदर्श को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उस आदर्श को यथार्थ बनाया जा सके। गीतार्थ की आज्ञा नैतिक जीवन का एक ऐसा सत्य है जिसका आदर्श बनने की क्षमता रखता है। सरल शब्दों में कहें तो गीतार्थ की आज्ञाओं का पालन सदैव ही सम्भव होता है क्योंकि वे देश, काल एवं व्यक्ति की परिस्थिति को ध्यान में रख कर दी जाती है। श्रुत एवं आगम-परम्परा के उज्ज्वलतम आदर्शों को तथा उच्च एवं निष्पक्ष बुद्धिसम्पन्न महापुरुषों के निर्देशों को साधक के सामने प्रस्तुत करते हैं, जिनकी बौद्धिकता का महत्व सामान्य साधक की अपेक्षा सदैव ही अधिक होता है।

आचारदर्शन के क्षेत्र में नैश्चयिक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोणों की तुलना एवं समालोचना

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त नैश्चयिक दृष्टि (पारमार्थिक दृष्टि) की अपेक्षा आचारलक्षी नैश्चयिक दृष्टि की यह विशेषता है कि जहाँ तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में नैश्चयिक दृष्टि प्रतिपादित सत्ता (परम तत्त्व) का स्वरूप विभिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न है वहाँ आचारलक्षी नैश्चयिक दृष्टि से प्रतिपादित निश्चय आचार (पारमार्थिक नैतिकता) सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में एक रूप ही है। आचरण के नियमों का बाह्यपक्ष या आचरण की शैली भिन्न-भिन्न होने पर भी उसका आन्तरिक पक्ष या लक्ष्य सभी दर्शनों में समान है। विभिन्न मोक्षलक्षी दर्शनों से नैतिक आदर्श, मोक्ष का स्वरूप, तत्त्वदृष्टि भिन्न होते हुए भी लक्ष्य दृष्टि से एक ही है और इसी हेतु की एकरूपता के कारण आचरण का नैश्चयिक स्वरूप भी एक ही है। पं. सुखलाल जी लिखते हैं 'यद्यपि जैनतर सभी दर्शनों में निश्चयदृष्टि-सम्मत तत्त्वनिरूपण एक नहीं है तथापि सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में निश्चयदृष्टि-सम्मत आचार व चरित्र एक ही है, भले ही परिभाषा या वर्गीकरण आदि भिन्न हो।'²⁵

जहाँ तक जैन और बौद्ध आचारदर्शन की तुलना का प्रश्न है, दोनों ही काफी निकट हैं। बौद्धदर्शन भी मोक्षलक्षी दर्शन है, वह समस्त नैतिक समाचरण का मूल्यांकन उसी के आधार पर करता है। उसकी नैतिक विवेचना का सार चार आर्य सत्त्यों की धारणा में समाया हुआ है। उसके अनुसार दुःख है, दुःख का कारण (दुःख समुदय) है, दुःख के कारण का निराकरण सम्भव है और दुःख के कारण के निराकरण का मार्ग है। बौद्धदर्शन के इन चार आर्य सत्त्यों को दूसरे शब्दों में कहे तो बन्धन (दुःख) और बन्धन (दुःख) का कारण और बन्धन से विमुक्ति (मोक्ष) और बन्धन से विमुक्त का मार्ग इन्हीं चार बातों को जैन नैतिकता में क्रमशः बंध, आश्रव, मोक्ष और संवरनिर्जरा कहा गया है। जैन विचारणा का बंध बौद्ध विचारणा का दुःख है, आश्रव उस दुःख का कारण है, मोक्ष दुःख विमुक्ति है और संवर-निर्जरा दुःख-विमुक्ति का मार्ग है।

निश्चय और व्यवहार में महत्वपूर्ण कौन?

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि नैश्चयिक आचार अथवा नैतिकता के आन्तरिक स्वरूप और व्यवहारिक आचार या नैतिक आचरण के बाह्यस्वरूप में महत्वपूर्ण कौन है?

जैनदर्शन की दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि यद्यपि साधक की वैयक्तिक दृष्टि से नैतिकता का आन्तरिक पहलू महत्वपूर्ण है, लेकिन फिर भी सामाजिक दृष्टि से आचरण के बाह्य पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती। जैन

नैतिकता यह मानकर चलती है कि यथार्थ नैतिक जीवन में नैश्चयिक आचार और व्यवहारिक आचरण में एकरूपता होती है, आचरण के आन्तर एवं बाह्य पक्षों में कोई अन्तर नहीं होता । विशुद्ध मनोभाव की अवस्था में अनैतिक आचरण सम्भव ही नहीं होता । यही नहीं वह नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के पश्चात् भी साधक को संघर्ष के बाह्य नियमों के समाचरण को यथावत करते रहने का विधान करती है । जैसे नैतिकता कहती है कि यदि शिष्य नैतिक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है और आचार्य उस पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाया हो, फिर भी संघमर्यादा के लिए शिष्य को गुरु की यथावत सेवा करना चाहिए।²⁶ इस प्रकार वह निश्चय दृष्टि या परमार्थ दृष्टि पर बल देते हुए भी व्यवहार का लोप नहीं करती, मात्र यही नहीं परमार्थ की उपलब्धि पर भी व्यवहार धर्म के यथावत् परिपालन पर आवश्यक बल देती है । गीता और आचरदर्शन भी वैयक्तिक दृष्टि से आचरण के आन्तर पक्ष पर यथेष्ट बल देते हुए भी लोक व्यवहार संचरण या आचरण के बाह्य रूपों के परिपालन को भी आवश्यक मानते हैं । गीता कहती है कि जिस प्रकार सामान्य जन लोकव्यवहार का संचरण करता है उस प्रकार विद्वान भी अनासक्त होकर लोकशिक्षा के हेतु को ध्यान में रखकर लोकव्यवहार का संचरण करते रहें।²⁷ गीता का वर्णाश्रमधर्म और लोकसंग्रह का सिद्धान्त भी इसी का प्रतीक है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नैश्चयिक आचरण या नैतिक जीवन के आन्तरिक स्वरूप का वैयक्तिक दृष्टि से पर्याप्त महत्व होते हुए भी लोकदृष्टि से आचरण के बाह्य पक्ष का महत्व झुठलाया नहीं जा सकता । जैनदृष्टि के अनुसार वास्तविकता यह है कि नैतिकता के आन्तर और बाह्य पक्ष की या नैश्चयिक और व्यवहारिक आचरण की सबलता अपने स्व-स्थान में है । वैयक्तिक दृष्टि से निश्चय या आचरण का आन्तर पक्ष महत्वपूर्ण है, लेकिन समाज दृष्टि के आचरण का बाह्य स्वरूप भी महत्वपूर्ण है, दोनों में कोई तुलना ही नहीं की जा सकती क्योंकि निश्चयलक्षी एवं व्यवहारलक्षी आचरण का महत्व व्यक्तिगत और समाजगत ऐसे दो भिन्न-भिन्न आधारों पर है । दोनों में से किसी एक को भी छोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि व्यक्ति स्वयं में ही व्यक्ति और समाज दोनों ही एक साथ है । महात्मा गांधी के आध्यात्मिक गुरुतुल्य सत्पुरुष श्री राजचन्द्रभाई इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं²⁸ यदि कोई निश्चयदृष्टि अर्थात् नैतिक जीवन में आन्तरिक वृत्तियों को ही महत्व देता है और आचरण की बाह्य क्रियाओं (सद् व्यवहार) का लोप करता है वह साधना से रहित है । वास्तविकता यह है कि तात्त्विक निश्चय दृष्टि को अर्थात् आत्मा असंग, अबद्ध और नित्य सिद्ध है ऐसी वाणी को सुनकर साधन अर्थात् क्रिया को छोड़ना नहीं चाहिए, वरन् परमार्थदृष्टि को आदर्श रूप में स्वीकार करके अर्थात् उस पर लक्ष्य रखकर के बाह्य क्रियाओं का आचरण करते रहना चाहिए । क्योंकि यथार्थ नैतिक जीवन में एकान्त

नैश्चयिक दृष्टि अथवा एकांत व्यवहार दृष्टि अलग-अलग नहीं रहकर, कार्य नहीं करती वरन् एक साथ कार्य करती है। नैतिकता के आन्तरपक्ष और बाह्यपक्ष दोनों ही मिलकर समग्र नैतिक जीवन का निर्माण करते हैं। नैतिकता के क्षेत्र में आन्तर शुभ और बाह्य व्यवहार नैतिक जीवन के दो भिन्न पहलू अवश्य हैं, लेकिन अलग अलग तथ्य नहीं हैं। उन्हें अलग-अलग देखा जा सकता है, लेकिन अलग-अलग किया नहीं जा सकता।' अन्त में हम एक जैनाचार्य के शब्दों में यही कहना चाहेंगे कि-

**निश्चय राखी लक्ष मां, पाले जे व्यवहार ।
ते नर मोक्ष पामशे सदेह नहीं लगार ।।**

संदर्भ -

1. यहाँ द्वित्ववाद को भी अनेक तत्त्ववाद में ही समाहित मान लिया है।
2. लोव्यवहारअभ्युपगमपरा नया व्यवहारनय उच्यते। व्यवहयते इति व्यवहारः।
-अभिधान राजेन्द्र पृ. 1892।
3. निश्चिनोति तत्त्वमिति निश्चयः। -अभिधान राजेन्द्र खण्ड 4, पृ. 1892।
4. अनन्तधर्माध्यासिते वस्तुन्येकांशग्राहको बोध इत्यर्थः।
-अभिधान राजेन्द्र खण्ड 4 पृ. 1853
5. जावइया वयणपहा तावइया चेव होति नय वाया। -सन्मति तर्क 13-47
6. निश्चयव्यवहारयोः सर्वनयान्तर्भावः। -वही, खण्ड 4 पृ. 1853।
7. अंगुत्तरनिकाय, दूसरा निपात (हिन्दी अनुवाद प्रथम भाग, पृ. 62)।
8. हेसत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृति सत्यं सत्यं च परमार्थतः।। - माध्यमिक वृत्ति 492, बोधिचर्या 39।
9. स्वेच्छासमुच्छलदनस्य विकल्पजालामेवं व्यतीत्य महती नयपक्षाक्षणां।
अन्तर्बहिः समरसैकरस स्वभावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रं।
इन्द्रजालमिदमेव मुच्छलतुष्कलौच्यविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः।।
-समयसार टीका, कलश 90-91
10. शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तान्, साध्यान् बभाषिरे।। -माध्याः 13.8
शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञात्यर्थं न तु कथ्यते। -माध्याः 22.21
11. आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत्। -गीता 6/25 उत्तरार्ध
प्रशान्त मनसं ह्याने योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्त रजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।। -गीता 6/27
12. जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तहु ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।।
(यथा नापि शक्यो नार्या नार्यभाषां बिना ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण बिना परमार्थोपदेशनमशक्यम्) -समयसार-8

13. नान्यया भाषया म्लेच्छ शक्यो ग्राहीयेतु यथा ।
न लोकिक्मुते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ॥
व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।
परमार्थमनागम्य निर्वणं नाधिगम्यते ॥
14. दर्शन और चिन्तन पृ.-500
15. जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि व्यवहारणय भण्णिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धं हवइ कम्मं ॥
कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाणपक्खं ।
पक्खत्तिककंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥
-समयसार 141/142 (संस्कृत टीकावाली प्रति से)
16. अथ पुनर्बहुव्यक्तेरनेक विशेषस्याभेदता भेदराहित्यं तदपि निश्चयविषयम्, द्रव्य पदार्थस्य यन्मैर्मल्यं निश्चय विषयम्, नैर्मल्यं तु विमलपरिणतिः बाह्यनिरपेक्ष परिणामः सोऽपि निश्चयानुअर्था बोद्धव्यः ।
-अभि. रा. 4/2056
17. अण्ण निरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ ।
(अन्य निरपेक्षो यः परिणामः स स्वभावपर्यायः) -नियमसार 28
18. बाह्य निरपेक्षपरिणामः(जैन विचारणा में परिणाम शब्द मन-दशाओं का सूचक होता है)
-अभिधानराजेन्द्र, खण्ड 4, पृ.-2056
19. दर्शन और चिन्तन, भाग 2, पृ.-499
20. बाह्यस्य आभ्यन्तरत्वं -अभिधान राजेन्द्र, खण्ड 4 पृ. - 2056
21. दर्शन और चिन्तन, भाग 2 पृ. - 499
22. व्यवहारा जनोदितम् (लोकाभिमतमेव व्यवहारः) -अभिधान राजेन्द्र खण्ड 4 पृ. -2956
23. क्षेत्र कालं प्राप्ययो यथा सम्भवति तेन तथा व्यवहारणीयम्
- अभिधान राजेन्द्र खण्ड 4 - पृ. 107
24. यद्यपि शुद्धं तदपि लोकविरुद्धं न समाचरेत् ।
25. दर्शन और चिन्तन, भाग 2 पृ.-498
26. जे सदगुरु उपदेशयी पाम्यो केवलज्ञानं ।
गुरु रत्ना छद्मस्थ पण विनय करे भगवान् ॥ -आत्मसिद्धि शास्त्र 19
27. गीता 3/25
28. लह्यं स्वरूप न वृत्ति नुं ग्रह्यु व्रत अभिमान ।
ग्रेह नहीं परमार्थने लेया लौकिक मान ॥ 28
अथवा निश्चय नय ग्रहे मात्र शब्दनी मांय ।
लोपे सद्व्यवहारने साधन रहित थाय ॥ 29
निश्चय वाणी सांभली साधन तजवां नोय ।
निश्चय राखी लक्षमां साधन करवां सोय ॥ 31
नय निश्चय एकांत थी आमां नयी कहेल ।
एकांते व्यवहार नहीं वन्ने सपि रहेल ॥ 32 ॥

- आत्मसिद्धि शास्त्र (राजेन्द्रभाई)



सप्तभंगी : प्रतीकात्मक और त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में

अनेकान्त, स्याद्वाद, नयवाद और सप्तभंग एक दूसरे से इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि उन्हें प्रायः समानार्थक मान लिया जाता है जबकि उनमें आधारभूत भिन्नताएं हैं, जिनकी अवहेलना करने पर अनेक भ्रान्तियों का जन्म होता है। अनेकान्त वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता का सूचक है तो स्याद्वाद ज्ञान की सापेक्षिकता एवं उसके विविध आयामों का। अनेकान्त का सम्बन्ध तत्व मीमांसा है, तो स्याद्वाद का सम्बन्ध ज्ञान मीमांसा। जहां तक सप्तभंगी और नयवाद का प्रश्न है, सप्तभंगी अनेकान्तिक वस्तु तत्व के सापेक्षिक ज्ञान की निर्दोष भाषायी अभिव्यक्ति का ढंग है, तो नयवाद कथन को अपने यथोचित सन्दर्भ में समझने या समझाने की एक दृष्टि है। प्रस्तुत निबन्ध में हमारा उद्देश्य केवल प्रतीकात्मक और त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में सप्तभंगी की समीक्षा तक सीमित है; अतः इन सब प्रश्नों पर विस्तृत विवेचना यहां सम्भव नहीं है। सप्तभंगी स्याद्वाद की भाषायी अभिव्यक्ति के सामान्य विकल्पों को प्रस्तुत करती है। हमारी भाषा विधि-निषेध की सीमाओं से घिरी हुई है ‘है’ और ‘नहीं है’ हमारे कथनों के दो प्रारूप हैं, किन्तु कभी-कभी हम अपनी बात को स्पष्टतया ‘है’ (विधि) और ‘नहीं है’ (निषेध) की भाषा में प्रस्तुत करने में असमर्थ होते हैं अर्थात् सीमित शब्दावली की यह भाषा हमारी अनुभूति को प्रकट करने में असमर्थ होती है, ऐसी स्थिति में हम तीसरे विकल्प अवाच्य या अवक्तव्य का सहारा लेते हैं अर्थात् शब्दों के माध्यम से ‘है’ और ‘नहीं है’ की भाषायी सीमा में बांधकर उसे कहा नहीं जा सकता है। इस प्रकार विधि, निषेध और अवक्तव्य सम्बन्धी भाषायी अभिव्यक्ति के तीन मूलभूत प्रारूपों और गणित शास्त्र के संयोग नियम (Law of combination) से बनने वाले उनके सम्भावित संयोगों के आधार पर सप्तभंगी के स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि भंगो का निर्माण किया गया है, किन्तु उसका प्राण तो स्यात् शब्द की योजना में ही है। अतः सप्तभंगी सम्यक् अर्थ को समझने के लिए सबसे पहले स्यात् शब्द के वास्तविक अर्थ और उद्देश्य का निश्चय करना होगा।

स्यात् शब्द का अर्थ विश्लेषण

सप्तभंगी के प्रत्येक भंग के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाले स्यात् शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में जितनी भ्रान्ति दर्शनिकों में रही है, सम्भवतः उतनी अन्य किसी शब्द के सम्बन्ध में नहीं है। संस्कृत भाषा में स्यात् शब्द का प्रयोग अनेक रूपों में मिलता है। कहीं विधि लिंग की क्रिया के रूप में तो कहीं प्रश्न के रूप में और कहीं उसका प्रयोग कथन की अनिश्चयात्मकता की अभिव्यक्ति करने के लिए भी होता है। इन्हीं आधारों पर विद्वानों ने स्यात् शब्द के हिन्दी भाषा में “शायद”, “सम्भवतः”, “कदाचित्” और अंग्रेजी भाषा में Some, how, maybe, probable आदि अनिश्चयात्मक एवं संशयपरक अर्थ किये हैं। यद्यपि यह सही है कि किन्हीं सन्दर्भों में स्यात् शब्द का अर्थ कदाचित्, शायद् सम्भवतया आदि होता है, किन्तु मूल प्रश्न यह है कि क्या जैन विचारकों ने उसका इस अर्थ में प्रयोग किया है? सर्व प्रथम तो हमें यह जान लेना चाहिए कि जैन परम्परा में अनेक शब्दों का प्रयोग उनके प्रचलित अर्थ में न होकर विशिष्ट पारिभाषिक अर्थों में हुआ है, उदाहरण के लिए धर्म शब्द का धर्म द्रव्य के रूप में प्रयोग। यदि विद्वानों ने जैन परम्परा के मूल ग्रन्थों को देखने का प्रयास किया होता तो उन्हें यह स्पष्ट हो जाता कि जैन परम्परा में ‘स्यात्’-शब्द का क्या अर्थ है। समंतभद्र, अमृतचन्द्र, मल्लिषेण आदि सभी जैन दार्शनिकों ने स्यात् शब्द को अनेकान्तता का द्योतक, विवक्षा या अपेक्षा का सूचक तथा कथाचित् अर्थ का प्रतिपादक माना। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन दार्शनिकों ने स्यात् शब्द का संशयपरक एवं अनिश्चयात्मक अर्थ में प्रयोग नहीं किया है। मात्र इतना ही नहीं; वे इस सम्बन्ध में भी सजग थे कि स्यात् शब्द का संशयपरक अर्थ ग्रहण किया जा सकता है, अतः कथन को अधिक निश्चयात्मकता प्रदान करने के लिए सप्तभंगी में स्यात् के साथ “एव” शब्द के प्रयोग की योजना भी की। जैसे-सयादस्त्येव घटः। यद्यपि “एव” शब्द का यह प्रयोग अनेकान्तिक सामान्य वाक्य को सम्यक् ऐकान्तिक विशेष वाक्य के रूप में परिणत कर देता है, फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि जैन तर्कशास्त्र में स्यात् शब्द का प्रयोग अनिश्चयात्माक या संशयपरक अर्थ में न होकर विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में ही हुआ है। किन्तु यह विशिष्ट अर्थ क्या है? सर्वप्रथम जैसा कि सभी प्राचीन जैन आचार्यों ने बताया है कि स्यात् यह “निपात” शब्द वाक्य में अनेकान्त का द्योतक है। (वाक्येष्वनेकान्तद्योती’-आप्त मीमांसा 103)। फिर भी हमें यह स्पष्ट करना होगा कि वाक्य के उद्देश्य, विधेय आदि विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में उसके अनेकान्तद्योती होने का क्या तात्पर्य है? मेरी दृष्टि में स्यात् शब्द के एक होते हुए भी वह वाक्य के उद्देश्य, विधेय और क्रिया (संयोजक) के सन्दर्भ में अलग-अलग तीन अर्थ देता

है। जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यदि हम स्यात् शब्द के बाद के कथन को कोष्टक में रख दें, तो यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी जैसे “स्यात् (आत्मा नित्य है) क्योंकि सप्तभंगी के कथनों का पूर्ण बल तो स्यात् शब्द की योजना में है।” अब कोष्टक हटाने पर इसका रूप होगा स्यात् आत्मा स्यात् नित्य स्यात् है (अस्ति)। अब हम देखें कि स्यात् आत्मा, स्यात् नित्य और स्यात् अस्ति में प्रत्येक के साथ लगा हुआ स्यात् क्या अर्थ देता है।

स्यात् शब्द क्रिया या संयोजक के सन्दर्भ में अनेकान्तिकता का सूचक नहीं हैं क्योंकि अनेकांतिक क्रिया तो अनिश्चय या संशय को ही व्यक्त करेगी। स्यात् को ‘होना’ क्रिया का रूप अथवा अनिश्चय सूचक क्रिया विश्लेषण मानने के कारण ही स्याद्वाद को अनिश्चयवाद, संशयवाद या आत्मविरोधी सिद्धान्त समझने की भूल की जाती रही है। वस्तुतः क्रिया के सम्बन्ध में उसका अर्थ इतना ही है कि विधान या निषेध निरपेक्ष रूप से नहीं हुआ है अर्थात् अप्प अनुक्त एवं अव्यक्त धर्मों का निषेध नहीं हुआ है। यहाँ उसका अर्थ है अविरोधपूर्वक कथन। जिसे हम हिन्दी भाषा में भी शब्द से लक्षित कर सकते हैं। अतः क्रिया के सम्बन्ध से स्यात् का अर्थ है अविरोधी और सापेक्ष कथन। विधेय पद के सम्बन्ध में स्यात् शब्द का अर्थ होगा ‘अनेक में एक’ अर्थात् कथित विधेय उद्देश्य के अनेक सम्भावित विधेयों में एक है। जब हम यह कहते हैं कि स्यात् घड़ा शिशिर ऋतु का बना हुआ है, तो हमारा आशय यह होता है कि घड़े के सम्बन्ध में जिस अनेकों विधेयों का विधान या निषेध किया जा सकता है उसमें यहाँ एक विधेय शिशिर ऋतु का बना हुआ है, इसका विधान किया गया है। एक तर्क वाक्य में एक ही विधेय का विधान या निषेध होता है। यदि हम एकाधिक विधेयों का विधान या निषेध करते हैं तो ऐसी अवस्था में वह एक तर्क वाक्य न होकर, जितने विधेय होते हैं, उतने ही तर्क वाक्य होते हैं। उद्देश्यपद अर्थात् वह वस्तुत्व, जिसके सन्दर्भ में विधेय का विधान या निषेध किया जा रहा है, के सम्बन्ध में स्यात् शब्द अनन्त धर्मात्मकता का सूचक है। इस प्रकार स्यात् शब्द उद्देश्य की अनन्त धर्मात्मकता का विधेय के अनेक में एक होने का तथा क्रिया के अविरोधी और कथन के सापेक्षिक होने का सूचक है। इस प्रकार प्रत्येक सन्दर्भ में उसके अलग-अलग कार्य हैं। वह उद्देश्य के सामान्यत्व (व्यापकता) विधेय के विशेषत्व और क्रिया के सापेक्षत्व का सूचक है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र ने वाक्येषु शब्द का जो प्रयोग किया है उसके आधार पर कोई यह कह सकता है कि स्यात् शब्द को कथन की अनेकान्तता का द्योतक क्यों नहीं माना जाता। मेरा विनम्र निवेदन यह है कि प्रथम तो ऐसी स्थिति में “वाक्येषु” के स्थान पर “वाङ्मयस्य” ऐसा प्रयोग होना था। दूसरे यह कि वाक्य

या कथन अनेकान्तिक नहीं होता अपितु वस्तुतत्त्व एवं उसका ज्ञान अनेकान्तिक होता है। कोई भी कथन नय या विवक्षा से रहित नहीं होता है। अतः प्रत्येक कथन ऐकान्तिक होता है। वह सम्यक् एकान्त होता है। कथन केवल अविरोधी एवं सापेक्षक होते हैं अनेकान्तिक नहीं।

यदि हम स्यात् को कथन की अनेकान्तता का सूचक भी मानें तो यहां कथन की अनेकान्तता से हमारा तात्पर्य मात्र इतना ही होगा कि 'वह (स्यात्) वस्तुत्व (उद्देश्यपद) की अनन्तधर्मात्मकता को दृष्टि में रखकर उसके अनुक्त एवं अव्यक्त धर्मों का निषेध नहीं करते हुए निश्चयात्मक ढंग से किसी एक विधेय का सापेक्षित रूप में किया गया विधान या निषेध है।' किन्तु यदि कथन की अनेकान्तता से हमारा आशय यही हो कि वह उद्देश्य पद के सन्दर्भ में एक ही साथ एकाधिक परस्पर विरोधी का विधान या निषेध है अथवा किसी एक विधेय का एक ही साथ विधान और निषेध दोनों ही है, तो यह धारणा भ्रान्त है और जैन दार्शनिकों का स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार स्यात् शब्द की योजना के तीन कार्य हैं। एक कथन या तर्क वाक्य के उद्देश्य पद की अनन्त धर्मात्मकता को सूचित करना, दूसरा विधेय को सीमित या विशेष करना और तीसरे कथन का सोपाधिक (Conditional) एवं सापेक्ष (Relative) बनाना है। यद्यपि जैन तार्किकों ने स्यात् शब्द के इन अर्थों को इंगित अवश्य किया है तथापि इसमें अपेक्षित स्पष्टता नहीं आ पायी क्योंकि दोनों के लिए एक ही शब्द प्रतीक स्यात् का प्रयोग किया गया था। स्यात् को अनेकान्तता के द्योतक के साथ-साथ विवक्षित अर्थ का विशेषण (गम्यं प्रति विशेषण आप्त मीमांसा 103) एवं कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक (कथंचिदर्थ स्यात् शब्दों निपातः-पंचास्तिकाय टीका) भी माना गया है। अतः उपरोक्त विवेचना अप्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थों के आधार से रहित नहीं है। साथ ही, वह कथन की सोपाधिकता एवं सापेक्षता का भी सूचक है। अनेकान्त का द्योतक होना एवं कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक होना यह दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। अनेकान्त का द्योतक होना यह कथन के उद्देश्य को सामान्य रूप से उसके पूर्ण परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने का सूचक है जबकि कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक होना यह कथन के विधेय सीमित विशेष या आंशिक रूप से ग्रहण करने का सूचक है। स्यात् शब्द उद्देश्य को तो व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करता है, किन्तु जबकि स्यात् के साथ 'असित' तथा एवं शब्द की जो योजना की जाती है तो वह विधेय को आंशिक रूप से ही ग्रहण कर पाती है (स्याच्छब्दादप्यनेकान्त सामान्यस्य विबोधते शब्दान्तर प्रयोग अत्र विशेष प्रतिपत्तये-श्लोकवार्तिक 55)। स्यात् शब्द के इन भिन्न-भिन्न अर्थों की स्पष्टता पर मैं इसलिए बल देना चाहता हूं ताकि इन अलग अर्थों के आधार पर खड़ी हुई प्रमाण

सप्तभंगी और नय सप्तभंगी की भिन्नता को ठीक से समझा जा सके। प्रमाण सप्तभंगी उद्देश्य की अनन्त धर्मात्मकता पर बल देती हैं जबकि नय सप्तभंगी विधेय की सीमितता एवं कथन की सापेक्षता पर बल देती है। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

क्या स्यात् प्रसम्भाव्यता (Possibility) का सूचक है?

आधुनिक त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र के प्रभाव के कारण यह प्रश्न उठा है कि स्यात् शब्द को सम्भाव्यता के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है यद्यपि आधुनिक विचार सम्भाव्यता को उस अनिश्चयात्मक एवं संशयपरक अर्थ में नहीं लेते हैं जैसा कि प्रायः पहले उसे लिया जाता था। पूना विश्वविद्यालय के डा. बारलिंगे एवं डा. मराठे ऐसा सोचते हैं कि स्यात्-सम्भाव्यता का सूचक है। डा. मराठे ने तो इस सम्बन्ध में एक निबन्ध पूना विश्वविद्यालय की जैनदर्शन सम्बन्धी संगोष्ठी (सन् 1976) में प्रस्तुत किया था। मैं भी यहां इस प्रश्न पर गम्भीर विचार तो प्रस्तुत नहीं करूंगा केवल मात्र निर्देशात्मक रूप में कुछ बातें कहना चाहूंगा। वस्तुतः कथन में स्यात् शब्द की योजना का स्पष्ट प्रयोजन यह है कि हमारा कथन वस्तु के अनुक्त और अव्यक्त धर्मों का निषेधक न बने। यहां पर अनुक्त और अव्यक्त इन दोनों के अर्थों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। अनुक्त धर्म वे हैं, जो व्यक्त तो है किन्तु जिनका कथन नहीं किया जा रहा है, जबकि अव्यक्त धर्म में वे हैं जो सत्ता में तो हैं, किन्तु अभिव्यक्त नहीं हो पाये हैं जैसे बीज में वृक्ष की सम्भाव्यता का धर्म। जैन परम्परा की भाषा में इन्हें वस्तु की भावी पर्यायें भी कहा जा सकता है। भगवतीसूत्र में निश्चय और व्यवहार नयों की चर्चा के प्रसंग में महावीर ने यह स्पष्ट किया है कि वस्तु में प्रकट एवं दृश्यमान धर्मों के साथ अव्यक्त एवं गौण धर्मों की सत्ता भी होती है। यदि स्यात् शब्द की योजना का उद्देश्य केवल कथन में अनुक्त धर्मों का निषेध न हो, इतना ही होता तब तो उसे सम्भाव्यता के अर्थ में ग्रहण करना आवश्यक नहीं था, किन्तु यदि स्यात् शब्द के कथन में अव्यक्त धर्मों की सत्ता का भी सूचक है तो प्रसम्भाव्यता के अर्थ में गृहीत किया जा सकता है। किन्तु हमें यह स्पष्ट रूप से ध्यान रखना चाहिए कि आकस्मिकता एवं अकारणता सम्बन्धी सम्भावनाएं जैन दर्शन में स्वीकार्य नहीं हैं क्योंकि वह इस असत् की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता है। यदि सम्भावना का अर्थ 'जो असत् था उसका सत्ता में आना है' तो ऐसी सम्भाव्यता को व्यक्त करना स्यात् शब्द का प्रयोजन नहीं है। जैन दर्शन जिन सम्भाव्यताओं को स्वीकार करता है वे हैं ज्ञान सम्बन्धी सम्भावनाएं, जैसे वस्तु का जो गुण आज हमें ज्ञात नहीं है वह कल ज्ञात हो सकता है, क्षमता सम्बन्धी सम्भावनाएं जैसे जीव में पूर्ण क्षमता है और

अभिव्यक्ति या भावी पर्याय सम्बन्धी सम्भावनाएं जैसे - मनुष्य पशु बन सकता है। सप्तभंगी में स्यात् शब्द की योजना का उद्देश्य यही है कि वस्तुतत्त्व के जिन धर्मों को हम नहीं जान पाये अथवा वस्तुतत्त्व के धर्म सत्ता में तो है, किन्तु प्रकट नहीं है अथवा वस्तुतत्त्व की जो-जो भावी पर्यायें अभी अस्तित्व में न आ पायी हैं, हमारा कथन उनका निषेधक न हो।

स्यात् एक प्रतीक के रूप में

वस्तुतः जैन आचार्यों ने स्यात् का प्रयोग एक ऐसे प्रतीक के रूप में किया है जो कथन को अभ्रान्त और सत्य बना सके। कहा भी है- स्यात्कारः सत्यलांछनः अर्थात् स्यात् सत्य का प्रतीक है। यहां लांछन शब्द उसकी प्रतीकात्मकता को स्पष्ट कर देता है, किन्तु दुर्भाग्य यह है कि उसकी इस प्रतीकात्मकता को न समझ कर तथा उसके शाब्दिक अर्थ को लेकर मुख्यतः उसके आलोचकों ने अनेक भ्रान्तियां खड़ी की हैं। आधुनिक युग में प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र ने हमें जो दृष्टि दी है उसके आधार पर यदि सप्तभंगी की प्रतीकात्मकता को स्पष्ट किया जा सके तो उसके सम्बन्ध से उठने वाले अनेक विरोधाभासों को दूर कर उसे अधिक सुसंगत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक निर्णय प्रस्तुत करता है। सप्तभंगी में 'स्यात् अस्ति' आदि जो सात भंग हैं, वे कथन के तार्किक आकार (Logical Form) मात्र हैं। उनमें स्यात् शब्द कथन की सापेक्षिकता का सूचक है और अस्ति एवं नास्ति कथन के विधानात्मक (Affirmative) और निषेधात्मक (Negative) होने के सूचक हैं। कुछ जैन विद्वान अस्ति को सत्ता की भावात्मकता का और नास्ति को अभावात्मकता का सूचक मानते हैं, किन्तु यह दृष्टिकोण जैन-दर्शन को मान्य नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए जैन-दर्शन में आत्मा भाव रूप है वह अभाव रूप नहीं हो सकता है। अतः हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति अपने आप में कोई कथन नहीं है। अपितु कथन के तार्किक आकार हैं, वे कथन के प्रारूप हैं उन प्रारूपों के लिए अपेक्षा तथा उद्देश्य और विधेय पदों का उल्लेख आवश्यक है। जैसे स्याद् अस्ति भंग का ठोस उदाहरण होगा-द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है। यदि हम इसमें अपेक्षा (द्रव्यता) और विधेय (नित्यता) का उल्लेख नहीं करें और कहें कि स्याद् आत्मा अस्ति तो ऐसे कथन अनेक भ्रान्तियों की जन्म देंगे। जिसका विशेष विवेचन हमने द्वितीय भंग की चर्चा के प्रसंग में किया है। आधुनिक तर्कशास्त्र की दृष्टि से सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक कथन है, जिसे एक हेतुफलाश्रित वाक्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है और सप्तभंगी के प्रसंग में उत्पन्न भ्रान्तियों से बचने के लिए सांकेतिक रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

		अपेक्षाओं से दो अलग 2 कथन हो सकते हैं, किन्तु एक कथन नहीं हो सकता)।
स्यात् अस्ति च अवक्तव्य च ।	$[अ_1 \supset उ_1 वि_1 है. (अ_1 अ_2)$ $[य \supset उ_1 य वक्तव्य है ।$ या $[अ_1 उ_1 वि_1 है 0(अ^{\infty})य \supset उ_1$ $[अवक्तव्य है ।$	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है किन्तु यदि आत्मा की द्रव्य पर्याय दोनों या अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से एक साथ विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है ।
स्यात् नास्ति च अवक्तव्य	$[अ_2 \supset उ_1 वि_1 नहीं है 0(अ_1 अ_2)$ $[य \supset उ_1 अवक्तव्य है ।$ या $[अ_2 \supset उ_1 वि_1 नहीं है 0$ $[(अ^{\infty})य \supset उ_1 अवक्तव्य है ।$	यदि पर्याय की अपेक्षा विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है किन्तु यदि अनन्त अपेक्षा की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा है ।
स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य च	$[अ_1 \supset उ_1 वि_1 है 0 अ_2 \supset उ_1$ $[वि_1 नहीं है 0(अ_1 अ_2)य \supset उ_1$ $[अवक्तव्य है ।$ या $[अ_1 \supset उ_1 वि_1 है 0 अ_2 \supset उ_1 वि_1$ $[नहीं है 0(अ^{\infty})य \supset उ_1$ $[अवक्तव्य है ।$	यदि द्रव्य से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय दृष्टि विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है किन्तु यदि आत्मा नित्य नहीं है किन्तु यदि आत्मा अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है ।

सप्तभंगी के प्रस्तुत सांकेतिक रूप में हमने केवल दो अपेक्षाओं का उल्लेख किया है, किन्तु जैन विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसी चार अपेक्षाएँ मानी है। उनमें भी भाव अपेक्षा व्यापक है, उसमें वस्तु की अवस्थाओं

(पर्यायों) एवं गुणों दोनों पर विचार किया जाता है, किन्तु यदि हम प्रत्येक अपेक्षा की सम्भावनाओं पर विचार करें तो ये अपेक्षाएं भी अनन्त होंगी क्योंकि वस्तुत्व अनन्त धर्मात्मक है। अपेक्षाओं की इन विविध सम्भावनाओं पर विस्तार से विचार किया जा सकता है, किन्तु इस छोटे से लेख में यह सम्भव है।

इस सप्तभंगी का प्रथम भंग “स्यात् अस्ति” है। यह स्वचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु के भावात्मक धर्म या धर्मों का विधान करता है। जैसे अपने द्रव्य की अपेक्षा से यह घड़ा मिट्टी का है, क्षेत्र की अपेक्षा में इन्दौर नगर में बना हुआ है, काल की अपेक्षा से शिशिर ऋतु का बना हुआ है, भाव अर्थात् वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से लाल रंग का है या घटाकार है आदि। इस प्रकार वस्तु के स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, एवं भाव की अपेक्षा से उसके भावात्मक गुणों को विधान करना यह प्रथम “अस्ति” नामक भंग का कार्य है। दूसरा, “स्यात् नास्ति” नामक भंग वस्तुतत्त्व के अभावात्मक धर्म या वस्तु में कुछ धर्मों को अनुपस्थिति या नास्तित्व की सूचना देता है। वह यह बताता है कि वस्तु में स्व से भिन्न पर चतुष्टय का अभाव है। जैसे यह घड़ा ताम्बे का नहीं है, भोपाल नगर में बना हुआ नहीं है, ग्रीष्म ऋतु का बना हुआ नहीं है, कृष्ण वर्ण का नहीं है आदि। मात्र इतना ही नहीं वह भंग इस बात को भी स्पष्ट करता है कि घड़ा-पुस्तक, टेबल, कमल, मनुष्य आदि नहीं है। जहां प्रथम भंग यह कहता है कि घड़ा-घड़ा ही है, वहां दूसरा भंग यह बताता है कि घड़ा घट से इतर अन्य कुछ नहीं है। कहा गया है कि सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च’ अर्थात् सभी वस्तुओं की सत्ता स्व रूप से है पर रूप से नहीं। यदि वस्तु में अन्य वस्तुओं के गुण-धर्मों की सत्ता भी मान ली जावेगी तो फिर वस्तुओं का पारस्परिक भेद ही समाप्त हो जावेगा और वस्तु का स्वस्वरूप ही नहीं रह जावेगा, अतः वस्तु में पर चतुष्टय का निषेध करना द्वितीय भंग है। प्रथम भंग बताता है कि वस्तु क्या है, जबकि दूसरा भंग यह बताता है कि वस्तु क्या नहीं है। सामान्यतया इस द्वितीय भंग को ‘स्यात् नास्ति घटः’ अर्थात् किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है, इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु इसके प्रस्तुतीकरण का यह ढंग थोड़ा भ्रान्तिजनक अवश्य है, स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि प्रथम भंग में घट के अस्तित्व का जो विधान किया गया था, उसी का द्वितीय भंग में निषेध कर दिया गया है और ऐसी स्थिति में स्याद्वाद को सन्देहवाद या आत्म विरोधी कथन करने वाला सिद्धान्त समझ लेने की भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। शंकर प्रभृति विद्वानों ने स्याद्वाद की जो आलोचना की थी, उसका मुख्य आधार यही भ्रान्ति है। स्यात् अस्ति घटः और स्यात् नास्ति घटः में जब स्यात् शब्द को दृष्टि से ओझल कर या उसे सम्भावना के अर्थ में ग्रहण कर ‘अस्ति’ और ‘नास्ति’ पर बल दिया जाता है, तो आत्म विरोध का

आभास होने लगता है। जहां तक मैं समझ पाया हूं स्याद्वाद का प्रतिपादन करने वाले किसी भी आचार्य की दृष्टि से द्वितीय भंग का कार्य प्रथम भंग में स्थापित किये गये गुणधर्म का उसी अपेक्षा से निषेध करना नहीं है, अपितु या तो प्रथम भंग में अस्ति रूप माने गये गुणधर्म से इतर गुण धर्मों का निषेध करना है अथवा फिर अपेक्षा को बदल कर उसी गुण धर्म का निषेध करना होता है और इस प्रकार द्वितीय भंग के कथन को पुष्ट करता है, खण्डित नहीं।

यदि द्वितीय भंग के कथन को उसी अपेक्षा से प्रथम भंग का निषेधक या विरोधी मान लिया जावेगा तो निश्चय यह सिद्धान्त संशयवाद या आत्मविरोध के दोषों से ग्रस्त हो जावेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि प्रथम भंग में स्यादस्त्येव घटः का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा है और द्वितीय भंग में “स्यान्नास्त्येव घटः” का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है ऐसा करेंगे तो आभासी रूप से ऐसा लगेगा कि दोनों कथन विरोधी हैं। क्योंकि इन कथनों के भाषायी स्वरूप से ऐसा आभास होता है कि इन कथनों में घट के अस्तित्व और नास्तित्व को ही सूचित किया गया है। जबकि जैन आचार्यों की दृष्टि में इन कथनों का बल उनमें प्रयुक्त ‘स्यात्’ शब्द में ही है, वे यह नहीं मानते हैं कि द्वितीय भंग प्रथम भंग में स्थापित सत्य का प्रतिषेध करता है। दोनों भंगों में घट के सम्बन्ध में जिनका विधान या निषेध किया गया है वे अपेक्षाश्रित धर्म हैं न कि घट का स्वयं का अस्तित्व या नास्तित्व। पुनः दोनों भंगों के ‘अपेक्षाश्रित धर्म’ एक नहीं है, भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम भंग में जिन अपेक्षाश्रित धर्मों का विधान है, वे अन्य अर्थात् स्वचतुष्टय के हैं और द्वितीय भंग में जिन अपेक्षाश्रित धर्मों का निषेध हुआ है वे दूसरे अर्थात् पर चतुष्टय के हैं। अतः प्रथम भंग के विधान और द्वितीय भंग के निषेध में कोई आत्म विरोध नहीं है। मेरी दृष्टि में इस भ्रान्ति का मूल कारण प्रस्तुत वाक्य में उस विधेय पद (Predicate) के स्पष्ट उल्लेख का अभाव है, जिसका कि विधान या निषेध किया जाता है। यदि “नास्ति” पद को विधेय स्थानीय माना जाता है, तो पुनः यहां यह भी प्रश्न उठ सकता है कि जो घट अस्ति रूप है, वह नास्ति रूप कैसे हो सकता है? यदि यह कहा जावे कि पर द्रव्यादि की अपेक्षा से घट नहीं है, किन्तु पर द्रव्यादि घट के अस्तित्व के निषेधक कैसे बन सकते हैं?

यद्यपि यहां पूर्वाचार्यों का मन्तव्य स्पष्ट है कि वे घट का नहीं अपितु घट में पर द्रव्यादि का ही निषेध करना चाहते हैं। वे कहना यह चाहते हैं कि घट पद नहीं है या घट में पद आदि के धर्म नहीं हैं, किन्तु स्मरण रखना होगा कि इस कथन में प्रथम और द्वितीय भंग में अपेक्षा नहीं बदलती है। यदि प्रथम भंग में यह कहा जावे कि घड़ा मिट्टी का है और दूसरे भंग में यह कहा जावे कि घड़ा पीतल का

नहीं है, तो दोनों में अपेक्षा एक ही है अर्थात् दोनों कथन द्रव्य की या उपादान की अपेक्षा से है। अब दूसरा उदाहरण लें। किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य है, किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य नहीं है, यहाँ दोनों भंगों में अपेक्षा बदल जाती है। यहाँ प्रथम भंग में द्रव्य अपेक्षा से घड़े की नित्य कहा गया है और दूसरे भंग में पर्याय की अपेक्षा से घड़े को नित्य नहीं कहा गया है। द्वितीय भंग के प्रतिपादन के ये दोनों रूप भिन्न-भिन्न हैं। दूसरे यह कहना कि परचतुष्टय की अपेक्षा से घट नहीं है या पट की अपेक्षा घट नहीं है, भाषा की दृष्टि से थोड़ा भ्रान्तिजनक अवश्य है क्योंकि परचतुष्टय वस्तु की सत्ता निषेधक नहीं हो सकता है। वस्तु में परचतुष्टय अर्थात् स्व भिन्न पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अभाव तो होता है, किन्तु उनकी अपेक्षा वस्तु का अभाव नहीं होता है। क्या यह कहना कि कुर्सी की अपेक्षा टेबल नहीं है या पीतल की अपेक्षा यह घड़ा नहीं है, भाषा के अभ्रान्त प्रयोग हैं? इस कथन में जैनाचार्यों का आशय तो यही है कि टेबल कुर्सी नहीं है या घड़ा पीतल का नहीं है। अतः परचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु नहीं है यह कहने की अपेक्षा यह कहना कि वस्तु में परचतुष्टय का अभाव है, भाषा का सम्यक् प्रयोग होगा। विद्वानों से मेरी विनती है कि वे सप्तभंगी के विशेष रूप द्वितीय एवं तृतीय भंग के भाषा के स्वरूप पर और स्वयं उनके आकारिक स्वरूप पर पुनर्विचार करें और आधुनिक तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में उसे पुनर्गठित करें तो जैन न्याय के क्षेत्र में एक बड़ी उपलब्धि होगी। क्योंकि द्वितीय एवं तृतीय भंगों की कथन विधि के विविध रूप परिलक्षित होते हैं। अतः यहाँ द्वितीय भंग के विविध स्वरूपों पर थोड़ा विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। मेरी दृष्टि से द्वितीय भंग के निम्न चार रूप हो सकते हैं-

सांकेतिक रूप

(1) प्रथम भंग - $A_1 \supset U_1 V_1$ है

द्वितीय भंग - $A_2 \supset U_1 V_1$ नहीं है

उदाहरण

प्रथम भंग में जिस धर्म (विधेय) का विधान किया गया है, अपेक्षा बदल कर द्वितीय भंग में उसी धर्म (विधेय) का निषेध कर देना। जैसे-द्रव्य दृष्टि से घड़ा नित्य है, पर्याय दृष्टि से घड़ा नित्य नहीं है।

(2) प्रथम भंग - $A_1 \supset U_1 V_1$ है।

द्वितीय भंग - $A_2 \supset U_1 V_1$ है

यह चिन्ह प्रथम भंग के विधे के विरुद्ध विधेय का सूचक है जैसे नित्य के स्थान पर अनित्य।

उदाहरण

प्रथम भंग में जिस धर्म का विधान किया गया है, अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म (विधेय) का प्रतिपादन कर देना है। जैसे - द्रव्य दृष्टि से घड़ा नित्य है। पर्याय दृष्टि से घड़ा अनित्य है।

(3) प्रथम भंग - $A_1 \supset U_1$ वि, है।

द्वितीय भंग - $A_1 \supset U_1 \sim$ वि, नहीं है।

उदाहरण

प्रथम भंग में प्रतिपादित धर्म को पुष्ट करने हेतु उसी अपेक्षा से द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म का वस्तु में निषेध कर देना। जैसे-रंग की दृष्टि से यह कमीज नीला है। रंग की दृष्टि से यह कमीज पीला नहीं है।

अथवा

अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में चेतन है। अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा अचेतन नहीं है।

अथवा

उपदान की दृष्टि से यह घड़ा मिट्टी का है। उपदान की दृष्टि से यह घड़ा स्वर्ण का नहीं है।

(4) प्रथम भंग - $A_1 \supset U_1$ है।

द्वितीय भंग - $A_2 \supset U_1$ नहीं है।

उदाहरण

जब प्रतिपादित कथन देश या काल या दोनों के सम्बन्ध में हो तब देश काल आदि की अपेक्षा को बदलकर प्रथम भंग में प्रतिपादित कथन का निषेध कर देना। जैसे-15 अगस्त 1947 के पश्चात् से पाकिस्तान का अस्तित्व है। 15 अगस्त 1947 के पूर्व में पाकिस्तान का अस्तित्व नहीं था।

द्वितीय भंग के उपरोक्त चारों रूप में प्रथम और द्वितीय रूप में बहुत अधिक मौलिक भेद नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जहां प्रथम रूप में एक ही धर्म (विधेय) का प्रथम भंग में विधान और दूसरे भंग में निषेध होता है, वहां दूसरे रूप में दोनों भंगों में अलग-अलग रूप में दो विरुद्ध धर्मों (विधेयों) का विधान होता है। प्रथम रूप की आवश्यकता तब होती है जब वस्तु में एक ही गुण अपेक्षा भेद से कभी उपस्थित रहे और कभी उपस्थित नहीं रहे। इस रूप के लिए वस्तु में दो विरुद्ध युगल का होना जरूरी नहीं है, जबकि दूसरे रूप का प्रस्तुतीकरण केवल उसी स्थिति में सम्भव होता है, जबकि वस्तु में धर्म विरुद्ध युगल हो ही। तीसरा रूप तब बनता है, जबकि उस वस्तु में प्रतिपादित धर्म के विरुद्ध धर्म की उपस्थिति ही न

हो। चतुर्थ रूप की आवश्यकता तब होती है, जबकि हमारे प्रतिपादन में विधेय का स्पष्ट रूप से उल्लेख न हो। द्वितीय भंग के पूर्वोक्त रूपों में प्रथम रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) वही रहता है और क्रिया पद निषेधात्मक होता है। द्वितीय रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध धर्म (विधेय का व्याघात पद) होता है और क्रियापद विधानात्मक होता। तृतीय रूप में अपेक्षा वहीं रहती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध या विपरीत पद रखा जाता है और क्रिया पद निषेधात्मक होता है तथा अन्तिम चतुर्थ रूप में अपेक्षा बदलती है और प्रतिपादित कथन का निषेध कर दिया जाता है।

सप्तभंगी का तीसरा मौलिक भंग अवक्तव्य है, अतः यह विचारणीय है कि इस भंग की योजना का उद्देश्य क्या है? सामान्यतया यह माना जाता है कि वस्तु में एक ही समय में रहे हुए सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि विरुद्ध धर्मों का युगपत् अर्थात् एक साथ प्रतिपादित करने वाला ऐसा कोई शब्द नहीं है। अतः विरुद्ध धर्मों की एक साथ अभिव्यक्ति की शाब्दिक असमर्थता के कारण अवक्तव्य भंग की योजना की गई है, किन्तु अवक्तव्य का यह अर्थ उसका एकमात्र अर्थ नहीं है। यदि हम अवक्तव्य शब्द पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं तो उसके अर्थ में एक विकास देखा जाता है। डा. पद्मराज ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है :

- (1) पहला वेदकालीन निषेधात्मक दृष्टिकोण जिसमें विश्व कारण की खोज करते हुए ऋषि उस कारण तत्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता है, यहां दोनों पक्षों का निषेध है।
- (2) दूसरा औपनिषदिक विधानात्मक दृष्टिकोण जिसमें सत् असत् आदि विरोधी तत्वों में समन्वय देखा जाता है। जैसे: तदेजति तनेजति अणोरणीयान् महतो महीयान्, सदसद्वरेण्यम् आदि। यहां दोनों पक्षों की स्वीकृति है।
- (3) तीसरा दृष्टिकोण जिसमें तत्व को स्वरूपतः अव्यदेशीय या अनिर्वचनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में ही मिलता है। जैसे - 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते, यद्वावाप्सुदित्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्नु शक्यः, आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद की चतुष्टकोटि विनिर्मुक्त तत्व की धारणा में भी बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।
- (4) चौथा दृष्टिकोण जैन न्याय में सापेक्षिक अवक्तव्यता या सापेक्षिक अनिर्वचनीयता के रूप में विकसित हुआ है।

सामान्यतया अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते हैं :

- (1) सत् व असत् दोनों का निषेध करना।
- (2) सत्, असत् और सदसत् तीनों का निषेध करना।
- (3) सत्, असत् सत्-असत् (उभय) और न सत् न असत् (अनुभय) चारों का निषेध करना।
- (4) वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अवक्तव्य मानना अर्थात् यह कि वस्तुतत्त्व अनुभव में तो आ सकता है, किन्तु कहा नहीं जा सकता।
- (5) सत् और असत् दोनों को युगपत् रूप से स्वीकार करना, किन्तु उसके कथन के लिए कोई शब्द होने के कारण अवक्तव्य कहना।
- (6) वस्तुत्व अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है, किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसलिए उसमें जितने धर्म हैं, उतने वाचक शब्द नहीं है। अतः वाचक शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशतः वाच्य और अंशतः अवाच्य मानना।

यहां यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन परम्परा में इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यता जैन परम्परा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् ओर असत् दोनों का युगपत् विवेचन नहीं किया जा सकता है इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है किन्तु यदि हम प्राचीन जैन आगमों को देखें तो अवक्तव्यता का यह अर्थ अन्तिम नहीं कहा सकता है। आचारांग सूत्र में आत्मा के स्वरूप को जिस रूप में वचनगोचर कहा गया है वह विचारणीय है। वहां कहा गया है कि आत्मा ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है। वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है, वहां वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहां तक पहुंच नहीं है, बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता है क्योंकि उसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है, अरूपी सत्तावान है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।¹ इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है। पुनः वस्तुतत्त्व की अनन्त-धर्मात्मकता और शब्द संख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्त्व को अवक्तव्य माना गया है, आचार्य नेमीचन्द्र ने गोमट्टसार में अनभिलाष्य भाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अनुभव में आये वक्तव्य भावों का अनंततां भाग ही कथन किया जाने योग्य है। अतः यह मान लेना उचित नहीं है कि जैन परम्परा में अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

इस प्रकार जैन दर्शन में अवक्तव्य चौथे, पांचवें और छठे अर्थ मान्य रहे हैं। फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष और अवक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता में जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नहीं। अर्थात् वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य तो नहीं है, किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुत्व को पूर्णतया अवक्तव्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान-प्रदान का कोई अर्थ ही नहीं रह जावेगा। अतः जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह अनिर्वचनीय है। सत्ता अंशतः अनिर्वचनीय क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट पांच अर्थों में से पहले दो को छोड़कर अन्तिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है। मेरी दृष्टि में अवक्तव्य भंग का भी एक ही रूप नहीं है, प्रथम तो 'है' और 'नहीं है' ऐसे विधि प्रतिषेध का युगपद् (एक ही साथ) प्रतिपादन सम्भव नहीं है, अतः अवक्तव्य भंग की योजना है। दूसरे निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्त्व का कथन सम्भव नहीं है। अतः वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। तीसरे अपेक्षाएं अनन्त हो सकती हैं, किन्तु अनन्त अपेक्षाओं के युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन सम्भव नहीं है इसलिए भी उसे अवक्तव्य मानना होगा। इसके निम्न तीन रूप हैं :

- (1) $(अ_1 अ_2)^n \supset \text{उ}_1 \text{ अवक्तव्य है।}$
- (2) $\sim \text{अ} \supset \text{उ}_1 \text{ अवक्तव्य है।}$
- (3) $\infty(\text{अ})_y \supset \text{उ}_1 \text{ अवक्तव्य है।}$

सप्तभंगी के शेष चारों भंग संयोगिक हैं। विचार की स्पष्ट अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनका महत्व तो अवश्य है, किन्तु इनका अपना कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं है, वे अपने संयोगी मूल भंगों की अपेक्षा को दृष्टिगत रखते हुए ही वस्तु स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हैं। अतः इन पर विस्तृत विचार अपेक्षित नहीं है।

प्रमाण सप्तभंगी नय सप्तभंगी

जैन तर्कशास्त्र में वाक्य दो प्रकार के माने गये हैं - सफलादेश और विकलादेश। इनमें प्रमाण वाक्य सकलादेश अर्थात् पूर्ण वस्तु स्वरूप के औशिक स्वरूप के ग्राहक माने जाते हैं। प्रमाण वाक्यों को पूर्ण व्यापी और नय वाक्यों को अंशव्यापी वाक्य की सत्यता प्रमाण वाक्य या पूर्ण व्यापी वाक्य पर निर्भर होती है, अतः वे सापेक्ष सत्य हैं जबकि प्रमाण वाक्य स्वतः सत्य है उनकी सत्यता स्वयं वस्तु स्वरूप पर निर्भर है। तर्कशास्त्र की भाषा में प्रमाण वाक्य की सामान्य वाक्य (Universal Proposition) और नय वाक्य को विशेष वाक्य (Particular

Proposition) माना जा सकता है। सिद्धसेन, अभयदेव और शान्ति सूरि ने सप्तभंगी के सप्तभंगी में से केवल तीन मूल भंगों (सत्, असत् और अवक्तव्य) को सकलादेशी और शेष को विकलादेशी माना है जबकि भट्ट अकलंक और यशोविजयजी ने सातों ही भंगों को विवक्षा भेद से सकलादेश और विकलादेश दोनों ही माना है। मेरी दृष्टि से यह दूसरा दृष्टिकोण अधिक समुचित है। इसी आधार पर प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी ऐसा विभाजन भी हुआ है। प्रथम प्रश्न तो यह है कि प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी के अन्तर का आधार क्या है? यदि हम यह मानें कि प्रमाण सप्तभंगी में अभेद दृष्टि से या व्यापक परिप्रेक्ष्य में वस्तु को देखा जाता है और नय सप्तभंगी में भेद दृष्टि या आंशिक परिप्रेक्ष्य में वस्तु को देखा जाता है, तो समस्या यह है कि एक ही प्रकार की वाक्य योजना में दोनों को कैसे अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसलिए जैन आचार्यों ने नयसप्तभंगी में 'एव' शब्द की योजना की है और प्रमाण सप्तभंगी में नहीं की है। किन्तु 'एव' शब्द कथन की निश्चयात्मकता का सूचक है। आधुनिक पाश्चात्य तर्कविदों ने भी सामान्य वाक्यों को अनिश्चित परिमाण वाले और विशेष वाक्यों को निश्चित परिमाण वाले वाक्य माना है, अतः दोनों की संगति बैठ सकती है। परम्परागत पाश्चात्य तर्कशास्त्र में तो सामान्य तर्क वाक्य के लिए 'सब' और विशेष तर्क वाक्य के लिए 'कुछ' शब्दों की योजना की जाती है, किन्तु सप्तभंगी के वाक्यों में ऐसा कुछ भी नहीं है। मेरी दृष्टि में तो स्यात् शब्द के ही दो भिन्न अर्थों के आधार पर ही प्रमाण सप्तभंगी की योजना की गई है। भट्ट, अकलंक ने यह माना है कि स्यात् शब्द सम्यक् अनेकान्त और सम्यक् एकान्त दोनों का सूचक है। अतः जब हम उसे सम्यक् अनेकान्त के रूप में लेते हैं, तो वह प्रमाण सप्तभंगी का और जब सम्यक् एकान्त के रूप में लेते हैं, किन्तु एक ही शब्द का दोहरे अर्थों में प्रयोग भ्रान्ति को जन्म देता है- दूसरे यदि हम 'एव' शब्द का प्रयोग उसके भाषायी अर्थ से अलग हटकर कथन को विशेष या सीमित करने के वाले परिमाणक के अर्थ में करते हैं, तो भी भ्रान्ति की सम्भावना रहती है। उस युग में जब प्रतीकों का विकास नहीं हुआ था तब यह विवशता थी कि अपने वांछित अर्थ के निकटतम अर्थ देने वाले शब्दों को प्रतीक बनाया जावे, किन्तु उससे जो भ्रातियाँ उत्पन्न हुई हैं उन्हें हम जानते हैं। यह आवश्यक है कि हम प्रमाण वाक्य और नय वाक्य को अलग-अलग प्रतीकात्मक स्वरूप निर्धारित कर प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी की रचना करें।

दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि प्रमाण सप्तभंगी में कथन का सम्पूर्ण बल वस्तु तत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता पर होता है जबकि नय सप्तभंगी में कथन की अपेक्षा पर बल दिया जाता है। प्रमाण सप्तभंगी का वाक्य सकलादेशी या पूर्ण

व्यापी होता है जबकि नय सप्तभंगी का विकल्पादेशी या अंशव्यापी होता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में पूर्ण व्यापी वाक्यों के उद्देश्य को व्याप्त और अंशव्यापी वाक्यों के उद्देश्य को अव्याप्त माना जाता है - जैन परम्परा ने भी इन्हें क्रमशः सकलादेशी और विकलादेशी कहकर इस पद - व्याप्ति को स्वीकार किया है। केवल अन्तर यह है कि पारम्परिक तर्क शास्त्र में जहां निषेधित विधेय सदैव ही पूर्ण व्यापी माना जाता है वहां जैन परम्परा में विधेय का विधान और निषेध दोनों ही अंशव्यापी होंगे क्योंकि स्याद्वादी दृष्टि से विधेय निषेध भी निरपेक्ष नहीं होगा। आधुनिक प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की दृष्टि से प्रमाण वाक्य और नय वाक्य का स्वरूप निम्न होगा।

प्रतीक

ध^{००} - अनन्तधर्मात्मकता या अनन्तधर्मी

अ^{००} - अपेक्षाओं की अनन्तता

३ - कम से कम एक

⊃ - अन्तर्भूतता

प्रमाणवाक्य का प्रतीकात्मक स्वरूप

ध^{००} ⊃ अ^{००} ⊃ ३ अ_१ ⊃ ध^{००} उ_१ वि है।

व्याख्या

अनन्तधर्मात्मकता में अनन्त अपेक्षाएं अन्तर्भूत हैं, उनमें कम से कम एक अपेक्षा ऐसी है कि अनन्त धर्मी उद्देश्य 'क' विधेय 'ख' है।

उदाहरण

अनन्तधर्मी आत्मा में अनन्त अपेक्षाएं अन्तर्भूत हैं उसमें से कम से कम एक द्रव्य अपेक्षा ऐसी है कि आत्मा नित्य है।

नय वाक्य

प्रतीकात्मक रूप ३ अ_१ ⊃ उ_१ वि_१ है।

व्याख्या

कम से कम एक अपेक्षा ऐसी है कि उ 'क' वि 'ख' है।

उदाहरण

कम से कम द्रव्य अपेक्षा है कि उसके अनुसार आत्मा नित्य है।

इस प्रतीकीकरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सकलादेशी प्रमाण वाक्यों में बल वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता (सम्भावित मूल्य) पर होता है जबकि विकलादेशी वाक्यों में बल उस अपेक्षा पर होता है जिससे कथन किया जाता है। इन्हीं वाक्यों के आधार पर प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी की रचना की जा सकती है। विस्तार भय से हम उसमें नहीं जाना चाहते हैं।

सप्तभंगी और त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र

वर्तमान युग में पाश्चात्य तर्कशास्त्र के विचारकों में ल्यूकसाइविक ने एक नयी दृष्टि दी है, उसके अनुसार तार्किक निर्णयों में केवल सत्य, असत्य ऐसे दो मूल्य ही नहीं होते, अपितु सत्य, असत्य और सम्भावित सत्य ऐसे तीन मूल्य होते हैं। इसी सन्दर्भ में डॉ. एस.एस वारलिंगे पांडे तथा संगमलाल पाण्डे ने जैन न्याय को त्रिमूल्यात्मक सिद्ध करने के प्रयास क्रमशः जयपुर एवं पूना की एक गोष्ठी में किये थे। यद्यपि जहाँ तक जैन न्याय या स्याद्वाद के सिद्धान्त का प्रश्न है उसे त्रिमूल्यात्मक माना जा सकता है क्योंकि जैन दार्शनिकों ने प्रमाण नय और दुर्नय ऐसे तीन रूप माने हैं, उनमें प्रमाण सत्य का, नय आंशिक सत्य का और दुर्नय असत्य के परिचायक हैं।

पुनः जैन दार्शनिकों ने प्रमाण वाक्य और नय वाक्य ऐसे दो प्रकार के वाक्य मानकर प्रमाण वाक्य को सकलादेश (सुनिश्चित सत्य या पूर्ण सत्य) और नय वाक्य को विकलादेश (सम्भावित सत्य या आंशिक सत्य) कहा है। वाक्य को न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य। अतः सत्य और असत्य के मध्य एक तीसरी कोटि आंशिक सत्य या सम्भावित सत्य मानी जा सकती है। वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता एवं स्याद्वाद सिद्धान्त भी सम्भावित सत्यता के समर्थक हैं क्योंकि वस्तुतत्त्व अनन्त धर्मात्मकता अन्य सम्भावनाओं को निरस्त नहीं करती है और स्याद्वाद उन कथित सत्यता के अतिरिक्त अन्य सम्भावित सत्यताओं को स्वीकार करता है।

इस प्रकार जैन दर्शन की वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता तथा प्रमाण, नय और दुर्नय की धारणाओं के आधार पर स्याद्वाद सिद्धान्त त्रिमूल्यात्मक तर्क शास्त्र (Three Valued Logic) या बहुमूल्यात्मक शास्त्र का समर्थक माना जा सकता है, किन्तु जहाँ तक सप्तभंगी का प्रश्न है उसे त्रिमूल्यात्मक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें नास्ति नामक भंग एवं अवक्तव्य नामक भंग क्रमशः असत्य एवं अनियतता (Flase & Indeterminate) के सूचक नहीं हैं। सप्तभंगी का प्रत्येक भंग सत्य मूल्य सूचक है यद्यपि जैन विचारकों ने प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी के रूप में सप्तभंग के दो रूप माने हैं, उसके आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि प्रमाण सप्तभंगी के सभी भंग सुनिश्चित सत्यता और नय सप्तभंगी के सभी भंग सम्भावित या आंशिक सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। असत्य का सूचक तो केवल दुर्नय ही है। अतः सप्तभंगी त्रिमूल्यात्मक नहीं है। संक्षेप में स्याद्वाद सिद्धान्त की तुलना त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र से निम्न रूप में की जा सकती है।

त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र की त्रयी- 1. निश्चितता 2. सम्भाव्यता 3. असम्भाव्यता

↓ ↓ ↓
सत्य मूल्य आंशिक सत्यमूल्य असत्यमूल्य

जैन दर्शन की त्रयी -

1. प्रमाण 2. नय 3. दुर्नय
↓ ↓ ↓
सत्य मूल्य आंशिक सत्य असत्य मूल्य
 मूल्य

अतः स्याद्वाद त्रिमूल्यात्मक है, किन्तु सप्तभंगी द्विमूल्यात्मक है उसमें असत्य मूल्य नहीं है। उसमें भी प्रमाण सप्तभंगी निश्चित सत्यता की सूचक है और नए सप्तभंगी आंशिक सत्यता की।

संदर्भ -

1. प्राच्य विद्या सम्मेलन कर्नाटक विश्वविद्यालय वाराणसी में सन् 1976 में पठित।

2. सध्वे सरा नियंदृति, तक्का जत्थन विडडाई

मई तत्त न गाहिया उपमा न विज्जई अपयस्य पयं नत्थि।

- आचार्य 1-5-6-17।

3. पण्णवणिगज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पानं।

पण्णवणिज्जाणपुण अणंतभागो सुदनिवडो।।

- गोमट्टसार, जीव, 334



शब्द की वाच्य शक्ति

आत्माभिव्यक्ति प्राणीय प्रकृति

प्रत्येक प्राणी की यह सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी अनुभूति एवं भावनाओं को दूसरे प्राणियों के सम्मुख प्रकट करता है और इस प्रकार दूसरों को भी अपने ज्ञान, अनुभूति और भावना का सहभागी बनाता है। प्राणी ही इसी पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति को उमास्वामि ने तत्त्वार्थ-सूत्र (5/21) में 'परस्परपग्रहो जीवानाम्' नामक सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया है। वस्तुतः यह पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति ही सामाजिक जीवन की आधार-भूमि है। हम सामाजिक हैं क्योंकि हम अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं में दूसरों को सहभागी बनाए बिना अथवा दूसरों की भावनाओं एवं अनुभूतियों में सहभागी बने बिना नहीं रह सकते। यदि किसी व्यक्ति को ऐसे स्थान पर बन्दी बना दिया जाए, जहां उसे जीवन जीने की सारी सुख-सुविधाएं तो उपलब्ध हों, किन्तु वह अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं को अभिव्यक्ति न दे सकें, निश्चय ही ऐसे व्यक्ति को जीवन निस्सार लगने लगेगा और संभव है कि वह कुछ समय पश्चात् पागल होकर आत्महत्या कर ले। मनुष्य ही क्या, पशु-पक्षी भी बिना आत्माभिव्यक्ति के नहीं जी सकते हैं। संक्षेप में आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से दूसरों को अपनी अनुभूति और भावनाओं का सहभागी बनाना और दूसरों की अभिव्यक्तियों के अर्थ को समझकर उनकी अनुभूति और भावनाओं में सहभागी बनना यह प्राणीय प्रकृति है। अब मूल प्रश्न यह है कि यह अनुभूति और भावनाओं का सम्प्रेषण कैसे होता है?

आत्माभिव्यक्ति के साधन

विश्व के समस्त प्राणी अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति या तो शारीरिक संकेतों के माध्यम से करते हैं या ध्वनि संकेतों के द्वारा इन ध्वनि-संकेतों के आधार पर ही बोलियों एवं भाषाओं का विकास हुआ है। विश्व के समस्त प्राणियों में मनुष्य इसी लिए सबसे अधिक सौभाग्यशाली है कि उसे अभिव्यक्ति या विचार-सम्प्रेषण के लिए भाषा मिली हुई है। शब्द प्रतीकों, जो कि सार्थक ध्वनि संकेतों के सुव्यवस्थित रूप हैं, के माध्यम से अपने विचारों एवं भावों के अभिव्यक्ति दे पाना यही उसकी विशिष्टता है। क्योंकि भाषा के माध्यम से मनुष्य

जितनी स्पष्टता के साथ अपने विचारों एवं भावों का सम्प्रेषण कर सकता है, उतनी स्पष्टता से विश्व का दूसरा कोई प्राणी नहीं। उदाहरण के लिए कोई भी व्यक्ति मात्र ध्वनि-संकेत या अंग-संकेत से किसी वस्तु की स्वादानुभूति की अभिव्यक्ति उतनी स्पष्टता से नहीं कर सकता है, जितनी भाषा के माध्यम से कर सकता है। यद्यपि भाषा या शब्द-प्रतीकों के माध्यम से की गई यह अभिव्यक्ति अपूर्ण, आंशिक एवं मात्र संकेत ही होती है, फिर भी अभिव्यक्ति का इससे अधिक स्पष्ट कोई माध्यम खोजा नहीं जा सकता है।

भाषा का स्वरूप

हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के कुछ शब्द प्रतीक बना लिए हैं और भाषा हमारे इन शब्द-प्रतीकों का ही एक सुनियोजित खेल है। संक्षेप में कहें तो हमने उन्हें “नाम” दे दिया है और नामों के माध्यमों से हम अपने भावों, विचारों एवं तथ्य संबंधी जानकारीयों का सम्प्रेषण दूसरों तक करते हैं। उदाहरण के लिए हम कुर्सी शब्द से एक विशिष्ट वस्तु को अथवा “प्रेम” शब्द से एक विशिष्ट भावना को संकेतित करते हैं। मात्र यही नहीं, व्यक्तियों, वस्तुओं, गुणों, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं, एवं भावनाओं के पारस्परिक विभिन्न प्रकार के संबंधों के लिए अथवा उन संबंधों के अभाव के लिए भी शब्द प्रतीक बना लिए गए हैं। भाषा की रचना इन्हीं सार्थक शब्द प्रतीकों के ताने-बाने से हुई। भाषा शब्द-प्रतीकों का वह नियमबद्ध व्यवस्था है, जो वक्ता के द्वारा सम्प्रेषणीय भावों का ज्ञान श्रोता को कराती है।

शब्द एवं भाषा की अभिव्यक्ति सामर्थ्य

यहाँ दार्शनिक प्रश्न यह है क्या इन शब्द-प्रतीकों में भी अपने विषय या अर्थ की अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य है? क्या कुर्सी शब्द कुर्सी नामक वस्तु को और प्रेम शब्द प्रेम नामक भावना को अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत कर सकता है? यह ठीक है कि शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक, अथवा संकेतक, है, किन्तु क्या कोई भी शब्द अपने वाच्य विषय को पूर्णतया अभिव्यक्त करने में सक्षम है? क्या शब्द अपने विषय के समस्त गुण-धर्मों और पर्यायों (अवस्थाओं) का एक समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। यदि हम यह मानते हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक नहीं है तो फिर भाषा की प्रामाणिकता या उपयोगिता सदेहात्मक बन जाती हैं। किन्तु इसके विपरीत यह मानना भी पूर्णतया सही नहीं है कि शब्द अपने अर्थ या विषय का सम्पूर्णता के साथ निर्वचन करने में समर्थ है और अपने वाच्य का यथार्थ चित्र श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। जैन-आचार्यों ने शब्द और उसके अर्थ एवं विषय के संबंध को लेकर एक

मध्यवर्गीय दृष्टिकोण अपनाया है। वे बौद्धों के समान यह मानने के लिए सहमत नहीं हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का संस्पर्श ही नहीं करता है। किन्तु वे मीमांसकों के समान यह भी नहीं मानना चाहते हैं कि शब्द अपने विषय का समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द और उसके द्वारा संकेतित अर्थ या विषय में एक सम्बन्ध तो है, किन्तु वह संबंध ऐसा नहीं है कि शब्द अपने विषय या अर्थ का स्थान ही ले ले। दूसरे शब्दों में शब्द और उनके विषयों में तद्रूपता का सम्बन्ध नहीं है। प्रभाचन्द्र शब्द और अर्थ में तद्रूप संबंध का खण्डन करते हुए कहते हैं। कि मोदक शब्द के उच्चारण से मीठे स्वाद की अनुभूति नहीं होती है, अतः मोदक शब्द और मोदक नामक वस्तु-दोनों भिन्न-भिन्न है। (न्यायकुमुदयन्द्र भाग 2, पृ 536) किन्तु इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि शब्द और उनके विषय अर्थ के बीच कोई संबंध ही नहीं है। शब्द अर्थ या विषय का संकेतक तो है, किन्तु उसका स्थान नहीं ले सकता है। अर्थ बोध की प्रक्रिया में शब्द को अपने अर्थ या विषय का प्रतिनिधि (रिप्रजेन्टेटिव) तो कहा जा सकता है, फिर भी शब्द अपने विषय या अर्थ का हूबहू चित्र नहीं है। जैसे नक्शे में प्रदर्शित नदी वास्तविक नदी की संकेतक तो है, किन्तु न तो वह वास्तविक नदी की संकेतक तो है, किन्तु न तो वह वास्तविक नदी है और उसका हूबहू प्रतिबिंब ही है, वैसे ही शब्द और उनसे निर्मित भाषा भी अपने अर्थ या विषय की संकेतक तो है, किन्तु उसका हूबहू प्रतिबिंब नहीं है। फिर भी वह अपने विषय का एक चित्र श्रोता या पाठक के सम्मुख अवश्य प्रस्तुत कर देता है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञापक और ज्ञाप्य संबंध है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ (विषय) में प्रतिपादक और प्रतिपाद्य संबंध है यद्यपि जैन दार्शनिक शब्द और उसके अर्थ में सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि भाषा के प्रचलन में अनेक बार शब्दों के अर्थ (मीनिंग) बदलते रहे हैं और एक समान उच्चारण के शब्द भी दो भिन्न भाषाओं में भिन्न अर्थ रखते हैं। शब्द अपने अर्थ का संकेतक अवश्य है, किन्तु अपने अर्थ के साथ उसका नित्य तथा तद्रूप संबंध नहीं है। जैन दार्शनिक मीमांसकों के समान शब्द और अर्थ में नित्य तथा तद्रूप सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार हस्त संकेत आदि अपने अभिव्यंजनीय अर्थ के साथ अनित्य रूप से संबंधित होर इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं, उसी प्रकार शब्द संकेत भी अपने अर्थ से अनित्य रूप से संबंधित होकर भी अर्थबोध करा देते हैं। शब्द और अर्थ (विषय) दोनों की विविक्त सत्ताएं हैं। अर्थ में शब्द नहीं है और न आर्थ शब्दात्मक ही है। फिर भी दोनों में एक ऐसा संबंध अवश्य है, जिससे शब्दों में अपने अर्थ के वाचक होने की सीमित सामर्थ्य है। शब्द में अपने अर्थ या विषय का बोध कराने की एक सहज शक्ति होती है, जो उसकी संकेत शक्ति और प्रयोग पर निर्भर करती है।

इस प्रकार शब्द सहज-योग्यता, संकेतक-शक्ति और प्रयोग इन तीन के आधार अपने अर्थ या विषय से संबंधित होकर श्रोता को अर्थबोध करा देता है। जैन-आचार्यों को बौद्धों का यह सिद्धान्त मान्य नहीं है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं है, उनका कथन है कि यदि शब्द का अपने अर्थ के साथ में कोई सम्बन्ध ही नहीं माना जायेगा तो समस्त भाषा-व्यवहार की प्रामाणिकता ही समाप्त हो जाएगी और पारस्परिक अभिव्यक्ति का कोई साधन ही नहीं रहेगा। इसीलिए जैन दार्शनिकों ने शब्द और अर्थ में सापेक्ष एवं सीमित वाच्य-वाचक सम्बन्ध माना है। शब्द अपने विषय का वाचक तो होता किन्तु उसकी समस्त विशेषताओं का सम्पूर्णता के साथ निर्वचन करने में समर्थ नहीं है। शब्दों में अर्थ (विषय) की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य सीमित और सापेक्ष ही है, असीमित या पूर्ण और निरपेक्ष नहीं। “प्रेम” शब्द प्रेम नामक भावना को अभिव्यक्ति तो देता है, किन्तु उसमें प्रेम की अनुभूति की सभी गहराइयाँ समाविष्ट नहीं हैं। प्रेम के विविध रूप हैं। प्रेम-अनुभूति की प्रगाढ़ता के अनेक स्तर हैं। अकेला प्रेम शब्द उन सबका वाचक तो नहीं हो सकता। एक प्रेमी अपनी प्रेयसी से, एक पुत्र अपनी माता से, एक भाई अपने भाई से एक मित्र अपने मित्र से “मैं तुमसे प्रेम करता हूँ” इस पदावली का कथन करते हैं, किन्तु क्या उन सभी व्यक्तियों के संदर्भ में इस पदावली का एक ही अर्थ होगा? वे सब समान पदावली का उपयोग करते हुए भी जिस भाव-प्रवणता की अभिव्यक्ति कर रहे हैं, वह भिन्न-भिन्न ही है। दो भिन्न संदर्भों में और दो भिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही संदर्भ में एक शब्द का एक ही अर्थ नहीं हो सकत है। मात्र यही नहीं, एक ही पदावली के संदर्भ में वक्ता और श्रोता दोनों की भाव-प्रवणता और अर्थ-ग्राहकता भिन्न-भिन्न भी हो सकती है। अर्थ बोध न केवल शब्द-सामर्थ्य पर निर्भर है, अपितु श्रोता की योग्यता पर भी निर्भर है वस्तुतः अर्थबोध के लिए पहले शब्द और उसके अर्थ (विषय) में एक संबंध जोड़ लिया जाता है। बालक को जब भाषा सिखाई जाती है तो शब्द के उच्चारण के साथ उसे वस्तु को दिखाते हैं। धीरे-धीरे बालक उनमें सम्बन्ध जोड़ लेता है और जब भी उस शब्द को सुनता है या पढ़ता है तो उसे उस (विषय) का बोध हो जाता है, अतः अपने विषय का अर्थ बोध का देने की शक्ति भी मात्र शब्द में नहीं, अपितु श्रोता या पाठक के पूर्व संस्कारों में भी रही हुई है अर्थात् वह श्रोता या पाठक की योग्यता पर भी निर्भर है। यही कारण है कि अनसीखी भाषा के शब्द हमें कोई अर्थ बोध नहीं दे पाते हैं। इसीलिए जैन दार्शनिक मीमांस दर्शन के शब्द में स्वतः अर्थबोध देने की सामर्थ्य का खण्डन करते हैं। अनेक प्रसंगों में वक्ता का आशय कुछ और होता है और श्रोता

अर्थ में वाचक-वाच्य सम्बन्ध होते हुए भी वह सम्बन्ध श्रोता या पाठक सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। अन्यथा दो व्यक्तियों के द्वारा एक ही पदावली का भिन्न-भिन्न रूप में अर्थ ग्रहण करना कभी संभव ही नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि अपने विषय का वाचक होने की शक्ति भी सीमित ही है। शब्द शक्ति की सीमितता का कारण यह है कि अनुभूतियों की एवं भावनाओं की जितनी विविधताएं हैं, उतने शब्द नहीं हैं। अपने वाच्य विषयों की अपेक्षा शब्द संख्या और शब्द शक्ति दोनों ही सीमित है। उदाहरण के लिए मीठा शब्द को लीजिए। हम कहते हैं गन्ना मीठा है, गुड़ मीठा है, रसगुल्ला मीठा है, तरबूज मीठा है आदि-आदि। यहां सभी के मीठेपन की अनुभूति के लिए एक शब्द “मीठा” प्रयोग कर रहे हैं, किन्तु हम यह बहुत ही स्पष्ट रूप से जानते हैं कि सबके मीठेपन का स्वाद एक समान नहीं है। तरबूज मीठा है और आम मीठा है, इन दोनों कथनों में “मिठा” नामक गुण एक ही प्रकार की अनुभूति का द्योतक नहीं है। यद्यपि पशुओं के ध्वनि-संकेत और शारीरिक संकेत की अपेक्षा मनुष्य के शब्द-संकेतों में भावाभिव्यक्ति एवं विषयाभिव्यक्ति की सामर्थ्य काफी व्यापक है, किन्तु उसकी भी अपनी सीमाएं हैं भाषा की और शब्द संकेत की इन सीमाओं पर दृष्टिपात करना अति आवश्यक है। क्योंकि विश्व में वस्तुओं, तथ्यों एवं भावनाओं की जो अनन्तता है उसकी अपेक्षा हमारा शब्द-भण्डार अत्यन्त सीमा है। एक “लाल” शब्द को ही लीजिए। वह लाल नामक रंग का वाचक है, किन्तु लालिमा की अनेक कोटियां हैं, अनेक अंश (डिग्रीज) हैं, अनेक संयोग (कोम्बिनेशन) हैं। क्या एक ही “लाल” शब्द भिन्न प्रकार की लालिमाओं का वाचक हो सकता है। एक और उदाहरण लीजिए-एक व्यक्ति जिसने गुड़ के स्वाद का अनुभव किया है, उस व्यक्ति से जिसने कभी गुड़ के स्वाद का अनुभव नहीं किया है जब यह कहता है कि गुड़ मीठा होता है तो क्या श्रोता उससे मीठेपन की उसी अनुभूति को ग्रहण करेगा जिसे वक्ता ने अभिव्यक्त किया है। गुड़ की मिठास की एक अपनी विशिष्टता है उस विशिष्टता का ग्रहण किसी दूसरे व्यक्ति को तब तक ठीक वैसा ही नहीं हो सकता है, जब तक कि उसने स्वयं गुड़ के स्वाद की अनुभूति नहीं की हो। क्यों कि शब्द सामान्य होता है, सत्ता विशेष होती है। सामान्य विशेष का संकेतक हो सकता है, लेकिन उसका समग्र निर्वचन नहीं कर सकता है। शब्द अपने अर्थ (विषय) को मात्र सूचित करता है, शब्द और उसके विषय में तद्रूपता नहीं है, शब्द को अर्थ (मिनिंग) दिया जाता है। इसीलिए बौद्धों ने शब्द को विकल्पयोनि (विकल्पयोनयः शब्दाः न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 537) कहा है। शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक होते हुए भी उसमें और उसके विषय में कोई समानता नहीं है। यहां तक कि उसे अपने विषय

का सम्पूर्ण एवं यथार्थ चित्र नहीं कहा जा सकता। यद्यपि शब्द में श्रोता की चेतना में शब्द और अर्थ के पूर्व संयोजन के आधार पर अपने अर्थ (विषय) का चित्र उपस्थित करने की सामर्थ्य तो होती है, किन्तु वह सामर्थ्य भी श्रोता सापेक्ष है। सत्ता कितनी वाच्य कितनी अवाच्य?

इस प्रकार भाषा या शब्द-संकेत अपने विषयों के अपने अर्थों के संकेतक तो अवश्य हैं, किन्तु उनकी अपनी सीमाएं भी हैं। इसीलिए सत्ता या वस्तु-तत्त्व किसी सीमा तक वाच्य होते हुए भी अवाच्य बना रहता है। वस्तुतः जब जीवन की सामान्य अनुभूतियों और भावनाओं को शब्दों एवं भाषा के द्वारा तरह से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है तो फिर सत्ता के निर्वचन का प्रश्न तो और भी जटिल हो जाता है। भारतीय चिन्तन में प्रारंभ से लेकर आज तक सत्ता की वाच्यता का यह प्रश्न मानव-मस्तिष्क को झकझोरता रहा है। वस्तुतः सत्ता की अवाच्यता का कारण शब्द भण्डार तथा शब्द शक्ति की सीमितता और भाषा का अस्ति और नास्ति की सीमाओं से घिरा होना है। इसीलिए प्राचीनकाल से ही सत्ता की अवाच्यता का स्वर मुखर होता रहा है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि यतो वाचो निर्वर्तन्ते (2/4)- वाणी वहां से लौट आती है, उसे वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है। इसी बात को केनोपनिषद् में “यद्वाचावीयुदितम्” (1/4) के रूप में कहा गया है। कठोपनिषद् में “नेव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यम्” कह कर यह बताया गया है कि परम सत्ता का ग्रहण वाणी और मन के द्वारा संभव नहीं है। माण्डूक्योपनिषद् में सत्ता को अदृष्ट, अव्यवहाग्र, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अवाच्य कहा गया है। जैन-आगम आचारांग का भी कथन है कि “वह (सत्ता) ध्वनयात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है, वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहां वाणी मूक हो जाती है तर्क की वहां तक पहुंच नहीं है, वह बुद्धि का विषय नहीं है। किसी भी उपमा के द्वारा उसे समझाया नहीं जा सकता है अर्थात् उसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती है। वह अनुपम, अरूपी सत्ता है। जिस के द्वारा उसका निरूपण किया जा सके” (आचारांग 1/5/6)।

उपर्युक्त सभी कथन भाषा की सीमितता और अपर्याप्तता को तथा सत्ता की अवाच्यता या अवक्तव्यता को ही सूचित करते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या तत्त्व या सत्ता को किसी भी प्रकार वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है? यदि ऐसा है तो सारा वाक् व्यवहार निरर्थक होगा। श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्र और आगम व्यर्थ हो जायेंगे। यही कारण था कि जैन चिन्तकों ने सत्ता या तत्त्व को समग्रतः (एज ए होल) अवाच्य या अवक्तव्य मानते हुए भी अंशतः या सापेक्षतः वाच्य माना।

क्योंकि उसे अवक्तव्य या वाच्य कहना भी तो एक प्रकार का वचन या वाक् व्यवहार ही है, यहां हमारा वाच्य यह है कि वह अवाच्य है। अतः हमें व्यवहार के स्तर पर उतर कर सत्ता की वक्तव्यता या वाच्यता को स्वीकार करना होगा। क्योंकि इसी पर श्रुतज्ञान एवं आगमों की प्रामाणिकता स्वीकार की जा सकती है।

जैन-आचार्यों ने दूसरों के द्वारा किए गए संकेतों के आधार पर होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। संक्षेप में समस्त आनुविक ज्ञान, मतिज्ञान और सांकेतिक ज्ञान श्रुतज्ञान हैं, श्रुतज्ञान की परिभाषा है- जिस ज्ञान में संकेत-स्मरण है और जो संकेतों के नियत अर्थ को समझने में समर्थ है, वही श्रुतज्ञान है (विशेषावश्यकभाष्य 120 एवं 121)। सामान्यतया श्रुतज्ञान का मुख्य आधार शब्द है, किन्तु हस्तसंकेत आदि अन्य साधनों से होने वाला ज्ञान भी श्रुतज्ञान कहलाता है, क्योंकि श्रुतज्ञान के दो भेद प्रसिद्ध हैं अक्षर-श्रुत और अनक्षर-श्रुत। अक्षरश्रुत के तीन भेद हैं- संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्याक्षर। वर्ण का ध्वनि संकेत अर्थात् शब्द-ध्वनि व्यंजनाक्षर है। वर्ण का आकारिक संकेत अर्थात् लिपि संकेत संज्ञाक्षर है। लिपि संकेत और शब्द-ध्वनि संकेत के द्वारा अर्थ समझने की सामर्थ्य लब्ध्याक्षर है। शब्द या भाषा के बिना मात्र वस्तु संकेत, अंग संकेत अथवा ध्वनि संकेत द्वारा जो ज्ञान होता है वह अनक्षर श्रुत है। इसमें हस्त आदि शरीर के संकेतों, झण्डी आदि वस्तु संकेतों तथा खांसना आदि ध्वनि संकेतों के द्वारा अपने भावों एवं अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया जाता है। संक्षेप में वे सभी सांकेतिक सूचनाएं जो किसी व्यक्ति के ज्ञान, भाव या विचार को सार्थक रूप से प्रकट कर देती हैं और जिसके द्वारा पर (दूसरा) व्यक्ति उनके लक्षित अर्थ का ग्रहण कर देती हैं, श्रुतज्ञान है। चूंकि श्रुतज्ञान प्रमाण है, अतः मानना होगा कि शब्द संकेत या भाषा अपने विषय या अर्थ का प्रामाणिक ज्ञान देने में समर्थ है। दूसरे शब्दों में सत् या वस्तु वाच्य भी है। इस प्रकार जैन-दर्शन में सत्ता या वस्तु तत्त्व को अंशतः वाच्य या वक्तव्य और समग्रतः अवाच्य या अवक्तव्य कहा गया है। यहां यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि इस अवक्तव्यता का भी क्या अर्थ है?

डॉ. पथराजे ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है -

- (1) पहला वेदकालीन निषधात्मक दृष्टिकोण, जिसमें विश्व-कारण की खोज करते हुए ऋषि इस कारण तत्त्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता है यहां दोनों पक्षों का निषेध है। यहां सत्ता की अस्ति (सत्) और नास्ति (असत्) रूप से वाच्यता का निषेध किया गया है।

- (2) दूसरा औपनिषदिक दृष्टिकोण, जिसमें सत्-असत् आदि विरोधी तत्त्वों में समन्वय देखा जाता है। जैसे- “तदेजति तन्नेजति” “अणोरणीयान् महतो महीयान्” सदसद्वैषम्यम्” आदि। यहां दोनों पक्षों की स्वीकृति है। यहां सत्ता को दो विरुद्ध धर्मों से युक्त मानकर उसे अस्ति (है) और नास्ति (नहीं है) रूप भाषा से अवाच्य कहा गया है।
- (3) तीसरा दृष्टिकोण जिसमें तत्त्व को स्वरूपतः अव्यपदेश्य या अनिवर्चनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में ही मिलता है। जैसे- “यतो वाचो निर्वर्तन्ते”, यद्वाचाभ्युदित्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यः आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद की चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व की अवधारणा में भी बहुत इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।
- (4) चौथा दृष्टिकोण जैन-न्याय में सापेक्षित अवक्तव्यता या सापेक्षिता अनिवर्चनीयता के रूप में विकसित हुआ है जिसमें सत्ता को अंशतः वाच्य और समग्रतः अवाच्य कहा गया है।

सामान्यतया अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते हैं -

- (1) सत् वे असत् दोनों रूप से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।
- (2) सत्, असत् सदतत्तीनों रूपों से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।
- (3) सत्, असत् सत्-असत् (उभय) और न सत्- न असत् (अनुभय) चारों रूप से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।
- (4) वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अवक्तव्य या वाच्य मानना। अर्थात् यह कि वस्तुतत्त्व अनुभाव में तो आ सकता है, किन्तु कहा नहीं जा सकता। क्योंकि वह अनुभवगम्य है, शब्दगम्य नहीं।
- (5) सत् और असत् दोनों को युगपद् रूप से स्वीकार करना, किन्तु उसके कथन के लिए कोई शब्द न होने के कारण अवक्तव्य कहना।
- (6) वस्तुतत्त्व अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है, किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसलिए उसमें जितने धर्म हैं, उतने वाचक शब्द नहीं है। अतः शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशतः वाच्य और अंशतः अवाच्य मानना।

यहां यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन-परंपरा में इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यतया जैन परंपरा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् और असत् दोनों का युगपद् विवेचन नहीं किया जा सकता है इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है, किन्तु यदि हम प्राचीन जैन-आगमों को देखें तो अवक्तव्यता का यह अर्थ अंतिम नहीं

कहा जा सकता है। “आचारांगसूत्र” में आत्मा के स्वरूप को वचनागोचर कहा गया है। उस अपद का कोई पद नहीं है, अर्थात् ऐसा कोई पद नहीं है, जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके। इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता पुनः वस्तुतत्त्व को अनन्धर्मात्मकता और शब्द-संख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्त्व की अवक्तव्य माना गया है आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में अनभिलाष्यभाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अनुभव किया जा सकता है। अतः यह मान लेना उचित नहीं है कि जैन परंपरा में अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

इस प्रकार जैनदर्शन में अवक्तव्यता के चौथे, पाँचवें और छठे अर्थ मान्य रहे हैं। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष अवक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता में जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नहीं। वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य या वाच्य तो नहीं, किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य या अवाच्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुतत्त्व को पूर्णतया अवाच्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान-प्रदान का कोई रास्ता ही नहीं रह जायेगा। अतः जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता या अवाच्यता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह निर्वचनीय या वाच्य भी है। सत्ता अंशतः निर्वचनीय है और अंशतः अनिर्वचनीय। क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। इस प्रकार अवक्तव्यता के पूर्व निर्दिष्ट छह अर्थों में से पहले तीन को छोड़कर अन्तिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है।

जैनदर्शन में सप्तभंगी की योजना में एक भंग अवक्तव्य भी है। सप्तभंगी में दो प्रकार के भंग हैं- एक मौलिक और दूसरे संयोगिक। मौलिक भंग तीन हैं- स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति और स्याद् अवक्तव्य शेष चार भंग संयोगिक हैं, जो इन तीन मौलिक भंगों के संयोग से बने हुए हैं। प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य जैन दर्शन में अवक्तव्य या अवाच्य के अर्थ को स्पष्ट करना था। हमने देखा कि सामान्यताया जैन दार्शनिकों की अवधारणा यह है कि वस्तु में एक ही समय में रहे हुए सत्-असत् नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि विरुद्ध धर्मों का युगपद् रूप से अर्थात् एक ही साथ प्रपिादन करना भाषायी सीमाओं के कारण अशक्य है, क्योंकि ऐसा कोई भी क्रियापद नहीं है जो एक ही कथन में एक साथ विधान या निषेध दोनों कर सके। अतः परस्पर विरुद्ध और भावात्मक एवं अभावात्मक धर्मों की एक ही कथन में अभिव्यक्ति की भाषायी असमर्थता को स्पष्ट करने के लिए ही अवक्तव्य भंग की योजना की गई। किन्तु जैन-परंपरा में अवक्तव्य का यही एक मात्र नहीं रहा है।

मेरी दृष्टि में अवक्तव्य या अवाच्यता का भी एक ही रूप नहीं है, प्रथम तो “है” और “नहीं है” ऐसे विधि-प्रतिषेध का युगपद् (एक ही साथ) प्रतिपादन संभव नहीं है, अतः उसे अवक्तव्य कहा गया है। दूसरे निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्त्व का कथन संभव नहीं है, अतः वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। तीसरे अपेक्षाएं अनन्त हो सकती हैं, किन्तु अनन्त अपेक्षाओं से युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन संभव नहीं है, इसलिए भी उसे अवक्तव्य या अवाच्य मानना होगा। चौथे वस्तु में अनन्त विशेष गुण-धर्म हैं, किन्तु भाषा में प्रत्येक गुण-धर्म के वाचक शब्द नहीं हैं, इसलिए वस्तु तत्त्व अवाच्य है। पांचवें वस्तु और उसके गुणधर्म “विशेष” होते हैं और शब्द सामान्य हैं और सामान्य शब्द, विशेष की उस विशिष्टता का समग्रतः वाचक नहीं हो सकता है। इस प्रकार “सत्ता” निरपेक्ष एवं समग्र रूप से अवाच्य होते हुए भी सापेक्षतः एवं अंशतः वाच्य भी है।



जैन वाक्य दर्शन

वाक्य भाषायी अभिव्यक्ति की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। वाक्य की परिभाषा को लेकर विभिन्न दार्शनिकों के विचारों में मतभेद पाया जाता है। प्रस्तुत विवेचन में हम सर्वप्रथम जैन आचार्यों की वाक्य की परिभाषा को स्पष्ट करेंगे और उसके बाद वाक्य की परिभाषा के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिक अवधारणाओं को और उनकी जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षा को प्रस्तुत करेंगे तथा यह देखने का प्रयास करेंगे कि जैन दार्शनिकों ने वाक्य का जो स्वरूप निश्चित किया है, वह किस सीमा तक तर्क-संगत है।

प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में वाक्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि “अपने वाच्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए तक दूसरे की परस्पर अपेक्षा रखनेवाले पदों का निरपेक्ष समूह वाक्य है।”¹ वाक्य की इस परिभाषा से हमारे सामने दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि वाक्य की रचना करने वाले पद अपने वाच्यार्थ का अवबोध कराने के लिए परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु उनसे निर्मित वह वाक्य अपने वाच्यार्थ का अवबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। दूसरे शब्दों में अपना अर्थबोध कराने में वाक्य स्वयं समर्थ होता है किन्तु पद स्वयं समर्थ नहीं होते हैं। जब सापेक्ष या साकांक्ष पद परस्पर मिलकर एक ऐसे समूह का निर्माण कर लेते हैं जिसे अपना अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, तब वाक्य बनता है। संक्षेप में साकांक्ष/सापेक्ष पदों का निरपेक्ष/निराकांक्ष समूह वाक्य है। पदों की सापेक्षता और उनसे निर्मित समूह की निरपेक्षता ही वाक्य का मूल तत्त्व है। वाक्य का प्रत्येक पद दूसरे पद की अपेक्षा रखता है। वह दूसरे के बिना अपूर्ण-सा प्रतीत होता है। अपने अर्थबोध के लिए दूसरे की आकांक्षा या अपेक्षा रखने वाला पद साकांक्ष पद कहलाता है और जितने साकांक्ष पदों को मिलाकर यह आकांक्षा पूरी हो जाती है, वह इकाई वाक्य कही जाती है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार यहाँ वाक्य में प्रयुक्त पद सापेक्ष या साकांक्ष होते हैं, वहाँ उन पदों से निर्मित वाक्य अपना अर्थबोध कराने की दृष्टि से निरपेक्ष या निराकांक्ष होता है। वस्तुतः परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा रखनेवाले सापेक्ष या साकांक्ष पदों को मिलाकर जब एक ऐसे समूह की रचना कर दी जाती

है, जिसे अपने अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, तब वाक्य बन जाता है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार वाक्य में पदों की दृष्टि से सापेक्षता से और पद-समूह की दृष्टि से निरपेक्षता होती है, अतः वाक्य सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह है। इसका तात्पर्य यह है कि वाक्य एक इकाई है जो सापेक्ष या साकांक्ष पदों से निर्मित होकर भी अपने आप में निरपेक्ष होती है। पद वाक्य के आवश्यक अंग हैं और वाक्य इनसे निर्मित एक निरपेक्ष इकाई है। वाक्यखण्डात्मक इकाइयों से रचित एक अखण्ड रचना है।

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने के लिए जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में वाक्यपदीय ये दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें उस काल में प्रचलित वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं का एक परिचय मिल जाता है।

आरण्यतशब्दः संघातो जातिसंघावर्तिनी ।

एकोनवयशब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहति ।।

पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यपि ।

वाक्यं प्रतिमतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम् ।।

वाक्यपदीय -2/1-7

भारतीय दार्शनिकों में वाक्य के स्वरूप को लेकर दो महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। वैयाकरणिकों का मत है कि वाक्य एक अखण्ड इकाई है, वे वाक्य में पद को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। उनके अनुसार, वाक्य से पृथक् पद का कोई अस्तित्व ही नहीं है, जबकि दूसरा दृष्टिकोण जिसका समर्थन न्याय, मीमांसा आदि दर्शन करते हैं, वाक्य को खण्डात्मक इकाइयों अर्थात् शब्दों और पदों से निर्मित मानता है। इनके अनुसार पद वाक्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और अपने आप में एक स्वतन्त्र इकाई है। यद्यपि इस प्रश्न को लेकर कि क्रियापद (आख्यात पद) अथवा उद्देश्यपद आदि में कौन-सा पद वाक्य का प्राण है-इन विचारकों में भी मतभेद पाया जाता है। वाक्यपदीय के आधार पर प्रभाचन्द्र ने वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न मतों का उल्लेख किया है और उनकी समीक्षा की है -

(1) आख्यात पद ही वाक्य है

कुछ दार्शनिकों के अनुसार आख्यातपद या क्रियापद ही वाक्य का प्राण है। वही वाक्य का अर्थ वहन करने में समर्थ हैं। क्रियापद के अभाव में वाक्यार्थ स्पष्ट नहीं; अतः वाक्यार्थ के अर्थबोध में क्रियापद अथवा आख्यातपद ही प्रधान हैं, अन्य पद गौण हैं।

इस मत की समालोचना करते हुए प्रभाचन्द्र लिखते हैं कि आख्यातपद अर्थात् क्रियापद अन्य पदों से निरपेक्ष होकर वाक्य है या सापेक्ष होकर वाक्य है? यदि प्रथम विकल्प के आधार पर यह माना जाये कि आख्यातपद अन्य पदों से निरपेक्ष होकर वाक्य हैं तो यह मान्यता दो दृष्टीकोणों से युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि प्रथम तो अन्य पदों से निपेक्ष होने पर आख्यातपद 'पद' ही रहेगा, 'वाक्य' के स्वरूप को प्राप्त होगा। दूसरे, यदि अन्य पदों से निरपेक्ष आख्यातपद अर्थात् क्रियापद को ही वाक्य माना जाये तो फिर आख्यातपद का ही अभाव होगा क्योंकि आख्यातपद अर्थात् क्रियापद वह है, जो उद्देश्य और विधेयपद के अथवा अपने और उद्देश्यपद के पारस्परिक सम्बन्ध को सूचित करता है। उद्देश्य या विधेयपद से निरपेक्ष होकर तो वह अपना अर्थात् आख्यातपद का स्वरूप ही खो चुकेगा; क्योंकि निरपेक्ष होने से वह न तो उद्देश्यपद और विधेयपद के सम्बन्ध को और न उद्देश्यपद अपने सम्बन्ध को सूचित करेगा। पुनः यदि आख्यातपद अन्य पदों से सापेक्ष होकर वाक्य है, तो वह कथंचित् सापेक्ष होकर वाक्य है या पूर्णतया सापेक्ष होकर वाक्य। इसमें भी प्रथम मत के अनुसार यदि यह माना जाये कि वह कथंचित् सापेक्ष होकर वाक्य है, तो इससे तो जैन मत का ही समर्थन होगा। पुनः यदि दूसरे विकल्प के अनुसार यह माना जाये कि वह पूर्ण सापेक्ष होकर वाक्य है, तो पूर्ण सापेक्षता के कारण उसमें वाक्यत्व का ही अभाव होगा और वाक्यत्व का अभाव होने से उसके प्रकृत अर्थ अर्थात् आख्यात स्वभाव का ही अभाव होगा, वह अर्द्धवाक्यवत् होगा; क्योंकि पूर्ण सापेक्ष होने के कारण उसे अपना अर्थबोध कराने के लिये अन्य किसी की अपेक्षा बनी रहेगी। अन्य की अपेक्षा रहने से वह वाक्य के स्वरूप को प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि वाक्य तो सापेक्ष पदों की निरपेक्ष संज्ञति अर्थात् इकाई है। अतः जैनों के अनुसार कथंचित् सापेक्ष और कथंचित् निरपेक्ष होकर ही आख्यातपद वाक्य हो सकता है। इसका तात्पर्य है कि वह अन्य पदों से मिलकर ही वाक्य स्वरूप को प्राप्त होता है। आख्यातपद वाक्य का चाहे एक महत्त्वपूर्ण अंग हो, किन्तु वह अकेला वाक्य नहीं है।

यह सत्य है कि अनेक स्थितियों में केवल क्रियापद के उच्चारण से सन्दर्भ के आधार पर वाक्यार्थ का बोध हो जाता है, किन्तु वहाँ भी गौणरूप से अन्य पदों की उपस्थिति तो है। 'खाओ' कहने से न केवल खाने की क्रिया की सूचना मिलती है, अपितु खानेवाले व्यक्ति और खाद्य वस्तु का भी अव्यक्त रूप से निर्देश होता है; क्योंकि बिना खाने वाले और खाद्य वस्तु से उसका कोई मतलब नहीं है। हिन्दी भाषा में 'लीजिए' 'पाइए' आदि ऐसे आख्यातपद हैं, जो एक पद होकर भी वाक्यार्थ का बोध कराते हैं; किन्तु इनमें अन्य पदों का गौणरूप से संकेत तो हो ही जाता है। संस्कृत भाषा में 'गच्छामि' इस क्रियापद के प्रयोग में 'अहं' और 'गच्छति' इस

क्रियापद के प्रयोग में 'सः' का गौणरूप से निर्देश तो रहा ही। क्रियापद को सदैव व्यक्त या अव्यक्त रूप में कर्तापद की अपेक्षा तो होती ही है। अतः आख्यातद अन्य पदों से कथंचित सापेक्ष होकर भी वाक्यार्थ का अवबोध करता है - यह मानना ही समुचित है और इस रूप में यह मत जैन दार्शनिकों को भी स्वीकार्य है।

(2) पदों का संघात वाक्य है

बौद्ध दार्शनिकों का यह कहना है कि पदों का संघात ही वाक्य है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मात्र पद-समूह संघात नहीं है। मात्र पदों को एकत्र रखने से वाक्य नहीं बनता है। वाक्य बनने के लिए 'कुछ और' चाहिए और यह 'कुछ और' पदों के एक विशेष प्रकार के एकीकरण से प्रकट होता है। यह पदों के अर्थ से अधिक एवं बाहरी तत्त्व होता है। पदों के समवेत होने पर आये हुए इस 'अर्थाधिक्य' को ही संघातवादी वाक्यार्थ मानते हैं। इस प्रकार संघातवाद में वाक्य को पदसमूह के रूप में और वाक्यार्थ को पदों के अर्थसमूह के रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु यहाँ समूह या संघात ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है क्योंकि वह पदों के अर्थ में कुछ नयी बात को भी जोड़ता है। इस मत के अनुसार पदों के अलग-अलग होने पर नहीं होता है। उदाहरण के रूप में 'घोड़ा' 'घास' 'खाता है' - ये तीन पद अलग-अलग रूप में जिस अर्थ के सूचक हैं, इनका संघात या संघटित अर्थात् घोड़ा घास खाता है, उससे भिन्न अर्थ का सूचक है। इस प्रकार संघातवादी पदों के संघात को ही वाक्यार्थ के अवबोध का मुख्य आधार मानते हैं।

संघातवाद की इस मान्यता की समालोचना करते हुए प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखते हैं कि पदों का यह संघात या संघटन देशकृत है या कालकृत। यदि पदों के संघात को देशकृत अथवा कालकृत माना जाये तो यह विकल्प युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वाक्य के सुनने में क्रमशः उत्पन्न एवं ध्वंस होने वाले पदों का एक ही देश या एक ही काल में अवस्थित होकर संघात बनाना सम्भव नहीं है। पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वाक्यरूपता को प्राप्त पद वाक्य से भिन्न है या अभिन्न है। वह भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि भिन्न रहने पर वह वाक्यांश नहीं रह जायेगा और वाक्य के अंश के रूप में उसकी प्रतीति नहीं होगी। पुनः जिस प्रकार एक वर्ण का दूसरे वर्ण से संघात नहीं होता उसी प्रकार एक पद का भी दूसरे पद के साथ संघात नहीं होता है, पुनः यदि संघात अभिन्न रूप में है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है तो वह सर्वथा अभिन्न है कथंचित् अभिन्न है। यदि सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो संघात संघाती के स्वरूप वाला हो जायेगा, दूसरे शब्दों में पद ही वाक्यरूप हो जायेगा और ऐसी स्थिति में संघात का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। यदि यह संघात कथांचित् अभिन्न और कथांचित् भिन्न है तो ऐसी

स्थिति में जैन मत का ही समर्थन होगा क्योंकि जैनाचार्यों के अनुसार भी पद वाक्य से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होते हैं। इस रूप में तो यह मत जैनों को भी मान्य हो जायेगा।

(3) संघात में अनुस्यूत सामान्यतत्त्व (जाति) ही वाक्य है

कुछ विचारकों की मान्यता है कि वाक्य मात्र पदों का संघात नहीं है। वाक्य के समस्त पदों के संघात से होने वाली एक सामान्य प्रतीति ही वाक्य है। इन विचारकों के अनुसार पदों के संघात से होने वाली एक सामान्य प्रतीति ही वाक्य है। इन विचारकों के अनुसार पदों के संघात से एक सामान्य तत्त्व, जिसे वे 'जाति' कहते हैं, उत्पन्न होता है और यह संघात में अनुस्यूत सामान्य तत्त्व ही वाक्य है। वाक्य में पदों की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रहती है, अपितु वे सब मिलकर एक सामान्य तत्त्व का अर्थबोध देते हैं और यही वाक्यार्थ होता है। इस मत के अनुसार यद्यपि पदों के संघात से ही वाक्य बनता है, फिर भी यह वाक्य से पृथक् होकर उन पदों के अर्थबोध सामर्थ्य को स्वीकार नहीं करता है। यद्यपि वाक्य का प्रत्येक पद अपनी सत्ता रखता है, तथापि वाक्यार्थ एक अलग इकाई है और पदों का कोई अर्थ हो सकता है तो वाक्य में रहकर ही हो सकता है; जैसे शरीर का कोई अंग अपनी क्रियाशीलता शरीर में रहकर ही बनाये रखता है, स्वतन्त्र होकर नहीं। पद वाक्य के अंग के रूप में ही अपना अर्थ पाते हैं।

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र इस मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यदि जाति या सामान्यतत्त्व का तात्पर्य परस्पर सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह है, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वह दृष्टिकोण तो स्वयं जैनों को भी स्वीकार्य है। किन्तु यदि जाति को पदों से भिन्न माना जायेगा तो ऐसी स्थिति में इस मत में भी वे सभी दोष उपस्थित हो जायेंगे जो संघातवाद में दिखाये गये हैं क्योंकि जिस प्रकार पदसंघात पदों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होकर ही अर्थबोध प्रदान करता है, उसी प्रकार यह जाति या सामान्य तत्त्व भी पदों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न रहकर ही वाक्यार्थ का अवबोध करा सकता है, क्योंकि सामान्य तत्त्व या जाति को व्यक्ति (अंश) से न तो पूर्णतः भिन्न माना जा सकता है और न पूर्णतः अभिन्न ही। पद भी वाक्य से न तो सर्वथा भिन्न होते हैं और न सर्वथा अभिन्न ही। उनकी सापेक्षिक भिन्नाभिन्ता ही वाक्यार्थ की बोधक बनती है।

(4) वाक्य अखण्ड इकाई है

वैयाकरणिक वाक्य की अखण्ड सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार वाक्य अपने आप में एक इकाई है और वाक्य से पृथक् पद का कोई अस्तित्व ही नहीं है जिस प्रकार पद के बनाने वाले वर्णों में पद के अर्थ को खोजना व्यर्थ है उसी प्रकार वाक्य को बनानेवाले पदों में वाक्यार्थ का खोजना व्यर्थ है। वस्तुतः एकत्व में ही

वाक्यार्थ का बोध होता है। इस मत के अनुसार वाक्य में पद और वर्ण का विभाजन समीचीन नहीं है। वाक्य जिस अर्थ का द्योतक है, वह अर्थ पद या पदों के संघात या पद-समूह में नहीं है। वाक्य को एक इकाई मानने में जैन आचार्यों को भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वे स्वयं वाक्य को सापेक्ष पदों की एक निरपेक्ष इकाई मानते हैं। उनका कहना केवल इतना ही है कि वाक्य को एक अखण्ड सत्ता या निरपेक्ष इकाई मानते हुए भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उनकी रचना में पदों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। अंश से पूर्णतया पृथक् अंशी की कल्पना जिस प्रकार समुचित नहीं, उसी प्रकार पदों की पूर्ण उपेक्षा करके वाक्यार्थ का बोध सम्भव नहीं है। वाक्य निरपेक्ष इकाई होते हुए भी सापेक्ष पद समूह से ही निर्मित है। अतः वे भी वाक्य का एक महत्वपूर्ण घटक हैं, अतः अर्थबोध में उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

आचार्य प्रभाचन्द्र वाक्य के इस अखण्डता सिद्धान्त की समालोचना करते हुए कहते हैं कि 'वाक्य एक अविभाज्य एवं अपद इकाई है', यह मान्यता एक प्रकार की कपोल-कल्पना ही है क्योंकि पद के बिना वाक्य नहीं होता है, वाक्य में साकांक्ष पदों का होना नितान्त आवश्यक है। वाक्य में पदों की पूर्ण अवहेलना करना या यह मानना कि पद और पद के अर्थ का वाक्य में कोई स्थान ही नहीं है, एक प्रकार से आनुभविक सत्य से विमुख होना ही है। प्रभाचन्द्र ने इस मत के सम्बन्ध में वे सभी आपत्तियाँ उठायी हैं जो कि स्फोटवाद के सम्बन्ध में उठायी जा सकती हैं। यह मत वस्तुतः स्फोटवाद का ही एक रूप है, जो वाक्यार्थ के सम्बन्ध में यह प्रतिपादन करता है कि पद या उनसे निर्मित वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं, किन्तु स्फोट (अर्थ का प्राकट्य) ही अर्थ का प्रतिपादक है। यदि शब्दार्थ के बोध के सम्बन्ध में स्फोटवाद एकमात्र और अन्तिम सिद्धान्त नहीं है क्योंकि यह इसे स्पष्ट नहीं कर पाता है कि पदभाव में अर्थ का स्फोट क्यों नहीं हो जाता? अतः वाक्य को अखण्ड और नरवयव नहीं माना जा सकता क्योंकि पद वाक्य के अपरिहार्य घटक हैं और वे शब्दरूप में वाक्य से स्वतन्त्र होकर भी अपना अर्थ रखते हैं, पुनः पदों के अभाव में वाक्य नहीं होता है, अतः वाक्य को निरवयव नहीं कहा जा सकता।

(5) क्रमवाद

क्रमवाद भी संघातवाद का ही एक विशेष रूप है। इस मत के अनुसार पद को वाक्य का अपरिहार्य अंश तो माना गया है, किन्तु पदों की सहस्थिति की अपेक्षा पदों के क्रम को वाक्यार्थ के लिए अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। क्रम ही वास्तविक वाक्य है। जिस प्रकार वर्ण यदि एक सुनिश्चितक्रम में नहीं हों तो उनसे पद नहीं बनता है, उसी प्रकार यदि पद भी निश्चित क्रम में न हो तो उनसे वाक्य नहीं बनेगा। सार्थक वाक्य के लिए पदों का क्रमगत विन्यास आवश्यक है। पद

क्रम ही वस्तुतः वाक्य की रचना करता है और उसी से वाक्यार्थ का बोध होता है। पदों का एक अपना अर्थ होता है और एक विशिष्टार्थ। पदों का एक विशिष्ट अर्थ उनमें क्रमपूर्वक विन्यास-दशा में ही व्यक्त होता है। पदों का यह क्रमपूर्वक विन्यास ही वाक्य का स्वरूप ग्रहण करता है। साथ ही, क्रमवाद काल की निरन्तरता पर बल देता है और यह मानता है कि काल का व्यवधान होने से पद-क्रम टूट जाता है और पदक्रम के टूटने से वाक्य नष्ट हो जाता है। क्रमवाद में एक पद के बाद आनेवाले दूसरे पद को प्रथम पद का उपकारक स्वीकार किया जाता है। पदों का यह नियत क्रम ही उपचीयमान अर्थात् प्रकट होने वाले अर्थ का द्योतक होता है।

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र इस मत को संघातवाद से अधिक भिन्न नहीं मानते हैं। मात्र अन्तर यह है कि जहाँ संघातवाद पदों की सहवर्तिता पर बल देता है, वहाँ क्रमवाद क्रम पर। उनके अनुसार इस मत में भी वे सभी दोष हैं जो संघातवाद में हैं क्योंकि यहाँ भी देश और काल की विभिन्नता का प्रश्न उठता है—एक देश और काल में क्रम सम्भव नहीं और अलग-अलग देश और काल में पदों की स्थिति मानने पर अर्थबोध में कठिनाई आती है। यद्यपि वाक्य-विन्यास में पदों का क्रम एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, किन्तु यह क्रम साक्षात् पदों में जो कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न रूप से वाक्य में स्थित है, ही सम्भव है।

(6) बुद्धिग्रहीत तात्पर्य ही वाक्य है

कुछ दार्शनिकों की मान्यता है कि शब्द या शब्द-समूह बाह्याकार मात्र है, वाक्यार्थ उसमें निहित नहीं है। अतः वाक्य वह है जो बुद्धि के द्वारा ग्रहीत है। बुद्धि की विषयगत एकाग्रता से ही वाक्य बोला जाता है और उसी से वाक्य के अर्थ का ग्रहण होता है। वाक्य का जनक एवं कारण बुद्धितत्त्व है। वक्ता द्वारा बोलने की क्रिया तभी सम्भव है, जब उसमें सुविचारित रूप में कुछ कहने की इच्छा होती है अतः बुद्धि या बुद्धितत्त्व ही वाक्य का जनक होता है। बुद्धि के अभाव में न तो वाक्य का उच्चारण सम्भव है और न श्रोता के द्वारा उनका अर्थग्रहण ही सम्भव है। अतः वाक्य का आधार बुद्धि अनुसंहति है।

जैनाचार्य प्रभाचन्द्र इस दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए प्रश्न करते हैं कि यदि बुद्धि तत्त्व ही वाक्य का आधार है तो द्रव्यवाक्य है या भाववाक्य। बुद्धि को द्रव्यवाक्य कहना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि द्रव्यवाक्य तो शब्द ध्वनिरूप है, अचेतन है और बुद्धितत्त्व चेतन है, अतः दोनों में विरोध है। अतः बुद्धि को द्रव्यवाक्य नहीं माना जा सकता। पुनः यदि यह माने कि बुद्धितत्त्व भाववाक्य है तो फिर सिद्धसाध्यता का दोष होगा। क्योंकि बुद्धि की भाववाक्यता तो सिद्ध ही है। बुद्धितत्त्व को भाववाक्य के रूप में ग्रहण करना जैनों को भी इष्ट है। इस सम्बन्ध में बुद्धिवाद और जैन दार्शनिक एकमत ही हैं। वाक्य के भावपक्ष या चेतनपक्ष को बौद्धिक मानना जैनदर्शन को भी स्वीकार्य है।

(7) आद्यपद (प्रथम पद) ही वाक्य है

कुछ विचारकों की मान्यता है कि वाक्य के प्रथम पद का उच्चारण ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है। इस मत के अनुसार वक्ता को अभिप्राय प्रथमपद के उच्चारण मात्र से ही स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि पद तो विवक्षा को वहन करने वाले होते हैं। वाक्यपदीय में कहा गया है कि क्रिया से यदि कारक का विनिश्चय सम्भव है तो फिर कारक से क्रिया का निश्चय भी सम्भव होगा। यह सिद्धान्त यद्यपि वाक्य में कारक पद के महत्व को स्पष्ट करता है, फिर भी पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता। जैनाचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि चाहे वाक्य का प्रथम पद अर्थात् कारकपद हो अथवा अन्तिम पद अर्थात् क्रियापद हो, वे अन्य पदों की अपेक्षा से ही वाक्यार्थ के बोधक होते हैं। यदि एक ही पद वाक्यार्थ के बोध में समर्थ हो तो फिर वाक्य में अन्य पदों की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। दूसरे शब्दों में वाक्य में उनके अभाव का प्रसंग होगा। यह सही है कि अनेक प्रसंगों में प्रथम पद (कारक पद) के उच्चारण से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। उदाहरण रूप में जब राज मिस्त्री दीवार की चुनाई करते समय 'ईंट' या 'पत्थर' शब्द का उच्चारण करता है तो श्रोता यह समझ जाता है कि उसे ईंट या पत्थर लाने का आदेश दिया गया है। यहाँ प्रथम पद का उच्चारण सम्पूर्णवाक्य के अर्थ का वहन करता है, किन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि वह 'ईंट' या 'पत्थर' शब्द प्रथम पद के रूप में केवल उस सन्दर्भ विशेष में ही वाक्य का स्वरूप ग्रहण करते हैं, उससे पृथक् हो करके नहीं। राज के द्वारा उच्चरित पत्थर शब्द 'पत्थर लॉजो' का सूचक होगा, जबकि छात्र-पुलिस संघर्ष में प्रयुक्त पत्थर शब्द अन्य अर्थ का सूचक होगा। अतः कारक पद केवल किसी सन्दर्भ विशेष में ही वाक्यार्थ का बोधक होता है, सर्वत्र नहीं। इसलिए केवल आदि पद या कारक पद को वाक्य नहीं कहा जा सकता। केवल 'पद' विशेष को ही वाक्य मान लेना उचित नहीं है अन्यथा वाक्य में निहित अन्य पद अनावश्यक और निरपेक्ष होंगे और इस स्थिति में उनसे वाक्य बनेगा ही नहीं। पद सदैव साकांक्ष होते हैं और उन साकांक्ष पदों से निर्मित वाक्य ही निराकांक्ष होता है।

(8) साकांक्ष पद ही वाक्य है

कुछ विचारकों के अनुसार वाक्य का प्रत्येक पद वाक्य के अंग के रूप में साकांक्ष होते हुए भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इस मत में प्रत्येक पद का व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया जाता है। इस मत के अनुसार पदों का अपना निजी अर्थ उनके सहभूत या समवेत स्थिति में भी रहता है। यह मत वाक्य में पदों की स्वतन्त्र सत्ता और उनके महत्व को स्पष्ट करता है। संघातवाद से इस मत की भिन्नता इस अर्थ में है कि जहाँ संघातवाद और क्रमवाद में पद को प्रमुख

स्थान और वाक्य को गौण स्थान प्राप्त होता है, वहाँ इस मत में पदों को साकांक्ष मानकर वाक्य की प्रमुखता दी जाती है। यह मत यह मानता है कि पद वाक्य के अन्तर्गत ही अपना अर्थ पाते हैं, उससे बाहर नहीं।

वाक्य के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण

जैन मत भी साकांक्ष पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहता है, किन्तु वह पद और वाक्य दोनों को ही समान बल देता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार न तो पदों के अभाव में वाक्य सम्भव है और न वाक्य के अभाव में पद ही अपने विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन करने में सक्षम होते हैं। पद वाक्य में रहकर ही अपना अर्थ पाते हैं। उससे स्वतन्त्र होकर नहीं। अतः पद और वाक्य दोनों का सापेक्षिक अस्तित्व एवं सापेक्षिक महत्त्व है। दोनों में कोई भी एक दूसरे के अभाव में अपना अर्थबोध नहीं करा सकता है। अर्थबोध कराने के लिए पद को वाक्य सापेक्ष और वाक्य को पद सापेक्ष होना होगा। जैन मत में ऊपर वर्णित सभी मतों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार किया जाता है, किन्तु किसी एक पक्ष पर अनावश्यक बल नहीं दिया जाता है। उनका कहना यह है कि कोई पद और वाक्य एक दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष होकर अर्थबोध कराने में समर्थ नहीं है। उनकी अर्थबोध सामर्थ्य उनकी पारस्परिक सापेक्षता में ही निहित है। विभिन्न पदों की पारस्परिक सापेक्षता (साकांक्षता) और पद एवं वाक्य की सापेक्षता में ही वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। परस्पर निरपेक्ष पद तथा वाक्य निरपेक्ष पद और पद निरपेक्ष वाक्य की न तो सत्ता ही होती है और न उनमें अर्थबोध कराने की सामर्थ्य ही होती है।

वाक्यार्थबोध सम्बन्धी सिद्धान्त

वाक्य के अर्थ (वाच्य-विषय) का बोध किस प्रकार होता है इस प्रश्न को लेकर भारतीय चिन्तकों में विभिन्न मत पाये जाते हैं। नैयायिक तथा भाट्ट-मीमांसक इस सम्बन्ध में अभिहितान्वयवाद की स्थापना करते हैं। इनके विरोध में मीमांसक प्रभाकर का सम्प्रदाय अन्विताभिधानवाद की स्थापना करता है। हम इन सिद्धान्तों का विवेचन और जैन दार्शनिकों के द्वारा की गई इनकी समीक्षा प्रस्तुत करते हुए यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में समुचित दृष्टिकोण क्या हो सकता है?

अभिहितान्वयवाद (पूर्वपक्ष)

कुमारिलभट्ट की मान्यता है कि वाक्यार्थ के बोध में हमें सर्वप्रथम पदों के श्रवण से उन पदों के वाच्य-विषयों अर्थात् पदार्थों का बोध होता है। उसके पश्चात् उनके पूर्व में अज्ञात पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है और उनकी सम्बद्धता के बोध से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्यार्थ के प्रति पदार्थों का ज्ञान ही कारणभूत है, दूसरे शब्दों में पदों के अर्थपूर्वक

ही वाक्यार्थ अवस्थित हैं।^१ संक्षेप में पदों से अभिधाशक्ति के द्वारा पदार्थ का बोध होता है, फिर वक्ता के तात्पर्य अर्थात् वक्ता द्वारा किये गये विभक्ति प्रयोग के आधार पर उन पदों के पारस्परिक सम्बन्ध (अन्य) का ज्ञान होता है और इस अन्वयबोध (पदों के सम्बन्ध ज्ञान) से वाक्यार्थ का बोध होता है। यही अभिहितान्वयवाद है क्योंकि इसमें अभिहित अर्थात् पद द्वारा वाच्य पदार्थ के अन्वय अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इस सिद्धान्त में वाक्यार्थ का बोध तीन चरणों में होता है- प्रथम चरण में पदों को सुनकर उनके वाच्य अर्थात् पदार्थों का बोध होता है उसके पश्चात् दूसरे चरण में उन पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध (अन्वय) का ज्ञान होता है। तब तीसरे चरण में इस अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वाक्य से स्वतन्त्र पदों (शब्दों) का एक अलग अर्थ होता है और पदों के इस अर्थ के ज्ञान के आधार पर ही वाक्यार्थ का निश्चय होता है। दूसरे शब्दों में वाक्यार्थ का बोध पदों के अर्थबोध पर ही निर्भर करता है, पदों के अर्थ से स्वतन्त्र होकर वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदों का वाक्य से एवं दूसरे पदों से निरपेक्ष स्वतन्त्र अर्थ भी होता है वाक्य के आदि से निरपेक्ष, किन्तु अपना अर्थ नहीं रखता है। पद वाक्य से स्वतन्त्र अपना अर्थ रखता है। जब तक पदों के अर्थों अर्थात् पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है तब तक वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है। वाक्यार्थ के बोध के लिए दो बातें आवश्यक हैं- प्रथम पदों के अर्थ का ज्ञान और दूसरे पदों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान। पुनः पदों के पारस्परिक सम्बन्ध के भी चार आधार हैं - (1) आकांक्षा, (2) योग्यता, (3) सन्निधि और (4) तात्पर्य।

1. आकांक्षा- प्रथम पद को सुनकर जो दूसरे पद को सुनने की जिज्ञासा मन में उत्पन्न होती है- वही आकांक्षा है। पुनः एक पद की दूसरे पद को जो अपेक्षा रहती है वही आकांक्षा है। आकांक्षारहित अर्थात् परस्पर निरपेक्ष-गाय, अष्ट, पुरुष, स्त्री आदि अनेक पदों के उच्चारण से वाक्य नहीं बनता है। जबकि आकांक्षा अर्थात् परस्पर सापेक्ष पद ही वाक्य की रचना करते हैं।

2. योग्यता- 'योग्यता' का तात्पर्य है कि अभिहित पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में विरोध या बाधा नहीं होना चाहिए अर्थात् उनमें पारस्परिक सम्बन्ध की सम्भावना होना चाहिए। उदाहरणार्थ आग से सींचो-इस पद समुदाय में योग्यता नहीं है क्योंकि आग का सींचने से कोई सम्बन्ध है। अतः ऐसे असम्बन्धित या योग्यता से रहित पदों से सार्थक वाक्य नहीं बनता है।

3. सन्निधि- सन्निधि का तात्पर्य है- एक ही व्यक्ति द्वारा बिना लम्बे अन्तराल के पदों का उच्चारण होना। न तो अनेक व्यक्तियों द्वारा बिना अन्तराल के अर्थात् एक साथ बोले गये पदों से वाक्य बनते हैं और न एक व्यक्ति द्वारा लम्बे अन्तराल घण्टे-घण्टे भर बाद होने वाले पदों के उच्चारण से वाक्य बनता है।

4. **तात्पर्य-** वक्ता के अभिप्राय को तात्पर्य कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार यह भी वाक्यार्थ के बोध की आवश्यक शर्त है। बिना वक्ता के अभिप्राय को समझे वाक्यार्थ का सम्यक् निर्णय सम्भव नहीं होता है। विशेष रूप से तब जब कि वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द द्वयार्थक हों, जैसे 'सैन्ध', 'नव'। इसी प्रकार जब कोई शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में या व्यंग्य रूप में प्रयुक्त किया गया हो या फिर वाक्य में कोई पद अव्यक्त रह गया हो। विभक्ति प्रयोग ही वक्ता के तात्पर्य को समझने का एक आधार होता है।

संक्षेप में, पदों को सुनने से प्रथम अनन्वित (असम्बन्धित) पदार्थ उपस्थित होते हैं, फिर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य अर्थात् विभक्ति-प्रयोग के आधार पर उनके परस्पर सम्बन्ध का बोध होकर वाक्यार्थ का बोध होता है। यही अभिहितान्वयवाद है।

अभिहितान्वयवाद की समीक्षा

जैन तार्किक प्रभाचन्द्र अपने ग्रन्थ 'प्रमेयकमलमार्तण्ड'^३ में कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवाद की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि यदि वाक्य को सुनकर प्रथम परस्पर असम्बन्धित या अनन्वित पदार्थों का बोध होता है और फिर उनका पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय ज्ञात होता है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उनका यह अन्वय (सम्बद्धीकरण किस आधार पर होता है? क्या वाक्य से बाह्य किन्हीं अन्य शब्दों/पदों के द्वारा इनका अन्वय या पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है या बुद्धि (ज्ञान) के द्वारा इनका अन्वय होता है? प्रथम विकल्प मान्य नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण पदों के अर्थों को विषय करने वाला ऐसा कोई अन्वय का निमित्त भूत अन्य शब्द ही नहीं है, पुनः जो शब्द/पद वाक्य में अनुपस्थित है, उनके द्वारा वाक्यस्थ पदों का अन्वय नहीं हो सकता है। यदि दूसरे विकल्प के आधार पर यह माना जाये कि ये बुद्धि के द्वारा अन्वित होते हैं या बुद्धितत्त्व इनमें अन्वय/सम्बन्ध स्थापित करता है तो इससे कुमारिल का अभिहितान्वयवाद सिद्ध न होकर उसका विरोधी सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद ही सिद्ध होता है क्योंकि पदों के परस्पर अन्वित रूप में देखनेवाली बुद्धि तो स्वयं ही भाववाक्यरूप है। यद्यपि कुमारिल की ओर से यह कहा जा सकता है कि चाहे वाक्य अपने परस्पर अन्वित पदों से भिन्न नहीं हो क्योंकि वह उन्हीं से निर्मित होता है, किन्तु उसके अर्थ का बोध तो उन अनन्वित पदों के अर्थ के बोध पर ही निर्भर करता है, जो सापेक्ष बुद्धि में परस्पर सम्बन्धित या अन्वित प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में प्रभाचन्द्र का तर्क यह है कि पद अपने धातु, लिंग विभक्ति, प्रत्यय आदि से भिन्न नहीं है क्योंकि जब वे कहे जाते हैं तब अपने अवयवों सहित कहे जाते हैं और उनके अर्थ का बोध उनके परस्पर अन्वित अवयवों के बोध से होता है अर्थात् हमें जो बोध होता है अन्वितों

का होता है, अनन्वितों का नहीं होता है इसके प्रत्युत्तर में अपने अभिहितान्वयवाद के समर्थन हेतु कुमारिल यह तर्क दे सकते हैं कि लोक व्यवहार एवं वेदों में वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिए निरंश शब्द/पद का प्रयोग होता है, केवल उनकी धातु, लिंग, विभक्ति या प्रत्यय का नहीं; धातु, लिंग, विभक्ति, प्रत्यय आदि तो उनकी व्युत्पत्ति समझाने के लिए उनसे पृथक् किये जाते हैं। एक शब्द एक वर्ण के समान अन्वयव (निरंश) होता है, उसके अर्थ को समझने के लिए कल्पना के द्वारा उसके अवयवों को एक दूसरे से पृथक् किया जाता है। कुमारिल के इस तर्क के विरुद्ध प्रभाचन्द्र का कहना है कि जिस आधार शब्द को अपने अर्थबोध के लिए निरंश या अखण्ड इकाई माना जा सकता है उसी आधार पर वाक्य को भी निरंश माना जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि वाक्य की संरचना को स्पष्ट करने के लिए शब्दों को (कल्पना में) पृथक् किया जाता है। वस्तुतः वाक्य अखण्ड इकाई है। लोक व्यवहार में एवं वेदों में वाक्यों का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि पदार्थों की प्राप्ति या अप्राप्ति के लिए क्रिया की जा सके। वाक्य ही क्रिया का प्रेरक होता है, पद नहीं। अतः वाक्य एक इकाई है।

इस प्रकार प्रभाचन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस प्रकार शब्द पद से धातु, लिंग, प्रत्यय आदि आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से अभिन्न होते हैं उसी प्रकार पद भी वाक्य से आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से अभिन्न होता है। पद अपने वाक्य के घटक पदों से अन्वित या सम्बद्ध होता है और अन्य वाक्य के घटक पदों से अनन्वित, असम्बद्ध या भिन्न (अनन्वित) होता है। द्रव्य वाक्य में शब्द अलग-अलग होते हैं, किन्तु भाव वाक्य (बुद्धि) में वे परस्पर सम्बन्धित या अन्वित होते हैं।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चाहे वाक्यों से पृथक् शब्दों का अपना अर्थ होता हो, किन्तु जब वे वाक्य में प्रयुक्त किये गये हों, तब उनका वाक्य से स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं रह जाता है। उदाहरण के रूप में शतरंज खेलते समय उच्चरित वाक्य 'राजा मर गया' या 'मैं तुम्हारे राजा को मार दूँगा' में पदों के वाक्य से स्वतंत्र अपने निजी अर्थ से वाक्यार्थ बोध में कोई सहायता नहीं मिलती है। यहाँ सम्पूर्ण वाक्य का एक विशिष्ट अर्थ होता है जो प्रयुक्त शब्दों/पदों के पृथक् अर्थों पर बिलकुल ही निर्भर नहीं करता है। अतः यह मानना कि वाक्यार्थ के प्रति अनन्वित पदों के अर्थ ही कारणभूत हैं, न्यायसंगत नहीं है।

अन्विताभिधानवाद (पूर्वपक्ष)

मीमांसा दर्शन के दूसरे प्रमुख आचार्य प्रभाकर के मत को अन्विताभिधानवाद कहा गया है। जहाँ कुमारिल भट्ट अपने अभिहितान्वयवाद में यह मानते हैं कि वाक्यार्थ के बोध में पहले पदार्थ अभिहित होता हो और उसके बाद

उनके अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है वहाँ प्रभाकर अन्विताभिधानवाद में यह मानते हैं कि पदार्थों का ही अभिधा शक्ति से बोध होता है। वाक्य में पद परस्पर सम्बन्धित होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान (अन्वय) से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। वाक्य से प्रयुक्त पदों का सामूहिक एक समग्र अर्थ होता है। वाक्य से पृथक् उनका कोई अर्थ नहीं होता है।¹

इस सिद्धान्त में पद से पदार्थ बोध के पश्चात् उनके अन्वय को मानकर वाक्य को सुनकर सीधा अन्वित पदार्थों का ही बोध माना गया है इसलिए इस सिद्धान्त में तात्पर्य-आख्या-शक्ति की भी आवश्यकता नहीं मानी गई है। इस मत के अनुसार पदों को सुनकर संकेत ग्रहण केवल अन्वित पदार्थ में नहीं होता है, अपितु किसी के साथ अन्वित या सम्बन्धित पदार्थ में ही होता है। अतएव अभिहित का अन्वय न मानकर अन्वित का अभिधान मानना चाहिए, यही इस बात का सार है। यह मत मानता है कि वाक्यार्थ वाक्य ही होता है, तात्पर्य शक्ति से वाद को प्रतीत नहीं होता है।

उदाहरण के रूप में ताश खेलते समय उच्चरित वाक्य- 'ईंट चलो' के अर्थबोध में प्रथम पदों के अर्थ का बोध और फिर उनके अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है, क्योंकि यहाँ ईंट का वाचक न होकर ईंट की आकृति से युक्त पत्ते का वाचक है और चलना शब्द गमन क्रिया का वाचक न होकर पत्ता डालने का वाचक है। इस आधार पर अन्विताभिधान की मान्यता है कि वाक्यार्थ के बोध में पद परस्पर अन्वित प्रतीत होते हैं। प्रत्येक पूर्ववर्ती पद अपने परवर्ती पद से अन्वित होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराता है, अतः वाक्य को सुनकर अन्वितों का ही अभिधान (ज्ञान) होता है।

अन्विताभिधानवाद की समीक्षा

प्रभाचन्द्र अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड² में अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध निम्न आक्षेप प्रस्तुत करते हैं -

प्रथमतः यदि यह माना जाता है कि वाक्य के पद परस्पर अन्वित अर्थात् एक दूसरे से सम्बन्धित होकर ही अनुभूत होते हैं अर्थात् अन्वित रूप में ही उनका अभिधान होता है तो फिर प्रथम पद के श्रवण से वाक्यार्थ का बोध हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में अन्य पदों का उच्चारण ही व्यर्थ हो जायेगा। साथ ही, वाक्यत्व प्राप्त हो जायेगा अथवा वाक्य का प्रत्येक पद स्वतंत्र रूप से प्रथम पद को वाक्यत्व को प्राप्त कर लेगा। क्योंकि पूर्वापर पदों के परस्पर अन्वित होने के कारण एक पद के श्रवण से ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध हो जायेगा। प्रभाचन्द्र के इस तर्क के विरोध में यदि अन्विताभिधानवाद की ओर से यह कहा जाये कि अविश्वकित (अवाक्षित) पदों के व्यवच्छेद (निषेध) के लिए अन्य पदों का उच्चारण व्यर्थ नहीं

माना जा सकता है तो उनका प्रत्युत्तर यह होगा कि ऐसी स्थिति में अन्वित प्रथम के द्वारा जो प्रतिपत्ति (अर्थबोध) हो चुकी है, वाक्य के अन्य पदों के द्वारा मात्र उसकी पुनरुक्ति होगी, अतः पुनरुक्ति का दोष तो होगा ही। यद्यपि यहाँ अपने बचाव के लिए अन्विताभिधानवादी यह कह सकते हैं कि प्रथम पद के द्वारा जिस वाक्यार्थ का प्रधान रूप से प्रतिपादन हुआ है, अन्य पद उसके सहायक के रूप में गौण रूप से उसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। अतः यहाँ पुनरुक्ति का दोष नहीं होता है, किन्तु जैनों को उनकी यह दलील मान्य नहीं है।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की यह मान्यता भी समुचित नहीं है कि पूर्व पदों के अभिधेय अर्थों से अन्वित अन्तिम पद उच्चारण से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सम्बन्ध में जैन तार्किक प्रभाचन्द्र का कहना है कि जब सभी पद परस्पर अन्वित हैं तो फिर यह मानने का क्या आधार है कि केवल अन्तिम पद के अन्वित अर्थ की प्रतिपत्ति से ही वाक्यार्थ का बोध होता है और अन्य पदों के अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है।

प्रभाकर अपने अन्विताभिधानवाद के पक्ष में यह तर्क दे सकते हैं कि उच्चार्यमान पद का अभिधीयमानपद (जाना गया) से अन्वित न होकर गम्यमान अर्थात् पदान्तरों से गोचरीकृत पद से अन्वित होता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक पूर्व-पूर्व पद अपने उत्तरपद से अन्वित होता है, अतः किसी एक पद से ही वाक्यार्थ का बोध होना सम्भव नहीं होगा। उनकी इस अवधारणा की समालोचनों में जैनों का तर्क यह है कि प्रत्येक पूर्वपद का अर्थ केवल अपने उत्तरपद से अन्वित होता है ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि अन्वय/सम्बद्धता सापेक्ष होती है, अतः उत्तरपद भी पूर्वपद से अन्वित होगा। अतः केवल अन्तिम पद से ही वाक्यार्थ का बोध इस अन्विताभिधानवाद सिद्धान्त की दृष्टि से तर्क-संगत नहीं कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में मीमांसक प्रभाकर ने कहा है कि पदों के दो कार्य होते हैं प्रथम-अपने अर्थ का कथन करना और दूसरा पदान्तर के अर्थ में गमक व्यापार अर्थात् उनका स्मरण कराना। अतः अन्विताभिधानवाद मानने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए। क्योंकि पद-व्यापार से अर्थ-बोध समान होने पर भी किसी को अभिधीयमान और किसी को गम्यमान मानना उचित नहीं है।

पुनः प्रभाचन्द्र का प्रश्न यह है कि बुद्धिमान व्यक्ति पद का प्रयोग पद के बोध के लिए करते हैं या वाक्यार्थ बोध के लिए। पद के अर्थ बोध के लिए तो कर नहीं सकते हैं क्योंकि पद प्रवृत्ति का हेतु नहीं हैं। यदि दूसरा विकल्प कि पद का प्रयोग वाक्य के अर्थबोध के लिए करते हैं- यह माना जावे तो इससे अन्विताभिधानवाद की ही पुष्टि होगी। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य प्रभाचन्द्र कहते

हैं कि 'वृक्ष' पद के प्रयोग से शाखा, पल्लव आदि से युक्त अर्थ का बोध होता है। उस अर्थ बोध से 'तिष्ठति' (खड़ा है) इत्यादि पद स्थान आदि विषय का सामर्थ्य से बोध कराते हैं। स्थान आदि के अर्थबोध में 'वृक्ष' पद की साक्षात् प्रवृत्ति नहीं होने से उसे उस अर्थ-बोध का कारण नहीं माना जा सकता है। यदि यह माना जाए की वृक्षपद 'तिष्ठति' पद के अर्थ-बोध में परम्परा से अर्थात् परोक्षरूप से कारण होता है तो मानना इसलिए समुचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह भी मानना होगा कि हेतु वचन की साध्य की प्रतिपत्ति होती है और ऐसी स्थिति में अनुमान-ज्ञान भी शाब्दिक कहलायेगा, जो कि तर्कसंगत नहीं है।

पुनः मीमांसक प्रभाकर यदि यह कहें कि हेतुवाचक शब्द से होने वाली हेतु की प्रतीति ही शब्द ज्ञान है, शब्द से ज्ञात हेतु के द्वारा जो साध्य का ज्ञान होता है उसे शाब्दिक ज्ञान न मानकर अनुमान ही मानना होगा अन्यथा अतिप्रसंग दोष होगा तो जैन दार्शनिक प्रत्युत्तर में कहेंगे कि फिर वृक्ष शब्द से स्थानादि की प्रतीति में भी अतिप्रसंग दोष तो मानना होगा। क्योंकि जिस प्रकार हेतु शब्द का व्यापार अपने अर्थ (विषय) की प्रतीति कराने तक ही सीमित है उसी प्रकार वृक्ष शब्द को भी अपने अर्थ की प्रतीति तक ही सीमित मानना होगा।

दूसरी आपत्ति यह है कि विशेष्यपद विशेष्य का विशेषण-सामान्य से, या विशेष-विशिष्ट से या विशेषण-सामान्य और विशेष (उभय) से अन्वित कहता है। प्रथम विकल्प अर्थात् विशेष्य विशेषण सामान्य से अन्वित करके होता है? यह मानने पर विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है- क्योंकि विशेष्य पद का सामान्य-विशेषण से अन्वित होने पर विशेष-वाक्यार्थ का बोध सम्भव नहीं होगा। दूसरा विकल्प मानने पर निश्चयात्मक-ज्ञान नहीं होगा-क्योंकि (मीमांसकों के अनुसार) शब्द से जिसका निर्देश किया गया है, ऐसे प्रतिनियत विशेषण से अपने उक्त विशेष्य में अन्वय करने में संशय उत्पन्न होगा क्योंकि विशेष्य में दूसरे अनेक विशेषण भी सम्भव हैं, अतः अपने इस विशेष्य में अमुक विशेषण ही अन्वित है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकेगा। यदि पूर्वपक्ष अर्थात् मीमांसक प्रभाकर की ओर से यह कहा जाये कि वक्ता के अभिप्राय से प्रतिनियत विशेषण का उसे विशेष्य में अन्वय हो जाता है तो यह कथन भी समीचीन नहीं है क्योंकि जिस पुरुष के प्रति शब्द का उच्चारण किया गया है उसे तो वक्ता का अभिप्राय ज्ञात नहीं होता है। अतः विशेषण का निर्णय सम्भव नहीं होगा। यदि यह कहा जाये कि वक्ता को अपने अभिप्राय का बोध होता ही है अतः वह तो प्रतिनियत विशेष का निश्चय कर ही लेगा। किन्तु ऐसा मानने पर शाब्दिक कथन करना अनावश्यक होगा; क्योंकि शब्द का कथन दूसरों को अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिए होता है स्वयं अपने लिए नहीं।

तीसरा विकल्प अर्थात् विशेष्यपद विशेष्य को उभय से अन्वित कहता है, यह मानने पर उभयपक्ष के दोष आवेंगे अर्थात् न तो विशिष्ट वाक्यार्थ का बोध होगा और न निश्चयात्मक ज्ञान होगा।

इसी प्रकार की आपत्तियाँ विशेष्य को क्रियापद और क्रियाविशेषण से अन्वित मानने के सम्बन्ध में भी उपस्थित होंगी। पुनः पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसक प्रभाकर यदि यह कहें कि पद से पद के अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है और फिर वह वाक्यार्थ का निश्चय करता है, किन्तु ऐसा मानने पर तो रूपादि के ज्ञान से गंधादि का निश्चय भी मानना होगा, जो कि तर्क संगत नहीं माना जा सकता जा है। अतः अन्वित अभिधानवाद अर्थात् पदों से पदान्तरों के अर्थों से अन्वित अर्थों का ही कथन होता है पदों के अर्थ की प्रतीति से वाक्य के अर्थ की प्रतीति होती है- ऐसा प्रभाकर का मत श्रेयष्कर नहीं है।

वस्तुतः अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों ही एकांगी हैं। जैन दार्शनिक अभिहितान्वयवाद की इस अवधारणा से सहमत है कि पदों का शब्द के रूप में वाक्य से स्वतन्त्र अर्थ भी होता है, किन्तु साथ ही वे अन्विताभिधानवाद से सहमत होकर यह भी मानते हैं कि वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद अपने अर्थबोध के लिए परस्पर सापेक्ष होता है अर्थात् वे परस्पर अन्वित (सम्बन्धित) होते हैं और सम्पूर्ण वाक्य के श्रवण के पश्चात् उससे हमें जो अर्थबोध होता है उसमें पद परस्पर अन्वित या सापेक्ष ही प्रतीत होते हैं, निरपेक्ष नहीं है क्योंकि निरपेक्ष पदों से वाक्य की रचना ही नहीं होती है। जिस प्रकार शब्द के अर्थबोध के लिए वर्णों की सापेक्षता आवश्यक है उसी प्रकार वाक्य के अर्थबोध के लिए पदों की सापेक्षता/सम्बन्धितता आवश्यक है। जैनाचार्यों के अनुसार परस्पर सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह वाक्य है। अतः वाक्यार्थ के बोध में पद सापेक्ष अर्थात् परस्परान्वित ही प्रतीत होते हैं।

यद्यपि इस समग्र विवाद के मूल में दो भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ कार्य कर रही हैं। अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य पद सापेक्ष है वे वाक्य में पदों की सत्ता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। जबकि अन्विताभिधानवाद में पदों का अर्थ वाक्य सापेक्ष है, वाक्य से स्वतन्त्र न तो पदों की कोई सत्ता ही है और न उसका कोई अर्थ ही है। वे पदों के अर्थ को वाक्य सापेक्ष मानते हैं। अभिहितान्वयवाद में पद, वाक्य की महत्त्वपूर्ण इकाई है जबकि अभिहितान्वयवाद में पद, वाक्य ही महत्त्वपूर्ण एवं समग्र इकाई है, पद गौण हैं यही दोनों का मुख्य अन्तर है जबकि जैन दार्शनिक दोनों को ही परस्पर सापेक्ष और वाक्यार्थ के बोध में आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार वे इन दोनों मतों में समन्वय स्थापित करते हैं और कहते हैं कि वाक्यार्थ के बोध में पद और वाक्य दोनों की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

संदर्भ -

1. (अ) पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति ।
-प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 458
(ब) पदानां पुनर्वाक्यार्थं प्रत्यायने विधेये अन्योन्यनिर्मिततोतोपकारमनुसरतां
वाक्यान्तरस्य पदाक्षेपारहितासंहितिर्वाक्यमभिधीयते ।
-स्याद्वादरत्नाकर, पृ. 941
2. (अ) पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावनवतः ।। मीमांसाश्लोकवार्तिक वाक्यपदी 111
(ब) पदार्थपूर्वकस्तस्माद्वाक्यार्थोऽयमवस्थितः ।। मीमांसाश्लोकवार्तिक वाक्यपदी 336
3. प्रमेयकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्र), पृ. 464-65
4. देखें- काव्यप्रकाश आचार्य विश्वेश्वर पृ. 37
5. प्रमेयकमलमार्तण्ड 3/101 पृ. 459-464



3

જૈન ધર્મદર્શન

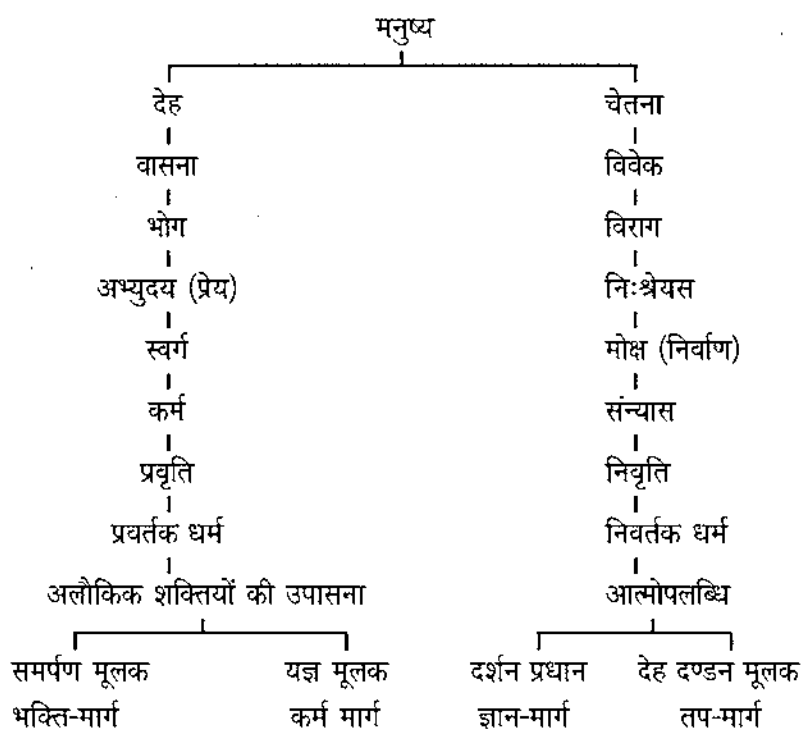
प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक विकास एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक विकास

मानव-अस्तित्व द्वि-आयामी एवं विरोधाभासपूर्ण है। वह स्वभावतः परस्पर विरोधी दो भिन्न केन्द्रों पर स्थित है। वह न केवल शरीर है और न केवल चेतना, अपितु दोनों की एक विलक्षण एकता है। यही कारण है कि उसे दो भिन्न स्तरों पर जीवन जीना होता है। शारीरिक स्तर पर वह वासनाओं से चालित है और वहाँ उस पर यान्त्रिक नियमों का आधिपत्य है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह विवेक से शासित है, यहाँ उसमें संकल्प स्वातन्त्र्य है। शारीरिक स्तर पर वह बद्ध है, परतंत्र है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह स्वतंत्र है, मुक्त है। मनोविज्ञान की भाषा में जहाँ एक ओर वह वासनात्मक अहं (Id) से अनुशासित है तो दूसरी ओर आदर्शात्मा (Ego) से प्रभावित भी है। वासनात्मक अहं (Id) उसकी शारीरिक मांगों की अभिव्यक्ति का प्रयास है तो आदर्शात्मा उसका आध्यात्मिक स्वभाव है, वह उसका निज स्वरूप है। जो निर्द्वन्द्व एवं निराकुल चेतन-समत्व की अपेक्षा करता है। उसके लिए इन दोनों में से किसी की भी पूर्ण अपेक्षा असम्भव है। उसके जीवन की सफलता इनके बीच सांग-सन्तुलन बनाने में निहित है। उसके वर्तमान अस्तित्व के दो छोर हैं। उसकी जीवन-धारा इन दोनों का स्पर्श करते हुए इनके बीच बहती है।

मानव जीवन में शारीरिक विकास वासना को और चैतसिक विकास विवेक को जन्म देता है। प्रदीप्त-वासना अपनी सन्तुष्टि के लिए 'भोग' की अपेक्षा रखती है तो विशुद्ध-विवेक अपने अस्तित्व के लिए 'संयम' या विराग की अपेक्षा करता है। क्योंकि सराग-विवेक सही निर्णय देने में अक्षम होता है। वासना भोगों पर जीती है और विवेक विराग पर। यहीं दो अलग-अलग जीवन-दृष्टियों का निर्माण होता है। एक का आधार वासना और भोग होते हैं तो दूसरी का आधार विवेक और विराग। श्रमण परम्परा में इनमें से पहली को मिथ्या दृष्टि और दूसरी को सम्यक् दृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषद् में इन्हें क्रमशः प्रेय और श्रेय

कहा गया है। कठोपनिषद् में ऋषि कहता है कि प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। उसमें से मन्द-बुद्धि शारीरिक योग क्षेम रूप प्रेय को और विवेकवान पुरुष श्रेय को चुनता है। वासना की तुष्टि के लिए भोग और भोगों के साधनों की उपलब्धि के लिए कर्म अपेक्षित थे अतः भोग-प्रधान जीवन दृष्टि से कर्म-निष्ठा का विकास हुआ तो दूसरी ओर विवेक के लिए विराग (संयम) और विराग के लिए आध्यात्मिक मूल्य-बोध (शरीर के ऊपर आत्मा की प्रधानता का बोध) अपेक्षित था अतः त्याग प्रधान आध्यात्मिक जीवन दृष्टि से तप-मार्ग का विकास हुआ। इनमें पहली से प्रवर्तक धर्म का और दूसरी से निवर्तक धर्म का उद्भव हुआ। प्रवर्तक धर्म का लक्ष्य भोग ही रहा अतः उसने अपनी साधना का लक्ष्य सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही बनाया, जहाँ ऐहिक जीवन में उसने धन-धान्य, पुत्र, सम्पत्ति आदि कामना की वही पारलौकिक जीवन स्वर्ग (भौतिक-सुख सुविधाओं की उच्चतम अवस्था) की प्राप्ति को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया। किन्तु आनुभविक जीवन में जब उसने यह देखा कि आलौकिक एवं प्राकृतिक शक्तियाँ उसके सुख-सुविधाओं के उपलब्धि के प्रयासों को सफल या विफल बना सकती हैं। उसकी सुख-सुविधायें उसके अपने पुरुषार्थ पर नहीं अपितु इन शक्तियों की कृपा पर निर्भर हैं तो इन्हें प्रसन्न करने के लिए वह एक ओर इनकी स्तुति और प्रार्थना करने लगा तो दूसरी ओर इन्हें बलि और यज्ञों के माध्यम से सन्तुष्ट करने लगा। इस प्रकार प्रवर्तक धर्म में दो शाखाओं का विकास हुआ- (1) श्रद्धा प्रधान भक्ति-मार्ग और (2) यज्ञ-योग प्रधान कर्म-मार्ग। दूसरी ओर निष्पाप और स्वतन्त्र जीवन जीने की उमंग में निवर्तक धर्म ने निर्वाण या मोक्ष अर्थात् शारीरिक वासनाओं एवं लौकिक एषणों से पूर्ण मुक्ति को मानव जीवन का लक्ष्य माना और इस हेतु ज्ञान और विराग को प्रधानता दी किन्तु ज्ञान और विराग का यह जीवन सामाजिक एवं पारिवारिक व्यस्तताओं के मध्य सम्भव नहीं था अतः निवर्तक धर्म मानव को जीवन के कर्म-क्षेत्र से कहीं दूर निर्जन वन-खण्डों और गिरि-कन्दराओं में ले गये, जहाँ एक ओर दैहिक मूल्यों एवं वासनाओं के निषेध पर बल दिया गया, जिससे वैराग्य मूलक तपो-मार्ग का विकास हुआ, दूसरी ओर उस एकान्तिक जीवन में चिन्तन और विमर्श के द्वार खुले, जिज्ञासा का विकास हुआ जिससे चिन्तन प्रधान ज्ञान मार्ग का उद्भव हुआ। इस प्रकार निवर्तक धर्म भी दो मुख्य शाखाओं में विभक्त हो गये - (1) ज्ञान-मार्ग और (2) तप मार्ग। मानव प्रकृति के दैहिक और चैतसिक पक्षों के आधार पर प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों के विकास की इस प्रक्रिया को निम्न सारिणी के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है -



निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का विकास भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था। अतः यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारणी से स्पष्टतया से समझा जा सकता है -

प्रवर्तक धर्म (दार्शनिक प्रदेय)	निवर्तक धर्म (दार्शनिक प्रदेय)
(1) जैविक मूल्यों की प्रधानता।	(1) आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता
(2) विधायक जीवन दृष्टि	(2) निषेधक जीवन-दृष्टि
(3) समष्टिवादी	(3) व्यष्टिवादी
(4) व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी भाग्यवाद एवं नियतिवाद का समर्थक	(4) व्यवहार में नैष्कर्म्यता का समर्थक फिर भी पुरुषार्थवादी।

(5) ईश्वरवादी	(5) अनीश्वरवादी।
(6) ईश्वरीय कृपा पर विश्वास कर्म-सिद्धान्त का समर्थक	(6) वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास
(7) साधना के बाह्य साधनों पर बल	(7) आन्तरिक विशुद्धता पर बल
(8) जीवन का लक्ष्य स्वर्ग एवं ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति (सांस्कृतिक प्रदेय)	(8) जीवन का लक्ष्य मोक्ष निर्वाण की प्राप्ति। (सांस्कृतिक प्रदेय)
(9) वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	(9) जातिवाद का विरोध वर्ण-व्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन
(10) ग्रहस्थ-जीवन की प्रधानता	(10) संन्यस्त जीवन की प्रधानता
(11) सामाजिक जीवन शैली	(11) एकाकी (व्यक्ति प्रधान) जीवन शैली
(12) राजतन्त्र का समर्थन	(12) जनतन्त्र का समर्थन
(13) व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता का अभाव (शक्तिशाली की पूजा)	(13) सदाचारी की पूजा
(14) जटिल विधि-विधानों एवं बाह्य कर्म-काण्डों का प्रभुत्व	(14) ध्यान और तप का प्रभुत्व (सरल साधना पद्धति)
(15) ब्राह्मण संस्था (पुरोहित-वर्ग) का विकास	(15) श्रमण संघों (साधक संघों) का विकास
(16) 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की दण्ड नीति	(16) शत्रु के प्रति अनुकम्पा और आत्मोत्सर्ग दण्ड नीति
(17) उपासना-मूलक	(17) समाधि मूलक

प्रवर्तक धर्म में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं। उदाहरणार्थ - हम सौ वर्ष जीवें, हमारी सन्तान बलिष्ठ होवे, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हो आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रूप अपनाते हैं, वे सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापते हैं। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर है। अतः ये संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन लक्ष्य घोषित करते हैं। दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म-सन्तोष ही उनके लिए सर्वोच्च मूल्य है। एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा

जीवन को सर्वतोभावेन बांछनीय और रक्षणीय माना गया तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमें शारीरिक मूल्यों मार्गों का दुकराना ही जीवन लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और अध्यात्म के प्रतीक बन गये। यद्यपि दैहिक मूल्यों की उपलब्धि हेतु कर्म आवश्यक थे किन्तु जब मनुष्य ने यह देखा कि दैहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए उसके वैयक्तिक प्रयासों के बावजूद भी उनकी पूर्ति या अपूर्ति किन्हीं अलौकिक प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर है तो वह देववादी और ईश्वरवादी बन गया है। विश्व: व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियों के नियन्त्रकत्व के रूप में उसने ईश्वर की कल्पना की और उसकी कृपा की आकांक्षा करने लगा। इसके विपरीत निवर्तक धर्म व्यवहार में नैष्कर्म्यता समर्थक होते हुए भी कर्म सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगे कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वयं उसके कारण है अतः निवर्तक धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासों पर आस्था रखने लगा अनीश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्म सिद्धान्त उसके प्रमुख तत्त्व बन गये। साधना के क्षेत्र में जहाँ प्रवर्तक में अलौकिक देवी शक्तियों की प्रसन्नता के निर्मित कर्मकाण्ड और बाह्य विधि-विधानों (यज्ञ-याग) का विकास हुआ और आन्तरिक शुद्धि और सदाचारी जीवन की अपेक्षा कर्म-काण्ड का सम्पादन ही स्वर्ग-साधन माने जाने लगा, वहीं निवर्तक धर्मों में चित्त-शुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया तथा विधि-विधानों की औपचारिकता एवं कर्म-काण्ड के सम्पादन को अनावश्यक माना।

सांस्कृतिक प्रदेशों की दृष्टि से प्रवर्तक धर्म-वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण संस्था (पुरोहित वर्ग) के प्रमुख समर्थक रहे। ब्राह्मण मनुष्य और ईश्वर के बीच एक मध्यस्थ का कार्य करने लगा तथा उसने अपनी आजीविका को सुरक्षित बनाये रखने के लिए एक ओर समाज जीवन में अपने वर्चस्व को स्थापित रखना चाहा तो दूसरी ओर धर्म को कर्मकाण्ड और जटिल विधि-विधानों की औपचारिकता में उलझा दिया। परिणामस्वरूप ऊँच-नीच का भेद-भाव, जातिवाद और यज्ञ-याग का विकास हुआ। किन्तु इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने संयम, ध्यान और तप की एक सरल साधना पद्धति का विकास किया और वर्णव्यवस्था, जातिवाद और ब्राह्मण संस्था के वर्चस्व का विरोध किया। उसमें ब्राह्मण संस्था के स्थान पर श्रमण संघों का विकास हुआ-जिसमें सभी जाति और गण के लोगों को समान स्थान मिला। राज्य संस्था की दृष्टि से जहाँ प्रवर्तक धर्म राजतन्त्र और राठे शाठ्यं समाचरेत की दण्ड नीति का समर्थक रहे, वहाँ निवर्तक जनतन्त्र और आत्मोत्सर्ग को दण्ड नीति के समर्थक रहे।

यद्यपि उपरोक्त आधार पर हम प्रवर्तक धर्म अर्थात् वैदिक परम्परा और निवर्तक धर्म अर्थात् श्रमण परम्परा की मूलभूत विशेषताओं और उनके सांस्कृतिक एवं दार्शनिक प्रदेय को समझ सकते, किन्तु यह मानना एक भ्रान्ति पूर्ण ही होगा कि आज वैदिक धारा और श्रमण धारा ने अपने इस मूल स्वरूप को बनाये रखा है। एक ही देश और परिवेश में रहकर दोनों ही धाराओं के लिए यह असम्भव था कि वे एक दूसरे के प्रभाव से अछूती रहे अतः जहाँ वैदिक धारा में श्रमण धारा (निवर्तक धर्म परम्परा) के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है, वहीं श्रमण धारा में वैदिक धारा (प्रवर्तक धर्म परम्परा) के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है। अतः आज के युग में कोई धर्म परम्परा न तो एकान्त निवृत्ति मार्ग की पोषक है और न एकान्त प्रवृत्ति मार्ग की पोषक है। वस्तुतः निवृत्ति और प्रवृत्ति के सम्बन्ध में एकान्तिक दृष्टिकोण न तो व्यवहारिक है और न मनोवैज्ञानिक। मनुष्य जब तक मनुष्य है, मानवीय आत्मा तब तक शरीर के साथ योजित होकर सामाजिक जीवन जीती है, तब तक एकान्त निवृत्ति की बात करना एक मृगमरीचिका में जीना है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम वास्तविकता को समझें और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के तत्त्वों में समुचित समन्वय से एक ऐसी जीवन शैली खोजें जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी हो और मानव को तृष्णाजनित मानसिक एवं सामाजिक संत्रास से मुक्ति दिलो सके।



नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का प्रश्न

(1)

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का प्रश्न प्राचीन काल से दार्शनिक चिन्तन का विषय रहा है, किन्तु आज जब परिवर्तन की हवा तेजी से बह रही है और परिवर्तन के नाम पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता पर ही प्रश्न-चिन्ह लगाया जा रहा है, तब यह प्रश्न अधिक गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा करता है।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता पर विचार करते समय सबसे पहले हमें यह निश्चित कर लेना होगा कि उक्त परिवर्तनशीलता से हमारा क्या तात्पर्य है? कुछ लोग परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं नीति की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति से लेते हैं। आज जब नैतिक मूल्यों को सांवेगिक अभिव्यक्ति या वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन एवं रूचि का पर्याय माना जा रहा हो, तब परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं उनकी मूल्यवत्ता को नकारना ही होगा। आज नीति की मूल्यवत्ता स्वयं अपने अर्थ की तलाश कर रही है। यदि नैतिक प्रत्यय अर्थहीन है, यदि वे मात्र प्रत्ययाभास (Pseudconcepts) है, तो फिर उनकी परिवर्तनशीलता का भी कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता। क्योंकि यदि नैतिक मूल्यों का यथार्थ एवं वस्तुगत अस्तित्व ही नहीं, यदि ये मात्र मनोकल्पनायें हैं तो उनके परिवर्तन का ठोस आधार भी नहीं होगा। दूसरे, जब हम शुभ एवं अशुभ अथवा औचित्य एवं अनौचित्य के प्रत्ययों को वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन या पसन्दगी किंवा नापसन्दगी के रूप में देखते हैं, तो उनकी परिवर्तनशीलता का अर्थ फैशन की परिवर्तनशीलता से अधिक नहीं रह जाता।

किन्तु क्या नीति की मूल्यवत्ता पर वैसा प्रश्न-चिन्ह लगाया जा सकता है? क्या नैतिक मूल्यों भी परिवर्तनशीलता के समान है, जिन्हें जब चाहे तब और जैसा चाहे वैसा बदला जा सकता है। आइये, जरा इन प्रश्नों पर थोड़ी गम्भीर चर्चा करें।

(2)

सर्वप्रथम तो आज जिस परिवर्तनशीलता अथवा गत्यात्मकता की बात कही जा रही है, उससे तो स्वयं नैतिकता के मूल्य होने में ही अनास्था उत्पन्न हो गई है। आज का मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओं की पूर्ति के लिए विवेक एवं

संयम की नियामक मर्यादाओं की अवेहलना को ही मूल्य-परिवर्तन मान रहा है। वर्षों के चिन्तन और साधना से फलित ये मर्यादायें आज उसे कारा लग रही हैं और इन्हें तोड़-फेंकने में ही उसे मूल्य-क्रान्ति परिलक्षित हो रही है। स्वतन्त्रता के नाम पर वह अतन्त्रता और अराजकता को ही मूल्य मान बैठा है। किन्तु यह सब मूल्य-विभ्रम या मूल्य-विपर्यय ही हैं जिसके कारण नैतिक मूल्यों के निर्मूल्यीकरण को ही परिवर्तन कहा जा रहा है। यहाँ हमें यह समझ लेना होगा कि मूल्य-संक्रमण या मूल्यान्तरण मूल्य-निषेध नहीं है। परिवर्तनशीलता का तात्पर्य स्वयं नीति के मूल्य होने में अनास्था नहीं है यह सत्य है कि नैतिक मूल्यों में ओर नीति-सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन हुए हैं और होते रहेंगे, किन्तु मानव इतिहास में कोई भी काल ऐसा नहीं है, जब स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार किया गया हो। वस्तुतः नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता में भी कुछ ऐसा अवश्य है, जो बना रहता है और वह है, स्वयं नीति की मूल्यवत्ता। नैतिक मूल्यों की विषय वस्तु बदलती रहती है, किन्तु उनका आकार बना रहता है। मात्र इतना ही नहीं, कुछ मूल्य ऐसे भी हैं, जो अपनी मूल्यवत्ता को कभी नहीं खोते; मात्र उनकी व्याख्या के सदर्भ एवं अर्थ बदलते हैं।

आज स्वयं नीति की मूल्यवत्ता के निषेध की बात दो दिशाओं से खड़ी हुई है; एक ओर भौतिकवादी और साम्यवादी दर्शनों के द्वारा और दूसरी ओर-विश्लेषणवादियों के द्वारा। यह कहा जाता है कि वर्तमान में साम्यवादी दर्शन नीति की मूल्यवत्ता को अस्वीकार करता है; किन्तु इस सम्बन्ध में स्वयं लेनिन का वक्तव्य द्रष्टव्य है। वे कहते हैं कि 'प्रायः यह कहा जाता है कि हमारा अपना कोई नीतिशास्त्र नहीं है; बहुधा मध्य वित्तीय वर्ग कहता है कि हम सब प्रकार के नीतिशास्त्र का खण्डन करते हैं (किन्तु) उनका यह तरीका विचारकों को भ्रष्ट करना है, श्रमिकों और कृषकों की आँख में धूल झाँकना है हम उनका खण्डन करते हैं जो ईश्वरीय आदेशों से नीतिशास्त्र को आर्विभूत करता है। हम कहते हैं यह धोखाधड़ी है और श्रमिकों और कृषकों के मस्तिष्कों को पूँजीपतियों तथा भूपतियों के स्वार्थ के लिए सन्देह में डालता है, हम कहते हैं कि हमारा नीतिशास्त्र सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष के हितों के अधीन है; जो शोषक समाज को नष्ट करे, जो श्रमिकों को संगठित करे और साम्यवादी समाज की स्थापना करे, वही नीति है (शेष सब अनीति है)।' इस प्रकार साम्यवादी दर्शन नैतिक मूल्यों का मूल्यान्तरण तो करता है, किन्तु स्वयं नीति की मूल्यवत्ता का निषेध नहीं करता; वह उस नीति का समर्थक है जो अन्याय एवं शोषण की विरोधी है और सामाजिक समता की संस्थापक है; जो पीड़ित और शोषित को अपना अधिकार दिलाती है और सामाजिक न्याय की स्थापना करती है।

वह भौतिकवादी दर्शन, जो सामाजिक एवं साहचर्य के मूल्यों का समर्थक है, नीति की मूल्यवत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। यदि हम मनुष्य को एक विवेकवान-सामाजिक प्राणी मानते हैं, तो हमें नैतिक मूल्यों को अवश्य स्वीकार करना होगा। वस्तुतः नीति का अर्थ है किन्हीं विवेकपूर्ण साध्यों की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में आचार और व्यवहार के किन्हीं ऐसे आदर्शों एवं मर्यादाओं की स्वीकृति, जिनके अभाव में मानव की मानवता और मानवीय समाज का अस्तित्व ही खतरे में होगा। यदि नीति की मूल्यवत्ता का निषेध कोई दृष्टि कर सकती है, तो वह मात्र पाशविक भोगवादी दृष्टि है; वह दृष्टि मनुष्य को एक पशु से अधिक नहीं मानती है। यह सत्य है कि यदि मनुष्य मात्र पशु है तो नीति का कोई अर्थ नहीं है, किन्तु क्या आज मनुष्य का अवमूल्यन पशु के स्तर पर किया जा सकता है? क्या मनुष्य निरा पशु है? यदि मनुष्य निरा पशु होता है तो वह पूरी तरह प्राकृतिक नियमों से शासित होता और निश्चय ही उसके लिए नीति की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आज का मनुष्य पूर्णतः प्राकृतिक नियमों से शासित नहीं है, वह तो प्राकृतिक नियमों एवं मर्यादाओं की अवेहेलना करता है। अतः पशु भी नहीं है। उसकी सामाजिकता भी उसके स्वभाव से निरसित नहीं है, जैसी कि यूथचारी प्राणियों में होती है। उसकी सामाजिकता उसके बुद्धि तत्व का प्रतिफल है, वह विचार की देन है, स्वभाव की नहीं। यही कारण है कि वह समाज का और सामाजिक मर्यादाओं का सर्जक भी है और संहारक भी, वह उन्हें स्वीकार भी करता है और उनकी अवेहेलना भी करता है, अतः वह समाज से ऊपर भी है। ब्रेडले का कथन है कि 'यदि मनुष्य सामाजिक नहीं है तो वह मनुष्य ही नहीं है, किन्तु यदि वह केवल सामाजिक है तो वह पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता उसके अतिसामाजिक एवं नैतिक प्राणी होने में है।' अतः मनुष्य के लिए नीति की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति असम्भव है। यदि हम परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार करेंगे तो वह मानवीय संस्कृति का ही अवमूल्यन होगा। अवमूल्यन ही नहीं, उसकी इतिश्री भी होगी।

पुनश्च: नैतिक प्रत्ययों को सांवेगिक अभिव्यक्ति या रुचि-सापेक्ष मानने पर भी, न तो स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को निरस्त किया जा सकता है और न नैतिक मूल्यों को फैशनों के समान परिवर्तनशील माना जा सकता है। यदि नैतिक प्रत्यय सांवेगिक अभिव्यक्ति है तो प्रश्न यह है कि नैतिक आवेगों का दूसरे सामान्य आवेगों से अन्तर का आधार क्या है? वह कौन-सा तत्व है जो नैतिक आवेग को दूसरे आवेगों से अलग करता है? यह तो सुनिश्चित सत्य है कि नैतिक आवेग दूसरे आवेगों से भिन्न है। दायित्व-बोध का आवेग, अन्याय के प्रति आक्रोश का आवेग

और क्रोध का आवेग, ये तीनों भिन्न-भिन्न स्तरों के आवेग हैं और जो चेतना इनकी भिन्नता का बोध करती है, वही नैतिक मूल्यों की द्रष्टा भी है। नैतिक मूल्यों को स्वीकार किये बिना हम भिन्न-भिन्न प्रकार के आवेगों का अन्तर नहीं कर सकते। यदि इसका आधार पसन्दगी या रूचि है, तो फिर पसन्दगी या नापसन्दी के भावों की उत्पत्ति का आधार क्या है? क्यों हम चौर्य कर्म को नापसन्द करते हैं और क्यों ईमानदारी को पसन्द करते हैं? नैतिक भावों की व्याख्या मात्र पसन्दगी और नापसन्दगी के रूप में नहीं की जा सकती है। मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी अथवा रूचि केवल मन की मौज या मन की तरंग (Whim) पर निर्भर नहीं है। इन्हें पूरी तरह आत्मनिष्ठ (Subjective) नहीं माना जा सकता, इनके पीछे एक वस्तुनिष्ठ आधार भी होता है। आज हमें उन आधारों का अन्वेषण करना होगा, जो हमारी पसन्दगी और नापसन्दगी को बनाते या प्रभावित करते हैं। वे कुछ आदर्श, सिद्धान्त, दृष्टियाँ या मूल्य-बोध हैं, जो हमारी पसन्दगी या नापसन्दगी को बनाते हैं और जिनके आधार पर हमारी रूचियाँ गठित होती हैं। मानवीय रूचियाँ और मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी आकस्मिक एवं प्राकृतिक (Natural) नहीं है। जो तत्व इनको बनाते हैं, उनमें नैतिक मूल्य भी है। ये पूर्णतया व्यक्ति और समाज की रचना भी नहीं है, अपितु व्यक्ति के मूल्य संस्थान के बोध से भी उत्पन्न होती है। वस्तुतः मूल्यों की सत्ता अनुभव की पूर्ववर्ती है; मनुष्य मूल्यों का दृष्टा है, सृजक नहीं। अतः इस धारणा के आधार पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को निरस्त नहीं किया जा सकता है। दूसरे, यदि हम औचित्य एवं अनौचित्य का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानते हैं, तो यह भी ठीक नहीं। मेरे व्यक्तिगत स्वार्थों से सामाजिक हित क्यों श्रेष्ठ एवं वरेण्य हैं? इस प्रश्न का हमारे पास क्या उत्तर होगा? सामाजिक हितों की वरेण्यता का उत्तर नीति की मूल्यवत्ता को स्वीकार किये बिना नहीं दिया जा सकता है।¹ इस प्रकार परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता पर प्रश्न-चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। नैतिक मूल्यों के अस्तित्व की स्वीकृति में ही उनकी परिवर्तनशीलता का कोई अर्थ हो सकता है, उनके नकारने में नहीं है।

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज भी नैतिक मूल्यों का सृजक नहीं है। समाज किन्हीं आचरण के प्रारूपों को विहित या अविहित मान सकता है। किन्तु सामाजिक विहितता और अविहितता नैतिक औचित्य या अनौचित्य से भिन्न है। एक कर्म अनैतिक होते हुए भी विहित माना जा सकता है अथवा नैतिक होते हुए भी अविहित माना जा सकता है। कंजर जाति में चोरी, आदिम कबीलों में नरबलि या मुस्लिम समाज में बहु-पत्नी प्रथा विहित है। राजपूतों में लड़की को जन्मते ही मार डालना कभी विहित रहा था। अनेक देशों में

वैश्या-वृत्ति, सम-लैंगिकता, मद्यपान आज भी विहित और वैधानिक है- किन्तु क्या इन्हें नैतिक कहा जा सकता है? नग्नता को, शासनतन्त्र की आलोचना की अविहित एवं अवैधानिक माना जा सकता है, किन्तु इससे नग्न रहना या शासक वर्ग के गलत कार्यों की आलोचना अनैतिक नहीं कहा जा सकेगा। मानवों के समुदाय विशेष के द्वारा किसी कर्म को विहित या वैधानिक मान लेने मात्र से वह नैतिक नहीं हो जाता। गर्भपात वैधानिक हो सकता है लेकिन नैतिक कभी नहीं। नैतिक मूल्यवत्ता निष्पक्ष विवेक के प्रकाश में आलोकित होती है। वह सामाजिक विहितता या वैधानिकता से भिन्न है। समाज किसी कर्म को विहित या अविहित बना सकता है, किन्तु उचित या अनुचित नहीं।

(3)

पुनः नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता फैशनों की परिवर्तशीलता के समान भी नहीं है, क्योंकि नैतिक मूल्य मात्र रुचि-सापेक्ष न होकर स्वयं रुचियों के सृजक भी है। अतः जिस प्रकार रुचियाँ या तद्जनित फैशन बदलते हैं, जैसे नैतिक मूल्य नहीं बदलते हैं। फैशन जितनी तेजी से बदलते रहते हैं, उतनी तेजी से कभी भी नैतिक मूल्य नहीं बदलते। यह सही है कि नैतिक मूल्यों में देश, काल एवं परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तन होता है, किन्तु फिर भी उनमें एक स्थाई तत्व होता है। अहिंसा, न्याय, आत्म-त्याग, संयम आदि अनेक नैतिक मूल्य ऐसे हैं, जिनकी मूल्यवत्ता सभी देशों एवं कालों में समान रूप से स्वीकृत रही है। यद्यपि इनमें अपवाद माने गये हैं, किन्तु अपवाद की स्वीकृति इनकी मूल्यवत्ता का निषेध नहीं होकर, वैयक्तिक असमर्थता अथवा परिस्थितिविशेष में उनकी सिद्धि की विवशता की ही सूचक है। अपवाद अपवाद है, वह मूल नियम का निषेध नहीं है। इस प्रकार कुछ नैतिक मूल्य अवश्य ही ऐसे हैं जो सार्वभौम और अपरिवर्तनीय हैं। साथ ही नैतिक मूल्यों का परिवर्तन फैशनों के परिवर्तन की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायित्व लिये हुए होता है। फैशन एक दशाब्द से दूसरे दशाब्द में ही नहीं, अपितु दिन-प्रतिदिन बदलते रहते हैं, किन्तु नैतिक मूल्य इस प्रकार नहीं बदलते हैं। ग्रीक नैतिक मूल्यों का ईसाइयत के द्वारा तथा भारतीय वैदिक युग के मूल्यों का औपनिषदिक एवं जैन-बौद्ध संस्कृतियों द्वारा आंशिक रूप से मूल्यांतरण अवश्य हुआ, किन्तु श्रमण-संस्कृति तथा ईसायत द्वारा स्वीकृत मूल्यों का इन दो हजार वर्षों में भी मूल्यांतरण नहीं हो सका है। आज जिस आमूल परिवर्तन की बात कही जा रही है या जिन नये मूल्यों के सृजन की अपेक्षा की जा रही है, वह भी इन पूर्ववर्ती मूल्य-धाराओं के ही किन्हीं मूल्यों की प्रधान रूप से स्वीकृति या मूल्य-समन्वय से अधिक कुछ नहीं। मूल्य-विश्व में आमूल परिवर्तन या निरपेक्ष परिवर्तन सम्भव नहीं

होता। नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में जिस प्रकार का परिवर्तन होता है वह एक सापेक्ष और सीमित प्रकार का परिवर्तन है। इसमें दो प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। परिवर्तन का एक रूप वह होता है, जिसमें कोई नैतिक मूल्य विवेक के विकास के साथ व्यापक अर्थ ग्रहण करता जाता है तथा उसके पुराने अर्थ अनैतिक और नये अर्थ नैतिक माने जाने लगते हैं, जैसा कि अहिंसा और परार्थ के प्रत्ययों के साथ हुआ है। एक समय में इन प्रत्ययों का अर्थ-विस्तार परिजनों, स्वजातियों एवं स्वधर्मियों तक सीमित था। आज वह राष्ट्रीयता या स्वराष्ट्र तक विकसित होता हुआ सम्पूर्ण मानव जाति एवं प्राणी जगत तक अपना विस्तार पा रहा है। आत्मीय परिजनों, जाति बन्धुओं एवं सधर्मी बन्धुओं का हित-साधन करना किसी युग में नैतिक माना जाता था, किन्तु आज हम उसे भाई-भतीजावाद, जातिवाद एवं सम्प्रदाय कहकर अनैतिक मानते हैं। आज राष्ट्रीय हित साधन नैतिक माना जाता है, किन्तु आने वाले कल में यह भी अनैतिक माना जा सकता है। यही बात अहिंसा के प्रत्यय के साथ घटित हुई है। आदिम कबीलों में परिजनों की हिंसा ही हिंसा मानी जाती थी, आगे चलकर मनुष्य की हिंसा को हिंसा माना जाने लगा; वैदिक धर्म एवं यहूदी धर्म ही नहीं, ईसाई धर्म भी, हिंसा के प्रत्यय को मानव जाति से अधिक अर्थ विस्तार नहीं दे पाया, किन्तु वैष्णव परम्परा में अहिंसा का प्रत्यय प्राणी जगत तक और जैन परम्परा में वनस्पति-जगत अपना अर्थ विस्तार पा गया। इस प्रकार नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक अर्थ अनेक अर्थों को विस्तार या संकोच देना भी है। इसमें मूलभूत प्रत्यय की मूल्यवत्ता बनी रहती है, केवल उसके अर्थ विस्तार या संकोच ग्रहण करते हैं। नरबलि, पशुबलि या विधर्मी की हत्या हिंसा है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु इससे अहिंसा की मूल्यवत्ता अप्रभावित है। दण्ड के सिद्धान्त और दण्ड के नियम बदल सकते हैं, किन्तु इससे न्याय की मूल्यवत्ता समाप्त नहीं होती। यौन नैतिकता के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार का अर्थ-विस्तार या अर्थ संकोच हुआ है। इसकी एक अति यह रही कि पर-पुरुष का दर्शन भी पाप माना गया तो दूसरी ओर स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों को भी विहित माना गया। किन्तु इन दोनों अतियों के बावजूद भी पति-पत्नी सम्बन्ध में प्रेम, निष्ठा एवं त्याग के तत्वों की अनिवार्यता सर्वमान्य रही तथा ब्रह्मचर्य की मूल्यवत्ता पर कोई प्रश्न-चिन्ह नहीं लगाया गया।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक रूप वह होता है, जिसमें किसी मूल्य की मूल्यवत्ता को अस्वीकार नहीं किया, किन्तु उनका पदक्रम बदलता रहता है; अर्थात् मूल्यों का निर्मूल्यीकरण नहीं होता, अपितु उनका स्थान-संक्रमण होता है। किसी युग में जो नैतिक गुण प्रमुख माने जाते रहे हों, वे दूसरे युग में गौण हो सकते

है; और जो मूल्य गौण थे, वे प्रमुख हो सकते हैं। उच्च मूल्य निम्न स्थान पर तथा निम्न मूल्य उच्च स्थान पर या साध्य मूल्य साधन स्थान पर तथा साधन मूल्य साध्य स्थान पर आ-जा सकते हैं। कभी न्याय का मूल्य प्रमुख और अहिंसा का मूल्य गौण था - न्याय की स्थापना के लिए हिंसा को विहित माना जाता था, किन्तु जब अहिंसा का प्रत्यय प्रमुख बन गया तो अन्याय को सहन करना भी विहित माने जाने लगा। ग्रीक मूल्यों के स्थान पर ईसाइयत के मूल्यों की स्थापना में ऐसा ही परिवर्तन हुआ। आज साम्यवादी दर्शन सामाजिक न्याय के हेतु खूनी क्रान्ति की उपादेयता की स्वीकृति के द्वारा पुनः अहिंसा के स्थान पर न्याय को ही प्रमुख मूल्य के पद पर स्थापित करना चाहता है। किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं है कि ग्रीक सभ्यता में या साम्यवादी दर्शन में अहिंसा पूर्णतया निर्मूल्य है, ईसाइयत में न्याय का कोई स्थान ही नहीं है। मात्र होता यह है कि युग की परिस्थिति के अनुरूप मूल्य-विश्व के कुछ मूल्य उभरकर प्रमुख बन जाते हैं और दूसरे उनके परिपार्श्व में चले जाते हैं। साम्यवाद और प्रजातन्त्र के राजनैतिक दर्शनों का विरोध मूल्य-विरोध नहीं, मूल्यों की प्रधानता का विरोध है। साम्यवाद के लिए रोटी और सामाजिक न्याय प्रधान मूल्य है। स्वतन्त्रता गौण मूल्य है, जबकि प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता प्रधान मूल्य है और रोटी गौण मूल्य है। आज स्वच्छन्द यौनाचार का समर्थन भी संयम के स्थान पर स्वतन्त्रता (अतन्त्रता) को ही प्रधान मूल्य मानने के एक अतिवादी-दृष्टीकोण का परिणाम है। सुखवाद और बुद्धिवाद का मूल्य विवाद भी ऐसा ही है, न तो सुखवाद बुद्धि तत्व को निर्मूल्य मानता है और न बुद्धिवाद सुख को निर्मूल्य मानता है। मात्र इतना ही है कि सुखवाद में सुख प्रधान मूल्य है और बुद्धि गौण मूल्य है, जबकि बुद्धिवाद में विवेक प्रधान मूल्य है और सुख गौण मूल्य है। इस प्रकार मूल्य-परिवर्तन का अर्थ उनके तारतम्य में परिवर्तन है, जो कि एक प्रकार का आपेक्षिक परिवर्तन ही है। कभी-कभी मूल्य-विपर्यय को ही मूल्य-परिवर्तन मानने की भूल की जाती है, किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि मूल्य-विपर्यय मूल्य-परिवर्तन नहीं है। मूल्य-विपर्यय में हम अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं को जो कि वास्तव में मूल्य है ही नहीं, मूल्य मान लेते हैं-जैसे स्वच्छन्द यौनाचार को नैतिक मान लेना। दूसरे यदि 'काम' की मूल्यवत्ता के नाम पर कामुकता तथा रोटी की मूल्यवत्ता के नाम पर स्वाद लोलुपता या पेदूपन का समर्थन किया जाये, तो यह मूल्य-परिवर्तन नहीं होगा मूल्य-विपर्यय या मूल्याभास ही होगा। क्योंकि 'काम' या 'रोटी' मूल्य हो सकते हैं किन्तु 'कामुकता' या 'स्वाद लोलुपता' किसी भी स्थिति में मूल्य नहीं हो सकते हैं। इसी सन्दर्भ में एक तीसरे प्रकार का मूल्य-परिवर्तन परिलक्षित होता है जिसमें

मूल्य-विश्व के ही कुछ मूल्य अपनी अनुषंगिकता के कारण नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं और कभी-कभी तो नैतिक जगत के प्रमुख मूल्य या नियामक मूल्य बन जाते हैं। 'अर्थ' और 'काम' ऐसे ही मूल्य हैं जो स्वरूपतः नैतिक मूल्य नहीं हैं फिर भी नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित होकर उसका नियमन और क्रम-निर्धारण भी करते हैं। यह सम्भव है कि जो एक परिस्थिति में प्रधान मूल्य हो, वह दूसरी परिस्थिति में प्रधान मूल्य न हो, किन्तु इससे उनकी मूल्यवत्ता समाप्त नहीं हो जाती। पारिस्थितिक या सापेक्ष मूल्य दूसरे मूल्यों के निषेधक नहीं होते हैं। दो परस्पर विरोधी मूल्य भी अपनी परिस्थिति में अपनी मूल्यवत्ता को बनाये रख सकते हैं। वे दोनों मूल्य अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनी-अपनी मूल्यवत्ता रखते हैं। एक दृष्टि से जो मूल्य लगता है वह दूसरी दृष्टि से निर्मूल्य हो सकता है, किन्तु अपनी दृष्टि या अपेक्षा से तो वह मूल्यवान् बना रहता है। लेकिन यह बात पारिस्थितिक मूल्यों के सम्बन्ध में ही अधिक सत्य लगती है।

(4)

मूल्य-परिवर्तन के आधार

वस्तुतः मूल्यों के तारतम्य या उच्चावच क्रम में यह परिवर्तन देशिक और कालिक आवश्यकता के अनुरूप होता है। महाभारत में कहा गया है -

अन्ये कृत युगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।

अन्ये कलियुगे नृणां युग ह्यसानुरूपतः ।¹

युग के ह्रास के अनुरूप सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के धर्म अलग-अलग होते हैं। किन्तु युगानुरूप मूल्य परिवर्तन का अर्थ यह नहीं है कि पूर्व मूल्य निर्मूल्य है, अपितु इतना ही है कि वर्तमान परिस्थिति में उनकी वह मूल्यवत्ता या प्रधानता नहीं रह गई है जो कि उस परिस्थिति में थी। अतः परिस्थितियों के परिवर्तन से होने वाला मूल्य-परिवर्तन से होने वाला मूल्य-परिवर्तन एक प्रकार का सापेक्षिक परिवर्तन ही होगा।

यह सही है कि मनुष्य को जिस विश्व में जीवन जीना है वह परिस्थिति निरपेक्ष नहीं है। दैशिक एवं कालिक परिस्थितियों के परिवर्तन हमारे मूल्यबोध को प्रभावित करते हैं, किन्तु इसमें मात्र यही होता है कि कोई मूल्य प्रधान दिखाई देता है और दूसरे परिपार्श्व में चले जाते हैं। दैशिक और कालिक परिवर्तन के कारण यह सम्भव है कि जो कर्म एक देश और काल में विहित हो, वही दूसरे देश और काल में अविहित हो जावे। अष्टक प्रकरण में कहा गया है -

उत्पद्यते ही साऽवस्था देशकालभयान् प्रति ।

यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत् ।²

दैशिक और कालिक स्थितियों के परिवर्तन से ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसमें कार्य अकार्य की कोटि में और अकार्य कार्य की कोटि में आ जाता है, किन्तु यह अवस्था सामान्य अवस्था नहीं अपितु कोई विशिष्ट अवस्था होती है, जिसे हम आपवादिक अवस्था के रूप में जानते हैं। किन्तु आपवादिक स्थिति में होने वाला मूल्य-परिवर्तन सामान्य स्थिति में होने वाले मूल्य-परिवर्तन से भिन्न स्वरूप का होता है। उसे वस्तुतः मूल्य-परिवर्तन कहना भी कठिन है।

यह भी सही है कि कभी कर्म दैशिक और कालिक परिस्थितियों में इतना असाधारण और कुछ स्थाई परिवर्तन हो जाता है कि जिसके कारण मूल्यांतरण आवश्यक हो जाता है। किन्तु इसमें जिन मूल्यों का परिवर्तन होता है, वे मुख्यतः साधन मूल्य होते हैं। क्योंकि साधन मूल्य आचरण से सम्बन्धित होते हैं और आचरण परिस्थिति-निरपेक्ष नहीं हो सकता, अतः उसमें परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता रहता है। दूसरे, व्यक्ति को समाज में जीवन जीना होता है और समाज परिस्थिति-निरपेक्ष नहीं होता है, अतः सामाजिक नैतिकता अपरिवर्तनीय नहीं कही जा सकती। उसमें देशकालगत परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है, किन्तु उसकी यह परिवर्तनशीलता देशकाल-सापेक्ष होती है, इसमें मुख्यतः मात्र मूल्यों का संक्रमण या पदक्रम परिवर्तन होता है। अपवाद की स्थिति इन सामान्य परिवर्तनों से भिन्न प्रकार की होती है, उसमें कभी-कभी मूल्य का विरोधी तत्व ही मूल्यवान् प्रतीत होने लगता है।

(5)

क्या आपद्धर्म नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का सूचक है?

किन्तु क्या अपवाद की स्वीकृति उसे नैतिक मूल्य की मूल्यवत्ता को ही निरस्त कर देती है? यह सत्य है कि किसी परिस्थिति विशेष में सामान्य रूप में स्वीकृत मूल्य के विरोधी मूल्य की सिद्धि नैतिक हो जाती है। महाभारत में कहा गया-

स एव धर्मः सोऽधर्मो देश काले प्रतिष्ठितः ।

आदानमनृतं हिंसा धर्मोऽह्मावस्थिक स्मृतः ।।^१

अर्थात् कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि जब हिंसा, झूठ तथा चौर्य कर्म ही धर्म हो जाते हैं। प्राचीनतम जैन आगम आचारांग में भी कहा गया है -

जे आसवाने परिस्सवा, जे परिस्सवाने आसवा ।।^२

जो आसूव (पाप) के स्थान होते हैं वे संवर (धर्म) के स्थान हो जाते हैं और जो धर्म के स्थान होते हैं वे ही आसूव (पाप) के स्थान हो जाते हैं, किन्तु यह परिवर्तन साधन मूल्यों का ही होता है। आपद्धर्म में कोई एक साध्य मूल्य इतना प्रधान हो जाता है कि उसकी सिद्धि के लिए किसी दूसरे मूल्य का निषेध आवश्यक

हो जाता है। जैसे अन्याय के प्रतिकार के लिए हिंसा अथवा शरीर रक्षण या दूसरों के जीवन रक्षण के लिए चोरी आवश्यक हो जाती है। मान लीजिये देश में अकाल की स्थिति के कारण हजारों लोग मृत्यु के ग्रास बन रहे हों, दूसरी ओर कुछ लोगों ने अधिक मुनाफा कमाने के लिए अनाज की गोदामों में बन्द कर रखा हो। ऐसी स्थिति में जनजीवन की रक्षा के लिए हिंसा या चोरी भी मूल्य बन जाती है और अहिंसा या आचर्य के मूल्यों का निषेध आवश्यक लगता है, किन्तु यह निषेध परिस्थिति विशेष तक सीमित रहता है। उस परिस्थिति के सामान्य होने पर पुनः धर्म, धर्म बन जाता है और अधर्म अधर्म बन जाता है। वस्तुतः आपवादिक अवस्था में कोई एक मूल्य इतना प्रधान प्रतीत होता है कि उसकी उपलब्धि के लिए हम अन्य मूल्यों की उपेक्षा कर देते हैं अथवा कभी-कभी सामान्य रूप से स्वीकृत उसी मूल्य के विरोधी तथ्य को हम उसका साधन बना लेते हैं। उदाहरण के लिए जब हमें जीवन-रक्षण ही एकमात्र मूल्य प्रतीत होता है तो उस अवस्था में हम हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी आदि को अनैतिक नहीं मानते हैं। इस प्रकार अपवाद में एक मूल्य साध्य स्थान पर चला जाता है और अपने साधनों को मूल्यवत्ता प्रदान करना प्रतीत होता है, किन्तु यह मूल्य भ्रम ही है। उस समय भी चोरी या हिंसा मूल्य नहीं बन जाते हैं क्योंकि उनका स्वतः कोई मूल्य नहीं है, वे तो उस साध्य की मूल्यवत्ता के कारण मूल्य के रूप में प्रतीत या आभासित होते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अहिंसा के स्थान पर हिंसा या सत्य के स्थान पर असत्य नैतिक मूल्य बन जाते हैं। साधु पुरुष की रक्षा के लिए दुष्टजन की हिंसा की जा सकती है, किन्तु इससे हिंसा मूल्य नहीं बन जाती है। किसी प्रत्यय की नैतिक मूल्यवत्ता उसके किसी परिस्थिति विशेष में आचरित होने या नहीं होने से अप्रभावित भी रह सकती है। प्रथम तो यह कि अपवाद की मूल्यवत्ता केवल उस परिस्थिति विशेष में ही होती है, उसके आधार पर जीवन का कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। साथ ही जब व्यक्ति आपद्धर्म का आचरण करता है तब भी उसकी दृष्टि में मूल नैतिक नियम की मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है। यह तो परिस्थितिगत या व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण उसे वह आचरण करना पड़ रहा है। दूसरे सार्वभौम नियम में और अपवाद में अन्तर है। अपवाद की यदि कोई मूल्यवत्ता है, तो वह केवल विशिष्ट परिस्थिति में ही रहती है, जबकि सामान्य नियम की मूल्यवत्ता सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सर्वजनीन होती है। अतः आपद्धर्म की स्वीकृति मूल्य-परिवर्तन की सूचक नहीं है। वह सामान्यतया किसी मूल्य को न तो निर्मूल्य करती है और न मूल्य-संस्थान में उसे अपने स्थान से पदच्युत ही करती है, अतः वह मूल्यांतरण भी नहीं है।

नैतिक कर्म के दो पक्ष होते हैं एक बाह्य पक्ष, जो आचरण के रूप में होता है और दूसरा आन्तरिक पक्ष, जो कर्ता के मनोभावों के रूप में होता है आपद्धर्म का सम्बन्ध केवल बाह्य पक्ष से होता है, अतः उससे किसी नैतिक मूल्य की मूल्यवत्ता प्रभावित नहीं होती। मात्र कर्म का बाह्य पक्ष उसे नैतिक मूल्य प्रदान नहीं करता है।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का मूल्यांकन

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में हमें जान झूई का दृष्टिकोण अधिक संगतिपूर्ण जान पड़ता है। वे यह मानते हैं कि वे परिस्थितियाँ, जिनमें नैतिक आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव ही परिवर्तनशील हैं और नैतिक नियमों, नैतिक कर्तव्यों और नैतिक मूल्यांकनों के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है, किन्तु यह मान लेना मूर्खतापूर्ण ही होगा कि नैतिक सिद्धान्त इतने परिवर्तनशील हैं कि किसी सामाजिक स्थिति में उनमें कोई नियामक शक्ति ही नहीं होती है शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है किन्तु शुभ का आकार नहीं।^{१०} दूसरे शब्दों में नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील है किन्तु नैतिकता की आत्मा नहीं। नैतिक मूल्यों का विशेष स्वरूप समय-समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है, जैसे-जैसे सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर और परिस्थिति बदलती रहती है, किन्तु मूल्यों की नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है।

वस्तुतः नैतिक मूल्यों की वास्तविक प्रकृति में परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता के दोनों ही पक्ष उपस्थित हैं। नीति का कौन-सा पक्ष परिवर्तनशील होता है और कौन-सा अपरिवर्तनशील होता है, इसे निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है।^{११}

१. संकल्प का नैतिक मूल्य अपरिवर्तनशील होता है और आचरण का नैतिक मूल्य परिवर्तनशील होता है। हिंसा का संकल्प कभी नैतिक नहीं होता, यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो यह आवश्यक नहीं। दूसरे शब्दों में कर्म का जो मानसिक या बौद्धिक पक्ष है वह निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय है, किन्तु कर्म का जो व्यावहारिक एवं आचरणात्मक पक्ष है, वह सापेक्ष एवं परिवर्तनशील है। दूसरे शब्दों में नीति की आत्मा अपरिवर्तनशील है और नीति का शरीर परिवर्तनशील है। संकल्प का क्षेत्र, प्रज्ञा का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ चेतना ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वहाँ परिस्थितियों या समाज का शासन नहीं है, अतः इस क्षेत्र में नैतिक मूल्यों की निरपेक्षता एवं परिवर्तनशीलता सम्भव है। निष्काम कर्म योग का दर्शन इसी सिद्धान्त पर स्थित है, क्योंकि अनेक स्थितियों में कर्म का बाह्यात्मक रूप कर्ता के मनोभावों का यथार्थ परिचायक नहीं होता। अतः

यह माना जा सकता कि वे मूल्य जो मनोवृत्त्यात्मक या भावनात्मक नीति से सम्बन्धित हैं, अपरिवर्तनीय हैं; किन्तु वे मूल्य जो आचरणात्मक या व्यवहारात्मक हैं, परिवर्तनीय हैं।

2. दूसरे, नैतिक साध्य या नैतिक आदर्श अपरिवर्तनशील होता है, किन्तु उस साध्य के साधन परिवर्तनीय होते हैं। जो सर्वोच्च शुभ है वह अपरिवर्तनीय है, किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं वे विविध एवं परिवर्तनीय हैं, क्योंकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि सर्वोच्च शुभ को छोड़कर कुछ अन्य साध्य कभी साधन भी बन जाते हैं, अतः साध्य साधन का वर्गीकरण निरपेक्ष नहीं है, उनमें परिवर्तन सम्भव है। यद्यपि जब तक कोई मूल्य साध्य स्थान पर बना रहता है, तब तक उसकी मूल्यवत्ता रहती है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि किसी स्थिति में जो साध्यमूल्य है, वह कभी साधन मूल्य होते हैं और कभी साध्य मूल्य। अतः उनकी मूल्यवत्ता अपने स्थान-परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो सकती है। पुनः वैयक्तिक रुचियों, क्षमताओं और स्थितियों की भिन्नता के आधार पर सभी के लिए समान नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अतः साधन मूल्यों को परिवर्तनीय मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है।

3. तीसरे, नैतिक नियमों में कुछ नियम मौलिक होते हैं और कुछ उन मौलिक नियमों के सहायक होते हैं। साधारणतया सामान्य या मूलभूत नियम ही अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम परिवर्तनीय होते हैं। यद्यपि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि अनेक परिस्थितियों में सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी इतना तो ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी भी नियम का स्थान नहीं दिया जा सकता है।

यहाँ एक बात जो विचारणीय है वह यह कि मौलिक नियमों एवं साध्य-मूल्यों की अपरिवर्तनशीलता भी एकांतिक नहीं है। वस्तुतः नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में एकान्त रूप से अपरिवर्तनशीलता और एकान्त रूप से परिवर्तनशीलता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि नैतिक मूल्य एकान्त रूप से परिवर्तनशील होंगे तो उनकी कोई नियमकता ही नहीं रह जावेगी। इसी प्रकार वे यदि एकान्त रूप से अपरिवर्तनशील होंगे तो सामाजिक सन्दर्भों के अनुरूप रह सकेंगे। नैतिक मूल्य इतने निर्लोच तो नहीं हैं कि वे परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों के साथ समायोजन नहीं कर सकें, किन्तु वे इतने लचीले भी नहीं कि हर कोई उन्हें अपने अनुरूप ढालकर उनके स्वरूप को ही विकृत कर दे।

परिवर्तनशीलता : प्रगति या प्रतिगति

आज परिवर्तनशीलता को प्रगति का लक्षण माना जाने लगा है, किन्तु क्या परिवर्तनशीलता प्रगति की परिचायक है? इस प्रश्न का उत्तर भी एकान्त रूप से नहीं दिया जा सकता है। परिवर्तनशीलता प्रगति भी हो सकती है और प्रतिगति भी। पुनः कोई मूल्य-परिवर्तन एक दृष्टि से प्रगति कहा जा सकता है, वहीं दूसरी दृष्टि से प्रतिगति भी कहा जा सकता है। वर्तमान युग के जीवन-मूल्य एक दृष्टि से प्रगतिशील हो सकते हैं तो दूसरी दृष्टि से प्रतिगति के परिचायक भी कहे जा सकते हैं। आज मनुष्य का ज्ञान बढ़ा है, समृद्धि बढ़ी है, उसकी प्रकृति पर शासन बढ़ा है। इसे क्या कहें प्रगति या प्रतिगति? आज नारी स्वातन्त्र्य को, स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों की प्रगति कहा जाता है, किन्तु पाण्डु-कुंती सम्वाद में जो नारी स्वातन्त्र्य का चित्र है, उसकी अपेक्षा से तो आज का यूरोप भी पिछड़ा हुआ ही कहा जावेगा। पाण्डु कहते हैं -

अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन वरानने ।

कामाचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारु हासिनि ।।

तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात् सुभगे पतीन ।

नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराभवत् ।।¹⁰

‘पूर्व काल में स्त्रियाँ अनावृत थीं, वे भोग-विलास के लिए स्वतन्त्र होकर घूमा करती थीं, वे कौमार्य अवस्था में काम-सेवन करती थी, वह उनके लिए अधर्म नहीं था।’ आज समाज में इन्हीं मूल्यों की पुनः स्थापना करके हम प्रगति करेंगे या प्रतिगति, यह तो स्वयं हमारे विचारने की वस्तु है। केवल प्रचलित एवं परम्परागत मूल्यों का निषेध नैतिक प्रगति का लक्षण नहीं है। आज हमें मानवीय विवेक के आलोक में सर्वप्रथम मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करना होगा। हमारी नैतिक प्रगति का अर्थ होगा - उन मूल्यों की संस्थापना, जो विवेकशीलता की आँखों में मानवीय गुणों के विकास और मानवीय कल्याण के लिए सहायक हों, जिनके द्वारा मनुष्य की मनुष्यता जीवित रह सके। आज मनुष्य चाहे भौतिक दृष्टि से प्रगति की राह पर अग्रसर हो, किन्तु नैतिक दृष्टि से वह प्रगति कर रहा है यह कहना कठिन ही है। एक उर्दू शायर ने कहा है -

तालीम का शोर इतना, तहजीब का गुल इतना,

फिर भी न तरक्की है, नीयत की खराबी है।

बौद्धिक विकास से प्राप्त विशाल ज्ञान राशि, वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त भौतिक सुख-सुविधा एवं आर्थिक समृद्धि मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक एवं सामाजिक विपन्नता को दूर नहीं कर पाई है। ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने वाले

सहस्राधिक विश्वविद्यालयों के होते हुए भी आज का शिक्षित मानव अपनी स्वार्थपरता और भोग-लोलुपता पर विवेक और संयम का अंकुश नहीं लगा पाया है। भौतिक सुख-सुविधा का यह अम्बार आज भी उसके मानस को सन्तुष्ट नहीं कर पा रहा है। आज शीघ्रगामी आवागमन के साधनों से विश्व की दूरी कम हो गई है, किन्तु हृदय की दूरी तो बढ़ रही है। सुरक्षा के साधनों की यह बहुलता आज भी मानव मन में अभय का विकास नहीं कर सकी है। आज भी मनुष्य उतना ही आशंकित, आतंकित, आक्रामक और स्वार्थी है जितना आदिम युग में रहा होगा। मात्र इतना ही नहीं, आज तो जीवन की सहजता और स्वाभाविकता भी उससे छिन गई है। आज जीवन में छद्मों का बाहुल्य है। भीतर वासना की उद्दाम ज्वालायें और बाहर सचरित्रता और सदाशयता का ढोंग; यही आज के मानव की त्रासदी है। इसे प्रगति कहें या प्रतिगति? आज हमें यह निश्चित करना है कि हमारे मूल्य-परिवर्तन की दिशा क्या हो? हमें मनुष्य को दोहरे जीवन की त्रासदी से बचाना है, किन्तु यह ध्यान भी रखना होगा कि कहीं इस बहाने हम उसे पशुत्व की ओर तो नहीं ढकेल रहे हैं।

संदर्भ -

1. *Lectures in the youth League* - उद्धृत नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण पृ. 344-345।
2. *Ethical Studies*-p. 223.
3. देखिये-विषय और आत्मा (यशदेव शल्य) पृ. 88-89।
4. महाभारत शान्ति पर्व 33/32।
5. अपृक प्रकरण (हरिभद्र) 27/5 की टीका में उद्धृत।
6. महाभारत शान्ति पर्व 63/11
7. आचारांग 1/4/2/130।
8. *Contemporary Ethical Theories* p. 163.
9. देखिये-नीति के सापेक्ष और निरपेक्ष तत्व-डा. सागरमल दार्शनिक अप्रैल 76।
10. महाभारत आदि पर्व 122/4-5।



मूल्य और मूल्य बोध की सापेक्षता का सिद्धान्त

मूल्य-दर्शन का उद्भव एवं विकास

एक नवीन दार्शनिक प्रस्थान के रूप में मूल्य-दर्शन का विकास लौत्से, ब्रेन्टानो, एरनफेल्स, माइनांग, हार्टमन, अरबन, एवरेट, मैक्स शेलर आदि विचारकों की रचनाओं के माध्यम से 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से प्रारम्भ होता है तथापि श्रेय एवं प्रेय के विवेक के रूप में, परम सुख की खोज के रूप में एवं पुरुषार्थ की विवेचना के रूप में मूल्य-बोध और मूल्य-मीमांसा के मूलभूत प्रश्नों की समीक्षा एवं तत्सम्बन्धी चिन्तन के बीज पूर्व एवं पश्चिम के प्राचीन दार्शनिक चिन्तन में भी उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः मूल्य-बोध मानवीय प्रज्ञा के विकास के साथ ही प्रारम्भ है, अतः वह उतना ही प्राचीन है, जितना मानवीय प्रज्ञा का विकास। मूल्य विषयक विचार विमर्श को यह धारा जहाँ भारत में 'श्रेय' एवं 'मोक्ष' को परम मूल्य मान कर आध्यात्मिकता की दिशा में गतिशील होती रही, वहीं पश्चिम में 'शुभ' एवं 'कल्याण' पर अधिक बल देकर ऐहिक, सामाजिक एवं बुद्धिवादी बनी रही। फिर भी अर्थ, काम और धर्म के त्रिवर्ग को स्वीकार कर न तो भारतीय विचारकों ने ऐहिक और सामाजिक जीवन के मूल्यों की उपेक्षा की है और न सत्य, शिव एवं सुन्दर के परम मूल्यों को स्वीकार कर पश्चिम के विचारकों ने मूल्यों की आध्यात्मिक अवधारणा की उपेक्षा की है।

मूल्य का स्वरूप

मूल्य क्या है? इस प्रश्न के अभी तक अनेक उत्तर दिये हैं- सुखवादी विचार परम्परा के अनुसार, जो मनुष्य की किसी इच्छा की तृप्ति करता है अथवा जो सुखकर, रुचिकर एवं प्रिय है, वही मूल्य है। विकासवादियों के अनुसार जो जीवनरक्षक एवं संवर्द्धक है, वही मूल्य है। बुद्धिवादी कहते हैं कि मूल्य वह है जिसे मानवीय प्रज्ञा निरपेक्ष रूप से वरेण्य मानती है और जो एक विवेकवान् प्राणी के रूप में मनुष्य-जीवन का स्वतः साध्य है। अन्ततः पूर्णतावादी आत्मोपलब्धि को ही मूल्य मानते हैं और मूल्य के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः मूल्य के सन्दर्भ में ये सभी दृष्टिकोण किसी सीमा तक ऐकान्तिकता एवं अवान्तर कल्पना के दोष (Naturalistic Fallacy) से ग्रसित हैं। वास्तव में मूल्य एक

अनैकान्तिक, व्यापक एवं बहु-आयामी प्रत्यय है, वह एक व्यवस्था है, एक संस्थान है, उसमें भौतिक और आध्यात्मिक, श्रेय और प्रेय, वांछित और वांछनीय, उच्च और निम्न, वासना और विवेक सभी समन्वित हैं। वे यथार्थ और आदर्श की खाई के लिए एक पुल का काम करते हैं। अतः उन्हें किसी ऐकान्तिक एवं निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता। मूल्य एक नहीं, अनेक हैं और मूल्य-दृष्टियाँ भी अनेक हैं। अतः प्रत्येक मूल्य किसी दृष्टि विशेष के प्रकाश में ही आलोकित होता है। वस्तुतः मूल्यों की और मूल्य-दृष्टियों की इस अनेकविधता और बहुआयामी प्रकृति को समझे बिना मूल्यों का सम्यक् मूल्यांकन भी सम्भव नहीं हो सकता है।

मूल्यबोध की सापेक्षता

मूल्य-बोध में मानवीय चेतना के विविध पहलू एक-दूसरे से संयोजित होते हैं। मूल्यांकन करने वाली चेतना भी बहुआयामी है, उसमें ज्ञान, भाव और संकल्प तीनों ही उपस्थित रहते हैं। विद्वानों ने इस बात को सम्यक् प्रकार से न समझ कर ही मूल्यों के स्वरूप को समझने में भूल की है। यहाँ हमें दो बातों को ठीक प्रकार से समझ लेना होगा—एक तो यह कि सभी मूल्यों का मूल्यांकन चेतना के किसी एक ही पक्ष के द्वारा सम्भव नहीं है, दूसरे यह कि मानवीय चेतना के सभी पक्ष एक-दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष होकर कार्य नहीं करते हैं। यदि हम इन बातों की उपेक्षा करेंगे तो हमारा मूल्य-बोध अपूर्ण एवं एकांगी होगा। फिर भी मूल्य-दर्शन के इतिहास में ऐसी उपेक्षा की जाती रही है। एरेनफेल्स ने मूल्य को इच्छा (डिजायर) का विषय माना तो माइनांग ने उसे भावना (फीलिंग) का विषय बताया। पैरी ने उसे रुचि (इंट्रेस्ट) का विषय मानकर मूल्य-बोध में इच्छा और भावना का संयोग माना है। सारले ने उसे अनुमोदन (एप्रीसियेशन) का विषय मान कर उसमें ज्ञान और भावना का संयोग माना है। फिर भी ये सभी विचारक किसी सीमा तक एकांगिता के दोष से नहीं बच पाये हैं।

मूल्य-बोध न तो कुर्सी और मेज के ज्ञान के समान तटस्थ ज्ञान है और न प्रेयसी के प्रति प्रेम की तरह मात्र भावावेश ही। वह मात्र इच्छा या रुचि का निर्माण भी नहीं है। वह न तो निरा तर्क है और न निरी भावना या संवेदना। मूल्यात्मक चेतना में इष्टत्व, सुखदाता अथवा इच्छा-तृप्ति का विचार अवश्य उपस्थित रहता है, किन्तु यह इच्छा-तृप्ति का विचार या इष्टत्व का बोध विवेक-रहित न होकर विवेक-युक्त होता है। इच्छा स्वयं में कोई मूल्य नहीं, उसकी अथवा उसके विषय की मूल्यात्मकता का निर्णय स्वयं इच्छा नहीं, विवेक करता है, भूख स्वयं मूल्य नहीं है, रोटी मूल्यवान है, किन्तु रोटी की मूल्यात्मकता भी स्वयं रोटी पर नहीं अपितु

उसका मूल्यांकन करने वाली चेतना पर तथा क्षुधा की वेदना पर निर्भर है। किसी वस्तु के वांछनीय, ऐषणीय या मूल्यवान् होने का अर्थ है-निष्पक्ष विवेक की आँखों में वांछनीय होना। मात्र इच्छा या मात्र वासना अपने विषय को वांछनीय या ऐषणीय नहीं बना देती है, यदि उसमें विवेक का योगदान न हो। मूल्य का जन्म वासना और विवेक तथा यथार्थ और आदर्श के सम्मिलन में ही होता है। वासना मूल्य के लिए कच्ची सामग्री है तो विवेक उसका रूपाकार। उसमें भोग और त्याग, तृप्ति और निवृत्ति एक साथ उपस्थित रहते हैं। इस सन्दर्भ में श्री संगमलाल जी पांडेय का मूल्यों की त्यागरूपता का सिद्धान्त भी एकांगी ही लगता है। उनका यह कहना कि “निवृत्ति ही मूल्यसार है” ठीक नहीं है। मूल्य में निवृत्ति और संतुष्टि (प्रकृति) दोनों ही अपेक्षित हैं। मूल्य में निवृत्ति शब्द का दो भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है, जो एक भ्रान्ति को जन्म देता है। क्षुधा की निवृत्ति या कामवेग की निवृत्ति में त्याग नहीं भोग है। पुनः इस निवृत्ति को भी सन्तुष्टि का ही दूसरा रूप कहा जा सकता है। (देखिए-दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई 1976)।

पुनश्च, यह मानना भी उचित नहीं है कि मूल्य-बोध में विवेक या बुद्धि ही एकमात्र निर्धारक तत्त्व है। मूल्य-बोध की प्रक्रिया में निश्चित ही विवेक-बुद्धि का महात्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु यही एकमात्र निर्धारक तत्त्व नहीं है। मूल्य-बोध न तो मात्र जैव-प्रेरण या इच्छा से उत्पन्न होता है और न मात्र विवेक-बुद्धि से। मूल्य-बोध में भावात्मक पक्ष का भी महात्त्वपूर्ण-स्थान होता है, किन्तु केवल भावोन्मेष भी मूल्य-बोध नहीं दे पाता है। डॉ. गोविन्दचन्द्रजी पांडे के शब्दों में “यह (मूल्य-बोध) केवल भाव-सघनता या इच्छोद्वेलन न होकर व्यक्त या अव्यक्त विवेक से आलोकित है, उसमें अनुभूति की जीवन्त सघनता और रागात्मक (लगाव) के साथ ज्ञान की स्वच्छता और तटस्थता (अलगाव) उपस्थित मिलते हैं (मूल्य-मीमांसा)। इस प्रकार मूल्य-चेतना में ज्ञान, भाव और इच्छा तीनों ही उपस्थित होते हैं। फिर भी यह विचारणीय है कि क्या सभी प्रकार के मूल्यांकन में ये सभी पक्ष समान रूप से बलशाली रहते हैं? यद्यपि प्रत्येक मूल्य-बोध एवं मूल्यांकन में ज्ञान, भाव और इच्छा के तत्त्व उपस्थित रहते हैं, फिर भी विविध प्रकार के मूल्यों का मूल्यांकन या मूल्य-बोध करते समय इनके बलाबल में तारतम्यता अवश्य रहती है। उदाहरणार्थ-सौंदर्य-बोध में भाव या अनुभूत्यात्मक पक्ष का जितना प्राधान्य होता है उतना अन्य पक्षों का नहीं। आर्थिक एवं जैविक मूल्यों के बोध में इच्छा की जितनी प्रधानता होती है उतनी विवेक या भाव की नहीं। यह बात तो मूल्य विशेष की प्रकृति पर निर्भर है कि उसका मूल्य-बोध में देश-बोध करते समय कौनसा पक्ष प्रधान होगा। इतना ही नहीं, मूल्य-बोध में देश-काल और परिवेश के तत्त्व भी चेतना पर

अपना प्रभाव डालते हैं और हमारे मूल्यांकन प्रभावित करते हैं। इस प्रकार मूल्य-बोध एक सहज प्रक्रिया न होकर एक जटिल प्रक्रिया है और उसकी इस जटिलता में ही उसकी सापेक्षता निहित है। जो आचार किसी देश, काल परिस्थिति विशेष में शुभ माना जाता है वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में अशुभ माना जा सकता है। सौंदर्य-बोध, रसानुभूति आदि के मानदण्ड भी देश, काल और व्यक्ति के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। आज सामान्यजन फिल्मी गानों में जो रस-बोध पाता है वह उसे शास्त्रीय संगीत में नहीं मिलता है। इसी प्रकार रुचि-भेद भी हमारे मूल्य-बोध को एवं मूल्यांकन को प्रभावित करता है। वस्तुतः मूल्य-बोध की अवस्था चेतना की निष्क्रिय अवस्था नहीं है। जो विचारक यह मानते हैं कि मूल्य-बोध एक प्रकार का सहज ज्ञान है, वे उसके स्वरूप से ही अनभिज्ञ हैं। मात्र यही नहीं, रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति में और तत्सम्बन्धी मूल्य-बोध में भी अन्तर है। रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति में मात्र भावपरक पक्ष की उपस्थिति पर्याप्त होती है, उसमें विवेक का कोई तत्त्व उपस्थित हो ही यह आवश्यक नहीं है, किन्तु तत्सम्बन्धी मूल्य-बोध में किसी न किसी विवेक का तत्त्व अवश्य ही उपस्थित रहता है। मूल्य-बोध और मूल्य-लाभ सक्रिय एवं सृजनात्मक चेतना के कार्य हैं। मूल्य-बोध और मूल्य-लाभ में मानवीय चेतना के विविध पक्षों का विविध आयामों में एक प्रकार का द्वन्द्व चलता है। वासना और विवेक अथवा भावना या विवेक के अन्तर्द्वन्द्व में ही मनुष्य मूल्य-विश्व का आभास पाता है यद्यपि मूल्यांकन करने वाली चेतना मूल्य-बोध में इस द्वन्द्व का अतिक्रमण करती है। वस्तुतः इस द्वन्द्व में जो पहलू विजयी होता है उसी के आधार पर व्यक्ति की मूल्य-दृष्टि बनती है और जैसी मूल्य-दृष्टि बनती है वैसा ही मूल्यांकन या मूल्य-बोध होता है। जिनमें जिजीविषा प्रधान हो, जिनकी चेतना को जैव प्रेरणाएँ ही अनुशासित करती हों उन्हें रोटी अर्थात् जीवन का संवर्द्धन ही एकमात्र परम मूल्य लग सकता है, किन्तु अनेक परिस्थितियों में विवेक के प्रबुद्ध होने पर कुछ व्यक्तियों को चारित्रिक एवं अन्य उच्च मूल्यों की उपलब्धि हेतु जीवन का बलिदान ही एकमात्र परम मूल्य लग सकता है। किसी के लिए वासनात्मक एवं जैविक मूल्य ही परम मूल्य हो सकते हों और जीवन सर्वतोभावेन रक्षणीय माना जा सकता हो, किन्तु किसी के लिए चारित्रिक या नैतिक मूल्य इतने उच्च हो सकते हैं कि वह उनकी रक्षा के लिए जीवन का बलिदान कर दे। इस प्रकार मूल्य-बोध की विभिन्न दृष्टियों का निर्माण चेतना के विविध पहलुओं में से किसी एक की प्रधानता के कारण अथवा देश-काल तथा परिस्थितिजन्य तत्त्वों के कारण होता है और उसके परिणामस्वरूप मूल्य-बोध तथा मूल्यांकन भी प्रभावित होता है। अतः हम कह सकते हैं कि मूल्य-बोध भी किसी सीमा तक दृष्टि-सापेक्ष है, किन्तु इसके

साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं दृष्टि भी मूल्य-बोध से प्रभावित होती है। इस प्रकार मूल्य-बोध और मनुष्य की जीवन-दृष्टि परस्पर सापेक्ष है। अरबन का यह कथन कि मूल्यांकन मूल्य को निर्धारित नहीं अपितु मूल्य ही अपनी पूर्ववर्ती वस्तुनिष्ठता के द्वारा मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं, आंशिक सत्य ही कहा जा सकता है। मूल्य न तो पूर्णतया वस्तुतन्त्र है और न आत्मतन्त्र ही। हमारा मूल्य बोध आत्म और वस्तु दोनों से प्रभावित होता है। सौंदर्य-बोध में, काव्य के रस-बोध में आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के इन दोनों पक्षों को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है सौंदर्य-बोध अथवा काव्य की रसानुभूति न पूरी तरह कृति सापेक्ष है, न पूरी तरह आत्म-सापेक्ष। इस प्रकार हमें यह मानना होगा कि मूल्यांकन करने वाली चेतना और मूल्य दोनों ही एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। मूल्यांकन की प्रक्रिया में दोनों परस्पराश्रित हैं। एक ओर मूल्य अपनी मूल्यवत्ता के लिए चेतना सत्ता की अपेक्षा करते हैं दूसरी ओर चेतना सत्ता मूल्य-बोध के लिए किसी वस्तु, कृति या घटना की अपेक्षा करती है। मूल्य न तो मात्र वस्तुओं से प्रकट होते हैं और न मात्र आत्मा से। अतः मूल्य-बोध की प्रक्रिया को समझने में विषयितंत्रता या वस्तुतंत्रता ऐकात्मिक धारणाएँ हैं। मूल्य का प्रकटीकरण चेतना और वस्तु (यहाँ वस्तु में कृति या घटना अन्तर्भूत हैं) दोनों के संयोग में होता है। पेरी सीमा तक सत्य के निकट हैं जब वे यह कहते हैं कि मूल्य वस्तु और विचार के ऐच्छिक सम्बन्ध में प्रकट होते हैं।

मूल्यों की तारतम्यता का प्रश्न

मूल्य-बोध के साथ जुड़ा हुआ दूसरा सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है, मूल्यों के तारतम्य का बोध। हमें केवल मूल्य-बोध नहीं होता अपितु मूल्यों के उच्चावच क्रम का या उनकी तारतम्यता का भी बोध होता है। वस्तुतः हमें मूल्य का नहीं अपितु मूल्यों का, उनकी तारतम्यता-सहित बोध होता है। हम किसी भी मूल्य-विशेष का बोध मूल्य-विश्व में ही करते हैं, अलग एकाकी रूप में नहीं। अतः किसी मूल्य के बोध के समय ही उसकी तारतम्यता का भी बोध हो जाता है, किन्तु यह तारतम्यता का बोध भी दृष्टि-निरपेक्ष नहीं होकर दृष्टि-सापेक्ष होता है। हम कुछ मूल्यों का उच्च मूल्य और कुछ मूल्यों को निम्न मूल्य कहते हैं किन्तु मूल्यों की इस उच्चावचता या तारतम्यता का निर्धारण कौन करता है? क्या मूल्यों की अपनी कोई ऐसी व्यवस्था है जिसमें निरपेक्ष रूप से उसकी तारतम्यता को बोध हो जाता है? यदि मूल्यों की तारतम्यता की कोई ऐसी वस्तुनिष्ठ व्यवस्था होती है तो फिर तारतम्यता की कोई ऐसी वस्तुनिष्ठ व्यवस्था होती है तो फिर तारतम्यता सम्बन्धी हमारे विचारों में मतभेद नहीं होता। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। अतः स्पष्ट है कि मूल्यों की तारतम्यता का बोध भी दृष्टि-सापेक्ष है।

भारतीय परम्परा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की मूल्य-दृष्टियों की विविधता मूल्य-बोध की सपेक्षता को ही सूचित करती है। पश्चिम में भी सत्य, शिव एवं सुन्दर के सम्बन्ध में इसी प्रकार का दृष्टिभेद परिलक्षित होता है। कुछ लोग सत्य को परम मूल्य मानते हैं तो दूसरे कुछ लोग शिव (कल्याण) को अथवा सुन्दर को परम मूल्य मानते हैं। भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की श्रेष्ठता अथवा कनिष्ठता के सम्बन्ध में भी जो मतभेद हैं वे सभी दृष्टि-सापेक्ष ही हैं। वस्तुतः जो किसी एक दृष्टि से सर्वोच्च मूल्य हो सकता है वही दूसरी दृष्टि से निम्न मूल्य भी सिद्ध हो सकता है। बलवत्ता या तीव्रता की दृष्टि से जहाँ जैविक मूल्य सर्वोच्च ठहरते हैं, वही विवेक एवं संयम की दृष्टि से आध्यात्मिक एवं अतिजैविक मूल्य उच्चतर माने जा सकते हैं। पुनः किसी एक ही दृष्टि के आधार पर मूल्यों की तारतम्यता का निर्धारण भी सम्भव नहीं है, क्योंकि मूल्य और मूल्यदृष्टियाँ बहुआयामी हैं, वे एक-रेखीय न होकर बहुरेखीय हैं। एक मूल्य पर एक दृष्टि से विचार किया जा सकता है। इस प्रकार मूल्य-बोध और उनकी तारतम्यता का बोध दृष्टि-सापेक्ष है और दृष्टि-चेतना के विविध पहलुओं के बलाबल पर निर्भर करता है। पुनश्च, चेतना के वासनात्मक और विवेकात्मक पहलुओं में कब, कौन, कितना बलशाली होगा यह बात भी आंशिक रूप से देश-काल और परिस्थितियों पर निर्भर होगी और आंशिक रूप से व्यक्ति के संस्कार और मूल्य-दृष्टि पर भी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मूल्य-बोध, मूल्य-दृष्टि पर भी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मूल्य-बोध-मूल्य दृष्टि पर निर्भर करता है और मूल्य-दृष्टि स्वयं मूल्य-बोध पर। वे अन्योन्याश्रित हैं, बीज-वृक्ष न्याय के समान उनमें से किसी की पूर्वता-प्राथमिकता का निश्चय कर पाना कठिन है।

डब्ल्यू.एम. अरबन का आध्यात्मिक मूल्यवाद और भारतीय मूल्य-दर्शन

अरबन¹ के अनुसार मूल्यांकन एक निर्णयात्मक प्रक्रिया है, जिसमें सत् के प्रति प्राथमिक विश्वासों के ज्ञान का तत्त्व भी होता है। इसके साथ ही उसमें भावात्मक तथा संकल्पात्मक अनुक्रिया भी है। मूल्यांकन संकल्पात्मक प्रक्रिया का भावपक्ष है। अरबन मूल्यांकन की प्रक्रिया में ज्ञानपक्ष के साथ-साथ भावना एवं संकल्प की उपस्थिति भी आवश्यक मानते हैं। मूल्यांकन में निरन्तरता का तत्त्व उनकी प्रामाणिकता का आधार है। जितनी अधिक निरन्तरता होगी उतना ही अधिक वह प्रामाणिक होगा। मूल्यांकन और मूल्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए अरबन कहते हैं कि मूल्यांकन मूल्य को निर्धारित नहीं करता, वरन् मूल्य ही अपनी पूर्ववर्ती वस्तुनिष्ठता के द्वारा मूल्यांकन को निर्धारित करते हैं।

अरबन के अनुसार मूल्य न कोई गुण है, न वस्तु और न सम्बन्ध। वस्तुतः मूल्य अपरिभाष्य है तथापि उसकी प्रकृति को उसके सत्ता से सम्बन्ध के आधार पर जाना जा सकता है। वह सत्ता और असत्ता के मध्य स्थित है। अरबन मिनांग के समान उसे वस्तुनिष्ठ कहता है, किन्तु उसका अर्थ 'होना चाहिए' (Ought to be) में है। मूल्य सदैव अस्तित्व का दावा करते हैं, उनका सत् होना इसी पर निर्भर है कि सत् को ही मूल्य के उस रूप में विवेचित किया जाये, जिसमें सत्ता और अस्तित्व भी हो।

मूल्य की वस्तुनिष्ठता के दो आधार हैं- प्रथम यह कि प्रत्येक वस्तु विषय मूल्य की विधा में आता है और दूसरे प्रत्येक मूल्य उच्च और निम्न के क्रम से स्थित है। अरबन के अनुसार मूल्यों की अनुभूति उनकी किसी क्रम में है, यह बिना मूल्यों में पूर्वापरता माने, केवल मनोवैज्ञानिक अवस्था पर निर्भर नहीं हो सकती। इस प्रकार मूल्य एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

मूल्य की सामान्य चर्चा के बाद अरबन नैतिक मूल्य पर आते हैं। अरबन के अनुसार नैतिक दृष्टि से मूल्यवान होने का अर्थ है मनुष्य के लिए मूल्यवान होना। नैतिक शुभत्व मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त पर निर्भर है। मानवीय मूल्यांकन के सिद्धांत को कुछ लोगों ने आकारिक नियमों की व्यवस्था के रूप में और कुछ लोगों ने सुख की गणना के रूप में देखा था, लेकिन अरबन के अनुसार मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त का तीसरा एकमात्र सम्भावित विकल्प है 'आत्मसाक्षात्कार'। आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त के समर्थन में अरबन अरस्तू की तरह ही तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि वस्तुओं का शुभत्व उनकी कार्यकुशलता में है, अंगों का शुभत्व जीवन में उनके योगदान में है और जीवन का शुभत्व आत्मपूर्णता में है। मनुष्य 'आत्म' (Self) है और यदि यह सत्य है तो फिर मानव का वास्तविक शुभ उसकी आत्मपरिपूर्णता में ही निहित है। अरबन की यह दृष्टि भारतीय परम्परा के अति निकट है जो यह स्वीकार करती है कि आत्मपूर्णता ही नैतिक जीवन का लक्ष्य है।

अरबन के अनुसार 'आत्म' सामाजिक जीवन से अलग कोई व्यक्ति नहीं है, वरन् वह तो सामाजिक मर्यादाओं में बँधा हुआ है और समाज को अपने मूल्यांकन से और अपने को सामाजिक मूल्यांकन से प्रभावित पाता है।

अरबन के अनुसार स्वहित और परहित की समस्या का सही समाधान न तो परिष्कारित स्वहितवाद में है और न बौद्धिक परहितवाद में है, वरन् सामान्य शुभ की उपलब्धि के रूप में स्वहित परहित से ऊपर उठ जाने में है। यह दृष्टिकोण भारतीय परम्परा में भी ठीक इसी रूप में स्वीकृत रहा है। जैन परम्परा भी स्वहित और लोकहित की सीमाओं से ऊपर उठ जाना ही नैतिक जीवन का लक्ष्य मानती है।

अरबन इस समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं कि मूल्यांकन करनेवाली मानवीय चेतना के द्वारा यह कैसे जाना जाय कि कौन से मूल्य उच्च कोटि के हैं और कौन से मूल्य निम्न कोटि के? अरबन इसके तीन सिद्धान्त बताते हैं -

पहला सिद्धान्त यह है कि साध्यात्मक या आन्तरिक मूल्य साधनात्मक या बाह्य मूल्यों की अपेक्षा उच्च है। दूसरा सिद्धान्त यह कि स्थायी मूल्य अस्थायी मूल्यों की अपेक्षा उच्च है और तीसरा सिद्धान्त यह है कि उत्पादक मूल्य अनुत्पादक मूल्यों की अपेक्षा उच्च हैं।

अरबन इन्हें व्यावहारिक विवेक के सिद्धान्त या मूल्य के नियम कहते हैं। ये हमें बताते हैं कि आंगिक मूल्य जिन्में आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य समाहित हैं, उच्च प्रकार के हैं। उसी प्रकार सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा आध्यात्मिक मूल्य, जिनमें बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक और धार्मिक मूल्य भी समाहित हैं, उच्च प्रकार के हैं।

अरबन की दृष्टि में मूल्यों की इसी क्रम व्यवस्था के आधार पर आत्मसाक्षात्कार के स्तर हैं। आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रस्थित आत्मा की पूर्णता उस स्तर पर है, जिसे मूल्यांकन करनेवाली चेतना सर्वोच्च मूल्य समझती है और सर्वोच्च मूल्य वह है जो अनुभूति की पूर्णता में तथा जीवन के सम्यक् संचालन में सबसे अधिक योगदान करता है। जैन दृष्टि में इसे हम वीरतागत और सर्वज्ञता की अवस्था कह सकते हैं।

एक अन्य आध्यात्मिक मूल्यवादी विचारक डब्ल्यू.आर. साल्सी जैन परम्परा के निकट आकार यह कहते हैं कि नैतिक पूर्णता ईश्वर के समान बनने में है। किन्तु कुछ भारतीय परम्परायें तो इससे भी आगे बढ़कर यह कहती हैं कि नैतिक पूर्णता परमात्मा होने में हैं आत्मा से परमात्मा, जीव से जिन, साधक से सिद्ध, अपूर्ण की उपलब्धि में ही नैतिक जीवन की सार्थकता है।

अरबन की मूल्यों की क्रम-व्यवस्था भी भारतीय परम्परा के दृष्टिकोण के निकट ही है। जैन एवं अन्य भारतीय दर्शनों में भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों में यही क्रम स्वीकार किया गया है। अरबन के आर्थिक मूल्य अर्थ पुरुषार्थ के, शारीरिक एवं मनोरंजनात्मक मूल्य काम पुरुषार्थ के, साहचर्यात्मक और चारित्रिक मूल्य धर्म पुरुषार्थ के तथा सौन्दर्यात्मक, ज्ञानात्मक और धार्मिक मूल्य मोक्ष पुरुषार्थ के तुल्य हैं।

भारतीय दर्शनों में जीवन के चार मूल्य

जिस प्रकार पाश्चात्य आचारदर्शन में मूल्यवाद का सिद्धान्त लोकमान्य है उसी प्रकार भारतीय नैतिक चिन्तन में पुरुषार्थ-सिद्धान्त, जो कि जीवन मूल्यों का ही सिद्धान्त है, पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। भारतीय विचारकों ने जीवन के चार पुरुषार्थ या मूल्य माने हैं -

1. **अर्थ (आर्थिक मूल्य)** - जीवन यात्रा के निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्यकता होती है; अतः दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले इन साधनों को उपलब्ध को करना ही अर्थ पुरुषार्थ है।
2. **काम (मनोदैहिक मूल्य)** - जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाना अर्थ पुरुषार्थ और उन साधनों का उपभोग करना काम पुरुषार्थ है। दूसरे शब्दों में विविध इंद्रियों के विषयों का भोग काम पुरुषार्थ है।
3. **धर्म (नैतिक मूल्य)** - जिन नियमों के द्वारा सामाजिक जीवन या लोकव्यवहार सुचारु रूप से चले, स्व-पर कल्याण हो और जो व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में ले जाये, वह धर्म पुरुषार्थ है।
4. **मोक्ष (आध्यात्मिक मूल्य)** - आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण मोक्ष है।

जैन दृष्टि में पुरुषार्थचतुष्टय

सामान्यतया यह समझा जाता है निवृत्तिप्रधान जैन दर्शन में मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ की स्वीकृति उसके मोक्षानुकूल होने में ही है। अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों का उसमें कोई स्थान नहीं है। जैन-विचारकों के अनुसार अर्थ अनर्थ का मूल है¹ सभी काम दुःख उत्पन्न करने वाले हैं।² लेकिन यह विचार एकांगी ही माना जायेगा। कोई भी जिनवचन एकान्त या निरपेक्ष नहीं है। जैन विचारकों ने सदैव ही स्वपुरुषार्थ से धनोपार्जन की प्रेरणा दी है। वे यह मानते हैं कि व्यक्ति को केवल अपने पुरुषार्थ से उपार्जित सम्पत्ति के भोग का अधिकार है। दूसरों द्वारा उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का उसे कोई अधिकार नहीं। गौतमकुलक में कहा गया है कि पिता के द्वारा उपार्जित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिए बहन होती है और दूसरों की लक्ष्मी परस्त्री के समान होती है। दोनों का ही भोग वर्जित है। अतः स्वयं अपने पुरुषार्थ से धन का उपार्जन करके ही उसका भोग करना न्यायसंगत है।³ जैनाचार्यों ने विभिन्न वर्ण के लोगों को किन-किन साधनों से धनार्जन करना चाहिए, इसका भी निर्देश किया है। ब्राह्मणों को मुख (विद्या) से, क्षत्रियों को अस्त्र (रक्षण) से, वणिकों को वाणिज्य से और कर्मशील व्यक्तियों को शिल्पादि कर्म से धनार्जन करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं की साधना में उनकी लक्ष्मी का निवास है।⁴ यद्यपि यह सही है कि मोक्ष या निर्वाण की उपलब्धि में जो अर्थ और काम बाधक हैं, वे जैनदृष्टि के अनुसार अनाचरणीय एवं हेय हैं। लेकिन दर्शन यह कभी नहीं कहता कि अर्थ और काम पुरुषार्थ एकान्त रूप से हेय हैं। यदि वे एकान्त रूप से हेय होते तो आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्त्रियों की 64 और पुरुषों की 72 कलाओं का विधान कैसे करते? क्योंकि उनमें अधिकांश कलाएँ अर्थ और काम

पुरुषार्थ से सम्बन्धित है।^{१६} न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक मर्यादानुकूल काम का जैन विचारणा में समुचित स्थान है। जैन विचारकों ने जिसके त्याग पर बल दिया है वह इन्द्रिय-विषयों का भोग नहीं, भोगों के प्रति आसक्ति या राग-द्वेष की वृत्ति है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म-विपाक से उपलब्ध भोगों से बचा नहीं जा सकता। इन्द्रियों के सम्मुख उनके विषय उपस्थित होने पर उनके आस्वाद से भी बचना सम्भव नहीं है, जो सम्भव है वह यह कि उनमें राग-द्वेष की वृत्ति रखी जाये। इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने जीवन के वासनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक पक्ष को धर्मान्मुखी बनाने तथा उनके पारस्परिक विरोध को समाप्त करने को भी प्रयास किया है। उनके अनुसार मोक्षाभिमुख परस्पर अविरोध में रहे हुए सभी पुरुषार्थ आचरणीय हैं। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि गृहस्थ उपासक धर्मपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ का इस प्रकार आचरण करे कि कोई किसी का बाधक न हो।^{१७}

भद्रबाहु (पाँचवीं शती) ने तो आचार्य हेमचन्द्र (११वीं शताब्दी) के पूर्व ही यह उद्घोषणा कर दी थी कि जैन परम्परा में तो पुरुषार्थ-चतुष्टय अविरोध रहते हैं। आचार्य बड़े ही स्पष्ट एवं मार्मिक शब्दों में लिखते हैं कि धर्म, अर्थ और काम को भले ही अन्य कोई विचारक परस्पर विरोधी मानते हों, किन्तु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने के कारण परस्पर असपत्न (अविरोधी) हैं। अपनी-अपनी भूमिका के योग्य विहित अनुष्ठान रूप धर्म, स्वच्छाशय प्रयुक्त अर्थ और विसम्भयुक्त अर्थात् मर्यादानुकूल वैवाहिक नियन्त्रण से स्वीकृत काम, जिनवाणी के अनुसार परस्पर अविरोधी हैं।^{१८} ये पुरुषार्थ परस्पर अविरोधी तभी होते हैं जब वे मोक्षाभिमुख होते हैं और जब वे मोक्षाभिमुख होकर परस्पर अविरोध की स्थिति में हों, असपत्न हों, तो वे सम्यक् होते हैं, इसलिए आचरणीय होते हैं। किन्तु जब मोक्ष मार्ग से विमुख होकर पुरुषार्थ-चतुष्टय परस्पर विरोध में या निरपेक्ष होते हैं, तब वे असम्यक् या अनुचित एवं अनाचरणीय होते हैं।

बौद्ध दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय

भगवान् बुद्ध यद्यपि निवृत्ति मार्गी श्रमण परम्परा के अनुगामी हैं, तथापि उनके विचारों में अर्थ एवं काम पुरुषार्थ के सम्बन्ध में भी दिशा-बोध उपलब्ध है। दीघनिकाय में अर्थ की उपलब्धि के लिए श्रम करते रहने का सन्देश उपलब्ध होता है। बुद्ध कहते हैं, आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अब तो सन्ध्या (देन) हो गयी, इस प्रकार श्रम से दूर भागता हुआ मनुष्य धनहीन हो जाता है। किन्तु जो सर्दी-गर्मी आदि को सहकर कठोर परिश्रम करता है, वह कभी सुख से वंचित नहीं होता^{१९}। जैसे प्रयत्नवान् रहने से मधुमक्खी का छत्ता बढ़ता है, चीटी का वाल्मीक बढ़ता है, वैसे ही प्रयत्नशील मनुष्य का ऐश्वर्य बढ़ता है।^{२०} इतना ही नहीं, प्राप्त

सम्पदा का उपयोग किसी प्रकार हो, इस सम्बन्ध में भी बुद्ध का निर्देश है कि सद्गृहस्थ प्राप्त धन के एक भाग का उपभोग करे, दो भागों को व्यापार आदि कार्यक्षेत्र में लगावे और चौथे भाग को आपत्ति काल में काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े।¹¹ आज का प्रगतिशील अर्थशास्त्री भी आर्थिक प्रगति के लिए इससे अच्छे सूत्र प्रस्तुत नहीं कर सकता। बुद्ध केवल अर्थशास्त्री के रूप में ही नहीं, वरन् एक सामाजिक अर्थशास्त्र के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे इस बारे में भी पूर्ण सतर्क हैं कि यदि समाज में धन का समुचित वितरण नहीं होगा तो अराजकता और असुरक्षा उत्पन्न होगी। वे कहते हैं, निर्धनों को धन नहीं दिये जाने से दरिद्रता बहुत बढ़ गयी और दरिद्रता के बहुत बढ़ जाने से चोरी बहुत बढ़ गयी।¹² चोरी के बहुत बढ़ने का अर्थ धन की असुरक्षा है। इसके पीछे बुद्ध का निर्देश यही है कि समाज में धन का समवितरण होना चाहिए ताकि समाज का कोई भी वर्ग अभाव से पीड़ित न हो। बुद्ध की दृष्टि में अर्थ को कभी भी धर्म से विमुख नहीं होना चाहिए, वे धर्मयुक्त व्यवसाय में नियोजित होने का ही निर्देश देते हैं।¹³ जो जीवन में धन का दान एवं भोग के रूप में समुचित उपयोग नहीं करता, उसका धन निरर्थक है, क्योंकि मरने वाले के पीछे उसका धन आदि नहीं जाता है और न धन से जरामरण से ही छुटकारा मिल सकता है।¹⁴ कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करता है। उदान में बुद्ध कहते हैं, “ब्रह्मचर्य जीवन के साथ व्रतों का पालन करना ही सार है, यह एक अन्त है। कामभोगों के सेवन में कोई दोष नहीं, यह दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है, मिथ्याधारणा बढ़ती है, व्यक्ति मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है”¹⁵ इस आधार पर कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण यही प्रतीत होता है कि जो काम धर्म-अविरुद्ध है, जिससे आध्यात्मिक प्रगति या चित्त की विकलता समाप्त होती है; वह काम आचरणीय है। इसके विपरीत धर्मविरुद्ध मानसिक अशान्तिकारक काम या विषयभोग अनाचरणीय है।

बुद्ध की दृष्टि में भी जैन विचार के समान धर्मपुरुषार्थ निर्वाण या मोक्षपुरुषार्थ का साधन है। मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते हैं, “भिक्षुओं! मैंने बेड़े की भाँति पार जाने के लिए (निर्वाणलाभ के लिए) तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नहीं।”¹⁶ अर्थात् निर्वाण की दिशा में ले जानेवाला धर्म ही आचरणीय है। बुद्ध की दृष्टि में जो धर्म निर्वाण की दिशा में नहीं ले जाता है, जिससे निर्वाणलाभ में बाधा आती हो वह त्याग देने योग्य है। इतना ही नहीं, बुद्ध धर्म को एक साधन के रूप में स्वीकार करते हैं और साध्य की उपलब्धि के लिए उसे भी छोड़ देने का सन्देश देते हैं। उनकी दृष्टि में परममूल्य तो निर्वाण ही है।

गीता में पुरुषार्थ चतुष्टय

पुरुषार्थचतुष्टय के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण जैन परम्परा से भिन्न नहीं है। गीता की दृष्टि में भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। वही परम मूल्य है। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ सम्बन्धी धृति को गीताकार ने राजसी कहा है।¹⁷ लेकिन यह मानना भी भ्रान्तिपूर्ण होगा कि गीता में इन पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं है। गीताकार जब काम की निन्दा करता है,¹⁸ धर्म को छोड़ने की बात करता है,¹⁹ तो मोक्षपुरुषार्थ या परमात्मा की प्राप्ति की अपेक्षा से ही। मोक्ष ही परमाध्य है; धर्म, अर्थ और काम का मोक्ष के निमित्त परित्याग किया जा सकता है। गीताकार की दृष्टि में भी धर्म, अर्थ और काम मोक्ष के अविरोधी है, तो वे ग्राह्य हैं। गीताकार की मान्यता भी यही प्रतीत होती है कि अर्थ और काम को धर्माधीन होना चाहिए, और धर्म को मोक्षभिमुख होना चाहिए। धर्मयुक्त, यज्ञ (त्याग) पूर्वक एवं वर्णानुसार किया गया आजीविकोपार्जन गीता के अनुसार विहित ही है। यद्यपि धन की चिन्ता में डूबे रहने वाले और धन का तथा धन के द्वारा किये गये दान-पुण्यादि का अभिमान करने वाले को गीता में अज्ञानी कहा गया है²⁰ तथापि इसका तात्पर्य यही है कि न तो धन को एकमात्र साध्य बना लेना चाहिए और न उसका तथा उसके द्वारा किये गये सत्कार्यों का अभिमान ही करना चाहिए। इसी प्रकार कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण यही है कि उसे धर्म-अविरुद्ध होना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्राणियों में धर्म-अविरुद्ध काम मैं हूँ²¹ सभी भोगों से विमुख होने की अपेक्षा गीताकार की दृष्टि में यही उचित है कि उनमें आसक्ति का त्याग किया जाये। वस्तुतः यह दृष्टिकोण भोगों को मोक्ष के अविरोध में रखने का प्रयास है। इसी प्रकार गीता जब यह कहती है कि बिना यज्ञ के जो भोग करता है, वह चोर है, तो उसका प्रमुख दृष्टिकोण कामपुरुषार्थ को धर्माभिमुख बनाने का ही है।²²

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता की विचारधाराओं में चारों पुरुषार्थ स्वीकृत हैं, यद्यपि सभी ने इस बात पर बल दिया है कि अर्थ और काम पुरुषार्थ को धर्म-अविरुद्ध होना चाहिए और धर्म को सदैव ही मोक्षभिमुख होना चाहिए। वस्तुतः यह दृष्टिकोण न केवल जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराओं का है, वरन् समग्र भारतीय चिन्तन की इस सन्दर्भ में यही दृष्टि है। मनु कहते हैं कि धर्म-विहीन अर्थ और काम को छोड़ देना चाहिए।²³ महाभारत में भी कहा है कि जो अर्थ और काम धर्म-विरोधी हों, उन्हें छोड़ देना चाहिए।²⁴ कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में और वात्स्यायन अपने कामसूत्र में लिखते हैं कि धर्म और अर्थ से अविरोध में रहे हुए काम का ही सेवन करना चाहिए।²⁵

इस प्रकार भारतीय चिन्तकों का प्रयास यही रहा है कि चारों पुरुषार्थों को इस प्रकार संयोजित किया जाये कि वे परस्पर सापेक्ष होकर अवरोध की अवस्था में रहें। इस हेतु उन्होंने उनका पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने का प्रयास भी किया। कौन सा पुरुषार्थ सर्वोच्च मूल्यवाला है, इस सम्बन्ध में महाभारत में गहराई से विचार किया गया है और इसके फलस्वरूप विभिन्न दृष्टिकोण सामने भी आये-

1. अर्थ ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि धर्म और काम दोनों अर्थ के होने पर उपलब्ध होते हैं। धन के अभाव में न तो काम-भोग ही प्राप्त होते हैं, और न दान-पुण्यादि धर्म ही किया जा सकता है।²⁶ कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है।²⁷
2. काम ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि विषयों की इच्छा या काम के अभाव में न तो कोई धन प्राप्त करना चाहता है, और न कोई धर्म करना चाहता है। काम ही अर्थ और धर्म श्रेष्ठ है।²⁸ जैसे दही सार मक्खन है, वैसे ही अर्थ और धर्म का सार काम है।²⁹
3. अर्थ, काम और धर्म तीनों ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं, तीनों का समान रूप से सेवन करना चाहिए। जो एक का सेवन करता है वह अधम है, जो दो के सेवन में निपुण है वह मध्यम है और जो इन तीनों में समान रूप से अनुरक्त है, वही मनुष्य उत्तम है।³⁰
4. धर्म ही श्रेष्ठ गुण (पुरुषार्थ) है, अर्थ मध्यम है और काम सबकी-अपेक्षा निम्न है। क्योंकि धर्म से ही मोक्ष की उपलब्धि होती है, धर्म पर ही लोक-व्यवस्था आधारित है और धर्म में ही अर्थ समाहित है।³¹
5. मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष उपाय के रूप में ज्ञान और अनासक्ति यही परम कल्याणकारक है।³²

चारों पुरुषार्थों की तुलना एवं क्रमनिर्धारण

पुरुषार्थचतुष्टय के सम्बन्ध में उपर्युक्त विभिन्न दृष्टिकोण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, लेकिन सापेक्षिक दृष्टि से इनमें विरोध नहीं रह जाता है। साधन की दृष्टि से विचार करने पर अर्थ ही प्रधान प्रतीत है, क्योंकि अर्थाभाव में दैहिक माँगों (काम) की पूर्ति नहीं होती। दूसरी ओर, लोक के अर्थाभाव से पीड़ित होने पर धर्मव्यवस्था या नीति भी समाप्त हो जाती है। कहा ही गया है - भूखा कौन सा पाप नहीं करता?

यदि साधक (व्यक्ति) की दृष्टि से विचार करें तो दैहिक मूल्य (काम) ही प्रधान प्रतीत होता है। मनोदैहिक मूल्यों (इच्छा एवं काम) के अभाव में न तो नीति-अनीति का प्रश्न खड़ा होता है और न आर्थिक साधनों की ही कोई

आवश्यकता। दूसरे, धर्मसाधन और आध्यात्मिक प्रगति भी शरीर से सम्बन्धित है। कहा गया है-धर्मसाधन के लिए शरीर ही प्राथमिक है।¹⁴ दैहिक माँगों की पूर्ति के अभाव में चित्त-शान्ति भी कैसे होगी और जिनका चित्त अशान्त है वह क्या आध्यात्मिक विकास करेगा?

इसी प्रकार जब हम साधनामार्ग पर सामाजिक सन्दर्भ में विचार करते हैं, तो धर्म ही प्रधान प्रतीत होता है। धर्म ही सामाजिक व्यवस्था का आधार है। धर्म के अभाव में सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है और अस्तव्यस्त सामाजिक जीवन में अर्थोत्पादन एवं आध्यात्मिक साधना दोनों ही सम्भव नहीं होती। भोगों की समरसता समाप्त हो जाती है।

साध्य या आदेश की दृष्टि से विचार करने पर मोक्ष ही प्रधान प्रतीत होता है, क्योंकि सारे प्रयास जिसके लिए हैं वह तो आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति ही है। संक्षेप में साधनात्मक दृष्टि से आर्थिक मूल्य (अर्थ), जैविक दृष्टि से मनोदैहिक मूल्य (काम), सामाजिक दृष्टि से नैतिक मूल्य (धर्म) और साध्यात्म दृष्टि से आध्यात्मिक मूल्य (मोक्ष) प्रमुख हैं।

लेकिन ये सभी मूल्य या पुरुषार्थ एक-दूसरे से स्वतन्त्र या निरपेक्ष होकर नहीं रह सकेंगे। मोक्ष या आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए धर्म आवश्यक है और धर्मसाधना के लिए शरीर आवश्यक है, शरीर के निर्वाह के लिए शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति (काम) आवश्यक है और उनकी पूर्ति के लिए साधन (अर्थ) जुटाना आवश्यक है। इस प्रकार सभी परस्पर सापेक्ष हैं और सभी आवश्यक भी हैं। जैन ग्रन्थ निशीथभाष्य में कहा गया है कि ज्ञानादि मोक्ष के साधन हैं और ज्ञानादी का साधन देह है और देह का साधन आहार है।¹⁵ इस प्रकार चारों पुरुषार्थों का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है, तथापि सभी का मूल्य समान नहीं माना गया है। जैन विचारकों के अनुसार चारों पुरुषार्थों में एक साध्य-साधन भाव है जिसमें अर्थ मात्र साधन है और मोक्ष मात्र साध्य है। काम अर्थ की अपेक्षा से साध्य और धर्म की अपेक्षा से साधन है। धर्म को अर्थ और काम का साध्य और मोक्ष का साधन माना गया है। जब साधन ही साध्य बन जाता है तो वह दूसरे के विरोध में खड़ा हो जाता है और जीवन के विकास को अवरुद्ध करता है। जैनागम साहित्य में मम्मन सेठ की कथा अर्थ को साध्य मान लेने का सबसे अच्छा उदाहरण है, जिससे प्रकट है कि जब 'धन' साध्य बन जाता है तो वह ऐहिक और पालौकिक दोनों जीवन में कष्ट ही लाता है। इसी आशय को सामने रखते हुए उत्तराध्यायनसूत्र में कहा गया है कि 'धन' में प्रमत्त पुरुष का धन अर्थात् उस व्यक्ति का धन जिसके लिए धन

ही साध्य है न तो इस लोक में और परलोक में ही ऐसे आदमी की रक्षा कर सकता है। धन के असीम मोह से मूढ़ बना हुआ वह व्यक्ति, दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग को जानते हुए भी मार्ग नहीं देखता, वैसे ही वह भी न्यायमार्ग या धर्ममार्ग को जानते हुए भी उसे नहीं देख पाता। जैसे एक ही नगर को जानेवाले भिन्न-भिन्न मार्ग परस्पर भिन्न दिशाओं में स्थित होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं कहे जाते, उसी प्रकार परस्पर विरोधी पुरुषार्थ मोक्षाभिमुख होने पर असपत्न (अविरोधी) बन जाते हैं। यहीं उनमें एक मूल्यात्मक तारतम्य स्पष्ट हो जाता है, जिसमें सर्वोच्च स्थान मोक्ष का है, उसके बाद धर्म का स्थान है। धर्म के बाद काम और सबसे अन्त में अर्थ का स्थान आता है। किन्तु अर्थपुरुषार्थ जब लोकोपकार के लिए होता है, तब उसका स्थान कामपुरुषार्थ से ऊपर होता है। पाश्चात्य विचारक अरबन ने मूल्य-निर्धारण के तीन नियम प्रस्तुत किये हैं—(1) साधनात्मक या परतः मूल्यों की अपेक्षा साधनात्मक स्वतः मूल्य उच्चतर है; (2) अस्थायी या अल्पकालिक मूल्यों की अपेक्षा स्थायी एवं दीर्घकालिक मूल्य उच्चतर है; (3) असृजक मूल्यों की अपेक्षा सृजक मूल्य उच्चतर है।⁹⁶

यदि प्रथम नियम के आधार पर विचार करें, तो धन, सम्पत्ति, श्रम, आदि आर्थिक मूल्य जैविक, सामाजिक और धार्मिक (काम और धर्म) मूल्यों की पूर्ति के साधनमात्र हैं, वे स्वतः साध्य नहीं हैं। भारतीय चिन्तन में धन की तीन गतियाँ मानी गयी हैं—(1) दान, (2) भोग और (3) नाश। वह दान के रूप में धर्मपुरुषार्थ का और भोग के रूप में कामपुरुषार्थ का साधन सिद्ध होता है। कामपुरुषार्थ सामान्य रूप में स्वतः साध्य प्रतीत होता है, लेकिन विचारपूर्वक देखने पर वह भी स्वतः साध्य नहीं कहा जा सकता। प्रथमतः जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में जो भोग किये जाते हैं, वे स्वयं साध्य नहीं, वरन् जीवन या शरीर-रक्षण के साधनमात्र हैं। इन सबका साध्य स्वास्थ्य एवं जीवन है। हम जीने के लिए खाते हैं, खाने के लिए नहीं जीते हैं। यदि हम कामपुरुषार्थ को कला, दाम्पत्य, रति या स्नेह के रूप में मानें तो वह भी आनन्द का एक साधन ही ठहरता है। इस प्रकार कामपुरुषार्थ का भी स्वतः मूल्य सिद्ध नहीं होता। उसका जो भी स्थान हो सकता है वह मात्र उसके द्वारा व्यक्ति के आनन्द में की गयी अभिवृद्धि पर निर्भर करता है। यदि अल्पकालिकता या स्थायित्व की दृष्टि से विचार करें तो कामपुरुषार्थ मोक्ष एवं धर्म की अपेक्षा अल्पकालिक ही है। भारतीय विचारकों ने कामपुरुषार्थ को निम्न स्थान उसकी क्षणिकता के आधार पर ही दिया है। तीसरे अपने फल या परिणाम के आधार पर भी काम-पुरुषार्थ निम्न स्थान पर ठहरता है, क्योंकि वह अपने पीछे दुष्पूर-तृष्णा को

छोड़ जाता है। उससे उपलब्ध होनेवाले आनन्द की तुलना खुजली खुजाने से की गयी है, जिसकी फलनिष्पत्ति क्षणिक सुख के बाद तीव्र वेदना में होती है। धर्मपुरुषार्थ सामाजिक धर्मिक मूल्य के रूप में स्वतः साध्य है, लेकिन वह भी मोक्ष का साधन माना गया है जो सर्वोच्च मूल्य है। इस प्रकार अरबन के उपर्युक्त मूल्य निर्धारण के नियमों के आधार पर भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों का यही क्रम सिद्ध होता है जो कि जैन और दूसरे भारतीय आचार-दर्शनों में स्वीकृत है, जिसमें अर्थ सबसे निम्न मूल्य है और मोक्ष सर्वोच्च मूल्य है।

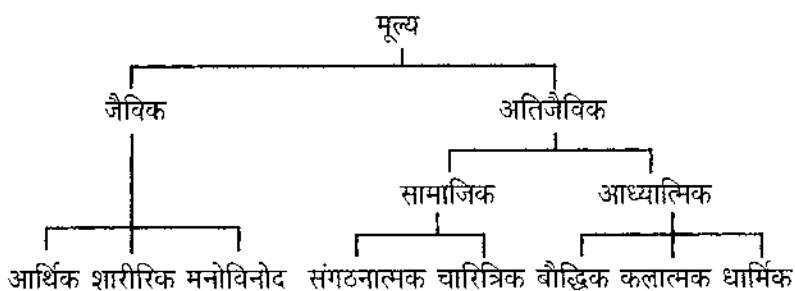
मोक्ष सर्वोच्च मूल्य क्यों?

इस सम्बन्ध में ये तर्क दिये जा सकते हैं-

1. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवमात्र की प्रवृत्ति दुःख निवृत्ति की ओर है। क्योंकि मोक्ष दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है; अतः वह सर्वोच्च मूल्य है। इसी प्रकार आनन्द की उपलब्धि भी प्राणीमात्र का लक्ष्य है, चूँकि मोक्ष परम आनन्द की अवस्था है, अतः वह सर्वोच्च मूल्य है।
2. मूल्यों की व्यवस्था में साध्य साधक की दृष्टि से एक क्रम होना चाहिए और उस क्रम में कोई सर्वोच्च एवं निरपेक्ष मूल्य होना चाहिए। मोक्ष पूर्ण एवं निरपेक्ष स्थिति है। अतः वह सर्वोच्च मूल्य है। मूल्य वह है जो किसी इच्छा की पूर्ति करे। अतः जिसके प्राप्त हो जाने पर कोई इच्छा ही नहीं रहती है, वही परम मूल्य है। मोक्ष में कोई अपूर्ण इच्छा नहीं रहती है, अतः वह परम मूल्य है।
3. सभी साधन किसी साध्य के लिए होते हैं और साध्य की उपस्थिति अपूर्णता की सूचक है। मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् कोई साध्य नहीं रहता, इसलिए वह परम मूल्य है। यदि हम किसी अन्य मूल्य को स्वीकार करेंगे तो वह साधन-मूल्य ही होगा और साधन-मूल्य को परम-मूल्य मानने पर नैतिकता में सार्वलौकिकता एवं वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जायेगी।
4. मोक्ष अक्षर एवं अमृतपद है, अतः स्थायी मूल्यों में वह सर्वोच्च मूल्य है।
5. मोक्ष आन्तरिक प्रकृति या स्वस्वभाव है। वही एकमात्र परम मूल्य हो सकता है, क्योंकि उसमें हमारी प्रकृति के सभी पक्ष अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति एवं पूर्ण समन्वय की अवस्था में होते हैं।

भारतीय और पाश्चात्य मूल्य सिद्धान्तों की तुलना

अरबन और एबरेट ने जीवन के विभिन्न मूल्यों की उच्चता एवं निम्नता का जो क्रम निर्धारित किया है, वह भी भारतीय चिन्तन से काफी साम्य रखता है। अरबन ने मूल्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है -



अरबन ने सबसे पहले मूल्यों को दो भागों में बाँटा है - (1) जैविक और (2) अति जैविक। अतिजैविक मूल्य भी सामाजिक और आध्यात्मिक ऐसे दो प्रकार के हैं। इस प्रकार मूल्यों के तीन वर्ग बन जाते हैं-

1. **जैविक मूल्य-** शारीरिक, आर्थिक और मनोरंजन के मूल्य जैविक मूल्य हैं। आर्थिक मूल्य मौलिक-रूप से साधन मूल्य हैं साध्य नहीं। आर्थिक शुभ स्वतः मूल्यवान नहीं है, उनका मूल्य केवल शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को अर्जित करने के साधन होने में है। सम्पत्ति स्वतः वांछनीय नहीं है। बल्कि अन्य शुभों का साधन होने के कारण वांछनीय है। सम्पत्ति एक साधन-मूल्य है, साध्य-मूल्य नहीं। शारीरिक मूल्य भी वैयक्तिक मूल्यों के साधक हैं। स्वास्थ्य और शक्ति से युक्त परिपुष्ट शरीर को व्यक्ति अच्छे जीवन के अन्य मूल्यों के अनुसरण में प्रयुक्त कर सकता है। क्रीड़ा-स्वयं मूल्य है; किन्तु वह भी मुख्यतया साधक-मूल्य है। उसका साध्य है शारीरिक स्वास्थ्य। मनोरंजन चित्तविक्षोभ को समाप्त करने का साधन है। क्रीड़ा और मनोरंजन उच्चतर मूल्यों के अनुसरण के लिए हमें शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रखते हैं।
2. **सामाजिक मूल्य** - सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत साहचर्य तथा चरित्र के मूल्य आते हैं। आज के मानवतावादी युग में तो इन मूल्यों का महत्त्व अत्यन्त व्यापक हो गया है। यद्यपि ये दोनों मूल्य किसी अन्य साध्य के साधन-स्वरूप प्रयुक्त होते हैं, परन्तु कुछ महान पुरुषों ने सच्चरित्रता एवं समाजसेवा को जीवन के परम लक्ष्य के रूप में ग्रहण किया है। मनुष्य समाज का अंग है। एक असीम आत्मा का साक्षात्कार समाज के साथ अपनी वैयक्तिकता का एकाकार करके ही किया जा सकता है।
3. **आध्यात्मिक मूल्य** - मूल्यों के इस वर्ग के अन्तर्गत बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक-तीन प्रकार के मूल्य आते हैं। ये तीनों मूल्य मूलतः साध्य मूल्य हैं।

ये आत्मा की सर्वश्रेष्ठ या परम आदर्श प्रकृति अर्थात् सत्यं, शिवं और सुन्दरं की अभिरूचियों को तृप्ति प्रदान करते हैं तथा जैविक एवं सामाजिक मूल्यों से श्रेष्ठ कोटि के हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय दर्शनों के पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ और काम जैविक मूल्य हैं और धर्म और मोक्ष अतिजैविक मूल्य हैं। अरबन ने जैविक मूल्यों में आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य माने हैं। इनमें आर्थिक मूल्य अर्थ-पुरुषार्थ तथा शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य कामपुरुषार्थ के समान हैं। अरबन के द्वारा अतिजैविक मूल्यों सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य माने गये हैं। उनमें सामाजिक मूल्य धर्मपुरुषार्थ से और आध्यात्मिक मूल्य मोक्षपुरुषार्थ से सम्बन्धित हैं। जिस प्रकार अरबन ने मूल्यों में सबसे नीचे आर्थिक मूल्य माने हैं, उसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी अर्थपुरुषार्थ को तारतम्य की दृष्टि से सबसे नीचे माना है।

जिस प्रकार अरबन के दर्शन में शारीरिक और मनोरंजन सम्बन्धी मूल्यों का स्थान आर्थिक मूल्यों से ऊपर, लेकिन सामाजिक मूल्यों से नीचे है उसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी कामपुरुषार्थ अर्थपुरुषार्थ से ऊपर लेकिन धर्मपुरुषार्थ से नीचे है। जिस प्रकार अरबन ने आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोच्च माना है, उसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी मोक्ष को सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। अरबन के दृष्टिकोण की भारतीय चिन्तन से कितनी अधिक निकटता है, इसे निम्न तालिका से समझा जा सकता है:-

पाश्चात्य दृष्टिकोण मूल्य	भारतीय दृष्टिकोण पुरुषार्थ	जैन दृष्टिकोण
जैविक मूल्य		
1. आर्थिक मूल्य	अर्थपुरुषार्थ	अर्थ
2. शारीरिक मूल्य	कामपुरुषार्थ	काम
3. मनोरंजनात्मक	कामपुरुषार्थ	काम
सामाजिक मूल्य		
4. संगठनात्मक मूल्य	धर्मपुरुषार्थ	व्यवहारधर्म
5. चारित्रिक मूल्य	धर्मपुरुषार्थ	निश्चय धर्म
आध्यात्मिक मूल्य	मोक्ष पुरुषार्थ	मोक्ष पुरुषार्थ
6. कलात्मक	आनन्द (संकल्प)	अनन्त सुख एवं शक्ति
7. बौद्धिक	चित् (ज्ञान)	अनन्तज्ञान
8. धार्मिक	सत् (भाव)	अनन्तदर्शन

इस प्रकार अपनी मूल्य-विवेचना में प्राच्य और पाश्चात्य विचारक अन्त में एक ही निष्कर्ष पर आ जाते हैं और वह निष्कर्ष यह है कि आध्यात्मिक मूल्य या आत्मपूर्णता ही सर्वोच्च मूल्य है एवं वही नैतिक जीवन का साध्य है।

यद्यपि भारतीय दर्शन में सापेक्ष दृष्टि से मूल्य सम्बन्धी सभी विचार स्वीकार कर लिये गये हैं, फिर भी उसकी दृष्टि में आत्मपूर्णता, वीतरागावस्था या समभाव की उपलब्धि ही उसका एकमात्र परम मूल्य है, किन्तु उसके परममूल्य होने का अर्थ एक सापेक्षिक क्रम व्यवस्था में सर्वोच्च होना है। किसी मूल्य की सर्वोच्चता भी अन्यमूल्य सापेक्ष ही होती है, निरपेक्ष नहीं। अतः मूल्य, मूल्य-विश्व और मूल्यबोध सभी सापेक्ष है।

संदर्भ -

1. देखिए-कण्टेम्पररि एथिकल थ्योरीज, अध्याय 17, पृ. 274-284
2. मरणसमाधि, 603.
3. उत्तराध्ययन, 13/16
4. प्राकृत सूक्तिसरोज, 11/11.
5. प्राकृत सूक्ति-सरोज, 11/7.
6. देखिए-कल्पसूत्र,
7. योगशास्त्र, 1/52.
8. दशवैकालिकनिर्युक्ति, 262-264.
9. दीघनिकाय, 3/8/2.
10. वही, 3/8/2.
11. वही, 3/8/2.
12. दीघनिकाय, 3/3/4.
13. सुत्तनिपात, 26/29.
14. मज्झिमनिकाय, 2/32/4.
15. उदान, जाल्यन्धवर्ग, 8.
16. मज्झिमनिकाय, 1/22/4.
17. गीता, 18/34.
18. वही, 16/21.
19. वही, 16/66.
20. वही, 16/10, 12, 15.
21. वही, 7/11.
22. वही, 3/13.
23. मनुस्मृति, 4/176
24. महाभारत, अनुशासनपर्व, 3/18-19.

25. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 1/17.
26. महाभारत, शान्तिपर्व, 167/12-13.
27. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 2/17.
28. महाभारत शान्तिपर्व, 167/29.
29. वही, 167/35.
30. महाभारत शान्तिपर्व, 167/40,
31. वही, 167/8.
32. वही, 167/46.
33. बुभुक्षितः किं न करोति पापम् :
34. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।
35. निशीथभाष्य, 4791
36. फण्डामेण्टल ऑफ एथिक्स, पृ. 170-171.



हरिभद्र के धर्म-दर्शन में क्रान्तिकारी तत्त्व

हरिभद्र के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह उक्ति अधिक सार्थक है- कुसुमों से अधिक कोमल और वज्र से अधिक कठोर। उनके चिन्तन में एक ओर उदारता है, समन्वयशीलता है, अपने प्रतिपक्षी के सत्य को समझने और स्वीकार करने का विनम्र प्रयास है तो दूसरी ओर असत्य और अनाचार के प्रति तीव्र आक्रोश भी है। दुराग्रह और दुराचार फिर चाहे वह अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या अपने विरोधी के, उनकी समालोचना का विषय बने बिना नहीं रहते हैं। वे उदार हैं, किन्तु सत्याग्रही भी। वे समन्वयशील हैं, किन्तु समालोचक भी। वस्तुतः एक सत्य-द्रष्टा में ये दोनों तत्त्व स्वाभाविक रूप से ही उपस्थित होते हैं। जब वह सत्य की शोध करता है तो एक ओर सत्य को, चाहे फिर वह उसके अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या उसके प्रतिपक्षी में, वह सदाशयता पूर्वक उसे स्वीकार करता है किन्तु दूसरी ओर असत्य को चाहे फिर भी उसके अपने धर्म-सम्प्रदाय में हो या उसके विरोधी के, वह साहसपूर्वक उसे नकारता है। हरिभद्र के व्यक्तित्व का यही सत्याग्रही स्वरूप उनकी उदारता और क्रान्तिकारिता का उत्स है। पूर्व में मैंने हरिभद्र के उदार और समन्वयशील पक्ष का विशेष रूप से चर्चा की थी। अब मैं उनकी क्रान्तिधर्मिता की चर्चा करना चाहूँगा।

हरिभद्र के धर्म दर्शन के क्रान्तिकारी तत्त्व वैसे तो उनके सभी ग्रन्थों में कहीं न कहीं दिखाई देते हैं, फिर भी शास्त्रवार्तासमुच्चय, धूर्ताख्यान और सम्बोधप्रकरण में वे विशेष रूप से परिलक्षित होते हैं। जहाँ शास्त्रवार्तासमुच्चय और धूर्ताख्यान में वे दूसरों की कमियों को उजागर करते हैं तो सम्बोधप्रकरण में अपने पक्ष की समीक्षा करते हुए उसकी कमियों की भी निर्भीक रूप से चित्रण करते हैं।

हरिभद्र अपने युग के धर्म-सम्प्रदायों में उपस्थित अन्तर और बाह्य के द्वैत को उजागर करते हुए कहते हैं, “लोग धर्म-मार्ग की बातें करते हैं, किन्तु सभी तो उस धर्म मार्ग से रहित है।” मात्र बाहरी क्रिया काण्ड धर्म नहीं है। धर्म तो वहाँ होता है जहाँ परमात्म तत्त्व की गवेषणा हो, दूसरे शब्दों में जहाँ आत्मानुभूति हो ‘स्व’ को जानने और पाने का प्रयास हो। जहाँ परमात्म तत्त्व को जानने और पाने का

प्रयास नहीं है वहाँ धर्म-मार्ग नहीं है। वे कहते हैं- जिसमें परमात्म तत्त्व की मार्गणा है- “परमात्मा की खोज और प्राप्ति है, वही धर्म-मार्ग तो मुख्य मार्ग है।” आगे वे पुनः धर्म के मर्म को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- जहाँ विषय वासनाओं का त्याग हो, क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषायों से निवृत्ति हो, वही तो धर्म मार्ग है। जिस धर्म-मार्ग या साधना-पथ में इसका अभाव है वह तो (हरिभद्र की दृष्टि में) नाम का धर्म है।^१ वस्तुतः धर्म के नाम पर जो कुछ हुआ है और हो रहा है उसके सम्बन्ध में हरिभद्र की यह पीड़ा मर्मान्तक है। जहाँ विषय-वासनाओं का पोषण होता हो, जहाँ घृणा-द्वेष और अहंकार के तत्त्व अपनी मुट्ठी में धर्म को दबोचे हुए हों, उसे धर्म कहना धर्म की विडम्बना है। हरिभद्र की दृष्टि में वह धर्म नहीं अपितु धर्म के नाम पर धर्म का आवरण डाले हुए अन्य कुछ अर्थात् अधर्म ही है। विषय वासनाओं और कषायों अर्थात् क्रोधादि दृष्टवृत्तियों के त्याग के अतिरिक्त धर्म का अन्य कोई रूप हो ही नहीं सकता है उन सभी लोगों की, जो धर्म के नाम पर अपनी वासनाओं और अहंकार के पोषण का प्रयत्न करते हैं और मोक्ष को अपने अधिकार की वस्तु मान कर यह कहते हैं कि मोक्ष केवल हमारे धर्म मार्ग का आचरण करने से होगा, समीक्षा करते हुए हरिभद्र यहाँ तक कह देते हैं कि धर्म-मार्ग किसी एक सम्प्रदाय की बपौती नहीं है- जो भी समभाव की साधना करेगा वह मुक्त होगा, फिर वह चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य कोई।^२ वस्तुतः उस युग में जब साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश आज की भाँति ही अपने चरम सीमा पर थे-यह कहना न केवल हरिभद्र की उदारता की सदाशयता का प्रतीक है अपितु उनके एक क्रांतदर्शी आचार्य होने का प्रमाण भी है। उन्होंने जैन परम्परा के निक्षेप के सिद्धान्त को आधार बनाकर धर्म को भी चार भागों में विभाजित कर दिया -

- (1) **नाम धर्म** - धर्म का वह रूप जो धर्म कहलाता है, किन्तु जिसमें धार्मिकता का कोई लक्षण नहीं है। वह धर्म तत्त्व से रहित मात्र नाम का धर्म है।
- (2) **स्थापना धर्म** - जिन क्रिया काण्डों को धर्म मान लिया जाता है, वे वस्तुतः धर्म नहीं धार्मिकता के परिचायक बाह्य रूप मात्र हैं। पूजा, तप आदि धर्म के प्रतीक हैं, किन्तु भावना के अभाव में वे वस्तुतः धर्म नहीं हैं। भावना रहित मात्र क्रिया काण्ड स्थापना धर्म है।
- (3) **द्रव्य धर्म** - वे आचार-परम्पराएँ, जो कभी धर्म थीं, या धार्मिक समझी जाती थीं, किन्तु वर्तमान सन्दर्भ में धर्म नहीं हैं। सत्त्व शून्य अप्रसांगिक बनी धर्म परम्पराएँ ही द्रव्य धर्म हैं।
- (4) **भाव धर्म** - जो वस्तुतः धर्म है वही भाव धर्म है। यथा-समभाव की साधना, विषयकषाय से निवृत्ति आदि भाव धर्म है।

हरिभद्र धर्म के इन चार रूपों में भाव धर्म को ही प्रधान मानते हैं वे कहते हैं कि जिस प्रकार तक्रादि के संयोग, मन्थन की प्रक्रिया और अग्नि द्वारा परितापन के फलस्वरूप दूध से घृत प्रकट होता है उसी प्रकार धर्म मार्ग के द्वारा दूध रूपी आत्मा घृत रूप परमात्म तत्त्व को प्राप्त होता है⁶। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यह जो भावगत धर्म है वही विशुद्धि का हेतु है⁷। यद्यपि हरिभद्र के इस कथन का यह आशय भी नहीं लेना चाहिए कि हरिभद्र कर्मकाण्ड के पूर्णतः विरोधी हैं। उन्होंने स्वयं ही सम्बोधप्रकरण की लगभग 50-60 गाथाओं में, आत्म शुद्धि निमित्त जिन पूजा का और उसमें होने वाली अशातनाओं का सुन्दर चित्रण किया है। मात्र उनका प्रतिपाद्य यह है कि इन कर्मकाण्डों का मूल्य भावना शुद्धि के आधार पर ही निर्धारित होता है।⁸ यदि धार्मिक जीवन में वासना और कषायों का शमन और आत्म-विशुद्धि नहीं होता है तो कर्मकाण्ड का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। वस्तुतः हरिभद्र साध्य की उपलब्धि के आधार पर ही साधन का मूल्यांकन करते हैं। वे उन विचारकों में से हैं जिन्हें धर्म के मर्म की पहचान है, अतः वे धर्म के नाम पर ढोंग, आडम्बर और लोकेषणा की पूर्ति के प्रयत्नों को कोई स्थान नहीं देना चाहते हैं। यही उनकी क्रान्तधर्मिता है।

हरिभद्र के युग में जैन परम्परा में चैत्यवास का विकास हो चुका था। अपने आपको श्रमण और त्यागी कहने वाला वर्ग जिन पूजा और मन्दिर निर्माण के नाम पर न केवल परिग्रह का संचय कर रहा था अपितु जिन, द्रव्य (जिन प्रतिमा को समर्पित द्रव्य) का अपनी विषय वासनाओं की पूर्ति में उपयोग कर रहा था। जिन प्रतिमा और जिन मन्दिर तथाकथित श्रमणों की ध्यान भूमि या साधना भूमि न बनकर भोग भूमि बन रहे थे। हरिभद्र जैसे क्रांतिदर्शी आचार्य के लिए यह सब देख पाना सम्भव नहीं था। अतः उन्होंने इसके विरोध में अपनी कलम चलाने का निर्णय लिया। वे लिखते हैं - द्रव्य पूजा तो गृहस्थों के लिए है, मुनि के लिए तो केवल भाव पूजा है, जो केवल मुनि वेशधारी है मुनि आचार का भी पालन नहीं करता है, उसके लिए भी द्रव्य-पूजा जिन-प्रवचन की निन्दा का कारण होने से उचित नहीं है (सम्बोधप्रकरण 1/273)। वस्तुतः यहाँ हरिभद्र ने मन्दिर निर्माण, प्रतिष्ठा पूजा आदि कार्यों में उलझने पर मुनि वर्ग का जो पतन हो सकता था, उसका पूर्वानुमान कर लिया था। यति संस्था के विकास से उनका यह अनुमान सत्य ही सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें एक ओर उनके युग के समाज के प्रति उनकी आत्म-पीड़ा मुखर हो रही है तो दूसरी ओर उसमें एक धर्मक्रान्ति का स्वर भी सुनाई दे रहा है। जिन-द्रव्य को अपनी वासना पूर्ति का साधन बनाने वाले उन श्रावकों एवं तथाकथित श्रमणों को ललकारते हुए वे कहते हैं- जो श्रावक जिन

प्रवचन और ज्ञान-दर्शन गुणों की प्रभावना और वृद्धि करने वाले जिन-द्रव्य का जिनाज्ञा के विपरीत उपयोग करते हैं, दोहन करते हैं अथवा भक्षण करते हैं वे क्रमशः भवसमुद्र में भ्रमण करने वाले, दुर्गति में जाने वाले और अनन्त संसारी होते हैं⁹। इसी प्रकार जो साधु जिन द्रव्य का भोजन करता है वह प्रायश्चित का पात्र है¹⁰। वस्तुतः यह सब इस तथ्य का भी सूचक है कि उस युग में धर्म साधना का माध्यम न रहकर वासना पूर्ति का माध्यम बन रहा था। अतः हरिभद्र जैसे प्रबुद्ध आचार्य के लिए उसके प्रति संघर्ष करना आवश्यक हो गया।

सम्बोधप्रकरण में हरिभद्र ने अपने युग के जैन साधुओं का जो चित्रण किया है वह भी एक ओर जैन धर्म में साधु जीवन के नाम पर जो कुछ हो रहा था उसके प्रति हरिभद्र की पीड़ा को प्रदर्शित करता है तो दूसरी ओर यह भी बताता है कि हरिभद्र तत्कालीन परिस्थितियों के मूक दर्शक और तटस्थ समीक्षक ही नहीं थे, अपितु उनके मन में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति की एक तीव्र आकांक्षा भी थी। वे अपनी समालोचना के द्वारा जनसमाज में एक परिवर्तन लाता चाहते थे।

तत्कालीन तथाकथित श्रमणों के आचार-व्यवहार पर कटाक्ष करते हुए वे लिखते हैं कि जिन प्रवचन में पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाछंद (स्वेच्छाचारी) - 'ये पाँचों अवदनीय हैं। यद्यपि ये लोग जैन मुनि वेश धारण करते हैं किन्तु इनमें मुनित्व का लक्षण नहीं है। मुनि वेश धारण करके भी वे क्या-क्या दुष्कर्म करते थे, इसका सजीव चित्रण तो वे अपने ग्रन्थ सम्बोधप्रकरण के द्वितीय अधिकार में 'कुरुरु गुर्वाभास पार्श्वस्थ आदि स्वरूप' के अन्तर्गत 171 गाथाओं में विस्तार से करते हैं। इस संक्षिप्त निबन्ध में उन सबकी समग्र चर्चा एवं व्याख्या करना तो सम्भव नहीं है। फिर भी हरिभद्र की कठोर समालोचक दृष्टि का परिचय देने के लिए कुछ विवरण तो दे देना भी आवश्यक ही है। वे लिखते हैं 'ये मुनि वेशधारी तथाकथित श्रमण आवास देने वाले का या राजा के यहाँ भोजन करते हैं, बिना कारण ही अपने लिए लाये गये भोजन को स्वीकार करते हैं। भिक्षाचार्या नहीं करते हैं। आवश्यक कर्म अर्थात् प्रतिक्रमण आदि श्रमण के जीवन के अनिवार्य कर्तव्य का पालन नहीं करते हैं। कौतुक कर्म, भूत-कर्म, भविष्य फल एवं निमित्त शास्त्र के माध्यम से धन संचय करते हैं। ये घृत-मक्खन आदि विकृतियों को संचित करके खाते रहते हैं। न तो साधु-समूह (मण्डली) में बैठकर भोजन करते हैं और न केशलुंचन करते हैं।' फिर ये करते क्या हैं? हरिभद्र लिखते हैं, सवारी में घूमते हैं, अकारण कटि वस्त्र बांधते हैं और सारी रात निश्चेष्ट होकर सोते रहते हैं। न तो आते-जाते समय प्रमार्जन करते हैं, न अपनी उपाधि (सामग्री) का प्रतिलेखन करते हैं और न स्वाध्याय ही करते हैं। अनेषणीय पुष्प, फल और पेय ग्रहण करते हैं।

भोजन प्राप्ति के लिए लोगों की (झुठी) प्रशंसा करते हैं। जिन प्रतिमा का रक्षण एवं क्रय-विक्रय करते हैं। उच्चाटन आदि कर्म करते हैं। नित्य दिन में दो बार भोजन करते हैं। तथा लवंग, ताम्बूल और दूध आदि विकृतियों का सेवन करते हैं। विपुल मात्र में दुकूल आदि वस्त्र, बिस्तर, जूते, वाहन आदि रखते हैं। स्त्रियों के समक्ष गीत गाते हैं। आर्थिकाओं के द्वारा लायी सामग्री लेते हैं। लोक प्रतिष्ठा के लिए मुण्डन करवाते हैं तथा मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण धारण करते हैं। चैत्यों में निवास करते हैं, (द्रव्य) पूजा आदि कार्य आरम्भ करवाते हैं, जिन मन्दिर बनवाते हैं, हिरण्य-सुवर्ण रखते हैं, नीच कुलों को द्रव्य देकर उनसे शिष्य ग्रहण करते हैं। मृतक-कृत्य निमित्त जिन पूजा करवाते हैं, मृतक के निमित्त जिन-दान (चढ़ावा) करवाते हैं। धन प्राप्ति के लिए गृहस्थों के समक्ष अंग सूत्र आदि का प्रवचन करते हैं। अपने हीनाचारी मृत गुरु के निमित्त नदी बलि आदि करते हैं। पाठ महोत्सव रचाते हैं। व्याख्यान में महिलाओं से अपना गुण गान करवाते हैं। यति केवल स्त्रियों के सम्मुख और आर्थिकायें केवल पुरुषों के सम्मुख व्याख्यान करती हैं। इस प्रकार जिन-आज्ञा का अपलाप कर मात्र अपनी वासनाओं का पोषण करते हैं। ये व्याख्यान करके गृहस्थों से धन की याचना करते हैं। ये तो ज्ञान के भी विक्रता हैं। ऐसे आर्थिकाओं के साथ रहने और भोजन करने वाले द्रव्य संग्राहक उन्मार्ग के पक्षधर मिथ्यात्व परायण न तो मुनि कहे जा सकते हैं और न आचार्य ही हैं¹²। ऐसे लोगों का-वन्दन करने से न तो कीर्ति होती है और न निर्जरा ही, इसके विपरीत मात्र शरीर को कष्ट और कर्म बन्धन होता है।¹³

वस्तुतः जिस प्रकार गन्दगी में गिरी हुई माला को कोई भी धारण नहीं करता है, वैसे ही ये भी अपूज्य हैं¹⁴। हरिभद्र ऐसे वेशधारियों को फटकारते हुए कहते हैं यदि महापूजनीय यति (मुनि) वेश धारण करके शुद्ध चरित्र का पालन तुम्हारे लिए शक्य नहीं है तो फिर गृहस्थ वेश क्यों नहीं धारण कर लेते हो? अरे गृहस्थ वेश में कुछ प्रतिष्ठा तो मिलेगी, किन्तु मुनि वेश धारण करके यदि उसके अनुरूप आचरण नहीं करोगे तो उल्टे निन्दा के ही पात्र बनोगे¹⁵। यह उन जैसे साहसी आचार्य का कार्य हो सकता है जो अपने सहवर्गियों को इतने स्पष्ट रूप में कुछ कह सके। जैसा मैंने अपने पूर्व लेख में चर्चा की है, हरिभद्र तो इतने उदार हैं कि वे अपनी विरोधी दर्शन परम्परा के आचार्यों को भी महामुनि सुवेद्य जैसे उत्तम विशेषणों से सम्बोधित करते हैं। किन्तु वे उतने ही कठोर होना भी जानते हैं- विशेष रूप से उनके प्रति जो धर्मिकता का आवरण डालकर भी अधार्मिक हैं। ऐसे लोगों के प्रति यह क्रान्तिकारी आचार्य कहता है -

ऐसे दुःशील, साधुःपिशाचों को जो भक्तिपूर्वक वन्दन, नमस्कार करता है, क्या वह महापाप नहीं है¹⁶? अरे इन सुखशील स्वच्छन्दाचारी मोक्ष मार्ग के बैरी, आज्ञाभ्रष्ट साधुओं को संयति अर्थात् मुनि मत कहो। अरे! देव द्रव्य के भक्षण में तत्पर, उन्मार्ग के पक्षधर और साधुजनों को दूषित करने वाले इन वेशधारियों को संघ मत कहो। अरे इन अधर्म और अनीति के पोषक अनाचार का सेवन करने वाले और साधुका के चोरों को संघ मत कहो। जो ऐसे (दुराचारियों के समूह) को राग या द्वेष के वशीभूत होकर भी संघ कहता है उसे भी छेद-प्रायश्चित्त होता है¹⁷। हरिभद्र पुनः कहते हैं - जिनाज्ञा का अपलाप करने वाले इन मुनि-वेशधारियों के संघ में रहने की अपेक्षा तो गर्भवास और नरकवास कहीं अधिक श्रेयस्कर है।

हरिभद्र की यह शब्दावली इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धर्म के नाम पर अधर्म का पोषण करने वाले अपने ही सहवर्गियों के प्रति उनके मन में कितना विद्रोह है, आक्रोश है। वे तत्कालीन जैन-संघ की स्पष्ट चेतावनी देते हैं कि ऐसे लोगों को प्रश्रय मत दो उनका आदर-सत्कार मत करो अन्यथा धर्म का यथार्थ स्वरूप ही धूमिल हो जायेगा। वे कहते हैं कि यदि आम और नीम की जड़ों का समागम हो जाये तो नीम का कुछ नहीं बिगड़ेगा किन्तु उसके संसर्ग में आम का अवश्य विनाश हो जाएगा¹⁸। वस्तुतः हरिभद्र की यह क्रान्तिदर्शिता यथार्थ ही है क्योंकि दुराचारियों के सान्निध्य में चारित्रिक पतन की सम्भावना प्रबल होती है। वे स्वयं कहते हैं जो जिसकी मित्रता करता है तत्काल वैसा हो जाता है तिल जिस फूल में डाल दिये जाते हैं, उसी की गन्ध के हो जाते हैं²⁰। हरिभद्र इस माध्यम से समाज को उन लोगों से सतर्क रहने का निर्देश देते हैं जो धर्म का नकाब डाले अधर्म में जीते हैं क्योंकि ऐसे दुराचारियों की अपेक्षा भी समाज के लिए अधिक खतरनाक हैं। आचार्य ऐसे लोगों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं- जिस प्रकार कुलवधू का वेश्या के घर जाना निषिद्ध है उसी प्रकार सुश्रावक के लिए हीनाचारी यति का सान्निध्य निषिद्ध है। दुराचारी अगीतार्थ के वचन सुनने की अपेक्षा तो दृष्टि विष सर्प का सान्निध्य या हलाहल विष का पान कहीं अधिक अच्छा है (क्योंकि ये तो एक जीवन का विनाश करते हैं, जबकि दुराचारी का सान्निध्य तो जन्म-जन्मान्तर का विनाश कर देता है²¹।)

फिर भी ऐसा लगता है कि इस क्रान्तदर्शी आचार्य की बात अनसुनी हो रही थी क्योंकि शिथिलाचारियों के अपने तर्क थे। वे लोगों के सम्मुख कहते थे कि सामग्री (शरीर-सामर्थ्य) का अभाव है। वक्र जड़ों का काल है। दुष्मा काल में विधि मार्ग के अनुरूप आचरण कठिन है। (यदि कठोर आचार की बात कहेगें तो

कोई मुनि व्रत धारण ही नहीं करेगा) तीर्थोच्छेद और सिद्धान्त के प्रवर्तन का प्रश्न है हम क्या करें²²। उनके इन तर्कों से प्रभावित हो मूर्ख जन साधारण कह रहा था कि कुछ भी हो वेश तो तीर्थकर प्रणीत है अतः वन्दनीय है। हरिभद्र भारी मन से मात्र यही कहते हैं कि मैं अपने सिर की पीड़ा किससे कहूँ²³।

किन्तु यह तो प्रत्येक क्रान्तिकारी की नियति होती है। प्रथम क्षण में जनसाधारण भी उसके साथ नहीं होता है, अतः हरिभद्र का इस पीड़ा से गुजरना भी उनके क्रान्तिकारी होने का ही प्रमाण है। सम्भवतः जैन परम्परा में यह प्रथम अवसर था जब जैन समाज के तथाकथित मुनि वर्ग को इतने स्पष्ट शब्दों में किसी आचार्य ने लताड़ा हो। वे स्वयं दुःखी मन से कहते हैं-हे प्रभु! जंगल में निवास और दरिद्र का साथ अच्छा है, अरे व्याधि और मृत्यु भी श्रेष्ठ है, किन्तु इन कुशीलों का सान्निध्य अच्छा नहीं है। अरे (अन्य परम्परा के) हीनाचारी का साथ भी अच्छा हो सकता है, किन्तु (अपनी ही परम्परा के) इन कुशीलों का साथ बिल्कुल ही अच्छा नहीं है। क्योंकि हीनाचारी ही तो अल्प नाश करता है किन्तु ये तो शील रूपी निधि का सर्वनाश ही कर देते हैं।²⁴ वस्तुतः इस कथन के पीछे आचार्य की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। क्योंकि जब हम किसी को इतर परम्परा का मान लेते हैं तो उसकी कमियों को कमियों के रूप में ही जानते हैं, अतः उसके सम्पर्क के कारण संघ में उतनी विकृति नहीं आती है जितनी जैन मुनि का वेश धारण कर दुराचार का सेवन करने वाले के सम्पर्क से। क्योंकि उसके सम्पर्क से उस पर श्रद्धा होने पर व्यक्ति का और संघ का जीवन पतित बन जायेगा। यदि सदभाग्य से अश्रद्धा हुई तो वह जिन प्रवचन के प्रति अश्रद्धा को जन्म देगा (क्योंकि सामान्य जन तो शास्त्र नहीं उस शास्त्र के अनुगामी का जीवन देखता है) फलतः उभय तो सर्वनाश का कारण होगी। अतः आचार्य हरिभद्र बार-बार जिन शासन रसिकों को निर्देश देते हैं-ऐसे जिनशासत के कलंक शिथिलाचारियों और दुराचारियों की तो छाया से दूर रहो। क्योंकि ये तुम्हारे जीवन, चरित्रबल और श्रद्धा सभी चौपट कर देंगे। हरिभद्र को जिन शासन के विनाश का खतरा दूसरों से नहीं अपने ही लोगों से अधिक लगा। कहा भी है - इस घर को आग लगी घर के चिराग से।

वस्तुतः एक क्रान्तदर्शी आचार्य के रूप में हरिभद्र का मुख्य उद्देश्य था जैन संघ में उनके युग में जो विकृतियाँ आ गयी थीं, उन्हें दूर करना। अतः उन्होंने अपने ही पक्ष की कमियों को अधिक गम्भीरता से देखा। जो सच्चे अर्थ में समाज सुधारक होता है, जो सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाना चाहता है, वह प्रमुख रूप से अपनी ही कमियों को खोजता है। हरिभद्र ने इस रूप में सम्बोधप्रकरण में एक

क्रान्तिकारी की भूमिका निभाई है, क्रान्तिकारी के दो कार्य होते हैं, एक तो समाज में प्रचलित विकृत मान्यताओं की समीक्षा करना और उन्हें समाप्त करना, किन्तु मात्र इतने से उसका कार्य पूरा नहीं होता है। उसका दूसरा कार्य होता है सत् मान्यताओं को प्रतिष्ठित या पुनः प्रतिष्ठित करना। हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने दोनों बातों को अपनी दृष्टि में रखा है।

उन्होंने अपने ग्रन्थ सम्बोधप्रकरण में देव, गुरु, धर्म, श्रावक आदि का सम्यक् स्वरूप कैसा होना चाहिए, इसकी भी विस्तृत व्याख्या की है। यद्यपि इस निबन्ध की अपनी सीमा है अतः हमें अपने विस्तृत विवेचना के मोह का संवरण करना ही होगा। हरिभद्र ने जहाँ वेशधारियों की समीक्षा की है, वहीं आगमोक्त दृष्टि से गुरु कैसा होना चाहिये, इसकी विस्तृत विवेचना की है। हम उसके विस्तार में न जाकर संक्षेप में यही कहेंगे कि हरिभद्र की दृष्टि में जो पंच महाव्रतों, पांच समितियों, तीन गुप्तियों के पालन में तत्पर है जो जितेन्द्रिय, संयमी, परिष जयी, शुद्धाचरण करने वाला और सत्य मार्ग को बताने वाला है, वही सुगुरु है²⁵।

हरिभद्र के युग में गुरु के सम्बन्ध में एक प्रकार का वैयक्तिक अभिनिवेश विकसित हो गया था। कुलगुरु की वैदिक अवधारणा की भाँति प्रत्येक के आस-पास एक वर्ग एकत्रित हो रहा था, जो उन्हें अपना गुरु मानता था तथा अन्य को गुरु रूप में स्वीकार नहीं करता था। श्रावकों का एक विशेष समूह एक विशेष आचार्य को अपना गुरु मनता था- जैसा की आज भी देखा जाता है। हरिभद्र ने इस परम्परा में साम्प्रदायिकता के दुराभिनिवेश के बीज देख लिए थे। उन्हें यह स्पष्ट लग रहा था कि इससे साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ़ होंगे। समाज विभिन्न छोटे-छोटे वर्गों में बंट जाएगा। इसके विकास का दूसरा मुख्य खतरा यह था ... गुणपूजक जैन धर्म व्यक्ति पूजक बन जायेगा और वैयक्तिक रागात्मकता के कारण चारित्रिक दोषों के बावजूद भी एक विशेष वर्ग की एक विशेष आचार्य की इस परम्परा से रागात्मकता जुड़ी रहेगी। युग-द्रष्टा इस आचार्य ने सामाजिक विकृति को समझा और स्पष्ट रूप से निर्देश दिया-श्रावक का कोई अपना और पराया गुरु नहीं होता है, जिनाज्ञा के पालन में निरत सभी उसके गुरु हैं²⁶। काश! हरिभद्र के द्वारा कथित इस सत्य को हम आज भी समझ सकें तो समाज की टूटी हुई कड़ियों को पुनः जोड़ा जा सकता है।

संदर्भ -

1. मग्गो मग्गो लोए भणति, सब्बे वि मग्गणा रहिया। -सम्बोधप्रकरण 1/4 पूर्वार्ध
2. परमप्य मग्गणा जत्थ तम्मग्गो मुख्ख मग्गुत्ति। -सम्बोधप्रकरण 1/4 उत्तरार्ध
3. जत्थ य विसय कसायच्चागो मग्गो हविज्ज णो अण्णो। -वही, 1/5 पूर्वार्ध

4. सेयम्बरो य आसम्बरो य बुद्धो य अहव अण्णो वा । समभाव भाविअप्पा तहइ मुक्खं न सदेहो ।। -वही, 1/3
5. नामाइ चउप्पभेओ भणिओ । -वही, 1/5 (व्याख्या लेखक की अपनी है)
6. तक्काइ जोय करणा खोरं पयडं घयं जहा हुज्जा । 7वही, 1/7
7. भावमयं तं मग्गो तस्स विसुद्धीइ हेउणो भणिया । -वही, 1/11 पूर्वार्द्ध
8. तम्मि य पढमे सुद्धे सव्वाणि तयणुसारणि । -वही, 1/10
9. वही, 1/99-104
10. वही, 1/108
11. वही, 2/10, 13, 32, 33, 34,
12. वही, 2/34, 35, 36, 42, 46, 49, 50, 52, 56, 57, 58, 59, 60, 61, 62-74, 88-92
13. वही, 2/20
14. जह असुइ ठाणपडिया चंपकमाला न कीरते सीसे । पासत्थाइठाणे वट्टमाणा इह अपुज्जा । -वही, 2/22
15. जइ चरितं नो सक्को सुद्धं जइलिंग महवपूयट्ठी । तो गिहिलिंग गिणहे नो लिंगी पूयणारहिओ । -वही, 1/275
16. एयारिसाण दुस्सीलायाण साहुपिसायाण मत्ति पूव्वं । जे वंदण नमसाइ कुव्वंति न महापावा? वही, 1/114
17. सुहसीलाओ स्वच्छंदचारिण वेरिणो सिवपहस्स ।
आणाभट्टाओ बहुजणाओ मा भणह संवुत्ति ।।
देवाइ देवभक्खणतप्परा तह उमग्गपक्खकरा ।
साहु जणाणपओसं कारिणं माभणह संघं ।।
अहम्म अनीई अणायार सेविणो धम्मनीईं पडिकूला ।
साहुपभिइ चउरो वि बहुया अवि मा भणह संघं ।।
असघं संघंजे भणति रागेण अहव दोसण ।
छेओ वा मूहतं पच्छित्तं जायए तेसिं । वही, 1/119, 120, 121, 123,
18. गब्भपवेसी वि वरं भद्दवरो नरयवास पासो वि ।
मा जिण आणा लोवकरे वत्तणं नाम संघे वि ।। वही 2/132
19. वही, 2/103
20. वही, 2/104
21. वेसागिहेसु गमणं जहा निसिद्धं सकुल बहुयाणं ।
तह हीणायार जइ जण संग सइढाण पडिसिद्धं ।।
परं दिट्ठी वित्तो तपो वरं हलाहलं विसं ।
हीणाया अगीयत्थ वयण पसंगं खुणो भदो ।।
-वही, श्रावक धर्माधिकार 2,3
22. वही, 2/77-78

23. बाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसोवि ।
नमणिज्जो धिद्धि अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो ।।
वही, 2/76
24. वरं वाही वरं मच्चू वरं दरिदसंगमो ।
वरं अरण्णेवासो य मा कुसीलाण संगमो ।।
हीणायारो वि वरं मा कुसीलाण संगमो भद्दं ।
जम्हा हीणो अप्प नासइ सच्चं हु सील निहिं ।।
- वही, 2/101 - 102
25. विस्तार के लिए देखें सम्बोधप्रकरण गुरुस्वरूपाधिकार । इसमें 37 गाथाओं में सुगुरु का स्वरूप वर्णित है ।
26. नो अप्पणा पराया गुरुणो कइया विहुति सइढाणं ।
जिण वयण रयणनिहिणो सव्वे ते विन्निया गुरुणो ।।
वही, गुरुस्वरूपाधिकार: 3



हरिभद्र की क्रान्तदर्शी दृष्टि

पूर्व निबन्ध में मैंने जैन परम्परा में व्याप्त अन्धविश्वासों एवं धर्म के नाम पर होने वाली आत्म प्रवंचनाओं के प्रति हरिभद्र के क्रान्तिकारी अवदान की चर्चा सम्बोधप्रकरण के आधार पर की थी। दस निबन्ध में मैं अन्य परम्पराओं में प्रचलित अन्धविश्वासों की हरिभद्र द्वारा की गई शिष्ट समीक्षा को प्रस्तुत करूँगा।

हरिभद्र की क्रान्तदर्शी दृष्टि जहाँ एक ओर अन्य धर्म एवं दर्शनों में निहित सत्य को स्वीकार करती है, वहीं दूसरी ओर उनकी अयुक्ति संगत कपोल-कल्पनाओं की व्यंगात्मक शैली में समीक्षा भी करती है। इस सम्बन्ध में उनका धूर्ताख्यान नामक ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य उद्देश्य भारत (महाभारत), रामायण और पुराणों की काल्पनिक और अयुक्तिसंगत अवधारणाओं की समीक्षा करना है। यह समीक्षा व्यंगात्मक शैली में है। धर्म के सम्बन्ध में कुछ मिथ्या विश्वास युगों से रहे हैं, फिर भी पुराण-युग में जिस प्रकार मिथ्या कल्पनाएँ प्रस्तुत की गई -वे भारतीय मनीषा के दिवालियेपन की सूचक सी लगती हैं। इस पौराणिक प्रभाव से ही जैन परम्परा में भी महावीर के गर्भ परिवर्तन, उनके अंगूठे को दबाने मात्र से मेरु कम्पन जैसी कुछ चमत्कारिक घटनाएँ प्रचलित हुई। यद्यपि जैन परम्परा में भी चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की रानियों की संख्या एवं उनकी सेना की संख्या, तीर्थकरों के शरीर प्रमाण एवं आयु आदि के विवरण सहज विश्वसनीय तो नहीं लगते हैं, किन्तु तार्किक असंगति से युक्त नहीं हैं। सम्भवतः यह सब भी पौराणिक परम्परा का प्रभाव था जिसे जैन परम्परा को अपने महापुरुषों की अलौकिकता को बताने हेतु स्वीकार करना पड़ा था; फिर भी यह मानना होगा कि जैन परम्परा में ऐसी कपोल-कल्पनायें अपेक्षाकृत रूप में बहुत ही कम हैं। साथ ही महावीर के गर्भ परिवर्तन की घटना, जो मुख्यतः ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की श्रेष्ठता स्थापित करने हेतु गढ़ी गई थी, के अतिरिक्त सभी पर्याप्त परवर्ती काल की हैं और पौराणिक युग की ही देन हैं और इनमें कपोल-काल्पनिकता का पुट भी अधिक नहीं है। गर्भ परिवर्तन की घटना छोड़कर जिसमें भी आज विज्ञान ने सम्भव बना दिया है अविश्वसनीय और आप्राकृतिक रूप से जन्म लेने का जैन परम्परा में

एक भी आख्यान नहीं है जबकि पुराणों में ऐसे हजार से अधिक आख्यान हैं। जैन परम्परा सदैव तर्क प्रधान रही है, यही कारण था कि महावीर की गर्भ परिवर्तन की घटना को भी उसके एक वर्ग ने स्वीकार नहीं किया।

हरिभद्र के ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ऐसे आचार्य हैं जो युक्ति को प्रधानता देते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि महावीर ने हमें कोई धन नहीं दे दिया है और कपिल आदि ऋषियों ने हमारे धन का अपहरण नहीं किया है, अतः हमारा न तो महावीर के प्रति राग है और न कपिल आदि ऋषियों के प्रति द्वेष है। जिसकी भी बात युक्ति संगत हो उसे ग्रहण करना चाहिए।¹ इस प्रकार हरिभद्र तर्क को ही श्रद्धा का आधार मानकर चलते हैं। जैन परम्परा के अन्य आचार्यों के समान वे भी श्रद्धा के विषय देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप के निर्णय के लिए क्रमशः वीतरागता, सदाचार और अहिंसा को कसौटी मानकर चलते हैं और तर्क या युक्ति से जो इन कसौटियों पर खरा उतरता है उसे स्वीकार करने की बात कहते हैं। जिस प्रकार सम्बोधप्रकरण में मुख्य रूप से गुरु के स्वरूप की समीक्षा करते प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार धूर्ताख्यान में वे परोक्षतः देव या आराध्य के स्वरूप की समीक्षा करते प्रतीत होते हैं। वे यह नहीं कहते कि विष्णु, ब्रह्मा एवं महादेव हमारे आराध्य नहीं हैं। वे तो स्वयं ही कहते हैं जिसमें कोई दोष नहीं है और जो समस्त गुणों से युक्त है वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो या महादेव हो, उसे मैं प्रणाम करता हूँ।² उनका कहना मात्र यह है कि पौराणिकों ने कपोल कल्पनाओं के आधार पर उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व को जिस अतर्कसंगत एवं भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत किया है उससे न केवल उनका व्यक्तित्व धूमिल होता है, अपितु वे जन साधारण की अश्रद्धा का कारण बनते हैं।

धूर्ताख्यान के माध्यम से हरिभद्र ऐसे अतर्कसंगत अंधविश्वासों से जन-साधारण को मुक्त करना चाहते हैं जिनमें उसके आराध्य और उपास्य देवों को चरित्रहीन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के रूप में चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वायु, अग्नि और धर्म का कुमारी एवं बाद में पाण्डु पत्नी कुन्ती से यौन सम्बन्ध स्थापित कर पुत्र उत्पन्न करना, गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या से इन्द्र द्वारा अनैतिक रूप से यौन सम्बन्ध स्थापित करना, लोकव्यापी विष्णु का कामी-जनों के समान गोपियों के लिए उद्विग्न होना आदि कथानक इन देवों की गरिमा को खण्डित करते हैं। इसी प्रकार हनुमान का अपनी पूँछ से लंका घेर लेना अथवा पूरे पर्वत को उठा लाना, सूर्य और अग्नि के साथ सम्भोग करके कुन्ती का न जलना, गंगा का शिव की जटा में समा जाना, द्रोणाचार्य का द्रोण से, कर्ण का कान से, कीचक का बांस की नली से एवं रक्त कुण्डलिन् का रक्त बिन्दु से जन्म लेना, अण्डे से जगत

की उत्पत्ति, शिवलिंग का विष्णु द्वारा अन्त न पाना, किन्तु उसी लिंग का पार्वती की योनि में समा जाना, जटायु के शरीर को पहाड़ के समान मानना, रावण द्वारा अपने सिरों को काटकर महादेव को अर्पण करना और उनका पुनः जुड़ जाना, बलराम का माया द्वारा गर्भ परिवर्तन, बालक श्री कृष्ण के पेट में समग्र विश्व का समा जाना, अगस्त्य द्वारा समुद्र पान और जह्मणु के द्वारा गंगापान करना, कृष्ण द्वारा गोवर्धन उठा लेना आदि पुराणों में वर्णित अनेक घटनाएँ या तो उन महान पुरुषों के व्यक्तित्व का धूमिल करती हैं या आत्म विरोधी हैं अथवा फिर अविश्वसनीय हैं। यद्यपि यह विचारणीय है कि महावीर के गर्भ-परिवर्तन की घटना, जो कि निश्चित ही हरिभद्र के पूर्व पूर्णतः मान्य हो चुकी थी, को स्वीकार करके भी हरिभद्र बलराम के गर्भ परिवर्तन को कैसे अविश्वसनीय कह सकते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि हरिभद्र धूर्ताख्यान में एक धूर्त द्वारा अपने जीवन में घटित अविश्वसनीय घटनाओं का उल्लेख करवा कर फिर दूसरे धूर्त से यह कहलवा देते हैं कि यदि भारत, रामायण आदि में घटित उपर्युक्त घटनायें सत्य हैं, तो फिर यह भी सत्य हो सकता है।

हरिभद्र द्वारा व्यंगात्मक शैली में रचित इस ग्रन्थ का उद्देश्य तो मात्र इतना ही है कि धर्म के नाम पर चलने वाले अंधविश्वासों को नष्ट किया जाये और पौराणिक कथाओं में देव या महापुरुष के रूप में मान्य व्यक्तित्वों के चरित्र को अनैतिक रूप में प्रस्तुत करके उसकी आड़ में जो पुरोहित वर्ग अपनी दुश्चरित्रता का पोषण करना चाहता था उसका पर्दाफाश किया जाये। उस युग के पुरोहित प्रथम तो इन महापुरुषों के चरित्रों को अनैतिक रूप में प्रस्तुत कर और उसके आधार पर यह कहकर कि यदि कृष्ण गोपियों के साथ छेड़छाड़ कर सकते हैं, विवाहिता राधा के साथ अपना रोमांस चला सकते हैं, यदि इन्द्र महर्षि गौतम की पत्नी के साथ छल से सम्भोग कर सकता है तो फिर हमारे द्वारा यह सब करना दुराचार कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः जिस प्रकार सम्बोधप्रकरण में वे अपनी परम्परा के श्रमण वेशधारी दुश्चरित्र कुगुरुओं को फटकारते हैं, उसी प्रकार धूर्ताख्यान में वे ब्राह्मण परम्परा के तथाकथित धर्म के ठेकेदारों को लताड़ते हैं। फिर भी हरिभद्र की फटकारने की दोनों शैलियों में बहुत बड़ा अन्तर है। सम्बोधप्रकरण में वे सीधे फटकारते हैं जब कि धूर्ताख्यान में व्यंगात्मक शैली में। इसमें हरिभद्र की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि छिपी हुई है। हमें जब अपने घर के किसी सदस्य को कुछ कहना होता है तो सीधे कह देते हैं, किन्तु जब दूसरों को कुछ कहना होता है तो परोक्ष रूप में तथा सभ्य शब्दावली का प्रयोग करते हैं। हरिभद्र धूर्ताख्यान में इस दूसरी व्यंगपरक शिष्ट शैली का प्रयोग करते हैं और अन्य परम्परा के देव और गुरु पर सीधा आक्षेप नहीं करते हैं।

दूसरे धूर्ताख्यान, शास्त्रवार्तासमुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चय, लोकतत्त्वनिर्णय सावयपण्णत्ति आदि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आराध्य या उपास्य के नाम के सम्बन्ध में हरिभद्र के मन में कोई आग्रह नहीं है, मात्र आग्रह है, तो इस बात का कि उसका चरित्र निर्दोष और निष्कलंक हो। धूर्ताख्यान में उन्होंने उन सबकी समालोचना की है जो अपनी वासनाओं की पुष्टि के निमित्त अपने उपास्य के चरित्र को धूमिल करते हैं। हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि कृष्ण के चरित्र में राधा और गोपियों को डाल कर हमारे पुरोहित वर्ग ने क्या-क्या नहीं किया। हरिभद्र को इस बात से भी आपत्ति है कि हम अपने आराध्य को सपत्नी और शस्त्रधारी रूप में प्रस्तुत करें क्योंकि ऐसा मानने पर हममें और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जाएगा।

हरिभद्र इस सम्बन्ध में सीधे तो कुछ नहीं कहते हैं, मात्र एक प्रश्न चिन्ह छोड़ देते हैं कि सराग और सशस्त्र देव में देवत्व (उपास्य) की गरिमा कहां तक ठहर पायेगी।^१ अन्य परम्पराओं के देव और गुरु के सम्बन्ध में उनकी सौम्य एवं व्यंगात्मक शैली जहाँ पाठक को चिन्तन के लिए विवश कर देती है, वहीं दूसरी ओर वह उनके क्रान्तिकारी, साहसी व्यक्तित्व को प्रस्तुत कर देती है, हरिभद्र सम्बोधप्रकरण में स्पष्ट कहते हैं कि रागी-देव, दुराचारी गुरु और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली-प्रवृत्तियों को धर्म मानना, धर्म साधना के सम्यक् स्वरूप को विकृत करता है। अतः हमें इन मिथ्या विश्वासों से ऊपर उठना होगा। इस प्रकार हरिभद्र धूर्ताख्यान में जनमानस को अंधविश्वासों से मुक्त कराने का प्रयास कर अपने क्रान्तदर्शी होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

संदर्भ -

1. लोकतत्त्वनिर्णय 32-33
2. योगदृष्टिसमुच्चय



हरिभद्र के धूर्ताख्यान का मूल स्रोत

हरिभद्र के धूर्ताख्यान पर चिन्तन करते समय यह विचार उत्पन्न हुआ कि हरिभद्र ने यह आख्यान कहाँ से ग्रहण किया। धूर्ताख्यान के समीक्षात्मक अध्ययन में प्रो.ए.एन. उपाध्ये ने यह तो विस्तार से चर्चा की है कि हरिभद्र के इस प्राकृत धूर्ताख्यान का संधितिलक का संस्कृत धूर्ताख्यान और अज्ञातकृत मरुगुर्जर में लिखित धूर्ताख्यान पर पूरा प्रभाव है, मात्र यही नहीं उन्होंने यह भी दिखाया है कि अनेक आचार्यों द्वारा लिखित धर्म परीक्षाएँ भी इसी शैली से प्रभावित हैं। फिर भी वे इसका आद्यस्रोत नहीं खोज पाये। उन्होंने अभिधान राजेन्द्र में उपलब्ध सूचना के आधार पर यह तो सूचित किया है कि इसके कुछ पात्रों के नाम निशीथचूर्णी में हैं, किन्तु उन्हें उस समय अप्रकाशित होने से निशीथचूर्णी उपलब्ध नहीं हो पाई थी, अतः वे इस सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं बता सके। मैने इससे आद्यस्रोत को जानने की दृष्टि से निशीथचूर्णी देखना प्रारम्भ किया और संयोग से निशीथचूर्णी के पृ. 102 ये 105 के बीच मुझे यह पूरा कथानक मिल गया। मात्र यही नहीं निशीथ भाष्य में भी इसका तीन गाथाओं में संक्षिप्त निर्देश है। क्योंकि अभी तक विद्वान हरिभद्र को विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्र और निशीथचूर्णी के कर्ता जिनदास से परवर्ती ही मानते हैं, अतः प्रथम दृष्टि में इस आख्यान का मूल स्रोत निशीथभाष्य और निशीथचूर्णी का माना जा सकता है। यद्यपि भाष्य में मात्र तीन गाथाओं में इस आख्यान का संकेत है, जबकि चूर्णी चार पृष्ठों में इसका विवेचन प्रस्तुत करती है। भाष्य इसका आदि स्रोत नहीं माना जा सकता, क्योंकि भाष्य तो इस आख्यान का मात्र संदर्भ देता है, यथा -

सस-एलासाढ-मूलदेव-खंडा य जुण्णउज्जाणे ।

सामत्थणे को भत्तं, अक्खातं जो ण सद्दहति ।।

चोरभया गावीओ, पोट्टलए बंधिरुण आणेमि ।

तिलअइरुढकुहाडे, वणगय मलणा य तेल्लोदा ।।

वणगयपाटण कुंडिय, छम्मास हत्थिलगणं पुच्छे ।

रायरयग मो वादे, जहिं पेच्छइ ते इमे वत्था ।।

भाष्य की उपर्युक्त गाथाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार को संपूर्ण कथानक, जो कि चूर्णी और हरिभद्र के धूर्ताख्यान में हैं, पूरी तरह ज्ञात है; वह मृषावाद के उदाहरण के रूप में इसे प्रस्तुत करता है। यह स्पष्ट है कि सन्दर्भ देने वाला ग्रन्थ किसी उस आख्यान का आद्यस्रो नहीं हो सकता है। भाष्यों में जिस प्रकार आगमिक आख्यान या अन्य आख्यान संदर्भ रूप में आये हैं उसी प्रकार यह आख्यान भी आया है, अतः यह निश्चित है कि यह आख्यान भाष्य से पूर्ववर्ती है। चूर्णी तो स्वयं भाष्य पर टीका है और उसमें उन्हीं भाष्य गाथाओं की व्याख्या के रूप में आख्यान आया है, अतः यह भी निश्चित है कि चूर्णी भी इस आख्यान का मूलस्रोत नहीं है। पुनः चूर्णी के इस आख्यान के अन्त में स्पष्ट लिख है - सेंस धुतावखाण-गाणुसारेण (पृ.105)। अतः निशीथभाष्य और चूर्णी इस आख्यान के आदि स्रोत नहीं माने जा सकते हैं किन्तु हमें निशीथभाष्य और निशीथचूर्णी से पूर्व रचित किसी ऐसे ग्रन्थ की कोई जानकारी नहीं है, जिसमें यह आख्यान आया हो।

जब तक अन्य किसी आदि स्रोत के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है, तब तक क्यों नहीं हरिभद्र के धूर्ताख्यान को लेखक की स्वकल्पनाप्रसूत मौलिक रचना माना जाये। किन्तु ऐसा मानने पर भाष्यकार और चूर्णीकार दोनों से ही हरिभद्र हो पूर्ववर्ती मौनना होगा और इस सम्बन्ध में विद्वानों की जो अभी तक अवधारणा बनी हुई है वह खण्डित हो जायेगी। यद्यपि उपलब्ध सभी पट्टावलियों, उनके ग्रन्थ लघुक्षेत्रसमासवृत्ति में हरिभद्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण सम्वत् 1055 विक्रम सम्वत् 585 और ईस्वी सन् 527 में माना जाता है तथा पट्टावलियों में उन्हें विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता जिनभद्र एवं जिनदास का पूर्ववर्ती भी माना गया है। हरिभद्र की स्वर्गवास तिथि के सन्दर्भ में शोध सहायक डा. शिवप्रसाद ने मेरे द्वारा संकेतित इसी तथ्य के आधार पर पुनर्विचार किया है। अब हमारे सामने दो ही विकल्प हैं या तो पट्टावलियों के अनुसार हरिभद्र को जिनभद्र और जिनदास के पूर्व मानकर उनकी कृतियों पर विशेष रूप से जिनदास महत्तर पर हरिभद्र का प्रभाव सिद्ध करें या फिर धूर्ताख्यान के मूल स्रोत को अन्य किसी पूर्ववर्ती रचना या लोक परम्परा में खोजें। यह तो स्पष्ट है कि धूर्ताख्यान चाहे वह निशीथचूर्णी का हो या हरिभद्र का स्पष्ट ही पौराणिक युग के पूर्व की रचना नहीं है क्योंकि वे दोनों ही सामान्यतया श्रुति, पुराण, भारत, रामायण का उल्लेख करते हैं। हरिभद्र ने तो एक स्थान पर विष्णु पर पुराण (भारत के) अरण्य पर्व और अर्थशास्त्र का भी उल्लेख किया है, अतः निश्चित ही यह आख्यान इनकी रचना के बाद ही रचा गया होगा। उपलब्ध आगमों में अनुयोगद्वार भारत और रामायण का उल्लेख करता है। अनुयोगद्वार की विषयवस्तु से ऐसा लगता है कि अपने अन्तिम रूप में वह लगभग 5वीं शती की रचना है।

धूर्ताख्यान में 'भारत' नाम आता है महाभारत नहीं। अतः इतना निश्चित है कि कथानक के आद्यस्रोत की पूर्व सीमा ईसा की 4 थी या 5वीं शती से आगे नहीं जा सकती है। पुनः निशीथभाष्य और निशीथचूर्णी में उल्लेख होने से धूर्ताख्यान के आद्यस्रोत की अपर या अन्तिम सीमा इनके पश्चात् नहीं हो सकती है। इन ग्रन्थों का रचनाकाल ईसा की सातवीं शती का उत्तरार्ध हो सकता है। अतः धूर्ताख्यान का आद्यस्रोत ईसा की 5वीं से 7वीं शती के बीच का है। यदि हरिभद्र ही इसके मौलिक रूप में लेखक हैं तो फिर उनका समय विक्रम संवत् 585 मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।



जैन दार्शनिकों का अन्य दर्शनों को त्रिविध अवदान

जैन दार्शनिकों ने अन्य भारतीय दर्शनों को जो अवदान दिया है वह त्रिविध है। वह त्रिविध इस दृष्टि से है कि प्रथमतः उन्होंने अन्य दर्शनों की एकान्तवादी धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं की निष्पक्ष समीक्षा की और उनके एकान्तवादिता के दोषों को स्पष्ट किया। इस क्षेत्र में जैन दार्शनिक आलोचक न होकर समालोचक या समीक्षक ही रहे। दूसरे, उन्होंने परस्पर विरोधी दार्शनिक मतवादों के मध्य अपनी अनेकान्तवादी दृष्टि से समन्वय किया। तीसरे, उन्होंने निष्पक्ष होकर दर्शन संग्राहक ग्रन्थों की रचना की है।

अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण

प्रथमतया उन्होंने अन्य भारतीय दर्शनों में जो एकान्तवादिता का दोष आ गया था, उसके निराकरण का प्रयत्न किया। जैन दार्शनिकों ने अन्य दर्शनों की जिन मान्यताओं की समीक्षा की थी, वह भी उनकी एकान्तवादिता की समीक्षा थी, न कि सिद्धान्त का समग्रतया निराकरण। उदाहरणार्थ जैनों ने बौद्धों के जिस क्षणिकवाद की समीक्षा की थी, वह उनके एकांत परिवर्तनशीलता के सिद्धान्त की थी, जैनदर्शन ने वस्तु या सत्ता के स्वरूप में उत्पाद और व्यय को स्वीकार करके वस्तु की परिवर्तनशीलता तो स्वयं ही स्वीकार की थी। इसी प्रकार जब वे सांख्य के कूटस्थनित्य आत्मवाद या वेदान्त के सत् की अपरिवर्तनशीलता के सिद्धान्त की समीक्षा करते हैं, तो उनका आशय सत्ता की ध्रौव्यता का पूर्ण निराकरण नहीं है, वे स्वयं भी उत्पाद-व्यय के साथ सत्ता की ध्रौव्यता को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार जैन दार्शनिकों के द्वारा उनकी जो आलोचना प्रतीत होती, वह आलोचना नहीं, मात्र समीक्षा है, यह जान लेना आवश्यक है। उनकी भूमिका एक आलोचक की भूमिका नहीं, एक चिकित्सक की भूमिका है। जैसे एक चिकित्सक रोगी की बीमारी का निराकरण करता है, न कि उसके अस्तित्व को नकारता है, वह तो उसे स्वस्थ बनाना चाहता है। उसी प्रकार जैन दार्शनिक अन्य दर्शनों के एकान्तवादिता के दोष का निराकरण चाहते हैं, न कि उन सिद्धान्तों का समग्रतया खण्डन करते हैं। अतः उनकी अन्य दर्शनों की समीक्षा को इसी रूप में देखा जाना चाहिये। ऐतिहासिक

दृष्टि से अन्य दार्शनिक मान्ताओं की समीक्षा जैनदर्शन में आगमयुग से प्रारम्भ होकर सत्रहवीं शती के उपाध्याय यशोविजयजी के ग्रन्थों तक निरन्तर रूप से चलती रही, फिर भी जैन दार्शनिक अन्य दर्शनों के प्रति अपनी समालोचना में भी आक्रामक नहीं हुए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमें मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वादशार नयचक्र (4थी-5वीं शती) में मिलता है, जिसमें उन्होंने अन्य दर्शनों की विधि-विधि, विधि-निषेध आदि रूपों में समीक्षा की, किन्तु वे किसी दर्शन या दार्शनिक विशेषता का नाम लिए बिना, मात्र सिद्धान्त की समीक्षा करते हैं। उन्होंने प्रतिपक्षी या समन्वयक जैन दर्शन का भी नाम लिए बिना मात्र उनकी समीक्षा की है।

जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं के विचारकों के दर्शनों एवं धर्मोपदेशों के प्रस्तुतीकरण का प्रथम प्रयास हमें ऋषिभाषित (इसिभासियाई लगभग ई. पू. 3 शती) में परिलक्षित होता है। इस ग्रंथ में अन्य धार्मिक और दार्शनिक परम्पराओं के प्रवर्तकों- यथा नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि कहकर सम्बोधित किया गया है और उनके विचारों को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही वैचारिक उदारता एवं अन्य परम्पराओं के प्रति समादर भाव का यह अति प्राचीन काल का अन्यतम उदाहरण है। अन्य परम्पराओं के प्रति ऐसा समादरभाव वैदिक और बौद्ध परम्परा के प्राचीन साहित्य में हमें कम ही उपलब्ध होता है। स्वयं जैन परम्परा में भी यह उदार दृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी। परिणाम स्वरूप यह महान् ग्रंथ जो कभी अंग सहित्य का एक भाग था, वहाँ से अलग कर परिपार्श्व में डाल दिया गया। यद्यपि सूत्रकृतांग, भगवती आदि आगम ग्रंथों में तत्कालीन अन्य परम्पराओं के विवरण उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनमें अन्य दर्शनों और परम्पराओं के प्रति वह उदारता और शालीनता परिलक्षित नहीं होती, जो ऋषिभाषित में थी। सूत्रकृतांग अन्य दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का विवरण तो देता है, किन्तु उन्हें मिथ्या, अनार्य या असंगत कहकर उनकी आलोचना भी करता है। भगवती में विशेष रूप से मंखलि गोशालक के प्रसंग में तो जैन परम्परा सामान्य शिष्टता का भी उल्लंघन कर देती है। ऋषिभाषित में जिस मंखलि-गोशालक को अर्हत् ऋषि के रूप में संबोधित किया गया था, भगवती में उस अशोभनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है, यहाँ यह चर्चा मैं केवल इसलिए कर रहा हूँ कि हम परवर्ती जैन दार्शनिक हरिभद्र, यशोविजयजी आदि की उदारदृष्टि का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें और यह जान सकें कि न केवल जैन परम्परा में अपितु समग्र भारतीय दर्शन में उनका अवदान कितना महान है। अन्य दर्शनों की एकान्तवादिता की समीक्षा की दिशा में किये गये प्रयत्नों में सर्वप्रथम नाम सिद्धसेन

दिवाकर का आता है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'सन्मतितर्क' में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि किस दर्शन का कौन सा सिद्धान्त किस नय अर्थात् दृष्टिकोण के आधार पर सत्य है। उन्होंने जैन दर्शन के नयवाद की अपेक्षा से अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों की सापेक्षिक सत्यता का दर्शन कराया। उनकी इस दृष्टि का कुछ प्रभाव समन्तभद्र की 'आप्त-मीमांसा' पर भी देखा जाता है। उन्होंने यह बताया कि वेदान्त (औपनिषदिक वेदान्त) संग्रहनय से, बौद्ध दर्शन का क्षणिकता का सिद्धान्त ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से तथा न्याय-वैशेषिक दर्शनों के सिद्धान्त व्यवहार नय की अपेक्षा से सत्य प्रतीत होते हैं। यही दृष्टि आगे चलकर समत्वयोगी आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों में भी विकसित हुई। जैन दार्शनिकों में सर्व प्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बत्तीस द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं, उनमें नवीं में वेदवाद, दसवीं में योग-विद्या, बारहवीं में न्यायदर्शन, तेरहवीं में सांख्यदर्शन, चौदहवीं में वैशेषिकदर्शन, पंद्रहवीं में बौद्धदर्शन और सोलहवीं में नियतिवाद की चर्चा है, किन्तु सिद्धसेन ने यह विवरण समीक्षात्मक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है। वे अनेक प्रसंगों में इन अवधारणों के प्रति चुटीले व्यंग्य भी करते हैं। वस्तुतः दार्शनिकों में अन्य दर्शनों के जानने और उनका विवरण प्रस्तुत करने की जो प्रवृत्तियाँ विकसित हुई थी, उसका मूल आधार विरोधी मतों का निराकरण करना ही था। सिद्धसेन भी इसके अपवाद नहीं हैं। साथ ही, पं. सुखलालजी संघवी ने यह भी कहा है कि सिद्धसेन की कृतियों में अन्य दर्शनों का जो विवरण उपलब्ध है, वह भी पाठ-भ्रष्टता और व्याख्या के अभाव के कारण अधिक प्रामाणिक नहीं है। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हरिभद्र के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं वैचारिक उदारता का परिचय दिया है, फिर भी ये सभी विचारक इतना तो मानते ही हैं कि अन्य दर्शन एकान्तिक दृष्टि का आश्रय लेने के कारण मिथ्या-दर्शन हैं और जबकि जैन दर्शन अनेकान्त दृष्टि अपनाने के कारण सम्यग्दर्शन है। वस्तुतः वैचारिक समन्वयशीलता और धार्मिक उदारता की जिस ऊँचाई का स्पर्श हरिभद्र ने अपनी कृतियों में किया है, वैसा उनके पूर्ववर्ती जैन एवं जेनेतर दार्शनिकों में हमें परिलक्षित नहीं होता है। यद्यपि हरिभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिकों में हेमचन्द्र, यशोविजय, आनन्दघन आदि अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रति समभाव और उदारता का परिचय देते हैं, किन्तु उनकी यह उदारता उन पर हरिभद्र के प्रभाव को ही सूचित करती है। उदाहरण के रूप में हेमचन्द्र अपने वीतराग महादेव-स्रोत (44) में निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं -

भव बीजाङ्कुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

यह श्लोक हरिभद्र के लोकतत्त्वनिर्णय में भी कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है, यथा -

यस्य अनिखिलाश्च दोषा न संति, सर्वे गुणश्च विद्यन्ते ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

वस्तुतः 2500 वर्ष के सुदीर्घ जैन इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसे हरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके। हरिभद्र के पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों ने जैनदर्शन की अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है, फिर भी उनकी सृजनधार्मिकता उस स्तर की नहीं है जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जायें, किन्तु ऐसे कितने हैं जिन्होंने समन्वयात्मक और उदार दृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी कृतियों का प्रणयन किया हो।

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया जाता है, एक तो उन परम्पराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से। आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थों में भी आलोचना करनी होती है, तो वह अन्य परम्पराओं के प्रस्तुतीकरण में न्याय भी नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी भी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न ही नहीं किया है। यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है, अपने ग्रन्थ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अन्धविश्वासों का सचोट खण्डन भी करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों को भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करते हैं और न उसके सम्बन्ध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं। हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय में कपिल को महामुनि और भगवान् बुद्ध को महाचिकित्सक कहा है। हरिभद्र के अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय में इस दृष्टिकोण का एक निर्मल विकास परिलक्षित होता है। अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय के प्रारम्भ में ही ग्रन्थ रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं -

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः ।

जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिः सुखावहः ।

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रन्थ में वे कपिल को दिव्य-पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं—(कपिलो दिव्यो हि स महामुनिः, शास्त्रवार्तासमुच्चय 237) इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत् महामुनि, सुवैद्य आदि विशेषणों से अभिहित करते हैं (यतो बुद्धो महामुनिः सुवैद्यवत् वही 465, 466)। यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं - न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वही दूसरी ओर हरिभद्र जैसे जैन दार्शनिक अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। शास्त्रवार्तासमुच्चय में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणों की स्पष्ट समालोचना है, किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इसी प्रकार हरिभद्र ने अन्य परम्पराओं की समालोचना में भी जिस शिष्टता और आदर-भाव का परिचय दिया वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परम्परा में उपलब्ध नहीं होता है।

यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र ने अन्ययोगव्यवच्छेदिका (प्रचलित नाम स्याद्वाद-मंजरी) में अन्य-दर्शनों की व्यंगात्मक शैली में समालोचना की, किन्तु कहीं भी अन्य दर्शनों के प्रति अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है।

सम्यक् समालोचना की यह परम्परा आगम युग से प्रारम्भ होकर क्रमशः सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा, मल्लवादी क्षमाश्रमण का द्वादशारण्यचक्र, जिनभद्रगणी की विशेषणवती, विशेषावश्यकभाष्य, हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका आदि ग्रन्थों में, पुनः पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि, अकलंक के राजवार्तिक, अष्टशती, न्याय-विनिश्चय आदि, विद्यानन्दी के श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि, प्रभावचन्द्र के प्रमेयकमल मार्तण्ड, रत्नप्रभ की रत्नाकर अवतारिका, हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका आदि में मिलती है, फिर भी यह धारा आलोचक न होकर समालोचक और समीक्षक ही रही। यद्यपि हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि परवर्ती मध्ययुग में वाद-विवाद में जो आक्रामक वृत्ति विकसित हुई थी, जैन दार्शनिक भी उससे पूर्णतया अछूते नहीं रहे।

फिर भी इतना अवश्य मान लेना होगा कि जैन दार्शनिकों की भूमिका आक्रामक आलोचक की न होकर समालोचक या समीक्षक की ही रही है, क्योंकि उनके दर्शन की धूरी रूप अनेकांतवाद की यह मांग थी।

अनेकांत दृष्टि से विभिन्न दर्शनों के मध्य समन्वय के सूत्रों की खोज

जैन दार्शनिकों का दूसरा महत्वपूर्ण अवदान उनकी अनेकांत आधारित समन्वयात्मक दृष्टि है। जहाँ एक ओर जैन दार्शनिकों ने अन्य दर्शनों के एकान्तवादिता के दोष का निराकरण करना चाहा, वहीं दूसरी ओर भारतीय दर्शनों के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय करना चाहा और अन्य दर्शनों में निहित सापेक्षिक सत्यता को देखकर उसे स्वीकार करने का प्रयत्न भी किया और इस प्रकार विविध दर्शनों में समन्वय के सूत्र भी प्रस्तुत किये हैं। हरिभद्र ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सारतत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया है, वह भी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है। यद्यपि हरिभद्र चार्वाक दर्शन की समीक्षा करते हुए उसके भूतस्वभाववाद का खण्डन करते हैं और उसके स्थान पर कर्मवाद की स्थापना करते हैं, किन्तु सिद्धान्त में कर्म के जो दो रूप द्रव्यकर्म और भावकर्म माने गये हैं उसमें एक ओर भावकर्म के स्थान को स्वीकार नहीं करने के कारण जहाँ वे चार्वाक-दर्शन की समीक्षा करते हैं वहीं दूसरी ओर वे द्रव्यकर्म की अवधारणा को स्वीकार करते हुए चार्वाक के भूतस्वभाववाद की सार्थकता को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि भौतिक तत्त्वों का प्रभाव भी चैतन्य पर पड़ता है। पं. सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि हरिभद्र ने दोनों पक्षों अर्थात् बौद्ध एवं मीमांसकों के अनुसार कर्मवाद के प्रसंग-में-चित्तवासना की प्रमुखता को तथा चार्वाकों के अनुसार भौतिक तत्त्व की प्रमुखता को एक-एक पक्ष के रूप में परस्पर पूरक एवं सत्य मानकर कहा कि जैन कर्मवाद में चार्वाक और मीमांसक तथा बौद्धों के मन्तव्यों का सुमेल हुआ है।

इसी प्रकार शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्र यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वरवाद एवं जगतकर्तृत्ववाद की अवधारणाओं की समीक्षा करते हैं, किन्तु जहाँ चार्वाकों, बौद्धों और अन्य जैन आचार्यों ने इन अवधारणाओं का खण्डन ही किया है, वहाँ हरिभद्र इनकी भी सार्थकता को स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने ईश्वरवाद की अवधारणा में भी कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को देखने का प्रयास किया है। प्रथम तो यह कि मनुष्य में कष्ट के समय स्वाभाविक रूप से किसी ऐसी शक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रपत्ति की भावना होती है, जिसके द्वारा वह अपने में आत्मविश्वास जागृत कर सके। पं. सुखलालजी संघवी लिखते हैं मानव मन की प्रवृत्ति या शरणागति की यह भावना मूल में असत्य तो नहीं कही जा सकती। उनकी इस अपेक्षा को ठेस न पहुँचे तथा तर्क व बुद्धिवाद के साथ ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वय भी हो, इसलिए उन्होंने (हरिभद्र ने) ईश्वर-कर्तृत्ववाद की अवधारणा को

अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। हरिभद्र कहते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक निर्मलता के फलस्वरूप अपने विकास की उच्चतम भूमिका को प्राप्त हुआ, वह आत्मा है और वही ईश्वर या सिद्ध पुरुष है।

उस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के कारण कर्ता तथा भक्ति का विषय होने के कारण उपास्य है। इसके साथ ही हरिभद्र यह भी मानते हैं कि प्रत्येक जीव तत्त्वतः अपने शुद्ध रूप में परमात्मा और अपने भविष्य का निर्माता है और इस दृष्टि से यदि विचार करें तो वह ईश्वर भी है और कर्ता भी है। इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद भी समीचीन ही सिद्ध होता है। हरिभद्र सांख्यों के प्रकृतिवाद की भी समीक्षा करते हैं, किन्तु वे प्रकृति को जैन परम्परा में स्वीकृत कर्म प्रकृति के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं कि सत्य-न्याय की दृष्टि से प्रकृति कर्म-प्रकृति ही है और इस रूप में प्रकृतिवाद भी उचित है क्योंकि उसके चक्ता कपिल दिव्य-पुरुष और महामुनि हैं।

शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्र ने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है, किन्तु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धान्त का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिए ही दिया है क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है उसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं है तो उनके प्रति संसार की निस्सारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है। इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद-इन तीनों सिद्धान्तों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का प्रहाण हो।

अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए हरिभद्र स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि सामान्य दृष्टि से तो अद्वैत की अवधारणा भी सत्य है। इसके साथ ही साथ वे यह भी बताते हैं कि विषमता के निवारण के लिए और समभाव की स्थापना के लिए अद्वैत की भूमिका भी आवश्यक है। अद्वैत परायेपन की भावना का निषेध करता है, इस प्रकार द्वेष का उपशमन करता है, अतः वह भी असत्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के ज्ञान मार्ग को भी वे समीचीन ही स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा का उनका प्रयत्न समीक्षा के लिए न होकर उन दार्शनिक

परम्पराओं की सत्यता के मूल्यांकन के लिए ही है। स्वयं उन्होंने शास्त्रवार्तासमुच्चय के प्राक्कथन में स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य अन्य परम्पराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना और सत्य का बोध कराना है।

दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों की निष्पक्ष दृष्टि से रचना

यदि हम भारतीय दर्शन के इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धान्तों को एक ही ग्रन्थ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की कोटी का और उससे प्राचीन दर्शनसंग्राहक कोई अन्य ग्रन्थ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रन्थों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भी खण्डनपरक ही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का नयचक्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के शब्दों में नय चक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उत्थापन भी विरोधी मतों की दलीलों से हो सकता है। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें, तभी उचित है अन्यथा नहीं। नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और परपक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शन-संग्राहक ग्रंथ नहीं लिखा गया।

जैनेतर परम्पराओं के दर्शन-संग्राहक ग्रंथ में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले सर्वसिद्धान्तसंग्रह का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में संदेह है। इस ग्रन्थ में पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त की स्थापना की गयी है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली को भी नयचक्र की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है, किन्तु

नयचक्र, अन्तिम मत का भी प्रथम मत से खण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन को अन्तिम सत्य नहीं मानता है, वहाँ 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' वेदान्त को एकमात्र और अन्तिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शन संग्राहक ग्रन्थ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की जो विशेषता है, वह इसमें नहीं है।

जैनेतर परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई.सन् 1350) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है। किन्तु 'सर्वदर्शनसंग्रह' की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदान्त ही एकमात्र सम्यग्दर्शन है। सर्वसिद्धान्तसंग्रह और सर्वदर्शनसंग्रह दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के निरपेक्ष भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ वैदिक परम्परा के इन दोनों ग्रन्थों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अतः इन दोनों ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती है, जो हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में है।

वैदिक परम्परा में दर्शन संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा स्थान माधवसरस्वती कृत 'सर्वदर्शनक्रौमुदी' का आता है। इस ग्रन्थ में दर्शनों को वैदिक और अवैदिक-ऐसे दो भागों में बांटा गया है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध, और जैन ऐसे भेद तथा वैदिक दर्शन में तर्क, तन्त्र और सांख्य ऐसे तीन भाग किये गये हैं। इस ग्रन्थ की शैली भी मुख्य रूप से खण्डनात्मक ही है। अतः हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय जैसी उदारता और निष्पक्षता इसमें भी परिलक्षित नहीं होती है।

वैदिक परम्परा के दर्शन संग्राहक ग्रन्थों में चौथा स्थान मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद' का आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक अवैदिक दर्शनों में वे छह प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। आस्तिक-वैदिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांस और उत्तर मीमांस का समावेश हुआ है। इन्होंने पाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थानभेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है जो उसे पूर्व उल्लिखित वैदिक परम्परा के अन्य दर्शन संग्राहक ग्रन्थों से अलग करती है। यह वह कि इस में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कह कर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रान्त तो नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूँकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव

नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किये। इस प्रकार प्रस्थान भेद में यत्किंचित् उदारता का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु यह उदारता केवल वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शनों के सन्दर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो सर्वदर्शन कौमुदीकार को भी इष्ट ही है इस प्रकार दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में हरिभद्र की जो निष्पक्ष और उदार दृष्टि है वह हमें अन्य परम्पराओं में रचित दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, किन्तु उनमें भी लेखक कहीं न कहीं अपने इष्ट दर्शन और विशेष रूप से वेदान्त को ही अन्तिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रतीत होते हैं।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परम्परा में लिखे गये दर्शन संग्राहक ग्रन्थों में अज्ञातकृत 'सर्वसिद्धान्तप्रवेशक' का स्थान आता है। किन्तु इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है क्योंकि इसके मंगलाचरण में - "सर्वभाव प्रणेतांरं प्रणिपत्य जिनेश्वरं" ऐसा उल्लेख है। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिपादन की शैली हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का ही अनुसरण करती है। अन्तर मात्र यह है कि यह हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है। जैन परम्परा के दर्शन संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (विक्रम संवत् 1265) के 'विवेकविलास' का आता है। इस ग्रन्थ के अष्टम उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है। जिसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक इन छह दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पं. दलसुखाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रन्थ की एक विशेषता तो यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिकों का समावेश शैवदर्शन में किया गया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण लेखक के द्वारा हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का अनुसरण करना ही है, क्योंकि उसमें भी न्यायदर्शन के देवता के रूप में शिव का ही उल्लेख किया गया है- 'अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिव'-13

यह ग्रन्थ भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र 66 श्लोक प्रमाण है।

जैन परम्परा में दर्शन संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा क्रम राजशेखर (विक्रम 1405) के षड्दर्शनसमुच्चय का आता है। इस ग्रन्थ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) इन छः दर्शनों का भी उल्लेख किया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रन्थ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है और अन्त में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और राजशेखर के षड्दर्शनसमुच्चय में एक मुख्य अन्तर इस बात को लेकर है कि

दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहाँ हरिभद्र जैनदर्शन को चौथा स्थान देते हैं, वहाँ राजशेखर जैनदर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पं. सुखलालजी संघवी के अनुसार सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दर्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके।

पं. दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शनसंग्राहक ग्रन्थ आचार्य मेरुतुंगकृत षड्दर्शननिर्णय है। इस ग्रन्थ में मेरुतुंग ने बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक एवं जैन इन छः दर्शनों की मीमांसा की है, किन्तु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिए लिखा गया है। एक मात्र इसकी विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पं. दलसुखभाई मालवणिया ने षड्दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की वृत्ति के अन्त में अज्ञातकर्तृक एक कृति मुद्रित है। इसमें भी जैन, नैयायिक, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है, किन्तु अन्त में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटी में रखकर जैनदर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रन्थ में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण अवदान प्रस्तुत किया है।



सामाजिक समस्याओं के समाधान में जैनधर्म का योगदान

यह सत्य है कि जैन-धर्म मुख्यतया निवृत्ति प्रधान धर्म है, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि उसमें सामाजिक समस्याओं के समाधान परिलक्षित नहीं होते हैं, एक भ्रान्त धारणा ही होगी। यद्यपि न केवल पाश्चात्य अपितु अनेक भारतीय विचारक भी इस बात का समर्थन करते हैं कि निवर्तक धर्म मूलतः व्यक्ति परक ही है, समाज परक नहीं। जैन-विद्या के मर्मज्ञ विद्वान स्व. पं. सुखलालजी का कथन है- 'प्रवर्तक धर्म समाजगामी और निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है। निवर्तक-धर्म समस्त समाज के कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है, और वह है - जिस तरह भी हो आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न करे और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा का नाश करे।' किन्तु मेरी अपनी दृष्टि से व्यक्तिकता और सामाजिकता दोनों ही मानवीय 'स्व' के अनिवार्य अंग हैं। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले का कथन है कि 'मनुष्य नहीं है, यदि वह सामाजिक नहीं, किन्तु यदि वह मात्र सामाजिक ही है, तो वह पशु से अधिक नहीं है।' मनुष्य की मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों का अतिक्रमण करने में है। वस्तुतः मनुष्य एक ही साथ सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही है क्योंकि मानव व्यक्तित्व में राग-द्वेष के तत्त्व अनिवार्य रूप से उपस्थित हैं। राग का तत्त्व उसमें सामाजिकता का विकास करता है, तो द्वेष का तत्त्व उसमें वैयक्तिकता या स्व-हितवादी दृष्टि का विकास करता है। जब राग का सीमा क्षेत्र संकुचित होता है और द्वेष का अधिक विकास करता है। जब राग का सीमा क्षेत्र संकुचित होता है और द्वेष का अधिक विस्तारित होता है, तो व्यक्ति को स्वार्थी कहा जाता है, उसमें वैयक्तिकता प्रमुख होती है। किन्तु जब राग का सीमा क्षेत्र विस्तारित होता है और द्वेष का क्षेत्र कम होता है, तब व्यक्ति परोपकारी या सामाजिक कहा जाता है। किन्तु जब वह वीतराग और बीतद्वेष होता है, तब वह अतिसामाजिक होता है। किन्तु अपने और पराये भाव का यह अतिक्रमण असामाजिक नहीं है। वीतरागता की साधना में अनिवार्य रूप से 'स्व' की संकुचित सीमा को तोड़ना होता

है। अतः ऐसी साधना अनिवार्य रूप से असामाजिक तो नहीं हो सकती है। मनुष्य जब तक मनुष्य है, वह वीतराग नहीं हुआ है, तो स्वभावतः ही एक सामाजिक प्राणी है। पुनः कोई भी धर्म सामाजिक चेतना से विमुख होकर जीवित नहीं रह सकता। यह सत्य है कि निर्वर्तक धर्म वैयक्तिक साधना पर बल देता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें सामाजिक-चेतना का अभाव है और सामाजिक-जीवन की समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में उसमें कोई दिशा-निर्देशक सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होते। यद्यपि यह माना जा सकता है कि निर्वर्तक धर्मों में सामाजिक समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में जो दृष्टिकोण उपलब्ध होता है, वह विधायक न होकर, निषेधात्मक है। किन्तु इससे उसकी मूल्यवता में कोई अन्तर नहीं आता है। वस्तुतः मुख्यतः जैन-धर्म और सामान्यतया सभी निर्वर्तक धर्मों की सामाजिक उपयोगिता (Social utility) का सम्यक्-मूल्यांकन करने के लिए हमें उस समग्र इतिहास को देखना होगा, जिसमें भारतीय-चिन्तन में सामाजिक-चेतना का विकास हुआ है।

साथ ही, हमें भारतीय-चिन्तन में सामाजिक-चेतना के विकास की क्रमिक प्रक्रिया को भी समझना होगा तभी हम जैन और बौद्ध जैसे निर्वर्तक धर्मों का सामाजिक समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में क्या योगदान रहा, इसका सम्यक्-मूल्यांकन कर सकेंगे। प्राचीन भारतीय-चिन्तन में सामाजिक-चेतना के विकास के तीन स्तर मिलते हैं- वैदिक-युग, उपनिषद-युग और श्रमण-युग।

सर्वप्रथम वैदिक युग में जन-मानस में सामाजिक चेतना को जागृत करने का प्रयत्न किया गया। वैदिक ऋषि सफल एवं सहयोगपूर्ण सामाजिक-जीवन के लिए अभ्यर्थना करते हुए कहता है- 'सं गच्छध्वं सं वो मनांसि जानताम्।' ऋग्वेद 10, 191, 2। तुम मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें अर्थात् तुम्हारे जीवन व्यवहार में सहयोग, तुम्हारी वाणी में समस्वरता और तुम्हारे विचारों में समानता हो। आगे पुनः वह कहता है -

समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा व। सुसहासति।। वही 10, 191, 3-4.

आप सबके निर्णय समान हों, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हो, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करें। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्त-वृत्ति भी समान हो, आपके संकल्प एक हों, आपके हृदय एक हों, आपका मन भी एक-रूप हो ताकि आप मिल-जुल कर अच्छी तरह से कार्य कर सकें। सम्भवतः सामाजिक जीवन एवं समाज-निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक-युग के भारतीय-चिन्तक

के ये महत्त्वपूर्ण उद्गार है। वैदिक-ऋषियों का 'कृष्यन्तो विश्वमार्यम्' के रूप में एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत मानव समाज की रचना का मिशन तभी सफल हो सकता था, जबकि वे जन-जन में समाज-निष्ठा के बीज का वपन करते। सहयोपूर्ण जीवन-शैली उनका मूल मंतव्य था। प्रत्येक अवसर पर शान्ति-पाठ के माध्यम से वे जन-जन में सामाजिक विकास का प्रयास करते थे। वे कहते थे -

**सह नावतु सहनौभुनक्तु सह वीर्यं करवावहे,
तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहे।**

- तैत्तिरीय आरण्यक 8, 2

हम सब साथ-साथ रक्षित हों, साथ-साथ पोषित हों, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम आपस में विद्वेष न करें।

औपनिषदिक ऋषि 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' सर्व खल्विदं ब्रह्मम् तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के रूप में एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिक-चिन्तन में वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेद-निष्ठा का सर्वोत्कृष्ट तात्त्विक आधार प्रस्तुत किया गया। भारतीय-दर्शन में यह अभेद-निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक एवं सामाजिक समता का आधार बनी है। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता है -

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्य वानुपश्यति।

सर्व-भूतेषु चात्मनं, ततो न विजुगुप्सते। 16।

जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को भी सभी प्राणियों में देखता है, वह अपनी इस एकात्मा की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता है। सामाजिक जीवन के विकास का आधार एकात्मता की अनुभूति है और जब एकात्मता की दृष्टि का विकास हो जाता है, तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर औपनिषदिक ऋषियों ने एकात्मता की चेतना को जाग्रत कर सामाजिक जीवन के विनाशक घृणा एवं विद्वेष के तत्त्वों को समाप्त करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर ईश्वरीय सम्पदा अर्थात् सामूहिक सम्पदा का विचार भी प्रस्तुत किया। ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि कहता है -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्। 1।

इस जग में जो कुछ भी है वह सभी ईश्वरीय है, ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्द्ध में वैयक्तिक अधिकार का निरसन करके समष्टि को प्रधानता दी गई है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के

उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुए कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपलब्धियाँ हैं उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों का) का भी भाग है। अतः उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपयोग करो। संग्रह या लालच मत करो क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। सम्भवतः सामाजिकता की चेतना के विकास के लिए इससे अधिक महत्वपूर्ण दूसरा कथन नहीं हो सकता था। गाँधीजी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि 'यदि भारतीय-संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाये, किन्तु यह श्लोक भी बचा रहे, तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है।' 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' में समग्र सामाजिक-चेतना केन्द्रित दिखाई देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ वैदिक-युग में सामाजिक-चेतना के विकास के लिए सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित किया गया, वहाँ औपनिषदिक-युग में सामाजिक-चेतना को सुदृढ़ बनाने हेतु दार्शनिक आधार प्रस्तुत किये गये।

उसे बौद्धिक आधार प्रदान किया गया और एकत्व की अनुभूति को अधिक व्यापक बनाया गया। किन्तु सामाजिक-चेतना ऐसा जीवन है, जो यथार्थ की भूमि-पर-खड़ा होता है जब तक सामाजिक-चेतना पुष्ट करने हेतु समान अनुभूति में बाधक बनने वाले तत्त्वों को तथा सामाजिक संरचना को विखण्डित करने वाले तत्त्वों को दूर नहीं किया जाता, तब तक एक सफल सामाजिक जीवन की कल्पना यथार्थ की धरती पर नहीं उतर सकती। अतः जैन एवं बौद्ध-परम्पराओं में सामाजिक शुद्धि का प्रयत्न किया तथा उन बातों से जिनसे सामाजिक-जीवन में कटुता और टकराहट उत्पन्न होती थी, उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। चाहे उनके द्वारा प्रस्तुत आदेशों और उपदेशों की भाषा निषेधात्मक हो, किन्तु उन्होंने उन मूलभूत दोषों के परिमार्जन का प्रयत्न किया है, जो सामाजिक जीवन को विषाक्त और कटुतापूर्ण बनाते थे। वस्तुतः उनका योगदान उस चिकित्सक के समान है, जो बीमारी के मूलभूत कारणों का विश्लेषण कर उनके निराकरण के उपाय बताता है और इस प्रकार वे सामाजिक जीवन की बुराइयों का निराकरण कर एक स्वस्थ सामाजिक जीवन का आधार प्रस्तुत करते हैं।

क्या निवृत्ति सामाजिक विमुखता की सूचक है?

वस्तुतः जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म को निवर्तक-परम्परा का पोषक मानकर इस आधार पर यह मान लेना कि उनमें सामाजिक जीवन की समस्याओं के समाधान की उपेक्षा की गई है, सबसे बड़ी भ्रांति होगी। चाहे वे इतना अवश्य मानते हों कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन लाभप्रद हो सकता है, किन्तु

उनकी स्पष्ट धारणा है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में ही किया जाना चाहिए। बुद्ध और महावीर का जीवन स्वयं इस बात का प्रमाण है कि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने संघ की स्थापना की और जीवन-पर्यन्त लोक-मंगल के लिए कार्य करते रहे। वस्तुतः महावीर की निवृत्ति, उनके द्वारा किये जानेवाले सामाजिक कल्याण में साधक ही बनी है, बाधक नहीं। वैयक्तिक जीवन में नैतिक-स्तर का विकास लोक-जीवन या सामुदायिक जीवन की प्राथमिकता है। महावीर सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा की आवश्यकता तो मानते थे, किन्तु वे व्यक्ति-सुधार से समाज-सुधार की दिशा में आगे बढ़ना चाहते थे। व्यक्ति समाज की प्रथम ईकाई है, वह सुधरेगा तब ही समाज सुधरेगा। व्यक्ति के नैतिक विकास के परिणाम स्वरूप जो सामाजिक जीवन फलित होगा, वह सुव्यवस्था और शान्ति से युक्त होगा। जब तक व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति नहीं आती, तब तक सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती। अपने व्यक्तिगत जीवन का शोधन करने के लिए राग-द्वेष के विकारों और असत्यकर्मों प्रवृत्ति से निवृत्ति आवश्यक है। जब व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति आयेगी, तो जीवन पवित्र और निर्मल होगा, अंतःकरण विशुद्ध होगा और तब जो भी सामाजिक प्रवृत्ति फलित होगी, वह लोक-हितार्थ और लोकमंगल के लिए होगी। जब तक व्यक्तिगत जीवन में संयम और निवृत्ति के तत्त्व न होंगे, तब तक सच्चा सामाजिक जीवन फलित ही नहीं होगा। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और अपनी वासंनोओं का नियंत्रण नहीं कर सकता, वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता। उपाध्याय अमरमुनिजी के शब्दों में-जैन-दर्शन की निवृत्ति का मर्म यही है कि 'व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति और सामाजिक जीवन में प्रवृत्ति। लोक सेवक या जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से दूर रहे, यह जैन-दर्शन की आचार संहिता का पहला पाठ है। अपने व्यक्तिगत जीवन में मर्यादाहीन भोग और आकांक्षाओं से निवृत्ति लेकर ही समाज कल्याण के लिए प्रवृत्त होना जैन-दर्शन का पहला धर्म है'³ सामाजिक-नैतिकता और व्यक्तिगत-नैतिकता परस्पर विरोधी नहीं है। बिना व्यक्तिगत-नैतिकता को उपलब्ध किये सामाजिक-नैतिकता की दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही होगा। अतः हम कह सकते हैं कि जैन-दर्शन में निवृत्ति का जो स्वर मुखर हुआ है, वह समाजविरोधी नहीं है, वह सच्चे अर्थों में सामाजिक-जीवन का साधक है। चरित्रवान् व्यक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठे हुए व्यक्ति ही किसी आदर्श समाज का निर्माण कर सकते हैं। वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो संगठन या समुदाय बनते हैं, वे सामाजिक-जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। क्या चोर, डाकु और शोषकों का समूह, समाज कहलाने का

अधिकारी है? समाज जीवन की प्राथमिक आवश्यकता हैं व्यक्ति अपने और पराये के भाव से तथा अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठे, चूँकि जैन-दर्शन हमें इन्हीं तत्त्वों की शिक्षा देता है। अतः वह सच्चे अर्थों में सामाजिक है, आसामाजिक नहीं है। जैन-दर्शन निवृत्तिपरक होना सामाजिक विमुखता का सूचक नहीं है। अशुभ से निवृत्ति ही शुभ में प्रवृत्ति का साधन बन सकती है। वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक प्रवृत्ति का आधार है।

तीर्थंकर नमस्कार सूत्र (नमोत्थुण) में तीर्थंकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोक-प्रदीप, अभय के दाता आदि विशेषणों का उपयोग हुआ हैं, वे भी जैन-दृष्टि की लोक-मंगलकारी भावना को स्पष्ट करते हैं। तीर्थंकरों का प्रवचन एवं धर्म-प्रवर्तन प्रणियों के अनुग्रह के लिए होता है न कि पूजा या सत्कार के लिए।¹ तीर्थंकर की मंगलमय वाक्धारा का प्रस्फुटन तो लोक की पीड़ा की अनुभूति में ही रहा हुआ है। 'समच्चि लोए खेयन्ने हि पवेइए'² में यह सुस्पष्ट रूप से कहा गया है कि समस्त लोक की पीड़ा का अनुभव करके ही तीर्थंकर की जन-कल्याणी वाणी प्रस्फुटित होती है। यदि ऐसा माना जाये कि जैन-साधना केवल आत्म-हित, आत्म-कल्याण की बात कहती है, तो फिर तीर्थंकर के द्वारा प्रवर्तन के बाद उन्हें अपने कल्याण के लिए कुछ करना शेष ही-नहीं रहता है। मानना पड़ेगा कि जैन-साधना का आदर्श मात्र आत्म-कल्याण ही नहीं, वरन् लोक-कल्याण भी है।

जैन-दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित की श्रेष्ठता को सदैव ही महत्त्व दिया है। जैन-विचारणा के अनुसार साधना की सर्वोच्च ऊँचाई पर स्थित सभी जीवनमुक्त आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से, यद्यपि समान ही होते हैं, फिर भी जैन-विचारकों ने उनकी आत्म-हितकारिणी और लोक-हितकारिणी दृष्टि के तारतम्य को लक्ष्य में रखकर उनमें उच्चावच्च अवस्था को स्वीकार किया है। एक सामान्य केवली (जीवनमुक्त) और तीर्थंकर में आध्यात्मिक पूर्णताएँ तो समान ही होती हैं, फिर भी तीर्थंकर को लोकहित की दृष्टि के कारण सामान्य केवली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। जीवनमुक्तावस्था को प्राप्त व्यक्तियों के उनकी लोकोपकारिता के आधार पर दो वर्ग होते हैं - तीर्थंकर और सामान्य केवली।

साधारण रूप में क्रमशः विश्व-कल्याण, वर्ग-कल्याण और वैयक्तिक-कल्याण की भावनाओं को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही साधकों की ये विभिन्न कक्षाएँ निर्धारित की गई हैं, जिनमें विश्वकल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है।³ जिस प्रकार बौद्ध-विचारणा में बोधिसत्त्व और अर्हत् के आदर्शों में भिन्नता है, उसी प्रकार जैन-साधना में तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों में तारतम्य है।

इन सबके अतिरिक्त जैन-साधना में संघ (समाज) को सर्वोपरि माना गया है। संघहित समस्त वैयक्तिक साधनाओं के भी ऊपर है। विशेष परिस्थितियों में तो संघ के कल्याणार्थ वैयक्तिक साधना का परित्याग भी आवश्यक माना गया है। जैन-साहित्य में आचार्य भद्रबाहु एवं कालक की कथाएँ इसके उदाहरण हैं।

स्थानांग सूत्र में जिन दस धर्मों का निर्देश दिया गया है, उनमें संघ-धर्म, गण-धर्म, राष्ट्र-धर्म, नगर-धर्म, ग्राम-धर्म और कुल-धर्म की उपस्थिति इस बात का सबल प्रमाण है कि जैन-दृष्टि न केवल आत्म-हित या वैयक्तिक-विकास तक ही सीमित है वरन् उसमें लोक-हित या लोक-कल्याण का अजस्त्र प्रवाह भी प्रवाहित हो रहा है।⁷

यद्यपि जैन-दर्शन लोक-हित, लोक-मंगल की बात कहता है, लेकिन उसकी एक शर्त है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का विसर्जन किया जा सकता है, लेकिन आत्मार्थ का नहीं। उसके अनुसार वैयक्तिक भौतिक उपलब्धियों को लोक-कल्याण के लिए समर्पित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए। क्योंकि वे हमें जगत से ही मिली हैं, ये वस्तुतः संसार की हैं, हमारी नहीं। सांसारिक उपलब्धियाँ संसार के लिए हैं, अतः उनका लोक-हित के लिए विसर्जन किया जाना चाहिए लेकिन उसे यह स्वीकार नहीं है कि आध्यात्मिक-विकास या वैयक्तिक नैतिकता को लोक-हित के नाम पर कुंठित किया जाये। ऐसा लोक-हित जो व्यक्ति के चरित्र के पतन अथवा आध्यात्मिक-कुंठन से फलित होता हो, उसे स्वीकार नहीं है, लोक-हित और आत्म-हित के सन्दर्भ में उसका स्वर्णिम सूत्र है - आत्म-हित करो और यथाशक्य लोक-हित भी करो। लेकिन जहाँ आत्म-हित और लोक-हित में द्वन्द्व हो और आत्म-हित के कुंठन पर ही लोक-हित फलित होता हो, तो वहाँ आत्म-कल्याण ही श्रेष्ठ है।

आत्म-हित स्वार्थ ही नहीं है

यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैन-धर्म का यह आत्म-हित स्वार्थवाद नहीं है। आत्म-काम वस्तुतः निष्काम होता है क्योंकि उसकी कोई कामना नहीं होती है अतः उसका स्वार्थ भी नहीं होता। आत्मार्थी कोई भौतिक उपलब्धि नहीं चाहता। वह तो उसका विसर्जन करता है। स्वार्थी तो वह है, जो यह चाहता है कि सभी लोग उसकी भौतिक उपलब्धियों के लिए कार्य करें। स्वार्थी और आत्मकल्याण में मौलिक अन्तर यह है कि स्वार्थ की साधना में राग और द्वेष की वृत्तियाँ काम करती हैं जबकि आत्म-कल्याण का प्रारम्भ ही राग-द्वेष की वृत्तियों को क्षीण करने से होता है। यथार्थ आत्म-हित में राग-द्वेष का अभाव है। स्वार्थ और परार्थ में संघर्ष

की सम्भावना भी तभी तक है जबकि उनमें राग-द्वेष की वृत्ति निहित है। रागादि भाव या सिर्फ स्व-हित की वृत्ति से किया गया परार्थ भी सच्चा लोकहित नहीं है, वह तो स्वार्थ ही है। जिस प्रकार शासन के द्वारा नियुक्त एवं प्रेरित समाज-कल्याण अधिकारी वस्तुतः लोक-हित का कर्त्ता नहीं है, वह तो वेतन के लिए लोक-हित का कार्य करता है। उसी प्रकार राग से प्रेरित होकर लोक-हित करने वाला भी सच्चे अर्थ में लोक-हित का कर्त्ता नहीं है, उसके लोक-हित के प्रयत्न राग की अभिव्यक्ति, प्रतिष्ठा की रक्षा, यश अर्जन की भावना या भावी लाभ की प्राप्ति के हेतु ही होते हैं। ऐसा नाम से परार्थ वस्तुतः स्वार्थ ही है। सच्चा आत्म-हित और सच्चा लोक-हित, राग-द्वेष से शून्य अनासक्ति की भूमि पर प्रस्फुटित होता है, लेकिन उस अवस्था में न तो कोई अपना रहता है और न पराया। क्योंकि जहाँ राग है, वहीं मेरा है और जहाँ मेरा वहीं पराया भी है। राग की शून्यता होने पर और पराये का विभेद ही समाप्त हो जाता है। ऐसी राग शून्यता की भूमि पर स्थिर होकर किया जाने वाला आत्म-हित भी लोक-हित होता है और लोक-हित आत्म-हित होता है। दोनों में कोई संघर्ष नहीं है, कोई द्वैत नहीं है। उस दशा में तो सर्वत्र आत्म-दृष्टि होती है, जिसमें न कोई अपना है, न कोई पराया है। स्वार्थ-परार्थ जैसी समस्या वहाँ रहती ही नहीं है।

जैन-विचारणा के अनुसार स्वार्थ और परार्थ के मध्य सभी अवस्थाओं में संघर्ष रहे, यह आवश्यक नहीं। व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे स्वार्थ-परार्थ का संघर्ष भी समाप्त होता जाता है। जैन-विचारकों ने परार्थ या लोक-हित के तीन स्तर माने हैं - 1. द्रव्य लोक-हित 2. भाव लोक-हित और 3. पारमार्थिक लोक-हित।

1. द्रव्य लोक-हित - यह लोक-हित का भौतिक स्तर है। भौतिक उत्पादनों- जैसे भोजन, वस्त्र आवास आदि तथा शारीरिक सेवा के द्वारा लोक-सेवा करना द्रव्य लोक-हित है। यह दान और सेवा का क्षेत्र है। पुण्य के नव प्रकारों में आहार-दान, वस्त्र-दान, औषधि-दान आदि का उल्लेख यह बताता है कि जैन-दर्शन दान और सेवा के आदर्श को स्वीकार करता है। जैन-समाज के द्वारा आज भी जन-सेवा और प्राणी - सेवा के जो अनेक कार्य किये जा रहे हैं, इसके प्रतीक हैं। फिर भी यह एक ऐसा स्तर है, जहाँ हितों का संघर्ष होता है। एक का हित दूसरे के अहित का कारण बन सकता है। अतः द्रव्य लोक-हित एकान्त रूप से आचरणीय भी नहीं कहा जा सकता। यह सापेक्ष नैतिकता का क्षेत्र है। भौतिक स्तर पर स्व-हित की पूर्णतया उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यहाँ तो स्व-हित और पर-हित में उचित समन्वय बनाये रखना, इतना ही अपेक्षित है।

2. भाव लोकहित - लोकहित का यह स्तर भौतिक स्तर से ऊपर है, जहाँ लोक-हित के जो साधन हैं, वे ज्ञानात्मक या चैतनिक होते हैं। इस स्तर पर परार्थ और स्वार्थ में संघर्ष की सम्भावना अल्पतम होती है। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ की भावनाएँ इस स्तर को अभिव्यक्त करती हैं।

3. पारमार्थिक लोक-हित - यह लोकहित का सर्वोच्च स्तर है, जहाँ स्व-हित और पर-हित में कोई संघर्ष नहीं रहता, कोई द्वैत नहीं रहता। यहाँ पर लोक-हित का रूप होता है -यथार्थ जीवन दृष्टि के सम्बन्ध में मार्ग-दर्शन।

विषमता समस्या और समता समाधान

जैनागम-साहित्य में उपलब्ध निर्देश न केवल अपने युग की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं अपितु वर्तमान-युग की सामाजिक-धार्मिक समस्याओं के समाधान में भी वे पूर्णतः सक्षम हैं। वस्तुस्थिति यह है कि चाहे प्राचीन-युग हो या वर्तमान युग, मानव-समाज की समस्याएँ सभी युगों में लगभग समान रही हैं और उनका समाधान भी समान रहा है। वस्तुतः विषमता ही समस्या है और समता ही समाधान है। मानव-समाज की सभी समस्याएँ विषमताजनित हैं। विषमताओं का निराकरण समता के द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए जैन-आगम आचारांग में धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि “समियाये धम्मे आरिये हि पवेइए” - 1, 8, 3 अर्थात् आर्यजन समता को ही धर्म कहते हैं। समता ही धर्म है और विषमता अधर्म हैं क्योंकि विषमता सामाजिक सन्तुलन को भंग करती है। विषमता चाहे वह सामाजिक जीवन में हो या वैयक्तिक जीवन, में, वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए दुःख और पीड़ा का कारण बन सकती है।

सामाजिक-जीवन के बाधक तत्त्व राग-द्वेष

यद्यपि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इस विषमता का मूल क्या है? जैनागम उत्तराध्ययन में विषमता का मूल राग और द्वेष के तत्त्वों को माना गया है। राग और द्वेष की प्रवृत्तियाँ ही सामाजिक-विषमता और सामाजिक-संघर्षों का कारण बनती हैं। सामाजिक सम्बन्धों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग और द्वेष की भावनाएँ ही काम करती हैं।

सामान्यतया राग द्वेष का सहगामी होता है। जब तक सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़े हैं, तब तक इन आपसी सम्बन्धों में विषमता स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहती है। जब राग का तत्त्व द्वेष का सहगामी होकर काम करने लगता है, तो पारस्परिक सम्बन्धों में संघर्ष और टकराहट प्रारम्भ हो जाती है। राग के कारण “मेरा” यह ममत्व का भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म-संप्रदाय और मेरा राष्ट्र - ये विचार विकसित होते हैं। परिणामस्वरूप भाई-

भतीजावाद, जातिवाद, सांप्रदायिकता और प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद का जन्म होता है। हमारे सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही तत्त्व सबसे अधिक बाधक हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठने नहीं देते हैं। ये ही आज की सामाजिक विषमता के मूल कारण हैं।

सामाजिक संघर्षों का मूल “स्व” की संकुचित सीमा है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। अपनी रागात्मक वृत्ति का पूर्णतया विसर्जन किये बिना हमारे अपेक्षित नैतिक एवं सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का ‘स्व’ चाहे वह व्यक्तिगत जीवन तक सीमित हो या पारिवारिक एवं राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वार्थ वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से नैतिकता एवं सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए नैतिक एवं सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। मुनि नथमलजी लिखते हैं—“परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप जैसे जाति या राष्ट्र के प्रति बरती जाने वाली अनैतिकता का नियमन नहीं करता, वैसे ही जाति या राष्ट्र के प्रति ममत्व अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता का नियामक नहीं होता।” मुझे लगता है कि राष्ट्रीय अनैतिकता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता कहीं अधिक है। जिन राष्ट्रों में व्यावहारिक सच्चाई है, प्रामाणिकता है, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्य-निष्ठ और प्रामाणिक नहीं हैं।^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का जीवन जब तक राग या ममत्व से ऊपर नहीं उठता, तब तक सामाजिक असद्भाव और सामाजिक संघर्षों का निराकरण सम्भव ही नहीं होता। रागयुक्त नैतिकता, चाहे उसका आधार राष्ट्र ही क्यों न हो, सच्चे अर्थों में नैतिकता नहीं हो सकती। सच्चा सामाजिक जीवन वीतराग अवस्था में ही सम्भव हो सकता है और जैन-दर्शन इसी वीतराग-जीवन दृष्टि को ही अपनी साधना का आधार बनाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सामाजिक-जीवन के लिए एक वास्तविक आधार प्रस्तुत करता है। यही एक ऐसा आधार है जिस पर सामाजिक-नैतिकता को खड़ा किया जा सकता है और सामाजिक-जीवन वैषम्यों को समाप्त किया जा सकता है। सरागता कभी भी सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण नहीं कर सकती है। रागात्मकता के आधार पर खड़ा सामाजिक जीवन अस्थायी ही होगा। इस प्रकार जैन-दर्शन ने वीतराग को जीवन का आदर्श स्वीकार करके वस्तुतः एक सुदृढ़ सामाजिक-जीवन के लिए एक स्थायी आधार प्रस्तुत किया है।

सम्भवतः यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि राग के अभाव में सामाजिक सम्बन्धों को जोड़ने वाला तत्त्व क्या होगा? राग के अभाव से तो सारे सामाजिक सम्बन्ध चरमरा कर टूट जायेंगे। रागात्मकता ही तो हमें एक-दूसरे से जोड़ती है। अतः राग सामाजिक-जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। किन्तु मेरी अपनी विनम्र धारणा में जो तत्त्व व्यक्ति को व्यक्ति से या समाज से जोड़ता है, वह राग नहीं, विवेक है। तत्त्वार्थ सूत्र में इस बात की चर्चा उपस्थित की गई है कि विभिन्न द्रव्य एक-दूसरे का सहयोग किस प्रकार करते हैं। उसमें जहाँ पुद्गल-द्रव्य को जीव-द्रव्य का उपकारक कहा गया है, वहीं एक जीव को दूसरे जीवों का उपकारक कहा गया है “परस्परोपग्रही जीवानाम्” तत्त्वार्थ 5.21। चेतन-सत्ता यदि किसी का उपकार या हित कर सकती है, तो चेतन-सत्ता का ही कर सकती है।



जैन दर्शन में कर्मसिद्धान्त

कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

कर्मसिद्धान्त का उद्भव सृष्टि-वैचित्र्य, वैयक्तिक-भिन्नताओं, व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों एवं शुभाशुभ मनोवृत्तियों के कारण की व्याख्या के प्रयासों में ही हुआ है। सृष्टि-वैचित्र्य एवं वैयक्तिक भिन्नताओं के कारण की खोज के इन प्रयासों से विभिन्न विचारधारायें अस्तित्व में आयीं। श्वेताश्वतरोपनिषद् अंगुत्तरनिकाय और सूत्रकृतांग में हमें इन विभिन्न विचारधाराओं की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में इन विचारधाराओं की समीक्षा भी की गई है। इस सम्बन्ध में प्रमुख मान्यताएँ निम्न हैं -

1. **कालवाद** - यह सिद्धान्त सृष्टि-वैविध्य और वैयक्तिक-विभिन्नताओं का कारण-काल को स्वीकार करता है। जिसका जो समय या काल होता है तभी वह घटित होता है, जैसे-अपनी ऋतु (समय) आने पर ही वृक्ष में फल लगते हैं।
2. **स्वभाववाद** - संसार में जो भी घटित होगा या होता है, उसका आधार वस्तुओं का अपना-अपना स्वभाव है। संसार में कोई भी स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर सकता है।
3. **नियतिवाद** - संसार का समग्र घटना-क्रम पूर्व नियत है, जो जिस रूप में होना होता है वैसा ही होता है, उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता।
4. **यदृच्छावाद** - किसी भी घटना का कोई नियत हेतु या कारण नहीं होता है। समस्त घटनाएँ मात्र संयोग का परिणाम हैं। यदृच्छावाद हेतु के स्थान पर संयोग (Chance) को प्रमुख बना देता है।
5. **महाभूतवाद** - समग्र अस्तित्व के मूल में पंचमहाभूतों की सत्ता ही है। संसार उनके वैविध्यमय विभिन्न संयोगों का ही परिणाम है।
6. **प्रकृतिवाद** - विश्व-वैविध्य त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही खेल है। मानवीय सुख-दुःख भी प्रकृति के अधीन है।
7. **ईश्वरवाद** - ईश्वर ही इस जगत् का रचयिता एवं नियामक है, जो कुछ भी होता है, वह सब उसकी इच्छा या क्रियाशक्ति का परिणाम है।

8. पुरुषवाद - वैयक्तिक विभिन्नता और सांसारिक घटना-क्रम के मूल में पुरुष का पुरुषार्थ ही प्रमुख है।

वस्तुतः जगत्-वैविध्य और वैयक्तिक भिन्नताओं की तार्किक व्याख्या के इन्हीं प्रयत्नों में कर्मसिद्धान्त का विकास हुआ है जिसमें पुरुषवाद की प्रमुख भूमिका रही है। कर्मसिद्धान्त उपर्युक्त सिद्धान्तों का पुरुषवाद के साथ समन्वय का प्रयत्न है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रारम्भ में ही प्रश्न उठाया गया है कि हम किसके द्वारा प्रेरित होकर संसार-यात्रा का अनुवर्तन कर रहे हैं। आगे ऋषि यह जिज्ञासा प्रकट करता है कि क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत-योनि अथवा पुरुष या इन सबका संयोग ही इसका कारण है²। वस्तुतः इन सभी विचारधाराओं में पुरुषवाद को छोड़कर शेष सभी विश्व-वैचित्र्य और वैयक्तिक-वैविध्य की व्याख्या के लिए किसी न किसी बाह्य-तथ्य पर ही बल दे रही थीं। हम इनमें से किसी भी सिद्धान्त को मानें, वैविध्य का कारण व्यक्ति से भिन्न ही मानना होगा, किन्तु ऐसी स्थिति में व्यक्ति पर नैतिक दायित्व का आरोपण सम्भव नहीं हो पाता है। यदि हम जो कुछ भी करते हैं और जो कुछ भी पाते हैं, उसका कारण बाह्य तथ्य हैं, तो फिर हम किसी भी कार्य के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी ठहराये नहीं जा सकते हैं। यदि व्यक्ति काल, स्वभाव, नियति अथवा ईश्वर की इच्छाओं का एक साधन मात्र है, तो वह हम उस कठपुतली के समान है, जो दूसरे के इशारों पर ही कार्य करती है। किन्तु ऐसी स्थिति में पुरुष में इच्छा-स्वातन्त्र्य का अभाव मानने पर नैतिक उत्तरदायित्व की समस्या उठती है। सामान्य मनुष्य को नैतिकता के प्रति आस्थावना बनाने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति को उसके शुभाशुभ कर्मों के प्रति उत्तरदायी बनाया जा सके और यह तभी सम्भव है जब उसके मन में विश्वास हो कि उसे उसकी स्वतन्त्र इच्छा से किये गये अपने ही कर्मों का परिणाम प्राप्त होता है, यही कर्मसिद्धान्त है। ज्ञातव्य है कि कर्मसिद्धान्त ईश्वरीय कृपा या अनुग्रह के विरोध में जाता है, वह यह मानता है कि ईश्वर भी कर्मफल - व्यवस्था को अन्यथा नहीं कर सकता है। कर्म का नियम ही सर्वोपरि है।

कर्मसिद्धान्त और कार्यकारण का नियम

आचार के क्षेत्र में इस कर्मसिद्धान्त की उतनी ही आवश्यकता है जितनी विज्ञान के क्षेत्र में कार्य-कारण-सिद्धान्त की। जिस प्रकार कार्य-कारण-सिद्धान्त के अभाव में वैज्ञानिक व्याख्यायें असम्भव होती हैं, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त के अभाव में नीतिशास्त्र भी अर्थ-शून्य हो जाता है।

प्रो. वेंकटरमण के शब्दों में कर्मसिद्धान्त कार्य-कारण-सिद्धान्त के नियमों एवं मान्यताओं का मानवीय आचार के क्षेत्र में प्रयोग है, जिसकी उपकल्पना यह है कि जगत् में सभी कुछ किसी नियम के अधीन है^३। मैक्समूलर लिखते हैं कि यह विश्वास कि कोई भी अच्छा बुरा कर्म बिना फल दिए समाप्त नहीं होता, नैतिक जगत् का वैसा ही विश्वास है, जैसा भौतिक जगत् में ऊर्जा की अविनाशिता का नियम है^४। यद्यपि कर्मसिद्धान्त एवं वैज्ञानिक कार्यकारण-सिद्धान्त में सामान्य रूप से समानता प्रतीत होती है, किन्तु उनमें एक मौलिक अन्तर भी है। यह कि जहाँ कार्य-कारण सिद्धान्त का विवेच्य जड़ तत्व के क्रियाकलाप हैं वहीं कर्म-सिद्धान्त का विवेच्य चेतना सत्ता के क्रिया-कलाप हैं। अतः कर्मसिद्धान्त में वैसी पूर्ण नियतता नहीं होती, जैसी कार्यकारण सिद्धान्त में होती है। यह नियतता एवं स्वतंत्रता का समुचित संयोग है। कर्मसिद्धान्त की मौलिक स्वीकृति यही है कि प्रत्येक शुभाशुभ क्रिया का कोई प्रभाव या परिणाम अवश्य होता है। साथ ही, उस कर्म-विपाक या परिणाम का भोक्ता वही होता है, जो क्रिया का कर्त्ता होता है और कर्म एवं विपाक की यह परम्परा अनादि काल से चल रही है।

कर्मसिद्धान्त की उपयोगिता

कर्मसिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि वह न केवल हमें नैतिकता के प्रति आस्थावान बनाता है, अपितु वह हमारे सुख-दुःख आदि का स्रोत हमारे व्यक्तित्व में ही खोजकर ईश्वर एवं प्रतिवेशी अर्थात् अन्य व्यक्तियों के प्रति कटुता का निवारण करता है। कर्मसिद्धान्त की स्थापना का प्रयोजन यही है कि नैतिक कृत्यों के अनिवार्य फल के आधार पर उनके प्रेरक कारणों एवं अनुवर्ती परिणामों की व्याख्या की जा सके तथा व्यक्तियों को अशुभ या दुष्कर्मों से विमुख किया जा सके।

जैन कर्मसिद्धान्त और अन्य दर्शन

ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों में उपस्थित ऋत का सिद्धान्त कर्म-नियम का आदि स्रोत है। यद्यपि उपनिषदों के पूर्व के वैदिक साहित्य में कर्मसिद्धान्त का कोई सुस्पष्ट विवेचन नहीं मिलता, फिर भी उसमें उपस्थित ऋत के नियम की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है। पं. दलसुख मालवणिया के शब्दों में कर्म (जगत् वैचित्र्य का) कारण है, ऐसा वाद उपनिषदों का सर्व-सम्मतवाद हो, नहीं कहा जा सकता। भारतीय चिन्तन में कर्म सिद्धान्त का विकास जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में हुआ है। यद्यपि यह एक भिन्न बात है कि जैनों ने कर्मसिद्धान्त का जो गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया वह अन्य परम्पराओं में उपलब्ध नहीं हैं^५। वैदिकों के लिए जो महत्त्व ऋत का, मीमांसकों के लिए अपूर्व का, नैयायिकों के लिए अदृष्ट

का, वैदान्तियों के लिए माया का ओर सांख्यों के लिए प्रकृति का है, वही जैनों के लिए कर्म का है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से देखने पर वेदों का ऋत, मीमांसकों का अपूर्व, नैयायिकों का अदृष्ट, अद्वैतियों की माया, सांख्यों की प्रकृति एवं बौद्धों की अविद्या या संस्कार पर्यायवाची से लगते हैं, क्योंकि व्यक्ति के बन्धन एवं उसके सुख-दुःख की स्थितियों में इनकी मुख्य भूमिका है, फिर भी इनके स्वरूप में दार्शनिक दृष्टि से अन्तर भी है, यह बात हमें दृष्टिगत रखनी होगी। ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म में भी कर्म-नियम को स्थान मिला है। फिर भी ईश्वरीय अनुग्रह पर अधिक बल देने के कारण उनमें कर्म-नियम के प्रति आस्था के स्थान पर ईश्वर के प्रति विश्वास ही प्रमुख रहा है। ईश्वर की अवधारणा के अभाव के कारण भारत की श्रमण परम्परा परम्परा कर्मसिद्धान्त के प्रति अधिक आस्थावान रही, बौद्ध-दर्शन में भी जैनों के समान ही कर्म-नियम को सर्वोपरि माना गया। हिन्दू धर्म में भी ईश्वरीय व्यवस्था को कर्म-नियम के अधीन लाया गया, उसमें ईश्वर कर्म-नियम का व्यवस्थापक होकर भी उसके अधीन ही कार्य करता है।

जैन कर्मसिद्धान्त का विकास क्रम

जैन कर्मसिद्धान्त का विकास किस क्रम में हुआ, इस प्रश्न का समाधान उतना सरल नहीं है, जितना कि हम समझते हैं। सामान्य विश्वास तो यह है कि जैन धर्म की तरह यह भी अनादि है, किन्तु विद्वत्-वर्ग इसे स्वीकार नहीं करता है। यदि जैन कर्मसिद्धान्त के विकास का कोई समाधान देना हो तो, वह जैन आगम एवं कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों के कालक्रम के आधार पर ही दिया जा सकता है, इसके अतिरिक्त अन्य विकल्प नहीं है। जैन आगम साहित्य में आचारांग प्राचीनतम है। इस ग्रन्थ में जैन कर्मसिद्धान्त का चाहे विकसित स्वरूप उपलब्ध न हो, किन्तु उसकी मूलभूत अवधारणाएँ अवश्य उपस्थित हैं। कर्म से उपाधि या बन्धन होता है, कर्म रज है, कर्म का आस्रव होता है, साधक को कर्म शरीर को धुन डालना चाहिए आदि विचार उसमें परिलक्षित होते हैं। इससे यह फलित होता है कि आचारांग के काल में कर्म को स्पष्ट रूप से बन्धन का कारण माना जाता था और कर्म के भौतिक पक्ष की स्वीकृति के साथ यह भी माना जाता था कि कर्म की निर्जरा की जा सकती है। साथ ही, आचारांग में शुभाशुभ कर्मों का शुभाशुभ विपाक होता है, यह अवधारणा भी उपस्थित है। उसके अनुसार बन्धन का मूल कारण ममत्व है। बन्धन से मुक्ति का उपाय ममत्व का विसर्जन और समत्व का सर्जन है।¹⁶

सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भी आचारांग से किंचित ही परवर्ती माना जाता है। सूत्रकृतांग के काल में यह प्रश्न बहुचर्चित था कि कर्म का फल संविभाग सम्भव है या नहीं? इसमें स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि व्यक्ति

अपने स्वकृत कर्मों को ही विपाक अनुभव करता है। बन्धन के सम्बन्ध में सूत्रकृतांग (1/8/2) स्पष्ट रूप से कहता है कि कुछ व्यक्ति कर्म को और कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं इसका तात्पर्य यह है कि कर्म के सन्दर्भ में यह विचार लोगों के मन में उत्पन्न हो गया था कि यदि कर्म ही बन्धन है तो फिर अकर्म अर्थात् निष्क्रियता ही बन्धन से बचने का उपाय होगा, किन्तु सूत्रकृतांग के अनुसार अकर्म का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। इसमें प्रतिपादित है कि प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है (1/8/3) वस्तुतः किसी क्रिया की बन्धकता उसके क्रिया-रूप होने पर नहीं, अपितु उसके पीछे रही प्रमत्तता या अप्रमत्तता पर निर्भर है। यहाँ प्रमाद का अर्थ है आत्मचेतना (Selfawareness) का अभाव। जिस आत्मा का विवेक जागृत नहीं है और जो कषाययुक्त है, वही परिसुप्त या प्रमत्त है और जिसका विवेक जागृत है और जो वासना-मुक्त है, वही अप्रमत्त है। सूत्रकृतांग (2/2/1) में ही हमें क्रियाओं के दो रूपों की चर्चा भी मिलती है - 1. साम्प्रायिक और 2. ईर्यापथिक⁷। राग, द्वेष, क्रोध आदि कषायों से युक्त क्रियायें ईर्यापथिक कही जाती हैं। साम्प्रायिक क्रियायें बन्धक होती हैं, जबकि ईर्यापथिक बन्धनकारक नहीं होतीं। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूत्रकृतांग में कौन सा कर्म बन्धन का कारण होगा और कौन सा कर्म बन्धन का कारण नहीं होगा, इसकी एक कसौटी प्रस्तुत कर दी गई है। आचारांग में प्रतिपादित ममत्त्व की अपेक्षा इसमें प्रमत्तता और कषाय को बन्धन का प्रमुख कारण माना गया है।

यदि हम बन्धन के कारणों का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करें, तो यह पाते हैं कि प्रारम्भ में ममत्त्व (मेरेपन) को बन्धन का कारण माना गया, फिर आत्मविस्मृति या प्रमाद को। जब प्रमाद की व्याख्या का प्रश्न आया, तो स्पष्ट किया गया कि राग-द्वेष की उपस्थिति ही प्रमाद है। अतः राग-द्वेष को बन्धन का कारण बताया गया है⁸। इनमें मोह, मिथ्यात्व और कषाय का संयुक्त रूप है। प्रमाद के साथ इनमें अविरति एवं योग के जुड़ने पर जैन परम्परा में बन्धन के 5 कारण माने जाने लगे⁹। समयसार आदि में प्रमाद को कषाय का ही एक रूप मानकर बन्धन के चार कारणों का उल्लेख मिलता है¹⁰। इनमें योग बन्धनकारक होते हुए भी वस्तुतः जब तक कषाय के साथ युक्त नहीं होता है, बन्धन का कारण नहीं बनता है। अतः प्राचीन ग्रन्थों में बन्धन के कारणों की चर्चा में मुख्य रूप से राग-द्वेष (कषाय) एवं मोह (मिथ्यादृष्टि) की ही चर्चा हुई है।

जैन कर्मसिद्धान्त के इतिहास की दृष्टि से कर्मप्रकृतियों का विवेचन भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। कर्म की अष्ट मूलप्रकृतियों का सर्व प्रथम निर्देश हमें ऋषिभाषित के पार्श्व नामक अध्ययन में उपलब्ध होता है।¹¹ इसमें 8 प्रकार की

कर्मग्रन्थियों का उल्लेख है। यद्यपि वहाँ इनके नामों की कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। 8 प्रकार की कर्मप्रकृतियों के नामों का स्पष्ट उल्लेख हमें उत्तराध्ययन के 33 वें अध्याय में और स्थानांग में मिलता है।¹² स्थानांग की अपेक्षा भी उत्तराध्ययन में यह वर्णन विस्तृत है, क्योंकि इसमें अवान्तर कर्म प्रकृतियों की चर्चा भी हुई है। इसमें ज्ञानावरण कर्म की 5, दर्शनावरण की 9, वेदनीय की 2, मोहनीय की 2 एवं 28, नामकर्म की 2 एवं अनेक, आयुष्कर्म की 4, गोत्रकर्म की 2 और अन्तराय कर्म की 5 अवान्तर प्रकृतियों का उल्लेख मिलता है¹³। आगे जो कर्मसाहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ निर्मित हुए उनमें नामकर्म की प्रकृतियों की संख्या में और भी वृद्धि हुई, साथ ही उनमें आत्मा में किस अवस्था में कितनी कर्मप्रकृतियों का उदय, सत्ता, बन्ध आदि होते हैं, इसकी भी चर्चा हुई। वस्तुतः जैन कर्मसिद्धान्त ई.पू. आठवीं शती से लेकर ईस्वी सन् की सातवीं शती तक लगभग पन्द्रह सौ वर्ष की सुदीर्घ अवधि में व्यवस्थित होता रहा है। यह एक सुनिश्चित सत्य है कि कर्मसिद्धान्त का जितना गहन विश्लेषण जैन परम्परा के कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी-साहित्य में हुआ, उतना अन्यत्र किसी भी परम्परा में नहीं हुआ है।

‘कर्म’ शब्द का अर्थ

जब हम जैन कर्मसिद्धान्त की बात करते हैं, तो हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उसमें ‘कर्म’ शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वह अर्थ कर्म के उस सामान्य अर्थ की अपेक्षा अधिक व्यापक है। सामान्यतया कोई भी क्रिया कर्म कहलाती है, प्रत्येक हलचल चाहे वह मानसिक हो, वाचिक हो या शारीरिक हो, कर्म है। किन्तु जैन परम्परा में जब हम ‘कर्म’ शब्द का प्रयोग करते हैं, तो वहाँ ये क्रियायें तभी कर्म बनती हैं, जब ये बन्धन का कारण हों। मीमांसादर्शन में कर्म का तात्पर्य यज्ञ-याग आदि क्रियाओं से लिया जाता है। गीता आदि में कर्म का अर्थ अपने वर्णाश्रम के अनुसार किये जाने वाले कर्मों से लिया गया है। यद्यपि गीता एक व्यापक अर्थ में भी कर्म शब्द का प्रयोग करती है। उसके अनुसार मनुष्य जो भी करता है या करने का आग्रह रखता है, वे सभी प्रवृत्तियाँ कर्म की श्रेणी में आती हैं। बौद्धदर्शन में चेतना को ही कर्म कहा गया है। बुद्ध कहते हैं कि “भिक्षुओं कर्म, चेतना ही है” ऐसा मैं इसलिए कहता हूँ कि चेतना द्वारा ही व्यक्ति कर्म को करता है, काया से, मन वाणी से¹⁴। इस प्रकार बौद्धदर्शन में कर्म के समुत्थान या कारक को ही ‘कर्म’ कहा गया है। बौद्धदर्शन में आगे चलकर चेतना कर्म और चेतयित्वा कर्म की चर्चा हुई है। चेतना कर्म मानसिक कर्म है, चेतयित्वा कर्म वाचिक एवं कायिक कर्म है¹⁵। किन्तु हमें ध्यान रखना चाहिए कि जैन कर्म सिद्धान्त में कर्म शब्द अधिक व्यापक अर्थ में गृहीत हुआ है। उसमें मात्र क्रिया को ही कर्म नहीं कहा

गया, अपितु उसके हेतु (कारण) को भी कर्म कहा गया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि लिखते हैं – जीव की क्रिया का हेतु ही कर्म है¹⁶। किन्तु हम मात्र हेतु को भी कर्म नहीं कह सकते हैं। हेतु, उससे निष्पन्न क्रिया और उस क्रिया का परिणाम, सभी मिलकर जैन दर्शन में कर्म की परिभाषा को स्पष्ट करते हैं। पं. सुखलाल जी संघवी लिखते हैं कि मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है कर्म कहलाता है। मेरी दृष्टि से इसके साथ ही साथ कर्म में उस क्रिया के विपाक को भी सम्मिलित करना होगा। इस प्रकार कर्म के हेतु, क्रिया और क्रिया-विपाक, सभी मिलकर कर्म कहलाते हैं। जैन दर्शनियों ने कर्म के दो पक्ष माने हैं – 1. राग-द्वेष एवं कषाय – ये सभी मनोभाव, भाव कर्म कहे जाते हैं। 2. कर्म-पुद्गल द्रव्यकर्म कहे जाते हैं। ये भावकर्म के परिणाम होते हैं, साथ ही मनोजन्यकर्म की उत्पत्ति का निमित्त कारण भी होते हैं। यह भी स्मरण रखना होगा कि ये कर्म हेतु (भावकर्म) और कर्मपरिणाम (द्रव्यकर्म) भी परस्पर कार्य-कारण भाव रखते हैं।

सभी आस्तिक दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है, जो आत्मा या चेतना की शुद्धता को प्रभावित करती है। उसे वेदान्त में माया, सांख्य में प्रकृति, न्यायदर्शन में अदृष्ट एवं मीमांसा में अपूर्व कहा गया है। बौद्धदर्शन में उसे ही अविद्या और संस्कार (वासना) के नाम से जाना जाता है। योगदर्शन इसी आत्मा की विशुद्धता को प्रभावित करने वाली शक्ति को कर्म कहता है। जैन दर्शन में कर्म के निमित्त कारणों के रूप में कर्म पुद्गल को भी स्वीकार किया गया है जबकि इसके उपादान के रूप में आत्मा को ही माना गया है। आत्मा के बन्धन में कर्म पुद्गल निमित्त कारण है और स्वयं आत्मा उपादान कारण होता है।

कर्म का भौतिक स्वरूप

जैनदर्शन में कर्म चेतना से उत्पन्न क्रिया मात्र नहीं है, अपितु यह स्वतन्त्र तत्त्व भी है। आत्मा के बन्धन का कारण क्या है? जब यह प्रश्न जैन दार्शनिकों के समक्ष आया तो उन्होंने बताया कि आत्मा के बन्धन का कारण केवल आत्मा नहीं हो सकती है। वस्तुतः कषाय (राग-द्वेष) अथवा मोह (मिथ्यात्व) आदि जो बन्धक मनोवृत्तियाँ हैं वे भी स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकतीं, जब तक कि वे पूर्वबद्ध कर्मवर्णणाओं के विपाक (संस्कार) के रूप में चेतना के समक्ष उपस्थित नहीं होतीं हैं। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शरीर-रसायनों के परिवर्तन से संवेग (मनोभाव) उत्पन्न होते हैं और उन संवेगों के कारण ही शरीर-रसायनों में परिवर्तन होता है। यही स्थिति आत्मा की भी है। पूर्व कर्मों के कारण आत्मा में राग-द्वेष आदि मनोभाव उत्पन्न (उदित) होते हैं और इन उदय में आये मनोभावों के क्रियारूप परिणित होने पर आत्मा नवीन कर्मों का संचय करता है। बन्धन की दृष्टि से

कर्मवर्गणाओं के कारण मनोभाव उत्पन्न होते हैं और उन मनोभावों के कारण जड़ कर्मवर्गणाएँ कर्म का स्वरूप ग्रहण कर आत्मा को बन्धन में डालती है। जैन विचारकों के अनुसार एकान्त रूप से न तो आत्मा स्वतः ही बन्धन का कारण है, न कर्मवर्गणा के पुद्गल ही। दोनों निमित्त एवं उपादान के रूप में एक दूसरे से संयुक्त होकर ही बन्धन की प्रक्रिया को जन्म देते हैं।

द्रव्यकर्म और भावकर्म

कर्मवर्गणाएँ या कर्म का भौतिक पक्ष, द्रव्यकर्म कहलाता है जबकि कर्म की चैतन्यिक अवस्थाएँ अर्थात् मनोवृत्तियाँ भावकर्म है। आत्मा के मनोभाव या चेतना की विविध विकारित अवस्थाएँ भावकर्म हैं और ये मनोभाव जिस निमित्त से उत्पन्न होते हैं वह पुद्गल-द्रव्य द्रव्यकर्म हैं। आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार में लिखते हैं कि पुद्गल द्रव्यकर्म है और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति भावकर्म है¹⁷। आत्मा में जो मिथ्यात्व और कषाय अथवा राग-द्वेष आदि भाव हैं, वे ही भाव कर्म हैं और उनकी उपस्थिति में कर्मवर्गणा के जो पुद्गल परमाणु ज्ञानावरण आदि कर्मप्रकृतियों के रूप में परिणत होते हैं, वे द्रव्यकर्म हैं। द्रव्यकर्म का कारण भावकर्म है और भावकर्म का कारण द्रव्य कर्म है। आचार्य विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री में द्रव्यकर्म को आवरण व भावकर्म को दोष कहा है। चूँकि द्रव्यकर्म आत्मशक्ति के प्रकटन को रोकता है, इसलिए वह आवरण है और भाव कर्म स्वयं आत्मा की विभाव अवस्था है, अतः वह दोष है¹⁸। कर्मवर्गणा के पुद्गल तब तक कर्म रूप में परिणत नहीं होते हैं, जब तक ये भावकर्मों द्वारा प्रेरित नहीं होते हैं। किन्तु साथ ही, यह भी स्मरण रखना होगा कि आत्मा में जो विभावदशाएँ हैं उनके निमित्त कारण के रूप में द्रव्यकर्म भी अपना कार्य करते हैं। यह सत्य है कि दूषित मनोविकारों का जन्म आत्मा में ही होता है, किन्तु उसके निमित्त (परिवेश) के रूप में कर्मवर्गणाएँ अपनी भूमिका का अवश्य निर्वाह करती हैं। जिस प्रकार हमारे स्वभाव में परिवर्तन का कारण हमारे जैव-रसायनों एवं रक्त रसायनों का परिवर्तन है उसी प्रकार कर्मवर्गणाएँ हमारे मनोविकारों के सृजन में निमित्त कारण होती है। पुनः जिस प्रकार हमारे मनोभावों के आधार पर हमारे जैव-रसायन एवं रक्तरसायन में परिवर्तन होता है, वैसे ही आत्मा में विकारी भावों के कारण जड़ कर्मवर्गणा के पुद्गल कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं। अतः द्रव्यकर्म और भावकर्म भी परस्पर सापेक्ष हैं। पं. सुखलाल जी लिखते हैं भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म के होने में भावकर्म निमित्त है¹⁹। दोनों आपस में बीजांकुर की तरह सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है उनमें किसी को पूर्वापर नहीं

कहा जा सकता है, वैसे इनमें भी किसी की पूर्वापरता का निश्चय नहीं हो सकता है। प्रत्येक द्रव्यकर्म की अपेक्षा से भावकर्म पूर्व होगा तथा प्रत्येक भावकर्म की अपेक्षा से द्रव्यकर्म पूर्व होगा।

द्रव्यकर्म एवं भावकर्म की इस अवधारणा के आधार पर जैन-कर्मसिद्धान्त अधिक युक्तिसंगत बन गया है। जैन कर्मसिद्धान्त कर्म के भावात्मक पक्ष पर समुचित बल देते हुए भी जड़ और चेतन के मध्य एक वास्तविक सम्बन्ध बनाने का प्रयास करता है। कर्म जड़-जगत् एवं चेतना के मध्य एक योजक कड़ी है। जहाँ एक ओर सांख्य-योग दर्शन के अनुसार कर्म-पूर्णतः जड़ प्रकृति से सम्बन्धित है, अतः उनके अनुसार वह प्रकृति ही है, जो बन्धन में आती है और मुक्त होती है, वहीं दूसरी ओर बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म संस्कार रूप है अतः वे चैतनिक हैं। इसलिए उन्हें मानना पड़ा कि चेतना ही बन्धन एवं मुक्ति का कारण है, किन्तु जैन विचारक इन एकांगी दृष्टिकोणों से सन्तुष्ट नहीं हो पाये। उनके अनुसार संसार का अर्थ है-जड़ और चेतन का पारस्परिक बन्धन या उनकी पारस्परिक प्रभावशीलता तथा मुक्ति का अर्थ है - जड़ एवं चेतन की एक दूसरे को प्रभावित करने की सामर्थ्य का समाप्त हो जाना।

भौतिक एवं अभौतिक पक्षों की पारस्परिक प्रभावकता

जिन दार्शनिकों ने चरम-सत्य के सम्बन्ध में अद्वैत की धारणा के स्थान पर द्वैत की धारणा स्वीकार की, उनके लिए यह प्रश्न बना रहा कि वे दोनों तत्त्व एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। अनेक विचारकों ने द्वैत को स्वीकारते हुए भी उनके पारस्परिक सम्बन्ध को अस्वीकार किया। किन्तु जगत् की व्याख्या इनके पारस्परिक सम्बन्ध के अभाव में सम्भव नहीं है। पश्चिम में यह समस्या देकार्त के सामने प्रस्तुत हुई थी। देकार्त ने इसका हल पारस्परिक प्रतिक्रियावाद के आधार पर किया भी, किन्तु स्पिनोजा उससे सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने प्रश्न उठाया कि दो स्वतन्त्र सत्ताओं में परस्पर प्रतिक्रिया सम्भव कैसे है? अतः स्पिनोजा ने प्रतिक्रियावाद के स्थान पर समानान्तरवाद की स्थापना की। लाइबनिज़ ने पूर्वस्थापित सामंजस्य की अवधारणा प्रस्तुत की²⁰। भारतीय चिन्तन में भी प्राचीन काल से इस सम्बन्ध में प्रयत्न हुए हैं। उसमें यह प्रश्न उठाया गया कि लिंगशरीर या कर्मशरीर आत्मा को कैसे प्रभावित कर सकता है? सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति के द्वैत को स्वीकार करके भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को नहीं समझा पाया, क्योंकि उसने पुरुष को कूटस्थ नित्य मान लिया था, किन्तु जैन दर्शन ने अपने वस्तुवादी और परिणामवादी विचारों के आधार पर इनकी सफल व्याख्या की है। वह बताता है कि जिस प्रकार जड़ मादक पदार्थ चेतना को प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार जड़

कर्मवर्गणाओं का प्रभाव चेतन आत्मा पर पड़ता है, इसे स्वीकार किया जा सकता है। संसार का अर्थ है — जड़ और चेतन का वास्तविक सम्बन्ध। इस सम्बन्ध की वास्तविकता को स्वीकार किये बिना जगत् की व्याख्या सम्भव नहीं है।

मूर्तकर्म का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव

यह भी सत्य है कि कर्म मूर्त है और वे हमारी चेतना को प्रभावित करते हैं। जैसे मूर्त भौतिक विषयों की चेतना व्यक्ति से सम्बद्ध होने पर सुख-दुःख आदि का अनुभव या वेदना होती है, वैसे ही कर्म के परिणाम स्वरूप भी वेदना होती है, अतः वे मूर्त हैं। किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि कर्म मूर्त हैं तो, वह अमूर्त आत्मा पर प्रभाव कैसे डालेगा? जिस प्रकार वायु और अग्नि अमूर्त आकाश पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकती है उसी प्रकार कर्म का अमूर्त आत्मा पर भी कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए। जैनदार्शनिक यह मानते हैं कि जैसे अमूर्त ज्ञानादि गुणों पर मूर्त मदिरादि का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही अमूर्त जीव पर भी मूर्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। उक्त प्रश्न का दूसरा तर्क-संगत एवं निर्दोष समाधान यह भी है कि कर्म के सम्बन्ध से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। क्योंकि संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मद्रव्य से सम्बद्ध है, इस अपेक्षा से आत्मा सर्वथा अमूर्त नहीं है, अपितु कर्म से सम्बद्ध होने के कारण स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी वस्तुतः कथंचित् मूर्त है। इस दृष्टि से भी आत्मा पर मूर्तकर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः जिस पर कर्मसिद्धान्त का नियम लागू होता है, वह व्यक्तित्व अमूर्त नहीं है। हमारा वर्तमान व्यक्तित्व शरीर (भौतिक) और आत्मा (अभौतिक) का एक विशिष्ट संयोग है। शरीरी आत्मा भौतिक बाह्य तथ्यों से अप्रभावित नहीं रह सकता। जब तक आत्मा-शरीर (कर्म-शरीर) के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाती, तब तक वह अपने को भौतिक प्रभावों से पूर्णतया अप्रभावित नहीं रख सकती। मूर्त शरीर के माध्यम से ही उस पर मूर्तकर्म का प्रभाव पड़ता है।

आत्मा और कर्मवर्गणाओं में वास्तविक सम्बन्ध स्वीकार करने पर यह प्रश्न उठता है कि मुक्त अवस्था में भी जड़ कर्मवर्गणाएँ आत्मा को प्रभावित किए बिना नहीं रहेंगी, क्योंकि मुक्ति-क्षेत्र में भी कर्मवर्गणाओं का अस्तित्व तो है ही। इस सन्दर्भ में जैन आचार्यों का उत्तर यह है कि जिस प्रकार कीचड़ जड़कर्म पुद्गल उसी आत्मा को विकारी बना सकते हैं, जो राग-द्वेष से अशुद्ध है। वस्तुतः जब तक आत्मा भौतिक शरीर से युक्त होता है, तभी तक कर्मवर्गणा के पुद्गल उसे प्रभावित कर सकता है। आत्मा में पूर्व से उपस्थित कर्मवर्गणा के पुद्गल ही बाह्य-जगत् के कर्मवर्गणाओं को आकर्षित कर सकते हैं। मुक्त अवस्था में आत्मा अशरीरी होता है अतः उसे कर्मवर्गणा के पुद्गल प्रभावित करने में समर्थ नहीं होते हैं।

कर्म एवं उनके विपाक की परम्परा

कर्म एवं उनके विपाक की परम्परा से ही यह संसार-चक्र प्रवर्तित होता है। दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध कब से हुआ। यदि हम यह सम्बन्ध सादि अर्थात् काल विशेष में हुआ, ऐसा मानते हैं, तो यह मानना होगा कि उसके पहले आत्मा मुक्त था और यदि मुक्त आत्मा को बन्धन में आने की सम्भावना हो तो फिर मुक्ति का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है। यदि यह माना जाय कि आत्मा अनादिकाल से बन्धन में है, तो फिर यह मानना होगा कि यदि बन्धन अनादि है तो वह अनन्त भी होगा, ऐसी स्थिति में मुक्ति की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी।

जैन दार्शनिकों ने इस समस्या का समाधान इस रूप में किया कि कर्म और विपाक की यह परम्परा कर्म विशेष की अपेक्षा से तो सादि और सान्त है, किन्तु प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और अनन्त है। पुनः कर्म और विपाक की परम्परा का यह प्रवाह भी व्यक्ति विशेष की दृष्टि से अनादि तो है, अनन्त नहीं। क्योंकि प्रत्येक कर्म अपने बन्धन की दृष्टि से सादि है। यदि व्यक्ति नवीन कर्मों का आगमन रोक सके तो यह परम्परा स्वतः ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि कर्म-विशेष तो सादि है ही और जो सादि है वह कभी समाप्त होगा ही।

जैन दार्शनिकों के अनुसार राग-द्वेष रूपी कर्मबीज के भुन जाने पर कर्म प्रवाह की परम्परा समाप्त हो जाती है। कर्म और विपाक की परम्परा के सम्बन्ध में यही एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसके आधार पर बन्धन का अनादित्व व मुक्ति से अनावृत्ति की समुचित व्याख्या सम्भव है।

कर्मफलसंविभाग का प्रश्न

क्या एक व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरे को दे सकता है या नहीं अथवा दूसरे के कर्मों का फल उसे प्राप्त होता है या नहीं, यह दार्शनिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय चिन्तन में हिन्दू परम्परा मानती है कि व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों का उसके पूर्वजों व सन्तानों को मिल सकता है। इस प्रकार वह इस सिद्धान्त को मानती है कि कर्मफल का संविभाग सम्भव है।²¹ इसके विपरीत बौद्ध परम्परा कहती है कि व्यक्ति के पुण्यकर्म का ही संविभाग हो सकता है, पापकर्म का नहीं। क्योंकि पापकर्म में उसकी अनुमति नहीं होती है। पुनः उनके अनुसार पाप सीमित होता है, अतः इसका संविभाग नहीं हो सकता, किन्तु पुण्य के अपरिमित होने से उसका ही संविभाग सम्भव है।²² किन्तु इस सम्बन्ध में जैनों का दृष्टिकोण भिन्न है, उनके अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों का फल विपाक न तो

दूसरों को दे सकता है और न दूसरे के शुभाशुभ कर्मों का फल उसे मिल सकता है। जैन दर्शनिक स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि कर्म और उसका विपाक व्यक्ति का अपना स्वकृत होता है।²³

जैन कर्मसिद्धान्त में कर्मफलसंविभाग का अर्थ समझने के लिए हमें निमित्त कारण और उपादान कारण के भेद को समझना होगा। दूसरा व्यक्ति हमारे सुख-दुःख में और हम दूसरे के सुख-दुःख में निमित्त हो सकते हैं, किन्तु भोक्ता और कर्ता तो वही होता है। अतः उपादान की दृष्टि से तो कर्म और उसका विपाक अर्थात् सुख-दुःख का अनुभव स्वकृत है। निमित्त की दृष्टि से उन्हें परकृत कहा जा सकता है, किन्तु निमित्त अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि कर्म संकल्प तो हमारा अपना ही होता है एवं कर्म के विपाक की अनुभूति भी हमारी ही होती है। अतः उपादान कारण की दृष्टि से तो कर्म एवं उसके विपाक में संविभाग सम्भव नहीं है। न तो दूसरा व्यक्ति हमें सुखी या दुःखी कर सकता है और न हम दूसरे को सुखी या दुःखी कर सकते हैं। हम अधिक से अधिक दूसरे के सुख-दुःख के निमित्त हो सकते हैं। लेकिन ऐसी निमित्तता तो भौतिक पदार्थों के सन्दर्भ में भी होती है सत्य तो यह है कि कर्म और उसका विपाक दोनों ही व्यक्ति के अपने होते हैं।

कर्मविपाक की नियतता व अनियतता

कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि क्या जिन कर्मों का बन्ध किया गया है, उनका विपाक व्यक्ति को भोगना ही होता है। जैन कर्मसिद्धान्त में कर्मों को दो भागों में बांटा गया है - 1. नियतविपाकी और 2. अनियतविपाकी। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका जिस फलविपाक को लेकर बन्ध किया गया है, उसी रूप में उनके फल के विपाक का वेदन करना होता है, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जिनका विपाक का वेदन उसी रूप में नहीं करना होता, जिस रूप में उनका बन्ध होता है। जैन कर्मसिद्धान्त मानता है कि जो कर्म तीव्र कषायों से उद्भूत होते हैं उनका बन्ध भी प्रगाढ़ होता है और विपाक भी नियत होता है। पारम्परिक शब्दावली में उन्हें निकाचित कहते हैं। इसके विपरीत जिन कर्मों के सम्पादन के पीछे कषायभाव अल्प होता है, उनका बन्धन शिथिल होता है और उनके विपाक का संवेदन आवश्यक नहीं होता है। वे तप एवं पश्चाताप के द्वारा अपना फल विपाक दिये बिना ही समाप्त हो जाते हैं।

वैयक्तिक दृष्टि से सभी आत्माओं में कर्मविपाक परिवर्तन करने की क्षमता नहीं होती है। केवल वे ही व्यक्ति जो आध्यात्मिक ऊंचाई पर स्थित हैं, कर्मविपाक में परिवर्तन कर सकते हैं। पुनः वे भी उन कर्मों के विपाक को अन्यथा

कर सकते हैं, जिनका बन्ध अनियतविपाकी कर्म के रूप में हुआ है। नियतविपाकी कर्मों का भोग तो अनिवार्य है। इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त अपने को नियतिवाद और यदृच्छावाद दोनों की एकांगिकता से बचाता है।

वस्तुतः कर्मसिद्धान्त में कर्मविपाक की नियतता और अनियतता की विरोधी धारणाओं के समन्वय के अभाव में नैतिक जीवन की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं होती है। यदि एकान्त रूप से कर्मविपाक की नियतता को स्वीकार किया जाता है, तो नैतिक आचरण का चाहे निषेधात्मक रूप में कुछ सामाजिक मूल्य बना रहे, लेकिन उसका विधायक मूल्य तो पूर्णतया समाप्त हो जाता है, क्योंकि नियत भविष्य के बदलने की सामर्थ्य नैतिक जीवन में नहीं रह पाती है। दूसरे, यदि कर्मों को पूर्णतः अनियतविपाकी माना जाये, तो नैतिक व्यवस्था का ही कोई अर्थ नहीं रह जाता है। विपाक की पूर्णनियतता को मानने पर निर्धारणवाद और विपाक की पूर्ण अनियतता मानने पर अनिर्धारणवाद की सम्भावना होगी, लेकिन दोनों ही धारणाएँ एकान्तिक रूप में नैतिक जीवन की समुचित व्याख्या कर पाने में असमर्थ है। अतः कर्मविपाक की आंशिक नियतता ही एक तर्कसंगत दृष्टिकोण है, जो नैतिक दर्शन की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करता है।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ²⁴

जैन दर्शन में कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं पर चिन्तन हुआ है और बताया गया है कि कर्म के बन्ध और विपाक (उदय) के बीच कौन-कौन सी अवस्थायें घटित हो सकती हैं, पुनः वे किस सीमा तक आत्मस्वातन्त्र्य को अभिव्यक्त करती हैं, इसकी चर्चा भी की गयी है। ये अवस्थाएँ निम्न हैं -

1. **बन्ध** - कषाय एवं योग के फलस्वरूप कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से जो सम्बन्ध स्थापित होता है, उसे बन्ध कहते हैं।
2. **संक्रमण** - एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद होते हैं। जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार कर्म का एक भेद अपने सजातीय दूसरे भेद में बदल सकता है। अवान्तर कर्म-प्रकृतियों को यह अदल-बदल संक्रमण कहलाता है। संक्रमण में आत्मा पूर्वबद्ध कर्मप्रकृति का नवीन कर्मप्रकृति का बन्ध करते समय रूपान्तरण करता है। उदाहरण के रूप में पूर्व बद्ध दुःखद संवेदन रूप असातावेदनीय कर्म का नवीन सातावेदनीय कर्म का बन्ध करते समय सातावेदनीय कर्म के रूप में संक्रमण किया जा सकता है। संक्रमण की यह क्षमता आत्मा की पवित्रता के साथ ही बढ़ती जाती है। जो आत्मा जितनी पवित्र होती है उसमें संक्रमण की क्षमता भी उतनी ही अधिक होती है। आत्मा में कर्मप्रकृतियों के संक्रमण की सामर्थ्य होना यह बताता है, जहाँ अपवित्र

आत्माएँ परिस्थितियों की दास होती हैं, वहीं पवित्र आत्मा परिस्थितियों की स्वामी होती हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रथम तो मूल कर्मप्रकृतियों का एक दूसरे में कभी भी संक्रमण नहीं होता है, जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण में नहीं बदलता है। मात्र यही नहीं, दर्शनमोह कर्म, चारित्रमोह कर्म और आयुष्य कर्म की अवान्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता है।

3. **उद्वर्तना** - नवीन बन्ध करते समय आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की काल-मर्यादा (स्थिति) और तीव्रता (अनुभाग) को बढ़ा भी सकता है। काल-मर्यादा ओर तीव्रता को बढ़ाने की यह प्रक्रिया उद्वर्तना कहलाती है।
4. **अपवर्तना** - नवीन बन्ध करते समय पूर्व बद्ध कर्मों की काल-मर्यादा (स्थिति) और तीव्रता (अनुभाग) को कम भी किया जा सकता है, इसे अपवर्तना कहते हैं।
5. **सत्ता** - कर्म के बद्ध होने के पश्चात् तथा उसके विपाक से पूर्व बीच की अवस्था सत्ता काल में कर्म अस्तित्व में तो रहता है, किन्तु वह सक्रिय नहीं होता।
6. **उदय** - जब कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं तो वह अवस्था उदय कहलाती है। उदय दो प्रकार का माना गया है- 1. विपाकोदय और 2. प्रदेशोदय। कर्म का अपना अपने फल की चेतन अनुभूति कराये बिना ही निर्जरित होना प्रदेशोदय कहलाता है। जैसे अचेतन अवस्था में शल्य क्रिया की वेदना की अनुभूति नहीं होती, यद्यपि वेदना की घटना घटित होती है। इसी प्रकार बिना अपनी फलानुभूति करवाये जो कर्म परमाणु आत्मा से निर्जरित होते हैं, उनका उदय प्रदेशोदय होता है। इसके विपरीत जिन कर्मों की अपने विपाक के समय फलानुभूति होती है उनका उदय विपाकोदय कहलाता है। ज्ञातव्य है कि विपाकोदय में प्रदेशोदय अनिवार्य रूप से होता है, लेकिन प्रदेशोदय में विपाकोदय हो, यह आवश्यक नहीं है।
7. **उदीरणा** - अपने नियतकाल से पूर्व ही पूर्वबद्ध कर्मों को प्रयासपूर्वक उदय में लाकर उनके फलों को भोगना, उदीरणा है। ज्ञातव्य है कि जिस कर्मप्रकृति का उदय या भोग चल रहा हो, उसकी सजातीय कर्मप्रकृति की ही उदीरणा सम्भव होती है।
8. **उपशमन** - उदय में आ रहे कर्मों के फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना अथवा काल-विशेष के लिए उन्हें फल देने से अक्षम बना देना उपशमन है। उपशमन में कर्म की सत्ता समाप्त नहीं होती, मात्र उसे काल विशेष के लिए फल देने में अक्षम बना दिया जाता है। इसमें कर्म राख से दबी अग्नि के समान निष्क्रिय होकर सत्ता में बने रहते हैं।

9. **निधिति** - कर्म की वह अवस्था निधिति है, जिसमें कर्म न तो अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित या संक्रमित हो सकते हैं और न अपना फल प्रदान कर सकते हैं, लेकिन कर्मों की समय-मर्यादा और विपाक-तीव्रता (परिणाम) को कम अधिक किया जा सकता है अर्थात् इस अवस्था में उत्कर्षण और अपकर्षण सम्भव है, संक्रमण नहीं।
10. **निकाचना** - कर्मों के बन्धन का इतना प्रगाढ़ होना कि उनकी काल-मर्यादा एवं तीव्रता में कोई भी परिवर्तन न किया जा सके, न समय से पूर्व उनका भोग ही किया जा सके, निकाचना कहलाता है। इस दशा में कर्म का जिस रूप में बन्धन हुआ होता है, उसको उसी रूप में अनिवार्यतया भोगना पड़ता है।

इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त में कर्म के फल विपाक की नियतता और अनियतता को सम्यक् प्रकार से समन्वित करने का प्रयास किया गया है तथा यह बताया गया है कि जैसे-जैसे आत्मा कषायों से मुक्त होकर आध्यात्मिक विकास की दिशा में बढ़ता है, वह कर्म फल विपाक की नियतता को समाप्त करने में सक्षम होता जाता है। कर्म कितना बलवान होगा यह बात मात्र कर्म के बल पर निर्भर नहीं है, अपितु आत्मा की पवित्रता पर निर्भर है। इन अवस्थाओं का चित्रण यह भी बताता है कि कर्मों का विपाक या उदय एक अलग स्थिति है तथा उनसे नवीन कर्मों का बन्ध होना या न होना यह एक अलग स्थिति है। कषाय-युक्त प्रमत्त आत्मा कर्मों के उदय में नवीन कर्मों का बन्ध करता है, इसके विपरीत कषाय-मुक्त अप्रमत्त आत्मा कर्मों के विपाक में नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता है, मात्र पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जरित करता है।

कर्म का शुभत्व और अशुभत्व²⁵

कर्मों को सामान्त्या शुद्ध (अकर्म), शुभ और अशुभ, ऐसे तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से इन्हें निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है :-

कर्म	जैन	बौद्ध	गीता	पाश्चात्य
1. शुद्ध	ईयापथिक	अव्यक्तकर्म	अकर्म	अनैतिक कर्म
2. शुभ	पुण्यकर्म	कुशल (शुक्ल) कर्म	कर्म	नैतिक कर्म
3. अशुभ	पाप कर्म	अकुशल (कृष्ण) कर्म	विकर्म	अनैतिक कर्म

जैन दर्शन में कर्म के बन्धक होने के आधार पर मुख्य रूप से दो विभाग किये गये हैं- 1. ईर्यापथिक और 2. साम्परायिक। इनमें साम्परायिक कर्म को पुनः दो विभागों में विभाजित किया गया है - (अ) अशुभ (पाप) और (ब) शुभ (पुण्य) आगे हम इसी सन्दर्भ में चर्चा करेंगे।

अशुभ या पाप कर्म

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि- वैयक्तिक सन्दर्भ में जो आत्मा को बन्धन में डालें जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है²⁶। सामाजिक सन्दर्भ में जो परपीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है (पापाय परपीडन)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते हैं, पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं, सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण

जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म 18 प्रकार के हैं - 1. प्राणातिपात (हिंसा), 2. मृषावाद (असत्य भाषण), 3. अदत्तादान (चौर्य कर्म), 4. मैथुन (काम-विकार), 5. परिग्रह (ममत्व, मूर्छा, तृष्णा या संचयवृत्ति), 6. क्रोध (गुस्सा), 7. मान (अहंकार), 8. माया (कपट, छल, षड्यन्त्र और कूटनीति), 9. लोभ (संचय या संग्रह वृत्ति), 10. राग (आसक्ति), द्वेष (घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि), 11. क्लेश (संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि), 12. अभ्याख्यान (दोषारोपण), 13. पिशुनता (चुगली), 14. परपरिवाद (परनिन्दा), 15. रति-अरति (हर्ष और शोक), 16. माया-मृषा (कपट सहित असत्य भाषण), 17. मिथ्यादर्शनशक्त्य (अवधार्य जीवनदृष्टि)।²⁷

पुण्य (कुशल कर्म)

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश में सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं - शुभास्रव पुण्य है,²⁸ लेकिन पुण्य मात्र आस्रव नहीं है, बह बन्ध और विपाक भी है। वह हेय ही नहीं है, उपादेय भी है। अतः अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि - पुण्य (अशुभ) कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।²⁹ इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त

प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानांगसूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।³⁰ आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधना में सहायक तत्त्व है। मुनि सुशील कुमार लिखते हैं कि - “पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है।”³¹ जैन कवि बनारसीदासजी समयसार नाटक में कहते हैं कि - “जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक समृद्धि और सुख मिलता है, वही पुण्य है।”³²

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म वे शुभ पुद्गल-परमाणु हैं, जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं। साथ ही, दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो उन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं, पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भावपुण्य हैं और शुभ-पुद्गल-परमाणु द्रव्यपुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवतीसूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-प्रवृत्तियों को पुण्योपाजन का कारण कहा गया है।³³ स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के पुण्य निरूपित हैं³⁴ -

1. अन्नपुण्य- भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा-निवृत्ति करना।
2. पानपुण्य- तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी पिलाना।
3. लयनपुण्य- निवास के लिए स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
4. शयनपुण्य- शय्या, बिछौना आदि देना।
5. वस्त्रपुण्य- वस्त्र का दान देना।
6. मनपुण्य- मन से शुभ विचार करना। जगत् के मंगल की शुभकामना करना।
7. वचनपुण्य- प्रशस्त एवं संतोष देनेवाली वाणी का प्रयोग करना।
8. कायपुण्य- रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
9. नमस्कारपुण्य- गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता य पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं- (1) कर्म का बाह्य-स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रभाव और (2) कर्त्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौन-सा आधार यथार्थ है यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध-दर्शन में कर्त्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगों को मार डालें तो भी यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है।¹⁵ धम्मपद में बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है (नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजासहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है।¹⁶ बौद्ध दर्शन कर्त्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांगसूत्र के आद्रक सम्वाद में भी मिलता है।¹⁷ जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है, विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्त्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी जैनधर्म पृ. 160 पर लिखते हैं, “शुभ-अशुभ कर्म के बन्ध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाये, परन्तु डॉक्टर तो पाप-कर्म के बन्ध का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणामय अपनी शुभ-भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।” पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं, पुण्य-बन्ध की कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्त्ता का आशय ही है (दर्शन और चिन्तन खण्ड 2. पृ. 226)।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में भी कर्मों की शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं, फिर भी उसमें कर्म का बाह्य-स्वरूप अपेक्षित नहीं है। निश्चयदृष्टि से तो मनोवृत्तियाँ ही कर्मों की शुभाशुभता की निर्णायक हैं, फिर भी व्यवहारदृष्टि से कर्म का बाह्य-स्वरूप भी शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृतांग (2/6) में आद्रककुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं कि जो मांस खाता हो- चाहे न जानते हुए भी खाता हो- तो भी उसको पाप लगता ही है। हम जानकर नहीं खाते, इसलिए दोष (पाप) नहीं लगता, ऐसा कहना असत्य नहीं तो क्या है? इससे स्पष्ट है कि जैन दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्य-स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वास्तव में सामाजिक दृष्टि या लोक-व्यवहार में तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का बाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है, क्योंकि आन्तरिक वृत्ति

को व्यक्ति स्वयं जान सकता है, दूसरा नहीं। जैन दृष्टि एकांगी नहीं है, वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है। वह व्यक्ति-सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता का निर्णायक मानती है और समाज-सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है। उसमें द्रव्य (बाह्य) और भाव (आन्तरिक) दोनों का मूल्य है। योग (बाह्यक्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि उसमें मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नहीं। मन में शुभ भाव हो तो पापाचरण सम्भव नहीं है। वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है कि मन में सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें (अशुभाचरण) करना क्या संयमी पुरुषों का लक्षण है? उसकी दृष्टि में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आत्मप्रवचना है। मानसिक हेतु पर ही जोर देने वाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग (1/1/24-29) में कहा गया है, कर्म-बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बताने वाले इस वाद को मानने वाले कितने ही लोग संसार में फँसते रहते हैं क्योंकि पाप लगने के तीन स्थान हैं - स्वयं करने से, दूसरे से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पाप-मुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए जो दोष करता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयम (वासना-निग्रह) में शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बातें मानकर पाप में पड़े हैं।

पाश्चात्य आचारदर्शन में भी सुखवादी दार्शनिक कर्म की फलश्रुति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं, जब कि मार्टिन्यू कर्मप्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन दर्शन के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओं में अपूर्ण सत्य है— एक का आधार लोकदृष्टि है तथा दूसरी का आधार परमार्थ-दृष्टि या शुद्ध-दृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है, अतः उसमें दोनों का ही मूल्य है।

कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें या कर्म के समाज पर होने वाले परिणाम को, दोनों स्थितियों में किस प्रकार का कर्म पुण्य-कर्म कहा जायेगा, इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहां कर्म-अकर्म का विचार व्यक्ति-सापेक्ष है, तो वैयक्तिक कर्म-प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते हैं तो समाज कल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में जीवनादर्श तो

शुभाशुभत्व सीमा से ऊपर उठना है। उस सन्दर्भ में वीतराग या अनासक्त जीवन दृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धन या अबन्धन का आधार है, लेकिन शुभ और अशुभ दोनों में ही राग तो होता ही है, राग के अभाव में तो कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनैतिक (शुद्ध) होगा। शुभाशुभ कर्मों में प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नहीं वरन् उसकी प्रशस्तता या अप्रशस्तता की है। प्रशस्त-राग शुभ या पुण्यबन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्तराग अशुभ या पापबन्ध का कारण है। राग की प्रशस्तता उसमें द्वेष की कमी के आधार पर निर्भर करती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं, तथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और मन्द होगी वही राग उतना प्रशस्त होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी, राग उतना ही अप्रशस्त होगा।

द्वेषविहीन राग या प्रशस्तराग ही निष्काम प्रेम कहा जाता है। उस प्रेम से परार्थ या परोपकरावृत्ति का उदय होता है जो शुभ का सृजन करती है। उसी से लोक-मंगलकारी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य-कर्म निस्सृत होते हैं जबकि द्वेषयुक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ-वृत्ति का विकास करता है। उससे शुभ अमंगलकारी पापकर्म निस्सृत होते हैं। संक्षेप में जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होता है, वह पुण्य कर्म है और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होता है, वह पाप कर्म है।

जैन आचारदर्शन पुण्य कर्मों के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक जोर देता है वे सभी समाज-सापेक्ष हैं। वस्तुतः शुभ-अशुभ के वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है। भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में पुण्य और पाप के समग्र चिन्तन का सार निम्न कथन में समाया हुआ है कि 'परोपकार पुण्य है और परपीड़न पाप है' जैन विचारकों ने पुण्य-बन्ध के दान, सेवा आदि जिन कारणों का उल्लेख किया है उनका प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक कल्याण या लोक मंगल से है। इसी प्रकार पाप के रूप में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है, वे सभी लोक अमंगलकारी तत्त्व हैं।¹³⁸ इस प्रकार जहाँ तक शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है, हमें सामाजिक सन्दर्भ में उसे देखना होगा, यद्यपि बन्धन की दृष्टि से विचार करते समय कर्ता के आशय को भुलाया नहीं जा सकता।

सामाजिक जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार

यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किए गये व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ में होता है, लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौन-सा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौन-सा

अशुभ होगा इसका निर्णय किस आधार पर किया जाये? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की है, वह यही है कि जैसा व्यवहार हम अपने लिए प्रतिकूल समझते हैं वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना यही शुभाचरण है। इसके विपरीत जो व्यवहार हमें अपने लिए प्रतिकूल लगता है वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना और जैसा व्यवहार अपने लिए अनुकूल लगता है वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना अशुभाचरण है। भारतीय ऋषियों का यही संदेश है। संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है।

जैन दर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति में संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है, वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है, वह पाप-कर्म का बन्ध नहीं करता।³⁹ सूत्रकृतांग के अनुसार भी धर्म-अर्धम (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना चाहिए।⁴⁰

शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर

जैन विचारणा में शुभ-अशुभ अथवा मंगल-अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गयी है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार तत्त्व नौ हैं जिनमें पुण्य और पाप स्वतन्त्र तत्त्व हैं।⁴¹ तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी ने जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सात तत्त्व गिनाये हैं, इनमें पुण्य और पाप को नहीं गिनाया है।⁴² लेकिन यह विवाद महत्वपूर्ण नहीं क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है वह भी उनको आस्रव तत्त्व के अन्तर्गत मान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आस्रव नहीं है वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक भी होता है। अतः आस्रव के शुभास्रव ये दो विभाग करने से काम नहीं बनता, बल्कि बन्ध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे। इस कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एवं पुण्य को स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में गिन लिया गया है।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण-मार्ग के साधक के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती हैं, क्योंकि दोनों ही बन्धन के कारण हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य-पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है, नैतिक पूर्णता नहीं आती। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है। ऋषिभाषित सूत्र में ऋषि कहता है कि पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार संतति का मूल है।⁴³ आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य-पाप दोनों को बन्धन का कारण कहकर दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार में वे कहते हैं कि अशुभ कर्म

पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं, फिर भी पुण्य कर्म एवं पाप कर्म दोनों ही संसार (बन्धन) का कारण है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लौह-बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है उसकी प्रकार जीवकृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन के कारण हैं।¹⁴ फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण-बेड़ी कहकर उसकी पाप से किंचित श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं।¹⁵ यही बात पं. जयचन्द्रजी भी कहते हैं -

पुण्य पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुई मानि।

शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, नमूं चरन हित जानि।¹⁶

जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण की दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। निर्वाण प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को त्यागना ही होता है, फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी तरह सहायक है जैसे साबुन वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है, फिर भी उसे अलग करना होता है वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म-दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है, उसे भी छोड़ना होता है। जिस प्रकार साबुन मल को दूर करता है और मैल छूटने पर स्वयं अलग हो जाता है, वैसे ही पुण्य भी पापरूप मल को अलग करने में सहायक होता है अतः व्यक्ति जब अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है, तब उसका शुभ कर्म भी शुद्ध बन जाता है। द्वेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है, अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निस्तृत होते हैं, वे शुद्ध (ईर्यापथिक) होते हैं। जैनाचारदर्शन में राग-द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्तिपूर्वक किया गया शुभ कर्म-योग जैन दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्ष्य अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर, और शुभकर्म से शुद्धकर्म (वीतराग दशा) की प्राप्ति है। आत्म का शुद्धोपयोग ही जैन धर्म का अन्तिम साध्य है।

शुद्ध कर्म (अकर्म)

शुद्ध कर्म वह जीवन-व्यवहार है, जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित मात्र कर्तव्यबुद्धि से सम्पादित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालती। अबन्धक कर्म ही शुद्धकर्म है। जैन आचरदर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करता है कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन में क्या सम्बन्ध है? क्या 'कर्मणा बध्यते जन्तः' की उक्ति सर्वांशतः सत्य है? एक तो कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नहीं हैं फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो, लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और

अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त कठिन है। गीता कहती है कि कर्म (बन्धक कर्म) क्या है और अकर्म (अबन्धक कर्म) क्या है, इसके विषय में विद्वान भी मोहित हो जाते हैं।¹⁷ कर्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान का विषय अत्यन्त गहन है। यह कर्म-समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें कहा गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समानरूप से कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर वह अशुद्ध है औ कर्म-बन्ध का कारण है, परन्तु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता।¹⁸ बन्धन की दृष्टि से कर्म का विचार उसके बाह्य-स्वरूप के आधार पर ही नहीं किया जा सकता, उसमें कर्त्ता का प्रयोजन, कर्त्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण है और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म में कर्त्ता के प्रयोजन को, जो कि एक आन्तरिक तथ्य है जान पाना सहज नहीं होता।

लेकिन कर्त्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है, यह आवश्यक है कि कर्म और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझे क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, कि - मैं तुझे कर्म के उस रहस्य को बताऊँगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जायेगा।¹⁹ नैतिक विकास के लिए बन्धक और अबन्धक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बन्धन की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का दृष्टिकोण निम्नानुसार है -

जैन दर्शन में कर्म-अकर्म विचार

कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। (1) उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और (2) उसकी शुभाशुभता के आधार पर। बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन में डालते हैं, और कुछ कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। बन्धक कर्मों को कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म कहा जाता है। जैन दर्शन में कर्म और अकर्म के यथार्थ स्वरूप का विवेचन हमें सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग में मिलता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कर्म और अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ)

कहते हैं।⁵⁰ इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में सक्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध में महावीर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि 'कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव' ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों में कहते हैं कि प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।⁵¹ ऐसा कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता नहीं, वह तो सतत् जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म-जाग्रति की दशा में क्रियाशीलता भी अकर्म हो जाती है, जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जाग्रति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुतः किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं वरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय-भावों एवं राग-द्वेष की स्थिति पर निर्भर है। जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेष एवं कषाय (जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा है) ही किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं, जबकि कषाय एवं आसक्ति से रहित होकर किया हुआ कर्म अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि - जो आस्रव या बन्धन कारक क्रियाएँ हैं, वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति का साधन बन जाती है।⁵² इस प्रकार जैन विचारणा में कर्म और अकर्म अपने बाह्य-स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं।

ईर्यापथिक कर्म और साम्परायिक कर्म⁵³

जैन दर्शन में बन्धन की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में बाँटा गया है— (1) ईर्यापथिक क्रियाएँ (अकर्म) और (2) साम्परायिक क्रियाएँ (कर्म)। ईर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतरागदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ हैं, जो बन्धनकारक नहीं हैं और साम्परायिक क्रियाएँ आसक्त व्यक्ति की क्रियाएँ हैं, जो बन्धनकारक हैं। संक्षेप में वे समस्त क्रियाएँ जो आस्रव एवं बन्ध की कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएँ जो संवर एवं निर्जरा की हेतु हैं, अकर्म हैं। जैन दृष्टि में अकर्म या ईर्यापथिक कर्म का अर्थ है - राग-द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्तव्य अथवा शरीर-निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। कर्म का अर्थ है - राग-द्वेष और मोह से युक्त कर्म, वह बन्धन में डालता है, इसलिए वह कर्म है। जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित हो कर कर्तव्य या शरीरनिर्वाह के लिए किया जाता है, वह बन्धन का कारण नहीं है, अतः अकर्म है। जिन्हें जैन दर्शन में ईर्यापथिक क्रियाएँ या अकर्म कहा गया है, उन्हें बौद्ध परम्परा अनुपचित, अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्त कर्म कहती है और जिन्हें जैन-परम्परा साम्परायिक क्रियाएँ या कर्म कहती है, उन्हें बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्त कर्म कहती हैं। इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

बन्धन के कारणों में मिथ्यात्व और कषाय की प्रमुखता का प्रश्न^६

जैन कर्मसिद्धान्त के उद्भव व विकास की चर्चा करते हुए हमने बन्धन के पाँच सामान्य कारणों का उल्लेख किया था। वैसे, जैन ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न कमो^७ के बन्धन के भिन्न-भिन्न कारणों की विस्तृत चर्चा भी उपलब्ध होती है। किन्तु सामान्य रूप से बन्धन के 5 कारण माने गए हैं - 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय और 5. योग।

इन पाँच कारणों में योग को अर्थात् मानसिक, वाचिक व शारीरिक क्रियाओं को बन्धन का कारण कहा गया है, किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि यदि पूर्व के चार का अभाव हो, तो मात्र योग से कर्मवर्गणाओं का आस्रव होकर, जो बन्ध होगा, वह ईर्यापथिक बन्ध कहलाता है। उसके सन्दर्भ में कहा गया है उसका प्रथम समय में बन्ध होता है और दूसरे समय में निर्जरा हो जाती है। ईर्यापथिक बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसे चलते समय शुभ्र आर्द्रता से रहित कपड़े पर गिरे हुए बालू के कण, जो गति की प्रक्रिया में ही आते हैं और फिर अलग भी हो जाते हैं। वस्तुतः यह बन्ध वास्तविक बन्ध नहीं है। अतः हम समझते हैं कि इन 5 कारणों में योग महत्वपूर्ण कारण नहीं है। यद्यपि अविरति, प्रमाद एवं कषाय को अलग-अलग कारण कहा गया है, किन्तु इनमें भी बहुत अन्तर नहीं है। जब हम प्रमाद को व्यापक अर्थ में लेते हैं तब कषायों का अन्तर्भाव प्रमाद में हो जाता है। दूसरे कषायों की उपस्थिति में ही प्रमाद सम्भव होता है। उनकी अनुपस्थिति में प्रमाद सामान्यतया तो रहता ही नहीं है और यदि रहे भी तो अति निर्बल होता है। इसी प्रकार अविरति के मूल में भी कषाय ही होते हैं। यदि हम कषाय को व्यापक अर्थ में लें तो अविरति और प्रमाद दोनों उसी में अन्तर्भावित हो जाते हैं। अतः बन्धन के दो ही प्रमुख कारण शेष रहते हैं- मिथ्यात्व और कषाय।

मिथ्यात्व एवं कषाय में कौन प्रमुख कारण है, यह वर्तमान युग में एक बहुवर्चित विषय है। इस सन्दर्भ में पक्ष व प्रतिपक्ष में पर्याप्त लेख लिखे गये हैं। आचार्य विद्यासागरजी एवं उनके समर्थक विद्वत् वर्ग का कहना है कि मिथ्यात्व अकिञ्चितकर है और कषाय ही बन्धन का प्रमुख कारण है क्योंकि कषाय की उपस्थिति के कारण ही मिथ्यात्व होता है। कानजीस्वामी समर्थक दूसरे वर्ग का कहना है कि मिथ्यात्व ही बन्धन का प्रमुख कारण है। वस्तुतः यह विवाद अपने-अपने एकांगी दृष्टिकोणों के कारण है। कषाय और मिथ्यात्व ये दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। कषाय के अभाव में मिथ्यात्व की सत्ता नहीं रहती और न मिथ्यात्व के अभाव में कषाय ही रहते हैं। मिथ्यात्व तभी समाप्त होता है, जब अनन्तानुबन्धी कषायें समाप्त होती हैं और कषायें भी तभी समाप्त होती हैं, जब

मिथ्यात्व का प्रहाण होता है। वे ताप और प्रकाश के समान सहजीवी हैं। इनमें एक के अभाव में दूसरे की सत्ता क्षीण होने लगती है। वैसे मिथ्यात्व, अज्ञान एवं मोह का पर्यायवाची हैं आवेगों अर्थात् कषायों की उपस्थिति में ही मोह या मिथ्यात्व सम्भव होता है। वास्तविकता यह है कि मोह (मिथ्यात्व) से कषाय उत्पन्न होते हैं और कषायों के कारण ही मोह (मिथ्यात्व) होता है। अतः कषाय और मिथ्यात्व अन्योन्याश्रित हैं और बीज एवं वृक्ष की भाँति इनमें से किसी की पूर्व कोटि निर्धारित नहीं की जा सकती है।

यदि हम इसी प्रश्न पर बौद्ध दृष्टि से विचार करें तो उसमें सामान्यतया लोभ (राग), द्वेष एवं मोह को बन्धन का कारण कहा गया है। बौद्ध परम्परा में भी इनको परस्पर सापेक्ष ही माना गया है। मोह को बौद्ध परम्परा में अविद्या भी कहा गया है। बौद्ध विचारणा यह मानती है कि अविद्या (मोह) के कारण तृष्णा (राग) होती है और तृष्णा के कारण मोह होता है। आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं- लोभ एवं द्वेष का हेतु मोह है, किन्तु पर्याय से लोभी व मोह भी द्वेष के हेतु हैं। बौद्ध दर्शन में भी जैन दर्शन के समान ही अविद्या और तृष्णा को अन्योन्याश्रित माना गया है और कहा गया है कि इनमें से किसी की भी पूर्व कोटि निर्धारित करना सम्भव नहीं है। सांख्य एवं योग दर्शन में क्लेश या बन्धन के 5 कारण हैं - अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष, अभिनिवेश। इनमें भी अविद्या प्रमुख है। शेष चारों उसी पर आधारित हैं। न्याय दर्शन भी जैन और बौद्धों के समान ही राग-द्वेष एवं मोह को बन्धन का कारण मानता है। इस प्रकार लगभग सभी दर्शन प्रकाशन्तर से राग-द्वेष एवं मोह (मिथ्यात्व) को बन्धन का कारण मानते हैं।

बन्धन के चार प्रकारों से बन्धनों के कारण का सम्बन्ध⁶⁵

जैन कर्मसिद्धान्त में बन्धन के चार प्रारूप कहे गए हैं : 1. प्रकृति बन्ध, 2. प्रदेश बन्ध, 3. स्थिति बन्ध, एवं 4. अनुभाग बन्ध।

1. **प्रकृतिबन्ध** - बन्धन के स्वभाव का निर्धारण प्रकृति बन्ध करता है। यह, यह निश्चय करता है कि कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि किस शक्ति को आवृत्त करेंगे।
2. **प्रदेश बन्ध** - यह कर्मपरमाणुओं की आत्मा के साथ संयोजित होने वाली मात्रा का निर्धारण करता है। अतः यह मात्रात्मक होता है।
3. **स्थितिबन्ध** - कर्मपरमाणु कितने समय तक आत्मा से संयोजित रहेंगे और कब निर्जित होंगे, इस काल-मर्यादा का निश्चय स्थिति-बन्ध करता है। अतः यह बन्ध की समय-मर्यादा का सूचक है।

4. **अनुभागबन्ध** - कर्मों के बन्धन और विपाक की तीव्रता एवं मन्दता का निश्चय करना, यह अनुभाग बन्ध का कार्य है। दूसरे शब्दों में यह बन्धन की तीव्रता या गहनता का सूचक है।

उपरोक्त चार प्रकार के बन्धनों में प्रकृति बन्ध एवं प्रदेश बन्ध का सम्बन्ध मुख्यतया योग अर्थात् कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं से है, जबकि बन्धन की तीव्रता (अनुभाग) एवं समयावधि (स्थिति) का निश्चय कर्म के पीछे रही हुई कषाय-वृत्ति और मिथ्यात्व पर आधारित होता है। संक्षेप में योग का सम्बन्ध प्रदेश एवं प्रकृति बन्ध से है, जबकि कषाय का सम्बन्ध स्थिति एवं अनुभाग बन्ध से है।

आठ प्रकार के कर्म और उनके बन्धन के कारण⁶⁶

जिस रूप में कर्मपरमाणु आत्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रकटन का अवरोध करते हैं और आत्मा का शरीर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं - उनके अनुसार उनके विभाग किये जाते हैं। जैनदर्शन के अनुसार कर्म आठ प्रकार के हैं -

1. ज्ञानावरणीय
2. दर्शनावरणीय
3. वेदनीय
4. मोहनीय
5. आयुष्य
6. नाम
7. गोत्र और
8. अन्तराय।

1. ज्ञानावरणीय-कर्म

जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढँक देते हैं, उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ आत्मा की ज्ञानशक्ति को ढँक देती हैं और ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कही जाती हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धन के कारण - जिन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणु आत्मा से संयोजित होकर ज्ञान-शक्ति को कुठित करते हैं, वे छः हैं -

1. **प्रदोष** - ज्ञानी का अवर्णवाद (निन्दा) करना एवं उसके अवगुण निकालना।
2. **निह्व** - ज्ञानी का उपकार स्वीकार न करना अथवा किसी विषय को जानते हुए भी उसका अपलाप करना।
3. **अन्तराय** - ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनना, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधन पुस्तकादि को नष्ट करना।
4. **मात्सर्य** - विद्वानों के प्रति द्वेष-बुद्धि रखना, ज्ञान के साधन पुस्तक आदि में अरुचि रखना।
5. **असादना** - ज्ञान एवं ज्ञानी पुरुषों के कथनों को स्वीकार नहीं करना, उनका समुचित विनय नहीं करना।
6. **उपघात** - विद्वानों के साथ मिथ्याग्रह युक्त विसंवाद करना अथवा स्वार्थवश सत्य को असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना।

उपर्युक्त छः प्रकार का अनैतिक आचरण व्यक्ति की ज्ञानशक्ति के कुंठित होने का कारण है।

ज्ञानावरणीय कर्म का विपाक - विपाक की दृष्टि से ज्ञानावरणीय कर्म के कारण पाँच रूपों में आत्मा की ज्ञान-शक्ति का आवरण होता है -

- (1) **मतिज्ञानावरण** - ऐन्द्रिक एवं मानसिक ज्ञान-क्षमता
- (2) **श्रुतज्ञानावरण** - बौद्धिक अथवा आगमज्ञान की अनुपलब्धि,
- (3) **अवधि ज्ञानावरण** - अतीन्द्रिय ज्ञान-क्षमता का अभाव
- (4) **मनःपर्याय ज्ञानावरण** - दूसरे की मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करने लेने की शक्ति का अभाव
- (5) **केवलज्ञानावरण** - पूर्णज्ञान प्राप्त करने की क्षमता का अभाव।

कहीं-कहीं विपाक की दृष्टि से इसके 10 भेद भी बताये गये हैं - 1. सुनने की शक्ति का अभाव, 2. सुनने से प्राप्त होने वाले ज्ञान की अनुपलब्धि, 3. दृष्टि शक्ति का अभाव, 4. दृश्यज्ञान की अनुपलब्धि, 5. गंधग्रहण करने की शक्ति का अभाव, 6. गन्ध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, 7. स्वाद ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, 8. स्वाद सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, 9. स्पर्श-क्षमता का अभाव और 10. स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि।

2. दर्शनावरणी कर्म

जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधक होता है, उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ आत्मा की दर्शन-शक्ति में बाधक होती हैं, वे दर्शनावरणीय कर्म कहलाती हैं। ज्ञान से पहले होने वाला वस्तु-तत्त्व का निर्विशेष (निर्विकल्प) बोध, जिसमें सत्ता के अतिरिक्त किसी विशेष गुण धर्म की प्राप्ति नहीं होती, दर्शन कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन-गुण को आवृत करता है।

दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध के कारण-ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही छः प्रकार के अशुभ आचरण के द्वारा दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है - (1) सम्यक् दृष्टि की निन्दा (छिद्रान्वेषण) करना अथवा उसके प्रति अकृतज्ञ होना, (2) मिथ्यात्व या असत् मान्यताओं का प्रतिपादन करना, (3) शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक बनना, (सम्यग्दृष्टि) का समुचित विनय एवं सम्मान नहीं करना, (5) सम्यग्दृष्टि पर द्वेष करना (6) सम्यग्दृष्टि के साथ मिथ्याग्रह सहित विवाद करना।

दर्शनावरणीय कर्म का विपाक - उपर्युक्त अशुभ आचरण के कारण आत्मा का दर्शन गुण नौ प्रकार से कुंठित हो जाता है -

- (1) **चक्षुदर्शनावरण** - नेत्रशक्ति का अवरुद्ध हो जाना।
- (2) **अचक्षुदर्शनावरण** - नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की सामान्य अनुभव शक्ति का अवरुद्ध हो जाना।

- (3) अवधिदर्शनावरण - सीमित अतीन्द्रिय दर्शन की की उपलब्धि में बाधा उपस्थित होना।
- (4) केवल दर्शनावरण - परिपूर्ण दर्शन की उपलब्धि का नहीं होना।
- (5) निद्रा - सामान्य निद्रा।
- (6) निद्रानिद्रा - गहरी निद्रा।
- (7) प्रचला - बैठे-बैठे आ जाने वाली निद्रा।
- (8) प्रचला-प्रचला - चलते-फिरते भी आ जाने वाली निद्रा।
- (9) स्थानगुच्छि - जिस निद्रा में प्राणी बड़े-बड़े बल-साध्य कार्य कर डालता है।

अन्तिम दो अवस्थाएँ आधुनिक मनोविज्ञान के द्विविध व्यक्तित्व के समान मानी जा सकती हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकार की निद्राओं के कारण व्यक्ति की सहज अनुभूति की क्षमता में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

3. वेदनीय कर्म

जिसके कारण सांसारिक सुख-दुःख की संवेदना होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं - 1. सातावेदनीय और 2. असातावेदनीय। सुख रूप संवेदना का कारण सातावेदनीय और दुःख रूप संवेदना का कारण असातावेदनीय कर्म कहलाता है।

सातावेदनीय कर्म के कारण - दस प्रकार का शुभाचरण करने वाला व्यक्ति सुखद-संवेदना रूप सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है - (1) पृथ्वी, पानी आदि के जीवों पर अनुकम्पा करना। (2) वनस्पति, वृक्ष, लतादि पर अनुकम्पा करना। (3) द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों पर दया करना। (4) पंचेन्द्रिय पशुओं एवं मनुष्यों पर अनुकम्पा करना। (5) किसी को भी किसी प्रकार से दुःख न देना। (6) किसी भी प्राणी को चिन्ता एवं भय उत्पन्न हो ऐसा कार्य न करना। (7) किसी भी प्राणी को शोकाकुल नहीं बनना। (8) किसी भी प्राणी को रुदन नहीं कराना। (9) किसी भी प्राणी को नहीं मारना और (10) किसी भी प्राणी को प्रताड़ित नहीं करना। कर्मग्रन्थों में सातावेदनीय कर्म के बन्धन का कारण गुरुभक्ति, क्षमा, करुणा, व्रतपालन, योग-साधन, कषायविजय, दान और दृढश्रद्धा माना गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार का भी यही दृष्टिकोण है।

सातावेदनीय कर्म का विपाक - उपर्युक्त शुभाचरण के फलस्वरूप प्राणी निम्न प्रकार की सुखद संवेदना प्राप्त करता है - (1) मनोहर, कर्णप्रिय, सुखद स्वर श्रवण करने को मिलते हैं, (2) सुस्वादु भोजन-पानादि उपलब्ध होती है, (3) वांछित सुखों की प्राप्ति होती है, (4) शुभ वचन, प्रशंसादि सुनने का अवसर मिलता है, (5) शारीरिक सुख मिलता है।

असातावेदनीय कर्म के कारण - जिन अशुभ आचरणों के कारण प्राणी को दुःखद संवेदना प्राप्त होती है। वे 12 प्रकार के हैं - (1) किसी भी प्राणी को दुःख देना, (2) चिन्तित बनाना, (3) शोकाकुल बनाना, (4) रुलाना, (5) मारना और (6) प्रताड़ित करना, इन छः क्रियाओं की मन्दता और तीव्रता के आधार पर इनके बारह प्रकार हो जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार - (1) दुःख (2) शोक (3) ताप (4) आक्रन्दन (5) वध और (6) परिदेवन ये छः असातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं, जो 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से 12 प्रकार के हो जाते हैं। स्व एवं पर की अपेक्षा पर आधारित तत्त्वार्थसूत्र का यह दृष्टिकोण अधिक संगत है। कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय के बन्ध के कारणों के विपरीत गुरु का अविनय, अक्षमा, क्रूरता, अविरति, योगाभ्यास नहीं करना, कषाययुक्त होना तथा दान एवं श्रद्धा का अभाव असातावेदनीय कर्म के कारण माने गये हैं। इन क्रियाओं के विपाक के रूप में आठ प्रकार की दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं - (1) कर्ण-कटु, कर्कश स्वर सुनने को प्राप्त होते हैं (2) अमनोज्ञ एवं सौन्दर्यविहीन रूप देखने को प्राप्त होता है, (3) अमनोज्ञ गन्धों की उपलब्धि होती है, (4) स्वादविहीन भोजनादि मिलता है, (5) अमनोज्ञ, कठोर एवं दुःखद संवेदना उत्पन्न करने वाले स्पर्श की प्राप्ति होती है, (6) अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियों का होना, (7) निन्दा-अपमानजनक वचन सुनने को मिलते हैं और (8) शरीर में विविध रोगों की उत्पत्ति से शरीर को दुःखद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं।

4. मोहनीय कर्म

जैसे मदिरा आदि नशीली वस्तु के सेवन से विवेक-शक्ति कुंठित हो जाती है उसी प्रकार जिन कर्म-परमाणुओं से आत्मा की विवेक-शक्ति कुंठित होती है और अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति होती है, उन्हें मोहनीय (विमोहित करने वाले) कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं - दर्शनमोह और चारित्रमोह।

मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण - सामान्यतया मोहनीय कर्म का बन्ध छः कारणों से होता है- (1) क्रोध, (2) अहंकार, (3) कपट, (4) लोभ, (5) अशुभाचरण और (6) विवेकाभाव (विमूढ़ता)। प्रथम पाँच से चारित्रमोह का और अन्तिम से दर्शनमोह का बन्ध होता है। कर्म ग्रन्थ में दर्शनमोह के कारण हैं - उन्मार्ग देशना, सन्मार्ग का अपलाप, धार्मिक सम्पत्ति का अपहरण और तीर्थकर, मुनि, चैत्य (जिन-प्रतिमाएँ) और धर्म-संघ के प्रतिकूल आचरण। चारित्रमोह कर्म के बन्धन के कारणों में कषाय, हास्य आदि तथा विषयों के अधीन होना प्रमुख है। तत्त्वार्थ-सूत्र में सर्वज्ञ, श्रुत, संघ, धर्म और देव के अवर्णवाद (निन्दा) को दर्शनमोह का तथा कषायजनित आत्म-परिणम को चारित्रमोह माना गया है। समवायांगसूत्र में तीव्रतम मोहकर्म के बन्धन के तीस

कारण बताये गये हैं।- (1) जो किसी त्रस प्राणी को पानी में डुबाकर मारता है। (2) जो किसी त्रस प्राणी को तीव्र अशुभ अध्यवसाय से मस्तक को गीला चमड़ा बांधकर मारता है। (3) जो किसी त्रस प्राणी को मुँह बाँध कर मारता है। (4) जो किसी त्रस प्राणी को अग्नि के धुएँ से मारता है। (5) जो किसी त्रस प्राणी के मस्तक का छेदन करके मारता है। (6) जो किसी त्रस प्राणी को छल से मारकर हँसता है। (7) जो मायाचार करके तथा असत्य बोलकर अपना अनाचार छिपाता है। (8) जो अपने दुराचार को छिपाकर दूसरे पर कलंक लगाता है। (9) जो कलह बढ़ाने के लिए जानता हुआ मिश्र भाषा बोलता है। (10) जो पति-पत्नी में मतभेद पैदा करता है तथा उन्हें मार्मिक वचनों से लज्जित कर देता है। (11) जो स्त्री में आसक्त व्यक्ति अपने-अपको कुंवारा कहता है। (12) जो अत्यन्त कामुक व्यक्ति अपने आप को ब्रह्मचारी कहता है। (13) जो चापलूसी करके अपने स्वामी को ठगता है। (14) जो जिनकी कृपा से समृद्ध बना है, ईर्ष्या से उनके ही कार्यों में विघ्न डालता है। (15) जो प्रमुख पुरुष की हत्या करता है। (16) जो संयमी को पथभ्रष्ट करता है। (17) जो अपने उपकारी की हत्या करता है। (18) जो प्रसिद्ध पुरुष की हत्या करता है। (19) जो महान् पुरुषों की निन्दा करता है। (20) जो न्यायमार्ग की निन्दा करता है। (21) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु की निन्दा करता है। (22) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का अविनय करता है। (23) जो अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आप को बहुश्रुत कहता है। (24) जो तपस्वी न होते हुए भी अपने-आपको तपस्वी कहता है। (25) जो अस्वस्थ आचार्य आदि की सेवा नहीं करता है। (26) जो आचार्य आदि कुशास्त्र का प्ररूपण करते हैं। (27) जो आचार्य आदि अपनी प्रशंसा के लिए मंत्रादि का प्रयोग करते हैं। (28) जो इहलोक और परलोक में भोगोपभोग पाने की अभिलाषा करता है। (29) जो देवताओं की निन्दा करता है या करवाता है। (30) जो असर्वज्ञ होते हुए भी अपने आपको सर्वज्ञ कहता है।

(अ) दर्शन-मोह - जैन-दर्शन में 'दर्शन' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है- (1) प्रत्यक्षीकरण, (2) दृष्टिकोण और (3) श्रद्धा। प्रथम अर्थ का सम्बन्ध दर्शनावरणीय कर्म से है जबकि दूसरे और तीसरे अर्थ का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है। दर्शन-मोह के कारण प्राणी में सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव होता है और वह मिथ्या धारणाओं एवं विचारों का शिकार रहता है, उसकी विवेकबुद्धि असंतुलित होती है। दर्शनमोह तीन प्रकार का है- (1) **मिथ्यात्व मोह**- जिसके कारण प्राणी असत्य को सत्य तथा सत्य को असत्य समझता है। शुभ को अशुभ और अशुभ को शुभ मानना मिथ्यात्व मोह है। (2) **सम्यक-मिथ्यात्व मोह** - सत्य एवं असत्य तथा शुभ एवं अशुभ के सम्बन्ध में निश्चयात्मक और (3) **सम्यकत्व मोह** - क्षायिक सम्यकत्व की उपलब्धि में बाधक सम्यकत्व मोह है अर्थात् दृष्टिकोण की आंशिक विशुद्धता।

(ब) चारित्र-मोह - चारित्र-मोह के कारण प्राणी का आचरण अशुभ होता है। चारित्र-मोहजनित अशुभाचरण 25 प्रकार का है- (1) प्रबलतम क्रोध, (2) प्रबलतम मान, (3) प्रबलतम माया (कपट), (4) प्रबलतम लोभ, (5) अति क्रोध, (6) अति मान, (7) अति माया (कपट), (8) अति लोभ, (9) साधारण क्रोध, (10) साधारण मान, (11) साधारण माया (कपट) (12) साधारण लोभ, (13) अल्प क्रोध, (14) अल्प मान, (15) अल्प माया (कपट) और (16) अल्प लोभ- ये सोलह कषाय हैं। उपर्युक्त कषायों को उत्तेजित करने वाली नौ मनोवृत्तियाँ (उपकषाय) हैं- (1) हास्य, (2) रति (स्नेह, राग), (3) अरति (द्वेष), (4) शोक, (5) भय, (6) जुगुप्सा (घृणा), (7) स्त्रीवेद (पुरुष-सहवास की इच्छा), (8) पुरुषवेद (स्त्री-सहवास की इच्छा), (9) नपुंसकवेद (स्त्री-पुरुष दोनों के सहवास की इच्छा)।

मोहनीय कर्म विवेकाभाव है और उसी विवेकाभाव के कारण अशुभ की ओर प्रवृत्ति की रुचि होती है। अन्य परम्पराओं में जो स्थान अविद्या का है, वही स्थान जैन परम्परा में मोहनीय कर्म का है। जिस प्रकार अन्य परम्पराओं में बन्धन का मूल कारण अविद्या है उसी प्रकार जैन परम्परा में बन्धन कारण मोहनीय कर्म। मोहनीय कर्म का क्षयोपशम ही आध्यात्मिक विकास का आधार है।

5. आयुष्य कर्म

जिस प्रकार बेड़ी स्वाधीनता में बाधक है उसी प्रकार जो कर्म परमाणु आत्मा को विभिन्न शरीरों में नियत अवधि तक कैद रखते हैं, उन्हें आयुष्य कर्म कहते हैं। यह कर्म निश्चय करता है कि आत्मा को किस शरीर में कितनी संभवावधि तक रहना है। आयुष्य कर्म चार प्रकार है - (1) नरक आयु, (2) तिर्यच आयु (वानस्पतिक एवं पशु जीवन) (3) मनुष्य आयु और (4) देव आयु।

आयुष्य-कर्म के बन्ध के कारण - सभी प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध का कारण शील और व्रत से रहित होना माना गया है। फिर भी किस प्रकार के आचरण से किस प्रकार का जीवन मिलता है उसका निर्देश भी जैन आगमों में उपलब्ध है। स्थानांगसूत्र में प्रत्येक प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध के चार-चार कारण माने गये हैं।

(अ) नारकीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण - (1) महारम्भ (भयानक हिंसक कर्म), (2) महापरिग्रह (अत्यधिक संचय वृत्ति), (3) मनुष्य, पशु आदि का वध करना (4) मांसाहार और शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन।

(ब) पाशविक जीवन की प्राप्ति के चार कारण - (1) कपट करना (2) रहस्यपूर्ण कपट करना (3) असत्य भाषण (4) कम ज्यादा तोल-माप करना। कर्म-ग्रन्थ में प्रतिष्ठा कम होने के भय से पाप का प्रकट न करना भी तिर्यच आयु के बन्ध का कारण माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र में माया (कपट) को ही पशुयोनि का कारण बताया है।

(स) मानव जीवन की प्राप्ति के चार कारण - (1) सरलता, (2) विनयशीलता, (3) करुणा और (4) अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना। तत्त्वार्थसूत्र में- (1) अल्प आरम्भ, (2) अल्प परिग्रह, (3) स्वभाव की सरलता और (4) स्वभाव की मृदुता को मनुष्य आयु के बन्ध का कारण कहा गया है।

(द) दैवीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण - (1) सराग (सकाम) संयम का पालन, (2) संयम का आंशिक पालन, (3) सकाम-तपस्या (बाल-तप) (4) स्वाभाविक रूप में कर्मों के निर्जरित होने से। तत्त्वार्थसूत्र में भी यही कारण माने गये हैं। कर्मग्रन्थ के अनुसार अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यच, देशविरत श्रावक, सरागी-साधु, बाल-तपस्वी और इच्छा नहीं होते हुए भी परिस्थिति वश भूख-प्यास आदि को सहन करते हुए अकाम-निर्जरा करने वाले व्यक्ति देवायु का बन्ध करते हैं।

आकस्मिकमरण - प्राणी अपने जीवनकाल में प्रत्येक क्षण कर्म को भोग रहा है और प्रत्येक क्षण में आयु कर्म के परमाणु भोग के पश्चात् पृथक् होते रहते हैं। जिस समय वर्तमान आयुकर्म के पूर्वबद्ध समस्त परमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते हैं उस समय प्राणी को वर्तमान शरीर छोड़ना पड़ता है। वर्तमान शरीर छोड़ने के पूर्व ही नवीन शरीर के आयुकर्म का बन्ध हो जाता है, लेकिन यदि आयुष्य का भोग इस प्रकार नियत है तो आकस्मिकमरण की व्याख्या क्या? इसके प्रत्युत्तर में जैन-विचारकों ने आयुकर्म का भेद दो प्रकार का माना - (1) क्रमिक, (2) आकस्मिक। क्रमिक भोग में स्वाभाविक रूप से आयु का भोग धीरे-धीरे होता रहता है जबकि आकस्मिक भोग में किसी कारण के उपस्थित हो जाने पर आयु एक साथ ही भोग ली जाती है। इसे ही आकस्मिकमरण या अकाल मृत्यु कहते हैं। स्थानांगसूत्र में इसके सात कारण बताये गये हैं - (1) हर्ष-शोक का अतिरेक, (2) विष अथवा शस्त्र का प्रयोग, (3) आहार की अत्यधिकता अथवा सर्वथा अभाव (4) व्याधिजनित तीव्र वेदना, (5) आघात (3) सर्पदंशादि और (7) श्वासनिरोध।

6. नाम कर्म

जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रंगों से अनेक प्रकार के चित्र बनाता है उसी प्रकार नाम-कर्म विभिन्न कर्म परमाणुओं से जगत् के प्राणियों के शरीर की रचना करता है। मनोविज्ञान की भाषा में नाम-कर्म को व्यक्तित्व का निर्धारक तत्त्व कह सकते हैं। जैन-दर्शन में व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्वों को नाम-कर्म की प्रकृति के रूप में जाना जाता है, जिनकी संख्या 103 मानी गई है, लेकिन विस्तार भय से उनका वर्णन सम्भव नहीं है। उपर्युक्त सारे वर्गीकरण का संक्षिप्त रूप है - 1. शुभनामकर्म (अच्छा व्यक्तित्व) और 2. अशुभनामकर्म (बुरा व्यक्तित्व)। प्राणी जगत् में, जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य दिखाई देता है, उसका आधार नामकर्म है।

शुभनाम कर्म के बन्ध के कारण

जैनागमों में अच्छे व्यक्तित्व की उपलब्धि के चार कारण माने गये हैं -

1. शरीर की सरलता, 2. वाणी की सरलता, 3. मन या विचारों की सरलता, 4. अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना या सामंजस्यपूर्ण जीवन।

शुभनामकर्म का विपाक

उपर्युक्त चार प्रकार के शुभाचरण से प्राप्त शुभ व्यक्तित्व का विपाक 14 प्रकार का माना गया है - (1) अधिकारपूर्ण प्रभावक वाणी (इष्ट-शब्द) (2) सुन्दर सुगठित शरीर (इष्ट-रूप) (3) शरीर से निःसृत होने वाले मलों में भी सुगन्धि (इष्ट-गन्ध) (4) जैवीय-रसों की समुचितता (इष्ट-रस) (5) त्वचा का सुकोमल होना (इष्ट-स्पर्श) (6) अचपल योग्य गति (इष्ट-गति) (7) अंगों का समुचित स्थान पर होना (इष्ट-स्थिति) (8) लावण्य (9) यशःकीर्ति का प्रसार (इष्ट-यशः कीर्ति) (10) योग्य शारीरिक शक्ति (इष्ट-उत्थान, कर्म, बलवीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम) (11) लोगों को रुचिकर लगे ऐसा स्वर (12) कान्त स्वर (13) प्रिय स्वर और (14) मनोज्ञ स्वर।

अशुभनाम कर्म के कारण - निम्न चार प्रकार के अशुभाचरण से व्यक्ति (प्राणी) को अशुभ व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है - (1) शरीर की वक्रता, (2) वचन की वक्रता (3) मन की वक्रता और (4) अहंकार एवं मात्सर्य वृत्ति या असामंजस्यपूर्ण जीवन।

अशुभ नाम कर्म का विपाक - 1. अप्रभावक वाणी (अनिष्ट-शब्द), 2. असुन्दर शरीर (अनिष्ट-स्पर्श), 3. शारीरिक मलों का दुर्गन्धयुक्त होना (अनिष्ट गन्ध), 4. जैवीयरसों की असमुचितता (अनिष्टरस), 5. अप्रिय स्पर्श, 6. अनिष्ट गति, 7. अंगों का समुचित स्थान पर न होना (अनिष्ट स्थिति), 8. सौन्दर्य का अभाव, 9. अपयश 10. पुरुषार्थ करने की शक्ति का अभाव, 11. हीन स्वर, 12. दीन स्वर, 13. अप्रिय स्वर और 14. अकान्त स्वर।

7. गोत्र कर्म

जिसके कारण व्यक्ति प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित कुलों में जन्म लेता है, वह गोत्र कर्म है। यह दो प्रकार का माना गया है- 1. उच्च गोत्र (प्रतिष्ठित कुल) और 2. नीच गोत्र (अप्रतिष्ठित कुल)। किस प्रकार के आचरण के कारण प्राणी का अप्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है और किस प्रकार के आचरण से प्राणी का प्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है, इस पर जैनाचार-दर्शन में विचार किया गया है। अहंकार वृत्ति ही इसका प्रमुख कारण मानी गई है।

उच्च-गोत्र एवं नीच-गोत्र के कर्म बन्ध के कारण - निम्न आठ बातों का अहंकार न करने वाला व्यक्ति भविष्य में प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है - 1. जाति, 2. कुल, 3. बल (शरीरिक शक्ति), 4. रूप (सौन्दर्य), 5. तपस्या (साधना), 6. ज्ञान (श्रुत), 7. लाभ (उपलब्धियाँ) और 8. स्वामित्व (अधिकार)। इनके विपरीत जो व्यक्ति उपर्युक्त आठ प्रकार का अहंकार करता है, वह नीचे कुल में जन्म लेता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार भी अहंकार रहित गुणग्राही दृष्टि वाला, अध्ययन-अध्यापन में रुचि रखने वाला तथा भक्त उच्च-गोत्र को प्राप्त अध्ययन करता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला नीच-गोत्र को प्राप्त करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के सद्गुणों का आच्छादन और असद्गुणों का प्रकाशन ये नीच गोत्र के बन्ध के हेतु हैं। इसके विपरीत पर-प्रशंसा, आत्म-निन्दा, सद्गुणों का प्रकाशन, असद्गुणों का गोपन और नम्रवृत्ति एवं निरभिमानता ये उच्च-गोत्र के बन्ध के हेतु हैं।

गोत्र-कर्म का विपाक - विपाक (फल) दृष्टि से विचार करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अहंकार नहीं करता, वह प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेकर निम्नोक्त आठ क्षमताओं से युक्त होता है- 1. निष्कलंक मातृ-पक्ष (जाति), 2. प्रतिष्ठित पितृ-पक्ष (कुल), 3. सबल शरीर 4. सौन्दर्ययुक्त शरीर, 5. उच्च साधना एवं तप-शक्ति, 6. तीव्र बुद्धि एवं विपुलज्ञान राशि पर अधिकार, 7. लाभ एवं विविध उपलब्धियाँ और 8. अधिकार, स्वामित्व एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति। लेकिन अहंकारी व्यक्तित्व उपर्युक्त समग्र क्षमताओं से अथवा इनमें से किन्हीं विशेष क्षमताओं से वंचित रहता है।

8. अन्तराय कर्म

अभीष्ट की उपलब्धि में बाधा पहुँचाने वाले कारण को अन्तराय कर्म कहते हैं। यह पाँच प्रकार के हैं -

1. **दानान्तराय** - दान की इच्छा होने पर भी दान नहीं किया जा सके,
2. **लाभान्तराय** - कोई प्राप्ति होने वाली हो, लेकिन किसी कारण से उसमें बाधा आ जाना,
3. **भोगान्तराय** - भोग में बाधा उपस्थित होना, जैसे व्यक्ति सम्पन्न हो, भोजनगृह में अच्छा सुस्वादु भोजन भी हो लेकिन अस्वस्थता के कारण उसे मात्र खिचड़ी ही खानी पड़े,
4. **उपभोगान्तराय** - उपभोग की सामग्री के होने पर भी उपभोग करने में असमर्थता,
5. **वीर्यन्तराय** - शक्ति के होने पर भी पुरुषार्थ में उसका उपयोग नहीं किया जा सकना। (तत्त्वार्थसूत्र, 8, 14)

जैन नीति-दर्शन के अनुसार जो व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के दान, लाभ, भोग, उपभोग-शक्ति के उपयोग में बाधक बनता है, वह भी अपनी उपलब्ध सामग्री एवं शक्तियों का समुचित उपयोग नहीं कर पाता है। जैसे, कोई व्यक्ति किसी दान देने वाले व्यक्ति को दान प्राप्त करने वाली संस्था के बारे में गलत सूचना देकर या अन्य प्रकार से दान देने से रोक देता है अथवा किसी भोजन करते हुए व्यक्ति को भोजन पर से उठा देता है तो उसकी उपलब्धियों में भी बाधा उपस्थित होती है अथवा भोग-सामग्री के होने पर भी वह उसके भोग से वंचित रहता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार जिन-पूजा आदि धर्म-कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाला और हिंसा में तत्पर व्यक्ति भी अन्तराय कर्म का संचय करता है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार भी विघ्न या बाधा डालना ही अन्तराय-कर्म के बन्ध का कारण है।

घाती और अघाती कर्म

कर्मों के इस वर्गीकरण में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय-इन चार कर्मों को 'घाती' और नाम, गोत्र आयुष्य और वेदनीय- इन चार कर्मों को 'अघाती' माना जाता है। घाती कर्म आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति नामक गुणों का आवरण करते हैं। ये कर्म आत्मा की स्वभावदशा को विकृत करते हैं, अतः जीवन-मुक्ति में बाधक होते हैं। इन घाती कर्मों में अविद्या रूप मोहनीय कर्म ही आत्मस्वरूप की आवरण-क्षमता, तीव्रता और स्थितिकाल की दृष्टि-से-प्रमुख हैं। वस्तुतः मोहकर्म ही एक ऐसा कर्म-संस्कार है, जिसके कारण कर्म-बन्ध का प्रवाह सतत् बना रहता है। मोहनीय कर्म उस बीज के समान है, जिसमें अंकुरण की शक्ति है। जिस प्रकार उगने योग्य बीज हवा, पानी आदि के सहयोग से अपनी परम्परा को बढ़ाता रहता है उसी प्रकार मोहनीय रूपी कर्म-बीज ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय रूप हवा, पानी आदि के सहयोग से कर्म-परम्परा को सतत् बनाये रखता है। मोहनीय कर्म ही जन्म-मरण, संसार या बन्धन का मूल है, शेष घाती कर्म उसके सहयोगी मात्र हैं। इसे कर्मों का सेनापति कहा गया है। जिस प्रकार सेनापति के पराजित होने पर सारी सेना हतप्रभ हो शीघ्र ही पराजित हो जाती है उसी प्रकार मोह कर्म पर विजय प्राप्त कर लेने पर शेष सारे कर्मों को आसानी से पराजित कर आत्मशुद्धता की उपलब्धि की जा सकती है। जैसे ही मोह नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण का पर्दा हट जाता है, अन्तराय या बाधकता समाप्त हो जाती है और व्यक्ति (आत्मा) जीवन-मुक्त बन जाता है।

अघाती कर्म वे हैं जो आत्मा के स्वभाव दशा की उपलब्धि और विकास में बाधक नहीं होते। अघाती कर्म भुने हुए बीज के समान हैं, जिनमें नवीन कर्मों

की उत्पादन-क्षमता नहीं होती है। वे कर्म-परम्परा का प्रवाह बनाये रखने में असमर्थ होते हैं और समय की परिपक्वता के साथ ही अपना फल देकर सहज ही अलग हो जाते हैं।

सर्वधाती और देशधाती कर्म-प्रकृतियाँ

आत्मा के स्व-लक्षणों का आवरण करने वाले धाती कर्मों की 45 कर्म-प्रकृतियाँ भी दो प्रकार की है - 1. सर्वधाती और 2. सर्वधाती कर्म प्रकृति किसी आत्मगुण को पूर्णतया आवरित करती है और देशधाती कर्म-प्रकृति उसके एक अंश को आवरित करती है।

आत्मा के स्वाभाविक सत्यानुभूति नामक गुण को मिथ्यात्व (अशुद्ध दृष्टिकोण) सर्वरूपेण आच्छादित कर देता है। अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) और अनन्तदर्शन (केवलदर्शन) नामक आत्मा के गुणों का आवरण भी पूर्ण रूप से होता है। पाँचों प्रकार की निद्राएँ भी आत्मा की सहज अनुभूति की क्षमता को पूर्णतया आवरित करती हैं। इसी प्रकार चारों कषायों के पहले तीनों प्रकार, जो कि संख्या में 12 होते हैं, भी पूर्णतया बाधक बनते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का, प्रत्याख्यानी कषाय देशव्रती चारित्र (ग्रहस्थ धर्म) का और अप्रत्याख्यानी कषाय सर्वव्रती चारित्र (मुनिधर्म) का-पूर्णतया बनता है। अतः ये 20 प्रकार की कर्मप्रकृतियाँ सर्वधाती कही जाती हैं। शेष ज्ञानावरणीय कर्म की 4, दर्शनावरणीय कर्म की 3, मोहनीय कर्म की 13, अन्तराय कर्म की 5, कुल 25 कर्मप्रकृतियाँ देशधाती कही जाती हैं। सर्वधात का अर्थ मात्र इन गुणों के पूर्ण प्रकटन को रोकना है, न कि इन गुणों का अनस्तित्व। क्योंकि ज्ञानादि गुणों के अभाव की स्थिति में आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व में अन्तर ही नहीं रहेगा। कर्म तो आत्मगुणों के प्रकटन में बाधक तत्त्व है, वे आत्मगुणों को विनष्ट नहीं कर सकते। नन्दीसूत्र में तो कहा गया है कि जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को चाहे कितना ही आवरित क्योंकि न कर लें, फिर भी वह न तो उसकी प्रकाश-क्षमता को नष्ट कर सकता है और न उसके प्रकाश के प्रकटन को पूर्णतया रोक सकता है। उसी प्रकार चाहे कर्म ज्ञानादि आत्मगुणों को कितना ही आवृत क्यों न कर ले, फिर भी उनका एक अंश हमेशा ही अनावृत रहता है।

कर्म बन्धन से मुक्ति

जैन कर्मसिद्धान्त की यह मान्यता है कि प्रत्येक कर्म अपना विपाक या फल देकर आत्मा से अलग हो जाता है। इस विपाक की अवस्था में यदि आत्मा राग-द्वेष अथवा मोह से अभिभूत होता है, तो वह पुनः नये कर्म का संचय कर लेता है। इस प्रकार यह परम्परा सतत् रूप से चलती रहती है। व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में यह नहीं है कि वह कर्म के विपाक के परिणाम स्वरूप होने वाली अनुभूति से

इंकार कर दे। अतः यह एक कठिन समस्या है कि कर्म बन्धन व विपाक की इस प्रक्रिया से मुक्ति कैसे हो, यदि कर्म विपाक के फलस्वरूप हमारे अन्दर क्रोधादि कषाय भाव अथवा कामादि भोग भाव उत्पन्न होना ही है तो फिर स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि हम विमुक्ति की दिशा में आगे कैसे बढ़ें? इस हेतु जैन आचार्यों ने दो उपायों का प्रतिपादन किया है - (1) संवर और (2) निर्जरा। संवर का तात्पर्य है कि विपाक की स्थिति में प्रतिक्रिया से रहित रहकर नवीन-कर्मास्रव एवं बन्ध को नहीं होने देना और निर्जरा का तात्पर्य है पूर्व कर्मों के विपाक की समभावपूर्वक अनुभूति करते हुए उन्हें निर्जरित कर देना या फिर तप साधना द्वारा पूर्वबद्ध अनियत विपाकी कर्मों को समय से पूर्व उनके विपाक को प्रदेशोदय के माध्यम से निर्जरित करना।

यह सत्य है कि पूर्वबद्ध कर्मों के विपाकोदय की स्थिति में क्रोधादि आवेग अपनी अभिव्यक्ति के हेतु चेतना के स्तर पर आते हैं, किन्तु यदि आत्मा उस समय अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठाकर साक्षीभाव में स्थिर रखें और उन उदय में आ रहे क्रोधादि भावों के प्रति मात्र द्रष्टा भाव रखें, तो वह भावी बन्धन से बचकर पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है और इस प्रकार वह बन्धन से विमुक्ति की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देता है। वस्तुतः विवेक व अप्रमत्तता ऐसे तथ्य हैं जो हमें नवीन बन्धन से बचाकर विमुक्ति की ओर अभिमुख करते हैं। व्यक्ति में जितनी अप्रमत्तता या आत्म चेतनता होगी, उसका विवेक उतना जागृत रहेगा। वह बन्धन से विमुक्ति की दिशा में आगे बढ़ेगा। जैन कर्म सिद्धान्त बताता है कि कर्मों के विपाक के सम्बन्ध में हम विवश या परतन्त्र होते हैं, किन्तु उस विपाक की दशा में भी हममें इतनी स्वतन्त्रता अवश्य होती है कि हम नवीन कर्म परम्परा का संचय करें या न करें, ऐसा निश्चय कर सकते हैं, किन्तु नवीन कर्म बन्ध के सन्दर्भ में हम आंशिक रूप में स्वतन्त्र हैं। इसी आंशिक स्वतन्त्रता द्वारा हम मुक्ति अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं। जो साधक विपाकोदय के समय साक्षी भाव या ज्ञाता-द्रष्टा भाव में जीवन जीना जानता है, वह निश्चय ही कर्म-विमुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

संदर्भ -

1. डॉ. सागरमल जैन-जैनकर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, 1982, पृ. 4
2. श्वेताश्वतरोपरिषद् (गीता प्रेस, गोरखपुर) 1/1-2
3. *The philosophical Quarterly*, April 1932, p. 72.
4. *Maxmullar-Three Lecturers on Vedanta Philosophy*, p. 165.

5. पं. दलसुखभाई मालवगिया-आत्ममीमांसा (जैन संस्कृति संशोधन मण्डल)
6. रविन्द्रनाथ मिश्रा, जैन कर्म सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास (पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5, 1985), पृ. 8
7. वही, पृ. 9-10
8. रागो य दोसो वि य कम्मवीर्यं, उत्तराध्ययनसूत्र 32/7
9. (अ) समवायांग 5/4 (ब) इसिभासियाई 9/5 (स) तत्त्वार्थसूत्र 8/1
10. कुन्दकुन्द, समयसार 171
11. (अ) अट्ठविहं कम्मगाथि - इसिभासियाई 31
(ब) अट्ठविहंमम्मरण्यमलं-इसिभासियाई 32
12. उत्तराध्ययनसूत्र (सं. मधुकरमुनि), 33/2-3
13. वही, 33/4-15
14. अगुंत्तरनिकाय उद्धृत उपाध्याय भरतसिंह, बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 463
15. देखें-आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. 250
16. देवेन्द्रसूरि, कर्मग्रन्थ प्रथम, कर्मविपाक, गाथा 1
17. पं. सुखलाल संघवी, दर्शन व चिन्तन, पृ. 225
18. आचार्य नेमिचन्द्र, गोम्मटसार, कर्मकाण्ड-6
19. आचार्य विद्यानन्दी, अष्टसहस्री, पृ. 51, उद्धृत - Tatia Dr. Nathmal Tatia, studies-in Jaina Philosophy (P.V. Resarch Institute, Varanasi-5, p. 227
20. कर्मग्रन्थ - प्रथम, कर्म विपाक - भूमिका पं. सुखलाल संघवी, पृ. 24
21. सागरमल जैन - जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन पृ. 17-18
22. (अ) महाभारत : शान्तिपर्व (गीता प्रेस, गोरखपुर) पृ. 129
(ब) लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, गीतारहस्य पृ. 268
23. आचार्य नरेन्द्र देव, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. 277
24. (अ) देखें-उत्तराध्ययनसूत्र-सम्पादक मधुकरमुनि 4/4/13, 23/1/30
(ब) भगवतीसूत्र 1/2/64
25. देखें - (अ) Nathmal Tatia, Tatia, Studies in Jaina Philosophy (P.V.R.I.), P. 254.
(ब) सागरमल जैन - जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 24-27
26. सागरमल जैन - जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 35/36
27. वही, पृ. 36-40
28. ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत विवरण तत्त्वार्थसूत्र 6 एवं 8, कर्म ग्रन्थ प्रथम कर्मविपाक, पृ. 54-61, समवायांग 30/1 तथा स्थानांग 1/4/4/373 पर आधारित है।
29. योगशास्त्र (हेमचन्द्र), 4/107.
30. स्थानांग, टीका (अभयदेव), 1/11-12
31. जैनधर्म, मुनिसुशीलकुमार, पृ. 84
32. समयसारनाटक, बनारसीदास, उत्पानिका 28
33. भगवतीसूत्र, 7/10/121

34. स्थानांगसूत्र स्थान, 9
35. भगवद्गीता 18/17
36. धम्मपद, 249
37. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, आद्रकसंवाद 2/6
38. सागरमल जैन, जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन,
39. दशबौकलिकसूत्र, 4/9
40. सूत्रकृतांगसूत्र, 2/2/4
41. उत्तराध्ययनसूत्र, 28/14
42. तत्त्वार्थसूत्र, 1/4
43. इतिभासियाई (ऋषिभाषित), 9/2
44. समयसार (कुन्दकुन्द), 145-146
45. प्रवचनसार टीका (अमृतचन्द्र), 1/72 की टीका
46. समयसार वचनिका, जयचन्द छाबड़ा, गाथा 145-146 की वचनिका पृ. 207
47. भगवद्गीता, 4/16
48. सूत्रकृतांग, 1/8/22-24
49. भगवद्गीता 4/16
50. सूत्रकृतांगसूत्र, 1/8/1-2
51. वही, 1/8/3
52. आचारांगसूत्र, 1/4/2/1
53. सागरमल जैन - जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 52-55
54. वही, पृ. 61-67
55. वही, पृ. 57
56. (अ) वही, पृ. 67-79
(ब) प्रस्तुत विवरण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 6 एवं 8, कर्मग्रन्थ प्रथम, (कर्मविपाक) पृ. 54-62, समवायांग 30/1 तथा स्थानांग 1/4/4/373 पर आधारित है।



जैन, बौद्ध और गीता के दर्शन में कर्म का अशुभत्व, शुभत्व और शुद्धत्व

यद्यपि जैन दृष्टि से 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' की उक्ति ठीक है, लेकिन जैन दर्शन में सभी कर्म अथवा क्रियायें समान रूप से बन्धनकारक नहीं हैं। उसमें दो प्रकार के कर्म माने गये हैं, एक को कर्म कहा गया है दूसरे को अकर्म; समस्त साम्प्रदायिक क्रियायें कर्म श्रेणी में और ईर्यापथिक क्रियाएं अकर्म की श्रेणी में आती हैं। यदि बंधन की दृष्टि से विचार करें, तो प्रथम प्रकार के कर्म ही बंधन करते हैं और दूसरे प्रकार के कर्म बंधन में नहीं डालते हैं। उन्हें अति-नैतिक कहा जा सकता है। लेकिन बंधन करने वाले सभी कर्म भी एक समान नहीं होते हैं, उनमें से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं। जैन परिभाषा में इन्हें क्रमशः पुण्य कर्म और पाप कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन विचारणा के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं 1 ईर्यापथिक कर्म (अकर्म) 2 पुण्य कर्म और 3 पाप कर्म। बौद्ध विचारणा में भी तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं 1 अव्यक्त या अकृष्ण अशुक्ल कर्म 2 कुशल या शुक्ल कर्म और 3 अकुशल या कृष्णकर्म। गीता भी तीन प्रकार के कर्म बताती है- 1 अकर्म 2 कर्म (कुशल कर्म) और 3 विकर्म (अकुशल कर्म)। जैन विचारणा का ईर्यापथिक कर्म बौद्ध दर्शन का अव्यक्त या अकृष्ण अशुक्ल कर्म तथा गीता का अकर्म है। इसी प्रकार जैन विचारणा का पुण्य कर्म बौद्ध दर्शन का कुशल (शुक्ल) कर्म तथा गीता का सकाम सात्विक कर्म या कुशलकर्म और जैन विचारणा का पाप कर्म बौद्ध दर्शन का अकुशल (कृष्ण) कर्म तथा गीता का विकर्म है।

पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से भी कर्म तीन प्रकार के होते हैं 1. अतिनैतिक, 2. नैतिक, 3. अनैतिक। जैन विचारणा का ईर्यापथिक कर्म अतिनैतिक कर्म है, पुण्य कर्म नैतिक कर्म है, और पाप कर्म अनैतिक कर्म है। गीता का अकर्म अतिनैतिक, शुभ कर्म या कर्म नैतिक और विकर्म अनैतिक है। बौद्ध विचारणा में अतिनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक कर्म का क्रमशः अकुशल, कुशल और अव्यक्त कर्म अथवा कृष्ण अशुक्ल कर्म कहा गया है। इन्हें निम्न तुलनात्मक तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है -

कर्म	पाश्चात्य आचार दर्शन	जैन	बौद्ध	गीता
1. शुद्ध	अतिनैतिक कर्म	ईर्यापथिक कर्म	अव्यक्त कर्म	अकर्म
2. शुभ	नैतिक कर्म	पुण्य कर्म	कुशल कर्म (शुक्ल)	कर्म (कुशल कर्म)
3. अशुभ	अनैतिक कर्म	पाप कर्म	अकुशल कर्म (कृष्ण)	विकर्म

आध्यात्मिक या नैतिक पूर्णता के लिए हमें क्रमशः अशुभ कर्मों से शुभ कर्मों की ओर और शुभ कर्मों से शुद्ध कर्मों की ओर बढ़ना होगा। आगे हम इसी क्रम से उन पर थोड़ी अधिक गहराई से विवेचन करेंगे।

अशुभ या पाप कर्म - जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि वैयक्तिक संदर्भ में जो आत्मा को बंधन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्म शक्तियों का क्षय करे, वह पाप है। सामाजिक संदर्भ में जो पर पीड़ा या दूसरों के दुःख का कारण है, वह पाप है (पापाय परपीड़न)। वस्तुतः जिस विचार एवं आचार से अपना और पर का अहित हो और जिस अनिष्ट फल की प्राप्ति हो, वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के या दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किए जाते हैं, पाप कर्म हैं। मात्र इतना ही नहीं सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कर्म हैं।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण - जैन दार्शनिकों के अनुसार पाप कर्म 18 प्रकार के हैं : 1. प्राणातिपात-हिंसा, 2. मृषावाद-असत्य भाषण, 3. अदत्तादान-चौर्य कर्म, 4. मैथुन-काम विकार या लैंगिक प्रवृत्ति, 5. परिग्रह-ममत्त्व, मूर्छा, तृष्णा या संचय वृत्ति, 6. क्रोध-गुस्सा, 7. मान-अहंकार, 8. माया, कपट, छल, षड्यंत्र और कूटनीति, 9. लोभ-संचय या संग्रह की वृत्ति, 10. राग-आसक्ति, 11. द्वेष-घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या। 12. क्लेश-संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि, 13. अभ्याख्यान-दोषारोपण, 14. पिशुनता-चुगली, 15. परपरिवाद-परनिंदा, 16. रति अरति-हर्ष और शोक, 17. माया मृषा-कपट सहित असत्यभाषण, 18. मिथ्यादर्शनशल्य-अयथार्थ श्रद्धा या जीवन दृष्टियाँ।

बौद्ध दृष्टिकोण - बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर निम्न 10 प्रकार के पापों या अकुशल कर्मों का वर्णन मिलता है :-

(अ) कायिक पाप : 1 प्राणातिपात-हिंसा, 2. अदत्तादान-चोरी या स्तेय, 3. कामेसु-मिच्छाचार-कामभोग सम्बन्धी दुराचार।

(ब) वाचिक पाप : 4. मृषावाद-असत्य भाषण, 5. पिसुनावाचा-पिशुन वचन, 6. परुसावाचा-कठोर वचन, 7. सम्फलाप-व्यर्थ आलाप।

(स) मानसिक पाप : 8. अमिज्जा-लोभ, 9. व्यापाद-मानसिक हिंसा या अहित चिंतन, 10. मिच्छादिद्वी-मिथ्या दृष्टिकोण।

अभिधम्म संगहो में निम्न 14 अकुशल चैतसिक बताए गए हैं -

1. मोह-चित्त का अन्धापन मूढ़ता, 2. अहिरिक निर्लज्जता, 3. अनौत्तपयं-अभीरुतापाप कर्म में भय न मानना, 4. उद्धर्च्य-उद्धतपन, चञ्चलता, 5. लोभोत्तृष्णा, 6. दिट्ठि-मिथ्या दृष्टि 7. मनो-अहंकार, 8. दोसो-द्वेष, 9. इस्सा-ईर्ष्या (दूसरे की सम्पत्ति को न सह सकना), 10. मच्छरियं-मात्सर्य (अपनी सम्पत्ति को छिपाने की प्रवृत्ति), 11. कुक्कुच्चकौकृत्य (कृत-अकृत के बारे में पश्चात्ताप), 12. धीनं, 13. मिद्धं, 14. विचिकिच्छा-विचिकित्सा (संशयालुपन)।

गीता का दृष्टिकोण - गीता में भी जैन और बौद्ध दर्शन में स्वीकृत इन पापाचरणों या विकर्मों का उल्लेख आसुरी सम्पदा के रूप में किया गया है। गीता रहस्य में तिलक ने मनु स्मृति के आधार पर निम्न दस प्रकार के पापाचरण का वर्णन किया है*।

(अ) कायिक : 1. हिंसा, 2. चोरी, 3. व्याभिचार

(ब) वाचिक : 4. मिथ्या (असत्य), 5. ताना मारना, 6. कटुवचन, 7. असंगत बोलना

(स) मानसिक : 8. परद्रव्य अभिलाषा, 9. अहित चिन्तन, 10. व्यर्थ आग्रह

पाप के कारण - जैन विचारकों के अनुसार पापकर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं- 1. राग या स्वार्थ, 2. द्वेष या घृणा और 3. मोह या अज्ञान। प्राणी राग, द्वेष और मोह से ही पाप कर्म करता है। बुद्ध के अनुसार भी पाप कर्म की उत्पत्ति के स्थान तीन हैं- 1. लोभ (राग), 2. द्वेष और 3. मोह। गीता के अनुसार काम (राग) क्रोध ही पाप के कारण हैं।

पुण्य (कुशल कर्म) - पुण्य वह कर्म है जिसके कारण सामाजिक एवं भौतिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश के मध्य सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या में तत्त्वार्थ सूत्रकार कहते हैं - शुभाश्रव पुण्य है। लेकिन पुण्य मात्र आश्रव नहीं है, वरन् वह बन्ध और विपाक भी है, दूसरे वह मात्र बन्धन या हेय ही नहीं है वरन् उपादेय भी है। अतः अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र-पुण्य अशुभ कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। पुण्य के निर्वाण की उपलब्धि में सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानागसूत्र की टीका में मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते हैं - पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है*। आचार्य की दृष्टि में पुण्य आध्यात्मिक साधनों में सहायक तत्व है। मुनि सुशीलकुमार जैनधर्म नामक पुस्तक में लिखते हैं पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिये

अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है⁹। जैन कवि बनारसीदासजी कहते हैं- जिससे भावों की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा ऊर्ध्वमुखी होता है, आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है और जिससे इस संसार में भौतिक-समृद्धि और सुख मिलता है वही पुण्य है¹⁰।

जैन तत्त्व ज्ञान के अनुसार पुण्य कर्म वे शुभ पुद्गल परमाणु हैं जो शुभवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायों, शुभ विचारों एवं क्रियाओं की ओर प्रेरित करते हैं तथा आध्यात्मिक मानसिक एवं भौतिक अनुकूलताओं के संयोग प्रस्तुत कर देते हैं। आत्मा की वे मनोदशाएँ एवं क्रियाएँ भी जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती हैं पुण्य कहलाती हैं साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल परमाणु जो इन शुभ वृत्तियों एवं क्रियाओं प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्पत्ति एवं सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एवं संयम के अवसर उपस्थित करते हैं पुण्य कहे जाते हैं। शुभ मनोवृत्तियाँ भाव पुण्य हैं और शुभ पुद्गल परमाणु द्रव्य पुण्य हैं।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण - भगवती सूत्र में अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियों को पुण्योपार्जन का कारण माना है¹¹। स्थानांग सूत्र में नव प्रकार के पुण्य बताए गए हैं¹² :-

1. अन्न पुण्य : भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा निवृत्ति करना।
2. पान पुण्य : तृषा (प्यास) से पीड़ित व्यक्ति को पानी मिलाना।
3. लयन पुण्य : निवास के लिए स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।
4. शयन पुण्य : शय्या, बिछौना आदि देना।
5. वस्त्र पुण्य : वस्त्र का दान देना।
6. मन पुण्य : मन से शुभ विचार करना। जगत के मंगल की शुभ कामना करना।
7. वचन पुण्य : प्रशस्त एवं संतोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।
8. काय पुण्य : रोगी, दुःखित एवं पूज्य जनों की सेवा करना।
9. नमस्कार पुण्य : गुरुजनों के प्रति आदर प्रकट करने के लिये उनका अभिवादन करना।

बौद्ध आचार दर्शन में भी पुण्य के इस दानात्मक स्वरूप की चर्चा मिलती है। संयुक्त-निकाय में कहा गया है-अन्न, पान, वस्त्र, शैय्या, आसन एवं चादर के दानी पुरुष में पुण्यकी धाराएँ आ गिरती है। अभिधम्मसंगहो में 1. श्रद्धा, 2. अप्रमत्तता (स्मृति), 3. पाप कर्म के प्रति लज्जा, 4. पाप कर्म के प्रति भय, 5. अलोभ (त्याग), 6. अद्वेषमैत्री, 7. समभाव, 8-9. मन और शरीर की प्रसन्नता, 10-11. मन और शरीर की मृदुता, 13-14 मन और शरीर की सरलता आदि को भी कुशल चैतसिक कहा गया है¹³।

जैन और बौद्ध विचारणा में पुण्य के स्वरूप को लेकर विशेष अन्तर यह है कि जैन विचारणा में संवर निर्जरा और पुण्य में अन्तर किया गया है। जब कि बौद्ध विचारणा में ऐसा स्पष्ट अन्तर नहीं है। जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन (श्रद्धा) सम्यक् ज्ञान, (प्रज्ञा) और सम्यक् चारित्र (शील) को संवर और निर्जरा के अन्तर्गत माना गया है। जबकि बौद्ध आचार दर्शन में धर्म संघ और बुद्ध के प्रति दृढ़ श्रद्धा, शील और प्रज्ञा को भी पुण्य (कुशलकर्म) के अन्तर्गत माना गया है।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी - शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं। 1- कर्म का बाह्य स्वरूप तथा समाज पर उसका प्रभाव। 2- दूसरा कर्ता का अभिप्राय। इन दोनों में कौनसा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया है। गीता स्पष्ट रूप से कहती है जिसमें कर्तृत्व भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगो को मार भी डाले तथापि यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन में आता है¹⁴। धम्मपद में बौद्ध वचन भी ऐसा ही (नैष्यकर्म्यस्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है¹⁵ बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य पाप का आधार माना गया है, इसका प्रमाण सूत्रकृतांग सूत्र के आर्द्रक बौद्ध सम्वाद में भी मिलता है¹⁶। जहां तक जैन मान्यता का प्रश्न है विद्वानों के अनुसार उसमें भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। शुभ-अशुभ कर्म के बंध का आधार मनोवृत्तियां ही हैं। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुंचाने के लिए उसका ब्रण चीरता है, उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाए, परन्तु डॉक्टर तो पाप कर्म के बन्ध का ही भोगी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणा से प्रेरित होकर ब्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है तो भी डाक्टर अपनी शुभभावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है¹⁷। प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं - पुण्य बंध और पाप बंध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर की क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है¹⁸।

इन कथनों के आधार पर तो यह स्पष्ट है कि जैन विचारणा में भी कर्मों कि शुभाशुभता के निर्णय का आधार मनोवृत्तियां ही हैं, फिर भी जैन विचारणा में कर्म का बाह्य स्वरूप उपेक्षित नहीं है। यद्यपि निश्चय दृष्टि की अपेक्षा से मनोवृत्तियां ही कर्मों की शुभाशुभता की निर्णायक है तथापि व्यवहार दृष्टि में कर्म का बाह्य स्वरूप ही सामान्यतया शुभाशुभता का निश्चय करता है। सूत्रकृतांग में आर्द्रक कुमार बौद्धों की एकांगी धारणा का निरसन करते हुए कहते हैं जो मांस

खाता हो चाहे न जानते हुए भी खाता हो तो भी उसको पाप लगता ही है, हम जानकर नहीं खाते इसलिए हम को दोष (पाप) नहीं लगता, ऐसा कहना एक दम असत्य नहीं तो क्या है¹⁹। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दृष्टि में मनोवृत्ति के साथ ही कर्मों का बाह्य स्वरूप भी शुभाशुभता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वास्तव में सामाजिक दृष्टि या लोक व्यवहार में तो यही प्रमुख निर्णायक होता है। सामाजिक न्याय में तो कर्म का बाह्य स्वरूप ही उसकी शुभाशुभता का निश्चय करता है क्योंकि आन्तरिक वृत्ति को व्यक्ति स्वयं जान सकता है, दूसरा नहीं। जैन दृष्टि एकांगी नहीं है, वह समन्वयवादी और सापेक्षवादी है, वह व्यक्ति-सापेक्ष होकर मानती है और समाज सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्य स्वरूप पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है, उसमें द्रव्य (बाह्य) और भाव (आन्तरिक) दोनों का मूल्य है। उसमें योग (बाह्यक्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही बन्धन के कारण माने गये हैं, यद्यपि उसमें मनोवृत्ति ही प्रबल कारण है। वह वृत्ति और क्रिया में विभेद नहीं मानती है। उसकी समन्वयवादी दृष्टि में मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, यह सम्भव नहीं है। मन में शुभ भाव होते हुए पापाचरण सम्भव नहीं है वह एक समालोचक दृष्टि से कहती है - मन में सत्य की समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें (अशुभाचरण) करना क्या संयमी पुरुषों का लक्षण है? उसकी दृष्टि में **सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर आत्म प्रवंचना और लोक छलना है**। मानसिक हेतु पर ही जोर देने वाली धारणा का निरसन करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है - कर्म बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बताने वाले इस वाद को मानने वाले कितने ही लोग संसार में फंसे रहते हैं कि पाप लगने के तीन स्थान हैं - स्वयं करने से, दूसरों से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से, परन्तु यदि हृदय पाप मुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिले। यह वाद अज्ञान है, मन से पाप को पाप समझते हुए, जो दोष करता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयम (वासना निग्रह) में शिथिल है, परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बात मानकर पाप में पड़े रहते हैं।²⁰

पाश्चात्य आचार दर्शन में भी सुखवादी विचारक कर्म की फल निष्पत्ति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं, जबकि माटिन्यू कर्म प्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन विचारणा के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणा के अनुसार इन दोनों पाश्चात्य विचारणाओं में अपूर्ण सत्य रहा हुआ है, एक का आधार लोकदृष्टि या समाज दृष्टि है और दूसरी का आधार परमार्थ दृष्टि या शुद्ध दृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है, अतः उसमें दोनों का ही मूल्य है।

कर्म के शुभाशुभत्व के निर्णय की दृष्टि से कर्म के हेतु और परिणाम दोनों का ही मूल्यांकन आवश्यक है। चाहे हम कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होने वाले परिणाम को। दोनों ही स्थितियों में किस प्रकार का कर्म पुण्य कर्म या उचित कर्म कहा जावेगा और किस प्रकार का कर्म पाप कर्म या अनुचित कर्म कहा जावेगा यह विचार आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की विचारणा के सन्दर्भ में सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहां कर्म-अकर्म का विचार व्यक्ति सापेक्ष है, वहां पुण्य-पाप का विचार समाज सापेक्ष है। जब हम कर्म-अकर्म या कर्म के बन्धनत्व का विचार करते हैं तो वैयक्तिक कर्म प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है, लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते हैं तो समाज कल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है, उस सन्दर्भ में वीतराग या अनासक्त जीवन दृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धकत्व या अबन्धकत्व का प्रमापक है। लेकिन जहां तक शुभ-अशुभ का सम्बन्ध है उसमें “राग” या आसक्ति का तथ्य तो रहा हुआ है शुभ और अशुभ दोनों में ही राग या आसक्ति तो होती ही है अन्यथा राग के अभाव में कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनैतिक होगा। यहां प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नहीं वरन् उसकी प्रशस्तता की है। प्रशस्त राग शुभ या पुण्य बन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त राग अशुभ या पाप बन्ध का कारण है। राग की प्रशस्तता उसमें द्वेष के तत्व की कमी के आधार पर निर्भर होती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं तथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और कम तीव्र होगी वह राग उतना प्रशस्त होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी वह उतना ही अप्रशस्त होगा।

द्वेष विहीन विशुद्ध राग या प्रशस्त राग ही प्रेम कहा जाता है। उस प्रेम से परार्थ या परोपकार वृत्ति का उदय होता है, जो शुभ का सृजन करती है उसी से लोक मंगलकारी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य कर्म निसृत होते हैं जबकि द्वेष युक्त अप्रशस्त राग ही घृणा को जन्म देकर स्वार्थ वृत्ति का विकास करता है, उससे अशुभ, अमंगलकारी पाप कर्म निसृत होते हैं संक्षेप में जिस कर्म के पीछे प्रेम और परार्थ होते हैं वह पुण्य कर्म और जिस कर्म के पीछे घृणा और स्वार्थ होते हैं वह पाप कर्म।

जैन आचार दर्शन पुण्य कर्मों के वर्गीकरण में जिन तथ्यों पर अधिक बल देता है, वे सभी समाज सापेक्ष हैं। वस्तुतः शुभ अशुभ वर्गीकरण में सामाजिक दृष्टि ही प्रधान है। भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में पुण्य और पाप की समग्र चिन्तना का

सार निम्न कथन में समाया हुआ है कि 'परोपकार पुण्य है और पर-पीड़न पाप है'। जैन विचारकों ने पुण्य बन्ध के दान-सेवा आदि जिन कारणों का उल्लेख किया है उनका प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक कल्याण या लोक मंगल से है। इसी प्रकार पाप के रूप में जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है वे सभी लोक अमंगलकारी तत्व हैं²¹। इस प्रकार हम कह सकते हैं जहां तक शुभ-अशुभ या पुण्य-पाप के वर्गीकरण का प्रश्न है हमें सामाजिक सन्दर्भ में ही उसे देखना होगा। यद्यपि बन्धन की दृष्टि से उस पर विचार करते समय कर्ता के आशय को भुलाया नहीं जा सकता है।

सामाजिक जीवन में आचरण के शुभत्व का आधार - यद्यपि यह सत्य है कि कर्म के शुभत्व का निर्णय अन्य प्राणियों या समाज के प्रति किए गए व्यवहार अथवा दृष्टिकोण के सन्दर्भ में होता है, लेकिन अन्य प्राणियों के प्रति हमारा कौनसा व्यवहार या दृष्टिकोण शुभ होगा और कौनसा व्यवहार या दृष्टिकोण अशुभ होगा। इसका निर्णय किस आधार पर किया जाए? भारतीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो कसौटी प्रदान की है, वह यह है कि जिस प्रकार के व्यवहार को हम अपने लिए प्रतिकूल समझते हैं, वैसा आचरण दूसरे के प्रति नहीं करना और जैसा व्यवहार हमें अनुकूल है, वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति करना; यही शुभाचरण है। इसके विपरीत जो व्यवहार हमें प्रतिकूल है, वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति करना और जो व्यवहार हमें अनुकूल है वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना अशुभाचरण है। भारतीय ऋषियों मात्र का यही सन्देश है कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां मा समाचरेत्' अर्थात् जिस आचरण को तुम अपने लिए प्रतिकूल समझते हो वैसा आचरण दूसरों के प्रति मत करो। संक्षेप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही व्यवहार के शुभत्व का प्रमाण है।

जैन दृष्टिकोण - जैन दर्शन के अनुसार जिसकी संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि है वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है।²² दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है समस्त प्राणियों को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है²³। सूत्रकृतांग में धर्माधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझ के दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है। सभी को जीवित रहने की इच्छा है, कोई भी मरना नहीं चाहता, सभी को प्राण प्रिय हैं, सुख शान्तिप्रद है और दुख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है जिसके द्वारा किसी भी प्राण का हनन नहीं हो।²⁴

बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण : बौद्ध विचारणा में भी सर्वत्र आत्मवत् दृष्टि को ही कर्म के शुभत्व का आधार माना गया है। सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं-जैसा मैं हूँ वैसे ही ये दूसरे प्राणी भी हैं और जैसे ये दूसरे प्राणी हैं वैसा ही मैं हूँ इस प्रकार सभी को

अपने समान समझकर, किसी की हिंसा या घात नहीं करना चाहिए²⁵। धम्मपद में भी बुद्ध ने यही कहा है कि सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, सबको जीवन प्रिय है, अतः सबको अपने समान समझकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करें। जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से दुःख प्रदान करता है वह मरकर भी सुख नहीं पाता, लेकिन जो सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से दुःख नहीं देता, वह मर कर भी सुख को प्राप्त होता है²⁶।

गीता एवं महाभारत का दृष्टिकोण - मनुस्मृति, महाभारत और गीता में भी हमें इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। गीता में कहा गया है कि जो सुख और दुःख सभी में दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखकर व्यवहार करता है, वही परमयोगी है²⁸। महाभारत में अनेक स्थानों पर इसी दृष्टिकोण का समर्थन हमें मिलता है। उसमें कहा गया है कि जैसा कि अपने लिए चाहता है वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति भी करें²⁹। त्याग-दान, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय सभी में दूसरे को अपनी आत्मा के समान मानकर व्यवहार करना चाहिए³⁰। जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों के प्रति अपने समान व्यवहार करता है वही स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करता है³¹। जो व्यवहार स्वयं को प्रिय लगता है वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति किया जाए; हे युधिष्ठिर! धर्म और अधर्म की पहचान का यही लक्षण है³²।

पाश्चात्य दृष्टिकोण - पाश्चात्य दर्शन में भी सामाजिक जीवन में दूसरों के प्रति व्यवहार करने का यही दृष्टिकोण स्वीकृत है कि जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही दूसरे के लिए करो। कान्ट ने भी कहा है कि केवल उसी नियम के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सकते हो। मानवता चाहे वह तुम्हारे अन्दर हो या किसी अन्य के, वह सदैव से साध्य बनी रहे, साधन कभी न ही³³। कान्ट के इस कथन का आशय भी यही निकलता है कि नैतिक जीवन के संदर्भ में सभी को समान मानकर व्यवहार करना चाहिए।

शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर - जैन विचारणा में शुभ एवं अशुभ अथवा मंगल, अमंगल की वास्तविकता स्वीकार की गई है। उत्तराध्ययन सूत्र में नव तत्व माने गये हैं जिसमें पुण्य और पाप को स्वतंत्र तत्व के रूप में गिना गया है³⁴। जबकि तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सातों को ही तत्व कहा है वहां पर पुण्य और पाप का स्वतंत्र तत्व के रूप में स्थान नहीं है। लेकिन यह विवाद अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतन्त्र तत्व नहीं मानती है वह भी उनको आश्रव एवं बंध तत्व के अन्तर्गत तो मान लेती है। यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आश्रव नहीं है वरन् उनका बंध भी

होता है और विपाक भी होता है। अतः आश्रव के दो विभाग शुभाश्रव और अशुभाश्रव करने से काम पूरा नहीं होता वरन् बंध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे। इस वर्गीकरण की कठिनाई से बचने के लिए ही शायद पाप एवं पुण्य को दी स्वतंत्र तत्व के रूप में मान लिया है।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण मार्ग के साधक के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है क्योंकि दोनों ही बन्धन के कारण है। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है, नैतिक पूर्णता नहीं आती है। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है। **जैन दृष्टिकोण** - ऋषिभासित सूत्र में ऋषि कहता है - पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार संतति के मूल हैं³⁶। आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य पाप दोनों को बन्धन का कारण मानते हुए भी दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार ग्रन्थ में वे कहते हैं-अशुभकर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं। फिर भी पुण्य कर्म भी संसार (बन्धन) का कारण होता है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लोह बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है उसी प्रकार जीव कृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन का कारण होते हैं³⁷। आचार्य दोनों को ही आत्मा की स्वाधिनता में बाधक मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुण्य स्वर्ण की बेड़ी है और पाप लोह की बेड़ी। फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण बेड़ी कहकर उसकी पापों से किंचित श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं³⁸। इसी प्रकार पं. जयचन्द्रजी ने भी कहा है -

पुण्यपाप दोउकर्म,

बंधरूप दुई मानि।

शुद्ध आत्मा जिन लह्यो,

बंदू चरन हित जानि³⁹।।

किंतु अनेक जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण लक्ष्य दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्व स्वीकार किया है। यद्यपि निर्वाण की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अन्ततोत्वा पुण्य को छोड़ना होता है फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है, जैसे साबुन वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है। शुद्ध वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना भी जिस प्रकार अनावश्यक है, उसे भी अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है उसे भी क्षय करना होता है। लेकिन जिस प्रकार साबुन मैल को साफ

करता है और मैल की सफाई होने पर स्वयं अलग हो जाना है - वैसे ही पुण्य भी पाप रूप मैल को अलग करने में सहायक होता है और उसके अलग हो जाने पर स्वयं भी अलग हो जाता है। जिस प्रकार एरण्ड बीज या अन्य रेचक औषधि मैल के रहने तक रहती है और मैल निकल जाने पर वह भी निकल जाती है वैसे ही पाप की समाप्ति पर पुण्य भी अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं। वे किसी भी नव कर्म संतति को जन्म नहीं देते हैं। अतः वस्तुतः व्यक्ति को अशुभ कर्म से बचना है। जब वह अशुभ (पाप) कर्म से ऊपर उठ जाता है उसका कर्म शुभ बन जाता है। शेष पर पूर्ण विजय पा जाने पर राग भी नहीं रहता है, अतः राग-द्वेष के अभाव में उससे जो कर्म निसृत होते हैं वे शुद्ध (ईयापथिक) होते हैं।

पुण्य (शुभ) कर्म के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि पुण्योपार्जन की उपरोक्त क्रियाएं भी जब अनासक्तभाव से की जाती हैं तो वे शुभ बन्ध का कारण न होकर कर्मक्षय (संवर और निर्जरा) का कारण बन जाती है। इसी प्रकार संवर और निर्जरा के कारण संयम तप जब आसक्तभाव एवं फलाकांक्षा (निदान अर्थात् उनके प्रतिफल के रूप में किसी निश्चित फल की कामना करना) से युक्त होते हैं तो वे कर्मक्षय अथवा निर्वाण का कारण न होकर बन्धन का ही कारण बनते हैं, चाहे उनका फल सुख के रूप में क्यों नहीं हो। जैन दर्शन में अनासक्त भाव या राग द्वेष से रहित होकर किया गया शुद्ध कार्य ही मोक्ष या निर्वाण का कारण माना गया है और आसक्ति से किया गया शुभ कार्य भी बन्धन का ही कारण समझा गया है। यहां पर गीता की अनासक्त कर्म योग की विचारणा जैन दर्शन के अत्यन्त समीप आ जाती है। जब दर्शन का अन्तिम लक्ष्य आत्मा को अशुभ से शुभ कर्म की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्धोपयोग ही जैन नैतिकता का अन्तिम साध्य है।

बौद्ध दृष्टिकोण - बौद्ध दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही नैतिक साधना की अन्तिम अवस्था में पुण्य और पाप दोनों से ऊपर उठने की बात कहता है। भगवान बुद्ध सुत्तनिपात में कहते हैं-जो पुण्य और पाप को दूर कर शांत (सम) हो गया है इस लोक और परलोक (के यथार्थ स्वरूप) को जान कर (कर्म) रज रहित हो गया है जो अन्य मरण से परे हो गया है वह श्रमण स्थिर, स्थितात्मा (तथता) कहलाता है⁴⁰। समिय परिव्राजक द्वारा बुद्ध वंदना में पुनः इसी बात को दोहराया गया है। वह शुद्ध के प्रति कहता है जिस प्रकार सुन्दर पुण्डरीक कमल पानी में लिप्त नहीं होता उसी प्रकार आप पुण्य और पाप दोनों में लिप्त नहीं होते⁴¹। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध विचारणा का भी अन्तिम लक्ष्य शुभ और अशुभ से ऊपर उठना है।

गीता का दृष्टिकोण - स्वयं गीताकार ने भी यह संकेत किया है कि मुक्ति के लिए शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मफलों से मुक्त होना आवश्यक है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं 'हे अर्जुन, तू जो भी कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है अथवा तप करता है वह सभी शुभाशुभ कर्म मुझे अर्पित कर दे अर्थात् उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति या कर्तृत्व भाव मत रख। इस प्रकार सन्यास-योग से युक्त होने पर तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्म बन्धन से छूट जावेगा। और मुझे प्राप्त होवेगा'⁴²। गीताकार स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनों ही बन्धन हैं और मुक्ति के लिए उनसे ऊपर उठना आवश्यक है, बुद्धिमान व्यक्ति शुभ और अशुभ या पुण्य और पाप दोनों को ही त्याग देता है।⁴³ सच्चे भक्त का लक्षण बताते हुए पुनः कहा गया है कि जो शुभ और अशुभ दोनों का परित्याग कर चुका है अर्थात् जो दोनों से ऊपर उठ चुका है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है'⁴⁴। डॉ. राधकृष्णन ने गीता के परिचयात्मक निबन्ध में भी इसी धारणा को प्रस्तुत किया है। वे आचार्य कुन्दकुन्द के साथ समस्वर हो कर कहते हैं 'चाहे हम अच्छी इच्छाओं के बन्धन में बन्धे हो या बुरी इच्छाओं के, बन्धन तो दोनों ही हैं। इससे क्या अन्तर पड़ता है कि जिन जंजीरों में हम बन्धे हैं वे सोने की हैं या लोहे की'⁴⁵। जैन दर्शन के समान गीता भी हमें यही बताती है कि प्रथमतः जब पुण्य कर्मों के सम्पादन द्वारा पाप कर्मों का क्षय दिया जाता है तदनन्तर वह पुरुष रागद्वेष के द्वन्द्व से मुक्त होकर दृढ़ निश्चयपूर्वक मेरी भक्ति करता है।'⁴⁶ इस प्रकार गीता भी नैतिक जीवन के लिए अशुभ कर्म से शुभ कर्म की ओर और शुभ कर्म से शुद्ध या निष्काम कर्म की ओर बढ़ने का संकेत देती है। गीता का अन्तिम लक्ष्य भी शुभाशुभ से ऊपर निष्काम जीवन दृष्टि का निर्माण है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण - पाश्चात्य आचार दर्शन में अनेक विचारकों ने नैतिक जीवन की पूर्णता के लिए शुभाशुभ से परे जाना आवश्यक माना है, ब्रेडले का कहना है कि नैतिकता हमें उससे परे ले जाती है।'⁴⁷ नैतिक जीवन के क्षेत्र में शुभ और अशुभ का विरोध बना रहता है, लेकिन आत्म-पूर्णता की अवस्था में यह विरोध नहीं रहना चाहिए। अतः पूर्ण आत्म-साक्षात्कार के लिए हमें नैतिकता के क्षेत्र (शुभाशुभ के क्षेत्र) से ऊपर उठना होगा। ब्रेडले ने नैतिकता के क्षेत्र से ऊपर धर्म (आध्यात्म) का क्षेत्र माना है, उसके अनुसार नैतिकता का अन्त धर्म में होता है। जहां व्यक्ति शुभाशुभ के द्वन्द्व से ऊपर उठकर ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वे लिखते हैं कि अन्त में हम ऐसे स्थान पर पहुंच जाते हैं, जहां पर क्रिया एवं प्रतिक्रिया का अन्त होता है, यद्यपि सर्वोत्तम क्रिया सर्वप्रथम यहां से ही आरम्भ होती है। यहां पर

हमारी नैतिकता ईश्वर से तादात्म्य में चरम अवस्था में फलित होती है और सर्वत्र हम उस अमर प्रेम को देखते हैं, जो सदैव विरोधाभास पर विकसित होता है, किन्तु जिसमें विरोधाभास का सदा के लिए अन्त हो जाता है।¹⁸

ब्रेडले ने जो भेद नैतिकता और धर्म में किया वैसा ही भेद भारतीय दर्शनों ने व्यावहारिक नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता में किया है। व्यावहारिक नैतिकता का क्षेत्र शुभाशुभ का क्षेत्र है यहां आचरण दृष्टि समाज सापेक्ष होती है और लोक मंगल ही उसका साध्य होता है। पारमार्थिक नैतिकता का क्षेत्र शुद्ध चेतना (अनासक्त या वीतराग जीवन दृष्टि) का है, यह व्यक्ति सापेक्ष है। व्यक्ति को बन्धन से बचाकर मुक्ति की ओर ले जाना ही इसका अन्तिम साध्य है।

शुद्ध कर्म (अकर्म) - शुद्ध कर्म का तात्पर्य उस जीवन व्यवहार से है जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालती हैं, अबन्धक कर्म ही शुद्ध कर्म है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते हैं कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन के मध्य क्या सम्बन्ध है? क्या कर्मणा बध्यते बन्धुः की उक्ति सर्वांश सत्य है? जैन दर्शन की विचारणा में यह उक्ति कि कर्म से प्राणी बंधन में आता है सर्वांश या निरपेक्ष सत्य नहीं है। प्रथमतः कर्म या क्रिया-के सभी रूप बंधन की दृष्टि से समान नहीं हैं, फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो। लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त ही कठिन है। गीता कहती है कर्म (बंधक कर्म) क्या है? और अकर्म (अबंधक कर्म) क्या है? इसके सम्बन्ध में विद्वान भी मोहित हो जाते हैं।¹⁹ कर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त गहन विषय है। यह कर्म समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर हमें जैनागम सूत्रकृतांग में भी मिलता है। उसमें बताया गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं। मात्र आचरण, कर्म या पुरुषार्थ को देखकर यह निर्णय देना सम्भव नहीं होता है कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात् समान रूप से कर्म करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषार्थ) हो, पर अशुद्ध है और कर्म बन्धन का कारण है, परन्तु ज्ञान एवं बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल नहीं भोगना पड़ता। योग्यरीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता।²⁰ कर्म का बन्धन की दृष्टि से विचार उसके बाह्य स्वरूप के आधार पर ही नहीं किया जा सकता है, उसमें कर्ता का प्रयोजन, कर्ता का विवेक एवं देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण तथ्य हैं

और कर्मों पर ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने में विद्वत् वर्ग भी कठिनाई में पड़ जाता है। कर्म में कर्ता के प्रयोजन को जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता है।

लेकिन फिर भी कर्ता के लिए, जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है यह आवश्यक है कि कर्म और अकर्म का यथार्थ स्वरूप समझे क्योंकि उसके अभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है। गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मैं तुझे कर्म के उस रहस्य को बताऊँगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जावेगा।^{१५} वास्तविकता यह है कि नैतिक विकास के लिए बन्धक और अबन्धक कर्म के यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। बन्धकत्व की दृष्टि से कर्म के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में जैन दर्शन का दृष्टिकोण निम्नानुसार है।

जैन दर्शन में कर्म-अकर्म विचार - कर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है - 1. उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर 2. उसकी शुभाशुभता के आधार पर। कर्म का बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कर्म बन्धन में डालते हैं जबकि कुछ कर्म बन्धन में नहीं डालते हैं। बन्धक कर्मों को कर्म और अबन्धक कर्मों को अकर्म के यथार्थ स्वरूप की विवेचना सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग में मिलती है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कुछ कर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं।^{१६} इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में सक्रियता यही पुरुषार्थ या नैतिकता है जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध में महावीर अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए, यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का कर्म अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों में कहते हैं प्रमाद कर्म है अप्रमाद अकर्म है।^{१७} प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता की अवस्था नहीं, वह तो सतत जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म जागृति की दशा में सक्रियता भी अकर्म होती है जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव में निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुतः किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं बरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय भावों एवं राग द्वेष की स्थिति पर निर्भर है। जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेष एवं कषाय, जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा है किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं। लेकिन कषाय एवं आसक्ति से रहित होकर किया हुआ कर्म अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आश्रय या बन्धन कारक क्रियाएं हैं, वे आसक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति

के साधन बन जाती हैं।¹⁴ इस प्रकार जैन विचारणा में कर्म और अकर्म अपने बाह्य स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं। जैन विचारणा में बन्धक तत्व की दृष्टि से क्रियाओं के दो भागों में बांटा गया है। 1. ईर्यापथिक क्रियाएं (अकर्म) और 2. साम्परायिक क्रियाएं (कर्म या विकर्म) ईर्यापथिक क्रियाएं निष्काम वीतराग दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएं हैं जो बन्धनकारक नहीं हैं जबकि साम्परायिक क्रियाएं आसक्त व्यक्ति की क्रियाएं हैं जो बन्धनकारक हैं। संक्षेप में वे समस्त क्रियाएं जो आश्रव एवं बन्ध का कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएं जो संवर एवं निर्जरा का हेतु हैं, अकर्म हैं। जैन दृष्टि में अकर्म या ईर्यापथिक कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्तव्य अथवा शरीर निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। जबकि कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोह सहित क्रियाएं। जैन दर्शन के अनुसार जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से युक्त होता है बन्धन में डालता है और इसलिए वह कर्म है और जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्तव्य निर्वाह या शरीर निर्वाह के लिए किया जाता है वह बन्धन का कारण नहीं है। अतः अकर्म है। जिन्हें जैन दर्शन में ईर्यापथिक क्रियाएं या अकर्म कहा गया है उन्हें बौद्ध परम्परा अनुचित, अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहती है और जिन्हें जैन परम्परा साम्परायिक क्रियाएं या कर्म कहती हैं, उन्हें बौद्ध परम्परा उपचित कर्म या कृष्ण-शुक्ल कर्म कहती है। आइए, जरा इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करें।

बौद्ध दर्शन में कर्म अकर्म का विचार - बौद्ध विचारणा में भी कर्म और उनके फल देने की योग्यता के प्रश्न को लेकर महाकर्म विभंग में, विचार किया गया है, जिसका उल्लेख श्रीमती सम्रादास गुप्ता ने अपने प्रबन्ध 'भारत में नैतिक दर्शन का विकास' में किया है।¹⁵ बौद्ध दर्शन का प्रमुख प्रश्न यह है कि कौन से कर्म उपचित होते हैं। कर्म के उपचित से तात्पर्य संचित होकर फल देने की क्षमता के योग्य होने से है। दूसरे शब्दों में कर्म के बन्धन कारक होने से है। बौद्ध परम्परा का उपचित कर्म जैन परम्परा के विपाकोदयी कर्म से और बौद्ध परम्परा का अनुपचित कर्म जैन परम्परा के प्रदेशोदयी कर्म (ईर्यापथिक कर्म) से तुलनीय है। महाकर्म विभाग में कर्म की कृत्यता और उपचितता के सम्बन्ध को लेकर कर्म का एक चतुर्विध वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

1. वे कर्म जो कृत (सम्पादित) नहीं हैं लेकिन उपचित (फल प्रदाता) हैं - वासनाओं के तीव्र आवेग से प्रेरित होकर किये गये ऐसे कर्म संकल्प जो कार्य रूप में परिणत न हो पाये हैं, इस वर्ग में आते हैं। जैसे किसी व्यक्ति ने क्रोध या द्वेष के वशीभूत होकर किसी को मारने का संकल्प किया हो, लेकिन वह उसे मारने की क्रिया न कर सका हो।

2. **वे कर्म जो कृत है और उपचित भी हैं** - वे समस्त ऐच्छिक कर्म, जिनको सकल्पपूर्वक सम्पादित किया गया है, इस कोटि में आते हैं। यहां हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अकृत उपचित कर्म और कृत उपचित कर्म दोनों शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के हो सकते हैं।
3. **वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित नहीं हैं** - अभिधर्म कोष के अनुसार निम्न कर्म कृत होने पर उपचित नहीं होते हैं अर्थात् अपना फल नहीं देते हैं -
 - (अ) वे कर्म जिन्हें संकल्पपूर्वक नहीं किया गया है अर्थात् जो सचिन्त्य नहीं हैं, उपचित होते हैं।
 - (ब) वे कर्म जो सचिन्त्य होते हुए भी सहसाकृत हैं, उपचित नहीं होते हैं। इन्हें हम आकस्मिक कर्म कह सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में इन्हें विचार प्रेरित कर्म (आइडियो मोटर एक्टिविटी) कहा जा सकता है।
 - (स) भ्रान्तिवश किया गया कर्म भी उपचित नहीं होता।
 - (द) कृत कर्म के करने के पश्चात् यदि अनुताप या ग्लानि हो तो उसका प्रकटन करके पाप विरति का व्रत लेने से कृत कर्म उपचित नहीं होता।
 - (इ) शुभ का अभ्यास करने से तथा आश्रय बल से (बुद्ध के शरणागत हो जाने से) भी पाप कर्म उपचित नहीं होता।
4. **वे कर्म जो कृत भी नहीं है और उपचित भी नहीं हैं** : स्वप्नावस्था में गये किए कर्म इसी प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं प्रथम दो वर्गों के कर्म प्राणी को बन्धन में डालते हैं, लेकिन अन्तिम दो प्रकार के कर्म प्राणी को बन्धन में नहीं डालते हैं।

बौद्ध आचार दर्शन में भी राग-द्वेष और मोह से युक्त होने पर कर्म को बन्धन कारक नहीं माना जाता है। जबकि राग-द्वेष और मोह से रहित कर्म को बन्धक कारक नहीं माना जाता है। बौद्ध दर्शन भी राग-द्वेष और मोह रहित अर्हत् के क्रिया व्यापार को बन्धन कारक नहीं मानता है, ऐसे कर्मों को अकृष्ण अशुक्ल या अव्यक्त कर्म भी कहा गया है।

गीता में कर्म-अकर्म का स्वरूप - गीता भी इस संबंध में गहराई से विचार करती है कि कौन सा कर्म बन्धन कारक और कौन सा कर्म बन्धन कारक नहीं है? गीताकार कर्म को तीन भागों में वर्गीकृत कर देते हैं। 1- कर्म, 2- विकर्म, 3- अकर्म। गीता के अनुसार कर्म और विकर्म बन्धन कारक हैं जबकि अकर्म बन्धन कारक नहीं हैं।

(1) **कर्म** - फल की इच्छा से जो शुभ कर्म किये जाते हैं, उसका नाम कर्म है।

- (2) **विकर्म** - समस्त अशुभ कर्म जो वासनाओं की पूर्ति के लिए किए जाते हैं, विकर्म हैं। साथ ही फल की इच्छा एवं अशुभ भावना से जो दान, तप, सेवा आदि शुभ कर्म किये जाते हैं वे भी विकर्म कहलाते हैं। गीता में कहा गया है जो तप मूढ़तापूर्वक, हठ से, मन, वाणी, शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने की नीयत से किया जाता है वह तामस कहलाता है।¹⁵⁶ साधारणतया मन, वाणी एवं शरीर से होने वाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्म विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे बाह्य रूप से विकर्म प्रतीत होने वाले कर्म कर्ता की भावनानुसार कर्म या अकर्म के रूप में बदल जाते हैं आसक्ति और अहंकार के रहित होकर शुद्ध भाव दशा में एवं मात्र कर्त्तव्य सम्पादन में होने वाली हिंसादि (जो देखने में विकर्म से प्रतीत होती है, भी फलोत्पादक न होने से अकर्म ही है)।
- (3) **अकर्म** - फलासक्ति से रहित होकर अपना कर्त्तव्य समझ कर जो भी कर्म किया जाता है उस कर्म का नाम अकर्म है। गीता के अनुसार परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित होकर कर्त्तापन के अभिमान से रहित पुरुष द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फल नहीं देने वाला होने से अकर्म ही है।

अकर्म की अर्थ विवक्षा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार : जैसा कि हमने देखा जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन क्रिया व्यापार को बंधकत्व की दृष्टि से दो भागों में बांट देते हैं। 1 - बंधक कर्म, और 2 - अबंधक कर्म। अबंधक क्रिया व्यापार का जैन दर्शन में अकर्म का ईर्यापथिक कर्म। बौद्ध दर्शन में अकृष्ण-अशुक्ल कर्म या अव्यक्त कर्म, तथा गीता में अकर्म कहा गया है। प्रथमतः सभी समालोच्य आचार दर्शनों की दृष्टि में अकर्म क्रिया का अभाव नहीं है। जैन विचारणा के शब्दों में कर्म प्रकृति के उदय को समझ कर बिना राग द्वेष के, जो कर्म होता है, वह अकर्म ही है मन, वाणी, शरीर की क्रिया के अभाव का नाम ही अकर्म नहीं। गीता के अनुसार व्यक्ति की मनोदशा के आधार पर क्रिया न करने वाले व्यक्तियों का क्रिया त्याग रूप कर्म अकर्म भी कम बन सकता है और क्रियाशील व्यक्तियों का कर्म भी अकर्म बन सकता है। गीता कहती है कर्मन्द्रियों की सब क्रियाओं को त्याग क्रिया रहित पुरुष जो अपने को सम्पूर्ण क्रियाओं का त्यागी समझता है, उसके द्वारा प्रकट रूप से कोई काम होता हुआ, न दीखने पर भी त्याग का अभिमान या आग्रह रखने के कारण रूप कर्म होता है। उसका वह त्याग का अभिमान या आग्रह, अकर्म को भी कर्म बना देता है।¹⁵⁷ इसी प्रकार कर्त्तव्य प्राप्त होने पर भय या स्वार्थवश कर्त्तव्य कर्म से मुँह मोड़ना, विहित कर्मों का त्याग

कर देना आदि में भी कर्म नहीं होते परन्तु इस अकर्म दशा में भी भय या राग भाव अकर्म को भी कर्म बना देता है।¹⁰ जबकि अनासक्त वृत्ति और कर्तव्य की दृष्टि से जो कर्म किया जाता है, वह राग-द्वेष के अभाव के कारण अकर्म बन जाता है। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कर्म और अकर्म का निर्णय केवल शरीरिक क्रियाशीलता या निष्क्रियता से नहीं होता। कर्ता के भावों के अनुसार ही कर्मों का स्वरूप बनता है। इस रहस्य को सम्यक् रूपेण जानने वाला ही गीताकार की दृष्टि से मनुष्यों से बुद्धिमान योगी है। सभी विवेच्य आचार दर्शनों में कर्म अकर्म विचार में वासना, इच्छा, या कर्तव्य भाव ही प्रमुख तत्व माना गया है। यदि कर्म के सम्पादन में वासना, इच्छा या कर्तव्य बुद्धि का भाव नहीं तो वह कर्म बन्धन कारक नहीं होता है। दूसरे शब्दों में बन्धन की दृष्टि से वह कर्म अकर्म बन जाता है, वह क्रिया अक्रिया हो जाती है। वस्तुतः कर्म अकर्म विचार में क्रिया प्रमुख तत्व नहीं होती है प्रमुख तत्व हैं कर्ता का चेतन पक्ष। यदि चेतना जाग्रत है, अप्रमत्त है, विशुद्ध है, वासनाशून्य है, यथार्थ दृष्टि सम्पन्न है तो फिर क्रिया का बाह्य स्वरूप अधिक मूल्य नहीं रख सकता। पूज्यपाद कहते हैं जो आत्मतत्व में स्थिर है वह बोलते हुए भी नहीं बोलता है, चलते हुए भी नहीं चलता है, देखते हुए भी नहीं देखता है।¹¹ आचार्य अमृतचंद्र सूरी का कथन है – रागादि (भावों) से मुक्त होकर आचरण करते हुए यदि हिंसा (प्राणघात) हो जावे तो वह हिंसा नहीं है अर्थात् हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य बाह्य परिणामों पर निर्भर नहीं होते हैं वरन् उसमें कर्ता की चितवृत्ति ही प्रमुख है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है-भावों से विरक्त जीव शोक रहित हो जाता है वह कमल पत्र की तरह संसार में रहते हुए भी लिप्त नहीं होता। गीताकार भी इसी विचार दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहता है जिसने कर्म फलासक्ति का त्याग कर दिया है, जो वासना शून्य होने के कारण सदैव ही आकांक्षा रहित है और आत्मतत्व में स्थिर होने के कारण आलम्बन रहित है वह क्रियाओं को करते हुए भी कुछ नहीं करता है। गीता अकर्म जैन दर्शन के संवर और निर्जरा से भी तुलनीय है। जिस प्रकार जैन दर्शन में संवर एवं निर्जरा के हेतु किया जाने वाला समस्त क्रिया व्यापार मोक्ष का हेतु होने से अकर्म ही माना गया है, उसी प्रकार गीता में भी फलाकांक्षा से रहित होकर ईश्वरीय आदेश के पालनार्थ जो नियत कर्म किया जाता है वह अकर्म ही माना गया है। दोनों में जो विचार साम्य है वह एक तुलनात्मक अध्येता के लिए काफी महत्वपूर्ण है। गीता और जैनागम आचारांग में मिलने वाला निम्न विचारसाम्य ही विशेष रूपेण द्रष्टव्य है। आचारांग सूत्र में कहा गया है 'अग्रकर्म और मूल कर्म के भेदों में विवेक रखकर ही कर्म करें'¹² ऐसे कर्मों का कर्ता होने पर भी वह साधक निष्कर्म ही कहा जाता है। निष्कर्मता के जीवन

में उपाधियों का आधिक्य नहीं होता, लेकिन प्रदर्शन नहीं होता। उसका शरीर मात्र योग क्षेत्र का (शारीरिक क्रियाओं का वाहक) होता है। गीता कहती है - आत्मविजेता, इन्द्रियजित सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखने वाला व्यक्ति कर्म का कर्ता होने पर निष्कर्म कहा जाता है वह कर्म से लिप्त नहीं होता। जो फलासक्ति से मुक्त होकर कर्म करता है वह नैष्ठिक शान्ति प्राप्त करता है,³³ लेकिन जो फलासक्ति से बन्धा हुआ है वह कुछ नहीं करता हुआ भी कर्म बन्धन से बन्ध जाता है। गीता का उपरोक्त कथन सूत्रकृतांग के निम्न कथन से भी काफी निकटता रखता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है -मिथुया दृष्टि व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ फलासक्ति से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है और बन्धन का हेतु है, लेकिन सम्यक् दृष्टि वाले व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ शुद्ध है क्योंकि वह निर्वाण का हेतु हैं।³⁴

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही आचार दर्शनों में अकर्म का अर्थ निष्क्रियता तो विवक्षित नहीं है, लेकिन फिर भी तिलकजी के अनुसार यदि इसका अर्थ निष्काम बुद्धि से किये गये प्रवृत्तिमय सांसारिक कर्म माना जाय तो वह बुद्धि संगत नहीं होगा। जैन विचारणा के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त होकर अथवा वीतरागावस्था में सांसारिक प्रवृत्तिमय कर्म का किया जाना ही सम्भव नहीं है। तिलकजी के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त हो युद्ध लड़ा जा सकता है।³⁵ लेकिन जैन दर्शन को यह स्वीकार नहीं है।³⁶ उसकी दृष्टि में अकर्म का अर्थ मात्र शारीरिक अनिवार्य ही अभिप्रेत है। जैन दर्शन की ईर्यापथिक क्रियाएं प्रमुखतया अनिवार्य शारीरिक क्रियाएं ही हैं। गीता में भी अकर्म का अर्थ शारीरिक क्रियाएं अनिवार्य कर्म के रूप में ग्रहित है। (4/21) आचार्य शंकर ने अपने गीताभाष्य में अनिवार्य शारीरिक कर्मों को अकर्म की कोटि में माना है।³⁶ लेकिन थोड़ी अधिक गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि जैन विचारण में भी अकर्म अनिवार्य शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त निरपेक्ष रूप से जनकल्याणार्थ किये जाने वाले कर्म तथा कर्मक्षय के हेतु किया जाने वाला तप स्वाध्याय आदि भी समाविष्ट है। सूत्रकृतांग के अनुसार जो प्रवृत्तियां प्रमाद रहित हैं, वे अकर्म हैं। तीर्थकरों का संघ प्रवर्तन आदि लोक कल्याण कारक प्रवृत्तियां एवं सामान्य साधन के कर्मक्षय (निर्जरा) के हेतु किये गये सभी साधनात्मक कर्म अकर्म हैं। संक्षेप में जो कर्म राग-द्वेष से रहित होने से बन्धन कारक नहीं हैं वे अकर्म ही हैं। गीता रहस्य में भी तिलकजी ने यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है-कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो तो वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिए कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा, करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता उसके विषय में कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया। यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार

नष्ट हो जाये तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ-कर्म मे बन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि वह कर्म है या अकर्म।³⁷ जैन और बौद्ध आचार दर्शन में अर्हत् के क्रिया व्यापार को तथा गीता में स्थित प्रज्ञ के क्रिया व्यापार को बन्धन और विपाक रहित माना गया है, क्योंकि अर्हत् या स्थितप्रज्ञ में राग-द्वेष और मोह रूपी वासनाओं का पूर्णतया अभाव होता है। अतः उसका क्रिया व्यापार बन्धन कारक नहीं होता है और इसलिए वह अकर्म कहा जाता है। इस प्रकार तीनों ही आधार दर्शन इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि वासना एवं कषाय से रहित निष्काम कर्म अकर्म है और वासना सहित सकाम कर्म ही कर्म है बन्धन कारक है।

उपरोक्त आधारों पर से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर्म अकर्म विवक्षा में कर्म का चैतसिक पक्ष ही महत्वपूर्ण कार्य करता है। कौनसा कर्म बन्धन कारक है और कौनसा कर्म बन्धन कारक नहीं है। इसका निर्णय क्रिया के बाह्य स्वरूप से नहीं वरन् क्रिया के मूल में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा।³⁸



जैन, बौद्ध और गीता दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

जैन तत्त्वमीमांसा के अनुसार संवर के द्वारा कर्मों के आगमन का निरोध हो जाने पर और निर्जरा के द्वारा समस्त पुरातन कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा की जो निष्कर्म शुद्ध अवस्था होती है उसे मोक्ष कहा जाता है।¹ कर्म-फल के अभाव में कर्म जनित आवरण या बंधन भी नहीं रहते और यही बंधन का अभाव ही मुक्ति है।² वस्तुतः मोक्ष आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है।³ बंधन आत्मा की विरूपावस्था है और मुक्ति आत्मा की स्वरूपावस्था है। अनात्म में ममत्व, आसक्ति रूप आत्माभिमान का दूर हो जाना यही मोक्ष है” और यही आत्मा की शुद्धावस्था है। बन्धन और मुक्ति की यह समग्र व्याख्या पर्याय दृष्टि का विषय है। आत्मा का विरूप पर्याय बन्धन है और स्वरूप पर्याय मोक्ष है। पर पदार्थ, पुद्गल, परमाणु या जड़ कर्म वर्गणाओं के निमित्त आत्मा में जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं और जिनके कारण पर में आत्म-भाव (मेरापन) उत्पन्न होता है, यही विरूप पर्याय है, परपरिणति है, स्व की पर में अवस्थिति है, यही बन्धन है और इसका अभाव ही मुक्ति है।⁴ बन्धन और मुक्ति दोनों एक ही आत्म-द्रव्य या चेतना की दो अवस्थाएँ मात्र हैं, जिस प्रकार स्वर्ण मुकुट और स्वर्ण कुंडल की ही दो अवस्थाएँ हैं। लेकिन यदि मात्र, विशुद्ध तत्व दृष्टि या निश्चय नय से विचार किया जाये तो बंधन और मुक्ति दोनों की व्याख्या संभव नहीं है क्योंकि आत्मतत्व स्वरूप का परित्याग कर परस्वरूप में कभी भी परिणत नहीं होता। विशुद्ध तत्व दृष्टि से तो आत्मा नित्यमुक्त है लेकिन जब तत्व का पर्यायों के संबंध में विचार प्रारम्भ किया जाता है तो बंधन और मुक्ति की संभावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं क्योंकि बन्धन और मुक्ति पर्याय अवस्था में ही संभव होती है। मोक्ष को तत्व माना गया है, लेकिन वस्तुतः मोक्ष बंधन के अभाव का ही नाम है। जैनागमों में मोक्ष तत्व पर तीन दृष्टियों से विचार किया गया है—

1. भावात्मक दृष्टिकोण, 2. अभावात्मक दृष्टिकोण, 3. अनिर्वचनीय दृष्टिकोण।

मोक्ष पर भावात्मक दृष्टिकोण से विचार — जैन दार्शनिकों ने मोक्षावस्था पर भावनात्मक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसे निर्बाध अवस्था कहा है।¹ मोक्ष में समस्त बाधाओं के अभाव के कारण आत्मा के निजगुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। मोक्ष, बाधक तत्वों की अनुपस्थिति और पूर्णता का प्रकटन है। आचार्य

कुन्दकुन्द ने मोक्ष की भावात्मक दशा का चित्रण करते हुए उसे शुद्ध, अनन्त चतुष्टययुक्त, अक्षय, अविनाशी, निर्बाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, नित्य, अविचल, अनालम्ब कहा है।¹⁶ आचार्य उसी ग्रंथ में आगे चलकर मोक्ष में निम्न बातों की विद्यमानता की सूचना करते हैं।¹⁷ 1. पूर्णज्ञान, 2. पूर्णदर्शन, 3. पूर्णसौख्य, 4. पूर्णवीर्य, 5. अमूर्तत्व, 6. अस्तित्व और, 7. सप्रदेशता। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष दशा के जिन सात भावात्मक तथ्यों का उल्लेख किया है, वे सभी भारतीय दर्शनों को स्वीकार नहीं हैं। वेदान्त को स्वीकार नहीं है, सांख्य सौख्य एवं वीर्य को और न्याय वैशेषिक ज्ञान और दर्शन को भी अस्वीकार कर देते हैं। बौद्ध शून्यवाद अस्तित्व का भी विनाश कर देता है और चार्वाक दर्शन मोक्ष की धारणा को भी समाप्त कर देता है। वस्तुतः मोक्ष को अनिर्वचनीय मानते हुए भी विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के निराकरण के लिये ही मोक्ष की इस भावात्मक अवस्था का चित्रण किया गया है। भावात्मक दृष्टि से जैन विचारणा मोक्षावस्था में अनन्त चतुष्टय की उपस्थिति पर बल देती है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति को जैन विचारणा में अनन्त चतुष्टय कहा जाता है। बीजरूप में यह अनन्त चतुष्टय सभी जीवात्माओं में उपस्थित है, मोक्ष दशा में इनके अवरोधक कर्मों का क्षय हो जाने से ये गुण पूर्ण रूप में प्रकट हो जाते हैं। ये प्रत्येक आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं जो मोक्षावस्था में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो जाते हैं। अनन्त चतुष्टय में अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त सौख्य आते हैं, लेकिन अष्टकर्मों के प्रहाण के आधार पर सिद्धों के आठ गुणों की मान्यता भी जैन विचारणा में प्रचलित है। 1. ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट हो जाने से मुक्तात्मा अनन्त ज्ञान या पूर्ण ज्ञान से युक्त होता है। 2. दर्शनावरण कर्म नष्ट हो जाने से अनन्त दर्शन से संपन्न होता है। 3. वेदनीय कर्म के क्षय हो जाने से विशुद्ध अनश्वर आध्यात्मिक सुखों से युक्त होता है। 4. मोह कर्म के नष्ट हो जाने से यथार्थ दृष्टि (क्षायिक सम्यक्त्व) से युक्त होता है। मोह कर्म के दर्शन मोह और चारित्र मोह ऐसे दो भाग किए जाते हैं। दर्शन मोह के प्रहाण से यथार्थ और चारित्र मोह के क्षय से यथार्थ चारित्र (क्षायिक चारित्र) प्रकटन होता है, लेकिन मोक्ष दशा में क्रियारूप चारित्र नहीं होता मात्र दृष्टि रूप चारित्र ही होता है। अतः उसे क्षायिक सम्यक्त्व के अंतर्गत ही माना जा सकता है। वैसे आठ कर्मों की 31 प्रकृतियों के प्रहाण के आधार से सिद्धों के 31 गुण माने गये हैं, उसमें यथाख्यात चारित्र को स्वतंत्र गुण माना गया है। 5. आयु कर्म के क्षय हो जाने से मुक्तात्मा जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है वह अजर अमर होता है। 6. नामकर्म का क्षय हो जाने से मुक्तात्मा अशरीरी एवं अमूर्त होता है। अतः वह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता है। 7. गोत्र कर्म के नष्ट हो जाने से अगुरुलघुत्व से युक्त

हो जाता है अर्थात् सभी सिद्ध समान होते हैं, उनमें छोटा-बड़ा या ऊँच-नीच का भाव नहीं होता। 8. अन्तराय कर्म का प्रहाण हो जाने से बाधा रहित होता है अर्थात् अनन्त शक्ति संपन्न होता है।⁹ अनन्त शक्ति का यह विचार मूलतः निषेधात्मक ही है। यह मात्र बाधाओं का अभाव है, लेकिन इस प्रकार अष्ट कर्मों के प्रहाण के आधार से मुक्तात्मा के आठ गुणों की व्याख्या की मात्र एक व्यावहारिक संकल्पना ही है। उसके वास्तविक स्वरूप का निर्वचन नहीं है। यह व्यावहारिक दृष्टि उसे समझने का प्रयास मात्र है। इसका व्यावहारिक मूल्य है। वस्तुतः तो वह अनिर्वचनीय है। आचार्य नेमीचन्द्र गोमटसार में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सिद्धों के इन गुणों का विधान मात्र सिद्धात्मा के स्वरूप के संबंध में जो एकान्तिक मान्यताएँ हैं, उनके निषेध के लिये हैं।¹⁰ मुक्तात्मा में केवलज्ञान और केवलदर्शन के रूप में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को स्वीकार करके मुक्तात्माओं को जड़ मानने वाली वैभाषिक, बौद्धों और न्याय-वैशेषिक की धारणा का प्रतिषेध किया गया है। मुक्तात्मा के अस्तित्व या अक्षयता को स्वीकार कर मोक्ष को अभाव रूप में माननेवाली जड़वादी तथा सौत्रान्तिक बौद्धों की मान्यता का निरसन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष दशा का समग्र भावात्मक चित्रण निषेधात्मक मूल्य ही रखता है। यह विधान भी निषेध के लिये है।

अभावात्मक दृष्टि से मोक्ष तत्त्व पर विचार - जैनागमों में मोक्षावस्था का चित्रण निषेधात्मक रूप से भी हुआ है। प्राचीनतम जैनागम आचारांग में मुक्तात्मा का निषेधात्मक चित्रण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। मोक्षावस्था में समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमंडल संस्थान वाला है। न वह तीक्ष्ण, वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेतवर्ण वाला भी नहीं है। वह सुगंध और दुर्गंधवाला भी नहीं है न कटु, खट्टा, मीठा, एवं अम्ल रस वाला है। उसमें गुरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रूक्ष, शीत एवं उष्ण आदि स्पर्श गुणों का भी अभाव है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसंक है। इस प्रकार मुक्तात्मा में रस, रूप, वर्ण, गंध और स्पर्श भी नहीं है।¹¹ आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार में मोक्ष दशा का निषेधात्मक चित्रण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं “मोक्ष दशा में न सुख है, न दुःख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न जन्म है, न मरण है, न वहाँ इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न व्यामोह है, न निद्रा है, न वहाँ चिंता है, न आर्त और रौद्र विचार ही है। वहाँ तो धर्म (शुभ) और शुक्ल (प्रशस्ती) विचारों का भी अभाव है।¹²” मोक्षावस्था तो सर्व-संकल्पों का अभाव है। वहाँ बुद्धि और विचार का विषय नहीं है, वह पक्षातिक्रान्त है। इस प्रकार मुक्तावस्था का निषेधात्मक विवेचन उसको अनिर्वचनीय बतलाने के लिए ही है।

मोक्ष का अनिर्वचनीय स्वरूप — मोक्ष का निषेधात्मक निर्वचन अनिवार्य रूप से हमें उसकी अनिर्वचनीयता की ओर ही ले जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हुए जैन दार्शनिकों ने उसे अनिर्वचनीय ही माना है।

आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है- स्वर वहाँ से लौट आते हैं अर्थात् ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का वह विषय नहीं है, वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है। बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता क्योंकि उसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है, अरूपी सत्तावान है। वह अ-पद कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।¹³ उसके बारे में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह अरूप, अरस, अवर्ण, और अस्पर्श है क्योंकि वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है।

गीता में मोक्ष का स्वरूप — गीता की समग्र साधना का लक्ष्य परमतत्व ब्रह्म अक्षरपुरुष अथवा पुरुषोत्तम की प्राप्ति कहा जा सकता है। गीताकार प्रसंगान्तर से उसे ही मोक्ष, निर्वाण-पद, अव्ययपद, परमगति और परमधाम भी कहता है। जैन और बौद्ध विचारणा के समान गीताकार की दृष्टि में भी संसार पुनरागमन या जन्म-मरण की प्रक्रिया से युक्त है जबकि मोक्ष पुनरागमन या जन्म-मरण का अभाव है। गीता का साधक इसी प्रेरणा को लेकर आगे बढ़ता है। (जरामरणमोक्षाय 7, 29) और कहता है — “जिसको प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में नहीं लौटना होता है, उस परमपद की गवेषणा करना चाहिये।¹⁴” गीता का ईश्वर भी साधक को आश्वस्त करता हुआ यही कहता है कि जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में आना नहीं होता वही मेरा परमधाम है (स्वस्थान) है। ‘परमसिद्धि को प्राप्त हुए महात्मा मेरे को प्राप्त होकर दुःखों के घर इस अस्थिर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते हैं। ब्रह्म लोक पर्यन्त समग्र जगत पुनरावृत्ति से युक्त है, लेकिन जो भी मुझे प्राप्त कर लेता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता।¹⁵” मोक्ष के अनावृत्ति रूप लक्षण को बताने के साथ ही मोक्ष के स्वरूप का निर्वचन करते हुए गीता कहती है “इस अव्यक्त से भी परे अन्य सनातन अव्यक्त तत्व है जो सभी प्राणियों में रहते हुए भी उनके नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता है अर्थात् चेतना पर्यायों, जो अव्यक्त है, उनसे भी परे उनका आधारभूत आत्मतत्व है। चेतना की अवस्थाएँ नश्वर हैं, लेकिन उनसे परे रहने वाला यह आत्मतत्व सनातन प्राणियों में चेतना (ज्ञान) पर्यायों के रूप में अभिव्यक्त होते हुए भी उन प्राणियों तथा उनकी चेतना पर्यायों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। उसी आत्मा को अक्षय और अव्यक्त कहा गया है और उसे ही परमगति भी कहते

हैं। वही परमधान भी है, वही परमात्मस्वरूप आत्मा का निज स्थान है, जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः निवर्तन नहीं होता है।¹⁶ उसे अक्षय ब्रह्म परमतत्त्व स्वभाव (आत्मा की स्वभाव दशा) और अध्यात्म भी कहा जाता है।¹⁶ गीता की दृष्टि में मोक्ष निर्वाण है, परम शान्ति का अधिस्थान है।¹⁸ जैन दर्शनियों के समान गीता भी यह स्वीकार करती है कि मोक्ष सुखावस्था है। गीता के अनुसार मुक्तात्मा ब्रह्मभूत होकर अत्यन्त सुख (अनन्त सौख्य) का अनुभव करता है।¹⁹ यद्यपि गीता एवं जैन दर्शन में मुक्तात्मा में जिस सुख की कल्पना की गई है वह न ऐन्द्रिय सुख हैं न वह मात्र दुःखाभाव रूप सुख है वरन् वह अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य अनश्वर सुख है।²⁰

बौद्ध दर्शन में निर्वाण का स्वरूप — भगवान् बुद्ध की दृष्टि में निर्वाण का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न प्रारंभ से विवाद का विषय रहा है। स्वयं बौद्ध दर्शन के आवन्तर संप्रदायों में भी निर्वाण के स्वरूप को लेकर आत्यंतिक विरोध पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने भी इस संबंध में परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले हैं जो एक तुलनात्मक अध्येता को अधिक कठिनाई में डाल देता है। वस्तुतः इस कठिनाई का मूल कारण पालि निकाय में निर्वाण का विभिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन किया जाना है। श्री पुसें²¹ एवं प्रोफेशर नलिनाक्ष दत्त²² ने बौद्ध निर्वाण के संबंध में विद्वानों के दृष्टिकोणों को निम्न रूप से वर्गीकृत किया है:—

1. निर्वाण एक अभावात्मक तथ्य है।
2. निर्वाण अनिर्वचनीय अव्यय अवस्था है।
3. निर्वाण की बुद्ध ने कोई व्याख्या नहीं दी है।
4. निर्वाण भावात्मक, विशुद्ध एवं पूर्ण चेतना की अवस्था है।

बौद्ध दर्शन के अवान्तर प्रमुख सम्प्रदायों का निर्वाण के स्वरूप के संबंध में भिन्न प्रकार से दृष्टि भेद है -

1. वैभाषिक संप्रदाय : वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार निर्वाण संस्कारों या संस्कृत धर्मों का अभाव है क्योंकि संस्कृत धर्मता ही अनित्यता है, यही धर्मों का बन्धन है, यही दुःख है, लेकिन निर्वाण तो दुःख निरोध है, बन्धना-भाव है और इसलिये वह एक असंस्कृत धर्म है और असंस्कृत धर्म के रूप में उसकी भावात्मक सत्ता है। वैभाषिक मत में निर्वाण के स्वरूप को अभिधर्म कोष व्याख्या में निम्न प्रकार से बताया गया है “निर्वाण नित्य, असंस्कृत स्वतंत्र सत्ता, पृथक्मत, सत्य पदार्थ द्रव्य सत् है।”²³ निर्वाण में संस्कार या पर्यायों का अभाव होता है लेकिन यहां संस्कारों के अभाव का अर्थ अनस्तित्व नहीं है। वरन् एक भावात्मक अवस्था ही है। निर्वाण असंस्कृत धर्म है। प्रो. शरवात्स्की²⁴ ने वैभाषिक निर्वाण को अनन्त मृत्यु कहा है। उनके अनुसार निर्वाण आध्यात्मिक अवस्था नहीं है वरन् चेतना एवं क्रिया शून्य

जड़ अवस्था है। लेकिन श्री एस.के. मुकर्जी, प्रो. नलिनाक्ष दत्त²⁵ और प्रो. मूर्ति²⁶ ने शरवात्स्की के इस दृष्टिकोण का विरोध किया है। इन विद्वानों के अनुसार वैभाषिक निर्वाण निश्चित रूप से एक भावात्मक अवस्था है। जिसमें यद्यपि संस्कारों का अभाव होता है लेकिन फिर भी उसकी असंस्कृत धर्म के रूप में भावात्मक सत्ता होती है। वैभाषिक निर्वाण में चेतना का अस्तित्व होता है या नहीं? यह प्रश्न भी विवादास्पद है। प्रो. शरवात्स्की निर्वाण दशा में चेतना का अभाव मानते हैं, लेकिन प्रो. मुकर्जी²⁷ इस संबंध में एक परिष्कारित दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार यशोमित्र की अभिधर्मकोष की टीका के आधार पर निर्वाण की दशा में विशुद्ध मानस या चेतना रहती है। विद्वत्वर्य बलदेव उपाध्याय ने बौद्ध दर्शन मीमांसा में वैभाषिक बौद्धों के एक तिब्बतीय उपसंप्रदाय का वर्णन किया है। जिसके अनुसार निर्वाण की अवस्था में केवल वासनात्मक एवं क्लेशोत्पादक (साम्रव) चेतना का ही अभाव होता है। इसका तात्पर्य यह है कि निर्वाण की दिशा में अनाम्रव विशुद्ध चेतना का अस्तित्व बना रहता है।²⁸ वैभाषिकों के इस उपसंप्रदाय का यह दृष्टिकोण जैन विचारणा के निर्वाण के अति समीप आ जाता है क्योंकि यह भी जैन विचारणा के समान निर्वाणावस्था में सत्ता (अस्तित्व) और चेतना (ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग) दोनों को स्वीकार करता है। वैभाषिक दृष्टिकोण निर्वाण की संस्कारों की दृष्टि से अभावात्मक, द्रव्य सत्यता की दृष्टि से भावात्मक एवं बौद्धिक विवेचना की दृष्टि से अनिर्वचनीय मानता है। फिर भी उसकी व्याख्याओं में निर्वाण का भावात्मक या सत्तात्मक पक्ष अधिक उभरा है।

2. सौत्रान्तिक सम्प्रदाय : वैभाषिक के अनुसार यह मानते हुए भी कि निर्वाण संस्कारों का अभाव है, यह स्वीकार नहीं करता कि है कि असंस्कृत धर्म की कोई भावात्मक सत्ता होती है। इनके अनुसार केवल परिवर्तनशीलता ही तत्व का यथार्थ स्वरूप है। अतः सौत्रान्तिक निर्वाण की दशा में किसी असंस्कृत अपरिवर्तनशील नित्य तत्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता में ऐसा करना बुद्ध के अनित्यवाद और क्षणिकवाद की अवहेलना करना है। प्रो. शरवात्स्की के अनुसार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में 'निर्वाण का अर्थ है जीवन की प्रक्रिया का समाप्त हो जाना जिसके पश्चात् ऐसा कोई जीवनशून्य तत्व शेष नहीं रहता है जिसकी जीवन प्रक्रिया समाप्त हो जाने पर कुछ भी अवशेष नहीं रहता क्योंकि इनके अनुसार परिवर्तन ही सत्य है। परिवर्तनशील के अतिरिक्त तत्व की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है और निर्वाणदशा में परिवर्तनों की श्रृंखला समाप्त हो जाती है, अतः उसके परे कोई सत्ता शेष नहीं रहती है। इस प्रकार सौत्रान्तिक निर्वाण मात्र अभावात्मक अवस्था है वर्तमान में बर्मा ओर लंका के बौद्ध निर्वाण को अभावात्मक अनस्तित्व के रूप में

देखते हैं। निर्वाण से भावात्मक, अभावात्मक और अनिर्वचनीय पक्षों की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक विचारणा निर्वाण के अभावात्मक पक्ष पर अधिक बल देती है। यद्यपि इस प्रकार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का निर्वाण का अभावात्मक दृष्टिकोण जैन विचारणा के विरोध में जाता है, लेकिन सौत्रान्तिक में भी एक ऐसा उपसंप्रदाय था जिसके अनुसार निर्वाण पूर्णतया अभावात्मक दशा नहीं था। उनके अनुसार निर्वाण अवस्था में भी विशुद्ध चेतना पर्यायों का प्रवाह रहता है। यह दृष्टिकोण जैन विचारणा की इस मान्यता के निकट आता है जिसके अनुसार निर्वाण की अवस्था में भी आत्मा में परिणामीपन बना रहता है अर्थात् मोक्षदशा में आत्मा में चेतन्य ज्ञान धारा सतत रूप से प्रवाहित होती रहती है।

3. विज्ञानवाद-योगाचार - महायान के प्रमुख ग्रंथ लंकावतार के अनुसार निर्वाण सप्त प्रवृत्तिविज्ञानों की अप्रवृत्तावस्था है, चित्तप्रवृत्तियों का निरोध है।²⁹ स्थिरमति के अनुसार निर्वाण क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय है।³⁰ असंग के अनुसार निवृत्त चित्त (निर्वाण) अचित्त है, क्योंकि वह विषयों का ग्राहक नहीं है। वह अनुपलम्भ है क्योंकि उसका कोई बाह्य आलंबन नहीं है और इस प्रकार आलंबन रहित होने से वह लोकोत्तर ज्ञान है। दौष्टुल्य अर्थात् आवरण (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) के नष्ट हो जाने से निवृत्तचित्त (आलयविज्ञान) परावृत्त नहीं होता, प्रवृत्त नहीं होता।³¹ वह अनावरण अनास्वधातु है, लेकिन असंग केवल इस निषेधात्मक विवेचन से संतुष्ट नहीं होते, वे निर्वाण की अनिर्वचनीय और भावात्मक व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। निर्वाण अचिन्त्य है, क्योंकि तर्क से उसे जाना नहीं जा सकता लेकिन अचिन्त्य होते हुए भी वह कुशल है, शाश्वत है, सुखरूप है, विमुक्तकाय है और धर्मास्य है।³² इस प्रकार विज्ञानवादी मान्यता में निर्वाण की अभावपरक और भावपरक व्याख्याओं के साथ-साथ उनकी अनिर्वचनीयता को भी स्वीकार किया गया है। वस्तुतः निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप के विकास का श्रेय विज्ञानवाद और शून्यवाद को ही है। लंकावतार सूत्र में निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप का सर्वोच्च विकास देखा जा सकता है। लंकावसूत्र के अनुसार निर्वाण विचार की कोटियों के परे है लेकिन फिर भी विज्ञानवाद निर्वाण को उस आधार पर नित्य माना जा सकता है कि निर्वाण लाभ से उत्पन्न ज्ञान होता है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर विज्ञानवादी निर्वाण का जैन विचारणा में निम्न अर्थों में साम्य है। 1. निर्वाण चेतना का अभाव नहीं है वरन् विशुद्ध चेतना की अवस्था है। 2. निर्वाण समस्त संकल्पों का क्षय है वह चेतना की निर्विकल्पावस्था है। 3. निर्वाणावस्था में भी चैतन्य धारा सतत प्रवाहमान रहती है

(आत्मपरिणामीपन)।³³ यद्यपि डा. चन्द्रधर शर्मा ने आल्य विज्ञान को अपरिवर्तनीय या कूटस्थ माना है लेकिन श्री बल्देव उपाध्याय उसे प्रवाहमान या परिवर्तनशील मानते हैं।³⁴ 4. निर्वाणावस्था सर्वज्ञता की अवस्था है। जैन विचारणा के अनुसार उस अवस्था में केवलज्ञान और केवलदर्शन होते हैं। असंग ने महायान सूत्रालंकार में धर्मकाय जो निर्वाण की पर्यायवाची है, को स्वाभाविक काय कहा है।³⁵ जैन विचारणा भी मोक्ष को स्वभाव दशा कहता है। स्वाभाविक काय और स्वभावदशा अनेक अर्थों में अर्थसाम्य रखते हैं।

शून्यवाद - बौद्ध दर्शन के माध्यमिक संप्रदाय में निर्वाण के अनिर्वचनीय स्वरूप का सर्वाधिक विकास हुआ है। जैन तथा अन्य दार्शनिकों ने शून्यता का अभावात्मक अर्थ ग्रहण कर माध्यमिक निर्वाण को अभावात्मक रूप में देखा है। लेकिन यह उस संप्रदाय के दृष्टिकोण को समझने में सबसे बड़ी भ्रान्ति ही कही जा सकती है। माध्यमिक दृष्टि से निर्वाण अनिर्वचनीय है, चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है, वही परम तत्व है। वह न भाव है, न अभाव है।³⁶ यदि वाणी से उसका निर्वचन करना ही आवश्यक हो तो मात्र यह कहा जा सकता है कि निर्वाण अप्रहाण, असम्प्राप्त, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनिरुद्ध अनुत्पन्न है।³⁷ निर्वाण को भाव रूप इसलिये नहीं माना जा सकता है कि भावात्मक वस्तु या तो नित्य होगी या अनित्य होगी। नित्य मानने पर निर्वाण के लिये प्रयासों का कोई अर्थ नहीं होगा। अनित्य मानने पर बिना प्रयास ही मोक्ष होगा। निर्वाण को अभाव भी नहीं कहा जा सकता अन्यथा तथागत के द्वारा उसकी प्राप्ति का उपदेश क्यों दिया जाता। निर्वाण को प्रहाण सम्प्राप्त भी नहीं कहा जा सकता अन्यथा निर्वाण कृतक एवं कालिक होगा और यह मानना पड़ेगा कि वह काल विशेष में उत्पन्न हुआ और यदि वह उत्पन्न हुआ तो वह जरामरण के समान अनित्य ही होगा। निर्वाण को उच्छेद या शाश्वत भी नहीं कहा जा सकता अन्यथा शास्ता के मध्यम मार्ग का उल्लंघन होगा और हम उच्छेदवाद या शाश्वतवाद की मिथ्यादृष्टि से ग्रसित होंगे। इसलिये माध्यमिक नय में निर्वाण भाव और अभाव दोनों नहीं है। वह तो सर्व संकल्पनाओं का क्षय है, प्रपंचोपशमता है।

बौद्ध दार्शनिकों एवं वर्तमान युग के विद्वानों में बौद्ध दर्शन में निर्वाण के स्वरूप को लेकर जो मतभेद दृष्टिगत होता है उसका मूल कारण बुद्ध द्वारा निर्वाण का विविध दृष्टिकोणों के आधार पर विवाद रूप से कथन किया जाना है। पाली-निकाय में निर्वाण के इन विविध स्वरूपों का विवेचन उपलब्ध होता है। उदान नामक लघु ग्रन्थ से ही निर्वाण के इन विविध रूपों को देखा जा सकता है।

निर्वाण एक भावात्मक तथ्य है — इस संबन्ध में बुद्ध वचन इस प्रकार हैं — “भिक्षुओ ! (निर्वाण) अजात, अमूर्त, अकृत, असंस्कृत है। भिक्षुओ! यदि यह अज्ञात अमूर्त, अकृत, असंस्कृत नहीं होता, तो जात, मूर्त, और संस्कृत का व्युपशम नहीं हो सकता। भिक्षुओ! क्योंकि वह अजात, अकृत और असंस्कृत है इसलिये जात, मूर्त, कृत और संस्कृत का व्युपशम जाना जाता है।

संदर्भ -

1. कृत्स्न कर्मक्षयान् मोक्षः-तत्त्वार्थसूत्र, 101
2. बन्ध वियोगो मोक्षः-अभिधान राजेन्द्र खंड 6, पृष्ठ 461
3. मुखो जीवस्स सुद्ध रूपस्स-वही खंड 6, पृष्ठ 461
4. तुलना कीजिये -(अ) आत्मा मीमांसा (दलसुखभाई) पृष्ठ 66-67
(ब) ममेति बध्यते जन्तुर्मममेति प्रमुच्यते गरुड पुराण
5. अव्याबाहं अवत्थाणं-व्यावाधावर्जितभवस्थानम्-अवस्थितिः जीवस्यासौ मोक्ष इति।
- अभिधानराजेन्द्र खंड 6, पृष्ठ 431
6. नियमसार 176-177
7. विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलविरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थितं सप्पदेसत्तं।।-नियमसार 181
8. कुछ विद्वानों ने अगुरुलघुत्व का अर्थ न हल्का न भारी किया है।
9. प्रवचनासरोद्धार द्वार 276 गाथा 1593-1594
10. सदसिव संखो मक्कडि बुद्धो णोयाइयो य वेसेसी।
ईसर मंडलि दंसण विदूसणट्ठं कयं एदं।
- गोम्मटसार (नेमिचन्द्र)
11. से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तैसे, न चउरसे, न परिमंडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिदे, न सुकित्ते, न सुरभिगन्धे, न दुरभिगन्धे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अबिले न महुरे, न कवखडे, न मउए, न शुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निदे, न लुक्खे, न काऊ, न रूहे, न सगे, न इत्थी, न पुरिसे न अन्नहा-से न सहे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे।
- आचारांग सूत्र 1/5/6/
12. णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा व णवि विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं, तत्थेव य होई णिव्वाणं।।
णिव इंदिय उवसग्गा णिवमोहो विद्वियो ण पिहाय।
णय तिण्हा णेव छुहां, तत्थेव हवदि णिव्वाणं।। -नियमसार 178-179
13. सव्वेसरा नियट्ठति, तक्क जत्थ न विज्जइ, मई तत्थन गहिया ओए अप्प इट्ठाणस्स खेयन्ने-उवण्ण न विज्जए-अरूवी सत्ता अपयस्स पयं नत्थि। -आचारांग 1/5/6/171
तुलना कीजिए -
यतो वाचोनिवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह - तैत्तिरीय 2/9 न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
- मुण्डक 3/1/8

14. ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न विवर्तन्ति भूयः - गीताज्ञान 4
15. (अ) यंप्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। गीता 8/21
(ब) यदुगत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। गीता 15/6/
(स) मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानं संसिद्धिं परमां गताः। गीता 8/15
16. गीता-8/20/21
17. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावो हेयात्ममुच्यते। गीता 8/3
18. शान्तिं निर्वाणपरमां। गीता 6/5
19. सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमनुत्ते। गीता 6/21
20. सुखमात्यन्तिकं यत्तदुद्दिष्टग्राह्यमतीन्द्रियम्। गीता 6/21
21. देखिये-इन साईक्लोपेडिया आफ इथिक्स एण्ड रीलिजियन।
22. आस्पेक्टस् आफ महायान इन रिलेशन टु हीनयान।
23. द्रव्यं सत् प्रतिसंख्या निरोधः सत्यचतुष्टय-निर्देश-निर्दिष्ट त्वात् मार्ग सत्यैव इति
वैभाषिकाः -यशोमित्र-अभिधर्म कोष व्याख्या पृष्ठ 17
24. बुद्धिस्त निर्वाण पृष्ठ 27
25. आस्पेक्ट आफ महायान इन रिलेशन टू हीनयान पृष्ठ 162
26. सेंट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म 272-73
27. बुद्धिस्त फिलासफी आफ युनिवर्सल फ्लक्स पृष्ठ 252
28. (अ) ए कम्पेरेटिव स्टडी आफ दी कानसेप्ट आफ लिबरेशन इन इंडियन फिलासफी,
पृष्ठ 69
(ब) बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृष्ठ 147
29. लंकावतार सूत्र-2/62
30. क्लेशज्ज्ञेयावरण प्रहाणमपि सर्वज्ञत्वाधिगमार्थम्- स्थिरमति त्रिशिको वि. भा. पृ.15
31. अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोचरं चतत। आश्रयस्यपरावृत्तिर्द्विधातदौष्ठुल्य
हानितः-त्रिशिका 29
32. स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः-त्रिशिका-30
33. ए क्रिटीकल सर्वे आफ इंडियन फिलासफी।
34. बौद्ध दर्शन मीमांसा
35. महायान सूत्रालंकार 9/60, महायान-शान्तिभिक्कु पृ. 73
36. भावाभाव परामर्शक्षयो निर्वाणं उच्यते। माध्यमिक कारिका वृत्ति पृ. 524, उद्धृत दी
सेंट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म -टी.आर.व्ही.मूर्ती पृ. 274
37. अप्रहाणम सम्प्राप्त मनुच्छिन्नमशाश्वतम्।?
अनिरुद्ध मनुत्पन्नेम तन्निर्वाणमुच्यते।। -माध्यमिक कारिका वृत्ति पृ. 521



गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव और विकास

(मुझे लगता है कि कसायपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य के काल में आध्यात्मिक-विशुद्धि या कर्म-विशुद्धि का जो क्रम निर्धारित हो चुका था, वही आगे चलकर गुणस्थान सिद्धान्त के रूप में अस्तित्व में आया। यदि कसायपाहुड और तत्त्वार्थ चौथी शती या उसके पूर्व की रचनायें हैं तो हमें यह मानना होगा कि गुणस्थान की, सुव्यवस्थित अवधारणा चौथी और पांचवीं शती के बीच ही कभी निर्मित हुई है, क्योंकि लगभग छठी शती से सभी जैन विचारक गुणस्थान सिद्धान्त की चर्चा करते प्रतीत होते हैं, इसका एक फलितार्थ यह भी है कि जो कृतियां गुणस्थान की चर्चा करती हैं वे सभी लगभग पांचवीं शती के पश्चात् की हैं। यह बात भिन्न है कि तत्त्वार्थसूत्र और कसायपाहुड को प्रथम-द्वितीय शताब्दी का मानकर इन-ग्रन्थों का काल तीसरी-चौथी शती माना जा सकता है। किन्तु इतना निश्चित है कि षट्खण्डागम, भगवती आराधना एवं मूलाचार के कर्ता तथा आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति से परवर्ती ही हैं, पूर्ववर्ती कदापि नहीं। - लेखक)

व्यक्ति के आध्यात्मिक शुद्धि के विभिन्न स्तरों का निर्धारण करने के लिए जैन दर्शन में गुणस्थान की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति विशेष के आध्यात्मिक विकास का मूल्यांकन इसी अवधारणा के आधार पर होता है। यद्यपि गुणस्थान की अवधारणा जैन धर्म की एक प्रमुख अवधारणा है तथापि प्राचीन स्तर के जैन आगामों यथा-आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। श्वेताम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम समवायांग में जीवन स्थान के नाम से इसका उल्लेख हुआ है। समवायांग में यद्यपि 14 गुणस्थानों के नामों का निर्देश हुआ है, किन्तु उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान (जीवठाण) कहा गया है।¹ समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर-परम्परा में गुणस्थानों के 14 नामों का निर्देश आवश्यक निर्युक्ति में उपलब्ध है, किन्तु वहां भी नामों का निर्देश होते हुए भी उन्हें गुणस्थान (गुणठाण) नहीं कहा गया है।² यहां यह भी स्मरणीय है कि मूल आवश्यक सूत्र जिसकी निर्युक्ति में ये गाथाएं आई हैं-मात्र चवदह भूतग्राम हैं, इतना बताती हैं, निर्युक्ति उन 14 भूतग्रामों का विवरण देती हैं। फिर उसमें इन 14 गुणस्थानों का विवरण भी दिया गया है, किन्तु ये गाथाएं

प्रक्षिप्त लगती हैं, क्योंकि हरिभद्र (8वीं शती) ने आवश्यक निर्युक्ति की टीका में 'अधुनामुमैव गुणस्थान द्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार' कहकर इन दोनों गाथाओं को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन निर्युक्तियों के रचनाकाल में भी गुणस्थान की अवधारणा नहीं थी। निर्युक्तियों के गाथा क्रम में भी इनकी गणना नहीं की जाती है।³ इससे यही सिद्ध होता है कि निर्युक्ति में ये गाथाएँ संग्रहणी सूत्र से लेकर प्रक्षिप्त की गई हैं। प्राचीन प्रकीर्णकों में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है। श्वेताम्बर-परम्परा में इन 14 अवस्थाओं के लिए 'गुणस्थान' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें आवश्यकचूर्णि (7वीं शती) में मिलता है, उसमें लगभग तीन पृष्ठों में इसका विवरण दिया गया है।⁴ जहां तक दिगम्बर-परम्परा का प्रश्न है उसमें कसायपाहुड को छोड़कर षट्खण्डागम⁵, मूलाचार⁶ और भगवती आराधना⁷ जैसे अध्यात्म प्रधान ग्रन्थों में तथा तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि⁸, भट्ट अकलंक के राजवार्तिक⁹, विद्यानन्दी के श्लोक वार्तिक¹⁰ आदि दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है। उपर्युक्त ग्रन्थों के मूल सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि षट्खण्डागम को छोड़कर शेष सभी इसे गुणस्थान के नाम से अभिहित करते हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में भी आवश्यकचूर्णि¹¹, तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेनगणि की वृत्ति¹², हरिभद्र की तत्त्वार्थसूत्र की टीका¹³ आदि में इस सिद्धान्त का विस्तृत उल्लेख पाया जाता है।

हमारे लिये आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति ने जहां अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैनधर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है, वहां उन्होंने 14 गुणस्थानों का स्पष्ट रूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है तत्त्वार्थभाष्य, जो तत्त्वार्थसूत्र पर उमास्वाति की स्वोपज्ञ टीका मानी जाती है, उसमें भी कहीं गुणस्थान की अवधारणा का उल्लेख नहीं है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैनधर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उस काल तक गुणस्थान की अवधारणा विकसित हो चुकी थी तो फिर उमास्वाती ने अपने मूल ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र में अथवा उसकी स्वोपज्ञ टीका तत्त्वार्थभाष्य में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि वे गुणस्थान-सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यवहृत कुछ पारिभाषिक शब्दों का, यथा-बादर संपराय, सूक्ष्म संपराय, उपशान्त मोह, क्षीण मोह आदि का स्पष्ट रूप से प्रयोग करते हैं। यहां यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं है कि उन्होंने ग्रंथ को संक्षिप्त रखने के कारण उसका उल्लेख नहीं किया हो, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र नवें अध्याय में उन्होंने आध्यात्मिक विशुद्धि (निर्जरा) की इस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है।¹⁴ पुनः तत्त्वार्थभाष्य तो उनका एक व्याख्यात्मक ग्रंथ है, यदि

उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती तो उसका वे उसमें अवश्य प्रतिपादित करते। तत्त्वार्थभाष्य में भी गुणस्थान सिद्धान्त की अनुपस्थिति से यह प्रतिफलित होता है कि तत्त्वार्थभाष्य उमास्वाति की ही स्वोपज्ञ टीका है। क्योंकि यदि तत्त्वार्थभाष्य उमास्वाति की स्वोपज्ञ टीका न होती, तो तत्त्वार्थसूत्र की अन्य श्वेताम्बर-दिगम्बर सभी टीकाओं की भांति, उसमें भी कहीं न कहीं गुणस्थान की अवधारणा का प्रतिपादन अवश्य होता। इस आधार पर पुनः हमें यह भी मानना होगा कि तत्त्वार्थसूत्र की सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर टीकाओं की अपेक्षा प्राचीन और तत्त्वार्थसूत्र की समकालिक रचना है। क्योंकि यदि वह परवर्ती होता और अन्य दिगम्बर-श्वेताम्बर टीकाकारों से प्रभावित होता तो उसमें कहीं न कहीं गुणस्थान की अवधारणा अथवा गुणस्थान शब्द का प्रयोग अवश्य ही होता। क्योंकि तत्त्वार्थभाष्य को छोड़कर तत्त्वार्थसूत्र की एक भी श्वेताम्बर या दिगम्बर टीका ऐसी नहीं है, जिसमें कहीं न कहीं गुणस्थान की चर्चा नहीं हुई हो।

यद्यपि पं. नाथूरामजी प्रेमी द्वारा तत्त्वार्थभाष्य की स्वोपज्ञता स्वीकार की गई है।¹⁵ किन्तु उनके अतिरिक्त अन्य दिगम्बर विद्वानों की जो यह अवधारणा है कि तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थसूत्र पर स्वयं उमास्वाति की टीका नहीं है और परवर्ती किसी श्वेताम्बर आचार्य की रचना है।¹⁶ वह इन तथ्यों से भ्रांत सिद्ध हो जाती है।

गुणस्थान की अवधारणा का ऐतिहासिक विकासक्रम

गुणस्थान की अवधारणा के ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने की दृष्टि से एक तथ्य महत्वपूर्ण है कि न केवल प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों में, अपितु दिगम्बर परम्परा में आगम रूप में मान्य कसायपाहुडसुत्त में तथा तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञ तत्त्वार्थभाष्य में गुणस्थान की अवधारणा का कहीं भी सुव्यवस्थित निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि इन तीनों ग्रंथों में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों जैसे-दर्शनमोह-उपशमक, दर्शनमोहक्षपक, (चारित्रमोह) उपशमक (चारित्रमोह) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि के प्रयोग उपलब्ध हैं। मात्र यही नहीं ये तीनों ही ग्रंथ कर्म-विशुद्धि के आधार पर आध्यात्मिक विकास की स्थितियों का चित्रण भी करते हैं इससे ऐसा लगता है कि इन ग्रंथों के रचनाकाल तक जैन परम्परा में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हो पाया था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम में 14 गुणस्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहां समवायांग सूत्र उन्हें जीवनस्थान (जीवठाण) कहता है, वहीं षट्खण्डागम में उन्हें जीवसमास कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये दोनों ग्रंथ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थभाष्य

से किञ्चित् परवर्ती और इन 14 अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करने वाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही, ये दोनों ग्रंथ समकालिक भी अवश्य हैं क्योंकि हम देखते हैं कि छठी शताब्दी और उसके पश्चात् के श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रंथों में विशेष रूप से कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में गुणस्थान शब्द का प्रयोग बहुलता से किया जाने लगा था। इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि जैन परम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी, चौथी शताब्दी के अन्त से लेकर पांचवीं शताब्दी के बीच यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया, किन्तु इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया है। षट्खण्डागम, समवायांग दोनों ही इसके लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न कर क्रमशः जीवस्थान और जीवसमास शब्द का प्रयोग करते हैं - यह बात हम पूर्व में भी बता चुके हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सबसे पहले गुणस्थान शब्द का प्रयोग आवश्यकचूर्णि में किया गया है, उसके पश्चात् सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति और हरिभद्र की आवश्यक निर्युक्ति की टीका के काल तक अर्थात् 8वीं शती के पहले उस परम्परा में इस सिद्धान्त को गुणस्थान के नाम से अभिहित किया जाने लगा था। जैसा कि हम देख चुके हैं -दिगम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम षट्खण्डागम, मूलाचार और भगवती आराधना (सभी लगभग पांचवीं छठी शती) में गुणस्थानों का उल्लेख उपलब्ध होता है। कसायपाहुड में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति तो देखी जाती है फिर भी उसमें 14 गुणस्थानों का सुव्यवस्थित अवधारणा अनुपस्थित है। षट्खण्डागम में इन 14 अवस्थाओं का उल्लेख है, किन्तु इन्हें जीवसमास कहा गया। मूलाचार में इनके लिए 'गुण' नाम भी है और 14 अवस्थाओं का उल्लेख भी है। भगवती आराधना में यद्यपि एक साथ 14 गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है, किन्तु ध्यान के प्रसंग में 7वें से 14वें गुणस्थान तक की मूलाचार की अपेक्षा भी, विस्तृत चर्चा हुई है। उसके पश्चात् पूज्यपाद् देवनन्दी की सवार्थसिद्धि टीका में गुणस्थान (गुणठाण) का विस्तृत विवरण मिलता है। इन सभी का सन्दर्भ उल्लेख मेरे द्वारा निबन्ध के प्रारम्भ में किया जा चुका है। पूज्यपाद् देवनन्दी ने तो सवार्थसिद्धि (सत्प्ररूपण आदि) में मार्गणाओं की चर्चा करते हुए प्रत्येक मार्गणा के सन्दर्भ में गुणस्थानों का विस्तृत विवरण दिया है।¹⁷ आचार्य कुन्दकुन्द की यह विशेषता है कि उन्होंने नियमसार, समयसार आदि में मग्गणाठाण गुणठाण और जीवठाण का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है।¹⁸ इस प्रकार जो जीवठाण या जीवसमास शब्द क्रमशः समवायांग एवं षट्खण्डागम तक गुणस्थान के लिए प्रयुक्त होता था, वह अब जीव की विभिन्न योनियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने लगा। कुन्दकुन्द के ग्रंथों में जीवस्थान

(जीवठाण) का तात्पर्य जीवों के जन्म ग्रहण करने की विविध योनियों से है। इसका एक फलितार्थ यह है कि भगवती आराधना, मूलाचार तथा कुन्दकुन्द के काल तक जीवस्थान और गुणस्थान दोनों की अलग-अलग और स्पष्ट धारणाएं बन चुकी थीं और दोनों के विवेच्य विषय भी अलग हो गये हैं। जीवस्थान या जीव समास का सम्बन्ध-जीवयोनियों/जीव-जातियों से और गुणस्थान का सम्बन्ध आत्मविशुद्धि/कर्मविशुद्धि से माना जाने लगा था। ज्ञातव्य है कि आचारांग आदि प्राचीन ग्रंथों में गण शब्द का प्रयोग कर्म/बन्धकत्व के रूप में हुआ है।

इस प्रकार यदि गुणस्थान सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से विचार करें तो मूलाचार, भगवती आराधना, सवार्थसिद्धि एवं कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि सभी ग्रंथ पांचवी शती के पश्चात् के सिद्ध होते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में संग्रहणी से लेकर जो गुणस्थान सम्बन्धी दो गाथाएं प्रक्षिप्त की गई हैं वे भी उसमें पांचवी-छठी शती के बाद ही कभी डाली गई होंगी क्योंकि आठवीं शती में हरिभद्र भी उन्हें संग्रहणी गाथा के रूप में ही अपनी टीका में उद्धृत करते हैं। हरिभद्र इस सम्बन्ध में स्पष्ट हैं कि ये गाथाएं निर्युक्ति की मूल गाथाएं नहीं हैं (देखें - आवश्यक निर्युक्ति टीका हरिभद्र, भाग 2, पृष्ठ 106-107)।

इस समस्त चर्चा से ऐसा लगता है कि लगभग पांचवीं शताब्दी के अन्त में गुणस्थान की अवधारणा सुव्यवस्थित हुई और इसी काल में गुणस्थानों के कर्म प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा, विपाक आदि सम्बन्ध निश्चित किये गये। समवायांग में गुणस्थान की अवधारणा को 'जीवस्थान' के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि "कर्मों की विशुद्धि की मार्गणा की अपेक्षा से प्रत्युत 14 जीवस्थान प्रतिपादित किये गये हैं।" समवायांग की इस चर्चा की यदि हम तत्त्वार्थसूत्र से तुलना करते हैं तो हम पाते हैं कि उसमें भी कर्मनिर्जरा की अपेक्षा से 10 अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। 'कम्मविसोहि सगगण' (समवायांग-समवाय 14) और 'असंख्ययेय गुण निर्जरा' (तत्त्वार्थ सूत्र 9/47) शब्द तुलनात्मक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।⁹ इसी प्रकार समवायांग में 'सुहुं सम्पराय' के पश्चात् 'उवसामए वा खवए वा' का प्रयोग तत्त्वार्थ के उपशमक, उपशान्त और क्षपक शब्दों को स्मृतिपटल पर उजागर कर देता है। इससे यह भी फलित है कि समवायांग के काल तक श्रेणी विचार आ गया था। उपशमक उपशान्त और क्षपक शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ कसायपाहुड में व्यवहृत सम्यक्, मिश्र, असम्यक् एवं संयत, संयतासंयत (मिश्र) और असंयत शब्दों के प्रयोग हमें यह स्पष्ट कर देते हैं कि कसायपाहुडसुत्त और असंयत शब्दों के प्रयोग हमें यह स्पष्ट कर देते हैं कि कसायपाहुडसुत्त और तत्त्वार्थ सूत्र की कर्मविशुद्धि की अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थान सिद्धान्त को विकसित किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान-सिद्धान्त के बीज

तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान सिद्धान्त के बीज उसके नवें अध्याय में मिलते हैं। नवें अध्याय में सर्वप्रथम परिषहों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक विकास की चर्चा हुई है, उसमें बताया गया है कि “बादर-सम्पराय की स्थिति में 22 परिषह सम्भव होते हैं। सूक्ष्म सम्पराय और छद्मस्थ वीतराग (क्षीणमोह) में 14 परिषह होते हैं। सम्भव होते हैं। जिन भगवान् में 11 परिषह सम्भव होते हैं।”²⁰ इस प्रकार यहां बादर-सम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय, छद्मस्थ वीतराग और जिन-इन चार अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है।

पुनः ध्यान के प्रसंग में यह बताया गया है कि “अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत-इन तीन अवस्थाओं में आर्त्तध्यान का सद्भाव होता है। अविरत और देशविरत में रौद्रध्यान की उपस्थिति पायी जाती है। अप्रमत्तसंयत को धर्मध्यान होता है। साथ ही, यह उपशांत कषाय एवं क्षीण कषाय को भी होता है। शुक्लध्यान, उपशांत कषाय, क्षीणकषाय और केवली में सम्भव होता है।”²⁰ इस प्रकार यहां अविरत, देशविरत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत, उपशान्तकषाय (उपशान्त मोह), क्षीणकषाय (क्षीण मोह) और केवली ऐसी सात अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है, पुनः कर्म निर्जरा (कर्म विशुद्धि) के प्रसंग में सम्यक्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, (चरित्रमोह) उपशमक, उपशांत (चरित्र) मोह, (चरित्र मोह) क्षपक, क्षीण मोह और जिन ऐसी दस क्रमशः विकासमान स्थितियों का चित्रण हुआ है।²¹ यदि हम अनन्त वियोजक को अप्रमत्त संयत, दर्शन मोह क्षपक को अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर सम्पराय) और उपशमक (चरित्र मोह-उपशमक) को अनिवृत्तिकरण और क्षपक को सूक्ष्म सम्पराय मानें तो इस स्थिति में यहां दसगुणस्थानों के नाम प्रकारान्तर से मिल जाते हैं। यद्यपि अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशांत-मोह तथा क्षपक आदि अवस्थाओं को उनके मूल भावों की दृष्टि से तो आध्यात्मिक विकास की इस अवधारणा से जोड़ा जा सकता है, किन्तु उन्हें सीधा-साधा गुणस्थान के चौखटे में समाहित करना कठिन है। क्योंकि गुणस्थान सिद्धान्त में तो चौथे गुणस्थान में ही अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षयोपशम होता है। पुनः उपक्षम श्रेणी से विकास करने वाला तो सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में भी दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम ही करता है, क्षय नहीं। अतः अनन्तवियोजक का अर्थ अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय मानने से उपशम श्रेणी की दृष्टि से बाधा आती है। सम्यक्-दृष्टि, श्रावक, एवं विरति के पश्चात् अनन्तवियोजक का क्रम आचार्य ने किस दृष्टि से रखा, यह भी स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। तुलनात्मक

दृष्टि से दर्शनमोह क्षपक को अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के साथ योजित किया जाना चाहिए। क्षपक श्रेणी से विचार करने पर यह बात किसी सीमा तक समझ में आ जाती है, क्योंकि आठवें गुणस्थान से ही क्षपक श्रेणी प्रारम्भ होती है और आठवें गुणस्थान के पूर्व दर्शनमोह का पूर्ण क्षय मानना आवश्यक है। इसी प्रकार चारित्रमोह की दृष्टि से अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर संपराय) को चरित्रमोह उपशमक कहा जा सकता है। क्षपक को सूक्ष्म संपराय से भी योजित किया जा सकता है, किन्तु उमास्वाति ने उपशान्त मोह और क्षीण मोह के बीच जो क्षपक की स्थिति रखी जाती है उसका युक्ति संगत समीकरण कर पाना कठिन है। क्योंकि ऐसी स्थिति में उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें और क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थान के बीच ही उसे रखा जा सकता है, किन्तु गुणस्थान सिद्धान्त में ऐसी बीच की कोई अवस्था नहीं है। सम्भवतः उमास्वाति दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों का प्रथम उपशम और फिर क्षय मानते होंगे। क्षीणमोह और जिन दोनों अवधारणों में समान हैं। सयोगी केवली को 'जिन' कहा जा सकता है। इस प्रकार क्वचित्-मतभेदों के साथ दस अवस्थाएं तो मिल जाती हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि, सास्वादन सम्यक्-मिथ्यादृष्टि और अयोगी केवली की यहां कोई चर्चा नहीं है। उपशम और क्षपक श्रेणी की अलग-अलग कोई चर्चा भी यहां नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास का जो क्रम है, उसकी गुणस्थान सिद्धान्त से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहां गुणस्थान सिद्धान्त में आठवें गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से आरोहण की विभिन्नता को स्वीकार करते हुए भी यह माना है कि उपशम श्रेणी वाला क्रमशः 8वें, 9वें, एवं 10वें गुणस्थान से सीधा 12वें गुणस्थान में जाता है, जबकि उमास्वाति यह मानते प्रतीत होते हैं कि चाहे दर्शनमोह के उपशम और क्षय का प्रश्न हो या चारित्रमोह के उपशम या क्षय का प्रश्न हो- पहले उपशम होता है और फिर क्षय होता है। दर्शन मोह के समान चारित्र मोह का भी क्रमशः उपशम, उपशान्त, क्षपण और क्षय होता है। उन्होंने उपशम और क्षय को मानते हुए उनकी अलग-अलग श्रेणी का विचार नहीं किया है। उमास्वाति की कर्म-विशुद्धि की दस अवस्थाओं में प्रथम पांच का सम्बन्ध दर्शन मोह के उपशम और क्षपण से है तथा अन्तिम पांच का सम्बन्ध चारित्र मोह के उपशम, उपशान्त, क्षपण और क्षय से है। प्रथम भूमिका में सम्यक् दृष्टि उपशम से सम्यक् दर्शन प्राप्त करता है-ऐसे उपशम सम्यक् दृष्टि का क्रमशः 2 श्रावक और 3 विरत के रूप में चारित्रिक विकास तो होता है, किन्तु उसका सम्यक् दर्शन औपशामिक होता है, अतः वह उपशान्त दर्शन मोह होता है। ऐसा साधक चौथी

अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षपण (वियोजन) करता है, अतः वह क्षपक होता है, इस पांचवीं स्थिति के अन्त में दर्शनमोह का क्षय हो जाता है। छठी अवस्था में चारित्र मोह का उपशम होता है, अतः वह उपशमक (चारित्रमोह) कहा जाता है, सातवीं अवस्था में चारित्रमोह उपशान्त होता है। आठवीं में उस उपशान्त चारित्र मोह का क्षपण किया जाता है अतः वह क्षपक होता है। नवीं अवस्था में चारित्र मोह क्षीण हो जाता है, अतः क्षीण-मोह कहा जाता है और दसवीं अवस्था में 'जिन' अवस्था प्राप्त होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपास्वाति के समक्ष कर्मों के उपशम और क्षय की अवधारणा तो उपस्थिति रही होगी, किन्तु चारित्रमोह की विशुद्धि के प्रसंग में उपशम श्रेणी और क्षायिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण की अवधारणा विकसित नहीं हो पाई होगी। इसी प्रकार उपशम श्रेणी से किये गये आध्यात्मिक विकास से पुनः पतन के बीच की अवस्थाओं की कल्पना भी नहीं रही होगी।

जब हम उमास्वाती के तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से कसायपाहुड की ओर आते हैं तो दर्शन मोह की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र-मोह) और सम्यक् दृष्टि तथा चरित्रमोह की अपेक्षा से अविरत, विरताविरत और विरत की अवधारणाओं के साथ उपशम और क्षय की अवधारणाओं की उपस्थिति भी पाते हैं।¹² इस प्रकार कसायपाहुड में सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि की अवधारणा अधिक पाते हैं। इसी क्रम में आगे मिथ्या-दृष्टि, सास्वादन और अयोगी केवली की अवधारणायें जुड़ी होंगी और उपशम एवं क्षपक श्रेणी के विचार के साथ गुणस्थान का एक सुव्यवस्थित सिद्धांत सामने आया होगा।

इन तथ्यों को निम्न तुलनात्मक तालिका से समझा जा सकता है -

गुणस्थान की अवधारणा का क्रमिक विकास (1)

1. तत्त्वार्थ एवं तत्त्वार्थभाष्य (3 री-4 थी शती) गुणस्थान, जीवसमास, जीवस्थान आदि शब्दों का पूर्ण अभाव कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं का चित्रण, मिथ्यात्व का अन्तर्भाव करने पर 11 उल्लेख	2. कसायपाहुडसुत्त (3री-4थी शती) गुणस्थान, जीवस्थान, जीवसमास आदि शब्दों का अभाव, किन्तु मार्गणा शब्द पाया जाता है। कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि का उल्लेख करने पर कुल 11 अवस्थाओं का उल्लेख

सास्वादन, सम्यक्, मिथ्या दृष्टि और अयोगी केवली दशा का पूर्ण अभाव

अप्रमत्तसंयत्, अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर) अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्ति बादर) जैसे नामों अभाव उपशम और क्षय का विचार है, किन्तु 8वें गुणस्थान से उपशम और क्षयिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण होता है ऐसा विचार नहीं है।

पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं

1. मिथ्यात्व

2. -

3. -

4. सम्यक्दृष्टि

5. श्रावक

6. विरत

7. अनन्तवियोजक

8. दर्शनमोह क्षपक

9. (चारित्रमोह) उपशम

10. -

11. उपशान्त (चारित्र) मोह
(चारित्रमोह) क्षपक

12. क्षीणमोह

13. जिन

14. -

सास्वादन (सासादन) और अयोगी केवली अवस्था का पूर्ण अभाव, किन्तु

सम्यक्-मिथ्यादृष्टि की उपस्थिति

अप्रमत्तसंयत्, अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर) अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्ति बादर) जैसे नामों का अभाव उपशम और क्षपक का विचार है, किन्तु 8वें गुणस्थान से उपशम श्रेणी अलग-अलग आरोहण होता है ऐसा विचार नहीं है।

पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं

मिच्छादिदृष्टी (मिथ्यादृष्टि)

-

सम्मा-मिच्छादिदृष्टी (मिस्सग)

सम्मादिदृष्टी (सम्यक्दृष्टि) अविरदीए

विरदाविरदे (विरत-अविरत) देसविरयी
(सागार) संजमासंज

विरद (संजम)

दंसणमोह उपवसामगे (दर्शनमोह उपशामक)

दंसणमोह खवगे (दर्शन मोह-क्षपक)

चरित्तमोहस्स उपसामगे (उवसामणा)

सुहुमरागी (सुहुमग्धि सम्पराये)

उवसत्त कसाय

खवगे

खीणमोह (छदुमत्थोवेदगी)

जिण केवली सब्बण्हू-सब्बदरिसी (ज्ञातव्य है कि चूर्णि में 'सयोगिजिणो' शब्द है मूल में नहीं है)

चूर्णि में योगिनिरोध का उल्लेख है

गुणस्थान की अवधारणा का क्रमिक विकास (2)

3. समवायांग/षट्खण्डागम (5वीं शती)	4. श्वेताम्बर-दिगम्बर तत्त्वार्थ की टीकाएं एवं भगवती आराधना, मूलाचार, समयसार, नियमसार आदि (6वीं शती या उसके पश्चात्)
गुणस्थान शब्द का अभाव, किन्तु जीवठाण या जीवसमास के नाम से 14 अवस्थाओं का चित्रण, 14 अवस्थाओं का उल्लेख है।	गुणस्थान शब्द की स्पष्ट उपस्थिति
सास्वादन सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) और अयोगी केवली आदि का उल्लेख है।	
अलग-अलग श्रेणी विचार उपस्थित	अलग-अलग श्रेणी विचार उपस्थित
पतन आदि का मूल पाठ में चित्रण नहीं है	पतन आदि का व्याख्या में चित्रण है
मिच्छादिट्ठी (मिथ्यादृष्टि)	मिथ्यादृष्टि
सास्वादन सम्यक्दृष्टि (सासायण-सम्मादिट्ठी)	सास्वादन
सम्मा-मिच्छादिट्ठी (सम्यक्-मिथ्यादृष्टि)	सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)
अविरय सम्मादिट्ठी	सम्यक्दृष्टि
विरयारिए (विरत-अविरत)	-
प्रमत्तसंजए	प्रमत्तसंयत
अप्रमत्तसंजए	अप्रमत्तसंयत
निअट्ठिबायरे	अपूर्वकरण
अनिअट्ठिबायरे	अनिवृत्तिकरण
सुहुम संपराए	सूमसम्पराय
उवसंत मोहे	उपशान्त मोह
-	-
खीणमोहे	क्षीणमोह
सजोगी केवली	सयोगीकेवली

इस तुलनात्मक विवरण से हम पाते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के समान ही कसायपाहुडसुत्त में न तो गुणस्थान शब्द ही है और न गुणस्थान सम्बन्धी 14 अवस्थाओं का सुव्यवस्थित विवरण ही है, किन्तु दोनों में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। कसायपाहुड में गुण स्थान से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द हैं - मिथ्यादृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि/मिश्र, अविरत/सम्यक्दृष्टि, देशविरत/विरताविरत, संयमासंयम, विरत/संयत, उपशांतकषाय, क्षीणमोह-तुलना की दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र में सम्यक् मिथ्यादृष्टि की अवधारणा अनुपस्थित है, जबकि कसायपाहुडसुत्त में इस पर विस्तृत चर्चा उपलब्ध है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की 'अनन्तवियोजक' की अवधारणा कसायपाहुड में उपलब्ध नहीं है - उसके स्थान पर उसमें दर्शनमोह उपशमक की अवधारणा पायी जाती है। तत्त्वार्थसूत्र की उपशमक, उपशांत, क्षपक और क्षीणमोह की अवधारणायें स्पष्ट रूप से कसायपाहुडसुत्त में चारित्रमोह उपशमक, उपशांत कषाय और चरित्रमोह क्षपक तथा क्षीणमोह के रूप में यथावत् पायी जाती है। यहां 'चरित्रमोह' शब्द का स्पष्ट प्रयोग इन्हें तत्त्वार्थ की अपेक्षा अधिक स्पष्ट बना देता है। पुनः कसायपाहुडसुत्त मूल में भी तत्त्वार्थसूत्र के समान ही प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण-ये चारों नाम अनुपस्थित हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा इसमें सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र मिसग) और सूक्ष्म-सम्पराय (सुहुमराग/सुहुमसंपराय) ये दो विशेष रूप से उपलब्ध होते हैं। पुनः उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच दोनों ने क्षपक (खवग) की उपस्थिति मानी है, किन्तु गुणस्थान-सिद्धान्त में ऐसी कोई अवस्था नहीं है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कसायपाहुड और तत्त्वार्थसूत्र में कर्मविशुद्धि की अवस्थाओं के प्रश्न पर बहुत अधिक समानता है-मात्र मिश्र और सूक्ष्म-सम्पराय की उपस्थिति के आधार पर उसे तत्त्वार्थ की अपेक्षा किञ्चित् विकसित माना जा सकता है। दोनों की शब्दावली, क्रम और नामों की एकरूपता से यही प्रतिफलित होता है कि दोनों एक ही काल की रचनायें हैं।

मुझे लगता है कि कषयपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य के काल में आध्यात्मिक-विशुद्धि या कर्म-विशुद्धि का जो क्रम निर्धारित हो चुका था, वही आगे चलकर गुणस्थान-सिद्धान्त के रूप में अस्तित्व में आया। यदि कसायपाहुड और तत्त्वार्थ चौथी शती या उसके पूर्व की रचनायें हैं तो हमें यह मानना होगा कि गुणस्थान की, सुव्यवस्थित अवधारणा चौथी और पांचवीं शती के बीच ही कभी निर्मित हुई है, क्योंकि लगभग छठी शती से सभी जैन विचारक गुणस्थान-सिद्धान्त की चर्चा करते प्रतीत होते हैं, इसका एक फलितार्थ यह भी है कि जो कृतियाँ गुणस्थान की चर्चा करती हैं, वे सभी लगभग पांचवीं शती के पश्चात् की हैं। यह

बात भिन्न है कि तत्त्वार्थसूत्र और कसायपाहुड को प्रथम-द्वितीय शताब्दी का मानकर इन ग्रन्थों का काल तीसरी-चौथी शती माना जा सकता है। किन्तु इतना निश्चित है कि षट्खण्डागम, भगवती आराधना एवं मूलाचार के कर्ता तथा आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति से परवर्ती ही है, पूर्ववर्ती कदापि नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती इन जैन चिन्तकों, माध्यमिकों एवं प्राचीन वेदान्तियों-विशेषरूप से गौड़पाद् के विचारों का लाभ उठाकर जैन आध्यात्म को एक नई ऊंचाई पर पहुँचाया। मात्र यही नहीं उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि अवधारणाओं से पूर्णतया अवगत होकर भी शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा के सम्बन्ध में इन अवधारणाओं का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। यह प्रतिषेध तभी सम्भव था, जब उनके सामने ये अवधारणायें सुस्थिर होतीं।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आध्यात्मिक विकास के इन विभिन्न वर्गों की संख्या के निर्धारण में उमास्वाति पर बौद्ध-परम्परा और योग-परम्परा का भी प्रभाव हो सकता है। मुझे ऐसा लगता है कि उमास्वाति ने आध्यात्मिक विशुद्धि की चतुर्विध, सप्तविध और दसविध वर्गीकरण की यह शैली सम्भवतः बौद्ध और योग परम्पराओं से ग्रहण की होगी। स्थविरवादी बौद्धों में सोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् ऐसी जिन चार अवस्थाओं का वर्णन है वे परिषद के प्रसंग में उमास्वाति की बादर सम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय, छद्मस्थवीतराग और जिनसे तुलनीय मानी जा सकती हैं। योगवाशिष्ठ में आध्यात्मिक विकास की ज्ञान की दृष्टि से जिन सात अवस्थाओं का उल्लेख है उन्हें ध्यान के सन्दर्भ में प्रतिपादित तत्त्वार्थसूत्र की सात अवस्थाओं से तुलनीय माना जा सकता है। इसी प्रकार महायान सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकास की जिन दस अवस्थाओं का चित्रण है, उन्हें निर्जरा के प्रसंग से उमास्वाति द्वारा प्रतिपादित दस अवस्थाओं से उन्हें निर्जरा की चर्चा के प्रसंग से उमास्वाति द्वारा प्रतिपादि दस अवस्थाओं से तुलनीय माना जा सकता है।²³ इसी प्रकार आजीविकों द्वारा प्रस्तुत आठ अवस्थाओं से भी इनकी तुलना की जा सकती है। यद्यपि इस तुलनात्मक अध्ययन के सम्बन्ध में अभी गहन चिन्तन की अपेक्षा है, इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा अगले किसी लेख में करेंगे।

संदर्भ -

1. कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउछस जीवद्वाण, पण्णत्ता, तं जह्म-भिच्छादिट्ठी; सासायणसम्मादिट्ठी, तम्माभिच्छादिट्ठी, अविरयसम्मादिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, निअट्ठिबायरे, अनिअट्ठिबायरे, सुहुमसंपराएउवसामाए वा खवए वा, उवसंतमोहे, रवीणमोहे, सजोगीकेवली, अयोगी केवली।
- समवावांग (सम्पा. मधुकर मुनि), 14/95

2. मिच्छादिद्वी सासायणे य तह सम्ममिच्छादिद्वी य।
अविरयसम्मदिद्वी विरयाविरए पमते य।।
तत्तो य अप्पतमत्तो नियद्धिअनियठिबायरे सुहुमे।
उवसंतखीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य।।
- निर्युक्ति संग्रह (आवश्यकनिर्युक्ति), पृ. 149
3. चोदसहिं भूयगामेहिं वीसाए असमाहिठाणेहि।।
- आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्र) भाग 2, प्रका. श्री भेरूलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, वीर सं. 2508; पृष्ठ 106-107
4. तत्थ इमातिं चोदस गुणझाणि अजोगिकेवली नाम सलेसीपडिवन्नओ, सो यह तीहिं जोगेहिं विरहितो जाव कखगघड. इच्चेताई पंचहस्तखराई उच्चरिज्जति एवतियं कालमजोगिकेवली भवितूण ताहे सव्वकम्मविणिमुक्की सिद्ध भवति।
- आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि), उत्तर भाग, पृ. 133-136, रतलाम, 1929.
5. एदेसि चेव चोदसण्हं जीवसमासाण परुवणइदाए तत्थ इमाणि अट्ट अणियोगद्धा राणि णायव्याणि भवन्ति मिच्छादिद्वि सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्ध चेदि।
- षट्खण्डागम (सत्परूपणा), पृ. 154-201 प्रका. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (पुस्तक) द्वि. सं. सन् 1973
6. मिच्छादिद्वी सासादणो य मिस्सो असंजदो चेव।
देसविश्वो प्रमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो।।154।।
एत्तो अपुव्वकरणो आणियद्धी सुहुमसंपराओ य।
उवसंतखीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य।।155।।
सुरणारयेसु चत्तारि होति तिरियेसु जाण पंचेव ।
मणुसगदीएवि तहा चोदसगुणणामधेयाणि।।159।।
- मूलाचार (पर्याप्त्यधिकार), पृ. 273-279; माणिकचन्द-दिगम्बर ग्रन्थमाला (23), बम्बई, वि.सं. 1980
7. अध खवयसेट्ठिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो।
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वन्ति।।2087।।
अणिवित्तिकरणणामं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म।
णिछाणिछा पयलापयला तध धीणगिद्धिं च।।2088।।
- भगवती आराधना, भाग 2 (सम्पा. कैलाशचंद्र सिद्धान्तशास्त्री) पृ.890 (विशेष विवरण) हेतु देखें गायथा-2072 से 2126 तक
8. सवार्थसिद्धि (पूज्यपाद देवनन्दी) सूत्र 1/8 की टीका, पृ. 30-40, 9-13 की टीका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी 1955.
9. राजवार्तिक (भट्ट अकलंक) 9/10/11 पृ. 588.
10. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकम् (विद्यानन्दी), निर्णयसागर प्रेस सन् 1918. देखें -
गुणस्थानापेक्ष...। 10/3;... गुणस्थानभेदेन... 9/36/4, पृ. 503,... अपूर्वकरणादीनां...। 9/37/2; विशेष विवरण हेतु देखें- 9/34-44 तक की सम्पूर्ण व्याख्या।
11. आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि), उत्तर भाग, पृ.133-136।

12. एतस्य त्रयः स्वामिनश्चतुर्थ-पञ्चम षष्ठ गुणस्थानवर्तिनः ... । तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (सिद्धसेन गणिकृत भाष्यानुसारिणिका समलंकृत-सं. हीरालाल रसिकलाल कापडिया) 9/35 की टीका ।
13. श्रीतत्त्वार्थसूत्रम् (टीका-हरिभद्र), ऋषभदेव केशरीमल संस्था सं. 1992, पृ. 465-466.
14. सम्यग्दृष्टिश्चावक विरतान्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक्षी-णमोहजिनाःक्रमशो संख्येयगुणनिर्जराः 9/47, तत्त्वार्थसूत्र, नवम् अध्याय, पृ. 136; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वारणसी 1985.
15. जैन साहित्य और इतिहास (पं. नाथूरामजी प्रेमी) पृ. 524-529 ।
16. देखें - (अ) जैन साहित्य का इतिहास द्वितीय भाग, (पं. कैलाशचंद्रजी) चतुर्थ अध्याय पृ. 294-299 । (ब) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश (पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार), पृ. सं. 125-149 । (स) तीर्थंकर महावीर औरउनकी आचार्य परम्परा, भाग-2 (डॉ. नेमीचन्द्रजी) (द) सर्वार्थसिद्धि-भूमिका, पं. फूलचन्द जी सिद्धान्ताशास्त्री, पृ. 31-46 ।
17. देखें-सर्वार्थसिद्धि-सं.-पं. फूलचन्द सिद्धान्ताशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ (1955 1/8; पृ. 31-33, 34, 46, 55-56, 65-67, 84-85, 88 ।
18. (अ) णाहं मग्गणाठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।।
- नियमसार गाथा 77, प्रकाशक-पंडित अजित प्रसाद, दि सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ 1931 ।
(ब) णेव या जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य'अत्थि जीवस्स ।
जेण टु एदे सब्बे पुग्गलदब्बस्स परिणामा ।।
- समयसार, गा. 55, प्रका.-श्री म. ही. पाटनी दि. जैन पार. ट्रस्ट मारोठ (मारवाड़) 1953 ।
19. सूक्ष्मसम्प्रायच्छहस्रवीतरागयोश्चतुर्दश ।।10 ।।
एकादश जिने ।।11 ।।
बादरसम्प्राये सर्वे ।।12 ।।
तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 9, विवेक पं. सुखलालजी
20. तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।।35 ।।
हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेखविरतयोः ।।36 ।।
आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ।।37 ।।
उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ।।38 ।।
शुक्ले चाये पूर्व विदः ।।39 ।।
परे केवलिनः ।।40 ।। - तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 9
21. सम्यग्दृष्टिश्चावकविरतान्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-
मोहक्षपक्षीणमोजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ।।47 ।। - तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 9
22. कसायपाहुडसुत्त सं. पं. हीरालाल जैन-वीरशासन संघ, कलकत्ता 1958 । देखें-
सम्मतदेसविरयी संजम उवसामणाचखवणा च ।
दंसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिदेसो ।।14 ।।

- सम्पत्ते मिच्छते य मित्सगे चेव बौद्धव्वा ।।82 ।।
 विरदीय अविरदीए विरदाविरदे तथा अणगारे ।।83 ।।
 दंसणमोहत्स उवसामगस्स परिणामोकेरिसो भवेः ।।91 ।।
 दंसणमोहद्वखवणा पट्टवणो कम्मभूमि जादो तु ।।110 ।।
 सुहुमे च सम्पराए बादररागे च बौद्धव्वा ।।121 ।।
 उवसामणा खएण दु पडिवदि दो होइ सुहुम रागम्मि ।।122 ।।
 खीणेषु कसाएसु य तेसाण केव होंति विचारा ।।132 ।।
 संकामणयोवट्ठण किट्ठी खवणाए खीण मोहंते ।
 खवणा य आणुपुव्वी बोद्धव्वा मोहणीयस्स ।।233 ।।
 23. विस्तृत विवरण हेतु देखें जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक
 अध्ययन भाग 2, डॉ सागरमल जैन, प्राकृत भारती, जयपुर, पृ. 471-478 एवं पृ.
 487-488 ।
 चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे, विवेकस्तद्विवेचनम्
 उपादेयमुपादेयं, हेयं हेयं च सर्वतः ।
 हेयं तु कर्तुरागादि, तत्कार्यमविवेकिनः,
 उपादेयं परं ज्योतिरूपयोगैक लक्षणम् ।। - पद्मनन्दि

उत्तराध्ययन के दो संदर्भ -

1. करकंडू कलिंगेषु पंचालेषु य दुम्भुहो ।
 नमी राया विदेहेषु गंधारेषु य नगई ।।45 ।।
 एए नरिंदवसभा विखंता जिणसासणे ।
 पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं सामण्ये पुज्जुवड्डिया ।।46 ।।
 सोवीररायवसभो 'चेच्चा रज्ज' मुणी चरे ।
 उदायणो पव्वइओ पत्तो गइमणुत्तरं ।।46 ।।
 - अट्ठारसमं अज्झयणं (संजइज्ज)
2. चंपाए पालिए नाम सावए आसि वाणिए ।
 महावीरस्स भगवओ सीसे सो उ महप्पणो ।।11 ।।
 निग्गंथे पावयणे सावए से विकोविए ।
 पोएण ववहरंते पिहुंडं नगरमागए ।।2 ।।
 पिहुंडे ववहरंतस्स वाणिओ देइ धूयरं ।
 तं ससत्तं पइगिज्झ सदेसमह पत्थिओ ।।3 ।।
 अह पालियस्य धरणी समुद्धमि पसवई ।
 अह 'दारए तहि' जाए समुद्धपालि ति नामए ।।4 ।।
 - एगविसइमं अज्झयणं (समुद्धपालीय)

उक्त दोनों प्रसंग कलिंग और कलिंग के बन्दरगाह पिहुंड नगर का उल्लेख करते हैं। प्रसंग क्रमांक-1 में बताया गया है कि जब कलिंग में करकंडू का शासन था तो पांचाल में दुमुर्ख, विदेह में निमि और गंधार में नग्नजित् शासक थे और इन चारों राज्यों में जिनशासन था। ऐतरेय ब्राह्मण (7.34) के हवाले से यह संदर्भ महाभारत पूर्व माना जा सकता है।

दूसरा प्रसंग पिहुंड नगर में भगवान् महावीर के भ्रमण का वृत्तान्त देता है।

यह प्रसंग आवश्यक सूत्र के विवरण अनुसार-भगवान् महावीर के तोसली और मोसली जाने से तुलनीय है। प्रो. के.सी. जैन के अनुसार तोसली-मोसली जाने पूर्व भगवान् महावीर वलूयगाम, सुभोम, सुचेत्ता, मलय और हथिसिस स्थानों पर गये जहाँ उन्हें शारीरिक यातनाएं भी सहनी पड़ी।

ये सभी स्थान कोशल (कलिंग के उत्तन-पश्चिमी क्षेत्र) में स्थित रहे हो सकते हैं। वर्तमान सोनपुर (बलंगिर जिला) और मलयगिरि (पल्लहर के पास) दो स्थल क्रमशः सुभोम और मलय से पहचाने जा सकते हैं। 'हथिसिस' राजा खारवेल की पट्टराणी ललाक का पीहर हो सकता है जो बहुत बाद में जैन धर्म बना होगा।



संयम : जीवन का सम्यक् दृष्टिकोण

संभवतः किन्हीं विचारकों की यह मान्यता हो सकती है कि व्यक्ति को अपनी जीवन यात्रा के संचालन में किन्हीं मर्यादाओं एवं आचार के नियमों से नहीं बांधना चाहिये। लेकिन यदि हम विचारपूर्वक देखें तो यह तर्क युक्तिसंगत नहीं। इस तथ्य के समर्थन में प्रबलतम तर्क यह दिया जा सकता है कि 'मर्यादाओं के द्वारा हम व्यक्ति के जीवन की स्वाभाविकता नष्ट कर देते हैं और मर्यादाएं या नियम कृत्रिम एवं आरोपित होते हैं, वे तो स्वयं एक प्रकार के बंधन हैं। इस प्रकार मनुष्य के लिए मर्यादाएं (सीमा रेखाएँ) व्यर्थ हैं।'।

लेकिन यह मान्यता यथार्थ नहीं। यदि हम प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करें तो हमें स्वयं ज्ञात होगा कि प्रकृति स्वयं नियमों से आबद्ध है। एक पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा का कथन है कि 'संसार में जो कुछ हो रहा है, नियमबद्ध हो रहा है इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता.... जो कुछ होता है प्राकृतिक नियम के अधीन होता है।'।

- प्रकृति स्वयं उन तथ्यों को व्यक्त कर रही है जो इस धारणा को पुष्ट करते करते हैं कि विकारमुक्त स्वभावदशा की प्राप्ति एवं आत्मविकास के लिए मर्यादाएं आवश्यक हैं। चेतन और अचेतन दोनों प्रकार की सृष्टियों की अपनी-अपनी मर्यादाएं हैं। सम्पूर्ण जगत् नियमों से शासित है। जिस समय जगत् में नियमों का अस्तित्व समाप्त होगा उसी समय जगत् का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा। अतः नियम या मर्यादाएं कृत्रिम या अस्वाभाविक नहीं, स्वाभाविक हैं।

नदी का अस्तित्व इसी में है कि वह अपने तटों की मर्यादा स्वीकार करे। यदि अपनी सीमा-रेखा (तट) को स्वीकार नहीं करती है तो क्या वह अपना अस्तित्व बनाये रख सकती है? क्या अपने लक्ष्य जलनिधि (समुद्र) को प्राप्त कर सकती है? किंवा जनकल्याण में उपयोगी हो सकती है? वास्तव में तटों की मर्यादा के बिना नदी, नदी ही नहीं रह सकती। प्रकृति यदि अपने नियमों में आबद्ध नहीं रहे, वह मर्यादा भंग कर दे तो वर्तमान विश्व क्या अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है? प्रकृति का अस्तित्व स्वयं उसके नियमों पर है। डॉ. राधाकृष्णन अपनी पुस्तक

“हिन्दुओं का जीवन दर्शन” में लिखते हैं कि “प्रकृति का मार्ग लोगों के मन में छाई भावना और संस्कार द्वारा नहीं बरन् शाश्वत नियमों द्वारा निर्धारित होता है विश्व पूर्णरूप से नियमबद्ध है।”²

पशु जगत् के अपने नियम और मर्यादाएं हैं जिनके आधार पर वे अपनी जीवन यात्रा सम्पन्न करते हैं। उनके आहार-विहार सभी नियम बद्ध हैं, वे निश्चित समय पर भोजन की खोज में निकल जाते एवं वापस लौट आते हैं। उनके जीवन कार्यों में एक व्यवस्थितता होती है। उनका जीवन नियमबद्ध है लेकिन उपर्युक्त सभी तथ्यों के प्रति आपत्ति यह की जा सकती है कि ये सभी नियम स्वाभाविक या प्राकृतिक हैं, जबकि मानवीय नैतिक नियम कृत्रिम या निर्मित होते हैं। अतएव उनकी महत्ता प्राकृतिक नियमों की महत्ता के आधार पर सिद्ध नहीं की जा सकती।

अब हम यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि मनुष्य के लिए निर्मित नैतिक नियम क्यों आवश्यक हैं। इस हेतु हमें सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक होगा कि सामान्य प्राणीवर्ग और मनुष्य में क्या अन्तर है, जिसके आधार पर उसे नैतिक मर्यादाएं (निर्मित नियम) पालन करने को कहा जा सकता है?

यह निर्विवाद सत्य है कि प्राणी वर्ग में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसमें सर्वाधिक चिन्तन की क्षमता है। उसका यह ज्ञान-गुण या विवेक क्षमता ही उसे पशुओं से पृथक् कर उच्च स्थान प्रदान करती है। कहा भी है -

आहार निद्रा भय मैथुनंच, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो, ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः।।

उसे अपनी इस विवेकशक्ति के आधार पर ही इन तथ्यों पर विचार करना है कि मनुष्य के लिए शुभ क्या है, अशुभ क्या है? अथवा उसके लिये ज्ञेय, हेय और उपादेय तत्त्व क्या हैं?

मनुष्य का कार्य यही है कि वह अपने हिताहित का विचार करे। स्मृतिकार मनु भी यही कहते हैं - मननात् मनुष्यः।

जिसमें मनन करने की सामर्थ्य है वही मनुष्य है। जिस मनुष्य में अपने कर्तव्यों का ज्ञान नहीं, जो सर्व कर्मों के प्रति अज्ञान है अर्थात् जो शुभ और अशुभ कर्मों के विभेद को नहीं जानता और समयोचित आचरण नहीं करता वह मनुष्य पशु ही है-

अबुधः सर्वकार्येषु, अज्ञातः सर्वकर्मसु।

समयाचारहीनस्तु, पशुरेव स बालिशः।³

अब हम कुछ पाश्चात्य विचारकों के विचारों के विचार इस सम्बन्ध में जानने का प्रयत्न करेंगे। ग्रीक आचार्य अरस्तू मनुष्य की परिभाषा एक बौद्धिक (विचारशील) प्राणी के रूप में करते हैं (Man is a rational animal) अरस्तू की

परिभाषा भारतीय विचारकों के अनुकूल होने के साथ ही तार्किक और स्वाभाविक भी है। इन सब तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनुष्य के चिन्तन का विषय क्या है? स्वाभाविक रूप से चिन्तन के तीन रूप ही हो सकते हैं:-

- (1) वह स्वयं क्या है?
- (2) यह दृश्य जगत् क्या है और इसका सारतत्त्व क्या है?
- (3) व्यक्ति और जगत् का क्या सम्बन्ध है या होना चाहिए?

पहले दो विषय तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित हैं और तीसरा नीतिशास्त्र से। मनुष्य के आचार के नियम इसी आधार पर निश्चित किये जाते हैं। यदि मनुष्य के लिए नैतिक मर्यादाएं ही मान्य न की जाएं तो हमारा यह मानना कि मनुष्य विवेकशील प्राणी हैं, कोई अर्थ नहीं रखता और मनुष्य तथा पशु में कोई अन्तर भी नहीं रह जाता।

नैतिक नियम मानव जाति के सहस्रों वर्षों के चिन्तन और मनन के परिणाम हैं। उनको मानने से इनकार करने का अर्थ होगा कि मनुष्य जाति को उसकी ज्ञानक्षमता से विलग कर पशु जाति की श्रेणी में मिला देना।

स्वाभाविक नियम तो पशु जाति में भी होते हैं। उनके आचार और व्यवहार उन्हीं नियमों से शासित होते हैं। वे आहार की मात्रा, रक्षा के उपाय आदि का निश्चय इन स्वाभाविक नियमों के सहारे करते हैं, लेकिन मनुष्य की विशिष्टता इसी में है कि वह स्वचिन्तन के आधार पर अपने हिताहित का ध्यान रख ऐसी मर्यादाएँ निश्चित करे जिससे वह अपने परम साध्य को प्राप्त कर सके।

काण्ट ने कहा है कि “अन्य पदार्थ नियम के अधीन चलते हैं। मनुष्य नियम के प्रत्यय के अधीन भी चल सकता है। अन्य शब्दों में, उसके लिए आदर्श बनाना और उन पर चलना संभव है।”⁴

मनुष्य अपने को पूर्ण रूप से प्रकृति पर आश्रित नहीं रखता है। वह प्रकृति के आदेशों का पूर्ण रूप से पालन नहीं करता। आज तक का मानव-जाति का इतिहास यह बताता है कि मनुष्य ने प्रकृति से शासित होने की अपेक्षा उस पर शासन करने का प्रयत्न किया है। फिर आचार के क्षेत्र में यह दावा कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि मनुष्य को अपनी वृत्तियों की पूर्ति हेतु मानवों द्वारा निर्मित नैतिक मर्यादाओं द्वारा शासित न कर स्वतंत्र परिचरण करने देना चाहिए। मनुष्य जीवन में कृत्रिमता को अधिक स्थान दिया है और इस हेतु उसके लिए अधिक निर्मित नैतिक मर्यादाओं की आवश्यकता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है 'Man is a social animal' यह मनुष्य के सम्बन्ध में दूसरा मुद्रालेख है। यह व्यक्त करता है कि मनुष्य के स्वहित के दृष्टिकोण से बनाये गये आचार के नियम भी ऐसे होने चाहिए जो उसकी सामाजिकता को बनाए रखें। सामाजिक व्यवस्था में व्याघात उत्पन्न करने का अधिकार उसे प्राप्त नहीं है।

उपर्युक्त आधार पर मनुष्य की आचारविधि या नैतिक मर्यादाएं दो प्रकार की हो सकती हैं; एक समाजगत और दूसरी आत्मगत। पाश्चात्य विचारक भी ऐसे ही दो विभाग करते हैं - 1. उपयोगितावादी सिद्धान्त 2. अन्तरात्मक सिद्धान्त।

लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि निरपेक्ष रूप से न तो समाजगत विधि ही अपनाई जा सकती है और न आत्मगत, दोनों का सापेक्षिक महत्त्व है। यह एक अलग तथ्य है कि किसी परिस्थिति विशेष में साधक की योग्यता के आधार पर किसी एक को प्रमुखता दी जा सकती है और दूसरी गौण हो सकती है, लेकिन एक की अवहेलना करके आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

चाहे हम अपने लिए या समाज के लिए नैतिक मर्यादाओं का पालन करें, लेकिन उनकी अनिवार्यता से इनकार नहीं किया जा सकता। दृष्टिकोण चाहे जो हो, दोनों में संयम के लिए समान स्थान है। असंयम से जीवन बिगड़ता है, प्राणी दुःखी होता है। इस सम्बन्ध में श्री अगरचंद नाहटा का कथन है -

1. **खाने में ही देखिए** - संयम की बड़ी आवश्यकता रहती है। जो आया वही भक्ष्य, अभक्ष्य व अपरिमित खाता रहे तो ठीक से न पचने या स्वास्थ्य के विरोधी तत्वों के शरीर में प्रवेश के कारण रोगों की उत्पत्ति हो जाएगी। बीमार व्यक्ति यदि खाने का संयम न रखे, जो इच्छा में आए वह खा ले, तो तुरन्त रोग बढ़कर मृत्यु को प्राप्त हो सकता है।
2. **भोगों में संयम** - विषय सुख बड़े मधुर लगते हैं, पर यदि व्यक्ति इनमें संयम न रखे तो वीर्यनाश से शक्तिहास यावत् रोगोत्पत्ति से मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। सुन्दर स्त्रियों को देखकर मन ललचा जाता है, किंतु पराई स्त्रियों से विषय-सुख की इच्छा करने पर समाज व्यवस्था में विश्रृंखलता पैदा हो जाएगी। मन की चंचलता की दौड़ में यदि अभोग्य बहन, बेटी, कुटुम्बिनी तक से विषय सुख की लालसा जाग्रत हो गई तो अनर्थ हो जाएगा।
3. **बोलने में संयम** न रखे तो कलह की व मनोमालिन्य की सृष्टि होती है। चाहे जैसा जो वाक्य मन में आया बोल दिया तो उसका परिणाम बड़ा दारुण होता है। अधिकांश झगड़े इसी कारण पैदा होते हैं। तूने मुझे ऐसा क्यों कहा? इस तरह बस बात ही बात में झगड़ा बढ़ जाता है।

4. वाद्ययंत्रों के वादन में, मोटर आदि के चलाने में हाथ का संयम रखना जरूरी होता है। थोड़ा-सा हाथ का संयम खत्म हुआ कि मोटर कहीं से कहीं जा गिरेगी। ताल व वाद्य पर कंट्रोल न रहा तो सारा मजा किरकिरा हो जाएगा।

संयम के बिना जीवन नहीं चल सकता, संयम रूपी ब्रेक की हर काम में आवश्यकता होती है। जिस प्रकार मोटर, रेल, साइकिल आदि में ब्रेक न हो तो महान् दुर्घटना की सम्भावना रहती है उसी प्रकार जीवन में भी संयम न रहने पर अनेक दुर्घटनाएँ घटित हो सकती हैं।

सामाजिक जीवन में भी संयम के अभाव में सुखद जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। सामाजिक जीवन में प्रविष्टि संयम के बिना संभव ही नहीं है। व्यक्ति जब तक अपने हितों को मर्यादित नहीं कर सकता और अपनी आकांक्षाओं को सामाजिक हित के लिये बलिदान नहीं कर सकता वह सामाजिक जीवन के अयोग्य है।

समाज में शांति और समृद्धि तभी संभव है जब उसके सदस्य अपने हितों का नियंत्रण करना सीखें। सामाजिक जीवन में हमें अपने हितों के लिए एक सीमा-रेखा निश्चित करनी होती है। हम अपने हितसाधन की सीमा वहीं तक बढ़ा सकते हैं जहाँ तक दूसरे के हित की सीमा प्रारम्भ होती है। समाज में व्यक्ति अपने स्वार्थ की सिद्धि तभी तक कर सकता है जब तक उससे दूसरे का अहित न हो। इस प्रकार सामाजिक जीवन में हमें संयम का पहला पाठ पढ़ना ही होता है। मात्र यही नहीं वरन् हमें साथियों के लिए अपनी आवश्यकताओं का बलिदान करना पड़ता है।

सामाजिक जीवन के आवश्यक तत्त्व है : 1. अनुशासन, 2. सहयोग की भावना और 3. अपने हितों को बलिदान करने की क्षमता। क्या इन सबका आधार संयम नहीं है? वस्तुस्थिति यह है कि संयम के बिना सामाजिक जीवन की कल्पना ही संभव नहीं।

संयम और मानवजीवन ऐसे घुले-मिले तथ्य हैं कि उनसे परे एक सुव्यवस्थित जीवन की कल्पना संभव नहीं हैं। संयम का दूसरा रूप ही मर्यादित जीवनव्यवस्था है। मनुष्य के लिए अमर्यादित जीवनव्यवस्था संभव नहीं है। हम सभी ओर से मर्यादाओं से आबद्ध हैं, प्राकृतिक मर्यादाएँ, व्यक्तिगत मर्यादाएँ, सामाजिक मर्यादाएँ, राष्ट्रीय मर्यादाएँ और अंतर्राष्ट्रीय मर्यादाएँ, इन सभी से मनुष्य बंधा हुआ है और यदि वह इन सबको स्वीकार न करे तो वह उस दशा में पशु से भी हीन होगा। महान् राजनैतिक विचारक रूसो ने ठीक ही कहा है- "Man was born free and every where he is in chains"⁵ 'मनुष्य का जन्म स्वतंत्र रूप में हुआ था, लेकिन वह अपने को शृंखलाओं में जकड़ा हुआ पाता है।'

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मर्यादाओं का पालन आवश्यक और अनिवार्य है। सभी मर्यादाओं का पालन संयम नहीं कहला सकता, लेकिन यदि सभी मर्यादाएँ स्वेच्छा से स्वीकार कर ली जाती हैं तो उनके पीछे अव्यक्त रूप में संयम का भाव छिपा रहता है। वे ही मर्यादाएँ संयम कहलाने की अधिकारी हैं जिनके द्वारा व्यक्ति आत्मविकास और परमसाध्य की प्राप्ति करता है।

ऊपर हमने संयम की सामान्य आवश्यकता के सम्बन्ध में विचार किया। अब हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि वर्तमान परिस्थितियों में संयम का स्थान क्या है?

वर्तमान युग भौतिकवाद का युग है। आज के युग में संयम का स्थान नगण्य-सा होता जा रहा है। हम मानवजाति के विकास हेतु जिन साधनों का प्रयोग कर रहे हैं उनका एक मात्र लक्ष्य है 'आवश्यकताओं की असीमित वृद्धि और उनकी पूर्ति का निरन्तर प्रयास'। इस प्रकार वर्तमान युग में आवश्यकताओं की वृद्धि के मार्ग पर मानव अबाध गति से बढ़ रहा है और अर्थशास्त्री तथा वैज्ञानिक इसे प्रगति का पूर्ण अंग मानकर इस कार्य को गति प्रदान कर रहे हैं।

भौतिक आवश्यकताओं का जीवन में स्थान है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है। हमारे यहाँ कहा गया है 'भूखे भजन न होइ गोपाला'। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति अनिवार्य है, किन्तु उसकी भी एक सीमा है। कबीरदास न इस तथ्य को अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है -

कबीरा सरीर सराय है, भाड़ा देके बस।

जब भठियारी खुश रहे, तब जीवन का रस' ।।

इसमें कबीर के शब्दों की अभिव्यंजना को देखिये। सम्पूर्ण दोहे में भौतिक आवश्यकता को शरीर के लिए आवश्यक मानते हुए भी उन्होंने शरीर को सराय कहकर यह भाव व्यक्त कर दिया कि यह न तो अपना ही है और न आदर्श ही, वरन् यह आध्यात्मिक विकास यात्रा का पड़ाव मात्र है। हमारी यात्रा का लक्ष्य तो है उस आध्यात्मिक आदर्श को प्राप्त करना, जो कि अपना है। लेकिन जिस प्रकार पथिक को अपनी यात्रा में बढ़ने के लिए बीच-बीच में सराय के मालिकों को किराया देकर विश्राम करना भी आवश्यक है, उसी प्रकार हमें जीवन में भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी जरूरी होता है।

भौतिक आवश्यकताओं की अवहेलना कर आध्यात्मिक आदर्शों की बात नहीं की जा सकती है। मनुष्य में पाशविक और दैवी दोनों वृत्तियों का संयोग है। यदि मनुष्य में निम्न वृत्तियों का अभाव हो जाता है। तो वह मनुष्य से देव बन जाता है और इसी प्रकार यदि उसमें दैवी वृत्तियों का अभाव होता है तो वह पशु ही कहला सकता है। कहा भी है -

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणों न धर्मः ।

ते मृत्यु लोके भुविभारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।

तात्पर्य यह कि मनुष्य जाति के सच्चे विकास हेतु भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रवृत्तियों में संतुलन स्थापित करना होगा। यदि मानव जीवन के सम्पूर्ण पक्ष को भौतिकता के आवरण में दबाने का प्रयत्न किया गया तो निश्चित रूप से मानवजाति अपने अंतिम प्रयाण की तैयारी करेगी। वर्तमान भौतिकवाद ने मनुष्य को जिस स्थान पर खड़ा कर दिया है, विनाश का अंधकूप उससे अधिक दूर नहीं है। भौतिक आवश्यकताएँ ही जीवन का सर्वस्व नहीं। हमारे पास पेट के साथ मस्तिष्क भी है। ईसा ने कहा है : Man shall not live by bread alone (ch-4th, ver-4, सेण्ट मैथ्यू)। रोटी पेट की क्षुधा को शांत कर सकती है लेकिन हमारे मानस के लिए कुछ और भी चाहिए जो हमारी आत्मा की, हमारे मानस की क्षुधा को मिटा सके।

दूसरे, किसी एक दिशा में निर्बाध गति से बढ़ना प्रगति का सच्चा मार्ग नहीं है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने किसी स्थान पर कहा है -

स्वर्गों को निरंतर बढ़ाते जाने पर हमें केवल चीख के अतिरिक्त कुछ मिलने वाला नहीं है। तात्पर्य यह कि यदि हम आवश्यकताओं की वृद्धि की ओर निरन्तर बढ़ते रहें तो अन्त में हमें दुःख और अशांति के सिवाय कुछ मिलने वाला नहीं है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी यूरोप यात्रा में मिलान (इटली) के भाषण में इस एकांगी वैज्ञानिक भौतिक प्रगति की आलोचना करते हुए कहा था -

"For man to come near to one another and yet to continue to ignore the claims of humanity is assure process of suicide"⁶

तात्पर्य यह है कि मनुष्य वैज्ञानिक प्रगति के कारण एक दूसरे के निकट आ गया है, लेकिन ऐसी स्थिति में मानवीय गुणों का विकास न करते हुए मानवता के दावों को दबाना मनुष्य जाति के लिए आत्महत्या का पथ तैयार करना है।

भारतीय विचारकों ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि भौतिकता या प्रेय के मार्ग पर व्यक्ति हमेशा बढ़ना चाहता है क्योंकि पूर्व संस्कार इसमें सहयोगी होते रहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार जीव को भोग मार्ग पर चलने की आदत अनेक जन्मों से पड़ी हुई है। अतएव विद्वानों को हमेशा संयम के मार्ग पर, त्याग के मार्ग पर, चलने की प्रेरणा देनी चाहिए।

वास्तव में हम गलत दिशा में बढ़ रहे हैं। भोग का मार्ग प्रवृत्ति का मार्ग है, वह ढलान या उतार की दिशा है, उसमें प्राणी स्वाभाविक रूप से गति करता रहता है जबकि त्याग का मार्ग निवृत्ति का मार्ग है, वह चढ़ाई का रास्ता है, उसके लिए

प्रयत्न अपेक्षित है। यदि हमें जीवन में सामञ्जस्य स्थापित करना है तो जो भोग का या प्रवृत्ति का मार्ग है, उससे निवृत्ति करनी होगी और जो निवृत्ति का, त्याग का मार्ग है उसमें प्रवृत्ति करनी होगी। जैनशास्त्रों में इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया गया है -

असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं । 7

अर्थात् असंयम में निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए। सच्चा संतुलन भी इसी प्रकार स्थापित किया जा सकता है। निःसंदेह भौतिक आवश्यकताओं का मूल्य है, लेकिन उनका मूल्य अध्यात्म से अधिक आँकना गलत है। वास्तव में भौतिक आवश्यकताओं को अध्यात्म की साधना में सहायक के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए। कबीरदासजी भी कहते हैं -

कबीरा छुधा कूकरी, करत भजन में भंग।

या को टुकड़ों डारि के, भजन करो निसंग ॥

यही नहीं, वरन् भौतिक इच्छाओं की पूर्ति सीमित रूप में ही की जानी चाहिए। वे कहते हैं -

साईं इतना दीजिये, जामे कुटुम समाय।

आप भी भूखा न रहे, साधु न भूखा जाए ॥

लेकिन यदि हम भौतिक आवश्यकताओं की ओर निर्बाध गति से बढ़ें तो हमें दुःख ही हाथ लगेगा।

महात्मा बुद्ध ने भी आवश्यकताओं की अपरिमित वृद्धि (तृष्णा) के फल को दुःखद बतलाते हुए कहा है-

यमेषा सहते जाल्मा, तृष्णा लोके विषात्मिका।

शोकास्तस्य प्रवर्धन्ते, अभिरूढमिव वीरणम् । १

यह विषैली नीच तृष्णा जिसे घेर लेती है उसके दुःख उसी प्रकार बढ़ते हैं जैसे वीरण घास बढ़ती जाती है। दूसरे संस्कृत कवि ने कहा है :-

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा, भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः ॥

अर्थात् तृष्णा का अंत नहीं आता है, तृष्णा कभी वृद्ध नहीं होती है। हम ही वृद्ध हो जाते हैं। भोग के भोगने की कामना समाप्त नहीं होती वरन् आयु ही समाप्त हो जाती है।

जैन ग्रंथकारों ने भी तृष्णा को अनंत माना है-इच्छा हु आगाससमा अण्तिया^१-अर्थात् इच्छा आकाश के समान अनन्त है। यही नहीं वरन् आचारांग सूत्र में कहा गया है -

कामा दुरतिक्कमा, जीवियं दुप्पडिवूहगं,¹⁰

काम कामी खलु अयं पुरिसे से सोयइ जूरइ तिप्पई, पिरितिप्पई ।।

काम (कामनाओं) का पूर्ण होना असम्भव है और जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता। कामेच्छुक मनुष्य शोक किया करता है। संताप और परिताप उठाया करता है। जब तक मानव जीवन में आसक्ति (कामना) रहेगी, तब तक मानवीय दुःख लगे ही रहेंगे। सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है -

चित्तमन्तमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि,

अन्नं वा अणुजाणाई एवं दुक्खाण मुच्चई ।।¹¹

जब तक मनुष्य सजीव (स्त्री) और निर्जीव (धन-सम्पत्ति आदि) पदार्थों में आसक्ति रखता है, तब तक वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।

शास्त्र ही नहीं बरन् हमारे अर्थशास्त्री भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि हमारी इच्छाएँ अनन्त होती हैं, उनकी सन्तुष्टि भी स्थाई नहीं होती। इच्छाएँ अपनी सन्तुष्टि के साथ ही नवीन इच्छाओं को जन्म देती हैं, जैसे बंगला बनने पर फर्नीचर की इच्छा।

इस प्रकार इच्छाओं या तृष्णा का यह चक्र समाप्त नहीं होता। प्रत्येक इच्छा अपने साथ तनाव लेकर उपस्थित होती है और जब तक वह पूरी नहीं हो जाती हमारे अन्दर तनाव बना रहता है। संक्षेप में उनके कारण हम वास्तविक या स्थायी सुखलाभ नहीं कर सकते। जीवन में संयम द्वारा संतोष की प्राप्ति से ही वास्तविक सुख (Happiness) का आस्वादन हो सकता है। पतंजलि कहते हैं: संतोषादनुत्तमसुखलाभः- संतोष से ही सर्वोत्तम सुखों की प्राप्ति होती है।

वर्तमान युग में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं या इच्छाओं को असीमित रूप में बढ़ाकर फिर उनकी पूर्ति हेतु मारा-मारा फिरता है और सुख प्राप्ति की आशा करता है। यह तो मरुभूमि में प्यास बुझाने के समान है क्योंकि बढ़ती हुई सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति कभी भी संभव नहीं। आचार्य गुणभद्र कहते हैं-

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।

तत्कियद् कियदायाति वृथावै विषयैषिता ।।

प्रत्येक प्राणी की आशा रूपी खाई इतनी विशाल है कि उसके सामने संपूर्ण विश्व भी अणु के तुल्य है। इस सम्पूर्ण विश्व की प्राप्ति पर भी किसी की इच्छा का कितना सूक्ष्म भाग पूरा हो सकेगा! अतः विषयों की चाह व्यर्थ है। इच्छाओं की वृद्धि में सुख नहीं बरन् उनके संयम और संतोष में ही सुख है। महाभारत में कहा गया है - स्व सतुष्टः स्वधर्मस्थो यः सर्वे सुखमेधते ।।

जो आत्मसंतोषी और अपने धर्म में स्थित है वही सुख प्राप्त करता है।

आज हमारी सभ्यता आध्यात्मिक से भौतिक हो गई है। धर्म और मोक्ष की उपासना को छोड़कर आज का मनुष्य काम और अर्थ की उपासना में लगा है। काम को अर्थ के अधीन कर आज हमने अर्थ-मूलक सभ्यता का निर्माण कर लिया है। और इसीलिए आज का मनुष्य पैसे में सुख की खोज करता है। हमारा सभी वस्तुओं को मापने का पैमाना पैसा हो गया है, लेकिन इन समस्त प्रयासों में मनुष्य के हाथ दुःख, वैमनस्य और अशांति ही लगी है। पिछले दो महायुद्ध उपर्युक्त तथ्य के ज्वलंत प्रमाण हैं।

वास्तव में सुख के मापदंड का यह आधार ही गलत है। कहा भी गया है कि जो निर्धन होते हुए भी संतोषी है, वह साम्राज्य का सुख प्राप्त करता है- अकिंचनोपि सन्तुष्टः साम्राज्यसुखमश्नुते।

हिन्दी के किसी कवि ने कहा है -

गोधन गजधन बाजिधन और रतनधन खान।

जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान।।

तात्पर्य यह है कि संयम से प्राप्त संतोष के द्वारा ही सच्चे सुख को प्राप्त किया जा सकता है

प्रगति का सच्चा स्वरूप न समझकर आज का मनुष्य जिस अर्थ के पीछे भागा जा रहा है, उसका अंतिम पड़ाव कहाँ है और उसकी प्राप्ति से उसे क्या फल प्राप्त होने वाला है? इस बात का ध्यान उसे नहीं है। हम बेतहाशा भागे जा रहे हैं, लेकिन न तो पथ का भान है और न लक्ष्य का ही, हमारी भागदौड़ वस्तुतः लक्ष्यविहीन है।

जीवन में जिस सुख और शांति की प्राप्ति की अपेक्षा हमें है वह न तो इस लक्ष्यविहीन भौतिक दौड़ से प्राप्त हो सकती है, और न आवश्यकताओं को निर्बाध गति से बढ़ाने में। वास्तव में इन सबके द्वारा हम अपने अंदर तनाव उत्पन्न कर रहे हैं। हम जिस सुख और शांति को प्राप्त करना चाहते हैं वह बाह्य पदार्थों में नहीं, हमारे अंदर ही है। सुख एक आत्मिक तथ्य है। वह मुख्य रूप से आत्मगत (Subjective) है, लेकिन हम उसे वस्तुगत (Objective) मानकर प्राप्त करना चाहते हैं। हमारी यही सबसे बड़ी भूल है।

संदर्भ -

1. पश्चिमी दर्शन, पृ. 121।
2. राधाकृष्णन, हिन्दुओं का जीवन दर्शन, पृ. 68।
3. सुभाषित संग्रह, पृ. 91।

4. पश्चिमी दर्शन, पृ. 164।
5. *Social chapter*
6. *The Voice of Humanity.*
7. उत्तराध्ययन्, 31.2।
8. घम्मपद-तृष्णार्वा 2।
9. उत्तराध्ययम 9/48।
10. आचारांग 2/92।
11. सूत्रकृतांग 1/1/3।



जैन-योग-पद्धति और उस पर अन्य योग-पद्धतियों का प्रभाव

भारतीय मूल के अन्य धर्मों की तरह जैनधर्म भी योग और ध्यान को आध्यात्मिक उन्नति और विकास का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन मानता है। उत्तराध्ययनसूत्र (28/35) के अनुसार व्यक्ति सम्यग्ज्ञान द्वारा स्वयं की आत्मा की प्रकृति को जान सकता है, सम्यग्दर्शन या सम्यक्-अनुभूति द्वारा उस पर विश्वास कर सकता है। इसी तरह व्यक्ति सम्यक्-चरित्र द्वारा उस नियंत्रण या संयम कर सकता है, लेकिन आत्म-शुद्धि केवल सम्यक् तप के द्वारा ही की जा सकती है। जैन विचारधारा के अनुसार तप के दो प्रकार हैं - बाह्य और आन्तरिक। आन्तरिक तप के दो महत्वपूर्ण भेद हैं, जिनको (1) ध्यान अर्थात् एकाग्रता और (2) कार्योत्सर्ग (त्याग) अर्थात् अपने शरीर और सांसारिक संबंधों के प्रति विराग-भाव कहा जाता है। जैन परम्परा के अनुसार आत्मोन्नति (Emancipation) जो कि हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है, केवल शुक्ल-ध्यान के द्वारा ही प्राप्तव्य है जो आत्मा-सजगता (Self-awareness) या आत्म-ज्ञान की स्थिति है। इस प्रकार जैन विचारधारा के अनुसार आत्मोन्नति केवल ध्यान द्वारा सम्भव है जो कि पतंजली की योग-पद्धति का सम्यक् सोपान भी है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि ध्यान और योग जैनधर्म के अनिवार्य अंग हैं। समस्त जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ भी केवल ध्यानमुद्रा में ही पाई जाती हैं, किसी भी अन्य मुद्रा में नहीं हैं। इससे जैन विचारधारा में योग और ध्यान का महत्व स्वतः ही प्रकट है, किसी भी अन्य मुद्रा में नहीं है। इससे जैन विचारधारा में योग और ध्यान का महत्व स्वतः ही प्रकट हो जाता है।

यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि सामान्यतः योग का परम लक्ष्य चित्तवृत्ति-निरोध है, जैन परम्परा में भी योग साधना का लक्ष्य योग नहीं किन्तु अयोग ही है, अर्थात् मनुष्य की वाणी और काया की समस्त क्रियाओं का निरोध (Cessation)। योगदर्शन में भी योग को चित्तवृत्ति निरोध ही कहा गया है (योगश्चित्तवृत्ति निरोध)। वर्तमान काल में जैन योग परम्परा के विकास के संदर्भ में पं. सुखलाल जी ने समदर्शी हरिभद्र नामक कृति में जैनयोग पर एक अध्याय लिखा है। प्रो.

नथमल टांटिया ने भी ग्रन्थ स्टडीज इन जैनफिलासफी में जैनयोग और ध्यान पर पूरा एक अध्याय दिया है। विलियस जेम्स ने भी जैनयोग पर एक पुस्तक लिखी है, लेकिन इसमें उन्होंने जैन आचार शास्त्र पर ही विस्तार से चर्चा की है, जैनयोग पर बहुत ही कम लिखा गया है। उनके अनुसार जैनयोग का अर्थ है, आत्मोन्नति (Emancipation) का साधना मार्ग। जैनयोग के विषय में प्रो. पद्मनाम जैनी के ग्रन्थ जैन पाथ ऑफ व्यूरोफिकेशन का भी उल्लेख किया जा सकता है।

आजकल हिन्दी में भी जैनयोग पर जो भी लिखा गया है, उसमें सर्वप्रथम और श्रेष्ठ ग्रन्थ है, मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ जी) कृत जैनयोग। उन्होंने योग और प्रेक्षा ध्यान पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। ए.बी. डिगे का पी-एच डी. का शोधप्रबन्ध भी जैनयोग पर ही है और जो पी.वी. रिसर्च इंस्टीट्यूट वाराणसी से प्रकाशित भी है।

यदि हम संक्षेप में जैनयोग के ऐतिहासिक विकास क्रम और उस पर अन्य भारतीय योग-पद्धतियों के प्रभाव के बारे में जानना चाहते हैं तो हमें जैनयोग पद्धति के विकास को निम्नांकित पाँच चरणों में विभाजित कर के देखना चाहिये-

1. आगम युग के पूर्व की स्थिति (ईसा पूर्व 6वीं शताब्दी), 2. आगमयुग (ई. पू. 8वीं शती से ईसा की 5वीं शती), 3. मध्यकाल (ईसा की 6 शती से 12वीं शती)
4. तन्त्र एवं कर्मकाण्ड का युग (ईसा की 13वीं शती से 19वीं शती), 5. आधुनिकयुग (20 वी शती)।

1. आगमपूर्वयुग

भारत में योग और ध्यान की अवधारणा उतनी ही पुरातन है, जितनी स्वयमेव भारतीय संस्कृति है। अति प्राचीन काल से योग और ध्यान के संदर्भ में दो प्रकार के प्रमाण हमें मिलते हैं - 1. पुरातात्विक (Scepltrual-evidences) और 2. साहित्यिक (Literary) प्रारम्भिक काल से ही योग और ध्यान के इन दोनों ही प्रकारों के प्रमाण उपलब्ध हैं, लेकिन यह कहना कठिन है कि ये योग और ध्यान के ये प्रमाण जैन-पद्धति का समर्थन करते हैं। हम केवल इतना कह सकते हैं कि प्राचीन योग और ध्यान के ये संदर्भ भारतीय श्रमणसंस्कृति से जुड़े हुए हैं। जैन, बौद्ध आजीवक, सांख्य-योग तथा अन्य छोटी-बड़ी श्रमण-परम्पराएँ इसी से उद्भूत हुई हैं। इसका कारण यह है कि ध्यान और योग को प्रत्येक भारतीय पद्धति में आधिकारिक रूप से अपनाया गया था। इसीलिए कतिपय जैन विद्वानों ने यह कहने का अति साहस भी किया है कि ये सन्दर्भ उनकी अपनी परम्परा के संदर्भ हैं! योग और ध्यान सम्बन्धी प्राचीन पुरातात्विक प्रमाण मोहनजोदड़ो और हरप्पा से

मिले हैं। वहाँ खुदाई में कुछ ऐसी सीले मिली हैं, जिन पर योगी ध्यानमुद्रा में बैठे हुए या खड़े हुए दिखाये गये हैं। इससे प्रमाणित होता है कि उस काल में ध्यान और योग का प्रचलन था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति भारत की श्रमणसंस्कृति की प्रारम्भिक स्थिति कही जा सकती है। यह स्पष्ट है कि जब वैदिक पराम्परा में यज्ञ या बलिदान (Sacrifices) का प्रचलन था, तब श्रमण-परम्परा ही के लोगों में योग और ध्यान की पद्धति अधिक रुचिकार थी। मेरा विचार है कि यह प्रारम्भिक श्रमण-परम्परा ही कुछ कालोपरान्त विभिन्न शाखाओं में विभाजित हो गई, जैसे जैन, बौद्ध, सांख्य-योग, आजीवक तथा अन्य छोटे-छोटे श्रमण सम्प्रदाय। यद्यपि तत्कालीन उपनिषदीय परम्परा में श्रमण और वैदिक परम्परा के समन्वय का प्रयत्न हुआ था और वर्तमान में प्रचलित पतंजलि की योगपद्धति उसी समन्वय का प्रतिफल है, लेकिन हमें इस तथ्य पर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि उसमें परम्परा के लक्षण (Sramanic features) प्रभावीरूप से प्रमुख (Dominating) हैं।

आगम पूर्व काल में जैनयोग पर अन्य पद्धतियों का प्रभाव -

इस प्राचीन काल में यानी आगम युग के पूर्व में जैनयोग पर अन्य योग-पद्धतियों के प्रभाव की खोज करना बहुत कठिन है क्योंकि इस काल में हमें योग और ध्यान के किसी एक व्यवस्थित संगठन की जानकारी नहीं मिलती, सिवाय रामपुत्र के, जिनसे स्वयं भगवान् बुद्ध ने ध्यान की कुछ पद्धतियाँ सीखी थी। यह जानना भी रुचिकर होगा कि रामपुत्र स्थानांग का उल्लेख कुछ प्राचीन स्तर के जैन ग्रंथों में भी उपलब्ध है - जैसे सूत्रकृतांग (3/62), अंतकृदाशांग (10/113) और ऋषिभासित (23)।

मेरा विश्वास है कि वर्तमान की विपश्यना और प्रेक्षाध्यान की पद्धतियाँ भी मूलतः रामपुत्र की ध्यान साधना पद्धति पर ही आधारित है।

2. आगम युग

पारम्परिक रूप से तो यह माना जाता है कि जैनयोग और ध्यान-प्रक्रिया (Meditation Practices) का प्रारम्भ प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यौगिक साधना और ध्यान का आरम्भिक उल्लेख आचारांग, सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित जैसे प्रारम्भिक जैन आगमों में भी मिलता है। आचारांग के 9वें अध्याय उपधानसूत्र में, भगवान् महावीर द्वारा स्वयं अपनाई गई ध्यान की त्राटक पद्धति का उल्लेख है। सूत्रकृतांग के 6वें अध्याय में प्राचीन प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति के भी संकेत हैं। उसमें भगवान् महावीर को सर्वोत्तम ध्यानीसंत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनको वास्तविक धार्मिक प्रक्रियाओं, मन की स्थिरता

(Steadiness of mind) प्रेक्षा और आत्म सजगता (Self awareness) का अनुभव था। सूत्रकृतांग के 8वें अध्याय में यह उल्लेख भी है कि आत्मोन्नति एवं मुक्ति (emancipation) के प्रमुख साधन हैं - ध्यान, योग और तितीक्षा है। भगवती, औपापतिक और दशाश्रुतस्कंध जैसे जैन आगम ग्रन्थों में भी हमें अनेक प्रकार से आसनों के नाम मिलते हैं। जैन धर्म ग्रन्थों में ऐसा भी उल्लेख है कि भगवान महावीर ने केवलज्ञान को गोदुहासन में प्राप्त किया था।

4. प्राणायाम

पतंजलि की योग पद्धति का चतुर्थ सोपान प्राणायाम है। जैन आगम साहित्य में इसके सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट निर्देशन नहीं मिलता है, केवल आवश्यकसूत्र की चूर्ण भाग-2 पृष्ठ 265 (7वीं शती) में यह उल्लेख मिलता है कि वार्षिक प्रतिक्रमण (Yearly Penitential retreat) के अवसर पर व्यक्ति को एक हजार श्वासोच्छ्वास का ध्यान (कार्यात्सर्ग) करना चाहिये। इसी प्रकार चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के अवसर पर पाँच सौ श्वासोच्छ्वास का, पाक्षिक प्रतिक्रमण के अवसर पर दो सौ पचास श्वासोच्छ्वास का, दैवसिक प्रतिक्रमण के अवसर पर एक सौ और रात्रिकालीन प्रतिक्रमण के समय पचास श्वासोच्छ्वास का ध्यान करना चाहिये। ज्ञातव्य है कि यहाँ एक श्वास को लेने और छोड़ने के काल को मिलाकर एक श्वासोच्छ्वास कहा गया है। मेरे विचार से यह ऐसा ही था जैसा कि आज भी बौद्ध सम्प्रदाय के विपश्यना ध्यान-साधना की आनापानसति और तेरापंध जैन सम्प्रदाय के आचार्य महाप्रज्ञ के प्रेक्षाध्यान की श्वास-प्रेक्षा की पद्धति है। प्रारंभिक जैन धार्मिक ग्रन्थों में कुंभक, पूरक, रेचक का कोई संदर्भ मुझे नहीं मिला, यद्यपि बाद में जैन आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ क्रमशः ज्ञानार्णव और योगशास्त्र में अनेक प्रकार के प्राणायामों का उल्लेख किया है।

5. प्रत्याहार

पतंजलि योग सूत्र का पाँचवा सोपान प्रत्याहार है। प्रत्याहार का अर्थ है अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर नियंत्रण रखना। जैन-धर्म में इसका विस्तारपूर्वक विवेचन प्रतिसलीनता नाम से छठवें बाह्यतप के रूप में किया गया है। अनेक जैन आगमों में इन्द्रिय-संयम नाम से भी योग के इस पाँचवें अंग का वर्णन हुआ है उत्तराध्ययनसूत्र के 32 वें अध्याय (21-86) में इसका विशद विवेचन है।

6. धारणा

पतंजलि की योग साधना पद्धति के छठवें, सातवें और आठवें सोपान क्रमशः धारणा, ध्यान, समाधि है यद्यपि जैन तर्कशास्त्र में मतिज्ञान का चौथा प्रकार धारणा के रूप में माना जाता है, किन्तु वहाँ धारणा का आशय जैन तर्कशास्त्र की

अपेक्षा से है। पतंजलि की योगपद्धति से वह कुछ भिन्न भी है। पतंजलि की योग साधना-पद्धति में धारणा का अर्थ है मन की एकाग्रता, जबकि जैन साहित्य में धारणा का अर्थ है अनुभवों का धारणा करना (Retention of our experiences)। पतंजलि की धारणा का आशय जैन संप्रदाय के ध्यान से बहुत कुछ मिलता जुलता है।

7. ध्यान

जैन परम्परा में सामान्यतः ध्यान का अर्थ है- किसी वस्तु या मानसिक संकल्पना पर मन की एकाग्रता (Concentration of mind on some object-or a thought)। उनके अनुसार हमारे विचार और उनका कर्ता मन चंचल या अस्थिर है। मन के नियमन के द्वारा मन की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है। अतः जैनों के अनुसार ध्यान चार प्रकार के हो सकते हैं- 1. आर्तध्यान-सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये मन की एकाग्रता 2. रौद्रध्यान-हिंसात्मक क्रियाओं के लिये मन की एकाग्रता 3. धर्मध्यान-उदार एवं उदात्त विचारों पर या स्वयं की और दूसरों की भलाई के विचार पर मन की एकाग्रता 4. शुक्लध्यान-मन शुक्लध्यान में अपनी एकाग्रता का क्षेत्र क्रमशः सीमित कर लेता है और अंततः विचार स्थिर तथा गतिरहित या निर्विकल्प हो जाते हैं।

8. समाधि

पतंजलि के अनुसार मन, वाणी और काया की विकल्प एवं गति रहित स्थिति समाधि है। दूसरे शब्दों में यह मन की ऐसी निर्विकल्प अवस्था है जिसमें स्वयं का बाह्य जगत् से संबन्ध टूट जाता है।

पतंजलि योग के तीन आंतरिक अंग धारणा, ध्यान और समाधि जैन मान्यता के ध्यान से ही जुड़े हुए हैं। धारणा और ध्यान को धर्म ध्यान की विभिन्न स्थितियों में समाहित किया जा सकता है और समाधि को शुक्ल-ध्यान में। अन्य प्रकार से हम पतंजलि के धारणा और ध्यान को जैन मान्यता के ध्यान के अंतर्गत मान सकते हैं और समाधि को जैन मान्यता के “कायोत्सर्ग” के अंतर्गत।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि पतंजलि योग-पद्धति में धारणा, ध्यान और समाधि-इन तीनों को योग-साधना के आंतरिक अंग माना जाता है और आंतरिक अंग होने से वे एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं, लेकिन वे एक दूसरे से सम्बद्ध या अनुस्यूत हैं, क्योंकि धारणा के बिना ध्यान संभव नहीं है और ध्यान के बिना समाधि संभव नहीं है।

यद्यपि इस आगम युग में अष्टांग योग के ध्यान और अन्य अंग जैनियों में प्रचलित थे, किन्तु तत्कालीन जैन साधना मुक्ति के त्रिपक्षीय या चतुःपक्षीय मार्ग में केन्द्रित थी - उदारणार्थ सम्यक्-दर्शन या सम्यक्-श्रद्धा (Right-Faith),

सम्यक्-ज्ञान (Right-Knowledge) सम्यक्-चरित्र (Right conduct) और सम्यक्-तप या आत्म संयम (Right Austerity)। इनमें से सम्यक्-चरित्र और सम्यक्-तप को एक ही मानकर उमास्वाति और अन्य जैन आचार्यों ने मुक्ति का त्रिपक्षीय मार्ग बताया है। मुक्ति का यह त्रिपक्षीय मार्ग सामान्तः हिन्दुओं और बौद्धों में भी मान्य रहा है। हिन्दुओं में यह भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग के रूप में और बौद्धों में शील, समाधि, और प्रज्ञा के रूप में स्वीकार्य है। सम्यक्-ज्ञान की तुलना गीता के ज्ञानयोग से और बौद्धों की प्रज्ञा के साथ की जा सकती है। इसी प्रकार सम्यक्-दृष्टिकोण या सम्यक्-श्रद्धा की तुलना गीता के भक्तियोग और बौद्धों की सम्यक्-दृष्टि के साथ तथा सम्यक्-चरित्र की तुलना गीता के कर्मयोग और बौद्धों के शील के साथ हो सकती है। लेकिन यहाँ हमें इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिये कि हिन्दू विचारकों के अनुसार मुक्ति की प्राप्ति के लिये साधनों के इन तीनों अंगों में किसी भी एक अंग का अनुगमन पर्याप्त है किन्तु जैन विचारक इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार साधना के इन तीनों अंगों में से एक का भी अभाव हो तो मुक्ति की प्राप्ति असंभव है। इस प्रकार जैनों को इन तीनों प्रकार के योगों अर्थात् भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग का संश्लिष्ट रूप ही मान्य है।

यहाँ यह दृष्टव्य है कि जैनों का यह त्रिपक्षीय मार्ग भी सामयिक या समत्वयोग की साधना में समाहित हो सकता है। जैनों के लिए सम्यक्-दृष्टि या सम्यक्-श्रद्धा, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र का उत्कृष्ट सम्मिश्रण समत्वयोग है। उत्तराध्ययनसूत्र (28/30) में कहा गया है कि सम्यक् दृष्टिकोण या श्रद्धा के बिना सम्यक्-ज्ञान संभव नहीं है और सम्यक्-ज्ञान के बिना सम्यक्-चरित्र भी संभव नहीं और सम्यक्-चरित्र या आचरण के बिना मुक्ति भी अप्राप्त ही है। इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिये ये तीनों आवश्यक हैं।

समत्वयोग

जैनियों का मूल सैद्धांतिकयोग या तात्त्विकयोग (fundamental yoga of jainism) सामयिक या समत्वयोग है। यह जैनियों की एक प्रमुख अवधारणा है, भिक्षु और गृहस्थ के षट्कर्तव्यों में सर्वप्रथम है। प्राकृत शब्द समाइय (samaiya) अंग्रेजी में अनुवाद अनेक प्रकार से हुआ है जैसे चित्त की स्थिरता (Observance of equanimity), सब जीवों को अपने समान समझना (viewing-all the living beings as ones own self), समता की भावना (conception of equality), व्यक्ति के व्यवहार में संतुलन की स्थिति (harmonious state of ones behaviour), व्यक्तित्व की क्रमिक पूर्णता के साथ मन, वाणी और शरीर की क्रियाओं में पवित्रता या पूर्ण सदाचार का परिचालन (integration of personality

as well as righteousness of one's mind, body and speech) । आचार्य कुंदकुंद ने भी समाधि (समाधि) पद का प्रयोग सामायिक के आशय से किया है जहाँ इसका अर्थ है चेतना की तनाव-मुक्त स्थिति अथवा आत्म-संयम की स्थिति सामान्य (atentionciess state of conciousness or a state of self-absorption) सामान्य रूप से सामायिक शब्द का अर्थ है - ऐसा विशिष्ट आध्यात्मिक अभ्यास जिसके द्वारा व्यक्ति चित्त की स्थिरता को प्राप्त कर सके यह (Particular religious practice through which one can attain equanimity of mind) यह अपने आप में एक साध्य के साथ-साथ साधना भी है । साधना के रूप में यह चित्त की निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त करने का अभ्यास है और साध्य के रूप में यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमें व्यक्ति वैकल्पिक कामनाओं, आवेगों और उद्वेगों राग-द्वेष और इच्छाओं की दौड़-धूप से पूर्णतः मुक्त रहता है । यह आत्मलीनता (Self-absorption) अथवा स्वयं की आत्म शान्ति (resting in-one's own self) की स्थिति है ।

आवश्यक निर्युक्ति (1046-1048) में कहा गया है कि सामायिक अपनी आत्मा का ही विशुद्ध रूप है और कुछ नहीं (nothing but one's own self in its pure form) है । इसी प्रकार समाधि की अवस्था की दृष्टि से भी सामायिक का अर्थ है- स्वयं के वास्तविक स्वभाव की प्रतीति (realisation of our own self in its real nature) यह एक ऐसी अवस्था है, जिसमें व्यक्ति-ममत्व और संलिप्तता से पूर्णतः मुक्त रहता है (completely free from attachment and unawareness) । इस ग्रन्थ में आर्यभद्र ने सामायिक के विभिन्न पर्यायवाची शब्द दिए हैं (विशेषावश्यक भाष्य 3477-3483) जैसे - चित्त की स्थिरता (Eqmanimity), समता (equatity) पवित्रता (Holinise), सदाचार (rightousness), आत्मलीनता की स्थिति (state of self-absorption), शुद्धता (Purity), शांति (Peace), कल्याण (Welfare) और प्रसन्नता । अनुयोगद्वारसूत्र (127-128) आवश्यकनिर्युक्ति (804) और कुंदकुंद के नियमसार (122-133) में सामायिक की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है । यह कहा गया है कि जो व्यक्ति शब्दोच्चारण की क्रिया का त्याग करते हुए अनासक्ति के साथ स्वयं को जान लेता है उसे परम समता (supreme equanimity) प्राप्त हो जाती है जो समस्त हिंसक या अपवित्र कार्यों से विलग रहे, शरीर मन एवं वाणी के त्रिपक्षीय संयम की साधना करे और ज्ञानन्द्रियों को निरुद्ध करे, वही समता (equanimity) को प्राप्त करता है जो जड़-चेतन समस्त जीवधारियों के प्रति अपने समान (आत्मवत्) व्यवहार करता है वह समता को प्राप्त करता है । आगे यह कहा है कि जो आत्मनियंत्रण (Self control), व्रतपालन और

कठोर संयम की (austerities) की साधना करे, जिसको किसी प्रकार की आसक्ति और सलिप्तता (attachment and unawareness) न हो, जिसे कोई तनाव या उद्वेग उत्पन्न नहीं हो और जो आसक्ति दुःख तथा बैर से स्वयं को सदैव दूर रखे, वह समता या सामायिक को प्राप्त होता है। चित्त वृत्ति की समता (equanimity) का अभ्यास स्वयं में ही धर्म है। आचारांग में कहा गया है कि सभी श्रेष्ठ जन धर्म को चित्त की समता बताते हैं। इस प्रकार जैनों के लिए धार्मिक जीवन के परिपालन का अर्थ केवल चित्त की समता एवं निर्विकल्पता की प्राप्ति का अभ्यास है, अन्य कुछ नहीं है। उनके अनुसार यही सभी प्रकार की धार्मिक क्रियाओं का सार है और ये सब साधना की प्रक्रियाएँ केवल उसी को प्राप्त करने के लिए निर्दिष्ट हैं। केवल जैनियों में ही नहीं हिन्दुओं में भी समभाव की साधना (equanimity) के समर्थक अनेक संदर्भ मिलते हैं। गीता (2/48) में योग को समत्व की साधना के रूप में परिभाषित किया है। इसी प्रकार भगवत में भी समत्व की साधना ही को ईश्वर की उपासना कहा गया है। (समत्वं आराधं अच्युतस्य)।

जैन साधना का सम्पूर्ण ताना-बाना सामयिक की भूमिका पर आधारित है, सब धार्मिक आचार के नियम उसी के लिए बने हैं। आचार्य हरिभद्र ने बताया है कि जो समभाव की साधना का परिपालन करता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होगी, चाहे वह बौद्ध हो अथवा अन्य किसी धर्म का अनुयायी हो। जैन धर्म ग्रन्थों में तो यह भी कहा गया है कि कोई कठोर तपस्या करे या एक माह में एक बार भोजन का कठोर व्रत करे या रोजाना करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं का दान करे तो भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि समत्ववृत्ति (equanimity) की साधना नहीं हो, केवल समत्ववृत्ति या चित्त की निर्विकल्पता प्राप्त होने पर ही कोई मोक्ष प्राप्त कर सकता है। आचार्य कुंदकुंद कहते हैं कि यदि चित्तवृत्ति की समता या निर्विकल्पता (equanimity of mind) नहीं है, तो एक साधक के लिये जंगल में रहना, कठोर तपस्या करना, अनेक व्रत-उपवास करना, धर्मग्रन्थों का पाठ करना, मौन व्रत रखना आदि सभी व्यर्थ है। अब प्रश्न यह है कि मन की एकाग्रता कैसे प्राप्त हो ? समभाव की साधना की शाब्दिक उद्घोषणा तब तक निरर्थक है जब तक कि उसका जीवनव्यापी गहन अभ्यास नहीं हो। इसके लिए पहले उन कारणों की जानकारी आवश्यक है, जो हमारे मन की एकाग्रता में बाधक है और उसके पश्चात् उनके निराकरण का साहसपूर्ण प्रयत्न हो। जब तक हम समत्ववृत्ति या सलिप्तता का निराकरण नहीं करेंगे, तब तक चित्त की एकाग्रता या समत्वयोग या सामायिक की साधना संभव नहीं है।

इस काल में जैन योग पर अन्य योग पद्धतियों का प्रभाव

प्रारम्भिक काल में किसी एक योग-पद्धति पर अन्य योग पद्धति का प्रभाव दर्शाना बहुत कठिन है, क्योंकि तत्कालीन धार्मिक ग्रन्थ या साहित्य में ऐसे कोई भी निश्चित प्रमाण हमें नहीं मिलते हैं, जिनसे एक का प्रभाव दूसरे पर सिद्ध हो सके। उस (प्रारम्भिक) काल में भारत की 'श्रामणिक' परम्परा (sramanic trend) विभिन्न प्रकार के निश्चयात्मक सम्प्रदायों भूमिकाओं में विभाजित नहीं हुई थी, किन्तु इस द्वितीय काल में जिसे आगम युग (canonical period) माना जाता है, दार्शनिक विचारों के विभिन्न वर्गों ने अपने विशिष्ट नामों के साथ एक निश्चित रूप ग्रहण कर लिया था, जैसे जैन, बौद्ध, आजीवक, सांख्य योग आदि। इस काल में जैनयोग और बौद्धयोग तथा पतंजलि के योग में अनेक प्रकार की समानताएँ मिलती हैं। पं. सुखलालजी ने अपनी 'तत्त्वार्थसूत्र' की भूमिका प्र.55 में इन समानताओं का विस्तार से विवेचन किया है, लेकिन इन समानताओं के आधार पर एक का प्रभाव दूसरे पर सिद्ध करना बहुत कठिन है। यद्यपि सामान्यतः यह माना जा सकता है कि इन सभी पद्धतियों का एक ही मूल स्रोत रहा है, जिससे ये विकसित हुई हैं और वह एक स्रोत था भारतीय 'श्रमण-परम्परा'। परवर्ती काल में विशेष रूप से आगम युग में हमें पतंजलि के योगसूत्र और उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में कुछ समानताएँ अवश्य मिलती हैं, लेकिन उनके नामकरण और व्याख्याएँ अलग-अलग प्रकार से हुई हैं - इससे एक का प्रभाव दूसरे पर सिद्ध नहीं हो सकता।

यद्यपि पं. सुखलालजी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका प्र. 55 में तत्त्वार्थसूत्र और योगदर्शन में समान मान्यता के इक्कीस विचार-बिन्दु दिये हैं, ये एक जैसे लक्षण केवल समानता दर्शाते हैं, लेकिन कुछ को छोड़ उनके नाम और आशय सर्वथा भिन्न हैं और इस भिन्नता के कारण हम यह नहीं कह सकते हैं कि एक पद्धति ने इनको दूसरी पद्धति से लिया है, इससे केवल उनके एक ही स्रोत का पता चलता है कि इस आगम काल (canonical age) में जैनियों की उनकी अपनी एक विशिष्ट ध्यान-पद्धति रही थी। यह भी पूरी तरह मान्य था कि उसके द्वारा साधना के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त (ultimate end of emancipation) किया जा सकता था। जैन धर्म के ग्रन्थों में जिनभद्र के ध्यानशतक में ध्यान चार प्रकार का माना गया- आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन चार प्रकार के ध्यानों में प्रथम दो-आर्तध्यान और रूद्रध्यान बन्धन का कारण होने से त्याज्य माने गये थे और अंतिम दो- धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्ष (emancipation) का कारण होने से ग्राह्य माने गये थे।

मेरे विचार में ध्यान के इन चार प्रकारों का वर्गीकरण केवल जैन आचार्यों की ही देन है, अन्य किसी भी भारतीय साधना-पद्धति में इस प्रकार का वर्गीकरण और ध्यान के ये नाम भी हमें नहीं मिलते हैं। इसलिये हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कुछ समान लक्षणों (common features) के आधार पर एक का दूसरे पर प्रभाव दर्शाना बहुत कठिन है। इसी प्रकार 'समत्वयोग जैनयोग की एक प्रमुख मान्यता (key concept) है सामान्यतः बौद्ध और हिन्दू साधना पद्धति का लक्ष्य तो वही है, भगवद्गीता में तो विशेष रूप से समत्व की साधना को ही योग कहा है। लेकिन हम यह नहीं कह सकते हैं कि समत्वयोग की यह अवधारणा जैनों ने हिन्दुओं से ली है, क्योंकि आचारांग में भी इस तथ्य को प्रतिपादित किया गया। आचारांग गीता से पूर्वकाल का ग्रन्थ है।

3. आगमिक व्याख्याकाल या मध्यकाल

जैनयोग के विकास की दृष्टि से यह काल बहुत महत्वपूर्ण है, इसके दो कारण हैं। सर्वप्रथम यह कि इस काल में जैन परम्परा में योग सम्बन्धी विपुल साहित्य लिखा गया, दूसरे इसी काल में अन्य योग पद्धतियों के जैनयोग पर आये प्रभाव को भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस काल के जैन साहित्य में हमें निम्न योग सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं, जैसे- पांच-यम (महाव्रत), पांच-नियम, कुछ आसन (शारीरिक स्थितियाँ) इन्द्रियों का नियंत्रण और कुछ दार्शनिक तथा धार्मिक निर्देशन के साथ विविध प्रकार के ध्यान। लेकिन इस प्रकार के योग सम्बन्धी विवरण को पूरी तरह जैनयोग नहीं माना जा सकता है।

मेरे विचार से जैन परम्परा में ध्यान पर प्रथम कृति है, जिनभद्रगणि की ध्यानशतक (6वीं शताब्दी), इसमें ध्यान की जैन आगमिक पद्धति का पूर्णतः अनुसरण देखा जाता है और यह समग्र रूप से जैन-धर्म ग्रन्थों (jain canonical-work) जैसे कि स्थानांग तथा अन्य जैनागमों पर आधारित है। स्थानांग में 'ध्यान' के मुख्य चार प्रकारों और इनके उपभेदों का वर्णन है, साथ ही 1. उनके विषय (their object), 2. उनके लक्षण (their signs), 3. उनकी आलंबन (their conditions), 4. उनकी भावना (their reflexions), का भी उल्लेख है लेकिन ध्यानशतक का ध्यान का यह विवरण भी पूरी तरह जैन आगम परम्परा के अनुसार ही है, यद्यपि इसमें कुछ अन्य बातों का भी विवरण है जैसे- ध्यान के उपभेद, ध्यान का समय, ध्यान के उदाहरण, ध्याता की योग्यता (qualities of meditator), ध्यान के परिणाम आदि। जिनभद्र ने इनमें से प्रथम दो अशुभ ध्यानों (unauspicious-dhyanas) का संक्षेप में और अंतिम दो शुभ ध्यानों (auspicious dhyanas) का विस्तार से वर्णन किया है, क्योंकि उनके अनुसार प्रथम दो ध्यान

बन्ध के कारण है (causes of bondage) जबकि अंतिम दो ध्यान मोक्ष के साधन हैं (the means of emancipation) और इसीलिए उनको योग-साधना के अंग माना गया है।

जिनभद्रगणि और पूज्यपाद देवनन्दी के पश्चात् ऐसे जैन आचार्य हुए हैं, जिनका जैनेयोग पद्धति की पुनर्रचना (Reconstruction of jain yoga) में और अन्य योग पद्धतियों के साथ जैनयोग पद्धति के समन्वय के क्षेत्र में अवदान रहा है। उन्होंने जैनयोग संबंधी 4 महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है- योगविशिका, योगशतक, योगबिन्दु और योगदृष्टिसमुच्चय। आचार्य हरिभद्र ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने जैन परम्परा में योग शब्द की परिभाषा को पहली बार बदल दिया। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, आगमयुग (canonical period) में 'योग' शब्द बन्धन का कारण माना गया है। जबकि आचार्य हरिभद्र ने योग को मोक्ष का साधन के रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार समस्त आध्यात्मिक और धार्मिक क्रियाएँ, जो अंत में मोक्ष तक ले जाती हैं- योग है।

हरिभद्र ने अपने सम्पूर्ण योग साहित्य में सामान्यतः यही मत व्यक्त किया है कि सभी धार्मिक और आध्यात्मिक क्रियाएँ जो कि मोक्ष तक पहुँचाती हैं, योग के रूप में मान्य हैं। यह दृष्टव्य है कि उन्होंने अपने योग साहित्य में योग को भिन्न प्रकार से समझाया है। प्रथम तो यह कि उन्होंने अपनी योगविशिका (yogavinsika) में योग के निम्न 5 भेद बताये हैं।

1. **स्थानयोग** अर्थात् आसन का अभ्यास (practice of proper postures)
2. **उर्णयोग** अर्थात् ध्वनि का सही उच्चारण (correct utterance of sound)
3. **अर्थयोग** - धार्मिक योग ग्रन्थों के अर्थ को सही रूप में समझाना (proper understanding of the meaning of canonical works)
4. **आलम्बन** - किसी विशिष्ट लक्ष्य जैसे जिनप्रतिमा आदि पर मन की एकाग्रता (concentration of mind on a object as jina image etc.) इस अवस्था में जिन के या आत्मा के अमूर्त गुणों (abstract qualities of jain or self) के चिन्तन में चित्तवृत्ति की एकाग्रता (concentration of thought) होती है।
5. **अनालम्बन** - इस पाँचवी स्थिति को आत्मा या मन की विचारहीन अवस्था (thoughtless state of the self) या निर्विकल्पदशा भी कहा जा सकता है।

योग के इन पाँच भेदों में से प्रथम दो योग साधना के बाह्य पक्ष से जुड़े हुए हैं और अंतिम तीन योग साधना के आंतरिक पक्ष से, दूसरे शब्दों में प्रथम दो योग कर्म-योग हैं और अंतिम तीन योग ज्ञान-योग हैं। हरिभद्र ने अपने योगबिन्दु नामक ग्रन्थ में योग के अन्य 5 भेदों का वर्णन किया है -

1. आध्यात्मिक जीवन दृष्टि (spiritual vision) या **आध्यात्मयोग**
2. वैचारिक एकाग्रता (couter ptation) या **भावनायोग**
3. **ध्यानयोग** या चित्तवृत्ति की एकाग्रता या
4. मानसिक समत्व (mental equaminty) **समतायोग**
5. मन, वाणी और काया की समस्त क्रियाओं का निरोध (ceasetion of all the activities of mind, speech and body) अर्थात् वृत्ति-संक्षय ।

किन्तु हरिभद्र ने अपने 'योगदृष्टिसमुच्चय' में योग के केवल तीन भेद समझाए हैं -

1. आत्मानुभूति या योग साधना के लिए इच्छा (willingness for self realization or yogic sadhna) अर्थात् **इच्छायोग**
2. आध्यात्मिक आदेशों का अनुसरण (the followup of the spritual orders) अर्थात् **शास्त्रयोग**
3. आत्मा की आध्यात्मिक शक्तियों का विकास और आध्यात्मिक आन्तरिक उर्जा की संप्रप्ति (development of ones spiritual powers and inhilation of spiritual inertia) अर्थात् **सामर्थ्ययोग** ।

हरिभद्र के "योगदृष्टिसमुच्चय" में प्रतिपादित योग के इन तीन प्रारूपों की जैनियों के त्रिरत्न (three jewels) के साथ तुलना भी की जा सकती है अर्थात्, सम्यक्-दर्शन (right vision) सम्यक्-ज्ञान (right knowledge) और सम्यक्-चरित्र (right conduct), क्योंकि ये त्रिरत्न जैनियों में मोक्षमार्ग या दूसरे शब्दों में मोक्ष के पथ हैं, इसलिये ये योग है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि योग के विभिन्न अंगों या सोपानों के सम्बन्ध में हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ में अनेक प्रकार के मन्तव्यों को प्रकट किया है, किन्तु एक बात उन्होंने सामान्य रूप से स्वीकार की है कि योग वह है जो मोक्ष से जोड़ दे। यहाँ हम हरिभद्र पर कुलर्णवतन्त्र तथा अन्य यौगिक ग्रन्थों का प्रभाव देख सकते हैं, क्योंकि उन्होंने भी कुलयोगी का उल्लेख भी किया है, लेकिन सामान्तः हरिभद्र ने भोगवादी तान्त्रिक साधना की आलोचना ही की है। इस काल में हरिभद्र के बाद दो अन्य जैन आचार्य हुए हैं - 1. शुभचन्द्र (11वीं सदी) और 2. हेमचन्द्र (12वीं सदी) जिनका अवदान जैन योग के क्षेत्र में महत्वपूर्ण है, लेकिन ये दोनों आचार्य हिन्दू-तन्त्र से बहुत अधिक प्रभावित (dominated) हैं। इनमें शुभचन्द्र दिगम्बर जैन परम्परा से संबद्ध है और उनका प्रसिद्ध योग सम्बन्धी ग्रन्थ "ज्ञानार्णव" के रूप में जाना जाता है। हेमचन्द्र श्वेताम्बर जैन परम्परा से संबद्ध हैं और उनका उल्लेखनीय ग्रन्थ "योगशास्त्र" के रूप में जाना

जाता है। यौगिक साधना के लिये शुभचन्द्र ने मंगलकारी ध्यान (auspicious meditation) की पूर्व तैयारी (pre-requisite of auspicious meditation) के लिये 4 प्रकार की भावनाएँ (four fold virtues) बताई हैं -

1. **मैत्री** - सभी प्राणियों के साथ मित्रता का भाव (friendship with all beings)
2. **प्रमोद** - दूसरों के गुणों की प्रशंसा की वृत्ति (appreciations of the merits)
3. **करुणा** - अभावग्रस्त लोगों के प्रति सहानुभूति (sympathy towards the needy persons)
4. **माध्यस्थ्य**- विरोधी जनों या अनैतिक आचरण करने वालों के प्रति समभाव (equanimity or indifference towards unruly)

दृष्टव्य है कि ये चार भावनाएँ बौद्धों में और पतंजलि के योगसूत्र में समान रूप से मानी गई हैं। दूसरी बात यह है कि धर्मध्यान की विवेचना करते हुए इनने उसके चार प्रकार बताए- पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। साथ ही, पिण्डस्थ ध्यान की धारणा के पाँच भेद- पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी (श्वसत्र), वासुकी और तत्त्वरूपवती बताये हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये चार प्रकार के ध्यानों में धर्मध्यान की पाँच प्रकार की धारणाएँ बौद्ध और हिन्दू ग्रन्थों में पायी जाती हैं, प्राचीन जैन साहित्य में नहीं। शुभचन्द्र के बाद जैनयोग के अन्य प्रमुख आचार्य हैं- हेमचन्द्र। यद्यपि हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में सामान्यतः जैनों के त्रिरत्नों- सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चरित्र का ही विवेचन किया है, लेकिन इसमें उन्होंने सम्यक्-चरित्र पर ही बहुत अधिक जोर दिया है। ध्यान के चार प्रकारों का विवेचन करते हुए उन्होंने भी पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत ध्यान का वर्णन पाँच धारणाओं के साथ किया है। लेकिन इस संदर्भ में विद्वानों का मत है कि उन्होंने ये विचार शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से लिये हैं। यह ग्रन्थ उनके योगशास्त्र से पहले का है।

संक्षेप में ध्यान और धारणा के ये भेद पहले शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से लिये और तब हेमचन्द्र ने शुभचन्द्र का अनुगमन किया। इस प्रकार इस काल में जैन योग पर अन्य योगसाधनाओं का प्रभाव सरलता से देखा जा सकता है।

इसकाल में अन्य योग पद्धति का जैनियों पर प्रभाव

जिनभद्र के ध्यानशतक और पूज्यपाद के समाधिशतक इस काल की प्रारम्भिक कृतियाँ हैं, जिनमें हमें अन्य योग साधना पद्धतियों का प्रभाव नहीं दिखाई देता है। क्योंकि जैन साहित्य में ध्यानशतक एवं समाधिशतक में ही जैनों की मान्यता के अनुसार चार ध्यानों का वर्णन है। इसकाल में जैन योग पर अन्य योग

पद्धतियों के प्रभाव को शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के ग्रन्थों पर देखा जा सकता है। हरिभद्र ने अपने योग सम्बन्धी ग्रन्थों में योग साधना की विभिन्न स्थितियों का वर्णन अलग ही नामों से किया है। यह स्पष्ट है कि वे मूलतः ब्राह्मण परम्परा से सम्बद्ध रहे, इसलिये इसमें कोई संदेह नहीं कि वे अन्य योग ग्रन्थों से प्रभावित रहे हैं। लेकिन एक बात बहुत ही स्पष्ट है कि वे जैन योग परम्परा के प्रति पूरी तरह ईमानदार रहे हैं।

हिन्दू परम्परा के योगवाशिष्ठ में योग-साधना की तीन स्थितियाँ हैं-

1. सम्पूर्ण समर्पण 2. मानसिक शांति और 3. शरीर तथा मन की क्रियाओं को पूर्ण निरोध। हरिभद्र ने भी अपने योगदृष्टिसमुच्चय में जिन तीन योगों का उल्लेख किया है - 1. इच्छायोग 2. शास्त्रयोग और 3. सामर्थ्ययोग- वह जैनों के त्रिरत्न पर आधारित है। इनमें से इच्छायोग -सम्पूर्ण समर्पण के समान है क्योंकि इसके अन्त में अपनी कोई इच्छा बचती ही नहीं है और सामर्थ्य योग योगवाशिष्ठ की अन्य दो स्थितियों मानसिक शांति तथा शरीर, मन की संपूर्ण क्रियाओं के निरोध के समान है। योगबिन्दु में हरिभद्र ने योग के निम्न प्रकार बताए हैं -

1. आध्यात्मयोग (spiritualism)- आध्यात्मिकता
2. भावनायोग (contemplation)- धारणा
3. ध्यानयोग (meditation)- ध्यान
4. समतायोग (equanimity of mind)- मन की समता स्थिति
5. वृत्तिसंक्षययोग (ceasation of all activities of mind, body and speech)- मन, वाणी और शरीर की सब क्रियाओं का निरोध।

योग के इन पाँच भेदों में आध्यात्मयोग को अन्य योगपद्धतियों में “महायोग” के रूप में मान्य किया गया है, भावना और ध्यान की अवधारणाएँ हिन्दू योगपद्धति में भी हैं। समतायोग और वृत्तिसंक्षय-योग जैसा कि हम देख ही चुके हैं, ये दोनों योग योगवाशिष्ठ में भी उल्लेखित हैं और वृत्तिसंक्षय-योग, लय-योग के अन्तर्गत आता है। हरिभद्र ने अपनी योगविंशिका में जो चार प्रकार के योग बताए हैं - 1. आसन (शरीर की स्थिति विशेष body-posture) 2. ऊर्ण (मंत्रोच्चारण - recitation of mantras) 3. आलंबन और 4. अनालंबन आसन की अवधारणा पतंजलि के योग सूत्र में भी विद्यमान है। इसी तरह ऊर्ण को हिन्दू योगपद्धति में मंत्रयोग या जपयोग के रूप में माना गया है और इसी तरह आलंबन को भक्तियोग तथा अनालंबन को लययोग के रूप में बताया गया है। इसी प्रकार हरिभद्र द्वारा आठ योगदृष्टियों की व्यवस्था भी पतंजलि के अष्टांग योग के आधार पर की गई है।

यद्यपि हरिभद्र ने इन विभिन्न अवधारणाओं को बौद्ध तथा हिन्दू तन्त्र पद्धतियों से लिया है, किन्तु उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने इनको जैन परम्परानुसार व्यवस्थित किया है और नाम दिये हैं। लेकिन जहाँ तक पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान और उनकी पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और वास्तु धारणाओं का संबंध है, वे शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में और हेमचन्द्र के योगशास्त्र में हिन्दू तन्त्रवाद के प्रभाव से ही आई हैं। यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है कि उक्त दोनों ग्रन्थों में पतंजलि के अष्टांगयोग का विस्तार से वर्णन है। इसलिये हमें यह मानना ही चाहिये कि उक्त दोनों आचार्य पतंजलि के योगसूत्र और अन्य हिन्दू तान्त्रिक साहित्य- जैसे कि घेरण्डसंहिता, कुलार्णव आदि से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं।

मंत्र और तन्त्र के प्रभाव का काल (13वीं सदी से 19वीं सदी तक)

हेमचन्द्र के बाद और यशोविजय के पहले अर्थात् 13वीं सदी से 16वीं सदी तक की चार शताब्दियों को जैनयोग का अंधयुग (dark age of jain-yoga) माना जा सकता है। इस काल में जैनयोग जो कि मूलतः आध्यात्मिक प्रकार का था, पूरी तरह से नैपथ्य में चला गया (gone into background) और कर्मकाण्ड प्रधान तन्त्र-मंत्र ही प्रमुख हो गये। इस काल में योगसाधना का उद्देश्य मुक्ति या आत्मविशुद्धि के बजाय सांसारिक उपलब्धियाँ हो गया था। इस प्रकार योगसाधना का आध्यात्मिक उद्देश्य पूर्णतः भूला दिया गया और उसका स्थान भौतिक कल्याण और वासना पूर्ति ने ले लिया। यद्यपि इन शताब्दियों में जैन साहित्य में अन्य दर्शनों की आलोचना हेतु भी ग्रन्थ लिखे गये, लेकिन योग की दृष्टि से इस काल का प्रमुख लक्षण तन्त्र, मन्त्र और कर्मकांड, पूजा-पाठ (Rituals) ही था। इसलिये इन शताब्दियों में जैन आचार्यों ने स्तुति-स्त्रोत, पूजा-पाठ तथा तंत्र-मंत्र साधना संबंधी साहित्य की रचना की। इस काल के आरम्भ में शासन-देवताओं (यक्ष-यक्षी), भैरव और योगीनियों की पूजा अधिक महत्वपूर्ण हो गई थी, जिसका उद्देश्य भक्त की भौतिक कल्याण की कामना ही था और इसी कारण अनेक हिन्दू देवी-देवताओं को शासन रक्षक देवों के रूप में जैनियों ने पूरी तरह मान लिया।

इस काल के अन्त में जैनयोग के आध्यात्मिक स्वरूप का पुनरावर्तन यशोविजय (17वीं शताब्दी) द्वारा हुआ। उन्होंने हरिभद्र के ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी और उसके साथ-साथ ही आध्यात्मसार, ज्ञानसार, आध्यात्मोनिषद् सरीखे मौलिक योग साहित्य की रचना की और इन पर भी टीकाएँ भी लिखी। यही नहीं यशोविजय ने पतंजलि के योगसूत्र पर भी एक टीका भी लिखी है। इसी प्रकार इस काल के

एक अन्य जैन आध्यात्मिक विचारक हुए हैं, जैसे आनन्दधन। आनन्दधन ने 24 तीर्थकरों की प्रशंसा में लिखे हुए अपने पदों और गीतों के द्वारा जैन आध्यात्मिकता और योगसाधना का पुनरावर्तन किया। यशोविजयजी और आनन्दधनजी का साहित्य पूर्णतः हरिभद्र से प्रभावित है, फिर भी उन पर पतंजलि के राजयोग और हठयोग का प्रभाव देखा जा सकता है।

जैसा कि पहले ही मैं कह चुका हूँ, इस काल का प्रमुख लक्षण था, जैन-योग पर हिन्दू परम्परा के हठयोग की कुंडलिनी जागरण और षट्चक्र भेदन की अवधारणा का प्रभाव जैन-योग परम्परा में भी आया है।

आधुनिक काल (20वीं शताब्दी)

आधुनिक काल में हम देखते हैं कि जैनयोग की साधना में बहुत अधिक परिवर्तन और विस्तार हुआ है। इस काल में तनाव-मुक्ति (tension-relaxation) के एक साधन के रूप में योग और ध्यान के प्रति जन सामान्य का आकर्षण बहुत बढ़ गया है। आज मानव जाति अपने लोभ और आकांक्षाओं से उत्पन्न तनावों से पूरी तरह जकड़ी हुई है, बुरी तरह ग्रस्त है। यह एक संयोग ही था कि श्री एस.एन. गोयनका वर्मा से भारत लौटे तो भारत में प्राचीन बौद्ध विपश्यना ध्यान की उपलब्धि हुई जो कि प्रारम्भिक जैन साधना में भी थी। तेरापंथी जैन सम्प्रदाय के आचार्य महाप्रज्ञ जी ने पहली बार इसे गोयनका जी से समझा और जैन धर्म के विधि-विधान सबन्धी स्वयं की जानकारी तथा पतंजलि योगसूत्र के आधार पर ध्यान की इस पद्धति को प्रेक्षा-ध्यान के नाम से व्यवस्थित रूप दिया। हमारे समय में प्रेक्षा-ध्यान जैनयोग की एक महत्वपूर्ण विधा है। यद्यपि कुछ अन्य जैन सम्प्रदायों के आचार्यों ने भी ध्यान और योग की उनकी अपनी पद्धतियाँ का विकास किया, किन्तु उनमें नया कुछ नहीं है, सिर्फ प्रेक्षा और विपश्यना की मिलावट है। यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि हमारे समय को प्रेक्षा-ध्यान भी बौद्ध-जैन परम्परा के विपश्यना और पतंजलि के अष्टांगयोग तथा हठयोग के साथ कुछ आधुनिक मनोविज्ञानिक अवधारणाओं का सम्मिश्रण है।

संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि प्रारम्भिक काल में अर्थात् महावीर के पहले जैनयोग और ध्यान-पद्धतियाँ तो थी ही, किन्तु अपनी प्रक्रिया के सम्बन्ध में अस्पष्ट थी। हम उनको प्रारम्भ की अन्य श्रामणिक परम्पराओं से पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि उससे सम्बन्धित साहित्य तथा अन्य प्रमाणों का अभाव है। द्वितीय काल में अर्थात् आगम काल में प्राणायाम के अतिरिक्त पतंजलि योग सूत्र के अन्य सात अंगों की साधना भी जैन साधुओं और साध्वियों द्वारा की जाती थी, आगम में उनके उल्लेख भी हैं, लेकिन हमें यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि पतंजलि ने इनको

जैनियों या अन्य श्रमण परम्पराओं से ग्रहण किया अथवा जैनियों और अन्य श्रमण परम्पराओं में इनको पतंजलि से ग्रहण किया। मेरे विचार से दोनों ने इन्हें भारत की प्राचीन श्रमण से ग्रहण किया जिसकी ये शाखाएँ हैं।

तृतीय और चतुर्थ काल के सम्बन्ध में हम केवल यह कह सकते हैं कि इन कालों में जैनियों ने जैनयोग और ध्यान सम्बन्धी अनेक कर्मकांडपरक पद्धतियाँ हिन्दू और बौद्ध तान्त्रिक साधनाओं से ग्रहण की, इन दोनों कालों में जैनयोग और ध्यान पर अन्य पद्धतियों का प्रभाव सरलता से देखा जा सकता है। वर्तमान समय में जैनयोग और ध्यान साधना पुनः जीवित हो गई है और सामान्यतः जैन लोगों में उसके प्रति सजगता है, लेकिन यह स्पष्ट है कि जैनयोग और ध्यान की वर्तमान पद्धतियों का विकास पूरी तरह विपश्यना और पतंजलि के अष्टांग योग की साधना के साथ कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक अध्ययनों के आधार पर हुआ है।

अंत में अपने इस आलेख का समापन आचार्य अमितगति के “सामायिक-पाठ” के एक सुन्दर उद्धरण के साथ करना चाहूँगा -

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्
मध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ
सदा समात्मा विवदातु देव ।।

हे भगवान! मैं संसार के सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखूँ और गुणीजनों से मिलने पर प्रसन्नता का अनुभव करूँ। जो अत्यन्त दुःखी अवस्था में हैं, उनका सदा सहायक बनूँ और अपने विरोधियों के प्रति सहनशील रहूँ।



तन्त्रसाधना और जैन जीवन-दृष्टि

‘तन्त्र’ शब्द का अर्थ

जैन धर्म-दर्शन और साधना-पद्धति में तांत्रिक साधना के कौन-कौन से तत्त्व किस-किस रूप में उपस्थिति हैं, यह समझने के लिए सर्वप्रथम तंत्र शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। विद्वानों ने तंत्र शब्द की व्याख्याएँ और परिभाषाएँ अनेक प्रकार से की हैं। उनमें से कुछ परिभाषाएँ व्युत्पत्तिपरक हैं और कुछ रुढ़ार्थक। व्युत्पत्ति की दृष्टि से तन्त्र शब्द ‘तन्’+‘त्र’ से बना है। ‘तन्’ धातु विस्तृत होने या व्यापक होने की सूचक है और ‘त्र’ त्राण देने या संरक्षण करने का सूचक है। इस प्रकार जो आत्मा को व्यापकता प्रदान करता है और उसकी रक्षा करना है उसे तन्त्र कहा जाता है। तांत्रिक ग्रन्थों में ‘तन्त्र’ शब्द की निम्न व्याख्या उपलब्ध है -

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।

त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ।।

अर्थात् जो तत्त्व और मन्त्र से समन्वित विभिन्न विषयों के विपुल ज्ञान को प्रदान करता है और उस ज्ञान के द्वारा स्वयं एवं दूसरों की रक्षा करता है, उसे तंत्र कहा जाता है। वस्तुतः तंत्र एक व्यवस्था का सूचक है जब हम तंत्र शब्द का प्रयोग राजतंत्र, प्रजातंत्र, कुलीनतंत्र आदि के रूप में करते हैं, तब वह किसी प्रशासनिक व्यवस्था का सूचक होता है।

मात्र यही नहीं, अपितु आध्यात्मिक विशुद्धि और आत्म-विशुद्धि के लिए जो विशिष्ट साधना-विधियाँ प्रस्तुत की जाती हैं, उन्हें ‘तंत्र’ कहा जाता है। इस दृष्टि से ‘तंत्र’ शब्द एक व्यापक अर्थ का सूचक है और इस आधार पर प्रत्येक साधना-विधि ‘तंत्र’ कही जा सकती है। वस्तुतः जब हम शैवतंत्र, शाक्ततंत्र, वैष्णवतंत्र, जैनतंत्र, या बौद्धतंत्र की बात करते हैं, तो यहाँ तंत्र का अभिप्राय आत्म विशुद्धि या चित्तविशुद्धि की एक विशिष्ट पद्धति से ही होता है। मेरी जानकारी के अनुसार इस दृष्टि से जैन परम्परा में ‘तन्त्र’ शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों-पञ्चाशक और ललितविस्तरा (आठवीं शती) में किया है। उन्होंने पञ्चाशक¹ में जिन आगम को और ललितविस्तरा² में जैन धर्म के ही एक सम्प्रदाय को ‘तंत्र’ के नाम से अभिहित किया है। इससे फलित होता है कि लगभग आठवीं

शती से जैन परम्परा में 'तंत्र' अभिधान प्रचलित हुआ। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत प्रसंग में आगम को ही तंत्र कहा गया है। आगे चलकर आगम का वाचक तन्त्र शब्द किसी साधनाविधि दार्शनिक विधा का वाचक बन गया। वस्तुतः तंत्र एक दार्शनिक विधा भी है और साधनामार्ग भी। दार्शनिक विधा के रूप में उसका ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय पक्ष तो है ही, किन्तु इसके साथ ही उसकी अपनी एक जीवन दृष्टि भी होती है जिसके आधार पर उसकी साधना के लक्ष्य एवं साधना-विधि का निर्धारण होता है। वस्तुतः किसी भी दर्शन की जीवनदृष्टि ही एक ऐसा तत्त्व है, जो उसकी ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा एवं साधना विधि को निर्धारित करता है और इन्हीं सबसे मिलकर उसका दर्शन एवं साधनातंत्र बनता है।

व्यावहारिक रूप में वे साधना पद्धतियाँ जो दीक्षा, मंत्र, यंत्र, मुद्रा, ध्यान, कुण्डलिनी शक्ति जागरण आदि के माध्यम से व्यक्ति के पाशविक या वासनात्मक पक्ष का निवारण कर उसका आध्यात्मिक विकास करती है या उसे देवत्व के मार्ग पर आगे ले जाती है, तंत्र कही जाती है। किन्तु यह तंत्र का प्रशस्त अर्थ है और अपने इस प्रशस्त अर्थ में जैन धर्म-दर्शन को भी तंत्र कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी अपनी एक सुव्यवस्थित, सुनियोजित साधन-विधि है, जिसके माध्यम से व्यक्ति वासनाओं और कषायों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक विकास के मार्ग में यात्रा करता है। किन्तु तंत्र के इस प्रशस्त व्युत्पत्तिपरक अर्थ के साथ ही 'तंत्र' शब्द का एक प्रचलित रूढ़ार्थ भी है, जिसमें सांसारिक आकांक्षाओं और विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए मद्य, मांस, मैथुन आदि पंच मकारों का सेवन करते हुए यन्त्र, मंत्र, पूजा, जप, होम, बलि आदि के द्वारा मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण आदि षट्कर्मों की सिद्धि के लिए देवी-देवताओं की उपासना की जाती है और उन्हें प्रसन्न करके अपने अधीन किया जाता है। वस्तुतः इस प्रकार की साधना का लक्ष्य व्यक्ति की लौकिक वासनाओं और वैयक्तिक स्वार्थों की सिद्धि ही होता है। अपने इस प्रचलित रूढ़ार्थ में तंत्र को एक निकृष्ट कोटि की साधना-पद्धति समझा जाता है। इस कोटि की तान्त्रिक साधना बहुप्रचलित रही है, जिससे हिन्दू, बौद्ध और जैन-तीनों ही साधना-विधियों पर उसका प्रभाव भी पड़ा है। फिर भी सिद्धान्ततः ऐसी तान्त्रिक साधना जैनों को मान्य नहीं रही, क्योंकि वह उसकी निवृत्तिप्रधान जीवन दृष्टि और अहिंसा के सिद्धान्त के प्रतिकूल थी। यद्यपि ये निकृष्ट साधनाएं तन्त्र के सम्बन्ध में एक भ्रान्त अवधारणा ही है, फिर भी सामान्यजन तन्त्र के सम्बन्ध में इसी धारणा का शिकार रहा है। सामान्यतया जनसाधारण में प्राचीन काल से ही तान्त्रिक साधनाओं का यही रूप अधिक प्रचलित रहा है। ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्य भी तन्त्र के इसी स्वरूप का समर्थन करते हैं।

भोगमूलक जीवनदृष्टि और वासनोन्मुख तन्त्र की इस जीवनदृष्टि के समर्थन में भी बहुत कुछ कहा गया है। कुलार्णव में कहा गया है कि सामान्यतया जिन वस्तुओं के उपयोग को पतन का कारण माना जाता है उन्हें कौलतन्त्र में महात्मा भैरव ने सिद्धि का साधन बताया है। इसी प्रकार न केवल हिन्दू तांत्रिक साधना में अपितु बौद्ध परम्परा में भी प्रारम्भ से ही कठोर साधनाओं के द्वारा आत्मपीड़न की प्रवृत्तियों को उचित नहीं माना गया। भगवान् बुद्ध ने मध्यममार्ग के रूप में जैविक मूल्यों की पूर्ति हेतु भोगमय जीवन का भी जो आंशिक समर्थन किया था, वही आगे चलकर बौद्ध धर्म में वज्रयान के रूप में तांत्रिक भोगमूलक जीवनदृष्टि के विकास का कारण बना और उसमें निवृत्तिमय जीवन के प्रति विरोध के स्वर मुखरित हुए। चाहे बुद्ध की मूलभूत जीवनदृष्टि निवृत्तिमार्गी रही हो, किन्तु उनके मध्यममार्ग के आधार पर ही परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने वज्रयान या सहजयान का विकास कर भोगमूलक जीवनदृष्टि को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। गुह्यसमाज तन्त्र में कहा गया है³ -

सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छतः ।

अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्ध्यति ।

सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंक्षाशु सिद्ध्यति ॥

भोगमूलक जीवनदृष्टि के समर्थकों का तर्क यह है कि कामोपभोगों से विरत जीवन बिताने वाले साधकों में मानसिक क्षोभ उत्पन्न होते होंगे, कामभोगों की ओर उनकी इच्छा दौड़ती होगी और विनय के अनुसार वे उसे दबाते होंगे, परन्तु क्या दमनमात्र से चित्तविक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा, दबायी हुई वृत्तियाँ जाग्रतावस्था में न सही, स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होंगी। इन प्रमथनशील वृत्तियों को दमन करने से भी दबते न देख, अवश्य ही साधकों न उन्हें समूल नष्ट करने के लिए संयम की जागरूक अवस्था में थोड़ा अवसर दिया कि वे भोग का भी रस ले लें, ताकि उनका सर्वथा शमन हो जाये और वासना रूप से वे हृदय के भीतर न रह सकें। अनंगवज्र ने कहा है कि चित्तक्षुब्ध होने से कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः इस तरह बरतना चाहिए जिसमें मानसिक क्षोभ उत्पन्न ही न हो⁴ -

तथा तथा प्रवर्तते यथा न क्षुभ्यते मनः ।

संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन ॥

जब तक चित्त में कामभोगोपलिप्सा है तब तक चित्त में क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल हिन्दू तांत्रिक साधनाओं में अपितु बौद्ध तांत्रिक साधना में भी किसी न किसी रूप में भोगवादी जीवनदृष्टि

का समर्थन हुआ है। यद्यपि परवर्तीकाल में विकसित बौद्धों की यह भोगमूलक जीवनदृष्टि भारत में उनके अस्तित्व को ही समाप्त कर देने का कारण बनी, क्योंकि इस भोगमूलक जीवनदृष्टि को अपना लेने पर बौद्ध और हिन्दू परम्परा का अन्तर समाप्त हो गया। दूसरे इसके परिणाम स्वरूप बौद्ध भिक्षुओं में भी एक चारित्रिक पतन आया। फलतः उनके प्रति जन-साधारण की आस्था समाप्त हो गयी और बौद्ध धर्म की अपनी कोई विशिष्टता नहीं बची, फलतः वह अपनी जन्मभूमि से समाप्त हो गया।

जैन धर्म में तन्त्र की भोगमूलक जीवनदृष्टि का निषेध

तन्त्र की इस भोगवादी जीवनदृष्टि के प्रति जैन आचार्यों का दृष्टिकोण सदैव निषेधपरक ही रहा है। वैयक्तिक भौतिक हितों एवं वासनाओं की पूर्ति के निमित्त धन, सम्पत्ति, सन्तान आदि की प्राप्ति हेतु अथवा कामवासना की पूर्ति हेतु अथवा शत्रु के विनाश के लिए की जाने वाली साधनाओं के निर्देश तो जैन आगमों में उपलब्ध हो जाते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रकार की तांत्रिक साधनाएं प्राचीन काल में भी प्रचलित थीं, किन्तु प्राचीन जैन आचार्यों ने इसे सदैव हेय दृष्टि से देखा था और साधक के लिए ऐसी तांत्रिक साधनाओं का सर्वथा निषेध किया था। सूत्रकृतांगसूत्र^३ में चौसठ प्रकार की विद्याओं के अध्ययन या साधना करने वालों के निर्देश तो हैं, किन्तु इन विद्याओं को पापाश्रुत-अध्ययन कहा गया है। मात्र यही नहीं उसमें स्पष्ट रूप से यह भी कहा गया है कि जो इन विद्याओं की साधना करता है वह अनार्य है, विप्रतिपन्न है और समय आने पर मृत्यु को प्राप्त करके आसुरी और किल्बिषिक योनियों को प्राप्त होता है।

पुनः उत्तराध्ययनसूत्र^४ में कहा गया है कि जो छिद्रविद्या, स्वरविद्या, स्वप्नलक्षण, अंगविद्या आदि के द्वारा जीवन जीता है वह भिक्षु नहीं है। इसी प्रकार दशवैकालिकसूत्र^५ में भी स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि मुनि नक्षत्रविद्या, स्वप्नविद्या, निमित्तविद्या, मन्त्रविद्या और भैषज्यशास्त्र का उपदेश गृहस्थों को न करे। इनसे स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि वैयक्तिक वासनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की विद्याओं की साधना को जैन आचार्यों ने सदैव ही हेय दृष्टि से देखा है।

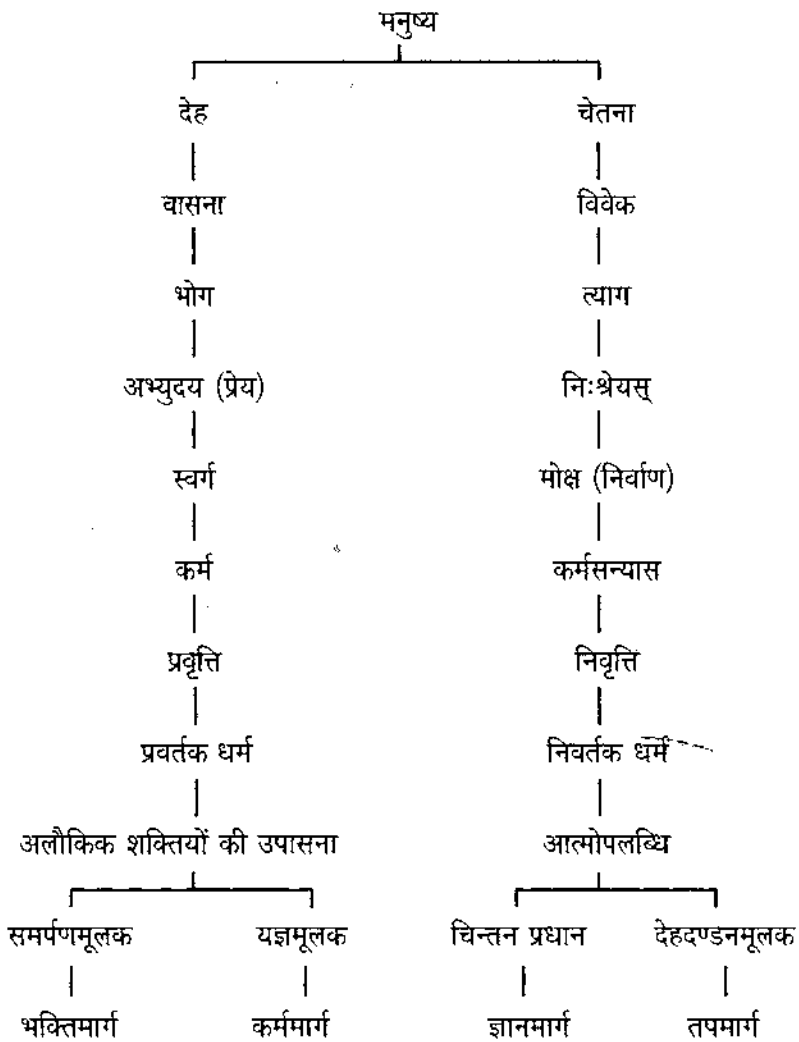
यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सांसारिक विषय-वासनाओं की पूर्ति के निमित्त पशुबलि देना, मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन और मुद्राओं का सेवन करना एवं मारण, मोहन, वशीकरण आदि षट्कर्मों की साधना करके अपने क्षुद्र लौकिक स्वार्थों और वासनाओं की पूर्ति करना जैन आचार्यों को मान्य नहीं हो सका, क्योंकि यह उनकी निवृत्तिप्रधान अहिंसक जीवनदृष्टि के विरुद्ध था। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं

है कि जैन धर्म ऐसी तान्त्रिक साधनाओं से पूर्णतः असंपृक्त रहा है। प्रथमतः विषय-वासनाओं के प्रहाण के लिए अर्थात् अपने में निहित पाशविक वृत्तियों के निराकरण के लिए मंत्र, जाप, पूजा, ध्यान आदि की साधना-विधियाँ जैन धर्म में ईस्वी सन् के पूर्व से ही विकसित हो चुकी थीं। मात्र यही नहीं परवर्ती जैनग्रन्थों में तो ऐसे भी अनेक उल्लेख मिलते हैं जहाँ धर्म और संघ की रक्षा के लिए जैन आचार्यों को तान्त्रिक और मान्त्रिक प्रयोगों की अनुमति भी दी गई है, किन्तु उनका उद्देश्य लोककल्याण ही रहा है।

मात्र यही नहीं, जहाँ आचारांगसूत्र⁸ (ई.पू. पांचवीं शती) में शरीर को धुन डालने या सुखा देने की बात कही गई थी, वहीं परवर्ती आगमों और आगमिक व्याख्याओं में शरीर और जैविक मूल्यों के संरक्षण की बात कही गई। स्थानांगसूत्र⁹ में अध्ययन एवं संयम के पालन के लिए आहार के द्वारा शरीर के संरक्षण की बात कही गई। मरणसमाधि¹⁰ में कहा गया है कि उपवास आदि तप उसी सीमा तक करणीय हैं- जब तक मन में किसी प्रकार के अमंगल का चिन्तन न हो, इन्द्रियों की हानि न हो और मन, वचन तथा शरीर की प्रवृत्ति शिथिल न हो। मात्र यही नहीं जैनाचार्यों ने अपने गुणस्थान सिद्धान्त में कषायों एवं वासनाओं के दमन को भी अनुचित मानते हुए यहाँ तक कह दिया कि उपशम श्रेणी अर्थात् वासनाओं के दमन की प्रक्रिया से आध्यात्मिक विकास की सीढ़ियों पर चढ़ने वाला साधक अनन्तः वहाँ से पतित हो जाता है। फिर भी जैनाचार्यों ने वासनाओं की पूर्ति का कोई मार्ग नहीं खोला। हिन्दू तान्त्रिकों एवं वज्रयानी बौद्धों के विरुद्ध वे यही कहते रहे कि वासनाओं की पूर्ति से वासनाएँ शान्त नहीं होती हैं-अपितु वे घृत सिञ्चित अग्नि की तरह अधिक बढ़ती ही हैं। उनकी दृष्टि में वासनाओं का दमन तो अनुचित है, किन्तु उनका विवेकपूर्वक संयमन और निरसन आवश्यक है। यहाँ इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करने के पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि सामान्यतः भारतीय धर्मों में और विशेष रूप से जैन धर्म में तान्त्रिक साधना का विकास क्यों हुआ और किस क्रम में हुआ?

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का विकास

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मानव प्रकृति में वासना और विवेक के तत्त्व उसके अस्तित्व काल से ही रहे हैं, पुनः यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि पाशविक वासनाओं अर्थात् पशु तत्त्व से ऊपर उठकर देवत्व की ओर अभिगमन करना ही मनुष्य के जीवन का मूलभूत लक्ष्य है। मानव प्रकृति में निहित इन दोनों तत्त्वों के आधार पर दो प्रकार की साधना पद्धतियों का विकास कैसे हुआ इसे निम्न सारिणी द्वारा समझा जा सकता है -



निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का विकास भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारिणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है -

प्रवर्तक धर्म (दार्शनिक प्रदेय)	निवर्तक धर्म (दार्शनिक प्रदेय)
1. जैविक मूल्यों की प्रधानता	1. आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता
2. विधायक जीवनदृष्टि	2. निषेधक जीवनदृष्टि
3. समष्टिवादी	3. व्यष्टिवादी
4. व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी दैवीय कृपा के आकांक्षी होने से भाग्यवाद एवं नियतिवादी का समर्थन	4. व्यवहार में नैष्कर्म्यता का समर्थन फिर तपस्या पर बल देने से दृष्टि पुरुषार्थवादी
5. ईश्वरवादी	5. अनीश्वरवादी
6. ईश्वरवादी कृपा पर विश्वास	6. वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास कर्मसिद्धान्त का समर्थन
7. साधना के बाह्य साधनों पर बल	7. आन्तरिक विशुद्धता पर बल
8. जीवन का लक्ष्य स्वर्ग एवं ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति। (सांस्कृतिक प्रदेय)	8. जीवन का लक्ष्य मोक्ष एवं निर्वाण की प्राप्ति (सांस्कृतिक प्रदेय)
9. वर्ण व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	9. जातिवाद का विरोध, वर्णव्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन
10. गृहस्थ जीवन की प्रधानता	10. सन्यास की प्रधानता
11. सामाजिक जीवन-शैली	11. एकाकी जीवन-शैली
12. राजतन्त्र का समर्थन	12. जनतन्त्र का समर्थन

प्रवर्तक धर्मों में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखरित हुए हैं उदाहरणार्थ-हम सौ वर्ष जीवें, हमारी सन्तान बलिष्ठ होंवें, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पतियाँ प्रचुर मात्रा में हों आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया, उन्होंने सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से मुक्ति को जीवन लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्मसन्तोष ही सर्वोच्च जीवन मूल्य हैं।

एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वाञ्छनीय और रक्षणीय माना गया; तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमें शारीरिक माँगों को ठुकराना ही जीवन लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और अध्यात्म के प्रतीक बन गये। यद्यपि इन दोनों साधना-पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य तो चैतसिक और सामाजिक स्तर पर शांति ही स्थापना की रहा है, किन्तु उसके लिए उनकी व्यवस्था या साधना-विधि भिन्न-भिन्न रही है। प्रवृत्तिमार्गी परम्परा का मूलभूत लक्ष्य यही रहा है कि स्वयं के प्रयत्न एवं पुरुषार्थ से अथवा उनके असफल होने पर दैवीय शक्तियों के सहयोग से जैविक आवश्यकताओं एवं वासनाओं की पूर्ति करके चैतसिक शांति का अनुभव किया जाये। दूसरी ओर निवृत्तिमार्गी परम्पराओं ने वासनाओं की सन्तुष्टि की विवेक की उपलब्धि के मार्ग में बाधक और वासनाओं के दमन के माध्यम से वासनाजन्य तनावों का निराकरण कर चैतसिक शांति या समाधि को प्राप्त करने का प्रयास किया। जहाँ प्रारम्भिक वैदिक धर्म प्रवृत्तिप्रधान रहा वहीं प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ निवृत्तिप्रधान रहीं। किन्तु एक ओर वासनाओं की सन्तुष्टि के प्रयास में चित्तशांति या समाधि सम्भव नहीं हो सकी, क्योंकि नई-नई इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और वासनाएँ जन्म लेती रही; तो दूसरी ओर वासनाओं के दमन से भी चित्तशांति न हो सकी, क्योंकि दमित वासनाएँ अपनी पूर्ति के लिए चित्त की समाधि भंग करती रहीं। इसका विपरीत परिणाम यह हुआ कि एक ओर प्रवृत्तिमार्गी परम्परा में व्यक्ति ने अपनी भौतिक और लौकिक ऐषणाओं की पूर्ति के लिए दैनिक शक्तियों की सहायता पाने हेतु कर्मकाण्ड का एक जंजाल खड़ा कर लिया तो दूसरी ओर वासनाओं के दमन के लिए देहदण्डनरूपी तप साधनाओं का वर्तुल खड़ा हो गया। एक के लिए येन-केन प्रकारेण वैयक्तिक हितों की पूर्ति या वासनाओं की सन्तुष्टि ही वरेण्य हो गई तो दूसरे के लिए जीवन का निषेध अर्थात् देहदण्डन ही साधना का लक्ष्य बन गया। वस्तुतः इन दोनों अतिवादों के समन्वय के प्रयास में ही एक ओर जैन, बौद्ध आदि विकसित श्रमणिक साधना विधियों का जन्म हुआ तो दूसरी ओर औपनिषदिक चिन्तन से लेकर सहजभक्तिमार्ग और तंत्र साधना तक का विकास भी इसी के निमित्त से हुआ। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का जो समन्वयात्मक स्वर औपनिषदिक ऋषियों ने दिया था, परवर्ती समस्त हिन्दू साधना और उसकी तांत्रिक विधियाँ उसी के परिणाम हैं। फिर भी प्रवृत्ति और निवृत्ति के पक्षों का समुचित सन्तुलन स्थिर नहीं रहा सका। इनमें किसे प्रमुखता दी जाये, इसे लेकर उनकी साधना-विधियों में अन्तर भी आया।

जैनों ने यद्यपि निवृत्तिप्रधान जीवनदृष्टि का अनुसरण तो किया, किन्तु परवर्ती काल में उसमें प्रवृत्तिमार्ग के तत्त्व समाविष्ट होते गए। न केवल साधना के लिए जीवन रक्षण के प्रयत्नों का औचित्य स्वीकार किया गया, अपितु ऐहिक-भौतिक के लिए भी तांत्रिक साधना की जाने लगी।

क्या जैन धर्म जीवन का निषेध सिखाता है?

सामान्यतया यह माना जाता है कि तंत्र की जीवनदृष्टि ऐहिक जीवन को सर्वथा वरेण्य मानती है, जबकि जैनों का जीवनदर्शन निषेधमूलक है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जैन धर्म दर्शन तंत्र का विरोधी है, किन्तु जैन दर्शन के सम्बन्ध में यह एक भ्रान्त धारणा ही होगी। जैनों ने मानव जीवन को जीने के योग्य एवं सर्वथा वरेण्य माना है। उनके अनुसार मनुष्य जीवन ही तो एक ऐसा जीवन है जिसके माध्यम से व्यक्ति विमुक्ति के पथ पर आरूढ़ हो सकता है। आध्यात्मिक विकास की यात्रा का प्रारम्भ और उसकी पूर्णता मनुष्य जीवन से ही संभव है, अतः जीवन सर्वतोभावेन रक्षणीय है। उसमें 'शरीर' को संसार समुद्र में तैरने की नौका कहा गया है और नौका की रक्षा करना पार जाने के इच्छुक व्यक्ति का अनिवार्य कर्तव्य है। इसी प्रकार उसका अहिंसा का सिद्धान्त भी जीवन की रक्षणीयता पर सर्वाधिक बल देता है।

वह न केवल दूसरों के जीवन के रक्षण की बात करता है अपितु वह स्वयं के जीवन के रक्षण की भी बात करता है। उसके अनुसार स्व की हिंसा दूसरों की हिंसा से भी निकृष्ट है। अतः जीवन चाहे अपना हो या दूसरों का वह सर्वतोभावेन रक्षणीय है। यद्यपि इतना अवश्य है कि जैनों की दृष्टि में पाशविक शुद्ध स्वार्थी से परिपूर्ण, मात्र जैविक ऐषणओं की पूर्ति में संलग्न जीवन न तो रक्षणीय है, न वरेण्य; किन्तु यह दृष्टि तो तंत्र की भी है, क्योंकि वह भी पशु अर्थात् पाशविक पक्ष का संहार कर पाश से मुक्त होने की बात करता है। जैनों के अनुसार जीवन उस सीमा तक वरेण्य और रक्षणीय है जिस सीमा तक वह व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में सहायक होता है और अपने आध्यात्मिक विकास के माध्यम से लोकमंगल का सृजन करता है। प्रशस्त तांत्रिक साधना और जैन साधना दोनों में ही इस सम्बन्ध में सहमति देखी जाती है। वस्तुतः जीवन की एकान्त रूप से वरेण्यता और एकान्त रूप से जीवन का निषेध दोनों ही अवधारणाएँ उचित नहीं हैं, यही जैनों की जीवनदृष्टि है। वासनात्मक जीवन के निराकरण द्वारा आध्यात्मिक जीवन का विकास-यही तंत्र और जैन दर्शन दोनों की जीवनदृष्टि है और इस अर्थ में वे दोनों विरोधी नहीं हैं, सहगामी हैं।

फिर भी सामान्य अवधारणा यह है कि तन्त्र दर्शन में ऐहिक जीवन को सर्वथा वरेण्य माना गया है। उसकी मान्यता है कि जीवन आनन्दपूर्वक जीने के लिए है जैन धर्म में तप-त्याग की जो महिमा गायी गई है उसके आधार पर यह भ्रान्ति फैलाई जाती है कि जैन धर्म जीवन का निषेध सिखाता है। अतः यहां इस भ्रान्ति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैन धर्म के तप-त्याग का अर्थ शारीरिक एवं भौतिक जीवन की अस्वीकृति नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जाये। जैन धर्म के अनुसार शारीरिक मूल्य आध्यात्म के बाधक नहीं, साधक है। निशीथभाष्य¹² में कहा है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है। शरीर शाश्वत आनन्द के कूल में ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी, महत्त्व भी है और उसकी सार-संभाल भी करना है। किन्तु ध्यान रहे, दृष्टि नौका पर नहीं कूल पर होनी चाहिए, क्योंकि नौका साधन है, साधन नहीं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की एक साधना के रूप में स्वीकृति जैनधर्म और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या का हार्द है। यह वह विभाजन रेखा है जो आध्यात्मवाद और भौतिकवाद में अन्तर करती है। भौतिकवाद में उपलब्धियाँ या जैविक मूल्य स्वयमेव साध्य है, अन्तिम है, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों के साधन हैं। जैनधर्म की भाषा में कहें तो साधक के द्वारा वस्तुओं का त्याग और ग्रहण, दोनों ही साधना के लिए है।

जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना का मूल लक्ष्य एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है जो वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति का नहीं है, अपितु वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शान्ति की संस्थापना है। अतः जहाँ तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियाँ उसमें साधक हो सकती हैं, वहाँ तक वे स्वीकार्य हैं और जहाँ तक उसमें बाधक हैं, वहीं तक त्याज्य है। भगवान महावीर ने आचारासूत्र¹³ एवं उत्तराध्ययनसूत्र¹⁴ में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उसे सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद अनुभूति न हो, अतः त्याग इन्द्रियानुभूति का नहीं अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का करना है, क्योंकि इन्द्रियों के मनोज्ञ का अमनोज्ञ विषय आसक्तचित्त

के लिए ही राग-द्वेष (मानसिक विक्रोभों) का कारण बनते हैं, अनासक्त का वीतराग के लिए नहीं। अतः जैनधर्म की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं।

जैन तांत्रिक साधना और लोक कल्याण का प्रश्न

तांत्रिक साधना का लक्ष्य आत्मविशुद्धि के साथ लोक कल्याण भी है। यह सत्य है कि जैन धर्म मूलतः संन्यासमार्गी धर्म है। उसकी साधना में आत्मशुद्धि और आत्मोपलब्धि पर ही अधिक जोर दिया गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन धर्म में लोकमंगल या लोककल्याण का कोई स्थान ही नहीं है। जैन धर्म यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से समाज निरपेक्ष, एकांकी जीवन अधिक ही उपयुक्त है, किन्तु इसके साथ ही साथ वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए। महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि 12 वर्षों तक एकांकी साधना करने के पश्चात वे पुनः सामाजिक जीवन में लौट आये। उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की तथा जीवन भर उसका मार्ग-दर्शन करते रहे।

जैन धर्म सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा को आवश्यक तो मानता है, किन्तु वह व्यक्ति के चारित्रिक उन्नयन से ही सामाजिक कल्याण की दिशा में आगे बढ़ता है। व्यक्ति समाज की मूलभूत इकाई है, जब तक व्यक्ति का चारित्रिक विकास नहीं होगा, तब तक उसके द्वारा सामाजिक कल्याण नहीं हो सकता है। जब तक व्यक्ति के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता तब तक सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता, क्योंकि समाज जब भी खड़ा होता है वह त्याग और समर्पण के मूल्यों पर ही होता है। लोकसेवक और जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और द्वन्द्वों से दूर रहें-यह जैन आचार संहिता का आधारभूत सिद्धान्त है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही सिद्ध होंगे। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो तांत्रिक साधनाएँ की जाती हैं, वे सामाजिक जीवन के लिए घातक ही होती हैं। क्या चोर, डाकू और शोषकों का संगठन समाज कहलाने का अधिकारी है? क्या चोर, डाकू और लुटेरे अपने-अपने उद्देश्य में सफल होने के लिए देवी-देवताओं को प्रसन्न करने हेतु जो तांत्रिक साधना करते या करवाते हैं, उसे सही अर्थ में साधना कहा जा सकता है? महावीर की शिक्षा का सार यही है कि वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति सामाजिक कल्याण का

आधार बन सकती है। प्रश्नव्याकरणसूत्र¹⁵ में कहा गया है कि भगवान् का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है। जैन साधना में अहिंसा, सत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये जो पाँच व्रत माने गये हैं, वे केवल वैयक्तिक साधना के लिए नहीं है।

जैन जन्त्र के दार्शनिक आधार

जैन तत्त्व दर्शन के अनुसार जीव कर्मों के आवरण के कारण बन्धन में है। बन्धन से मुक्ति के लिए एक ओर कर्म आवरण का क्षयोपशम आवश्यक है, तो दूसरी ओर उस क्षयोपशम के लिए विशिष्ट साधना भी आवश्यक है किन्तु इस साधना के लिए बन्धन और बन्धन के कारणों का ज्ञान आवश्यक है, यह ज्ञान दार्शनिक अध्ययन से ही प्राप्त होता है। आत्मतत्त्व के ज्ञान के बिना साधना अधूरी रहती है। अतः जैन तन्त्र में भी तान्त्रिक साधना के पूर्व तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा का सम्यक् अनुशीलन आवश्यक है। इस प्रकार जैन तत्त्व साधना में दर्शन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अब हम इस तथ्य पर विचार करेंगे कि जैन परम्परा में तान्त्रिक साधना के कौन से तत्त्व किन-किन रूपों में उपस्थित हैं? और उनका उद्भव एवं विकास कैसे हुआ?

जैनधर्म में तान्त्रिक साधना का उद्भव एवं विकास

यदि तन्त्र का उद्देश्य वासना-मुक्ति और आत्मविशुद्धि है, तो वह जैन धर्म में उसके अस्तित्व के साथ ही जुड़ी हुई है। किन्तु यदि तन्त्र का तात्पर्य व्यक्ति की दैहिक वासनाओं और लौकिक ऐषणाओं की पूर्ति के लिए किसी देवता-विशिष्ट की साधना कर उसके माध्यम से अलौकिक शक्ति को प्राप्त कर या स्वयं देवता के माध्यम से उन वासनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करना माना जाय तो प्राचीन जैन धर्म में इसका कोई स्थान नहीं था। इसे हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं। यद्यपि जैन आगमों में ऐसे अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, जिनके अनुसार उस युग में अपनी लौकिक ऐषणाओं की पूर्ति के लिए किसी देव-देवी या यक्ष-यक्षी की उपासना की जाती थी। अंतगडदसा आदि आगमों में नैगमेषदेव के द्वारा सुलसा और देवकी के छः सन्तानों के हस्तांतरण की घटना, कृष्ण के द्वारा अपने छोटे भाई की प्राप्ति के लिए तीन दिवसीय उपवास के द्वारा नैगमेष देव की उपासना करना अथवा बहुपुत्रिका देवी की उपासना के द्वारा सन्तान प्राप्त करना आदि अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, किन्तु इस प्रकार की उपासनाओं को जैन धर्म की स्वीकृति प्राप्त थी, यह कहना उचित नहीं होगा। प्रारम्भिक जैन धर्म विशेषरूप से महावीर की परम्परा में

तन्त्र-मन्त्र की साधना मुनि के लिए सर्वथा वर्जित ही मानी गई थी। प्राचीन जैन आगमों में इसको न केवल हेय दृष्टि से देखा गया, अपितु इस प्रकार की साधना करने वाले को पापश्रमण या पार्श्वस्थ तक कहा गया है। इस सम्बन्ध में सूत्रकृताङ्गसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र के सन्दर्भ पूर्व में दिये जा चुके हैं। आगमों में पार्श्वस्थ का तात्पर्य शिथिलाचारी साधु माना जाता है। यद्यपि महावीर की परम्परा ने प्रारम्भ में तन्त्र साधना को कोई स्थान नहीं दिया, किन्तु उनके पूर्ववर्ती पार्श्व (जिनका जन्म इसी वाराणसी नगरी में हुआ था) की परम्परा के साधु अष्टांगनिमित्त शास्त्र का अध्ययन और विद्याओं की साधना करते थे, ऐसे संकेत जैनागमों में मिलते हैं। यही कारण था कि महावीर की परम्परा में पार्श्व की परम्परा के साधुओं को पार्श्वस्थ अर्थात् शिथिलाचारी कहकर हेय दृष्टि से देखा जाता था। प्राकृत में 'पासत्थ' शब्द के तीन अर्थ होते हैं-1. पाशस्थ अर्थात् पाश में बाँधा हुआ 2. पार्श्वस्थ अर्थात् पार्श्व के संघ में स्थित या 3. पार्श्वस्थ अर्थात् पार्श्व में स्थित संयमी जीवन के समीप रहने वाला।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र जैसे अंग-आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम वर्ग में और आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि आदि आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में ऐसे अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनमें पार्श्वपत्य श्रमणों और श्रमणियों द्वारा अष्टाङ्गनिमित्त एवं मन्त्र-तन्त्र आदि की साधना करने के उल्लेख हैं। आज भी जैन परम्परा में जो तान्त्रिक साधनाएँ की जाती हैं, उनमें आराध्यदेव महावीर न होकर मुख्यतः पार्श्वनाथ अथवा उनकी शासनदेवी पद्मावती ही होती। जैन तान्त्रिक साधनाओं में पार्श्व और पद्मावती की प्रधानता स्वतः है, इस तथ्य का प्रमाण है कि पार्श्व की परम्परा में तान्त्रिका साधना की प्रवृत्ति रही होगी। यह माना जाता है कि पार्श्व की परम्परा के ग्रन्थों जिन्हें 'पूर्व' के नाम से जाना जाता है में एक विद्यानुप्रवाद पूर्व भी था। यद्यपि वर्तमान में यह ग्रन्थ अप्राप्त है, किन्तु इसकी विषयवस्तु के सम्बन्ध में जो निर्देश उपलब्ध हैं उनसे इतना तो सिद्ध अवश्य होता है कि इसकी विषयवस्तु में विविध विद्याओं की साधना से सम्बन्धित विशिष्ट प्रक्रियाएँ निहित रही होंगी। न केवल पार्श्व की परम्परा के पूर्व साहित्य में, अपितु महावीर की परम्परा के आगम साहित्य में भी, विशेष रूप से प्रश्नव्याकरणसूत्र में विविध-विद्याओं की साधना सम्बन्धी सामग्री थी, ऐसी टीकाकार अभयदेव आदि की मान्यता है। यही कारण था कि योग्य अधिकारियों के अभाव में उस विद्या को पढ़ने से कोई साधक चरित्र से भ्रष्ट न हो, इसलिए लगभग सातवीं शताब्दी में उसकी विषयवस्तु को ही बदल दिया गया। यह सत्य है कि महावीर की परम्परा में प्रारम्भ में तन्त्र-मन्त्र और विद्याओं

की साधनाओं को न केवल वर्जित माना गया था, अपितु इस प्रकार की साधना में लगे हुए लोगों की आसुरी योनियों में उत्पन्न होने वाला भी कहा गया। किन्तु जब पार्श्व की परम्परा का विलय महावीर की परम्परा में हुआ तो पार्श्व की परम्परा के प्रभाव से महावीर की परम्परा के श्रमण भी तांत्रिक परम्पराओं से जुड़े। महावीर के संघ में तांत्रिक साधनाओं की स्वीकृति इस अर्थ में हुई कि उनके माध्यम से या तो आत्मविशुद्धि की दिशा में आगे बढ़ा जाये अथवा उन्हें सिद्ध करके उनका उपयोग जैन धर्म की प्रभावना या उसके प्रसार के लिए किया जाये।

इस प्रकार महावीर के धर्मसंघ में तन्त्र साधना का प्रवेश जिनशासन की प्रभावना के निमित्त हुआ और परवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने जैन धर्म के प्रभावना के लिए तांत्रिक-साधनाओं से प्राप्त शक्ति का प्रयोग भी किया, जैन साहित्य में ऐसे संदर्भ विपुलता से उपलब्ध होते हैं। आज भी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में किसी मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व सूरिमंत्र और वर्द्धमान विद्या की साधना करनी होती है। मात्र यही नहीं, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्रमण और श्रमणियाँ मन्त्रसिद्ध सुगन्धित वस्तुओं का एक चूर्ण जिसे वासक्षेप कहा जाता है, अपने पास रखते हैं और उपासकों को आर्शीवाद के रूप में प्रदान करते हैं। यह जैन धर्म में तन्त्र के प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार मंत्रसिद्ध रक्षाकवच भी उपासकों को प्रदान किये जाते हैं। न केवल श्वेताम्बर और दिगम्बर भट्टारक परम्परा में अपितु वर्तमान दिगम्बर परम्परा में भी अनेक आचार्य और मुनि विशेषरूप से आचार्य विमलसागर जी की परम्परा के मुनिगण तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। लगभग सातवीं शती के अनेक अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य भी उपलब्ध होते हैं जिनमें जैन-मुनियों द्वारा तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग के प्रसंग उपलब्ध हैं। वस्तुतः चैत्यवास के परिणामस्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय में विकसित भट्टारक परम्परा और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विकसित यति परम्परा स्पष्टतया इन तांत्रिक साधनाओं से सम्बन्धित रही है, यद्यपि आध्यात्मवादी मुनिवर्ग ने इन्हें सदैव ही हेय दृष्टि से देखा है और समय-समय पर इन प्रवृत्तियों की आलोचना भी की है।

वस्तुतः जैन परम्परा में तांत्रिक साधनाओं का विकास चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। कल्पसूत्र पट्टावली में जैन श्रमणों की जो प्राचीन आचार्य परम्परा वर्णित है उसमें विद्याधरकुल का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः विद्याधार जैन श्रमणों का वह वर्ग रहा होगा जो विविध विद्याओं की साधना करता होगा। यहाँ विद्या का तात्पर्य बुद्धि नहीं, अपितु देव अधिष्ठित अलौकिक शक्ति की प्राप्ति ही है। प्राचीन जैन साहित्य में हमें जंघाचारी और

विद्याचरी, ऐसे दो प्रकार के श्रमणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह माना जाता है कि ये मुनि अपनी विशिष्ट साधना द्वारा ऐसी अलौकिक शक्ति प्राप्त कर लेते थे जिसकी सहायता से वे आकाश में गमन करने में समर्थ होते थे।

यह माना जाता है कि आर्य वज्रस्वामी (ईसा की प्रथम शती) ने दुर्भिक्षकाल में पट्टविद्या की सहायता से सम्पूर्ण जैन संघ को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया था। वज्रस्वामी द्वारा किया गया विद्या का यह प्रयोग परवर्ती आचार्यों और साधुओं के लिए एक उदाहरण बन गया। वज्रस्वामी के सन्दर्भ में आवश्यकनिर्युक्त में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उन्होंने अनेक विद्याओं का उद्धार किया था। लगभग दूसरी शताब्दी के मथुरा के एक शिल्पांकन में आकाशमार्ग से गमन करते हुए एक जैन श्रमण को प्रदर्शित भी किया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से भी जैनों में अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति हेतु तांत्रिक साधना के प्रति निष्ठा का विकास हो गया था। वस्तुतः जैन धर्मसंघ में ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से चैत्यवास का आरम्भ हुआ उसी के परिणामस्वरूप तन्त्र-मन्त्र की साधना को जैन संघ में स्वीकृति भी मिली।

जैन परम्परा में आर्य खपुट, (प्रथम शती), आर्य रोहण (द्वितीय शती) आचार्य नागार्जुन (चतुर्थ शती) यशोभद्रसूरि, मानदेवसूरि, सिद्धसेनदिवाकर (चतुर्थ शती), मल्लवादी (पंचम शती) मानतुङ्गसूरि (सातवीं शती), हरिभद्रसूरि (आठवीं शती), बप्पभट्टिसूरि (नवीं शती), सिद्धर्षि (नवीं शती), सूर्याचार्य (ग्यारहवीं शती), जिनेश्वरसूरि (ग्यारहवीं शती), अभयदेवसूरि (ग्यारहवीं शती), वीराचार्य (ग्यारहवीं शती) जिनदत्तसूरि (बारहवीं शती), वादिदेवसूरि (बारहवीं शती), हेमचन्द्र (बारहवीं शती), आचार्य मलयगिरि (बारहवीं शती), जिनचन्द्रसूरि (बारहवीं शती), पार्श्वदेवगणि (बारहवीं शती), जिनकुशल सूरि (तेरहवीं शती) आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने मन्त्र और विद्याओं की साधना के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना की। यद्यपि विविध ग्रंथों, प्रबन्धों और पट्टावलियों में वर्णित इनके कथानकों में कितनी सत्यता है, यह एक भिन्न विषय है, किन्तु जैन साहित्य में जो इनके जीवनवृत्त मिलते हैं वे इतना तो अवश्य सूचित करते हैं कि लगभग चौथी-पाँचवीं शताब्दी से जैन आचार्यों का रुझान तांत्रिक साधनाओं की ओर बढ़ा था और वे जैन-धर्म की प्रभावना के निमित्त उसका उपयोग भी करते थे।

मेरी दृष्टि से जैन परम्परा में तांत्रिका साधनाओं का जो उद्भव और विकास हुआ है, वह मुख्यतः दो कारणों से हुआ है—प्रथम तो यह कि जब वैयक्तिक साधना की अपेक्षा संघीय जीवन को प्रधानता दी गई तो संघ की रक्षा और अपने

श्रावक भक्तों के भौतिक कल्याण को भी साधना का आवश्यक अंग मान लिया गया। दूसरे तंत्र के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण जैन आचार्यों के लिए यह अपरिहार्य हो गया था कि वे मूलतः निवृत्तिमार्गी और आत्मविशुद्धिपरक इस धर्म को जीवित बनाए रखने के लिए तांत्रिक उपासना और साधना-पद्धति को किसी सीमा तक स्वीकार करें, अन्यथा उपासकों का इतर परम्पराओं की ओर आकर्षित होने का भय था।

अध्यात्म के आदर्श की बात करना तो सुखद लगता है, किन्तु उन आदर्शों को जीवन में जीना सहज नहीं है। जैन धर्म का उपासक भी वही व्यक्ति है जिसे अपने लौकिक और भौतिक मंगल की आकांक्षा रहती है। जैन धर्म को विशुद्ध रूप में मात्र आध्यात्मिक और निवृत्तिमार्गी बनाए रखने पर भक्तों या उपासकों के एक बड़े भाग से जैन धर्म के विमुख हो जाने की सम्भावनाएँ थीं। इन परिस्थितियों में जैन आचार्यों की यह विवशता थी कि वे अपने अनुयायियों की श्रद्धा जैन-धर्म में बनी रहे इसके लिए उन्हें यह आवश्वासन दें कि चाहे तीर्थंकर उनके लौकिक-भौतिक कल्याण करने में असमर्थ हों, किन्तु उन तीर्थंकरों के शासन रक्षक देव उनका लौकिक और भौतिक मंगल करने में समर्थ हैं। जैन देवमण्डल में विभिन्न यक्ष-यक्षियों, विद्यादेवियों, क्षेत्रपालों आदि को जो स्थान मिला, उसका मुख्य लक्ष्य तो अपने अनुयायियों की श्रद्धा जैन-धर्म में बनाए रखना ही था।

यही कारण था कि आठवीं-नौवीं शताब्दी में जैन आचार्यों ने अनेक तांत्रिक विधि-विधानों को जैन-साधना और पूजा-पद्धति का अंग बना दिया। यह सत्य है कि जैन साधना में तांत्रिक साधना की अनेक विद्याएँ यथा मन्त्र, यन्त्र, जप, पूजा, ध्यान आदि क्रमिक रूप से विकसित होती रही है, किन्तु यह सब अपनी सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव का परिणाम थी, जिसे जैन धर्म के उपासकों की निष्ठा को जैन धर्म के बनाए रखने के लिए स्वीकार किया गया था।

संदर्भ -

1. पञ्चाशक, प्रका.-ऋषभदेव श्री, केशरीमलजी श्वे. संस्था, 2/44
2. ललितविस्तार, हरिभद्र, प्रका.-ऋषभदेव, केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, बी.नि.स. 2461, पृ. 57-58
3. गुह्यसमाजतन्त्र, संपा.- विनयतोष भट्टाचार्य, प्रका.- ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूट, बरोदा, 1931, 5/40
5. सूत्रकृताङ्गसूत्र संपा.-मधुकर मुनि, प्रका.- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1982, 2/3/18

6. उत्तराध्ययनसूत्र संपा.- साध्वी चन्दना, प्रका.- वीरायतन प्रकाशन आगरा 1972, 15/7
7. दशवैकालिकसूत्र, संपा.- मधुकर मुनि, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1985, 8/50
8. आचारांगसूत्र, संपा.- मधुकर मुनि, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1980, 12/6/163
9. स्थानांगसूत्र, संपा.- मधुकर मुनि, प्रका.- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1980, 6/41.
10. मरणसमाधि, पड़ण्णय सुताई, संपा.- पुण्यविजयजी, प्रका.- श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, 1984
11. उत्तराध्ययनसूत्र संपा.- साध्वी चन्दना, प्रका.- वीरायतन प्रकाशन, आगरा, 1922, 23/73
12. निशीथभाष्य, संपा.- मुनि अमरचंदजी, प्रका.- सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा 1982, 4157
13. आचारांगसूत्र, संपा.- मधुकर मुनि प्रका.- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1980, 2/15/130-134
14. उत्तराध्ययनसूत्र संपा.- साध्वी चन्दना, प्रका.- वीरायतन प्रकाशन, आगरा, 1972, 32/100
15. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संपा.- मुनि.- हस्तिमलजी, प्रका.- हस्तीमल सुराणा, पाली, 1950, 2/9/2



ऋषिभाषित धर्म-संकुल

जैन आगम साहित्य में ऋषिभाषित का स्थान

ऋषिभाषित- (इसिभासियाई) अर्धमागधी जैन आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। वर्तमान में जैन आगमों के वर्गीकरण की जो पद्धति प्रचलित है, उसमें इस प्रकीर्णक ग्रन्थों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। दिगम्बर परम्परा में 12 अंग और 14 अंगबाह्य माने गये हैं; किन्तु उनमें ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर जैन परम्परा में स्थानकवासी और तेरापंथी, जो 32 आगम मानते हैं, उसमें भी ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में 11 अंग, 12 उपांग, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र, 2 चूलिकासूत्र और 10 प्रकीर्णक, ऐसे जो 45 आगम माने जाते हैं, उनमें भी 10 प्रकीर्णकों में हमें कहीं ऋषिभाषित का नाम नहीं मिलता। यद्यपि नन्दीसूत्र और पक्खीसूत्र में जो कालिक सूत्रों की गणना की गयी है उनमें ऋषिभाषित का उल्लेख है।¹ आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में अंगबाह्य ग्रन्थों की जो सूची दी है उसमें सर्वप्रथम सामयिक आदि 6 ग्रन्थों का उल्लेख है और उसके पश्चात् दश वैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा (आचारदशा) कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित का उल्लेख है।² हरिभद्र आवश्यक निर्युक्ति की वृत्ति में एक स्थान पर इसका उल्लेख उत्तराध्ययन के साथ करते हैं³ और दूसरे स्थान पर 'देविन्दथुय' नामक प्रकीर्णक के साथ।⁴ हरिभद्र के इस भ्रम का कारण यह हो सकता है कि उनके सामने ऋषिभाषित (इसिभासियाई) के साथ-साथ ऋषिमण्डलस्तव (इसिमण्डलधुड) नाम ग्रन्थ भी था, जिसका उल्लेख आचारांगचूर्णि में है और उनका उद्देश्य ऋषिभाषित को उत्तराध्ययन के साथ और ऋषिमण्डलस्तव को 'देविन्दथुय' के साथ जोड़ने का होगा। यह भी स्मरणीय है कि इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) में न केवल ऋषिभाषित के अनेक ऋषियों का उल्लेख है अपितु उनके इसिभासियाई में जो उपदेश और अध्याय हैं उनका भी संकेत है। इससे यह भी निश्चित होता है कि इसिमण्डल का कर्ता ऋषिभाषित से अवगत था। मात्र यही नहीं ऋषिमण्डल में तो क्रम और नामभेद के साथ ऋषिभाषित के लगभग सभी ऋषियों का भी उल्लेख मिलता है। इसिमण्डल का उल्लेख आचारांगचूर्णि 'इसिणामकित्तणं इसिमण्डलत्थु'।

(पृ. 374) में होने से यह निश्चित ही उसके पूर्व (7 वीं शती) के पूर्व का ग्रन्थ है। विद्वानों की इस सम्बन्ध में विशेष रूप में चिन्तन करना चाहिए। इस मण्डल के संबंध में यह मान्यता है कि वह तपागच्छ के धर्मघोषसूरि की रचना है; किन्तु यह धारणा मुझे भ्रान्त प्रतीत होती है क्योंकि ये 14वीं शती के आचार्य हैं। वस्तुतः इसिमण्डल की भाषा से भी ऐसा लगता है कि यह प्राचीन ग्रन्थ है और इसका लेखक ऋषिभाषित का ज्ञाता है। आचार्य जिनप्रभ ने विधिमार्गप्रपा में तप आराधना के साथ आगमों के स्वाध्याय की जिस विधि का वर्णन किया है, उसमें प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित का उल्लेख करके प्रकीर्णक अध्ययन-क्रम विधि को समाप्त किया है। उन्होंने जिन प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है उनमें ऋषिभाषित भी समाहित है।⁵ इस प्रकार वर्गीकरण की प्रचलित पद्धति में ऋषिभाषित की गणना प्रकीर्णक सूत्रों में की जा सकती है।

प्राचीनकाल में जैन परम्परा में इसे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता था। आवश्यकनिर्युक्ति में भद्रबाहु ऋषिभाषित पर भी निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं⁶, वर्तमान में यह निर्युक्ति उपलब्ध नहीं होती है। आज तो यह कहना भी कठिन है कि यह निर्युक्ति लिखी गई थी या नहीं। यद्यपि 'इसिमण्डल' जिसका उल्लेख आचारांगचूर्ण में है इससे सम्बन्धित अवश्य प्रतीत होता है। इन सबसे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि ऋषिभाषित एक समय तक जैन परम्परा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है। स्थानांग में इसका उल्लेख प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप में हुआ है।⁷ समवायांग इसके 44 अध्ययनों का उल्लेख करता है।⁸ जैसा कि पूर्व में हम सूचित कर चुके हैं। नन्दीसूत्र, पक्खीसूत्र आदि में इसकी गणना कालिकसूत्रों में की गई है। आवश्यकनिर्युक्ति इसे धर्मकथानुयोग का ग्रन्थ कहती है (आवश्यकनिर्युक्ति-हरिभद्रीयवृत्ति, पृष्ठ 206)।

ऋषिभाषित का रचनाक्रम एवं काल

यह ग्रन्थ अपनी भाषा, छन्द योजना और विषयवस्तु की दृष्टि से अर्धमागधी जैन आगम ग्रन्थों में अतिप्राचीन है। मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध से किंचित् परिवर्ती तथा सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थों की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। इतना सुनिश्चित है कि इसकी छन्द योजना, शैली एवं भाषा अत्यन्त प्राचीन है। मेरी दृष्टि में इसका वर्तमान स्वरूप भी किसी भी स्थिति में ईसवीपूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं होता है। स्थानांग में प्राप्त सूचना के अनुसार यह ग्रन्थ प्रारंभ में प्रश्नव्याकरणदशा का एक भाग था; स्थानांग में प्रश्नव्याकरणदशा की जो दस दशाएँ वर्णित हैं, उसमें ऋषिभाषित का भी उल्लेख है। समवायांग इसके 44 अध्ययन होने

की भी सूचना देता है। अतः यह इनका पूर्ववर्ती तो अवश्य ही है। सूत्रकृतांग में नमि, बाहुक, रामपुत्त, असितदेवल, द्वैपायन, पराशर आदि ऋषियों का एवं उनकी आचारगत मान्यताओं का किंचित् निर्देश है। इन्हें तपोधन और महापुरुष कहा गया है। उसमें कहा गया है कि ये पूर्व ऋषि इस (आर्हत प्रवचन) में 'सम्मत' माने गये हैं। इन्होंने (सचित्) बीज और पानी का सेवन करके भी मोक्ष प्राप्त किया था।⁹ अतः पहला प्रश्न यही उठता है कि इन्हें सम्मानित रूप में जैन परम्परा में सूत्रकृतांग के पहले किस ग्रन्थ में स्वीकार किया गया है। मेरी दृष्टि में केवल ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें इन्हें सम्मानित रूप से स्वीकार किया गया है। सूत्रकृतांग की गाथा का 'इह-सम्मत' शब्द स्वयं सूत्रकृतांग की अपेक्षा ऋषिभाषित के पूर्व अस्तित्व की सूचना देता है। ज्ञातव्य है कि सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित दोनों में जैनेतर परम्परा के अनेक ऋषियों यथा असितदेवल, बाहुक आदि का सम्मानित रूप में उल्लेख किया गया है। यद्यपि दोनों की भाषा एवं शैली भी मुख्यतः पद्यात्मक ही है। फिर भी भाषा के दृष्टिकोण से विचार करने पर सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध की भाषा भी ऋषिभाषित की अपेक्षा परवर्तीकाल की लगती है। क्योंकि उसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत के निकट है जबकि ऋषिभाषित की भाषा कुछ परवर्ती परिवर्तन को छोड़कर प्राचीन अर्धमागधी है। पुनः जहाँ सूत्रकृतांग में इतर दार्शनिक मान्यताओं की समालोचना की गयी है, वहाँ ऋषिभाषित इतर परम्परा के ऋषियों का सम्मानित रूप में ही उल्लेख हुआ है। यह सुनिश्चित सत्य है कि यह ग्रन्थ जैनधर्म एवं संघ के सुव्यवस्थित होने के पूर्व लिखा गया था। इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि इसके रचनाकाल तक जैन संघ में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का पूर्णतः अभाव था। मंखलिलगोशालक और उसकी मान्यताओं का उल्लेख हमें जैन आगम सूत्रकृतांग¹⁰, भगवती¹¹ और उपासकदशांग¹² में और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, दीघनिकाय के सामञ्जकलसुत्त¹³ आदि में मिलता है। सूत्रकृतांग में यद्यपि स्पष्टतः मंखलिलगोशालक का उल्लेख नहीं है, किन्तु उसके आर्द्रक नामक अध्ययन में नियतिवाद की समालोचना अवश्य है। यदि हम साम्प्रदायिक अभिनिवेश के विकास की दृष्टि से विचार करें तो भगवती का मंखलिलगोशालक वाला प्रकरण सूत्रकृतांग और उपासकदशांग की अपेक्षा भी पर्याप्त परवर्ती सिद्ध होगा। सूत्रकृतांग, उपासकदशांग और पालित्रिपिटक के अनेक ग्रन्थ मंखलिलगोशालक के नियतिवाद को प्रस्तुत करके उसका खण्डन करते हैं। फिर भी जैन आगम ग्रन्थों की अपेक्षा सुत्तनिपात में मंखलिलगोशालक की गणना बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों में करके उनके महत्त्व और प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन अवश्य किया गया है,¹⁴ किन्तु पालित्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी ऋषिभाषित में उसे

अर्हतऋषि कहकर सम्मानित किया गया है। अतः धार्मिक उदारता की दृष्टि से ऋषिभाषित की रचना पालित्रिपिटक की अपेक्षा भी प्राचीन है। क्योंकि किसी भी धर्मसंघ के सुव्यवस्थित होने के पश्चात् ही उसमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश का विकास हो पाता है। ऋषिभाषित स्पष्टरूप से यह सूचित करता है कि उसकी रचना जैन परम्परा में साम्प्रदायिक अभिनिवेश आने के बहुत पूर्व हो चुकी थी। केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष सभी जैन आगम ग्रन्थों में यह धार्मिक अभिनिवेश न्यूनाधिक रूप में अवश्य परिलक्षित होता है। अतः ऋषिभाषित केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष सभी जैनागमों से प्राचीन सिद्ध होता है। भाषा, छन्द योजना आदि की दृष्टि से भी यह आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के मध्य में ही सिद्ध होता है।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में प्रचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात है।¹⁵ किन्तु उसमें भी वह उदारता नहीं है। जो ऋषिभाषित में है। त्रिपिटक साहित्य में ऋषिभाषित में उल्लिखित कुछ ऋषियों यथा नारद,¹⁶ असितदेवल,¹⁷ पिंग,¹⁸ मंखलिपुत्र,¹⁹ संजय (वेलटिठपुत्त)²⁰, वर्धमान (निग्गंथु नातपुत्र)²¹, कुमापुत्त²² आदि के उल्लेख हैं किन्तु इन सभी को बुद्ध से निम्न ही बताया गया है-दूसरे शब्दों में वे ग्रन्थ भी साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त नहीं हैं, अतः यह उनका भी पूर्ववर्ती ही है। ऋषिभाषित में उल्लिखित अनेक गाथांश और गाथायें भाव, भाषा और शब्दयोजना की दृष्टि से जैन परम्परा के सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, धम्मपद आदि प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती है। अतः उनकी रचना शैली की अपेक्षा भी यह पूर्ववर्ती ही सिद्ध होता है। यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि यह भी सम्भव है कि ये गाथायें एवं विचार बौद्धग्रन्थ सुत्तनिपात एवं जैनग्रन्थ उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक से ऋषिभाषित में गये हैं, किन्तु यह बात इसलिए समुचित नहीं है कि प्रथम तो ऋषिभाषित की भाषा, छन्द-योजना आदि इन ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीनकाल की है और आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथमश्रुतस्कन्ध तथा सुत्तनिपात के अधिक निकट है। दूसरे जहाँ ऋषिभाषित में इन विचारों को अन्य परम्पराओं के ऋषियों के सामान्य सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है, वहाँ बौद्ध त्रिपिटक साहित्य और जैन साहित्य से इन्हें अपनी परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के रूप में आध्यात्मिक कृषि की चर्चा ऋषिभाषित²³ में दो बार और सुत्तनिपात²⁴ में एक बार हुई है किन्तु जहाँ सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि मैं इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि करता हूँ वहाँ ऋषिभाषित का ऋषि कहता है कि जो भी इस प्रकार की कृषि करेगा वह चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो मुक्त होगा। अतः ऋषिभाषित आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर जैन और बौद्ध परम्परा के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीन ही सिद्ध होता है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हम यह भी पाते हैं कि ऋषिभाषित में अर्धमागधी प्राकृत का प्राचीनतम रूप बहुत कुछ सुरक्षित है। उदाहरण के रूप में ऋषिभाषित में आत्मा के लिए 'आता' का प्रयोग हुआ है जबकि जैन आगम साहित्य में भी अत्ता, अप्पा, आदा, आया आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है जो कि परवर्ती प्रयोग है। 'त' श्रुति की बहुलता निश्चितरूप से इस ग्रन्थ को उत्तराध्ययन की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध करती है क्योंकि उत्तराध्ययन की भाषा में 'त' के लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। ऋषिभाषित में जाणति, परितप्पति, गच्छती, विज्जती, वट्ठती, पवत्तती आदि रूपों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा और विषयवस्तु दोनों की ही दृष्टि से यह एक पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। अगन्धन कुल के सर्प का रूपक हमें उत्तराध्ययन,²⁵ दशवैकालिक²⁶ और ऋषिभाषित²⁷ तीनों में मिलता है। किन्तु तीनों स्थानों के उल्लेखों के देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि ऋषिभाषित का यह उल्लेख उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीन है। क्योंकि ऋषिभाषित में मुनि को अपने पथ से विचलित न होने के लिए इसका मात्र एक रूपक के रूप में प्रयोग हुआ है जबकि दशवैकालिक और उत्तराध्ययन में यह रूपक राजमती और रथनेमि की कथा के साथ जोड़ा गया है। इसी प्रकार आध्यात्मिक कृषि का रूपक ऋषिभाषित के अध्याय 26 एवं 32 में और सुत्तनिपात अध्याय 4 में है। किन्तु सुत्तनिपात में जहाँ बुद्ध स्वयं कहते हैं कि मैं कृषि करता हूँ, वहाँ ऋषिभाषित में वह एक सामान्य उपदेश है, जिसके अन्त में यह कहा गया है कि जो इस प्रकार की कृषि करता है वह सिद्ध (सिज्झति) होता है, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो।²⁸ अतः ऋषिभाषित सुत्तनिपात, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक की अपेक्षा प्राचीन है। इस प्रकार ऋषिभाषित आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध का परवर्ती और शेष सभी अर्धमागधी आगम साहित्य का पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। इसी प्रकार पालित्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी प्राचीन होने से सम्पूर्ण पालित्रिपिटक से भी पूर्ववर्ती है।

जहाँ तक इसमें वर्णित ऐतिहासिक ऋषियों के उल्लेखों के आधार पर कालनिर्णय करने का प्रश्न है केवल वज्जीपुत्त को छोड़कर शेष सभी ऋषि महावीर और बुद्ध से या तो पूर्ववर्ती हैं या उनके समकालिक हैं। पालित्रिपिटक के आधार पर वाज्जीयपुत्त (वात्सीयपुत्र) भी बुद्ध के लघुवयस्क समकालीन ही हैं, वे आनन्द के निकट थे। वज्जीपुत्रीय सम्प्रदाय भी बुद्ध के निर्वाण की प्रथम शताब्दी में ही अस्तित्व में आ गया था। अतः इनका बुद्ध का लघुवयस्क समकालीन होना सिद्ध है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी ऋषिभाषित बुद्ध और महावीर के निर्वाण की प्रथम

शताब्दी में ही निर्मित हो गया होगा, यह सम्भव है इसमें बाद में कुछ परिवर्तन हुआ हो। मेरी दृष्टि में यह इसके रचनाकाल की पूर्व सीमा ईसा पू. 5वीं शताब्दी और अन्तिम सीमा ई.पू. 3 शती के बीच ही है, अतः यह इससे अधिक परवर्ती नहीं है। मुझे अन्तः और बाह्य साक्ष्यों में कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं मिला, जो इसे इस कालावधि से परवर्ती सिद्ध करे। दार्शनिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर भी हम इसमें न तो जैन सिद्धान्तों का और न बौद्ध सिद्धान्तों का विकसित रूप पाते हैं। मात्र पंचास्तिकाय और अष्टविध कर्म का निर्देश है, यह भी सम्भव है कि ये अवधारणाएँ पार्श्वसत्त्वों में प्रचलित रही हों और वहीं से महावीर की परम्परा में ग्रहण की गई हों। परिषद, कषाय आदि की अवधारणाएँ तो प्राचीन ही हैं ऋषिभाषित के वात्सीयपुत्र, महाकश्यप, सारिपुत्र आदि बौद्ध ऋषियों के उपदेश में भी केवल बौद्ध धर्म के प्राचीन सिद्धान्त सन्ततिवाद, क्षणिकवाद आदि ही मिलते हैं। अतः बौद्ध दृष्टि से भी जैनागम एवं पालित्रिपिटक से प्राचीन है।

ऋषिभाषित की रचना

ऋषिभाषित की रचना के सम्बन्ध में प्रो. शुब्रिंग एवं अन्य विद्वानों का मत है कि यह मूलतः पार्श्व की परम्परा में निर्मित हुआ होगा, क्योंकि उस परम्परा का स्पष्ट प्रभाव प्रथम अध्याय में देखा जाता है जहाँ ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक साथ मानकर उसे चातुर्याम की व्यवस्था के अनुरूप ढाला गया है।²⁹ पुनः पार्श्व का विस्तृत अध्याय भी उसी तथ्य को पुष्ट करता है। दूसरे इसे पार्श्व की परम्परा का मानने का एक आधार यह भी है कि पार्श्व की परम्परा अपेक्षाकृत अधिक उदार थी - उसकी अन्य परिव्राजक और श्रमण परम्पराओं से आचार-व्यवहार आदि में भी अधिक निकटता था। पार्श्वपत्त्यों के महावीर के संघ में प्रवेश के साथ यह ग्रन्थ महावीर की परम्परा में आया और उनकी परम्परा में निर्मित दशाओं में प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप में सम्मिलित किया गया।

ऋषिभाषित का प्रश्नव्याकरण से पृथक्करण

अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि क्यों पहले तो उसे प्रश्नव्याकरणदशा में ढाला गया और बाद में उसे उससे अलग कर दिया गया? मेरी दृष्टि में पहले तो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक उपदेशों का संकलन होने से इसे अपने आगम-साहित्य में स्थान देने में महावीर की परम्परा के आचार्यों को कोई बाधा प्रतीत नहीं हुई होगी; किन्तु जब जैन संघ सुव्यवस्थित हुआ और अपनी एक परम्परा बन गई तो अन्य परम्पराओं के ऋषियों को आत्मसात करना उसके लिए कठिन हो गया। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को अलग करना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु एक उद्देश्यपूर्ण घटना है। यह सम्भव नहीं था कि एक ओर

तो सूत्रकृतांग, भगवती³⁰ और उपासकदशांग³¹ में मंखलिगोशालक की तथा ज्ञातार्ध³² में नारद की आलोचना करते हुए उनके चरित्र के हनन का प्रयत्न किया जाये और दूसरी ओर उन्हें अर्हत् ऋषि कहकर उनके उपदेशों को आगम वचन के रूप में सुरक्षित रखा जाये। ईसा की प्रथम शती तक जैनसंघ की श्रद्धा को टिकाये रखने का प्रश्न प्रमुख बन गया था। नारद, मंखलिगोशालक, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि मानकर उनके वचनों को तीर्थंकर की आगम वाणी के रूप में स्वीकार करना कठिन हो गया था, यद्यपि इसे भी जैन आचार्यों का सौजन्य ही कहा जाना चाहिए कि उन्होंने ऋषिभाषित को प्रश्न-व्याकरण से अलग करके भी प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप में उसे सुरक्षित रखा। साथ ही उसकी प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए उसे प्रत्येकबुद्ध भाषित माना। यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश ने इतना अवश्य किया कि उसमें उल्लिखित पार्श्व, वर्धमान, मंखलिपुत्र आदि को आगम में वर्णित उन्हीं व्यक्तित्वों से भिन्न कहा जाने लगा।

ऋषिभाषित के ऋषियों को प्रत्येकबुद्ध क्यों कहा गया?

ऋषिभाषित के मूलपाठ में केतलिपुत्र को ऋषि, अंबड (25) को परिव्राजक; पिंग (32), ऋषिगिरि (34) एवं श्री गिरि को ब्राह्मण (माहण) परिव्राजक अर्हत् ऋषि, सारिपुत्र को बुद्ध अर्हत् ऋषि तथा शेष सभी को अर्हत् ऋषि के नाम से सम्बोधित किया गया। उत्कट (उत्कल) नामक अध्ययन में वक्ता के नाम का उल्लेख ही नहीं है, अतः उसके साथ कोई विशेषण होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यद्यपि ऋषिभाषित के अन्त में प्राप्त होनेवाली संग्रहणी गाथा में³³ एवं ऋषिमण्डल³⁴ इन सबको प्रत्येकबुद्ध कहा गया है तथा यह भी उल्लेख है कि इनमें से बीस अरिष्टनेमि के, पन्द्रह पार्श्वनाथ के और शेष महावीर के शासन में हुए। किन्तु यह गाथा परवर्ती है और बाद में जोड़ी गयी लगती है। मूलपाठ में कहीं भी इनका प्रत्येकबुद्ध के रूप में उल्लेख नहीं है। समवायांग में ऋषिभाषित की चर्चा के प्रसंग में इन्हें मात्र देवलोक से च्युत कहा गया है, प्रत्येकबुद्ध नहीं कहा गया है। यद्यपि समवायांग में ही प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का विवरण देते समय यह कहा गया है कि इसमें स्वसमय और परसमय के प्रवक्ता प्रत्येकबुद्धों के विचारों का संकलन है। चूँकि ऋषिभाषित प्रश्नव्याकरण का ही एक भाग था। इस प्रकार ऋषिभाषित के ऋषियों को सर्वप्रथम समवायांग में परोक्षरूप से प्रत्येकबुद्ध मान लिया गया था।³⁵ यह स्पष्ट है कि ऋषिभाषित अधिकांश ऋषि जैन परम्परा के नहीं थे अतः उनके उपदेशों को मान्य रखने के लिए उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहा गया। संग्रहणीगाथा तो उन्हें स्पष्टरूप से प्रत्येकबुद्ध कहती ही है। जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया- इन्हें प्रत्येकबुद्ध कहने का प्रयोजन यही था कि इन्हें जैन संघ से पृथक् मानकर भी इनके

उपदेशों को प्रामाणिक माना जा सके। जैन और बौद्ध दोनों परम्परा में प्रत्येकबुद्ध वह व्यक्ति है, जो किसी निमित्त से स्वयं प्रबुद्ध होकर एकाकी साधना करते हुए ज्ञान प्राप्त करता है किन्तु न तो यह स्वयं किसी का शिष्य बनता है और न किसी को शिष्य बनाकर संघ व्यवस्था करता है। इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध किसी परम्परा या संघ व्यवस्था में आबद्ध नहीं होता है, फिर भी वह समाज में आदरणीय होता है और उसके उपदेश प्रामाणिक माने जाते हैं।

ऋषिभाषित और जैनधर्म के सिद्धान्त

ऋषिभाषित का समग्रतः अध्ययन हमें इस संबंध में विचार करने को विवश करता है कि क्या ऋषिभाषित में अन्य परम्पराओं के ऋषियों द्वारा उनकी ही अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया गया है अथवा उनके मुख से जैन परम्परा की मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया गया है। प्रथम दृष्टि के देखने पर जो ऐसा भी लगता है कि उनके मुख से जैन मान्यताओं का प्रतिपादन हुआ है। प्रो. शुब्रिंग और उनके ही आधार पर प्रो. लल्लनजी गोपाल ने प्रत्येक ऋषि के उपदेशों के प्रतिपादन के प्रारम्भिक और अन्तिम कथन की एकरूपता के आधार पर यह मान लिया है कि ग्रन्थकार ऋषियों के उपदेशों के प्रस्तुतीकरण में प्रामाणिक नहीं हैं। उसने इनके उपदेशों को अपने ही ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अधिकांश अध्यायों में जैन पारिभाषिक पदावली यथा पंचमहाव्रत, कषाय, परिषह आदि को देखकर इस कथन में सत्यता परिलक्षित होने लगती है। उदाहरणार्थ प्रथम नारद नामक अध्ययन में यद्यपि शौच के चार लक्षण बताये गये हैं, किन्तु यह अध्याय जैन परम्परा के चातुर्याम का ही प्रतिपादन करता है। वज्जीयपुत्त नामक द्वितीय अध्याय में कर्म के सिद्धान्त की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है। यह अध्याय जीव के कर्मानुगामी होने की धारणा का प्रतिपादन करता है, साथ ही मोह को दुःख का मूल बताता है। यह स्पष्ट करता है कि जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की परस्परा चलती रहती है, उसी प्रकार से मोह से कर्म और कर्म से मोह की परम्परा चलती रहती है और मोह के समाप्त होने पर कर्म सन्तति ठीक वैसे ही समाप्त होती है जैसे वृक्ष के मूल को समाप्त करने पर उसके फल-पत्ती अपने आप समाप्त होते हैं। कर्म सिद्धान्त की यह अवधारणा ऋषिभाषित के अध्याय 13, 15, 24 और 30 में भी मिलती है। जैन परम्परा में इससे ही मिलता जुलता दिवरण उत्तराध्ययन के बत्तीसवें अध्याय से प्राप्त होता है। इसी प्रकार तीसरे असितदेवल नामक अध्याय में हमें जैन परम्परा और विशेषरूप से आचारांग में उपलब्ध पाप को लेप कहने की बात मिल जाती है। इस अध्याय में हमें पाँच महाव्रत, चार कषाय तथा इसी प्रकार हिंसा से लेकर मिथ्यादर्शनशत्य तक के 18

पापों का उल्लेख भी मिलता है। यह अध्याय मोक्ष के स्वरूप का विवेचन भी करता है और उसे शिव, अतुल, अमल, अव्याघात, अपुनर्भव, अपुनरावर्तन तथा शाश्वत स्थान बताता है। मोक्ष का ऐसा ही स्वरूप हमें जैन-आगम-साहित्य में अन्यत्र भी मिलता है। पाँच महाव्रतों और चार कषायों का विवरण तो ऋषिभाषित के अनेक अध्यायों में आया है। महाकाश्यप नामक 9वें अध्ययन में पुण्य, पाप तथा संवर और निर्जरा की चर्चा उपलब्ध होती है। इसी अध्याय में कषाय का भी उल्लेख है। नवें अध्याय में कर्म आदान की मुख्य चर्चा करते हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को बन्धन का कारण कहा गया है जो कि जैन परम्परा के पूर्णतः अनुरूप है। इसमें जैन परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्द यथा उपक्रम, बद्ध, स्पृष्ट, निकाचित, निर्जीर्ण, सिद्धि, शैलेषी अवस्था, पेदशोदय, विपाकोदय आदि पाये जाते हैं। इस अध्याय में प्रतिपादित आत्मा की नित्यानित्यता की अवधारणा सिद्धावस्था का स्वरूप एवं कर्मबन्धन और निर्जरा की प्रक्रिया जैन दर्शन के समान है।

इसी तरह अनेक अध्यायों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवधारणा भी मिलती है। बारहवें याज्ञवल्क्य नामक अध्ययन में जैन परम्परा के अनुरूप गोचरी के स्वरूप एवं शुद्धैषणा की चर्चा मिल जाती है। आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और कृत कर्मों के फल का भोक्ता है, यह बात भी 15वें मधुरायण नामक अध्ययन में की गयी है। सत्रहवें विदुर नामक अध्ययन में सावद्योग विरति और समभाव की चर्चा है। उन्नीसवें आरियायण नामक अध्याय में आर्य ज्ञान आर्यदर्शन और आर्यचरित्र के रूप में प्रकारान्तर से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चरित्र की ही चर्चा है। बाईसवाँ अध्याय धर्म के क्षेत्र में पुरुष की प्रधानता की चर्चा करता है तथा नारी की निन्दा करता है, इसकी सूत्रकृतांग के इत्थिपरिण्णानामक अध्ययन से समानता है। तेईसवें रामपुल्ल नामक अध्याय में उत्तराध्ययन (28/35) के समान ही ज्ञान के द्वारा जानने, दर्शन के द्वारा देखने, संयम के द्वारा निग्रह करने की तथा तप के द्वारा अष्टविद्य कर्म के विघुणन की बात कही गयी है। अष्टविद्य कर्म की यह चर्चा केवल जैन परम्परा में ही पायी जाती है। पुनः चौबीसवें अध्याय में भी मोक्षमार्ग के रूप में ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र की चर्चा है। इसी अध्याय में देव, मनुष्य, तिर्यज्य और नारक-इन चतुर्गतियों की भी चर्चा है। पचीसवें अम्बड़ नामक अध्याय में चार कषाय, चार विकथा, पाँच महाव्रत, तीन गुप्ती, पंच इन्द्रिय संयम, छः जीवनिकाय, सात भय, आठ मद, नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य तथा दस प्रकार के समाधिस्थान की चर्चा है। इस प्रकार इस अध्याय में जैन परम्परा में मान्य अनेक अवधारणायें एक साथ उपलब्ध हो जाती हैं। इसी अध्याय में आहार करने के छः कारणों की वह चर्चा भी है, जो कि स्थानांग (स्थान 61) आदि में मिलती है। स्मरण

रहे कि यद्यपि जैनागमों में अम्बड़ को परिव्राजक माना है, फिर भी उसे महावीर के प्रति श्रद्धावान् बताया है।³⁶ यही कारण है कि इसमें सर्वाधिक जैन अवधारणायें उपलब्ध है। ऋषिभाषित के छब्बीसवें अध्याय में उत्तराध्ययन के पचीसवें अध्याय के समान ही ब्राह्मण के स्वरूप की चर्चा है। इसी अध्याय में कषाय, निर्जरा, छः जीवनिकाय और सर्वप्राणियों के प्रति दया का भी उल्लेख है। एकतीसवें पार्श्व नामक अध्ययन में पुनः चातुर्याम, अष्टविध कर्मग्रन्थि, चार गति, पंचास्तिकाय तथा मोक्ष स्थान के स्वरूप का दिग्दर्शन होता है। इसी अध्याय में जैन परम्परा के समान जीव को ऊर्ध्वगामी और पुद्गल को अधोगामी कहा गया है, किन्तु पार्श्व तो जैन परम्परा में मान्य ही हैं, अतः इस अध्याय में जैन अवधारणाएँ होनी आश्चर्यजनक नहीं है। अब विद्वानों की यह धारणा भी बनी है कि जैन दर्शन का तत्त्वज्ञान पार्श्वपत्त्यों की ही देन है। शूब्रिंग ने भी इसिभासियाई पर पार्श्वपत्त्यों का प्रभाव माना है। पुनः 32 वें पिंग नामक अध्याय में जैन परम्परा के अनुरूप चारों वर्णों की मुक्ति का भी प्रतिपादन किया गया है। 34वें अध्याय में परिषह और उपसर्गों की चर्चा है। इसी अध्याय में पंच महाव्रत से युक्त, कषाय से रहित, छिन्नस्रोत, अनाश्रव, भिक्षु की मुक्ति की भी चर्चा है। पुनः 35वें उद्दालक नामक अध्याय में तीन गुप्ति, तीन दण्ड, तीन राल्य, चार कषाय, चार विकथा, पाँच समिति, पंचेन्द्रियसंयम, योगसन्धान एवं नवकोटि परिशुद्ध, दश दोष से रहित विभिन्न कुलों की परकृत, परनिर्दिष्ट, विगतधूम, शस्त्रपरिणत भिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है। इसी अध्याय में संज्ञा एवं 22 परिषदों का भी उल्लेख है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषिभाषित में अनेक जैन अवधारणायें उपस्थित हैं। अतः यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या जैन आचार्यों ने ऋषिभाषित का संकलन करते समय अपनी ही अवधारणाओं को इन ऋषियों के मुख से कहलवा दिया अथवा मूलतः ये अवधारणायें इन ऋषियों की ही थीं और वहाँ से जैन परम्परा में प्रविष्ट हुई। यह तो स्पष्ट है कि ऋषिभाषित उल्लिखित ऋषियों में पार्श्व और महावीर को छोड़कर शेष अन्य सभी या तो स्वतन्त्र साधक रहे हैं या अन्य परम्पराओं के रहे हैं। यद्यपि इनमें कुछ के उल्लेख उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग में भी हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि इसमें जो विचार हैं वे उन ऋषियों के नहीं हैं तो ग्रन्थ की और ग्रन्थकर्ता की प्रामाणिकता खण्डित होती है, किन्तु दूसरी ओर यह मानना कि ये सभी अवधारणायें जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं से प्रविष्ट हुई पूर्णतः सन्तोषप्रद नहीं लगता है। अतः सर्वप्रथम तो हम यह परीक्षण करने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषिभाषित में जिन ऋषियों के उपदेश संकलित हैं वे उनके अपने हैं या जैन आचार्यों ने अपनी बात को उनके मुख से कहलवाया है।

ऋषिभाषित में उपदिष्ट अवधारणाओं की प्रामाणिकता का प्रश्न

यद्यपि ऋषिभाषित के सभी ऋषियों के उपदेश और तत्सम्बन्धी साहित्य हमें जैनेतर परम्पराओं में उपलब्ध नहीं होता फिर भी इनमें से अनेकों के विचार और अवधारणायें आज भी अन्य परम्पराओं में उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य का उल्लेख भी उपनिषदों में है। वज्जीयपुत्त, महाकाश्यप, और सारिपुत्त के उल्लेख बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में है। इसी प्रकार विदुर, नारायण, असितदेवल आदि के उल्लेख महाभारत एवं हिन्दू परम्परा के अन्य ग्रन्थों में मिल जाते हैं। ऋषिभाषित में इनके जो विचार उल्लिखित हैं, उनकी तुलना अन्य स्रोतों से करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित में जिन ऋषियों के जिन विचारों का उल्लेख किया गया है, उनमें कितनी प्रामाणिकता है। ऋषिभाषित के ग्यारहवें अध्याय में मंखलिपुत्र गोशालक का उपदेश संकलित है। मंखलिपुत्र गोशालक के सम्बन्ध में हमें जैन परम्परा में भगवतीसूत्र और उपासकदशांग में, बौद्ध परम्परा में दीघनिकाय के सामञ्जस्य महाफलसुत्त और सुत्तनिपात में एवं हिन्दू परम्परा में महाभारत के शान्तिपर्व के 177वें अध्याय में मंखी ऋषि के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। तीनों ही स्रोत उसे नियतिवाद का समर्थक बताते हैं यदि हम ऋषिभाषित अध्याय 11 में वर्णित मंखलिगोशालक के उपदेशों को देखते हैं तो यहाँ भी हमें परोक्ष रूप से नियतिवाद के संकेत उपलब्ध हैं। इस अध्याय में कहा गया है कि जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित होता है, वेदना का अनुभव करता है, क्षोभित होता है, आहत होता है, स्पन्दित होता है, चलायमान होता है, प्रेरित होता है वह त्यागी नहीं है। इसके विपरीत जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित नहीं होता है, क्षोभित नहीं होता, दुःखित नहीं होता है वह त्यागी है। परोक्षरूप से यह पदार्थों की परिणति के सम्बन्ध में नियतिवाद का प्रतिवादक है। संसार की अपनी एक व्यवस्था और गति है वह उसी के अनुसार चल रहा है, साधक को उस क्रम का ज्ञाता-द्रष्टा तो होना चाहिए किन्तु द्रष्टा के रूप में उससे प्रभावित नहीं होना चाहिए। नियतिवाद की मूलभूत आध्यात्मिक शिक्षा यही हो सकती है कि हम संसार के घटनाक्रम से साक्षी-भाव से रहें। इस प्रकार यह अध्याय गोशालक के मूलभूत आध्यात्मिक उपदेश को ही प्रतिबिम्बित करता है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्य में जो मंखलिगोशालक के सिद्धान्त का निरूपण है कि वह वस्तुतः गोशालक की इस आध्यात्मिक अवधारणा से निकाला गया एक विकृत दार्शनिक फलित है। वस्तुतः ऋषिभाषित का रचयिता गोशालक के सिद्धान्तों के प्रति जितना प्रामाणिक है, उतने प्रामाणिक त्रिपिटक और परवर्ती जैन आगमों के रचयिता नहीं हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व के 177वें अध्याय में मंखि ऋषि का उपदेश संकलित है उसमें एक ओर नियतिवाद का समर्थन है कि किन्तु दूसरी ओर इसमें वैराग्य का उपदेश भी है। इस अध्याय में मूलतः द्रष्टा भाव और संसार के प्रति अनासक्ति का उपदेश है। यह अध्याय नियतिवाद के माध्यम से ही अध्यात्म का उपदेश देता है। इसमें यह बताया गया है कि संसार की अपनी व्यवस्था है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से भी उसे अपने अनुसार नहीं मोड़ पाता है अतः व्यक्ति को द्रष्टा भाव रखते हुए संसार से विरक्त हो जाना चाहिए। महाभारत के इस अध्याय की विशेषता यह है कि मंखि ऋषि को नियतिवाद का समर्थक मानते हुए भी उस नियतिवाद के माध्यम से उन्हें वैराग्य की दिशा में प्रेरित बताया गया है।

इस आधार पर ऋषिभाषित में मंखलिपुत्र का उपदेश जिस रूप में संकलित मिलता है वह निश्चित ही प्रामाणिक है।

इसी प्रकार ऋषिभाषित के अध्याय 9 में महाकश्यप के और अध्याय 38 में सारिपुत्र के उपदेश संकलित हैं ये दोनों ही बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित रहे हैं। यदि हम ऋषिभाषित में उल्लिखित इनके विचारों को देखते हैं तो स्पष्ट रूप से इसमें हमें बौद्धधर्म के अवधारणा के मूलतत्त्व परिलक्षित होते हैं। महाकश्यप अध्याय में सर्वप्रथम संसार की दुःखमयता का चित्रण है। इसमें कर्म को दुःख का मूल कहा गया है और कर्म का मूल जन्म को बताया गया है जो कि बौद्धों के प्रतीत्य-समुत्पाद का ही एक रूप है। इसी अध्याय में एक विशेषता हमें यह देखने को मिलती है, कि इसमें कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए “सन्तानवाद” की चर्चा है जो कि बौद्धों का मूलभूत सिद्धान्त है। इस अध्याय में निर्वाण के स्वरूप को समझाने के लिए बौद्ध दर्शन के मूलभूत दीपक वाले उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। पूरा अध्याय सन्तानवाद और कर्मसंस्कारों के माध्यम से वैराग्य का उपदेश प्रदान करता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि इसमें बौद्धधर्म के मूल बीज उपस्थित है। इसी प्रकार 38वें सारिपुत्र नामक अध्याय में भी बौद्ध धर्म के मूल उत्स मध्यममार्ग का प्रतिपादन मिलता है। इसके साथ बुद्ध के प्रज्ञावाद का भी इसमें प्रतिपादन हुआ है। इस अध्याय में कहा गया है कि मनोज्ञ भोजन, शयनासन का सेवन करते हुए और मनोज्ञ के आवास में रहते हुए भिक्षु सुखपूर्वक ध्यान करता है। फिर भी प्राज्ञ पुरुष को सांसारिक पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिए यही बुद्ध का अनुशासन है। इस प्रकार यह अध्याय भी बुद्ध के उपदेशों को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य नामक 12वें अध्याय में भी हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशों का प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य का उल्लेख हमें उपनिषदों एवं महाभारत में भी मिलता है।³⁷ उपनिषद् में जहाँ याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी का संवाद है वहाँ उनकी सन्यास की इच्छा को स्पष्ट किया

गया है। ऋषिभाषित में भी याज्ञवल्क्य के उपदेश के रूप में लोकेषणा और वितैषणा के त्याग की बात कही गयी है तथा यह कहा गया है कि जब तक लोकेषणा होती है तब तक वितैषणा होती है और जब वितैषणा होती है तो लोकेषणा होती है। इसलिए लोकेषणा और वितैषणा के स्वरूप को जानकार गोपथ से जाना चाहिए महापथ से नहीं जाना चाहिए। वस्तुतः ऐसा लगता है कि यहाँ निवृत्तिमार्ग को गोपथ और प्रवृत्तिमार्ग को महापथ कहा गया है और याज्ञवल्क्य निवृत्ति मार्ग का उपदेश देते प्रतीत होते हैं। यहाँ सबसे विचारणीय बात यह है कि बौद्धधर्म में जो हीनयान और महायान की अवधारणा का विकास है, कहीं वह गोपथ और महापथ की अवधारणा का विकसित रूप तो नहीं है। आचारांग में महायान शब्द आया है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी अध्याय 310 से लेकर 318 तक याज्ञवल्क्य के उपदेशों को संकलन है। इसमें मुख्य रूप से सांख्य और योग की अवधारणा का प्रतिपादन है। ऋषिभाषित के इस अध्याय में मुनि की भिक्षा विधि की भी चर्चा है जो कि जैन परम्परा के अनुरूप ही लगती है। वैसे बृहदारण्यक में भी याज्ञवल्क्य भिक्षाचर्या का उपदेश देते हैं। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऋषिभाषित के लेखक ने याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशों को विकृत नहीं किया है। ऋषिभाषित के 20वें उत्कल नामक अध्याय में भौतिकवाद या चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन है। इस अध्याय के उपदेष्टा के रूप में किसी ऋषि का उल्लेख नहीं है किन्तु इतना निश्चित है कि इसमें चार्वाक के विचारों का पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित में वर्धमान का जो उपदेश है उसकी यथार्थ प्रतिच्छाया आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्ययन में एवं उत्तराध्यायन के 32वें अध्याय में यथावत् रूप से उपस्थित है।

उपर्युक्त आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित में ऋषियों के उपदेश को सामान्य रूप से प्रामाणिकतापूर्वक ही प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसमें मुख्य रूप से उनके आध्यात्मिक और नैतिक विचारों का ही प्रस्तुतीकरण हुआ है और उसके पीछे निहित दर्शन पर इसमें कोई बल नहीं दिया गया है। दूसरे यह भी सत्य है कि उनका प्रस्तुतीकरण या ग्रन्थ रचना जैन परम्परा के आचार्यों के द्वारा हुई है। अतः यह स्वाभाविक था कि उसमें जैन परम्परा में मान्य कुछ अवधारणाएँ प्रतिबिम्बित हो गयी हैं। पुनः इस विश्वास के भी पर्याप्त आधार हैं कि जिन्हें आज हम जैन परम्परा की अवधारणाएँ कह रहे हैं, वे मूलतः अन्य परम्पराओं में प्रचलित रही हों और वहाँ से जैन परम्परा में प्रविष्ट हो गयी हों। अतः ऋषिभाषित के ऋषियों के उपदेशों की प्रामाणिकता को पूर्णतः निरस्त नहीं किया जा सकता है। अधिक से अधिक हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि उन पर अपरोक्षरूप से जैन परम्परा का कुछ प्रभाव आ गया है।

ऋषिभाषित के ऋषियों की ऐतिहासिकता का प्रश्न

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि ऋषिभाषित में वर्णित अधिकांश ऋषिगण जैन परम्परा से सम्बन्धित नहीं हैं। उनके कुछ नामों के आगे लगे हुए ब्राह्मण परिव्राजक आदि शब्द ही उनका जैन परम्परा से भिन्न होना सूचित करते हैं। दूसरे देव नारद, असितदेवल, अंगिरस भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, बाहुक, विदुर, वारिषेणवृष्ण, द्वैपायन, आरूणि, उद्दालक, नारायण, ऐसे नाम हैं जो वैदिक परम्परा में सुप्रसिद्ध रहे हैं और आज भी उनके उपदेश उपनिषदों, महाभारत एवं पुराणों में सुरक्षित हैं, इनमें से देव नारद, असितदेवल, अंगिरस भारद्वाज, द्वैपायन के उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृतांग, औपपातिक, अंतकृतदशा आदि जैन-ग्रन्थों में तथा बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भी मिलते हैं। इसी प्रकार वज्जीयपुत्र, महाकाश्यप और सारिपुत्र बौद्ध परम्परा के सुप्रसिद्ध व्यक्तित्व हैं और उनका उल्लेख त्रिपिटक साहित्य में उपलब्ध है। मंखलिपुत्र, रामपुत्र, अम्बड (अम्बष्ट), संजय (वेलटिठपुत्र) आदि ऐसे नाम हैं जो स्वतन्त्र श्रमण परम्पराओं से सम्बन्धित हैं और इनके इस रूप में उल्लेख जैन और बौद्ध परम्पराओं में हमें स्पष्ट रूप से मिलते हैं। ऋषिभाषित के जिन ऋषियों के उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलते हैं उन पर विस्तृत चर्चा प्रो. सी.एस. उपासक ने अपने लेख 'इसिभायाइ एण्ड पालि बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स; ए स्टीडी' में किया है। यह लेख पं. दलसुखभाई अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हो रहा है। पार्श्व और वर्द्धमान जैन परम्परा के तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में सुस्पष्ट रूप से मान्य है। आर्द्रक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृतांग में है। इसके अतिरिक्त पुष्पशालपुत्र वल्कलचीरी, कुर्मापुत्र, केतलिपुत्र, तेतलिपुत्र, भयालि, इन्द्रनाग ऐसे नाम हैं जिनमें अधिकांश का उल्लेख जैन परम्परा के इसिमण्डल एवं अन्य ग्रन्थों में मिल जाता है। पुष्पशाल वल्कलचीरी कुर्मापुत्र आदि का उल्लेख बौद्ध परम्परा में भी है। किन्तु मधुरायण, सोरियायण आर्यायन आदि जिनका उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त हिन्दू, जैन और बौद्ध परम्परा में अन्यत्र नहीं मिलता है उन्हें भी पूर्णतया काल्पनिक व्यक्ति नहीं कह सकते। यदि हम ऋषिभाषित के ऋषियों की सम्पूर्ण सूची का अवलोकन करें तो केवल सोम, यम, वरुण, वायु और वैश्रमण, ऐसे नाम हैं जिन्हें काल्पनिक कहा जा सकता है क्योंकि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराएँ इन्हें सामान्यतया लोकपाल के रूप में ही स्वीकार करती हैं, किन्तु इनमें भी महाभारत में वायु का उल्लेख एक ऋषि के रूप में मिलता है। यम को आवश्यकचूर्णि में यमदग्नि ऋषि का पिता कहा गया है। अतः इस सम्भावना को भी पूरी तरह निरस्त नहीं किया जा सकता कि यम कोई ऋषि रहे हों। यद्यपि उपनिषदों में भी यम को लोकपाल के रूप में भी चित्रित किया गया है। किन्तु इतना ही निश्चित है कि ये एक उपदेष्टा हैं। यम और नचिकेता का

संवाद औपनिषदिक परम्परा में सुप्रसिद्ध ही है। वरुण और वैश्रमण को भी वैदिक परम्परा में मंत्रोपदेष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है। यह सम्भव है कि सोम, यम, वरुण, वैश्रमण, इस ग्रन्थ के रचनाकाल तक एक उपदेष्टा के रूप में लोक परम्परा में मान्य रहे हों और इसी आधार पर इनके उपदेशों का संकलन ऋषिभाषित में कर लिया गया है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम यह अवश्य कह सकते हैं कि ऋषिभाषित के ऋषियों में उपर्युक्त चार-पाँच नामों को छोड़कर शेष सभी प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल के यथार्थ व्यक्ति हैं काल्पनिक चरित्र नहीं हैं।

निष्कर्ष रूप में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि ऋषिभाषित न केवल जैन परम्परा की अपितु समग्र भारतीय परम्परा की एक अमूल्य निधि है और इसमें भारतीय चेतना की धार्मिक उदारता अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह हमें अधिकांश ज्ञात और कुछ अज्ञात ऋषियों के सम्बन्ध में और उनके उपदेशों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक सूचनाएँ देता है। जैनाचार्यों ने इस निधि को सुरक्षित रखकर भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की बहुमूल्य सेवा की है। वस्तुतः यह ग्रन्थ ईसापूर्व 10वीं शती से लेकर ईसापूर्व 6वीं शती तक के अनेक भारतीय ऋषियों की ऐतिहासिक सत्ता का निर्विवाद प्रमाण है।

संदर्भ -

1. (अ) से कि कालियं ? कालियं अणेगविहं पणत्तं।
तं जहाउत्तरज्झयणाई 1 दसाओं 2 कप्पो 3 ववहारो 4 गितीहं 5 महाम्मितीहं 6 इसिभासियाई 7 जंबुद्दीवपण्णती 8 दीवसागर पण्णती-नन्दिसूत्र 84 (महावीर विद्यालय, बम्बई, 1968)
(ब) नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं अंग बाहिरं कालिअं भगवंतं तं जहा-1 उत्तरज्झयणाई। 2 दसाओ 3 कप्पो 4 ववहारो 5 इसिभासियाई 6 निसीहं 7 महानिसिंह... (ज्ञातव्य है कि पक्खिय सुत्त में अंगबाह्यग्रन्थों की सूची में 28 उत्कालिक और 36 कालिक कुल 64 ग्रन्थों के नाम हैं। इसमें 6 आवश्यक और 12 अंग मिलाने से 82 की संख्या होती है, लगभग यही सूची विधिमार्गप्रपा में भी उपलब्ध होती है।) (-पक्खिसुत्त (पृ.79) देवचन्दलालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सिरीज क्रमांक 99)
2. अंगबाह्यमनेकविधम्। तद्यथा-सामयिकं, चतुर्विंशतिस्तवः, वन्दनं, प्रतिक्रमणं, कायव्यत्तरां, प्रत्याख्यानं, दशवैकालिकं, उत्तराध्यायाः, दशाः, कल्पव्यवहारो, निशीथं, ऋषिभाषितानीत्येवमादि। -तत्त्वाध्यायिसूत्रम् (स्वोपज्ञाभाष्य) 1/20, (देविचन्दलालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड) क्र.सं. 67.
3. तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि -.....। - आवश्यक निर्युक्ति-हरिभद्रीयवृत्ति, पृ.206
4. ऋषिभाषितानां च देवेन्द्रस्तवादीनां निर्युक्तिं। - आवश्यक निर्युक्ति हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 41

5. इसिभासियाई पणयालीसं अज्झयणाइं कालियाइं, तेसु दिण 45 निच्चिएहिं अणागाढजोगो।
अण्णे भणंति-

उत्तरज्झयणेसु चेव एयाइं अंतंभवति। विधिमार्गप्रपा पृ. 58।

देविदत्थयभाई पइण्णगा होंति इगिगनिविण्ण।

इसिभासियअज्झयणा आर्याविलकालतिगसज्जा। 61।।

केसिं चि मए अंतंभवति एयाइं उत्तरज्झयणे।

पणयालीस दिणेहिं केसिं वि जोगो अणागाढो। 62।।

- विधिमार्गप्रपा, पृ. 62।

(ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णकों की संख्या के सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपा में भी मतैक्य नहीं है। सज्जाय पट्ठवण विही पृ. 45 पर 11 अंग, 12 उपांग, 6 छेद, 4 मूल एवं 2 चूलिका सूत्र के घटाने पर लगभग 31 प्रकीर्णकों के नाम मिलते हैं। जबकि पृ. 57-58 पर ऋषिभाषित सहित 15 प्रकीर्णकों का उल्लेख है।)

6. (अ) कलियसुयं च इसिभासियाइं तइओ य सूरपण्णत्ती।

सव्वो य दिङ्खिवाओ चउत्थओ होई अणुआगो।। 124।। (मू.भा.)

तथा ऋषिभासितानि-उत्तराध्ययनादीनि, “तृतीयश्च” कालानुयोग-आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति, पृ. 206.

(ब) आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।

सूयगडे निज्जुत्तिं वुच्छामि तहा दसाणं च।।

कप्पस्स च निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमणिउणस्स।

सूरिअंपण्णत्तीए तुच्छं इसिभाषिआणं चं।।

-- आवश्यकनिर्युक्ति, 84-85

7. पप्फावागरणदसाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता, तंजहा-उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासिताइं, महावीर-भासिताइं, खोमपसिणाइं, कोमलपसणाइं, अद्दागपसिवाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं। ठाणंगसुवे, दत्तमं अज्झयणं दसट्ठाणं। (महावीर जैन विद्यालय संस्करण, पृ. 311).

8. चोत्तालीसं अज्झयणा इसिभासिया दियलोगचुताभासिया पण्णत्ता। समवायंगसुत्त-44

9. आहंसु महापुरिसा पुब्बिं तत्त तवोघणा।

उदएण सिद्धिभावन्ना तत्थ मंदो विसीयति।।।।।

अभुजिया नमी विदेही, रामपुत्ते य भुजिआ।

बाहुए उदगंभोच्चा तहा नारायणे रिसी।।2।

आसिले देविले चेव दीवायण महारिसी।

पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य।।3।।

एते पुब्बं महापुरिसा आहिता इह संभता।

भोच्चा बीओदगं सिद्ध इति मेयमणुस्सुअ।।4। -- सूत्रकृताङ्ग, 1/3/4/1-4.

10. सूत्रकृतांग, 2/6/1-3, 7, 9

11. भगवती शतक, 15.

12. उपासकदर्शांग, अध्याय 6 एवं 7.

13. (अ) सुत्तनिपात 32 सभियसुत्त,

(ब) दीघनिकाय, सामज्यफलसूत्र।

14. ये ते समणब्राह्मणा संगिनो गणिनो गणाचरिया आता यत्तस्सिनो तित्थकरा साधु सम्मता, बहुजनस्य, सेय्यधीद-पूरणो कस्सपो, मक्खलिगोसालो, अजितो केसकम्बली, पकुयो कच्चायनो, संजयो बेलटिठपुत्ता, निगण्ठ, नातपुत्तो । - सुत्तनिपात, 32-संभियसुत्त.
15. (अ) पालिसाहित्य का इतिहास (भरत सिंह उपाध्याय), पृष्ठ 102-104.
(ब) It is the oldest of the poetic books of the Buddhist Scriptures Introduction, page-2-Sutta-Nipata (Sister vajira).
16. उभो नारद पव्वता ।
सुत्तनिपात 32, संभियसुत्त, 34.
17. असितो इसि अद्दस दिवाविहारे ।
सुत्तनिपात 37, नालकसुत्त 1.
18. जिण्णेऽहमस्मि अबलो वीतवण्णे (इच्छायस्मा पिगियो)
सुत्तनिपात 71 पिगियमाणवपुच्छा.
19. सुत्तनिपात, 32 संभियसुत्त ।
20. वही ।
21. वही ।
22. घेरगाथा 36, डिक्सनरी ऑफ पाली प्रायर नेम्स वाल्यूम प्रथम पेज 631, वाल्यूम द्वितीय पेज 15
23. (अ) आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुअणंगलं ।
झाणं फालो निसित्तो य, संवरो य बीयं दढं ।।18।।
अकूडत्तं च कूडेसु, विणए णियमणे ठिते ।
तित्थिक्खा य हलीसा तु, दया गुत्ती य पग्गहा ।।19।।
सम्मत्तं गोत्थणवो, समिती उ समिला तहा ।
थित्थिजोत्तसुसंबद्धा सव्वण्णुवयणे रया ।।10।।
पंवैव इंदियाणि तु खन्ता दन्ता य णिज्जिता ।
माहणेषु तु ते गोणा गंभीरं कसते कित्तिं ।।11।।
तवो बीयं अवज्जं से, अहिंसा णिहणं परं ।
ववसातो घणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ।।12।।
थिती खलं वसुयिकं, सद्धा मेढी य णिच्चला ।
भावणा उ वती तस्स, इरिया दारं सुसंबुडं ।।13।।
कसाया मलणं तस्स, कित्तिवातो व तक्खमा ।
णिज्जरा तु लवामीसा इति दुक्खाण णिक्खति ।।14।।
एतं कित्तिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं ।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्धे वापि विसुज्झती ।।15।।

-- इतिभासियाई 26/8-15.

- (ब) “कतो छेत्तं, कतो बीयं, कतो ते जुगणंगलै?
गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो, का णाम ते किसी ।।1।।
आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुगणंगलं ।
अहिंसां समिती जोज्जा, एसा घम्पन्तरा किसी ।।2।।

एसा किसी सोभतरा अलुद्धस्स वियाहिता ।

एसा बहुसई होइ परलोकसुहायहा ।।३।।

एयं किसिं कसित्ताणं सच्चसत्तदयावहं ।

माहणे खतिए वेस्से सुद्धे वावि य सिञ्जती" ।।४।। -- इतिभासियाई 32/1-4.

24. सद्धा बीजं तपो वुट्ठि पज्जा मे युगनंगलं ।

हिरि ईसा मनो योत्तं सति मे फालपाचनं ।।२।।

कायगुत्तो वचीगुत्तो आहारे उदरे यतो ।

सच्चं करोमि निदानं सोरच्चं मे पमाचनं ।।३।।

रिरियं मे धुरधोरहं योगक्खेमाधिवाहनं ।

गच्छति अनियत्तन्तं यत्थ गन्त्वा न सोचति ।।४।।

एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमप्फला ।

एतं कसिं कसित्वान सच्चदुक्खा पमुच्चतीति ।।५।।

-- सुत्तनिपात, 4-कसिभारदाजसुत्त ।

25. अहं च भोयरायस्स तं च सि अन्धगवण्हिणो ।

मा कुले गन्धणा होमो संजमं निहुओ चार ।। -- उत्तराध्ययन, 22।44

26. पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।

नेच्छति बंतयं भोतुं, कुल जाया अगंधणे ।। -- दसवैकालिक, 1।16

27. अगन्धणे कुले जातो जधा जागो महाविसो ।

मुचिता-सविसं भूतो पियन्तो जातो लायवं ।। -- इसिभासियाई, 45।40

28. (अ) इसिभासियाई, 26।15. (ब) इसिभासियाई, 32।4.

29. See-Introduction of Isibhasiyaim by Walther Schubring, Ahmedabad - 1974.

30. देखें भगवती शतक, 15.

31. देखें उपासकदसांग, अध्याय 6 एवं 7.

32. ज्ञात-धर्मकथा, द्रौपदी नामक अध्ययन ।

33. पत्तेयबुद्धमिसिणों बीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स ।

पासस्स य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स ।।

इसिभासियाई, संपा. मनोहरमुनि,

परिशिष्ट नं. 1.

34. नारयरिसिपामुक्खे; वीसं सिरिनेमिनाहतित्थम्मि ।

पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि ।।44।।

पत्तेयबुद्धसाहु, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता ।।

पणयालीसं इसिभासियाई अञ्जयाणपवराई ।।45।।

ऋषिमण्डलप्रकरणम्, आत्मवल्लभ ग्रन्थमाला ग्रन्थांक 13, बालापुर, गाथा 44, 45.

35. पण्हावागरणदसासु णं ससमय परसमय पण्णवय पतेअबुद्धविविहत्थभासाभासियाणं

-- समवायांग, सूत्र 546.

36. औपपातिक सूत्र 38.

37. बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय अध्याय, पञ्चम ब्राह्मण, 1



4

જૈન અનેકાન્તદર્શન

जैन दर्शन में अनेकान्त : सिद्धान्त और व्यवहार

अनेकांतवाद को मुख्यतः जैन दर्शन का पर्याय माना जाता है। यह कथन सत्य भी है, क्योंकि अन्य दार्शनिकों ने उसका खण्डन मुख्यतः उसके इसी सिद्धान्त के आधार पर किया है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि अनेकांतवाद का विकास और तार्किक आधारों पर उसकी पुष्टि जैन दार्शनिकों ने की है। अतः अनेकांतवाद को जैन दर्शन का पर्याय मानना समुचित भी है। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि अन्य भारतीय दर्शनों में इसका पूर्णतः अभाव है। अनेकांत एक अनुभूत सत्य है और अनुभूत सत्य को स्वीकार करना ही होता है। विवाद या मत-वैभिन्य अनुभूति के आधार पर नहीं, उसकी अभिव्यक्ति के आधार पर होता है। अभिव्यक्ति के लिए भाषा का सहारा लेना होता है, किन्तु भाषायी अभिव्यक्ति, अपूर्ण, सीमित और सापेक्ष होती है, अतः उसमें मतभेद होता है और उन मतभेदों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करने या उनमें परस्पर विरोधी कथ्यों के बीच समन्वय लाने के प्रयास में ही अनेकांतवाद का जन्म होता है। वस्तुतः अनेकांतवाद या अनैकांतिक दृष्टिकोण का विकास निम्न तीन आधारों पर होता है -

- (1) बहु-आयामी वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में ऐकांतिक विचारों या कथनों का निषेध।
- (2) भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं के आधार पर बहुआयामी वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत विरोधी कथनों की सापेक्षिक सत्यता की स्वीकृति।
- (3) परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली विचार-धाराओं को समन्वित करने का प्रयास।

प्रस्तुतः आलेख में हमारा प्रयोजन इन अवधारणाओं के आधार पर जैन जैनेतर भारतीय चिन्तन में अनैकांतिक दृष्टिकोण कहां-कहां किस रूप में उल्लेखित है, इसका दिग्दर्शन कराना है। साथ ही उसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करना है।

दर्शन का जन्म

दर्शन का जन्म मानवीय जिज्ञासा से होता है। ईसा पूर्व छठी शती में मनुष्य की यह जिज्ञासा पर्याप्त रूप से प्रौढ़ हो चुकी थी। अनेक विचारक विश्व के रहस्योद्घाटन के लिए प्रयत्नशील थे। इन जिज्ञासु चिन्तकों के सामने अनेक समस्याएँ थीं, जैसे- इस दृश्यमान विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका मूल कारण क्या है? वह मूल कारण या परमतत्त्व जड़ है या चेतन? पुनः यह जगत् सत् से उत्पन्न हुआ है या असत् से? यदि यह संसार सत् से उत्पन्न हुआ तो वह सत् या मूल तत्त्व एक है या अनेक। यदि वह एक है तो वह पुरुष (ब्रह्म) है या पुरुषेतर (जड़तत्त्व) है, यदि पुरुषेतर है तो वह जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि में से क्या है? पुनः यदि वह अनेक है तो वे अनेक तत्त्व कौन से हैं? पुनः यदि यह संसार सृष्ट है तो वह स्रष्टा कौन है? उसने जगत् की सृष्टि क्यों की और किससे की? इसके विपरीत यदि यह असृष्ट है तो क्या अनादि है? पुनः यदि यह अनादि है तो इसमें होने वाले उत्पाद, व्यय रूपी परिवर्तनों की क्या व्याख्या है, आदि। इस प्रकार के अनेक प्रश्न मानव मस्तिष्क में उठ रहे थे। चिन्तकों ने अपने चिन्तन एवं अनुभव के बल पर इनके अनेक प्रकार से उत्तर दिये। चिन्तकों या दार्शनिकों के इन विविध उत्तर या समाधानों का कारण दोहरा था, एक ओर वस्तुतत्त्व या सत्ता की बहुआयामिता और दूसरी ओर मानवीय बुद्धि, ऐन्द्रिक अनुभूति एवं अभिव्यक्ति सामर्थ्य की सीमितता। फलतः प्रत्येक चिन्तक या दार्शनिक ने सत्ता को अलग-अलग रूप में व्याख्यायित किया।

सामान्यतया इस अनेकान्तिक दृष्टि को जैन दर्शन के साथ जोड़ा जाता है और इस सत्य को नकारा भी नहीं जा सकता है, क्योंकि अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी के विकास का श्रेय जैन दार्शनिकों को है। फिर भी इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अनेकान्त दृष्टि केवल जैन दार्शनिकों की एकमात्र बपौती है। दार्शनिक मत वैभिन्न्य और उनके समन्वय के प्रयासों की उपस्थिति के संकेत तो वैदिक और औपनिषदिक साहित्य में भी मिलते हैं। मात्र यहीं नहीं अन्य भारतीय दर्शनों में भी ऐसे प्रयास हुए हैं।

अनेकान्तवाद के विकास का इतिहास; वेदों में प्रस्तुत अनेकांत दृष्टि

भारतीय साहित्य में वेद प्राचीनतम है। उनमें भी ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। ऋग्वेद न केवल परमतत्त्व के सत् और असत् पक्षों को स्वीकार करता है अपितु इन के मध्य समन्वय भी करता है। ऋग्वेद में परमतत्त्व के सत् या असत् होने के सम्बन्ध में न केवल जिज्ञासा प्रस्तुत की गई अपितु ऋषि ने यह भी कह दिया कि परम सत्ता को हम न सत् कह सकते हैं और न असत्। इस प्रकार

वस्तुतत्त्व की बहु-आयामिता और उसके अपेक्षा भेद से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों की युगपत उपस्थिति की स्वीकृति हमें वेदकाल से ही मिलने लगती है। मात्र इतना ही नहीं, ऋग्वेद का कथन - 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'² परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए, उनमें समन्वय करने का प्रयास ही तो है। इस प्रकार हमें अनैकांतिक दृष्टि के अस्तित्व के प्रमाण ऋग्वेद के काल से मिलने लगते हैं। यह बात न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा अनैकांतिक दार्शनिक दृष्टि की स्वीकृति की सूचक है अपितु इस सिद्धान्त की त्रैकालिक सत्यता और प्राचीनता की भी सूचक है। चाहे विद्वानों की दृष्टि में सप्तभंगी का विकास एक परवर्ती घटना हो, किन्तु अनेकांत तो उतना ही पुराना है, जितना ऋग्वेद का यह अंश।

ऋग्वैदिक ऋषियों के समक्ष सत्ता या परमतत्त्व के बहुआयामी होने का पृष्ठ खुला हुआ था और यही कारण है कि वे किसी ऐकान्तिक दृष्टि में आबद्ध होना नहीं चाहते हैं। ऋग्वेद³ इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण है - नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो न व्योमपरोयत्।

सत्य तो यह है कि उस परम सत्ता को जो समस्त अस्तित्व के मूल में सत्, असत् उभय या अनुभय किसी एक कोटी में आबद्ध करके नहीं कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में उसके समबन्ध में जो भी कथन किया जा सकेगा वह भाषा की सीमितता के कारण सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं। यही कारण है कि वैदिक ऋषि उस परम सत्ता या वस्तुतत्त्व को सत्-असत् न कहना चाहता है, किन्तु प्रकारान्तर से वे उसे सत् भी कहते हैं - यथा - 'एकं सद् विप्रा वदन्ति' और उसे असत् भी कहते हैं। यथा-देवानां पूर्वे युगे असतः सद्जायत, इससे यही फलित होता है कि वैदिक ऋषि अनाग्रही अनेकांत दृष्टि के ही सम्पोषक रहे हैं।

औपनिषदिक साहित्य और अनेकांतवाद

न केवल वेदों में, अपितु उपनिषदों में भी इस अनैकांतिक दृष्टि के उल्लेख के अनेक संकेत उपलब्ध हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परमसत्ता के बहुआयामी होने और उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्मों की उपस्थिति के संदर्भ मिलते हैं। जब हम उपनिषदों में अनेकांतिकदृष्टि के सन्दर्भों की खोज करते हैं तो उनमें हमें निम्न तीन प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं -

- (1) अलग-अलग सन्दर्भों में परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रस्तुतीकरण।
- (2) ऐकान्तिक विचारधाराओं का निषेध।
- (3) परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय का प्रयास।

सृष्टि का मूलतत्त्व सत् है या असत्? इस समस्या के सन्दर्भ में हमें उपनिषदों में दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं के संकेत उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्⁴ में कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् ही था, उसी से सत् उत्पन्न हुआ। इसी विचार धारा की पुष्टि छान्दोग्योपनिषद्⁵ में भी उपलब्ध होती है। उसमें भी कहा गया है कि सर्वप्रथम असत् ही था। उससे सत् हुआ और सत् से सृष्टि हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों में असत्वादी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ, किन्तु इसी के विपरीत उसी छान्दोग्योपनिषद्⁶ में यह भी कहा गया कि पहले अकेला सत् ही था, दूसरा कुछ नहीं था, उसी से यह सृष्टि हुई है। बृहदारण्यकोपनिषद्⁷ में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि जो कुछ भी सत्ता है उसका आधार लोकातीत सत् ही है। प्रपञ्चात्मक जगत् इसी सत् से उत्पन्न होता है।

इसी तरह विश्व का मूल तत्त्व जड़ है या चेतन? इस प्रश्न को लेकर उपनिषदों में दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। एक ओर बृहदारण्यकोपनिषद्⁸ ये याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी से कहते हैं कि चेतना इन्हीं भूतों में से उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन हो जाती है तो दूसरी ओर छान्दोग्योपनिषद्⁹ में कहा गया है कि पहले अकेला सत् (चित्त तत्त्व) ही था, दूसरा कोई नहीं था। उसने सोचा कि मैं अनेक हो जाऊँ और—इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी तथ्य की पुष्टि तैत्तिरीयोपनिषद्¹⁰ से भी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में परस्पर विरोधी विचारधारार्ये प्रस्तुत की गयी है। यदि ये सभी विचारधारार्ये सत्य हैं तो इससे औपनिषदिक ऋषियों की अनेकान्त दृष्टि का ही परिचय मिलता है। यद्यपि ये सभी संकेत एकान्तवाद को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु विभिन्न एकान्तवादों की स्वीकृति में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है, अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि औपनिषदिक चिन्तन में विभिन्न एकान्तवादों को स्वीकार करने की अनेकान्तिक दृष्टि अवश्य थी। पुनः उपनिषदों में हमें ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जहाँ एकान्तवाद का निषेध किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद्¹¹ में ऋषि कहता है कि वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं है और दीर्घ भी नहीं है। इस प्रकार यहाँ हमें स्पष्टतया एकान्तवाद का निषेध प्राप्त होता है। एकान्त के निषेध के साथ-साथ सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की उपस्थिति के संकेत भी हमें उपनिषदों में मिल जाते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद्¹² में कहा गया है कि वह परम सत्ता मूर्त-अमूर्त, वाच्य-अवाच्य, विज्ञान (चेतन) - अविज्ञान (जड़), सत्-असत् रूप है। इसी प्रकार कठोपनिषद्¹³ में उस परम सत्ता की अणु को अपेक्षा भी सूक्ष्म व महत् की अपेक्षा भी महान् कहा गया है। यहाँ परम सत्ता में सूक्ष्मता और महत्ता दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म एक साथ स्वीकार करने का अर्थ अनेकान्त की स्वीकृति के

अतिरिक्त क्या हो सकता है? पुनः उसी उपनिषद्¹⁴ में एक ओर आत्मा को ज्ञान का विषय बताया गया है। वहीं दूसरी ओर उसे ज्ञान का अविषय बताया गया है। जब इसकी व्याख्या का प्रश्न आया तो आचार्य शंकर को भी कहना पड़ा कि यहां अपेक्षा भेद से जो अज्ञेय है उसे ही सूक्ष्म ज्ञान का विषय बताया गया है। यही उपनिषद्कारों का अनेकान्त है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद्¹⁵ में भी उस परम सत्ता को क्षर एवं अक्षर, व्यक्त एवं अव्यक्त ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी सत्ता या परमतत्त्व की बहुआयामिता या अनैकान्तिकता स्पष्ट होती है। मात्र यही नहीं, यहां परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक साथ स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि उपनिषद्कारों की शैली अनेकान्तात्मक रही है। यहां हम देखते हैं कि उपनिषदों का दर्शन जैन दर्शन के समान ही सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकार करता प्रतीत होता है। मात्र यही नहीं, उपनिषदों में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकार करता प्रतीत होता है। मात्र यही नहीं, उपनिषदों में परस्पर विराधी मतवादों के समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषद्कारों ने न केवल एकान्त का निषेध किया, अपितु सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकृति भी प्रदान की जब औपनिषदिक ऋषियों को यह लगा होगा कि परमतत्त्व में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की एक ही साथ स्वीकृति तार्किक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं होगी तो उन्होंने इस परमतत्त्व को अनिर्वचनीय या अव्यक्तव्य भी मान लिया। तैत्तरीय उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि वहाँ वाणी की पहुँच नहीं है और उसे मन के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह। इससे ऐसा लगता है कि उपनिषद् काल में सत्ता के सत्, असत्, उभय और अव्यक्तव्य/अनिर्वचनीय, ये चारों पक्ष स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु औपनिषदिक ऋषियों की विशेषता यह है कि उन्होंने उन विरोधों के समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसका सबसे उत्तम प्रतिनिधित्व हमें ईशावस्योपनिषद् में मिलता है। उसमें कहा गया है कि - “अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनदेवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्” अर्थात् वह गतिरहित है फिर भी मन से एवं देवों से तेज गति करता है। “तदेजति तन्नेजति तदूरे तद्वन्तिके अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है, वह पास भी है।

इस प्रकार उपनिषदों में जहाँ विरोधी प्रतीत होने वाले अंश हैं, वहीं उनमें समन्वय को मुखरित करने वाले अंश भी प्राप्त होते हैं। परमसत्ता के एकत्व-अनेकत्व, जड़त्व-चेतनत्व आदि विविध आयामों में से किसी एक को स्वीकार कर उपनिषद् काल में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का उदय हुआ। जब ये दृष्टियाँ अपने-अपने मन्तव्यों को ही एकमात्र सत्य मानते हुए, दूसरे का निषेध करने लगीं तब सत्य के

गवेषकों को एक ऐसी दृष्टि का विकास करना पड़ा जो सभी की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उन विरोधी विचारों का समन्वय कर सके। यह विकसित दृष्टि अनेकान्त दृष्टि है जो वस्तु में प्रतीति के स्तर पर दिखाई देने वाले विरोध के अन्तस् में अवरोध को देखती है और सैद्धान्तिक द्वन्द्वों के निराकरण का एक व्यावहारिक एवं सार्थक समाधान प्रस्तुत करती है। इस प्रकार अनेकान्तवाद विरोधों के शमन का एक व्यावहारिक दर्शन है। वह उन्हें समन्वय के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास करता है।

ईशावास्य में पग-पग पर, अनेकान्त जीवन-दृष्टि के संकेत प्राप्त होते हैं। वह अपने प्रथम श्लोक में ही “**त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्**” कहकर त्याग एवं भोग-इन दो विरोधी तथ्यों का समन्वय करता है एवं एकान्त त्याग और एकान्त भोग दोनों को सम्यक् जीवन-दृष्टि के लिए अस्वीकार करता है। जीवन न तो एकान्त त्याग पर चलता है और न एकान्त भोग पर, बल्कि जीवनयात्रा त्याग और भोगरूपी दोनों चक्रों के सहारे चलती है। इस प्रकार ईशावास्य सर्वप्रथम अनेकान्त की व्यावहारिक जीवन दृष्टि को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार कर्म और अकर्म सम्बन्धी ऐकान्तिक विचारधाराओं में समन्वय करते हुए ईशावास्य (2) कहता है कि “**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतां समाः**” अर्थात् मनुष्य निष्कामभाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष जीये। निहितार्थ यह है कि जो कर्म सामान्यतया सकाम या सप्रयोजन होते हैं वे बन्धनकारक होते हैं, किन्तु यदि कर्म निष्कामभाव से बिना किसी स्पृहा के हों तो उनसे मनुष्य लिप्त नहीं होता अर्थात् वे बन्धनकारक नहीं होते। निष्काम कर्म की यह जीवन-दृष्टि व्यावहारिक जीवन-दृष्टि है। भेद-अभेद का व्यावहारिक दृष्टि से समन्वय करते हुए उसी में आगे कहा गया है कि -

यस्तु सर्वाणिभूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषुचात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।¹⁶

अर्थात् जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है वह किसी से भी घृणा नहीं करता। यहां जीवात्माओं में भेद एवं अभेद दोनों को एक साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ भी ऋषि की अनेकान्त दृष्टि ही परिलक्षित होती है जो समन्वय के आधार पर पारस्परिक घृणा को समाप्त करने की बात कहती है।

एक अन्य स्थल पर विद्या (अध्यात्म) और अविद्या (विज्ञान)¹⁷ में तथा सम्भूति (कार्यब्रह्म) एवं असम्भूति (कारणब्रह्म)¹⁸ अथवा वैयक्तिकता और सामाजिकता में भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है। ऋषि कहता है कि जो अविद्या की उपासना करता है वह अन्धकार में प्रवेश करता है और जो विद्या की उपासना करता

है वह उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करता है¹⁹ और वह, जो दोनों को जानता है या दोनों का समनवय करता है वह अविद्या से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर विद्या से अमृत तत्त्व को प्राप्त करता है।²⁰ यहाँ विद्या और अविद्या अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान की परस्पर समन्वित साधना अनेकान्त दृष्टि के व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्ता की बहुआयामिता और समन्वयवादी व्यावहारिक जीवन दृष्टि का अस्तित्व बुद्ध और महावीर से पूर्व उपनिषदों में भी था, जिसे अनेकान्त दर्शन का आधार माना जा सकता है।

सांख्यदर्शन और अनेकांतवाद

भारतीय षट्दर्शनों में सांख्य एक प्राचीन दर्शन है। इसकी कुछ अवधारणाएँ हमें उपनिषदों में भी उपलब्ध होती हैं। यह भी जैन दर्शन के जीव एवं अजीव की तरह पुरुष एवं प्रकृति ऐसे दो मूल तत्त्व मानता है। उसमें पुरुष को कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य माना गया है। इस प्रकार उसके द्वैतवाद में एक तत्त्व परिवर्तनशील और दूसरा अपरिवर्तनशील। इस प्रकार सत्ता के दो पक्ष परस्पर विरोधी गुण धर्मों से युक्त है। फिर भी उनमें एक सह सम्बन्ध है। पुनः यह कूटस्थ नित्यता भी उस मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में है, जो प्रकृति से अपनी पृथक्ता अनुभूत कर चुका है, सामान्य संसारी जीव/पुरुष में तो प्रकृति के संयोग से अपेक्षा भेद से नित्यत्व और परिणामीत्व दोनों ही मान्य किये जा सकते हैं। पुनः प्रकृति तो जैन दर्शन के सत् के समान परिणामी-नित्य मानी गई है अर्थात् उसमें परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों विरोधी गुणधर्म अपेक्षा भेद से रहे हुए हैं। पुनः त्रिगुण-सत्त्व, रजस् और तमस् परस्पर विरोधी हैं, फिर भी प्रकृति में वे तीनों एक साथ रहे हुए सांख्य दर्शन का सत्त्वगुण स्थिति का, रजोगुण उत्पाद या क्रियाशलता का, तमोगुण विनाश या निष्क्रियता का प्रतीक है। अतः मेरी दृष्टि में सांख्य का त्रिगुणात्मकता का सिद्धान्त और जैन दर्शन का उत्पाद, व्यय और धौव्यात्मकता का सिद्धान्त एक दूसरे से अधिक दूर नहीं है। सत्ता की बहु-आयामिता और परस्पर विरोधी गुणधर्मों की युगपद् अवस्थिति यही तो अनेकांत है। द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता जैन दर्शन के समान सांख्यों को भी मान्य है। पुनः प्रकृति और विकृति दोनों परस्पर विरोधी है किन्तु सांख्य दर्शन में बुद्धि (महत्), अहंकार और पांच तन्मात्राएँ प्रकृति और विकृति दोनों ही माने गये हैं। पुनः निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों परस्पर विरोधी हैं, किन्तु सांख्य दर्शन में प्रकृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों गुण पाये जाते हैं। सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से वह प्रवृत्त्यात्मक और मुक्त पुरुष की अपेक्षा से निवृत्त्यात्मक देखी जाती है। इसी प्रकार पुरुष में अपेक्षा भेद से भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व दोनों गुण देखे जाते हैं। यद्यपि

मुक्त पुरुष कूटस्थ नित्य है फिर भी संसार दशा में उसमें कर्तृव्य गुण देखा जाता है, चाहे वह प्रकृति के निमित्त क्यों न हो। संसार दशा में पुरुष में ज्ञान-अज्ञान, कर्तृव्य-अकर्तृव्य, भोक्तृव्य-अभोक्तृत्व के विरोधी गुण रहते हैं सांख्य दर्शन की इस मान्यता का समर्थन महाभारत में लिखा गया है²¹—

यो विद्वान् सहसंवासं विवासं चैव पश्यति ।

तथैकैकत्वं नानात्वं स दुःखात् परिमुच्यते ॥

अर्थात् जो विद्वान् जड़-चेतन के भेदोभेद को तथा एकत्व और नानात्व को देखता है वह दुःख से छूट जाता है। जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) का यह भेदाभेद तथा एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की यह दृष्टि अनेकांतवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त और क्या हो सकती है। वस्तुतः सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति में आत्मान्तिक भेद माने बिना मुक्ति/कैवल्य की अवधारणा सिद्ध नहीं होगी किन्तु दूसरी ओर उन दोनों में आत्मान्तिक भेद मानेंगे तो संसार की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। संसार की व्याख्या के लिए उनमें आंशिक या सापेक्षिक अभेद और मुक्ति की व्याख्या के लिए उनमें सापेक्षिक भेद मानना भी आवश्यक है। पुनः प्रकृति और पुरुष को स्वतंत्र तत्त्व मानकर भी किसी न किसी रूप में उसमें उन दोनों की पारस्परिक प्रभेदकता तो मानी गई है। प्रकृति में जो विकार उत्पन्न होता है वह पुरुष का सान्निध्य पाकर ही होता है। इसी प्रकार चाहे हम बुद्धि (महत्) और अहंकार को प्रकृति का विकार माने किन्तु उनके चैतन्य रूप में प्रतिभाषित होने के लिए उनमें पुरुष का प्रतिबिम्बित होना तो आवश्यक है। चाहे सांख्य दर्शन बन्धन और मुक्ति को प्रकृति के आश्रित माने फिर भी जड़ प्रकृति के तादात्म्य बुद्धि का कर्ता तो किसी ने किसी रूप में पुरुष को स्वीकार करना होगा, क्योंकि जड़ प्रकृति के बन्धन और मुक्ति की अवधारणा तार्किक दृष्टि से सबल सिद्ध नहीं होती है।

वस्तुतः द्वैतवादी दर्शनों, की चाहे वे सांख्य हो या जैन कठिनाई यह है कि उन दो तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया या आंशिक तादात्म्य माने बिना संसार और बन्धन की व्याख्या सम्भव नहीं होती है और दोनों को एक दूसरे से निरपेक्ष या स्वतंत्र माने बिना मुक्ति की अवधारणा सिद्ध नहीं होती है। अतः किसी न किसी स्तर पर उनमें अभेद और किसी न किसी स्तर पर उनमें भेद मानना आवश्यक है। यही भेदाभेद की दृष्टि ही अनेकांत की आधार-भूमि है, जिसे किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों को स्वीकार करना ही होता है। सांख्य दर्शन चाहे बुद्धि, अहंकार आदि को प्रकृति का विकार माने किन्तु संसारी पुरुष को उससे असम्पृक्त नहीं कहा जा सकता है। योगसूत्र²² भाष्य में कहा गया है —

स पुरुषोबुद्धेः प्रति संवेदी सबुद्धेर्नस्वरूपो नात्यन्तविरूप इति । न तावत्स्वरूपः कस्मात् ज्ञाता-ज्ञातविषयत्वात् अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः कस्मात् शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति । अतः प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्व होकर भी उनमें पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया घटित होती है । उन दो तत्त्वों के बीच भेदा-भेद यह बंधन और मुक्ति की व्याख्याओं का आधार है ।

योग दर्शन और अनेकांतवाद

जैन दर्शन में द्रव्य और गुण या पर्याय, दूसरे शब्दों में धर्म और धर्मी में एकांत अभेद को स्वीकार नहीं करके उनमें भेदाभेद स्वीकार करता है और यही उसके अनेकांतवाद का आधार है । यही दृष्टिकोण हमें योगसूत्र भाष्य में भी मिलता है²³—

न धर्मीत्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वान ते लक्षिता-अलक्षिताश्च तान्तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रति निर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः । यथैक रेखा शत-स्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने । यथाचैकत्वेऽपि स्त्री माताचोच्यते दुहिता च स्वसा चेति ।

इसी तथ्य को उसमें इस प्रकार भी प्रकट किया गया है — “यथा सुवर्ण भाजनस्य भित्त्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवित न सुवर्णान्यथात्वम् ।”

इन दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक ही स्त्री अपेक्षाभेद से माता, पुत्री अथवा सास कहलाती है उसी प्रकार एक ही द्रव्य अवस्थान्तर को प्राप्त होकर भी वही रहता है । एक स्वर्ण पात्र को तोड़कर जब कोई अन्य वस्तु बनाई जाती है तो उसकी अवस्था बदलती है किन्तु स्वर्ण वही रहता है अर्थात् नहीं बदलता है, किन्तु अवस्था बदलती है । यही सत्ता का नित्यानित्यत्व या भेदाभेद है जो जैन दर्शन में अनेकांतवाद का आधार है । इस भेदाभेद को आचार्य वाचस्पति मिश्र इसी स्थल की टीका में स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखते हैं — अनुभव एव ही धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदो व्यवस्थापयन्ति ।

मात्र इतना ही नहीं, वाचस्पति मिश्र तो स्पष्ट रूप से एकान्तवाद का निरसन करके अनेकांतवाद की स्थापना करते हैं । वे लिखते हैं —

नल्लौकान्तिकेऽभेदे धर्मादीनां धर्मिणो, धर्मोरूपवद् धर्मादित्वं नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्चवद् धर्मादित्वं स चानुभवोऽनेकान्तिकत्वमस्थापयन्नपि धर्मादिषूपजनापाय धर्मक्रेष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्माश्च परस्मै व्यवर्तयन् प्रत्यात्मनुभूतयत इति । एकान्त का निषेध और अनेकांत की पुष्टि का योगदर्शन में इससे बड़ा कोई और प्रमाण नहीं हो सकता है ।

योग दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही सत्ता को सामान्य विशेषात्मक मानता है योगसूत्र²⁴ में कहा गया है —

सामान्य विशेषात्मनोऽर्थस्य । इसी बात को किञ्चित् शब्दभेद के साथ विभूतिपाद²⁵ में भी कहा गया है- **सामान्य विशेष समुदायोऽत्र द्रव्यम्** । मात्र इतना ही नहीं, योगदर्शन में द्रव्य की नित्यता अनित्यता को उसी रूप में स्वीकार किया गया है जिस रूप में अनेकांत दर्शन में । महाभाष्य के पशपशाहिक में प्रतिपादित है कि द्रव्यनित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्ण कयाचिदाकृत्यायुक्तं पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रूचकाः क्रियन्ते, रूचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते आकृतिरन्याचान्याभवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमृदेन द्रव्यमेवावशिष्यते ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य और योगदर्शन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकांत दृष्टि अनुस्यूत है ।

वैशेषिक दर्शन और अनेकांत

वैशेषिक दर्शन में जैन दर्शन के समान ही प्रारम्भ में तीन पदार्थ की कल्पना की गई, वे हैं द्रव्य, गुण और पर्याय कह सकते हैं । यद्यपि वैशेषिक दर्शन भेदवादीदृष्टि से इन्हें एक दूसरे से स्वतंत्र मानता है, फिर भी उसे इनमें आश्रय-आश्रयीभवा तो स्वीकार करना ही पड़ता है । ज्ञातव्य है कि जहां आश्रय-आश्रयी भाव होता है, वहां उनमें कथंचित या सापेक्षिक सम्बन्ध तो मानना ही पड़ता है । उन्हें एक दूसरे से पूर्णतः निरपेक्ष या स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता है । चाहे वैशेषिक दर्शन उन्हें एक दूसरे से स्वतंत्र कहे, फिर से असम्बद्ध नहीं है । अनभूति के स्तर पर द्रव्य से पृथक् गुण और द्रव्य और गुण से पृथक् कर्म नहीं होते हैं । यही उनका भेदाभेद है, अनेकांत है ।

पुनः वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष नामक दो स्वतंत्र पदार्थ माने गये हैं । उनमें भी सामान्य के दो भेद किये- सामान्य और अपर सामान्य । पर सामान्य को ही सत्ता भी कहा गया है, वह शुद्ध अस्तित्व है, सामान्य है किन्तु जो अपर सामान्य है वह सामान्य-विशेष रूप है । द्रव्य, गुण और कर्म अपर सामान्य है और अपर सामान्य होने से सामान्य-विशेष उभय रूप हैं । वैशेषिक सूत्र²⁶ में कहा भी गया है -

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च द्रव्य, गुण और कर्म को युगपद सामान्य विशेष उभय रूप मानना यही तो अनेकांत है । द्रव्य किस प्रकार सामान्य विशेषात्मक है, इसे स्पष्ट करते हुए²⁷ कहा गया है -

सामान्यं विशेषं इति बुद्ध्यपेक्षम् । सामान्य और विशेष यह ज्ञान बुद्धि या विचार की अपेक्षा से है । इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार प्रशस्तपाद कहते हैं -

द्रव्यत्वं पृथ्वीत्वापेक्षया सामान्यं सत्तापेक्षया च विशेष इति । द्रव्यत्व पृथ्वी नामक द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य है और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है । दूसरे शब्दों

में एक ही वस्तु अपेक्षाभेद से सामान्य और विशेष दोनों ही कही जा सकती है। अपेक्षाभेद से वस्तु में विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों को स्वीकार करना यही तो अनेकांत है। उपस्कार कर्ता ने तो स्पष्टतः कहा है, सामान्य विशेषसंज्ञामपि लभते अर्थात् वस्तु केवल सामान्य अथवा केवल विशेष रूप न होकर सामान्य-विशेष रूप है और इसी तथ्य में अनेकांत की प्रस्थापना है।

पुनः वस्तु सत्-असत् रूप है, इस तथ्य को भी कणाद महर्षि ने अन्योन्याभाव के प्रसंग में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं -

सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत्।²⁸ व्याख्या में उपस्कार कर्ता ने जैन दर्शन के समान ही कहा है -

यत्र सदेव घटादि असदितिव्ययवद्वियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते। भवित हि सनश्चो गवात्मना असन् गौरश्चरात्मना, असन् पटो घटात्मना इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वस्वरूप की अपेक्षा से अस्ति रूप है और पर स्वरूप की अपेक्षा नास्तिरूप है। वस्तु में स्व की सत्ता की स्वीकृति और पर की सत्ता का अभाव मानना यही तो अनेकांत है जो वैशेषिकों को भी मान्य है। अस्तित्व नास्तित्व पूर्वक और नास्तित्व अस्तित्व पूर्वक है।

न्यायदर्शन और अनेकांत

न्यायदर्शन में न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन ने²⁹ अनेकांतवाद का आश्रय लिया है। वे लिखते हैं -

एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिस्थयोर्बोधव्यं, यत्र तु धर्मी सामान्यगतो रिद्धौधर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपत्तेः इत्यादि- अर्थात् जब एक ही धर्मी में विरुद्ध अनेक धर्म विद्यमान हो तो विचारपूर्वक ही निर्णय लिया जाता है, किन्तु जहां धर्मी सामान्य में (अनेक) धर्मों की सत्ता प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो, वहां पर तो उसे समुच्चय रूप अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त ही मानना चाहिए, क्योंकि वहां पर जो वस्तु उस ही रूप में सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि यदि दो धर्मों में आत्यान्तिक विरोध नहीं है और वे सामान्य रूप से एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से पाये जाते हैं तो उन्हें स्वीकार करने में न्याय दर्शन को आपत्ति नहीं है।

इसी प्रकार जाति और व्यक्ति में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद मानकर जाति को भी सामान्य विशेषात्मक माना गया है। भाष्यकार वात्स्यायन³⁰ लिखते हैं - यच्च केषांचिदभेदं कुतश्चिद् भेदं करोति तत्सामान्य विशेषो जातिरिति।

यह सत्य है कि जाति सामान्य रूप भी है, किन्तु जब वह पदार्थों में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद करती है तो वह जाति सामान्य-विशेषात्मक होती है। यहां जाति को, जो सामान्य की वाचक है, सामान्य विशेषात्मक मानकर

अनेकांतवाद की पुष्टि की गई है। क्योंकि अनेकांतवाद व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि का अन्तर्भाव मानता है। व्यक्ति के बिना जाति और जाति के बिना व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है। उनमें कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। सामान्य में विशेष और विशेष में सामान्य अपेक्षा भेद से निहित रहते हैं, यही तो अनेकांत है।

सत्ता सत्-असत् रूप है। यह बात भी न्याय दर्शन में कार्य कारण की व्याख्या के प्रसंग में प्रकारान्तर से स्वीकृत है। पूर्वपक्ष के रूप में ³¹ यह कहा गया है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य को न तो सत् कहा जा सकता है, न असत् ही कहा जा सकता है, न उभय रूप ही कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों में वैधर्म्य है। (नासन्न सन्नसदसत् सदस्सतोर्वैधर्म्यात्)।

इसका उत्तर टीका में विस्तार से दिया गया है। किन्तु हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में उनके उत्तर पक्ष को प्रस्तुत करेंगे। उनका कहना है कि कार्य उत्पत्ति पूर्व कारण रूप से सत् है? क्योंकि कारण के असत् होने से कोई उत्पत्ति ही नहीं होगी। पुनः कार्य रूप से वह असत् भी है, क्योंकि यदि सत् होता तो फिर उत्पत्ति का क्या अर्थ होता, अतः उत्पत्ति पूर्व कार्य कारण रूप से सत् और कार्य रूप से असत् होता है इस प्रकार कार्य उत्पत्ति, पूर्व सत्-असत् उभय रूप है, यह बात बुद्धि सिद्ध है। (विस्तृत विवेचना के लिए देखें न्यायसूत्र (4/1/48-50) की वैदिकमुनि हरिप्रसाद स्वामी की टीका)।

मीमांसा दर्शन और अनेकांतवाद

जिस प्रकार अनेकांतवाद के सम्पोषक जैन-धर्म में वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है, उसी प्रकार मीमांसा दर्शन में भी सत्ता को त्रयात्मक माना है। उसके अनुसार उत्पत्ति और विनाश तो धर्मों के हैं, धर्मी तो नित्य है। उन उत्पत्ति और विनाश के भी पूर्व है अर्थात् नित्य है। वस्तुतः जो बात जैनदर्शन में द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता की अपेक्षा से कही गई है, वही बात धर्मी और धर्म की अपेक्षा से मीमांसा दर्शन में कही गई है। यहां पर्याय के स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं कुमारिल भट्ट³² लिखते हैं -

1. वर्द्धमानक भंगे च रुचक क्रियते यद् ।
तदा पूर्वार्थिन शोकः प्रीतिश्चाभ्युत्तरार्थिनः ॥
2. हेमर्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु भयात्मकम् ।
नोत्पाद स्थिति भंगानामभावे स्यानमतित्रयम् ॥
3. न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन बिना सुखम् ।
स्थित्या बिना न माध्यास्थ्यं तेन सामान्य नित्यता ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी की जो स्थापना जैन दर्शन में है। वही बात शब्दान्तर से उत्पत्ति-विनाश और स्थिति के रूप में मीमांसा दर्शन ने कही है। कुमारिल भट्ट के द्वारा पदार्थ को उत्पत्ति, विनाश और स्थिति युक्त मानना, अवयवी और अवयव में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तथ्य इसी बात को पुष्ट करते हैं कि उनके दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकांत के तत्त्व उपस्थित रहे हैं। श्लोकवार्तिक वनवाद³³ में तो वे स्वयं अनेकांत की प्रमाणिकता सिद्ध करते हैं –

वस्त्वनेकवादाच्च न संदिग्धा प्रमाणता । ज्ञानं संदिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता । । इहानैकांतिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम् ।

इसी अंश की टीका में पार्थसार मिश्र ने भी स्पष्टतः अनेकांतवाद शब्द का प्रयोग किया है। यथा – ये चैकान्तिकं भेदमभेदं वाऽवयविनः समाश्रयन्ते तैरेवायमनेकांतवादः ।

मात्र इतना ही नहीं, उसमें वस्तु को स्व-स्वरूप की अपेक्षा सत्, पर स्वरूप की अपेक्षा असत् और उभय रूप से सदासत् रूप माना गया है। यथा –

सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं यथा घटो घट रूपेण सत्, पटरूपेणऽसत् ।³⁴

यहां कुछ ही सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं। यदि भारतीय दर्शनों के मूल-ग्रन्थों और उनकी टीकाओं का सम्यक् परिशीलन किया जाये तो ऐसे अनेक तथ्य परिलक्षित होंगे जो उन दर्शनों की पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकांत दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। अनेकांत एक अनुभूत्यात्मक सत्य है। उसे नकारा नहीं जा सकता है। अन्तर मात्र उसके प्रस्तुतीकरण की शैली का होता है।

वेदान्त दर्शन और अनेकांतवाद

भारतीय दर्शनों में वेदान्त वस्तुतः एक दर्शन नहीं, अपितु दर्शन समूह वाचक है। ब्रह्मसूत्र को केन्द्र में रखकर जिन दर्शनों का विकास हुआ वे सभी इस वर्ग में समाहित किये जाते हैं। इसके अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। नैकस्मिन्न संभवात् (ब्रह्म सूत्र 2/2/33) की व्याख्या करते हुए इन सभी दार्शनिकों ने जैन दर्शन के अनेकांतवाद की समीक्षा की है। मैं यहां उनकी समीक्षा कितनी उचित है या अनुचित है, इस चर्चा में नहीं जाना चाहता हूँ, क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने कमोवेश रूप में शंकर का ही अनुसरण किया है। यहाँ मेरा प्रयोजन मात्र यह दिखाना है कि वे अपने मन्तव्यों की पुष्टि में किस प्रकार अनेकांतवाद का सहारा लेते हैं।

आचार्य शंकर सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रसंग में स्वयं ही प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति रूप दो परस्पर विरोधी गुणों को स्वीकारते हैं। वे लिखते हैं³⁵ - ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्, सर्व शक्तिमत्त्वात्। महामायात्वाच्च प्रवृत्यप्रवृत्ती न विरुध्यते।

पुनः माया को न ब्रह्म से पृथक् कहा जा सकता है और न अपृथक्, क्योंकि पृथक्, मानने पर अद्वैत खण्डित होता है और अपृथक् मानने पर ब्रह्म माया के कारण विकारी सिद्ध होता है। पुनः माया को न सत् कह सकते हैं और न असत्। यदि माया असत् है तो सृष्टि कैसे होगी और यदि माया सत् है तो फिर मुक्ति कैसे होगी? वस्तुतः माया न सत् और न असत्, न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न। यहां अनेकांतवाद जिस बात को विधिमुख से कह रहा है शंकर उसे ही निषेधमुख से कह रहे हैं। अद्वैतवाद की कठिनाई यही है। वह माया की स्वीकृति के बिना जगत की व्याख्या नहीं कर सकता है और माया को सर्वथा असत् या सर्वथा सत् अथवा ब्रह्म से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वह परमार्थ के स्तर पर असत् और व्यवहार के स्तर पर सत् है। यहीं तो उनके दर्शन की पृष्ठभूमि में अनेकांत का दर्शन होता है। शंकर इन्हीं कठिनाइयों से बचने हेतु माया-को-जब अनिर्वचनीय कहते हैं, तो वे किसी न किसी रूप में अनेकांतवाद को ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

आचार्य शंकर के अतिरिक्त भी ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखने वाले अनेक आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं में अनेकांत दृष्टि को स्वीकार किया है। महामति भास्काराचार्य³⁶ लिखते हैं -

यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति,

तदभिधीयते अनिरूपित प्रमाण प्रमये तत्त्वस्येदं चोद्यम्।

अतो भिन्नाभिन्नरूप ब्रह्मेतिस्थितम्

संग्रह श्लोक -

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।

हेमात्मना यथाऽभेद कुण्डलाद्यात्मनाभिदा।। (पृ.16-17)

यद्यपि यह कहा जाता है कि भेद-अभेद में विरोध है किन्तु यह बात वही व्यक्ति कह सकता है जो प्रमाण-प्रमेय तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ है।

इस कथन के पश्चात् अनेक तर्कों से भेदाभेद का समर्थन करते हुए अन्त में कह देते हैं कि अतः ब्रह्म भिन्नाभिन्न रूप से स्थित है, यह सिद्ध हो गया। कारण रूप में वह अभेद रूप है और कार्य रूप में वह नाना रूप है, जैसे स्वर्ण कारण रूप में एक है, किन्तु कुण्डल आदि कार्यरूप में अनेक।

यह कथन भास्कराचार्य को प्रकारान्तर से अनेकांतवाद का सम्पोषक ही सिद्ध करता है। अन्यत्र भी 'भेदाभेद रूपं ब्रह्मेति समधिगत'³⁷ कहकर उन्होंने अनेकांत दृष्टि का ही पोषण किया है।

भास्कराचार्य के समान यति प्रवर विज्ञान भिक्षु ने ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृत भाष्य लिखा है, उसमें वे अपने भेदाभेदवाद का न केवल पोषण करते हैं, अपितु अपने मत की पुष्टि में कर्मपुराण, नारद पुराण, स्कन्द पुराण आदि से सन्दर्भ भी प्रस्तुत करते हैं।³⁸ यथा -

त एते भवद्रूपं विश्वं सदासदात्कम् ।

चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्यमादि सकलं जगत् ॥

असत्यं सत्यरूपं तु कम्पकुण्डाद्यपेक्षया ॥³⁹

ये सभी सन्दर्भ अनेकांत के सम्पोषक हैं यह तो स्वतः सिद्ध है। इसी प्रकार निम्बार्काचार्य ने भी अपनी ब्रह्मसूत्र की वेदान्त परिजात सौरभ नामक टीका में तन्तुसमन्वयात् (1/1/4) की टीका करते हुए लिखा है- सर्वभिन्ना भिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा विषय इति।

शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक आचार्य वल्लभ भी ब्रह्मसूत्र के श्री⁴⁰ में लिखते हैं -

सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि च ।

अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च ॥

विरुद्ध सर्वधर्माणां आश्रयं युक्त्यगोचरं। अर्थात् वह अनन्तमूर्ति ब्रह्म कूटस्थ भी है और चल (परिवर्तनशील) भी है, उसमें सभी वादों के लिए अवसर (स्थान) है, वह अनेक वादों का अनुरोधी है, सभी विरोधी धर्मों का आश्रय है और युक्ति से अगोचर है।

यहाँ रामानुजाचार्य जो बात ब्रह्म के सम्बन्ध में कह रहे हैं, प्रकारान्तर से अनेकान्तवादी जैन दर्शन तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल वेदान्त में अपितु ब्राह्मण परम्परा में मान्य छहों दर्शनों के दार्शनिक चिन्तन में अनेकांतवादी दृष्टि अनुस्यूत है।

श्रमण परम्परा का दार्शनिक चिन्तन और अनेकांत

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में श्रमण परम्परा के दर्शन न केवल प्राचीन है, अपितु वैचारिक उदारता अर्थात् अनेकांत के सम्पोषक भी रहे हैं। वस्तुतः भारतीय श्रमण परम्परा का अस्तित्व औपनिषदिक काल से भी प्राचीन है, उपनिषदों में श्रमणधारा और वैदिक धारा का समन्वय देखा जा सकता है। उपनिषद्-काल में दार्शनिक चिन्तन की विविध धाराएं अस्तित्व में आ गई थी, अतः उस युग के

चिन्तकों के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि इनके एकांगी दृष्टिकोण का निराकरण इनमें समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जाये। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष तीन विचारक आते हैं—संजय वेलङ्गीपुत्त, गौतमबुद्ध और वर्द्धमान महावीर।

संजय वेलङ्गीपुत्त और अनेकांत

संजय वेलङ्गीपुत्त बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों में एक थे। उन्हें अनेकांतवाद सम्प्रोषक इस अर्थ में माना जा सकता है कि वे एकांतवादों का निरसन करते थे। उनके मन्तव्य का निर्देश बौद्धग्रन्थों में इस रूप में पाया जाता है —

- (1) है? नहीं कहा जा सकता।
- (2) नहीं है? नहीं कहा जा सकता।
- (3) है भी और नहीं भी? नहीं कहा जा सकता।
- (4) न है और न नहीं है? नहीं कहा जा सकता।

इस सन्दर्भ यह फलित है कि किसी भी एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं थे। एकान्तवाद का निरसन अनेकांतवाद का प्रथम आधार बिन्दु है और इस अर्थ में उन्हें अनेकांतवाद के प्रथम चरण का सम्प्रोषक माना जा सकता है। यही कारण रहा होगा कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विचारकों ने यह अनुमान दिया कि संजय वेलङ्गीपुत्त के दर्शन के आधार पर जैनो ने स्याद्वाद (अनेकांतवाद) का विकास किया। किन्तु उसका यह प्रस्तुतीकरण वस्तुतः उपनिषदों के सत्, असत्, उभय (सत्-असत्) और अनुभय का ही निषेध रूप से प्रस्तुतीकरण है। इसमें एकान्त का निरसन तो है, किन्तु अनेकांत स्थापना नहीं है। संजय वेलङ्गीपुत्त की यह चतुर्भुगी किसी रूप में बुद्ध के एकांतवाद के निरसन की पूर्वपीठिका है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन और अनेकांतवाद

भगवान् बुद्ध का मुख्य लक्ष्य अपने युग के ऐकान्तिक दृष्टिकोणों का निरसन करना था, अतः उन्होंने विभाज्यवाद को अपनाया। विभज्यवाद प्रकारान्तर से अनेकांतवाद का ही पूर्व रूप है। बुद्ध और महावीर दोनों ही विभाज्यवादी थे। सूत्रकृतांग¹ में भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करे (विभज्जवायं वियणरेज्जा) अर्थात् किसी भी प्रश्न का निरोपेक्ष उत्तर नहीं दे। बुद्ध स्वयं अपने को विभज्यवादी कहते थे। विभज्यवाद का तात्पर्य है प्रश्न का विश्लेषण पूर्वक सापेक्ष उत्तर देना। अंगुत्तर निकाय में किसी प्रश्न का उत्तर देने की चार शैलियां वर्णित हैं — (1) एकांशवाद अर्थात् सापेक्षिक उत्तर देना (2) विभज्यवाद अर्थात् प्रश्न का विश्लेषण करके सापेक्षिक उत्तर देना (3) परिप्रश्न पूर्वक उत्तर देना और (4) मौन रह जाना (स्थापनीय) अर्थात् जब उत्तर

देने में एकान्त में पड़ना पड़े वहाँ मौन रह जाना। हम देखते हैं कि एकान्त से बचने के लिए बुद्ध ने या तो मौन का सहारा लिया या फिर विभज्यवाद को अपनाया। उनका मुख्य लक्ष्य यही रहा कि परम तत्त्व या सत्ता के सम्बन्ध में शाश्वतवाद, उच्छेदवाद जैसी परस्पर विरोधी विचारधाराओं में से किसी को स्वीकार नहीं करना। त्रिपिटक में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध ने एकान्तवाद का निरसन किया है। जब उनसे पूछा गया, क्या आत्मा और शरीर अभिन्न है? वे कहते हैं, मैं ऐसा नहीं कहता। फिर जब यह पूछा गया, क्या आत्मा और शरीर भिन्न है? उन्होंने कहा, मैं ऐसा भी नहीं कहता हूँ। जब उनसे यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? तो उन्होंने अनेकांत शैली में कहा कि यदि गृहस्थ और त्यागी मिथ्यावादी है तो आराधक नहीं हो सकते। यदि दोनों सम्यक् आचरण करने वाले हैं तो वे आराधक हो सकते हैं¹² इसी प्रकार जब महावीर से जयंती ने पूछा, भगवन् सोना अच्छा या जागना? तो उन्होंने कहा, कुछ का सोना अच्छा है, कुछ का जागना। पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्मा का जागना। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में एकान्तवाद का निरसन और विभज्यवाद के रूप में अनेकांतदृष्टि का समर्थन देखा जाता है।

यदि बुद्ध और महावीर के दृष्टिकोण में कोई अन्तर देखा जाता है तो वह यही कि बुद्ध ने एकान्तवाद के निरसन पर अधिक बल दिया। उन्होंने या तो मौन रहकर या फिर विभज्यवाद की शैली को अपना कर एकान्तवाद से बचने का प्रयास किया। बुद्ध की शैली प्रायः निरसन या निषेधपरक रही, परिणामतः उनके दर्शन का विकास शून्यवाद में हुआ, जबकि महावीर की शैली विधानपरक रही, अतः उनके दर्शन का विकास अनेकांत या स्याद्वाद में हुआ।

शून्यवाद

बौद्ध दार्शनिक चेतना का विकास शून्यवाद के रूप में देखा जाता है, किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि शून्यवाद और स्याद्वाद का विकास विभज्यवाद से ही हुआ है। भगवान् बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को अस्वीकार कर अपने मार्ग को मध्यम प्रतिपदा कहा और महावीर ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार कर अपने मार्ग को अनैकान्तिक बताया। बौद्ध परम्परा में विकसित मध्यम प्रतिपदा या शून्यवाद और जैन परम्परा में विकसित अनेकांतवाद या स्याद्वाद दोनों का लक्ष्य एकान्तिक दार्शनिक अवधारणाओं की अस्वीकृति ही था। दोनों में फर्क इतना ही है। जहाँ शून्यवाद एक निषेध प्रधानशैली को अपनाता है, वहाँ स्याद्वाद एक विधानपरक शैली को अपनाता है। शून्यवाद के प्रमुख ग्रन्थ माध्यमिक कारिका के प्रारम्भ में ही नागार्जुन लिखते हैं -

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
 अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥
 यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम् ।
 देशयामास संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥

प्रस्तुत कारिका का तात्पर्य यही है कि वह परमसत्ता न तो विनाश को प्राप्त होती है और न उसका उत्पाद होता है, वह उच्छिन्न भी नहीं होती और वह शाश्वत भी नहीं होती। वह एक भी नहीं है और अनेक भी नहीं है। उसका आगम भी नहीं है और उसका निर्गम भी नहीं है। इसी बात को प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा गया है⁴³ -

न सद् नासद् न सदसत् न चानुभयात्मकम् ।
 चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥

अर्थात् परम तत्त्व न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् है और न सत्-असत् दोनों नहीं है। यही बात प्रकारान्तर से विधिमुख शैली में जैनाचार्यों ने भी कही है -

यदेवतत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं

यदेवसत् तदेवासत्, यदेवनित्यं तदेवानित्यम् ।

अर्थात् जो तत् रूप है, वही अतत् रूप भी है, जो एक है वही अनेक भी है, जो सत् है, वही असत् भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है।

उपरोक्त प्रतिपादनों में निषेधमुख शैली और विधिमुख शैली का अन्तर अवश्य है, किन्तु तात्पर्य में इतना अन्तर नहीं है, जितना समझा जाता है एकान्तवाद का निरसन दोनों का उद्देश्य है। शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद निषेधात्मक और विधानात्मक शैली का है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही देखते हैं किन्तु जहां शून्यवादी उस एकान्त के दोष के भय से उसे अस्वीकार कर देता है, वहां अनेकांतवादी उसके आगे स्यात् शब्द रखकर उस दूषित एकान्त को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करता है।

शून्यवाद तत्त्व को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त शून्य कहता है तो स्याद्वाद उसे अनन्तधर्मात्मक कहता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि शून्य और अनन्त का गणित एक ही जैसा है। शून्यवाद जिसे परमार्थ सत्य और लोकसंवृत्ति सत्य कहता है उसे जैन दर्शन निश्चय और व्यवहार कहता है। तात्पर्य यह है कि अनेकांतवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ समरूपता है।

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि समग्र भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनेकांतिक दृष्टि रही हुई है चाहे उन्होंने अनेकांत के सिद्धान्त को

उसके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में ग्रहण न कर उसकी खुलकर समालोचना की हो। वस्तुतः अनेकांत एक सिद्धान्त नहीं, एक पद्धति है और फिर चाहे कोई भी दर्शन हो, बहुआयामी परमतत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए उसे इस पद्धति को स्वीकार करना ही होता है। चाहे हम सत्ता को निरपेक्ष मान लें और यह भी मान लें कि उसकी निरपेक्ष अनुभूति भी सम्भव है किन्तु निरपेक्ष अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। चाहे निरपेक्ष अनुभूति की अभिव्यक्ति का जब भी भाषा के माध्यम से कोई प्रयत्न किया जाता है, वह सीमित और सापेक्ष बन कर रह जाती है। अनन्त धर्मात्मक परमतत्त्व की अभिव्यक्ति का जो भी प्रयत्न होगा वह तो सीमित और सापेक्ष ही होगा। एक सामान्य वस्तु का चित्र भी जब बिना किसी कोण के सम्भव नहीं है तो फिर उस अनन्त और अनिर्वचनीय के निर्वचन का दार्शनिक प्रयत्न अनेकांत की पद्धति को अपनाये बिना कैसे सम्भव है। यही कारण है कि चाहे कोई भी दर्शन हो, उसकी प्रस्थापना के प्रयत्न में अनेकांत की भूमिका अवश्य निहित है और यही कारण है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनेकांत का दर्शन रहा है।

सभी भारतीय किसी न किसी रूप में अनेकांत को स्वीकृति देते हैं, इस तथ्य का निर्देश आचार्य यशोविजय ने आध्यात्मोपनिषद् में किया है।

उन्हीं के शब्दों में -

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिक वदन् । योगोविशेषको वापि नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ।।

विज्ञानस्यमैकाकारं नानाकारं करम्बितम् । इच्छंस्थागतः प्राज्ञो नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ।।

जातिवाक्यात्मकं वस्तु वदन्नुभवोचितम् । भाट्टो वा मुरारिर्वा नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ।।

अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः । ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ।।

ब्रुवाण भिन्न-भिन्नार्थान् नयमेद व्यपेक्षया । प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकं ।।

अनेकान्तवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने, समझने और समझाने का प्रयत्न है। यही कारण है कि मानवीय प्रज्ञा के विकास के प्रथम चरण से ही ऐसे प्रयास परिलक्षित होने लगते हैं। भारतीय मनीषा के प्रारम्भिक काल में हमें इस दिशा में दो प्रकार के प्रयत्न दृष्टिगत होते हैं - (क) बहुआयामी सत्ता के किसी पक्ष विशेष की स्वीकृति के आधार पर अपनी दार्शनिक मान्यता का प्रस्तुतीकरण तथा (ख) उन एकपक्षीय (एकान्तिक) अवधारणाओं के

समन्वय का प्रयास। समन्वयसूत्र का सृजन ही अनेकान्तवाद की व्यावहारिक उपादेयता को स्पष्ट करता है। वस्तुतः अनेकान्तवाद का कार्य त्रिविध है – प्रथम, तो यह विभिन्न एकान्तिक अवधारणाओं के गुण-दोषों की तार्किक समीक्षा करता है, दूसरे वह उसी समीक्षा में यह देखता है कि इस अवधारणा में जो सत्यांश है वह किस अपेक्षा से है, तीसरे, वह उन सोपक्षिक सत्यांशों के आधार पर, उन एकान्तवादों को समन्वित करता है।

इस प्रकार अनेकान्तवाद मात्र तार्किक पद्धति न होकर एक व्यावहारिक दार्शनिक पद्धति है। यह एक सिद्धान्त मात्र न होकर, सत्य को देखने और समझने की पद्धति (method or system) विशेष है, और यही उसकी व्यावहारिक उपादेयता है।

अनेकांत क्यों?

जैन दर्शन की विशिष्टता उसकी अनेकान्त दृष्टि में है। उसकी तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय दार्शनिक अवधारणाओं की संरचना में इस अनैकान्तिक दृष्टि का प्रयोग किया गया है। अपनी अनेकान्त दृष्टि के कारण ही जैन दर्शन ने भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की परस्पर विरोधी दार्शनिक अवधारणाओं के मध्य समन्वय स्थापित करके उन्हें एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। जैन दार्शनिकों की यह दृढ़ मान्यता है कि अनैकान्तिक दृष्टि के द्वारा परस्पर विरोधी दार्शनिक अवधारणाओं के मध्य रहे हुए विरोध का परिहार करके उनमें समन्वय स्थापित किया जा सकता है। उसकी इस अनैकान्तिक समन्वयशील दृष्टि का परिचय हमें उसकी वस्तुतत्त्व सम्बन्धी विवेचनाओं में भी परिलक्षित होता है।

वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता

जैनदर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक एवं अनैकान्तिक कहा गया है। वस्तु की यह तात्त्विक अनन्तधर्मात्मकता अर्थात् अनैकान्तिकता ही जैनदर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त का आधार है। वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है, अतः उसे अनैकान्तिक शैली में ही परिभाषित किया जा सकता है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता और अनैकान्तिकता में कौन प्रथम है? वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता में उसकी अनैकान्तिकता और उसकी अनैकान्तिकता में उसकी अनन्तधर्मात्मकता सन्निहित है। यह एक अनुभूत सत्य है कि वस्तु में न केवल विभिन्न गुणधर्मों की प्रतीति होती है, अपितु उसमें अनेक विरोधी धर्मयुगल भी पाये जाते हैं। एक ही आम्रफल कभी खट्टा, कभी मीठा और कभी खट्टा मीठा होता है। एक पत्ती जो प्रारम्भिक अवस्था में लाल प्रतीति होती है वही कालान्तर में हरी और फिर सूखकर पीली हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि वस्तुतत्त्व अपने में

विविधता लिये हुए है। उसके विविध गुणधर्मों में समय-समय पर कुछ प्रकट और कुछ गौण बने रहते हैं, यही वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता है और वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म युगलों का पाया जाना उसकी अनैकान्तिकता है। द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से विचार करें तो जो सत् है वही असत् भी है, जो एक है वही अनेक भी है, जो नित्य है वही अनित्य भी है। इससे सिद्ध है कि वस्तु न केवल अनन्त धर्मों का पुंज है बल्कि उसमें एक ही समय में परस्पर विरोधी गुणधर्म भी पाये जाते हैं पुनः वस्तु के स्वस्वरूप का निर्धारण केवल भावात्मक गुणों के आधार पर नहीं होता बल्कि उसके अभावात्मक गुणों को भी निश्चय करना होता है। गाय को गाय होने के लिए उसमें गोत्व की उपस्थिति के साथ-साथ महिषत्व, अश्वत्व आदि का अभाव होना भी आवश्यक है। गाय, गाय है, यह निश्चय तभी होगा जब हम यह निश्चय कर लें कि उसमें गाय के विशिष्ट गुणधर्म पाये जाते हैं और बकरी के विशिष्ट लक्षण नहीं पाये जाते हैं। इसलिए प्रत्येक वस्तु में जहाँ अनेकानेक भावात्मक धर्म होते हैं वहीं उसमें अनन्तानन्त अभावात्मक धर्म भी होते हैं। अनेकानेक धर्मों सद्भाव और उससे कई गुना अधिक धर्मों का अभाव मिलकर ही उस वस्तु का स्वलक्षण बनाते हैं। भाव और अभाव मिलकर ही वस्तु के स्वरूप को निश्चित करते हैं। वस्तु इस-इस प्रकार की है और इस-इस प्रकार की नहीं है, इसी से वस्तु का स्वरूप निश्चित होता है।

वस्तुतत्त्व की अनैकान्तिकता

वस्तु या सत् की परिभाषा को लेकर विभिन्न दर्शनों में मतभेद पाया जाता है। जहाँ औपनिषदिक और शंकर वेदान्त दर्शन 'सत्' को केवल कूटस्थ नित्य मानता है, वहाँ बौद्ध दर्शन वस्तु को निरन्वय, क्षणिक और उत्पाद-व्ययधर्मा मानता है। सांख्य दर्शन का दृष्टिकोण तीसरा है वह जहाँ चेतन सत्ता पुरुष को कूटस्थ नित्य मानता है, वहीं जड़ तत्त्व प्रकृति को परिणामी नित्य मानता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन जहाँ परमाणु, आत्मा आदि द्रव्यों को कूटस्थ नित्य मानता है वहीं घट-पट आदि पदार्थों को मात्र उत्पाद-व्ययधर्मा मानता है। इस प्रकार वस्तुतत्त्व की परिभाषा के सन्दर्भ में विभिन्न दर्शन अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाते हैं। जैनदर्शन इन समस्त एकात्मिक अवधारणाओं को समन्वित करता हुआ सत् या वस्तुतत्त्व को अपनी अनैकान्तिक शैली में परिभषित करता है।

जैनदर्शन में आगम युग से ही वस्तुतत्त्व को अनैकान्तिक शैली में परिभाषित किया जाता रहा है। जैनदर्शन में तीर्थंकरों को त्रिपदी का प्रवक्ता कहा गया है। वे वस्तु-तत्त्व को "उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" इन तीन पदों के द्वारा परिभाषित करते हैं। उनके द्वारा वस्तुतत्त्व को अनेकधर्मों और अनैकान्तिक रूप

में ही परिभाषित किया गया है। उत्पत्ति, विनाश, ध्रौव्यता आदि इन विरोधी गुणधर्मों में ऐसा नहीं है कि उत्पन्न कोई दूसरा होता है, विनष्ट कोई दूसरा होता है। वस्तुतः जैनों के अनुसार जो उत्पन्न होता है वही विनष्ट होता है और जो विनष्ट होता है, वही उत्पन्न होता है और यही उसकी ध्रौव्यता है। वे मानते हैं कि सो सत्ता एक पर्यायरूप में विनष्ट हो रही है वही दूसरी पर्याय के रूप में उत्पन्न भी हो रही है और पर्यायों के उत्पत्ति और विनाश के इस क्रम में भी उसके स्वलक्षणों का अस्तित्व बना रहता है। उमास्वामि ने तत्त्वार्थसूत्र (5.25) में “उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सत्” कहकर वस्तु के इसी अनैकान्तिक स्वरूप को स्पष्ट किया है।

प्रायः यह कहा जाता है कि उत्पत्ति और विनाश का सम्बन्ध पर्यायों से है। द्रव्य तो नित्य ही है, पर्याय परिवर्तित होती है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि द्रव्य, गुण और पर्याय विविक्त सत्ताएं नहीं हैं, अपितु एक ही सत्ता की अभिव्यक्तियाँ हैं। न तो गुण और पर्याय से पृथक् द्रव्य होता है और न द्रव्य से पृथक् गुण और पर्याय ही। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र (5.37) में ‘गुणपर्यायवत् द्रव्यम्’ कहकर द्रव्य को परिभाषित किया गया है। द्रव्य की परिणाम जनन शक्ति को ही गुण कहा जाता है और गुणजन्य परिणाम विशेष पर्याय है। यद्यपि गुण और पर्याय में कार्य-कारण भाव है, किन्तु यहाँ यह कार्य-कारण भाव परस्पर भिन्न सत्ताओं में न होकर एक ही सत्ता में है। कार्य और कारण परस्पर भिन्न न होकर भिन्नाभिन्न ही है। द्रव्य उसकी अंशभूत शक्तियों के उत्पन्न और विनष्ट न होने पर नित्य अर्थात् ध्रुव है परन्तु प्रत्येक पर्याय उत्पन्न और विनष्ट होती है इसलिए वह सादि और सान्त भी है। क्योंकि द्रव्य का ही पर्याय रूप में परिणमन होता है इसलिए द्रव्य को ध्रुव मानते हुए भी अपनी परिणमनशीलता गुण के कारण उत्पाद-व्यय युक्त भी कहा गया है। चूँकि पर्याय और गुण द्रव्य से पृथक् नहीं हैं और द्रव्य, गुण और पर्यायों से पृथक् नहीं है, अतः यह मानना होगा कि जो नित्य है वही परिवर्तनशील भी है अर्थात् अनित्य भी है। यही वस्तु या सत्ता की अनैकान्तिकता है और इसी के आधार पर लोक-व्यवहार चलता है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि उत्पाद-व्ययात्मकता और ध्रौव्यता अथवा नित्यता और अनित्यता परस्पर विरुद्ध धर्म होने से एक ही साथ एक वस्तु में नहीं हो सकते। यह कथन ही जो नित्य है वही अनित्य भी है, जो परिवर्तनशील है वही अपरिवर्तनशील भी है, तार्किक दृष्टि से विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता है और यही कारण है कि बौद्धों और वेदान्तियों ने इस अनेकान्त दृष्टि को अनर्गल प्रलाप कहा है। किन्तु अनुभव के स्तर पर इनमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। एक ही व्यक्ति बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। इन विभिन्न

अवस्थाओं के फलस्वरूप उसके शरीर, ज्ञान, बुद्धि, बल आदि में स्पष्ट रूप से परिवर्तन परिलक्षित होते हैं, फिर भी उसे वही व्यक्ति माना जाता है। जो बालक था वही युवा हुआ और वही वृद्ध होगा। अतः जैनों ने वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहकर जो इसका अनैकान्तिक स्वरूप निश्चित किया है वह भले तार्किक दृष्टि से आत्मविरोधी प्रतीत होता हो किन्तु अनुभविक स्तर पर उसमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार व्यक्ति बदलकर भी नहीं बदलता उसी प्रकार वस्तु भी परिवर्तनों के बीच वही बनी रहती है।

जैनों के अनुसार नित्यता और परिवर्तनशीलता में कोई आत्मविरोध नहीं है। वस्तु के अपने स्वलक्षण स्थिर रहते हुए भी निमित्त के अनुसार परिवर्तन को प्राप्त करते हैं। अस्तित्व या सत्ता की दृष्टि से द्रव्य नित्य है किन्तु पर्यायों की अपेक्षा से उसमें अनित्यता परिलक्षित होती है। यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक माना जायेगा तो उसमें यह अनुभव कभी नहीं होगा कि यह वही है। यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान तो तभी सम्भव हो सकता है जब वस्तु में ध्रौव्यता को स्वीकार किया जाय। जिस प्रकार वस्तु की पर्यायों में होने वाला परिवर्तन अनुभूत सत्य है, उसी प्रकार 'वह वही है' इस रूप में होनेवाला प्रत्यभिज्ञान अनुभूत सत्य है। एक व्यक्ति बालभाव का त्याग करके युवावस्था को प्राप्त करता है- इस घटना में बालभाव का क्रमिक विनाश और युवावस्था की क्रमिक उत्पत्ति हो रही है, किन्तु यह भी सत्य है कि 'वह' जो बालिक था 'वही' युवा हुआ है। और यह 'वही' होना ही ध्रौव्यत्व है। इस प्रकार वस्तुतत्त्व को अनैकान्तिक मानने का अर्थ है - वह न केवल अनन्त गुणधर्मों का न केवल अनन्त गुणधर्मों का पुञ्ज है, अपितु उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्म भी अपेक्षा विशेष से एक साथ उपस्थित रहते हैं।

अस्तित्व नास्तित्व पूर्वक है और नास्तित्व आस्तित्व पूर्वक है। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता अनुस्यूत है, जो द्रव्य दृष्टि से नित्य है, वही पर्यायदृष्टि से अनित्य भी है, उत्पत्ति के बिना विनाश और विनाश के बिना उत्पत्ति संभव नहीं है। पुनः उत्पत्ति और विनाश के लिए ध्रौव्यत्व भी अपेक्षित है अन्यथा उत्पत्ति और विनाश किसका होगा? क्योंकि विश्व में विनाश के अभाव में उत्पत्ति जैसी भी कोई स्थिति नहीं है। यद्यपि ध्रौव्यत्व और उत्पत्ति-विनाश के धर्म परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दोनों को सहवर्ती माने बिना विश्व की व्याख्या असम्भव है। यही कारण था कि भगवान् महावीर ने अपने युग में प्रचलित शाश्वतवादी और उच्छेदवादी आदि परस्पर विरोधी विचारधाराओं के मध्य में समन्वय किया। उदाहरणार्थ भगवतीसूत्र में स्वयं भगवान् महावीर से गौतम ने यह पूछा कि हे भगवन्! जीवन नित्य या अनित्य है? तो उन्होंने कहा - हे गौतम! जीव अपेक्षाभेद से नित्य भी और अनित्य

भी। भगवन्! यह कैसे? हे गौतम! द्रव्य दृष्टि से जीव नित्य है पर्याय दृष्टि से अनित्य! इसी प्रकार एक अन्य प्रश्न के उत्तर में उन्होंने सोमिल को कहा था कि- हे सोमिल! द्रव्य-दृष्टि से मैं एक हूँ, किन्तु परिवर्तनशील चेतनाओं (पर्यायों) की अपेक्षा से मैं अनेक भी हूँ (भगवती सूत्र 7.3.273)।

वास्तविकता तो यह है कि जिन्हें हम विरोधी धर्म युगल मान लेते हैं, उनमें सर्वथा या निरपेक्ष रूप से विरोध नहीं है। अपेक्षा भेद से उनका एक ही वस्तुतत्त्व में एक ही समय में होना सम्भव है। भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही व्यक्ति छोटा या बड़ा कहा जा सकता है अथवा एक ही वस्तु ठण्डी या गरम कही जा सकती है। जो सखिया जनसाधारण की दृष्टि में विष (प्राणापहारी) है, वही एक वैद्य की दृष्टि में औषधि (जीवन-संजीवनी) भी है। अतः यह एक अनुभवजन्य सत्य है कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्म-युगलों की उपस्थिति देखी जाती। इस सम्बन्ध में ध्वला का निम्न कथन द्रष्टव्य है-“यदि (वस्तु में) सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जाये तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य, अचैतन्य, भव्यत्व और अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ आत्मा में रहने का प्रसंग आ जायेगा। अतः यह मानना अधिक तर्कसंगत है कि वस्तु में केवल वे ही विरोधी धर्म-युगल युगपत् रूप में रह सकते हैं, जिनका उस वस्तु में अत्यन्तभाव नहीं है। किन्तु इस बात से वस्तुतत्त्व का अनन्तधर्मात्मक स्वरूप खण्डित नहीं होता है और वस्तुतत्त्व में नित्यता-अनित्यता, एकत्व-अनेकत्व, अस्तित्व-नास्तित्व, भेदत्व-अभेदत्व आदि अनेक विरोधी धर्म युगलों की युगपत् उपस्थित मानी जा सकती है। आचार्य अमृतचन्द्र ‘समयसार’ की टीका में लिखते हैं कि अपेक्षा भेद से जो है, वहीं नहीं भी है, जो सत् है वह असत् भी है, जो एक है वह अनेक भी है, जो नित्य है वही अनित्य भी है-यदेव तत् तदेव अतत् (समयसार टीका)। वस्तु एकान्तिक न होकर अनैकान्तिक है। आचार्य हेमचन्द्र अन्ययोग-व्यवच्छेदिका (5) में लिखते हैं कि विश्व की समस्त वस्तुएं स्याद्वाद की मुद्रा से युक्त हैं, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता।

यद्यपि वस्तुत्व का यह अनन्तधर्मात्मक एवं अनैकान्तिक स्वरूप हमें असमंजस में अवश्य डाल देता है, किन्तु यदि वस्तु स्वभाव ऐसा ही है, तो हम क्या करें? बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दों में ‘यदिदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते के वयं’? पुनः हम जिस वस्तु या द्रव्य की विवेचना करना चाहते हैं, वह है क्या? जहाँ एक ओर द्रव्य को गुण और पर्यायों का आश्रय कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उसे गुणों का समूह भी कहा गया है। गुण और पर्यायों से पृथक् द्रव्य की और द्रव्य से पृथक् गुण और पर्यायों की कोई सत्ता नहीं है। यह है वस्तु की सापेक्षिकता और यदि वस्तुतत्त्व

सापेक्षिक, अनन्तधर्मात्मक और अनैकान्तिक है, तो फिर उसका ज्ञान एवं उसकी विवेचना निरपेक्ष एवं एकान्तिक दृष्टि से कैसे सम्भव है? इसलिए जैन आचार्यों का कथन है कि (अनन्तधर्मात्मक) मिश्रित तत्त्व विवेचना बिना अपेक्षा के सम्भव नहीं है (अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड-4 पृ. 1833)

मानवीय ज्ञान प्राप्ति के साधनों का स्वरूप:

यह तो हुई वस्तु स्वरूप की बातें, किन्तु जिस वस्तु स्वरूप का ज्ञान हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसके लिए हमारे पास साधन क्या है; हमें उन साधनों के स्वरूप एवं उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। मनुष्य के पास अपनी सत्याभीप्सा और जिज्ञासा की सन्तुष्टि के लिए ज्ञान-प्राप्ति के दो साधन हैं -

1. इन्द्रियाँ और 2. तर्कबुद्धि।

मानव अपने इन्हीं सीमित साधनों द्वारा वस्तुतत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है। जहाँ तक मानव के ऐन्द्रिक ज्ञान का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि ऐन्द्रिक ज्ञान न पूर्ण है और न निरपेक्ष। मानव इन्द्रियों की क्षमता सीमित है, अतः वे वस्तुतत्त्व का जो भी स्वरूप जान पाती हैं, वह पूर्ण नहीं हो सकता है। इन्द्रियाँ वस्तु को अपने पूर्ण स्वरूप में देख पाने में सक्षम नहीं हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हम वस्तुतत्त्व को जिस रूप में वह है वैसा नहीं जान कर, उसे जिस रूप में इन्द्रियाँ हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं, उसी रूप में जानते हैं। हम इन्द्रिय संवेदना को जान पाते हैं, वस्तुतत्त्व को नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा अनुभवीक ज्ञान इन्द्रिय-सापेक्ष है। मात्र इतना ही नहीं, वह इन्द्रिय सापेक्ष होने के साथ-साथ उन कोणों पर भी निर्भर रहता है जहाँ से वस्तु देखी जा रही है और यदि हम उस कोण (स्थिति) के विचार को अपने ज्ञान से अलग करते हैं, तो निश्चित ही हमारा ज्ञान भ्रान्त हो जायेगा। उदाहरणार्थ एक गोल सिक्का अपने अनेक कोणों से हमें वृत्ताकार न लगकर अण्डाकार दिखाई देता है। विभिन्न गुरुत्वाकर्षणों एवं विभिन्न शारीरिक स्थितियों से एक ही वस्तु हल्की या भारी प्रतीत होती है। हमारी पृथ्वी को जब हम उसके गुरुत्वाकर्षण की सीमा से ऊपर जाकर देखते हैं तो गतिशील दिखाई देती है, किन्तु यहाँ वह हमें स्थिर प्रतीत होती है। दूर से देखने पर वस्तु छोटी और पास से देखने पर बड़ी दिखाई देती है। एक टेबल के जब विविध कोणों से फोटो लिए जाते हैं तो वे परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार हमारा सारा अनुभवीक ज्ञान सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं। इन्द्रिय संवेदनों को उन सब अपेक्षाओं (Conditions) से अलग हटकर नहीं समझा जा सकता है, जिनमें कि वे हुए हैं। अतः ऐन्द्रिकज्ञान दिक् काल और व्यक्ति सापेक्ष ही होता है।

किन्तु मानव मन कभी भी इन्द्रियानुभूति या प्रतीति के ज्ञान को ही अन्तिम सत्य मानकर सन्तुष्ट नहीं होता, वह उस प्रतीति के पीछे भी झांकना चाहता है। इस हेतु वह अपनी तर्कबुद्धि का सहारा लेता है। किन्तु क्या तार्किक ज्ञान निरपेक्ष हो सकता है? प्रथम तो तार्किक ज्ञान भी पूरी तरह से इन्द्रिय संवेदना से निरपेक्ष नहीं होता है, दूसरे तार्किक ज्ञान वस्तुतः एक सम्बन्धात्मक ज्ञान है। बौद्धिक चिन्तन कारण-कार्य, एक-अनेक, अस्ति-नास्ति आदि विचार धाराओं से घिरा हुआ है और अपनी इन विधाओं के आधार पर वह सापेक्ष ही होगा। तर्कबुद्धि जब भी किसी वस्तु के स्वरूप का निश्चय कर कोई निर्णय प्रस्तुत करती है, तो वह हमें दो तथ्यों के बीच किसी सम्बन्ध या असम्बन्ध की ही सूचना प्रदान करती है और ऐसा सम्बन्धात्मक ज्ञान सम्बन्ध सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं। क्योंकि सभी सम्बन्ध (Relations) सापेक्ष होते हैं।

मानवीय ज्ञान की सीमितता एवं सापेक्षता:

वस्तुतः वस्तुतत्त्व का यथार्थ एवं पूर्ण ज्ञान सीमित क्षमता वाले मानव के लिए सदैव ही एक जटिल प्रश्न रहा है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आशिक सत्य के ज्ञान से आगे नहीं जा पाये हैं और जब इस आशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो वह सत्य, सत्य न रह करके असत्य बन जाता है। वस्तुतत्त्व न केवल उतना ही है जितना कि हम इसे जान पा रहे हैं बल्कि वह इससे इतर भी है। मनुष्य की ऐन्द्रिक ज्ञान क्षमता एवं तर्क बुद्धि इतनी अपूर्ण है कि वह सम्पूर्ण सत्य को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती। अतः साधारण मानव पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता है। जैन दृष्टि के अनुसार सत्य अज्ञेय तो नहीं है किन्तु बिना पूर्णता को प्राप्त किये उसे पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन ने कहा था कि 'हम केवल सापेक्षिक सत्य को जान सकते हैं, निरपेक्ष सत्य को तो कोई पूर्ण द्रष्टा ही जान सकेगा। (Cosmology Old and New, P. XIII) और ऐसी स्थिति में जबकि हमारा समस्त ज्ञान आशिक, अपूर्ण तथा सापेक्षिक है, हमें यह दावा करने का कोई अधिकार नहीं है कि मेरी दृष्टि ही एक मात्र सत्य है और सत्य मेरे ही पास है। हमारी आशिक, अपूर्ण और सापेक्षिक ज्ञान निरपेक्ष सत्यता का दावा नहीं कर सकता है। अतः ऐसे ज्ञान के लिए हमें ऐसी कथन पद्धति की योजना करनी होगी, जो कि दूसरों के अनुभूत सत्यों का निषेध नहीं करते हुए अपनी बात कह सके। हम अपने ज्ञान की सीमितता के कारण अन्य सम्भावनों (Possibilities) को निरस्त नहीं कर सकते हैं।

क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष होता है?

यद्यपि जैन दर्शन में यह माना गया है कि सर्वज्ञ या केवली सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष है। इस सन्दर्भ में जैन दार्शनिकों में भी मतभेद पाया जाता है। कुछ समकालीन जैन विचारक सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष मानते हैं जब कि दूसरे कुछ विचारकों के अनुसार सर्वज्ञ का ज्ञान भी सापेक्ष होता है। पं. दलसुखभाई मालवणिया ने “स्याद्वादमंजरी” की भूमिका में सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष सत्य बताया है। जबकि मुनि श्री नगराजजी ने “जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान” नामक पुस्तिका में यह माना है कि सर्वज्ञ का ज्ञान भी कहने भर को ही निरपेक्ष है क्योंकि स्यादस्ति, स्यान्नास्ति से परे वह भी नहीं है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ तक सर्वज्ञ के वस्तु जगत् के ज्ञान का प्रश्न है उसे निरपेक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके ज्ञान का विषय अनन्त धर्मात्मक वस्तु है। अतः सर्वज्ञ भी वस्तुतत्त्व के अनन्त गुणों को अनन्त अपेक्षाओं से ही जान सकता है। वस्तुगत ज्ञान या वैषयिक ज्ञान (Objective Knowledge) कभी भी निरपेक्ष नहीं हो सकता, फिर चाहे वह सर्वज्ञ का ही क्यों न हो? इसीलिए जैन आचार्यों का कथन है कि दीप से लेकर व्योम तक वस्तु-मात्र स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि जहाँ तक सर्वज्ञ के आत्म-बोध का प्रश्न है वह निरपेक्ष हो सकता है क्योंकि वह विकल्प रहित होता है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा था कि व्यवहार दृष्टि से सर्वज्ञ सभी द्रव्यों को जानता है किन्तु परमार्थतः तो वह आत्मा को ही जानता है। सर्वज्ञ का आत्म-बोध तो निरपेक्ष होता है किन्तु उसका वस्तु-विषयक ज्ञान सापेक्ष होता है।

भाषा की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य की सीमितता और सापेक्षता :

सर्वज्ञ या पूर्ण के लिए भी, जो सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, सत्य का निरपेक्ष कथन या अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण सत्य को चाहे जाना जा सकता हो किन्तु कहा नहीं जा सकता। उसकी अभिव्यक्ति का जब भी कोई प्रयास किया जाता है, तो वह सापेक्षिक बन जाता है। क्योंकि सर्वज्ञ को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए उस भाषा का सहारा लेना होता है, जो कि सीमित एवं अपूर्ण। “है” और “नहीं है” की सीमा से घिरी है। अतः भाषा पूर्ण सत्य को निरपेक्षता अभिव्यक्त नहीं कर सकती है।

प्रथम तो वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है, जबकि मानवीय भाषा की शब्द संख्या सीमित है। जितने वस्तु-धर्म हैं, उतने शब्द नहीं हैं। अतः अनेक धर्म अनुक्त (अकथित) रहेंगे ही। पुनः मानव की जितनी अनुभूतियाँ हैं, उन सबके

लिए भी भाषा में पृथक्-पृथक् शब्द नहीं है। हम गुड़, शक्कर, आम आदि की मिठास को भाषा में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकते क्योंकि सभी की मिठास के लिए अलग-अलग शब्द नहीं हैं। आचार्य नेमिचन्द्र “गोम्मटसार” में लिखते हैं कि हमारे अनुभूत भावों का केवल अनन्तवां भाग ही कथनीय होता है और जितना कथनीय है, उसका भी एक अंश ही भाषा में निबद्ध करके लिखा जाता है (गोम्मटसार-जीवकाण्ड 334)। चाहे निरपेक्ष ज्ञान को सम्भव भी मान लिया जाए, किन्तु निरपेक्ष कथन तो कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि जो कुछ भी कहा जाता है, वह किसी न किसी सन्दर्भ में (In a certain context) कहा जाता है और उस सन्दर्भ में ही उसे ठीक प्रकार से समझा जा सकता है अन्यथा भ्रान्ति होने की संभावना रहती है। इसीलिए जैन आचार्यों का कथन है कि जगत् में जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह सब किसी विवक्षा या नय से गर्भित होता है। जिन या सर्वज्ञ की वाणी भी अपेक्षा रहित नहीं होती है वह सापेक्ष ही होती है। अतः वक्ता का कथन समझने के लिए भी अपेक्षा का विचार आवश्यक है।

पुनश्च जब वस्तुतत्त्व में अनेक विरुद्ध धर्म-युगल भी रहे हुए हैं, तो शब्दों द्वारा उनका एक साथ प्रतिपादन सम्भव नहीं है। उन्हें क्रमिक रूप में ही कहा जा सकता है। शब्द एक समय में एक ही धर्म को अभिव्यक्त कर सकता है। अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के समस्त धर्मों का एक साथ कथन भाषा की सीमा के बाहर है। अतः किसी भी कथन में वस्तु के अनेक धर्म अनुक्त (अकथित) ही रह जायेंगे और एक निरपेक्ष कथन अनुक्त धर्मों का निषेध करने के कारण असत्य हो जायेगा। हमारा कथन सत्य रहे और हमारे वचन व्यवहार से श्रोता को कोई भ्रान्ति न हो इसलिए सापेक्षिक कथन पद्धति ही समुचित हो सकती है। जैनाचार्यों ने ‘स्यात्’ को सत्य का चिह्न इसीलिए कहा है कि वह अपेक्षा पूर्वक कथन करके हमारे कथन को अविरोधी और सत्य बना देता है तथा श्रोता को कोई भ्रान्ति भी नहीं होने देता है।

स्याद्वाद और अनेकान्त

साधारणतया अनेकान्त और स्याद्वाद पर्यायवाची माने जाते हैं। अनेक जैनाचार्यों ने इन्हें पर्यायवाची बताया भी है किन्तु फिर भी दोनों में थोड़ा अन्तर है। अनेकान्त, स्याद्वाद की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ का द्योतक है। जैनाचार्यों ने दोनों में व्यापक-व्याप्य भाव माना है अनेकान्तवाद व्यापक है और स्याद्वाद व्याप्य। अनेकान्त वाच्य है तो स्याद्वाद वाचक। अनेकान्त वस्तुस्वरूप है, तो स्याद्वाद उस अनेकान्तिक वस्तु स्वरूप के कथन की निर्दोष भाषा-पद्धति। अनेकान्त दर्शन है, तो स्याद्वाद उसकी अभिव्यक्ति का ढंग।

विभज्यवाद और स्याद्वाद

विभज्यवाद स्याद्वाद का ही एक अन्य पर्यावाची एवं पूर्ववर्ती है। सूत्रकृतांग (1.1.4.22) में महावीर ने भिक्षुओं के लिए यह स्पष्ट निर्देश दिया कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करें। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय में स्पष्ट रूप से कहा था कि हे माणवक! मैं विभज्यवादी हूँ, एकान्तवादी नहीं। विभज्यवाद वह सिद्धान्त है, जो प्रश्न को विभाजित करके उत्तर देता है। जब बुद्ध से यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? उन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा कि गृहस्थ एवं त्यागी यदि मिथ्यावादी हैं तो आराधक नहीं हो सकते। किन्तु यदि दोनों ही सम्यक् आचरण करने वाले हैं तो दोनों ही आराधक हो सकते। किन्तु यदि दोनों ही सम्यक् आचरण करने वाले हैं तो दोनों ही आराधक हो सकते हैं। (मज्झिम नि.-१६)। इसी प्रकार जब महावीर से जयंती ने यह पूछा कि सोना अच्छा है या जागना, तो उन्होंने कहा था कि कुछ जीवों को सोना अच्छा है और कुछ का जागना। पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्माओं का जागना। (भगवती सू. १२. २.४४२) इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वक्ता को उसके प्रश्न का विश्लेषणपूर्वक उत्तर देना विभज्यवाद है। प्रश्नों के उत्तरों की यह विश्लेषणात्मक शैली विचारों को सुलझाने वाली तथा वस्तु के अनेक आयामों को स्पष्ट करने वाली है। इससे वक्ता का विश्लेषण एकांगी नहीं बनता है। बुद्ध और महावीर का यह विभज्यवाद ही आगे चलकर शून्यवाद में स्याद्वाद में विकसित हुआ है।

शून्यवाद और स्याद्वाद

भगवान् बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद इन दोनों को अस्वीकार किया और अपने मार्ग को मध्यम मार्ग कहा। जबकि भगवान् महावीर ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद को अपेक्षाकृत रूप से स्वीकृत करके एक विधि मार्ग अपनाया। भगवान् बुद्ध की परम्परा में विकसित शून्यवाद और जैन परम्परा में विकसित स्याद्वाद दोनों का ही लक्ष्य एकान्तिक दार्शनिक विचारधाराओं की अस्वीकृति ही था। दोनों में फर्क इतना ही है कि जहां शून्यवाद एक निषेधप्रधान दृष्टि है वहीं स्याद्वाद में एक विधायक दृष्टि है। शून्यवाद जो बात संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में कहता है, वही बात जैन दार्शनिक व्यवहार और निश्चय नय के आधार पर प्रतिपादित करता है। शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद अपने निष्कर्षों के सम्बन्ध में है। शून्यवाद अपने निष्कर्षों में निषेधात्मक है और स्याद्वाद विधानात्मक है। शून्यवाद अपनी सम्पूर्ण तार्किक विवेचना में इस निष्कर्ष पर आता है कि वस्तुतत्त्व शाश्वत नहीं है, उच्छिन्न नहीं है, एक नहीं है, अनेक नहीं है, सत् नहीं है, असत् नहीं है। जबकि स्याद्वाद अपने निष्कर्षों को विधानात्मक रूप से प्रस्तुत करता है कि वस्तु शाश्वत

भी है और अशाश्वत भी है, एक भी है और अनेक भी है, सत् भी है और असत् भी है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही देखते हैं। एक एकान्त के दोष से बचने की तत्परता में शून्यवाद द्वारा प्रस्तुत शून्यता-शून्यता की धारणा और स्याद्वाद द्वारा प्रस्तुत अनेकान्त की अनेकान्तता की धारणा भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है। किन्तु जहाँ शून्यवादी उस दोष के भय से एकान्त को अस्वीकार करता है, वहीं स्याद्वादी, उसके आगे 'स्यात्' शब्द रखकर उस दूषित एकान्त को निर्दोष बना देता है। दोनों में यदि कोई मौलिक भेद है तो वह अपनी निषेधात्मक और विधानात्मक दृष्टियों का ही है। शून्यवाद का वस्तुतत्त्व जहाँ चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य है, वहीं जैन दर्शन का वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। किन्तु शून्य और अनन्त का गणित तो समान ही है, वह उस दृष्टि का ही परिणाम है, जो वैचारिक आग्रहों से जनमानस को मुक्त करने के लिए बुद्ध और महावीर ने प्रस्तुत की थी। बुद्ध के निषेधात्मक दृष्टिकोण का परिणाम शून्यवाद था तो महावीर के विधानात्मक दृष्टिकोण का परिणाम स्याद्वाद।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में परम तत्त्व, आत्मा और लोक के स्वरूप एवं सृष्टि के विषय में अनेक मतवाद प्रचलित थे। यद्यपि औपनिषदिक ऋषिओं ने इनके समन्वय का प्रयत्न किया था - किन्तु वे एक ऐसी दार्शनिक पद्धति का विकास नहीं कर पाये थे, जो इन मतवादों दार्शनिक एवं व्यावहारिक असंगतियों और कठिनाइयों का निराकरण कर सके। ये परस्पर विरोधी दार्शनिक मत एक दूसरे की आलोचना में पड़े थे और इसके परिणाम स्वरूप आध्यात्मिक विशुद्धि या राग-द्वेष, आसक्ति या तृष्णा से विमुक्ति का प्रश्न गौण था। सभी दार्शनिक मतवाद अपने-अपने आग्रहों में दृढ़ बनते जा रहे थे। अतः सामान्य मनुष्य की दिग्भ्रान्त स्थिति को समाप्त करने और इन परस्पर विरोधी मतवादों के आग्रही घेरों से मानव को मुक्त करने के लिए बुद्ध व महावीर दोनों ने प्रयत्न किया। किन्तु दोनों के प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण अन्तर था। बुद्ध कह रहे थे कि ये सभी दृष्टिकोण एकान्त हैं अतः उनमें से किसी को भी स्वीकार करना उचित नहीं है। किसी भी दृष्टि से न जुड़ कर तृष्णा विमुक्ति के हेतु प्रयास कर दुःख-विमुक्ति को प्राप्त करना ही मानव का एक मात्र लक्ष्य है। बुद्ध की इस निषेधात्मक दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध दर्शन में आगे चलकर शून्यवाद का विकास हुआ व सभी दृष्टियों का प्रहाण साधक एक लक्ष्य बना। दूसरी ओर महावीर ने इन विविध दार्शनिक दृष्टियों को नकारने के स्थान पर उनमें निहित सापेक्षिक सत्यता का दर्शन किया और सभी दृष्टियों को सापेक्ष रूप से अर्थात् विविध नयों के आधार पर सत्य मानने की बात कही। इसी के आधार पर जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त, स्याद्वाद और

सप्तभंगी का विकास किया। बुद्ध एवं महावीर दोनों का लक्ष्य व्यक्ति के एकान्तिक अवधारणाओं में पड़ने से बचाना था। किन्तु इनके इस प्रयास में जहां बुद्ध ने उन एकान्तिक धारणाओं को त्याज्य बताया, वहीं महावीर ने उन्हें सापेक्षिक सत्य कहकर समन्वित किया।

इससे यह तथ्य फलित होता है कि स्याद्ववाद एवं शून्यवाद दोनों का मूल उद्गम स्थल एक ही है। विभज्यवादी पद्धति तक यह धारा एकरूप रही किन्तु अपनी विधायक एवं निषेधक दृष्टियों के परिणाम स्वरूप दो भागों में विभक्त हो गई जिन्हें हम स्याद्ववाद व शून्यवाद के रूप में जानते हैं।

इस प्रकार सत्ता के विविध आयागों एवं उसमें निहित सापेक्षिक विरुद्ध धर्मता को देखने का जो प्रयास औपनिषदिक ऋषियों ने किया था वही आगे चलकर श्रमण धारा में स्याद्ववाद व शून्यवाद के विकास का आधार बना।

अन्य दार्शनिक परम्पराएँ और अनेकान्तवाद

यह अनेकान्त दृष्टि श्रमण परम्परा के अन्य दार्शनिकों में भी प्रकार भेद से उपलब्ध होती है। संजयवेलट्ठिपुत्र का मन्तव्य बौद्ध ग्रन्थों में निम्न रूप से प्राप्त होता है -

- (1) है? नहीं कह सकता।
- (2) नहीं है? नहीं कह सकता।
- (3) है भी और नहीं भी? नहीं कह सकता।
- (4) न है और न नहीं है? नहीं कह सकता।

इससे यह फलित होता है कि संजयवेलट्ठिपुत्र भी एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं थे। उनकी उत्तर देने की शैली अनेकान्त दृष्टि की ही परिचायक है। यही कारण था कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विचारकों ने यह अनुमान भी किया कि संजयवेलट्ठिपुत्र के दर्शन के आधार पर ही जैनो ने स्याद्ववाद व सप्तभंगी का विकास किया। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि संजयवेलट्ठि की यह दृष्टि निषेधात्मक है। अस्ति, नास्ति एवं अवक्तव्य-सप्तभंगी नय के ये जो तीन मूल नय हैं वे तो उपनिषद् काल से पाये जाते हैं। मात्र यही नहीं उपनिषदों में हमें सत्-असत्, उभय व अनुभय अर्थात् ये चार भंग भी प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होते हैं। औपनिषदिक चिन्तन एवं उसके समानान्तर विकसित श्रमण परम्परा में यह अनेकान्त दृष्टि किसी न किसी रूप में अवश्य उपस्थित रही है किन्तु उसके अभिव्यक्ति की शैली भिन्न है। इस युग के बाद भारतीय चिन्तन के दार्शनिक युग में भी विविध दर्शनों ने इस शैली को अपनाया है।

वस्तुतः वस्तुतत्त्व या परमसत्ता की बहुआयामिता, मानवीय ज्ञान सामर्थ्य, भाषाई-अभिव्यक्ति सामर्थ्य की सीमितता मनुष्य को अनेकान्त दृष्टि अपनाने के लिए प्रेरित करती रही। वस्तु स्वरूप के संबन्ध में एकान्तिक उत्तर मानव मन को संतोष नहीं दे सके। इसका कारण यह था कि मानव अपने ज्ञान के दो साधन-अनुभूति व तर्क में से किसी का भी परित्याग नहीं करना चाहता। अनुभव उसे सत्ता की बहुआयामिता का दर्शन कराता है तो तर्क उसे किसी निश्चित निर्णय की दिशा में प्रेरित करता हुआ एकान्त की ओर ले जाता है। तर्क बुद्धि और अनुभव के इस विरोधाभास के समन्वय के प्रयत्न सभी दार्शनिकों ने किये हैं और इन्हीं प्रयत्नों में उन्हें कहीं न कहीं अनेकान्त दृष्टि का सहारा लेना पड़ा। पतञ्जलि ने महाभाष्य में (व्याडी के) इस दृष्टि का उल्लेख किया है। उनमें सामने मुख्य प्रश्न था- शब्द नित्य है या अनित्य है। इस संदर्भ में वे व्याडी के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि गुण दोषों की परीक्षा करके तथा प्रयोजन के आधार पर यह बताया गया है कि शब्द नित्य व अनित्य दोनों है। ज्ञातव्य है कि पतञ्जलि का परमसत्य शब्द ब्रह्म ही है। उसमें नित्यता व अनित्यता दोनों को स्वीकार करके वे अन्य रूप में अनेकान्त दृष्टि का ही प्रतिपादन करते हैं। मात्र यहीं नहीं जैनदर्शन में जिस रूप में सत् की अनेकान्तिक व्याख्या की गयी है उसी रूप में पतञ्जलि के महाभाष्य में उन्होंने द्रव्य की नित्यता व आकृति की अनित्यता को विस्तार से प्रतिपादित किया है। पुनः उन्होंने यह भी माना है कि आकृति भी सर्वथा अनित्य नहीं है। एक घट के नष्ट होने पर दूसरी घटाकृति तो रहती है। हम यह भी कह सकते हैं कि आकृति चाहे बाह्य रूप में नष्ट हुई हो किन्तु स्रष्टा के चेतना की आकृति तो बनी रहती है। कुम्हार द्वारा बनाया घड़ा टूट जाता है किन्तु कुम्हार के मनस में जो घटाकृति है वह बनी रहती है। महाभाष्यकार ने सत्ता को नित्य मानकर भी उसमें कार्य रूप में उत्पत्ति व विनाश को स्वीकार किया है। यह इस बात का परिचायक है कि पतञ्जलि के दर्शन में सत् की परिणामी नित्यता की अवधारणा उसी रूप में है जिस प्रकार जैनदर्शन में है।

भारतीय दर्शनों में साँख्य दर्शन भी एक प्राचीनतम दर्शन है। साँख्य दर्शन, प्रकृतिपरिणामवादी है। वह पुरुष को कूटस्थनित्य मानता है जबकि प्रकृति को परिवर्तनशील। उसके द्वैतवाद का एक तत्त्व परिवर्तनशील है तो दूसरा अपरिवर्तनशील है। लेकिन यह अवधारणा मूलतः उस पुरुष के संदर्भ में ही घटित होती है जो अपने को प्रकृति से पृथक् जान चुका है। शेष चेतन सत्ताएं जो प्रकृति के साथ अपने ममत्व को बनाए हुई हैं, वे तो किसी न किसी रूप में परिवर्तनशील हैं ही। यही कारण है कि साँख्य अपने सत्कार्यवाद में परिणामवाद को स्वीकार करने को

बाध्य हुआ। सांख्य दर्शन के व्यावहारिक या साधनात्मक पक्ष योगदर्शन में भी स्पष्ट रूप से वस्तु की विविध धर्मात्मकता स्वीकार की गयी है, जैसे - एक ही स्त्री अपेक्षा भेद से पत्नी, माता, पुत्री, बहन आदि कही जाती है। दूसरे शब्दों में एक ही धर्मी अपेक्षा भेद से अनेक धर्म वाला कहा जाता है। द्रव्य की नित्यता व पर्यायों की अनित्यता भी सांख्य एवं योग दर्शन में भी उसी रूप में स्वीकृत है जिस रूप में वह जैन दर्शन में। यह इस तथ्य का सूचक है कि सत्ता की बहुआयामिता के कारण उसकी अनैकान्तिक व्याख्या ही अधिक संतोषप्रद लगती है। सांख्य दर्शन में अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो परस्पर विरोधी होते हुए भी एक सत्ता के संदर्भ में स्वीकृत हैं जैसे - सांख्य दर्शन में मन को ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय दोनों माना गया। इसी प्रकार उसके २५ तत्त्वों में बुद्धि, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राओं को प्रकृति व विकृति दोनों कहा गया है। यद्यपि प्रकृति व विकृति दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इसी प्रकार पुरुष के संदर्भ में भी अपेक्षा भेद से भोक्तृत्व व अभोक्तृत्व दोनों स्वीकृत हैं अथवा प्रकृति में सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से प्रवृत्त्यात्मकता व पुरुष की अपेक्षा से निवृत्त्यात्मकता दोनों ही स्वभाव स्वीकार किए गये हैं।

मीमांसा दर्शन में भी द्रव्य की नित्यता व आकृति की अनित्यता उसी प्रकार स्वीकार की गयी जिस प्रकार वह पातञ्जल दर्शन में स्वीकार की गयी। सर्वप्रथम मीमांसा दर्शन में ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञानरूपता वाले त्रिविध ज्ञान को ज्ञान कहा गया। दूसरे शब्दों में ज्ञान के त्रयात्मक होने पर भी उसे एकात्मक माना। ज्ञान में ज्ञाता स्वयं को; ज्ञान के विषय को और अपने ज्ञान तीनों को जानता है। ज्ञान में यह त्रयात्मकता रही है फिर भी उसे ज्ञान ही कहा जाता है। यह ज्ञान की बहुआयामिता का ही एक रूप है। पुनः मीमांसा दर्शन में कुमारिल ने स्वयं ही सामान्य व विशेष में कथंचित् तादात्म्य एवं कथंचित् भेद धर्म-धर्मी की अपेक्षा से भेदाभेद माना है। मीमांसाश्लोकवार्तिक में वस्तु की उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यता को इसी प्रकार प्रतिपादित किया गया है जिस प्रकार से उसे जैन परम्परा में प्रतिपादित किया गया है।

जब स्वर्णकलश को तोड़कर कुण्डल बनाया जाता है तो जिसे कलश की अपेक्षा है उसे दुःख व जिसे कुण्डल की अपेक्षा है उसे सुख होता है किन्तु जिसे स्वर्ण की अपेक्षा है उसे माध्यस्थ्यभाव है। वस्तु की यह त्रयात्मकता जैन व मीमांसा दोनों दर्शनों में स्वीकृत है। चाहे शांकर वेदान्त अपने अद्वैतवाद के परिप्रेक्ष्य में परमसत्ता को अपरिणामी मानता हो किन्तु उसे भी अन्त में परमार्थ और व्यवहार इन दो दृष्टियों को स्वीकार करके परोक्ष रूप से अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार करना पड़ा क्योंकि उसके अभाव में इस परिवर्तनशील जगत् की व्याख्या सम्भव नहीं थी। इस प्रकार सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में अनेकान्त शैली को स्वीकार करते हैं।

जैन परम्परा में अनेकान्तवाद का विकास

जैनदर्शन में अनेकान्त दृष्टि की उपस्थिति अति प्राचीन है। जैन साहित्य में आचारांग अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ है। इसमें भी हमें 'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा तो आसवा, अर्थात् जो आस्रव के कारण हैं वे ही निर्जरा के कारण बन जाते हैं और जो निर्जरा के कारण हैं वे आस्रव के कारण बन जाते हैं' - यह कहकर उसी अनेकांत-दृष्टि का परिचय दिया गया है। आचारांग के बाद स्थानांग में मुनि के लिए विभज्यवाद का आश्रय लेकर ही कोई कथन करने की बात कही गई। यह सुनिश्चित है कि विभाज्यवाद स्याद्वाद एवं शून्यवाद का पूर्वज है और वह भी अनेकान्त दृष्टि का परिचायक है। वह यह बताता है कि किसी भी प्रश्न का उत्तर विभिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न रूप में दिया जा सकता है और वे सभी उत्तर अपेक्षाभेद से सफल हो सकते हैं भगवतीसूत्र में इस प्रकार के अनेकों प्रश्नोत्तर संकलित हैं। जो विभज्यवाद के आधार पर व्याख्यायित हैं भगवतीसूत्र में हमें नय दृष्टि का परिचय मिलता है। इसमें द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिक नय तथा निश्चयनय व व्यहारनय का आधार लेकर अनेक कथन किए गए हैं। निश्चय व व्यहार नय का ही अगला विकास नैगम आदि पांच नयों और फिर सात नयों में हुआ। यद्यपि नयों की यह विवेचना ई. सन् की दूसरी-तीसरी के बाद के ग्रंथों में स्पष्ट रूप से मिलती है, किन्तु इसमें एकरूपता लगभग तीसरी शती के बाद आयी है। आज जो सात नय हैं उनमें उमास्वामि ने तत्त्वार्थसूत्र में एवं भूतबलि और पुण्डन्त ने षट्खण्डागम में मूल में पांच को ही स्वीकार किया था। सिद्धसेन ने सात में से नैगम को स्वतंत्र नय न मानकार छः नयों की अवधारणा प्रस्तुत की थी। वैसे नयों की संख्या के बारे में सिद्धसेन आदि आचार्यों का दृष्टिकोण अति उदार रहा है। उन्होंने अन्त में यहाँ तक कहा दिया कि जितने वचन भेद हो सकते हैं उतने नय हो सकते हैं। कुन्दकुन्द के बाद के दिगम्बर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शुद्धनय व अशुद्धनय को निश्चयनय का ही भेद मानते हुए उन्होंने इसके दो भेदों का उल्लेख किया। बाद में पं. राजमल ने इसमें उपचार को सम्मिलित करके निश्चय व व्यवहार नयों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया। इस प्रकार नयों के सिद्धांत का विकास हुआ।

जहाँ तक सप्तभंगी का प्रश्न है वह भी एक परवर्ती विकास ही है। यद्यपि सप्तभंगी का आधार महावीर की अनैकान्तिक व समन्वयवादी दृष्टि ही है फिर भी सप्तभंगी का पूर्ण विकास परवर्ती है। भगवतीसूत्र में इन भंगों पर अनेक प्रकार से चिन्तन किया गया है। उसमें मूल नय तो तीन ही रहे हैं - अस्ति, नास्ति व अवक्तव्य किन्तु उनसे अपेक्षा भेद के आधार पर और विविध संयोगों के आधार पर अनेक भंगों की योजना मिलती है। उसमें षड्प्रदेशीय भंगों भी अपेक्षा से तेईस भंगों

की योजना भी की गयी है। सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति प्रकरण (प्रथमकाण्ड गाथा ३६) में सांयोगिक भंगों की चर्चा की है। वहाँ सात भंग बनते हैं सात भंगों का स्पष्ट प्रतिपादन हमें समंतभद्र, कुन्दकुन्द और उनके परवर्ती श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आचार्यों में मिलने लगता है। यह स्पष्ट है कि सप्तभंगी का सुव्यवस्थित रूप में दार्शनिक प्रतिपादन लगभग ५वीं शती के बाद ही हुआ है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसके पूर्व भंगों की अवधारणा नहीं थी। भंगों की अवधारणा तो इसके भी पूर्व में हमें मिलती है किन्तु सप्तभंगी की एक सुव्यवस्थित योजना ५वीं शती के बाद अस्तित्व में आयी। स्याद्वाद एवं सप्तभंगी, अनेकान्तवाद की भाषायी अभिव्यक्ति के प्रारूप है।

अनेकान्तवाद का सैद्धान्तिक पक्ष : स्याद्वाद

स्याद्वाद का अर्थ-विश्लेषण

स्याद्वाद शब्द 'स्यात्' और 'वाद' अन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है। अतः स्याद्वाद को समझने के लिए इन दोनों शब्दों का अर्थ विश्लेषण आवश्यक है। स्यात् शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में जितनी भ्रान्ति दार्शनिकों में रही है, सम्भवतः उतनी अन्य किसी शब्द के सम्बन्ध में नहीं। विद्वानों द्वारा हिन्दी भाषा में स्यात् का अर्थ "शायद" "सम्भवतः", "कदाचित्" और अंग्रेजी भाषा में Probable, may be, perhaps, some how आदि लिया गया है। और इन्हीं अर्थों के आधार पर उसे संशयवाद, सम्भावनावाद या अनिश्चयवाद समझने की भूल की जाती रही है। यह सही है कि किन्हीं संदर्भों में स्यात् शब्द का अर्थ कदाचित्, शायद, सम्भव आदि भी होता है। किन्तु इस आधार पर स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चय समझने की भूल की जाती रही है। यह सही है कि किन्हीं संदर्भों में स्यात् शब्द का अर्थ कदाचित्, शायद, सम्भव आदि भी होता है। किन्तु इस आधार पर स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चयवाद मान लेना एक भ्रान्ति ही होगी। हमें यहाँ इस बात को भी स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि प्रथम तो एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, दूसरे अनेक बार शब्दों का प्रयोग उनके प्रचलित अर्थ में न होकर विशिष्ट अर्थ में होता है, जैसे जैन परम्परा में धर्म शब्द का प्रयोग धर्म-द्रव्य के रूप में भी होता है। जैन आचार्यों ने स्यात् शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट परिभाषिक अर्थ में ही किया है। यदि स्याद्वाद के आलोचक विद्वानों ने स्याद्वाद सम्बन्धी किसी भी मूलग्रन्थ को देखने की कोशिश की होती, तो उन्हें स्यात् शब्द का जैन परम्परा में क्या अर्थ है, यह स्पष्ट हो जाता। स्यात् शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसका मूल कारण उसे तिङन्त पद मान लेना है, जबकि समन्तभद्र, विद्यानन्दि, अमृतचन्द, मल्लिषेण आदि सभी जैन आचार्यों ने इसे निपात या अव्यय

माना है। समन्वय स्यात् शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा में लिखते हैं कि स्यात्- यह निपात शब्द है, जो अर्थ के साथ संबंधित होने पर वाक्य में अनेकान्तता का द्योतक और विवक्षित अर्थ का एक विशेषण है (आप्तमीमांसा-103)। इसी प्रकार पंचास्तिकाय की टीका में आचार्य अमृचन्द्र भी स्यात् शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'स्यात्' एकान्तता का निषेधक, अनेकान्तता का प्रतिपादक तथा कथंचित् अर्थ का द्योतक एक निपात शब्द है (पंचास्तिकाय टीका)।

मल्लिषेण ने भी स्याद्वादमंजरी में स्यात् शब्द को अनेकान्तता का द्योतक एक अव्यय माना है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन विचारकों की दृष्टि में स्यात् शब्द संशयपरक न होकर अनैकान्तिक किन्तु निश्चयात्मक अर्थ का द्योतक है। मात्र इतना ही नहीं जैन दार्शनिक इस सम्बन्ध में भी सजग थे कि आलोचक या जन साधारण द्वारा स्यात् शब्द का संशयपरक अर्थ ग्रहण किया जा सकता है, इसलिए उन्होंने स्यात् शब्द के साथ "एव" शब्द के प्रयोग की योजना भी की है, जैसे "स्यदस्त्येव घटः" अर्थात् किसी अपेक्षा से यह घड़ा ही है। यह स्पष्ट है कि "एव" शब्द निश्चयात्मकता का द्योतक है। "स्यात्" तथा "एव" शब्दों का एक साथ प्रयोग श्रोता को संशयात्मकता को समाप्त कर उसे सापेक्षिक किन्तु निश्चित ज्ञान प्रदान करता है। वस्तुतः इस प्रयोग में "एव" शब्द "स्यात्" शब्द की अनिश्चितता को समाप्त कर देता है और "स्यात्" शब्द "एव" शब्द की निरपेक्षता एवं एकान्तता को समाप्त कर देता है और इस प्रकार वे दोनों मिलकर कथित वस्तु-धर्म की सीमा नियत करते हुए सापेक्ष किन्तु निश्चित ज्ञान प्रस्तुत करते हैं अतः स्याद्वाद को संशयवाद या सम्भावनावाद नहीं कहा जा सकता है। "वाद" शब्द का अर्थ कथनविधि है। इस प्रकार स्याद्वाद सापेक्षिक कथन पद्धति या सापेक्षिक निर्णय पद्धति का सूचक है। वह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो वस्तुतत्त्व का विविध पहलुओं या विविध आयामों से विश्लेषण करता है और अपने उन विश्लेषित विविध निर्णयों को इस प्रकार की भाषा में प्रस्तुत करता है कि वे अपने पक्ष की स्थापना करते हुए भी वस्तुतत्त्व में निहित अन्य 'अनुक्त' अनेकानेक धर्मों एवं सम्भावनाओं (पर्यायों) का निषेध न करें। वस्तुतः स्याद्वाद हमारे निर्णयों एवं तज्जनित कथनों को प्रस्तुत करने का एक निर्दोष एवं अहिंसक तरीका है, अविरोधपूर्वक कथन की एक शैली है। उसका प्रत्येक भंग अनैकान्तिक ढंग से एकान्तिक कथन करता है, जिसमें वक्ता अपनी बात इस ढंग से कहता है कि उसका वह कथन अपने प्रतिपक्षी कथनों का पूर्ण निषेधक न बने। संक्षेप में स्याद्वाद अपने समग्र रूप में अनेकान्त है और प्रत्येक भंग की दृष्टि से सम्यक् एकांत है। सप्तभंगी अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के संबंध में एक ऐसी कथन-पद्धति या वाक्य योजना है, जो उसमें अनुक्त

धर्मों की संभावना का निषेध न करते हुए सापेक्षिक किन्तु निश्चयात्मक ढंग से वस्तुतत्त्व के पूर्ण स्वरूप को अपनी दृष्टि में रखते हुए उसके किसी एक धर्म का मुख्य रूप से प्रतिपादन या निषेध करती है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद भी वस्तुतत्त्व के सन्दर्भ में एकाधिक निर्णयों को स्वीकृत करता है। वह कहता है कि एक ही वस्तुतत्त्व के सन्दर्भ में विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर अनेक निर्णय (कथन) दिये जा सकते हैं अर्थात् अनेकान्त वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक निर्णयों या निष्कर्षों की सम्भाव्यता का सिद्धांत है। जैनाचार्यों ने अनेकांत को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'सर्वथैकान्त प्रतियोगे लक्षणोऽनेकांतः' अर्थात् अनेकांत मात्र एकांत का निषेध है और वस्तु में निहित परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रकाशक है।

स्याद्वाद के आधार

सम्भवतः यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि स्याद्वाद या सापेक्षिक कथन पद्धति की क्या आवश्यकता है? स्याद्वाद या सापेक्षिक कथन पद्धति की आवश्यकता के मूलतः चार कारण हैं -

1. वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता,
2. मानवीय ज्ञान प्राप्ति के साधनों की सीमितता,
3. मानवीय ज्ञान की अपूर्णता एवं सापेक्षता, तथा
4. भाषा के अभिव्यक्ति सामर्थ्य की सीमितता एवं सापेक्षता।

अनेकांतवाद का भाषिक पक्ष : सप्तभंगी

सप्तभंगी स्याद्वाद की भाषायी अभिव्यक्ति के सामान्य विकल्पों को प्रस्तुत करती है। हमारी भाषा विधि-निषेध की सीमाओं से घिरी हुई है। "है" और "नहीं" हमारे कथनों के दो प्रारूप हैं। किन्तु कभी-कभी हम अपनी बात को स्पष्टतया "है" (विधि) और "नहीं है" (निषेध) की भाषा में प्रस्तुत करने में असमर्थ होते हैं अर्थात् सीमित शब्दावली की यह भाषा हमारी अनुभूति को प्रगट करने में असमर्थ होती है। ऐसी स्थिति में हम एक तीसरे विकल्प "आवाच्य" या अवक्तव्य" का सहारा लेते हैं, अर्थात् शब्दों के माध्यम से "है" और "नहीं है" की भाषायी सीमा में बाँध कर उसे कहा नहीं जा सकता है। इस प्रकार विधि, निषेध और अवक्तव्यता से जो सात प्रकार का वचन विन्यास बनता है, उसे सप्तभंगी कहा जाता है। सप्तभंगी में स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात् अवक्तव्य ये तीन असंयोगी मौलिक भंग हैं। शेष चार भंग इन तीनों के संयोग से बनते हैं। उनमें स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अस्ति-अवक्तव्य, (1) और स्यात् नास्ति- (2) अवक्तव्य ये तीन (3) द्विसंयोगी और अन्तिम स्यात्- (4) - अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य, यह त्रिसंयोगी भंग है। निर्णयों की भाषायी अभिव्यक्ति विधि, निषेध और अवक्तव्य, इन तीन ही रूपों में होती है। अतः

उससे तीन ही मौलिक भंग बनते हैं और इन तीन मौलिक भंगों में से गणित शास्त्र के संयोग नियम (Law of Combination) के आधार पर सात भंग ही बनते हैं, न कम न अधिक। अष्टसहस्री टीका में आचार्य विद्यानन्दि ने इसीलिए यह कहा है कि जिज्ञासा और संशय और उनके समाधान सप्त प्रकार के ही हो सकते हैं। अतः जैन आचार्यों की सप्तभंगी की यह व्यवस्था निर्मूल नहीं है। वस्तुतत्त्व के अनन्त धर्मों में से प्रत्येक को लेकर एक-एक सप्तभंगी और इस प्रकार अनन्त सप्तभंगियाँ तो बनाई जा सकती हैं। किन्तु अनन्तभंगी नहीं। श्वेताम्बर आगम भगवतीसूत्र में षट्प्रदेशी स्कन्ध के संबंध में जो २३ भंगों की योजना है, वह वचन भेद कृत संख्याओं के कारण है। उसमें भी मूल भंग सात ही है। पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार आदि प्राचीन दिगम्बर आगम ग्रन्थों में और शेष परवर्ती साहित्य में सप्तभंग ही मान्य रहे हैं। अतः विद्वानों को इन भ्रमों का निवारण कर लेना चाहिए कि ऐसे संयोगों से सप्तभंगी ही क्यों अनन्त भंगी भी हो सकती है अथवा आगमों में सात भंग नहीं है अथवा सप्तभंगी भी एक परवर्ती विकास है।

सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक निर्णय प्रस्तुत करता है। सप्तभंगी में स्यात् अस्ति आदि जो सात भंग हैं, वे कथन के तार्किक आकार (Logical forms) मात्र हैं। उसमें स्यात् शब्द कथन की सापेक्षिकता का सूचक है और अस्ति एवं नास्ति कथन के विधानात्मक (Affirmative) और निषेधात्मक (Negative) होने के सूचक हैं। कुछ जैन विद्वान अस्ति को सत्ता की भावात्मकता का और नास्ति को अभावात्मकता का सूचक मानते हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण जैन दर्शन को मान्य नहीं हो सकता- उदाहरण के लिए जैन दर्शन में आत्म भाव रूप है वह अभाव रूप नहीं हो सकता है। अतः हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति अपने आप में कोई कथन नहीं हैं, अपितु कथन के तार्किक आकार हैं, वे कथन के प्रारूप हैं। उन प्रारूपों के लिए अपेक्षा तथा उद्देश्य और विधेय पदों का उल्लेख आवश्यक है। जैसे-स्याद् अस्ति भंग का ठोस उदाहरण होगा- द्रव्य की अपेक्षा आत्मा नित्य है। यदि हम इसमें अपेक्षा (द्रव्यता) और विधेय (नित्यता) का उल्लेख नहीं करें और कहें कि स्यात् आत्मा है, तो हमारा कथन भ्रम पूर्ण होगा। अपेक्षा और विधेय पद के उल्लेख के अभाव में सप्तभंगी के आधार पर किये गये कथन अनेक भ्रान्तियों को जन्म देते हैं, जिसका विशेष विवेचन हमने द्वितीय भंग की चर्चा के प्रसंग में किया है।

आधुनिक तर्कशास्त्र की दृष्टि से सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक कथन है जिसे एक हेतुफलाश्रित वाक्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। सप्तभंगी के प्रसंग में उत्पन्न भ्रान्तियों से बचने के लिए उसे निम्न सांकेतिक रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

अर्थ

U

यदि-तो (हेतुफलाश्रित कथन)

अ

अपेक्षा (द्रष्टिकोण)

संयोजन (और)

य

युगपत् (एकसाथ)

अनन्तत्वं

—

व्याघातक

4

उद्देश्य

वि

विधेय

भंगों के आगमिक रूप भंगों के सांकेतिक रूप ठोस उदाहरण

1. स्यात् अस्ति	अ ¹ ⊃ उ वि है.	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य हैं।
2. स्यात् अस्ति	अ ² ⊃ उ वि नहीं है.	यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है।
3. स्यात् अस्ति नास्ति च	अ ¹ ⊃ उ वि है. अ ² ⊃ उ वि नहीं है.	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है।
4. स्यात् अवक्तव्य	(अ ¹ . अ ²) ⁿ ⊃ उ अवक्तव्य है.	यदि द्रव्य और पर्याय दोनों ही अपेक्षा से एक साथ विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है। (क्योंकि दो भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दो अलग-अलग कथन हो सकते हैं किन्तु एक कथन नहीं हो सकता है।)
5. स्यात् अस्ति च	अ ¹ ⊃ उ वि है. (अ ¹ . अ ²) ⁿ उ अवक्तव्य है. अथवा अ ¹ ⊃ उ वि है। (अ ∞) ⁿ ⊃ उ अवक्तव्य है।	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है किन्तु यदि आत्मा का द्रव्य, पर्याय दोनों या अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है।

6. स्याद् नास्ति च
अवक्तव्य च
- अ' $\supset$ उ वि नहीं है यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है किन्तु यदि अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है।
- अथवा
अ' $\supset$ उ वि नहीं है.
(अ ∞)ⁿ $\supset$ अवक्तव्य है।
7. स्याद् अस्ति च,
नास्ति च
अवक्तव्य च
- अ' $\supset$ उ वि है यदि द्रव्य दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं किन्तु यदि अपनी अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है।
- अथवा
अ' $\supset$ उ वि है
अ' $\supset$ उ वि नहीं है है।
(अ'. अ')ⁿ य उ
अवक्तव्य है।

सप्तभंगी के प्रस्तुत सांकेतिक रूप में हमने केवल दो अपेक्षाओं का उल्लेख किया है किन्तु जैन विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसी चार अपेक्षाएं मानी हैं, उसमें भी भाव-अपेक्षा व्यापक है उसमें वस्तु की अवस्थाओं (पर्यायों) एवं गुणों दोनों पर विचार किया जाता है। किन्तु यदि हम प्रत्येक अपेक्षा की संभावनाओं पर विचार करें तो ये अपेक्षाएं भी अनन्त होंगी क्योंकि वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। अपेक्षाओं की इन विविध सम्भावनाओं पर विस्तार से विचार किया जा सकता है। किन्तु इस छोटी सी भूमिका में यह सम्भव नहीं है।

इस सप्तभंगी का प्रथम भंग “स्यात् अस्ति” है। यह स्वचतुष्टय को अपेक्षा से तत्त्व के भावात्मक धर्म या धर्मों का विधान करता है। जैसे अपने द्रव्य की अपेक्षा से यह घड़ा मिट्टी का है, क्षेत्र की अपेक्षा से इन्दौर नगर में बना हुआ है, काल की अपेक्षा से शिशिर ऋतु का बना हुआ है, भाव अर्थात् वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से लाल रंग का है या घटाकार है आदि। इस प्रकार वस्तु के स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से उसके भावात्मक गुणों का विधान करना यह प्रथम ‘अस्ति’ नामक भंग का कार्य है। दूसरा स्यात् “नास्ति” नामक भंग वस्तुतत्त्व के अभावात्मक धर्म या धर्मों की अनुपस्थिति या नास्तित्व की सूचना देता है। वह यह बताता है कि वस्तु में स्व से भिन्न पर-चतुष्टय का अभाव है। जैसे यह घड़ा ताम्बे का नहीं है, भोपाल नगर से बना हुआ नहीं है, ग्रीष्म ऋतु का बना हुआ नहीं है,

कृष्ण वर्ण का नहीं है आदि। मात्र इतना ही नहीं यह भंग इस बात को भी स्पष्ट करता है कि यह घड़ा पुस्तक, टेबल, कलम, मनुष्य आदि नहीं है। जहाँ प्रथम भंग यह कहता है कि घड़ा घड़ा ही है, वहाँ दूसरा भंग यह बताता है कि घड़ा, घट इतर अन्य कुछ नहीं है। कहा गया है कि “सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च” अर्थात् सभी वस्तुओं की सत्ता स्वरूप से है पररूप से नहीं। यदि वस्तु में अन्य वस्तुओं के गुण धर्मों की सत्ता भी मान ली जायेगी तो फिर वस्तुओं का पारस्परिक भेद ही समाप्त हो जायेगा और वस्तु का स्व-स्वरूप ही नहीं रह जायेगा, अतः वस्तु में पर-चतुष्टय का निषेध करना द्वितीय भंग है। प्रथम भंग बताता है कि वस्तु क्या है, जबकि दूसरा भंग यह बताता है कि वस्तु क्या नहीं है। सामान्यतया इस द्वितीय भंग को ‘स्यात् नास्ति घटः’ अर्थात् किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है, इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु इसके प्रस्तुतीकरण का यह ढंग थोड़ा भ्रान्तिजनक अवश्य है, स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि प्रथम भंग में घट के अस्तित्व का जो विधान किया गया था, उसी का द्वितीय भंग में निषेध कर दिया गया और ऐसी स्थिति में स्याद्वाद को सन्देहवाद या आत्मा विरोधी कथन करने वाला सिद्धान्त समझ लेने की भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। शंकर प्रभृति विद्वानों ने स्याद्वाद की जो आलाचेना की थी, उसका मुख्य आधार यही भ्रान्ति है। “स्यात् नास्ति घटः” में जब स्यात् शब्द को दृष्टि से ओझल कर या उसे सम्भावना के अर्थ में ग्रहण कर ‘अस्ति’ और ‘नास्ति’ पर बल दिया जाता है तो आत्म-विरोध का आभास होने लगता है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ स्याद्वाद का प्रतिपादन करने वाले किसी आचार्य की दृष्टि में द्वितीय भंग का कार्य प्रथम भंग में स्थापित किये गये गुणधर्म का उसी उपेक्षा से निषेध करना नहीं है, अपितु या तो प्रथम भंग में अस्ति रूप माने गये गुण धर्म से इतर गुण धर्मों का निषेध करना है अथवा फिर अपेक्षा को बदल कर उसी गुण धर्म का निषेध करना होता है और इस प्रकार द्वितीय भंग प्रथम भंग के कथन को पुष्ट करता है, खण्डित नहीं। यदि द्वितीय भंग के कथन को उसी अपेक्षा से प्रथम भंग का निषेधक या विरोधी मान लिया जायेगा तो निश्चय यह सिद्धान्त संशयवाद या आत्म-विरोध के दोषों से ग्रसित हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि प्रथम भंग में ‘स्यादस्त्येव घटः’ का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा है और द्वितीय भंग नास्त्येव ‘स्याद् नास्त्येव घटः’ का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है, ऐसा करेंगे तो आभासी रूप से ऐसा लगेगा कि दोनों कथन विरोधी हैं। क्योंकि इन कथनों के भाषायी स्वरूप से ऐसा आभास होता है कि इन कथनों में घट के अस्तित्व और नास्तित्व को ही सूचित किया गया है। जबकि जैन आचार्यों की दृष्टि में इन

कथनों का बल उनमें प्रयुक्त “स्यात्” शब्द में ही है, वे यह नहीं मानते हैं कि द्वितीय भंग प्रथम भंग में स्थापित सत्य का प्रतिषेध करता है। दोनों भंगों में घट के सम्बन्ध में जिनका विधान या निषेध किया गया है वे अपेक्षाश्रित धर्म हैं न कि घट का स्वयं का अस्तित्व या नास्तित्व। पुनः दोनों भंगों के “अपेक्षाश्रित धर्म” एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं। दूसरे भंग में जिन अपेक्षाश्रित धर्मों का निषेध हुआ है, वे दूसरे अर्थात् पर-चतुष्टय के हैं अतः प्रथम भंग के विधान और द्वितीय भंग के निषेध में कोई आत्म विरोध नहीं है। मेरी दृष्टि में इस भ्रान्ति का मूल कारण प्रस्तुत वाक्य में उस विधेय पद (Predicate) के स्पष्ट उल्लेख का अभाव है, जिसका कि विधान या निषेध किया जाता है। यदि “नास्ति” पद को विधेय स्थानीय माना जाता है तो पुनः यहाँ यह भी प्रश्न उठ सकता है कि जो घट अस्ति रूप है, वह नास्ति रूप कैसे हो सकता है? यदि यह कहा जाये कि पर द्रव्यादि की अपेक्षा से घट नहीं है, किन्तु पर द्रव्यादि घट के अस्तित्व के निषेधक कैसे बने सकते हैं।

यद्यपि यहाँ पूर्वाचार्यों का मन्तव्य स्पष्ट है कि वे घट का नहीं, अपितु घट में पर द्रव्यादि का भी निषेध करना चाहते हैं। वे कहना यह चाहते हैं कि घट, पट नहीं है या घट में पट आदि के धर्म नहीं हैं, किन्तु स्मरण रखना होगा कि इस कथन में प्रथम और द्वितीय भंग में अपेक्षा नहीं बदली है। यदि प्रथम भंग से यह कहा जाये कि घड़ा मिट्टी का है और दूसरे भंग में यह कहा जाये कि घड़ा पीतल का नहीं है तो दोनों में अपेक्षा एक ही है अर्थात् दोनों कथन द्रव्य की या उपादान की अपेक्षा से हैं। अब दूसरा उदाहरण लें – किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य है, किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य नहीं है, यहाँ दोनों भंगों में अपेक्षा बदल जाती है। यहाँ प्रथम भंग में द्रव्य की अपेक्षा से घड़े को नित्य कहा गया और दूसरे भंग में पर्याय की अपेक्षा से घड़े को नित्य नहीं कहा गया है। द्वितीय भंग के प्रतिपादन के ये दोनों रूप भिन्न-भिन्न हैं। दूसरे, यह कहना कि परचतुष्टय की अपेक्षा से घट नहीं है या पटी की अपेक्षा घट नहीं है, भाषा की दृष्टि से थोड़ा भ्रान्तिजनक अवश्य है क्योंकि परचतुष्टय वस्तु की सत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। वस्तु में परचतुष्टय अर्थात् स्व-भिन्न पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अभाव तो होता है किन्तु उनकी अपेक्षा वस्तु का अभाव नहीं होता है। क्या यह कहना कि कुर्सी की अपेक्षा टेबल नहीं है या पीतल की अपेक्षा यह घड़ा नहीं है, भाषा के अभ्रान्त प्रयोग हैं? इस कथन में जैनाचार्यों का आशय तो यही है कि टेबल कुर्सी नहीं या घड़ा पीतल का नहीं है। अतः परचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु नहीं है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना कि वस्तु में परचतुष्टय का अभाव है, भाषा का सम्यक् प्रयोग होगा।

विद्वानों से मेरी विनती है कि वे सप्तभंगी के विशेष रूप में द्वितीय एवं तृतीय भंग के भाषा के स्वरूप पर और स्वयं उनके आकारिक स्वरूप पर पुनर्विचार करें और आधुनिक तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में उसे पुनर्गठित करेंगे तो जैन न्याय के क्षेत्र में एक बड़ी उपलब्धि होगी क्योंकि द्वितीय एवं तृतीय भंगों की कथन विधि के विविध रूप परिलक्षित होते हैं। अतः यहाँ द्वितीय भंग के विविध स्वरूपों पर थोड़ा विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। मेरी दृष्टि में द्वितीय भंग के निम्न चार रूप हो सकते हैं :-

सांकेतिक रूप

- (1) प्रथम भंग - अ'⊃ उ वि है
प्रथम भंग - अ''⊃ उ नहीं है
- (2) प्रथम भंग - अ'⊃ उ वि है
द्वितीय भंग - अ''⊃ उ~वि है
- (3) प्रथम भंग - अ'⊃ उ वि है
द्वितीय भंग - अ''⊃ उ~वि नहीं है

उदाहरण

प्रथम भंग में जिस धर्म (विधेय) का विधान किया गया है। अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंग में उसी धर्म (विधेय) का निषेध कर देना। जैसे: **द्रव्यदृष्टि** से घड़ा नित्य है। **पर्यायदृष्टि** से घड़ा नित्य नहीं है।

(2) प्रथम भंग में जिस धर्म का विधान किया गया है, अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म का प्रतिपादन कर देना है। जैसे - **द्रव्यदृष्टि** से घड़ा नित्य है **पर्यायदृष्टि** से घड़ा अनित्य है।

(3) प्रथम भंग में प्रतिपादित धर्मों को पुष्ट करने हेतु उसी अपेक्षा से द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म या भिन्न धर्म का वस्तु में निषेध कर देना।

जैसे - **रंग की दृष्टि** से यह कमीज नीली है।

रंग की दृष्टि से यह कमीज पीली नहीं है।

अथवा

अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में चेतन है।

अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा अचेतन नहीं है।

अथवा

उपादान की दृष्टि से यह घड़ा मिट्टी का है।

उपादान की दृष्टि से यह घड़ा स्वर्ण का नहीं है।

(4) प्रथम भंग - अ¹ ⊃ उ है
द्वितीय भंग- अ² ⊃ उ नहीं है

(4) जब प्रतिपादित कथन देश या काल या दोनों के सम्बन्ध में हो तब देश-काल आदि की अपेक्षा को बदलकर प्रथम भंग में प्रतिपादित कथन का निषेध कर देना।

जैसे - 27 नवम्बर की अपेक्षा से मैं यहाँ पर हूँ।
20 नवम्बर की अपेक्षा से मैं यहाँ पर नहीं था।

द्वितीय भंग के उपरोक्त चारों रूपों में प्रथम और द्वितीय रूप में बहुत अधिक मौलिक भेद नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ प्रथम रूप में एक ही धर्म का प्रथम भंग में विधान और दूसरे भंग में निषेध होता है, वहाँ दूसरे रूप में दोनों भंगों में अलग-अलग रूप में दो विरुद्ध धर्मों का विधान होता है। प्रथम रूप की आवश्यकता तब होती है जब वस्तु में एक ही गुण अपेक्षा भेद से कभी उपस्थित रहे और कभी उपस्थित नहीं रहे। इस रूप के लिए वस्तु में दो विरुद्ध धर्मों के युगल का होना जरूरी नहीं है, जबकि दूसरे रूप का प्रस्तुतीकरण केवल उसी स्थिति में सम्भव होता है, जबकि वस्तु में धर्म विरुद्ध युगल हो। तीसरा रूप तब बनता है, जबकि उस वस्तु में प्रतिपादित धर्म के विरुद्ध धर्म की उपस्थिति ही न हो। चतुर्थ रूप की आवश्यकता तब होती है, जब कि हमारे प्रतिपादन में विधेय का स्पष्ट रूप से उल्लेख न हो। द्वितीय भंग के पूर्वोक्त रूपों में प्रथम रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) वही रहता है और क्रियापद निषेधात्मक होता है। द्वितीय रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध धर्म (विधेयक का व्याघातक पद) होता है, और क्रियापद विधानात्मक होता है। तृतीय रूप से अपेक्षा वही रहती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध या विपरीत पद रखा जाता है और क्रियापद निषेधात्मक होता है तथा अन्तिम चतुर्थ रूप में अपेक्षा बदलती है और प्रतिपादित कथन का निषेध कर दिया जाता है।

सप्तभंगी की तीसरा मौलिक भंग अवक्तव्य है अतः यह विचारणीय है कि इस भंग की योजना का उद्देश्य क्या है? सामान्यतया यह माना जाता है कि वस्तु में एक ही समय में रहते हुए सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि विरुद्ध धर्मों का युगपत् अर्थात् एक साथ प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द नहीं है। अतः विरुद्ध धर्मों की एक साथ अभिव्यक्ति की शाब्दिक असमर्थता के कारण अवक्तव्य भंग की योजना की गई है, किन्तु अवक्तव्य का यह अर्थ उसका एकमात्र अर्थ नहीं है। यदि हम अवक्तव्य शब्द पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं तो उसके अर्थ में एक विकास देखा जाता है। डॉ पद्मराजे ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है -

- (1) पहला वेदकालीन विषेधात्मक दृष्टिकोण, जिसमें विश्व कारण की खोज करते हुए ऋषि उस कारण तत्त्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता है, यहाँ दोनों पक्षों का निषेध है।
- (2) दूसरा औपनिषदिक विधानात्मक दृष्टिकोण, जिसमें सत्, असत् आदि विरोधी तत्त्वों में समन्वय देखा जाता है, जैसे “तदेजति तन्नेजति” “अणोरणीयान् महतो महीयान्” आदि। यहाँ दोनों पक्षों की स्वीकृति है।
- (3) तीसरा दृष्टिकोण जिसमें तत्त्व को स्वरूपतः अव्यपदेश्य या अनिर्वचनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में ही मिलता है उसे “यतो वाचो निवर्तन्ते”, यद्वाचानभ्युदितं, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्याः आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद की चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व की धारणा में भी बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।
- (4) चौथा दृष्टिकोण जैन न्याय में सापेक्षिक अवक्तव्यता या सापेक्षिक अनिर्वचनीयता के रूप में विकसित हुआ है।

सामान्यतया अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते हैं-

- (1) सत् व असत् दोनों का निषेध करना।
- (2) सत्, असत् और सदसत् तीनों का निषेध करना।
- (3) सत्-असत्, सत्-असत् (उभय) और न सत् न असत् (अनुभव) चारों का निषेध करना।
- (4) वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अवक्तव्य मानना, अर्थात् यह कि वस्तुतत्त्व अनुभव में तो आ सकता है किन्तु कहा नहीं जा सकता।
- (5) सत् और असत् दोनों को युगपत् रूप से स्वीकार करना, किन्तु उसके युगपत्कथन के लिए कोई शब्द न होने के कारण अवक्तव्य कहना।
- (6) वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसलिए उसमें जितने धर्म हैं, उतने वाचक शब्द नहीं हैं अतः वाचक शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशतः वाच्य और अंशतः अवाच्य मानना।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन विचार परम्परा में इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यतया जैन परम्परा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् और असत् दोनों का युगपत् विवेचन नहीं किया जा सकता है इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है, किन्तु यदि हम प्राचीन जैन आगमों को देखें तो अवक्तव्यता का यह

अर्थ अन्तिम नहीं कहा जा सकता। आचारांगसूत्र (१-५-१७१) में आत्मा के स्वरूप को जिस रूप में वचनागोचर कहा गया है वह विचारणीय है। वहाँ कहा गया है कि “आत्मा ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है। वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं हैं। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता है क्योंकि उसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है, अरूपी सत्तावान है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।” इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है। पुनः वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता और शब्दसंख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्त्व को अवक्तव्य माना गया है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में अनभिलाष्य भाग ही कथन किया जाने योग्य है (गोम्मटसार, जीव ३३४)। अतः यह मान लेना उचित नहीं है कि जैन परम्परा में अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

इस प्रकार जैन दर्शन में अवक्तव्यता के चौथे, पाँचवें और छठें अर्थ मान्य रहे हैं। फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष अवक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता में जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नहीं। वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य तो नहीं है किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुतत्त्व को पूर्णतया अवक्तव्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान-प्रदान का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। अतः जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह निर्वचनीय भी है। सत्ता अंशतः निर्वचनीय है और अंशतः अनिर्वचनीय, क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट पाँच अर्थों में से पहले दो को छोड़कर अन्तिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है। मेरी दृष्टि में अवक्तव्य भंग का भी एक ही रूप नहीं है, प्रथम तो “है” और “नहीं” है। ऐसे विधि-प्रतिषेध का युगपद् (एक ही साथ) प्रतिपादन सम्भव नहीं है, अतः अवक्तव्य भंग की योजना है। दूसरे निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्त्व का कथन सम्भव नहीं है, अतः वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। तीसरे अपेक्षाएँ अनन्त हो सकती हैं। किन्तु अनन्त अपेक्षाओं से युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन संभव नहीं है इसलिए भी उसे अवक्तव्य मानना होगा। इसके निम्न तीन प्रारूप हैं —

1. $(A^1 \cdot A^2)^p \supset \text{उ अवक्तव्य है,}$
2. $\sim A \supset \text{उ अवक्तव्य है,}$
3. $(A^\infty)^p \supset \text{उ अवक्तव्य है।}$

सप्तभंगी के शेष चारों भंग सांयोगिक हैं। विचार की स्पष्ट अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनका महत्त्व तो अवश्य है किन्तु इनका अपना कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं है, ये अपने संयोगी मूलभंगों की अपेक्षा को दृष्टिगत रखते हुए ही वस्तुस्वरूप का स्पष्टीकरण करते हैं। अतः इन पर यहाँ विस्तृत विचार अपेक्षित नहीं है।

सप्तभंगी और त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र

वर्तमान युग में पाश्चात्य तर्कशास्त्र के विचारकों में ल्युसाइविक ने एक नयी दृष्टि दी है, उसके अनुसार तार्किक निर्णयों में केवल सत्य, असत्य ऐसे दो मूल्य ही नहीं होते, अपितु सत्य, असत्य और सम्भावित सत्य ऐसे तीन मूल्य होते हैं। इसी संदर्भ में डॉ. एस.एस. बारलिंगे ने जैन न्याय को त्रिमूल्यात्मक सिद्ध करने का प्रयास जयपुर की एक गोष्ठी में किया था। जहाँ तक जैनन्याय या स्याद्वाद के सिद्धांत का प्रश्न है, उसे त्रिमूल्यात्मक माना जा सकता है क्योंकि जैन न्याय में प्रमाण, सुनय और दुर्नय ऐसे तीन क्षेत्र माने गये हैं, इसमें प्रमाण सुनिश्चित सत्य, सुनय सम्भावित सत्य और दुर्नय असत्यता के परिचायक हैं। पुनः जैन दार्शनिकों ने प्रमाणवाक्य और नयवाक्य ऐसे दो प्रकार के वाक्य मानकर प्रमाणवाक्य को सकलादेश (सुनिश्चित सत्य या पूर्ण सत्य) और नयवाक्य को विकलादेश (सम्भावित सत्य या आंशिक सत्य) कहा है। नयवाक्य को न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य। अतः सत्य और असत्य के मध्य एक तीसरी कोटि आंशिक सत्य या सम्भावित सत्य मानी जा सकती है। पुनः वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता अन्य सम्भावनाओं को निरस्त नहीं करती है और स्याद्वाद उस कथित सत्यता के अतिरिक्त अन्य सम्भावित सत्यताओं को स्वीकार करता है।

इस प्रकार जैन दर्शन की वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता तथा प्रमाण, नय और दुर्नय की धारणाओं के आधार पर स्याद्वाद सिद्धांत त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र (Three Valued logic) या बहुमूल्यात्मक तर्कशास्त्र (Many Valued logic) का समर्थक माना जा सकता है किन्तु जहां तक सप्तभंगी का प्रश्न है उसे त्रिमूल्यात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें नास्ति नामक भंग एवं अवक्तव्य नामक भंग क्रमशः असत्य एवं अनियतता (Indeterminate) के सूचक नहीं हैं। सप्तभंगी का प्रत्येक भंग सत्य-मूल्य का सूचक है यद्यपि जैन विचारकों ने प्रमाण-सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी के रूप में सप्तभंगी के जो दो रूप माने हैं, उसके आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि प्रमाण-सप्तभंगी के सभी भंग सुनिश्चित सत्यता और नय सप्तभंगी

के सभी भंग सम्भावित या आंशिक सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। असत्य का सूचक तो केवल दुर्नय ही है। अतः सप्तभंगी त्रिमूल्यात्मक नहीं है। यह तो अनेकांत के सैद्धान्तिक पक्ष की चर्चा हुई, अब हम उसके व्यावहारिक पक्ष की चर्चा करेंगे।

(II)

अनेकान्त एक व्यावहारिक पद्धति

अनेकान्तवाद एक दार्शनिक सिद्धान्त होने की अपेक्षा दार्शनिक मन्तव्यों, मान्यताओं और स्थापनाओं को उनके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की पद्धति (Method) विशेष है। इस प्रकार अनेकान्तवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने, समझने और समझाने का प्रयास करना है अतः वह सत्य के खोज की एक व्यावहारिक पद्धति है, तो सत्ता (Reality) को उसके विविध आयामों में देखने का प्रयत्न करती है। दार्शनिक विधियां दो प्रकार की होती हैं - 1. तार्किक या बौद्धिक और 2. आनुभाविक। तार्किक विधि सैद्धान्तिक होती है, वह दार्शनिक स्थापनाओं में तार्किक संगति को देखती है। इसके विपरीत आनुभाविक विधि सत्य की खोज तर्क के स्थान पर मानवीय अनुभूतियों के सहारे करती है। उसके लिए तार्किक संगति की अपेक्षा आनुभाविक संगति ही अधिक महत्वपूर्ण होती है। अनेकान्तवाद की विकास यात्रा इसी आनुभाविक पद्धति के सहारे चलती है। उसका लक्ष्य 'सत्य' क्या है यह बताने की अपेक्षा सत्य कैसा अनुभूत होता है - यह बताना है। अनुभूतियां वैयक्तिक होती हैं और इसीलिए अनुभूतियों के आधार पर निर्मित दर्शन भी विविध होते हैं। अनेकांत का कार्य उन सभी दर्शनों की सापेक्षिक सत्यता को उजागर करके उनमें रहे हुए विरोधों को समाप्त करना है। इस प्रकार अनेकांत एक सिद्धान्त होने की अपेक्षा एक व्यावहारिक पद्धति ही अधिक है। यही कारण है कि अनेकान्तवाद की एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्थापना करने वाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई. चतुर्थ शती) को भी अनेकान्तवाद की इस व्यावहारिक महत्ता के आगे नतमस्तक होकर कहना पड़ा -

जेण विणा लोगस्स वि व्यवहारो सब्बहा ण णिव्वहइ।

तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।

सन्मति-तर्क-प्रकरण-3/70

अर्थात् जिसके बिना लोक-व्यवहार का निर्वहन भी सर्वथा सम्भव नहीं है, उस संसार के एक मात्र गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेकान्तवाद एक व्यावहारिक दर्शन है। इसकी महत्ता उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर निर्भर है। उसका जन्म दार्शनिक विवादों के सर्जन के लिए नहीं, अपितु उनके निराकरण के लिए हुआ है। दार्शनिक विवादों के बीच समन्वय के सूत्र खोजना ही अनेकान्तवाद की व्यावहारिक उपादेयता का प्रमाण है। अनेकान्तवाद का यह कार्य त्रिविध है -

1. प्रत्येक दार्शनिक अवधारणा के गुण-दोषों की समीक्षा करना और इस समीक्षा में यह देखने का प्रयत्न करना कि उसकी हमारे व्यावहारिक जीवन में क्या उपयोगिता है। जैसे बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद और अनात्मवाद की समीक्षा करते हुए यह देखना कि तृष्णा के उच्छेद के लिए क्षणिकवाद और अनात्मवाद की दार्शनिक अवधारणाएं कितनी आवश्यक एवं उपयोगी हैं।
2. प्रत्येक दार्शनिक अवधारणा की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करना और यह निश्चित करना कि उसमें जो सत्यांश है, वह किसी अपेक्षा विशेष से है। जैसे यह बताना कि सत्ता की नित्यता की अवधारणा द्रव्य की अपेक्षा से अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा की सत्य है और सत्ता की अनित्यता उसकी पर्याय की अपेक्षा से औचित्यपूर्ण है। इस प्रकार वह प्रत्येक दर्शन की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करता है और वह सापेक्षिक सत्यता किस अपेक्षा से है, उसे भी स्पष्ट करता है।
3. अनेकान्तवाद का तीसरा महत्वपूर्ण उपयोगी कार्य विभिन्न एकांतिक मान्यताओं को समन्वय के सूत्र में पिरोकर उनके एकान्त रूपी दोष का निराकरण करते हुए उनके पारस्परिक विद्वेष का निराकरण कर उनमें सौहार्द और सौमनस्य स्थापित कर देना है। जिस प्रकार एक वैद्य किसी विष विशेष के दोषों की शुद्धि करके उसे औषधि बना देता है उसी प्रकार अनेकान्तवाद भी दर्शनों अथवा मान्यताओं के एकान्तरूपी विष का निराकरण करके उन्हें एक दूसरे का सहयोगी बना देता है। अनेकान्तवाद के उक्त तीनों ही कार्य (Functions) उसकी व्यावहारिक उपादेयता को स्पष्ट कर देते हैं।

अनेकान्तवाद का व्यावहारिक पक्ष

अनेकान्त का व्यावहारिक जीवन में क्या मूल्य और महत्त्व है, इसका यदि ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें सर्वप्रथम उसका उपयोग विवाद पराङ्मुखता के साथ-साथ परपक्ष की अनावश्यक आलोचना व स्वपक्ष की अतिरेक प्रशंसा से बचना है। इस प्रकार का निर्दोश हमें सर्वप्रथम सूत्रकृतांग (१/१/२/२३) में मिलता है। जहाँ यह कहा गया है कि जो अपने पक्ष की प्रशंसा और पर पक्ष की निन्दा में रत हैं, वे दूसरों के प्रति द्वेष वृत्ति का विकास करते हैं, परिणाम स्वरूप संसार में भ्रमण करते हैं। साथ ही महावीर चाहते थे कि इस अनेकान्त शैली के माध्यम से कथ्य का सम्यक् रूप से स्पष्टीकरण हो और इस तरह का प्रयास उन्होंने भगवतीसूत्र में अनेकान्तिक उत्तरों के माध्यम से किया है। जैसे जब उनसे पूछा गया कि सोना अच्छा है या जागना तो उन्होंने कहा कि पापियों का सोना व धार्मिकों का जागना अच्छा है। जैन दार्शनिकों में इस अनेकान्तदृष्टि का व्यावहारिक प्रयोग सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने किया। उन्होंने उद्घोष किया कि संसार के एकमात्र

गुरु उस अनेकान्तवाद को नमस्कार है जिससे बिना संसार का व्यवहार ही असम्भव है। परमतत्त्व या परमार्थ की बात बहुत की जा सकती है किन्तु वह मनुष्य जो इस संसार में रहता है उसके लिए परमार्थ सत्य की बात करना उतनी सार्थक नहीं है जितनी व्यवहार जगत् की और व्यवहार का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ अनेकान्त दृष्टि के बिना काम नहीं चलता है। परिवार के एक ही स्त्री को कोई पत्नी कहता है, कोई पुत्रवधू कहता है, कोई मां कहता है तो कोई दादी, कोई बहन कहता है तो कोई चाची, नानी आदि नामों से पुकारता है। एक व्यक्ति के सन्दर्भ में विभिन्न पारिवारिक संबंधों की इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में भी अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो किसी एक तात्त्विक एकान्तवादी अवधारणा के आधार पर नहीं सुलाझाए जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में यदि हम एकान्तरूप से व्यक्ति को परिवर्तनशील मानते हैं तो आधुनिक शिक्षा प्रणाली में परीक्षा, प्रमाणपत्र व उसके आधार पर मिलने वाली नौकरी आदि में एकरूपता नहीं होगी। यदि व्यक्ति परिवर्तनशील है, क्षण-क्षण बदलता ही रहता है तो अध्ययन करने वाला छात्र भिन्न होगा और जिसे प्रमाण पत्र मिलेगा वह परीक्षा देने वाले से भिन्न होगा और उन प्रमाण पत्रों के आधार पर जिसे नौकरी मिलेगी व उनसे पृथक् होगा। इस प्रकार व्यवहार के क्षेत्र में असंगतियां होंगी, यदि इसके विरुद्ध हम यह मानें कि व्यक्तित्व में परिवर्तन ही नहीं होता तो उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था निरर्थक होगी। इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि का मूल आधार व्यवहार की समस्याओं का निराकरण करना है। प्राचीन आगमों में इसका उपयोग विवादों और आग्रहों से बचने तथा कथनों को स्पष्ट करने के लिए ही किया गया है। सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग दार्शनिक विराधों के समन्वय की दिशा में किया। उन्होंने एक ओर परस्पर विरोधी एकान्तिक मान्यताओं में दोषों की उद्घावना करके बताया कि कोई भी एकान्तिक मान्यता न तो व्यावहारिक है न ही सत्ता का सम्यक् एवं सत्य स्वरूप ही प्रस्तुत करती है। किन्तु उनकी विशेषता यह है कि वे केवल दोषों की उद्घावना करके ही सीमित नहीं रहे अपितु उन्होंने उन परस्पर विरोधी धारणाओं में निहित सत्यता का भी दर्शन किया और सत्य के समग्र स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्हें समन्वित करने का भी प्रयत्न किया। जहाँ उनके पूर्व तक दूसरे दर्शनों को मिथ्या कहकर उनका माखौल उड़ाया जाता था, वहीं उन्होंने विभिन्न नयों के आधार पर उनकी सत्यता को स्पष्ट किया। मात्र यही नहीं जिन मत को भी मिथ्या-मत समूह कहकर उन सभी के प्रति समादर का भाव प्रकट किया। सिद्धसेन के पश्चात् यद्यपि समन्तभद्र ने भी ऐसा ही एक प्रयास किया और विभिन्न दर्शनों में निहित सापेक्षिक सत्त्यों को विभिन्न नयों के आधार पर व्याख्यायित किया फिर भी जिन मत को मिथ्या-मत समूह कहने का जो साहस सिद्धसेन के चिन्तन में

था, वह समंतभद्र के चिंतन में नहीं आ पाया। सिद्धसेन और समंतभद्र के पश्चात् जिस दार्शनिक ने अनेकान्त दृष्टि की समन्वयशीलता का सर्वाधिक उपयोग किया वे आचार्य हरिभद्र हैं-हरिभद्र से पूर्व दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द ने भी एक प्रयत्न किया था। उन्होंने नियमसार में व्यक्ति की बहुआयामिता को स्पष्ट करते हुए यह कहा था कि व्यक्ति को स्वमत में व परमत में विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। किन्तु अनेकांत दृष्टि से विभिन्न दर्शनों में पारस्परिक समन्वय का जो प्रयत्न हरिभद्र ने, विशेष रूप से अपने ग्रंथ शास्त्रवार्तासमुच्चय में किया वह निश्चय ही विरल है। हरिभद्र ने अनेक प्रसंगों में अपनी वैचारिक उदारता व समन्वयशीलता का परिचय दिया है जिसकी चर्चा हमने अपने लघु पुस्तिका, 'आचार्य हरिभद्र व उनका अवदान', में की है। विस्तारभय से हम उन सब में यहाँ जाना नहीं चाहते। अनेकान्त की इस उदार शैली का प्रभाव परवर्ती जैन आचार्यों पर भी रहा और यही कारण था कि दूसरे दर्शनों की समालोचना करते हुए भी वे आग्रही नहीं बने और उन्होंने एक सीमा तक उनमें निहित सत्यों को देखने का प्रयत्न किया।

दार्शनिक विचारों के समन्वय का आधार अनेकांतवाद

भगवान् महावीर और बुद्ध के समय भारत में वैचारिक संघर्ष और दार्शनिक विवाद अपने चरम सीमा पर थे। जैन आगमों के अनुसार उस समय 363 और बौद्ध आगमों के अनुसार 62 दार्शनिक मत प्रचलित थे। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता थी, जो लोगों को आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठकर सही दिशा निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध ने इस आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद पराङ्मुखता को अपनाया। सुत्तनिपात में वे कहते हैं कि 'मैं विवाद के दो फल बताता हूँ। एक तो वह अपूर्ण व एकांगी होता है और दूसरे कलह एवं अशान्ति का कारण होता है। अतः निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाला साधक विवाद में न पड़े (सुत्तनिपात 51-21)'। बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित सभी पर विरोधी दार्शनिक दृष्टिकोणों को सदोष बताया और इस प्रकार अपने को किसी भी दार्शनिक मान्यता के साथ नहीं बांधा। वे कहते हैं कि पंडित किसी दृष्टि या वाद में नहीं पड़ता (सुत्तनिपात-51-3) बुद्ध की दृष्टि में दार्शनिक वादविवाद निर्वाण मार्ग के साधक के कार्य नहीं है (सुत्तनिपात-46-8-9) अनासक्त, मुक्त पुरुष के पास विवाद रूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता। इसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी आग्रह को साधना का सम्यक् पथ नहीं समझा। उन्होंने कहा कि आग्रह, मतान्धता या एकांगी दृष्टि उचित नहीं है जो व्यक्ति अपने मत की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करने में ही पांडित्य दिखाते हैं, वे संसार चक्र में घूमते रहते हैं (सूत्रकृतांग १/१/२-२३)। इस प्रकार भगवान् महावीर व बुद्ध दोनों ही उस युग की आग्रह वृत्ति एवं मतान्ध

ता से जन मानस को मुक्त करना चाहते थे फिर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में थोड़ा अन्तर था। जहाँ बुद्ध इन विवादों से बचने की सलाह दे रहे थे, वहीं महावीर इनके समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत कर रहे थे, जिसका परिणाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद विविध दार्शनिक एकान्तवादों में समन्वय करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि से अनित्यवाद-क्षणिकवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, भेदवाद-अभेदवाद आदि सभी वस्तु स्वरूप के आंशिक पक्षों को स्पष्ट करते हैं। इनमें से कोई भी असत्य तो नहीं है किन्तु पूर्ण सत्य भी नहीं है। यदि इनको कोई असत्य बनाता है तो वह आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लेने का उनका आग्रह ही है। स्याद्वाद अपेक्षा भेद से इन सभी के बीच समन्वय करने का प्रयास करता है और यह बताता है कि सत्य तभी असत्य बन जाता है, जबकि हम आग्रही दृष्टि से उसे देखते हैं। यदि हमारी हम हमारी दृष्टि को या अपने को आग्रह से ऊपर उठाकर देखें तो हमें सत्य का दर्शन हो सकता है। सत्य का सच्चा प्रकाश केवल अनाग्रही को ही मिल सकता है। महावीर के प्रथम शिष्य गौतम का जीवन स्वयं इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। गौतम के केवलज्ञान में आखिर कौन सा तत्त्व बाधक बन रहा था? महावीर ने स्वयं इसका समाधान करते हुए गौतम से कहा था कि हे गौतम तेरा मेरे प्रति जो ममत्व है यही तेरे केवलज्ञान (सत्य दर्शन) का बाधक है। महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन आग्रह के घेरे में रहकर नहीं किया जा सकता। आग्रह बुद्धि या दृष्टिराग सत्य को असत्य बना देता है। सत्य का प्रकटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है, विरोध में नहीं, समन्वय में होता है। सत्य का साधक अनाग्रही और वीतराग होता है, उपाध्याय यशोविजयजी स्याद्वाद की इसी अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि को स्पष्ट करते हुए अध्यात्मोपनिषद् में लिखते हैं -

यस्य सर्वत्र समता नयेषु, तनयेष्विव ।

तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी । १६१

तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शन तुल्यताम् ।

मोक्षेद्देशाविशेषेण यः पश्यति सः शास्त्रवित् । १७०

माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्ध्यति ।

स एव धर्मवादः स्यादन्यद्वालिशवल्गनम् । १७१

माध्यस्थ्य सहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा ।

शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना । १७३

सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण दृष्टिकोणों (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्र को, क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। सच्चा शास्त्रज्ञ

कहे जाने का अधिकारी तो वही है, जो स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। वास्तव में माध्यस्थ्य भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्या है। माध्यस्थ्य भाव रहने पर शास्त्र के पद का ज्ञान भी सफल है अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृथा है। क्योंकि जहाँ आग्रह बुद्धि होती है वहाँ विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन संभव नहीं होता। वस्तुतः शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, भेदवाद, अभेदवाद, द्वैतवाद, हेतुवाद, नियतिवाद, पुरुषार्थवाद, आदि जितने भी दार्शनिक मत-मतान्तर हैं, वे सभी परम सत्ता के विभिन्न पहलुओं से लिये गये चित्र हैं और आपेक्षिक रूप से सत्य हैं। द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टि के आधार पर इन विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय किया जा सकता है। अतः एक सच्चा स्याद्वादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है, वह सभी दर्शनों का आराधक होता है परमयोगी आनन्दघनजी लिखते हैं-

षट् दरसन जिन अंग भणाजे, न्याय षडंग जो साधे रे।

नमि जिनवरना चरण उपासक, षददर्शन आराधे रे।।1।।

जिन सुर पादप पाय बखाणुं, सांख्य जोग दोय भेदे रे।

आतम सत्ता विवरण करता, लही दुय अंग अखेदे रे।।2।।

भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिन पर दोय कर भारी रे।

लोकालोक अवलंबन भजिये, गुरुगमथी अवधारी रे।।3।।

लोकायतिक सुख कूख जिनवरकी, अंश विचार जो कीजे।

तत्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे।।4।।

जैन जिनेश्वर उत्तम अंग, अंतरंग बहिरंग रे।

अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे।।5।।

सभी धर्म साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं एवं तृष्णा की समाप्ति रहा है। जहाँ जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता होना और बौद्ध दर्शन की साधना का लक्ष्य वीततृष्णा होना माना गया है। वहीं वेदान्त में अहं और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है। लेकिन क्या एकांत या आग्रह वैचारिक राग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं के ही रूप नहीं हैं और जब तक वे उपस्थित हैं, धार्मिक साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी? जिन साधना पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से मताग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः धर्म का आविर्भाव मानव

जाति में शांति और सहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था लेकिन आज वही धर्म मनुष्य-मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है। धार्मिक मतान्धता में हिंसा, संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अत्याचार क्या नहीं हो रहा है? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है? इसका उत्तर निश्चित रूप से “हाँ” में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में धर्म नहीं किन्तु धर्म का आवरण डालकर मानव की महत्त्वाकांक्षा, उसका अहंकार ही यह सब करवाता रहा है। यह धर्म नहीं, धर्म का नकाब डाले अधर्म है।

मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक हैं या हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनैकान्तिक शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी। साध्यात्मक धर्म या धर्मों का साध्य एक है जबकि साधनात्मक धर्म अनेक हैं। साध्य रूप में धर्मों की एकता और साधन रूप से अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण कहा जा सकता है। सभी धर्मों का साध्य है- समत्वलाभ (समाधि) अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य शान्ति की स्थापना तथा उसके लिए विक्षोभ के जनक राग-द्वेष और अस्मिता (अहंकार) का निराकरण। लेकिन राग-द्वेष और अस्मिता के निराकरण के उपाय क्या हों? यही विचार भेद प्रारम्भ होता है, लेकिन यह विचार भेद विरोध का आधार नहीं बन सकता। एक ही साध्य ही ओर उन्मुख होने से वे परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते। एक ही केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से खिंची हुई विभिन्न रेखाओं में पारस्परिक विरोध प्रतीत अवश्य होता है किन्तु वह यथार्थ में होता नहीं है। क्योंकि केन्द्र से संयुक्त प्रत्येक रेखा में एक दूसरे को काटने की क्षमता नहीं होती है किन्तु जैसे ही वह केन्द्र का परित्याग करती है वह दूसरी रेखाओं को अवश्य ही काटती है। साध्य सभी एकता में साधन रूप धर्मों की अनेकता स्थित है। अतः यदि धर्मों का साध्य एक है तो उनमें विरोध कैसा? अनेकान्त, धर्मों की साध्यपरक मूलभूत एकता और साधन परक अनेकता को इंगित करता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्तों एवं साधनों के बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। देशकालगत परिस्थितियों और साधकों की साधना की क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्म साधना के बाह्य रूपों में भिन्नताओं का आ जाना स्वाभाविक ही था और ऐसा हुआ भी। किन्तु मनुष्य की अपने धर्माचार्य के प्रति भ्रमता (रागात्मकता) और उसके अपनेमन में व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एक मात्र एवं अन्तिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनके बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य प्रारम्भ हुआ। मुनिश्रीनेमिचन्द्र ने धर्म सम्प्रदायों के उद्भव की एक सजीव व्याख्या प्रस्तुत की है, वे लिखते हैं कि “मनुष्य स्वभाव बड़ा विचित्र है उसके अहं को जरा सी चोट लगते ही वह अपना

अखाड़ा अलग बनाने को तैयार हो जाता है। यद्यपि वैयक्तिक अहं धर्म-सम्प्रदायों के निर्माण का एक कारण अवश्य है लेकिन वही एक मात्र कारण नहीं है। बौद्धिक भिन्नता और देशकालगत तथ्य भी इसके कारण रहे हैं और इसके अतिरिक्त पूर्व प्रचलित परम्पराओं में आयी हुई विकृतियों के संशोधन के लिए भी सम्प्रदाय बने। उनके अनुसार सम्प्रदाय बनने के निम्न कारण हो सकते हैं -

(1) ईर्ष्या के कारण (2) किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्ता के कारण (3) किसी वैचारिक मतभेद (सत्याग्रह) के कारण (4) किसी आचार संबंधी नियमोपनियम में भेद के कारण (5) किसी व्यक्ति या पूर्व सम्प्रदाय द्वारा अपमान या खींचातान होने के कारण (6) किसी विशेष सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि से और (7) किसी साम्प्रदायिक परम्परा या क्रिया में द्रव्य, क्षेत्र एवं काल के अनुसार संशोधन या परिवर्तन करने की दृष्टि से। उपरोक्त कारणों में अंतिम दो को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न सम्प्रदाय आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक विद्वेष को जन्म देते हैं।

विश्व इतिहास का अध्येता इसे भलीभाँति जानता है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये। आश्चर्य तो यह है कि दमन, अत्याचार, नृशंसा और रक्त प्लावन को धर्म का बाना पहनाया गया। शान्ति प्रदाता धर्म ही अशांति का कारण बना। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिक अनास्था का मुख्य कारण उपरोक्त भी है। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और वादों में बाह्य भिन्नता परिलक्षित होती है किन्तु यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनाग्रही हो तो उसमें भी एकता और समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

अनेकांत विचार दृष्टि विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों की समाप्ति द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है। क्योंकि वैयक्तिक रुचि भेद एवं क्षमता भेद तथा देशकाल गत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य हैं। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक नहीं अपितु अशांति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकांत विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास न होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है। लेकिन इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता है-धार्मिक सहिष्णुता और सर्व धर्म समभाव की।

अनेकांत के समर्थक जैनाचार्यों ने इसी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। आचार्य हरिभद्र की धार्मिक सहिष्णुता तो सर्व विदित ही है। अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्ता-समचुच्य में उन्होंने बुद्ध के अनात्मवाद, न्याय दर्शन के ईश्वर कर्तृत्ववाद और वेदान्त के सर्वात्मवाद (ब्रह्मवाद) में भी संगति दिखाने का प्रयास किया। अपने ग्रन्थ लोकतत्व-संग्रह में आचार्य हरिभद्र लिखते हैं -

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः ।।

मुझे ने तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष है। जो भी वचन तर्कसंगत हो उसे ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने शिव-प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्व देव समभाव का परिचय देते हुए कहा था -

भवबीजांकुरजनना, रागघा क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा विष्णुर्वा हरौ, जिनो वा नमस्तस्मै ।।

संसार परिभ्रमण के कारण रागादि जिसके क्षय हो चुके हैं उसे, में प्रणाम करता हूँ, चाहे वे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, शिव हों या जिन हों।

राजनैतिक क्षेत्र में अनेकांतवाद के सिद्धान्त का उपयोग

अनेकान्तवाद का सिद्धान्त न केवल दार्शनिक एवं धार्मिक अपितु राजनैतिक विवाद भी हल करता है। आज का राजनैतिक जगत् भी वैचारिक संकुलता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद आदि अनेक राजनैतिक विचारधाराएँ तथा राजतन्त्र, कुलतन्त्र, अधिनायक तन्त्र, आदि अनेकानेक शासन प्रणालियाँ वर्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं उनमें से प्रत्येक एक दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील है। विश्व के राष्ट्र खेमों में बंटे हुए हैं और प्रत्येक खेमों का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। मुख्य बात यह है कि आज का राजनैतिक संघर्ष मात्र आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वैचारिकता का भी संघर्ष है। आज अमेरिका, चीन और रूस अपनी वैचारिक प्रभुसत्ता के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। एक दूसरे को नाम-शेष करने की उनकी यह महत्वाकांक्षा कहीं मानव जाति को ही नाम-शेष न कर दे।

आज के राजनैतिक जीवन में स्याद्वाद के दो व्यावहारिक फलित-वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त उपादेय हैं। मानव जाति ने राजनैतिक जगत् में, राजतन्त्र से प्रजातन्त्र तक की जो लम्बी यात्रा तय की है उसकी सार्थकता स्याद्वाद दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता, इस विचार-दृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातन्त्र का भविष्य उज्ज्वल रह सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र (Parliamentary Democracy) वस्तुतः राजनैतिक स्याद्वाद

है। इस परम्परा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार अल्पमत दल को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार मान्य करती है और यथा समभव उससे लाभ भी उठाती है। दार्शनिक क्षेत्र में जहाँ भारत स्याद्वाद का सर्जक है, वहीं वह राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र का समर्थक भी है। अतः आज स्याद्वाद सिद्धांत का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है। इसी प्रकार हमें यह भी समझना है कि राज्य-व्यवस्था का मूल लक्ष्य जनकल्याण को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के मध्य एक सांग संतुलन स्थापित करना है। आवश्यकता सैद्धांतिक विवादों की नहीं अपितु जनहित के संरक्षण एवं मानव की पाशविक वृत्तियों के नियन्त्रण की है।

मनोविज्ञान और अनेकान्तवाद

वस्तुतः अनेकान्तवाद ने केवल एक दार्शनिक पद्धति है अपितु वह मानवीय व्यक्तित्व की बहुआयामिता को भी स्पष्ट करती है। जिस प्रकार वस्तुतत्त्व विभिन्न गुणधर्मों से युक्त होता है। उसी प्रकार से मानव व्यक्तित्व भी विविध विशेषताओं या विलक्षणताओं का पुंज है, उसके भी विविध आयाम हैं। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के भी विविध आयाम या पक्ष होते हैं, मात्र यही नहीं उसमें परस्पर विरोधी गुण भी देखने को मिलते हैं। सामान्यतया वासना व विवेक परस्पर विरोधी माने जाते हैं किन्तु मानव व्यक्तित्व में ये दोनों विरोधी गुण एक साथ उपस्थित हैं। मनुष्य में एक ओर अनेकानेक वासनार्यें, इच्छार्यें और आकांक्षाएं रही हुई होती हैं तो दूसरी ओर उसमें विवेक का तत्त्व भी होता है जो उसकी वासनार्यें, आकांक्षाओं और इच्छार्यें पर नियंत्रण रखता है। यदि मानव व्यक्तित्व को समझना है तो हमें उसके वासनात्मक पहलू और आदर्शात्मक पहलू (विवेक) दोनों को ही देखना होगा। मनुष्य में न केवल वासना और विवेक के परस्पर विरोधी गुण पाये जाते हैं, अपितु उसमें अनेक दूसरे भी परस्पर विरोधी गुण देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ-विद्वत्ता या मूर्खता को लें। प्रत्येक व्यक्ति में विद्वत्ता में मूर्खता और मूर्खता में विद्वत्ता समाहित होती है। कोई भी व्यक्ति समग्रतः विद्वान् या समग्रतः मूर्ख नहीं होता है। मूर्ख में भी कहीं न कहीं विद्वत्ता और विद्वान् में भी कहीं न कहीं मूर्खता छिपी रहती है। किसी को विद्वान् या मूर्ख मानना, यह सापेक्षिक कथन ही हो सकता है। मानव व्यक्तित्व के सन्दर्भ में मनोविश्लेषणवादियों ने वासनात्मक अहम् और आदर्शात्मक अहम् की जो अवधारणार्यें प्रस्तुत की हैं वे यही सूचित करती हैं कि मानव व्यक्तित्व बहुआयामी है। उसमें ऐसे अनेक परस्पर विरोधी गुणधर्म छिपे हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति में जहाँ एक ओर कोमलता या करुणा का भाव रहा हुआ है वहीं दूसरी ओर उसमें आक्रोश और अहंकार भी विद्यमान है। एक ही मनुष्य के अन्दर इनफिरियारिटी काम्पलेक्स और सुपीरियारिटी काम्पलेक्स दोनों ही देखे जाते हैं। कभी-कभी तो

हीनत्व की भावना ही उच्चत्व की भावना में अनुस्यूत देखी जाती है। भय और साहस परस्पर विरोधी गुणधर्म हैं। किन्तु कभी-कभी भय की अवस्था में ही व्यक्ति अकल्पनीय साहस का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार मानव व्यक्तित्व में वासना और विवेक, ज्ञान और अज्ञान, राग और द्वेष, कारुणिकता और आक्रोश, हीनत्व और उच्चत्व की ग्रन्थियाँ एक साथ देखी जाती हैं। इससे यह फलित होता है कि मानव व्यक्तित्व भी बहुआयामी है और उसे सही प्रकार से समझने के लिए अनेकान्त की दृष्टि आवश्यक है।

प्रबन्धशास्त्र और अनेकांतवाद

वर्तमान युग में प्रबन्धशास्त्र एक महत्वपूर्ण विधा है, किन्तु यह विधा भी अनेकान्त दृष्टि पर ही आधारित है। किस व्यक्ति से किस प्रकार कार्य लिया जाये ताकि उसकी सम्पूर्ण योग्यता का लाभ उठाया जा सके, यह प्रबन्धशास्त्र की विशिष्ट समस्या है। प्रबन्धशास्त्र चाहे वह वैयक्तिक हो या संस्थागत उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष तो व्यक्ति ही होता है और प्रबन्ध और प्रशासन की सफलता इसी बात पर निर्भर होती है कि हम उस व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके प्रेरक तत्त्वों को किस प्रकार समझायें। एक व्यक्ति के लिए मृदु आत्मीय व्यवहार एक अच्छा प्रेरक हो सकता है तो दूसरे के लिए कठोर अनुशासन की आवश्यकता हो सकती है। एक व्यक्ति के लिए आर्थिक उपलब्धियाँ ही प्रेरक का कार्य करती हैं तो दूसरे के लिए पद और प्रतिष्ठा महत्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व हो सकते हैं। प्रबन्धव्यवस्था में हमें व्यक्ति की प्रकृति और स्वभाव को समझना आवश्यक होता है। एक प्रबन्धक तभी सफल हो सकता है जब वह मानव प्रकृति की इस बहुआयामिता को समझे और व्यक्ति विशेष के सन्दर्भ में यह जाने की उसके जीवन की प्राथमिकतायें क्या हैं ? प्रबन्ध और प्रशासन के क्षेत्र में एक ही चाबुक से सभी को नहीं हँका जा सकता। जिस प्रबन्धक में प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति की जितनी अच्छी समझ होगी, वही उतना सफल प्रबन्धक होगा। इसके लिए अनेकांत दृष्टि या सापेक्ष दृष्टि को अपनाना आवश्यक है।

प्रबन्धशास्त्र के क्षेत्र में वर्तमान में समग्र गुणवत्ता प्रबन्धन (Total Quality Management) की अवधारणा प्रमुख बनती जा रही है, किन्तु व्यक्ति अथवा संस्था की समग्र गुणवत्ता का आकलन निरपेक्ष नहीं है। गुणवत्ता के अन्तर्गत अनेक गुणों की पारस्परिक समन्वयात्मकता आवश्यक होती है विभिन्न गुणों का पारस्परिक सामंजस्य में रहते हुए जो एक समग्र रूप बनता है वह ही गुणवत्ता का आधार है। अनेक गुणों के पारस्परिक सामंजस्य में ही गुणवत्ता निहित होती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में विभिन्न गुण एक दूसरे के साथ समन्वय करते हुए रहते हैं। विभिन्न गुणों की यही सामंजस्यपूर्ण स्थिति ही गुणवत्ता का आधार है। व्यक्ति

के व्यक्तित्व में विभिन्न गुण ठीक उसी प्रकार सामंजस्य पूर्वक रहते हैं जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयव सामंजस्यपूर्ण स्थिति में रहते हैं। जैसे शरीर के विभिन्न अंगों का सामंजस्य टूट जाना शारीरिक विकृति या विकलांगता का प्रतीक है उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन के गुणों में पारस्परिक सामंजस्य का अभाव व्यक्तित्व के विखण्डन का आधार बनता है। पारस्परिक सामंजस्य में ही समग्र गुणवत्ता का विकास होता है। अनेकान्त दृष्टि व्यक्तित्व के उन विभिन्न गुणों या पक्षों और उनके पारस्परिक सामंजस्य को समझने का आधार है। व्यक्ति में वासनात्मक पक्ष अर्थात् उसकी जैविक आवश्यकताएँ और विवेकात्मक पक्ष अर्थात् वासनाओं के संयमन की शक्ति दोनों की अपूर्ण समझ किसी प्रबन्धक के प्रबन्धन की असफलता का कारण ही होगी। समग्र गुणवत्ता विभिन्न गुणों अथवा पक्षों और उनके पारस्परिक सामंजस्य की समझ पर ही आधारित होती है और यह समझ ही प्रबन्धशास्त्र का प्राण है। दूसरे शब्दों में कहें तो अनेकान्त दृष्टि के आधार पर ही सम्पूर्ण प्रबन्धशास्त्र अवस्थित है। विविध पक्षों के अस्तित्व की स्वीकृति के साथ उनके पारस्परिक सामंजस्य की संभावना को देख पाना प्रबन्धशास्त्र की सर्वोत्कृष्टता का आधार है।

समाजशास्त्र और अनेकान्तवाद

समाजशास्त्र के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण समस्या व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों को सम्यक् प्रकार से समझ पाना या समझा पाना ही है। व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति (सम्यक् व्यक्ति) का अस्तित्व संभव नहीं है। जहाँ एक ओर व्यक्तियों के आधार पर ही समाज खड़ा होता है। वहीं दूसरी ओर व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण समाज-रूपी कार्यशाला में ही सम्पन्न होता है। जो विचारधाराएँ व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से निरपेक्ष मानकर चलती हैं वे न तो सही रूप में व्यक्ति को समझ पाती हैं और न ही समाज को। व्यक्ति और समाज दोनों का अस्तित्व परस्पर सापेक्ष है। इस सापेक्षता को समझे बिना न तो व्यक्ति को ही समझा जा सकता है और न समाज को। समाजशास्त्र के क्षेत्र में अनेकान्त दृष्टि व्यक्ति और समाज के इस सापेक्षिक संबंध को देखने का प्रयास करती है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। यह समझ ही समाजशास्त्र के सभी सिद्धान्तों का मूलभूत आधार है। समाजिक सुधार के जो भी कार्यक्रम हैं उनका आवश्यक अंग व्यक्ति सुधारना भी है। न तो समाजिक सुधार के बिना व्यक्ति सुधार संभव है न व्यक्ति सुधार के बिना सामाजिक सुधार। वस्तुतः व्यक्ति और समाज में आंगिकता का संबंध है। व्यक्ति में समाज और समाज में व्यक्ति इस प्रकार अनुस्यूत है। कि उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। व्यक्ति और समाज की इस सापेक्षिकता को समझना समाजशास्त्र के लिए आवश्यक है और यह समझ अनेकान्त दृष्टि के विकास से ही संभव है क्योंकि वह एकत्व

में अनेकत्व अथवा एकता में विभिन्नता तथा विभिन्नता में एकता का दर्शन करती है, उसके लिए एकत्व और पृथकत्व दोनों का ही समान महत्त्व है। वह यह मानकर चलती है कि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष है और एक के अभाव में दूसरे की कोई सत्ता नहीं है।

सामाजिक नैतिकता से जुड़ा एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है वैयक्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याण में किसे प्रमुख माना जाय? इस समस्या के समाधान के लिए भी हमें अनेकान्त दृष्टि को ही आधार बनाकर चलना होगा। यदि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष है, व्यक्ति के हित में समाज का हित है और समाज के हित में व्यक्ति का हित समाया है तो इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। जो लोग वैयक्तिक हितों और सामाजिक हितों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, वे वस्तुतः व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों से अनभिज्ञ हैं। वैयक्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याण परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए भी एक दूसरे से पृथक नहीं हैं। हमें यह मानना होगा कि समाज के हित में ही व्यक्ति का हित है और व्यक्ति के हित में समाज का हित। अतः एकान्त स्वार्थपरतावाद और एकान्त परोपकारवाद दोनों ही संगत सिद्धान्त नहीं हो सकते। न तो वैयक्तिक हितों की उपेक्षा की जा सकती है न ही सामाजिक हितों की। अनेकान्त दृष्टि हमें यही बताती है। कि वैयक्तिक कल्याण में सामाजिक कल्याण और सामाजिक कल्याण में वैयक्तिक कल्याण अनुस्यूत है। दूसरे शब्दों में वे परस्पर सापेक्ष हैं।

पारिवारिक जीवन में स्याद्वाद दृष्टि का उपयोग

कौटुम्बिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर कुटुम्बों में और कुटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। सामान्यतया पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं। पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभव प्रधान होती है, जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रसित होता है तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है। यह स्थिति सास-बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जिये जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जिया था, जब कि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृ पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना ही स्वतन्त्र जीवन जिये, जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत स्वसुर पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक

सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इसके मूल में जो दृष्टिभेद है, उसे अनेकान्त पद्धति से सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें तो स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता-पुत्र से जिस बात की अपेक्षा करता है उसके पहले अपने को पुत्र की भूमिका में खड़ा कर विचार कर ले। अधिकारी कर्मचारी से किस ढंग से काम लेना चाहता है, उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करे, फिर निर्णय ले। यही एक ऐसी दृष्टि है, जिसके अभाव में लोक व्यवहार असम्भव है और इसी आधार पर अनेकान्तवाद जगद्गुरु होने का दावा करता है।

अर्थशास्त्र और अनेकान्त

सामान्यतया अर्थशास्त्र का उद्देश्य जन सामान्य का आर्थिक कल्याण होता है किन्तु आर्थिक प्रगति के पीछे मूलतः वैयक्तिक हितों की प्रेरणा ही कार्य करती है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पूंजीवादी और साम्यवादी दृष्टियों के केन्द्र बिन्दु ही भिन्न-भिन्न बन गए। साम्यवादी शक्तियों का आर्थिक क्षेत्र में पिछड़ने का एकमात्र कारण यह रहा कि उन्होंने आर्थिक प्रगति के लिए वैयक्तिक प्रेरणा की उपेक्षा की, किन्तु दूसरी ओर यह भी हुआ कि वैयक्तिक आर्थिक प्रेरणा और वैयक्तिक अर्थलाभ को प्रमुखता देने के कारण सामाजिक कल्याण की आर्थिक दृष्टि असफल हो गयी और उपभोक्तावाद इतना प्रबल हो गया कि उसने सामाजिक आर्थिक कल्याण की पूर्णतः उपेक्षा कर दी। परिणाम स्वरूप अमीर और गरीब के बीच खाई अधिक गहरी होती गयी।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आर्थिक प्रगति का आधार व्यक्ति की इच्छाओं, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को बढ़ाना मान लिया गया। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्वार्थपरता और शोषण की दृष्टि ही प्रमुख हो गयी। आवश्यकताओं की सृष्टि और इच्छाओं की पूर्ति को ही आर्थिक प्रगति का प्रेरक तत्त्व मानकर हमने आर्थिक साधन और सुविधाओं में वृद्धि की, किन्तु उसके परिणामस्वरूप आज मानव जाति उपभोक्तावादी संस्कृति से ग्रसित हो गयी है और इच्छाओं और आकांक्षाओं की दृष्टि के साथ चाहे भौतिक सुख-सुविधाओं के साधन बढ़े भी हों किन्तु उसने मनुष्य की अन्तरात्मा को विपन्न बना दिया। आकांक्षाओं की पूर्ति की दौड़ में मानव अपनी आन्तरिक शान्ति खो बैठा। फलतः आज हमारा आर्थिक क्षेत्र विफल होता दिखाई दे रहा है। वस्तुतः इस सब के पीछे आर्थिक प्रगति को ही एकमात्र लक्ष्य बना लेने की एकान्तिक जीवन दृष्टि है।

कोई भी तंत्र चाहे वह अर्थतंत्र हो, राजतंत्र या धर्मतंत्र, बिना अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार किये सफल नहीं हो सकता, क्योंकि इन सबका मूल केन्द्र तो मनुष्य ही है। जब तक वे मानव व्यक्तित्व की बहुआयामिता और उसमें निहित सामान्यतओं को नहीं स्वीकार करेंगे, तब तक इन क्षेत्रों में हमारी सफलताएं भी अन्ततः विफलताओं में ही बदलती रहेंगी। वस्तुतः अनेकान्त दृष्टि ही एक ऐसी दृष्टि है जो मानव के समग्र कल्याण की दिशा में हमें अग्रसर कर सकती है। समग्रता की दिशा में अंगों की उपेक्षा नहीं, अपितु उनका पारस्परिक सामंजस्य ही महत्वपूर्ण होता है और अनेकान्तवाद का यह सिद्धान्त इसी व्यावहारिक जीवन दृष्टि को समुपस्थित करता है।

अनेकान्ता को जीने की आवश्यकता

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही कि- अनेकान्त के व्यावहारिक पक्ष पर श्री नवीन भाई शाह की हार्दिक इच्छा, प्रेरणा और अर्थ सहयोग से मेरे निर्देशन में लगभग छः वर्ष पूर्व अहमदाबाद में जो संगोष्ठी हुई थी, उसमें प्रस्तुत कुछ महत्वपूर्ण निबन्ध अब प्रकाशित हो रहे हैं। अनेकांतवाद के सैद्धान्तिक पक्ष पर तो प्राचीन काल से लेकर अब तक बहुत विचार-विमर्श या आलोचन-प्रत्यालोचन हुआ किन्तु उसका व्यावहारिक पक्ष उपेक्षित ही रहा। यह श्री नवीन भाई की उत्कट प्रेरणा का ही परिणाम था कि अनेकान्त के इस उपेक्षित पक्ष पर न केवल संगोष्ठी और निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन हुआ, अपितु इस हेतु प्राप्त निबन्धों या निबन्धों के चयनित अंश का प्रकाशन भी हो रहा है। अनेकांतवाद मात्र सैद्धान्तिक चर्चा का विषय नहीं है, वह प्रयोग में लाने का विषय है, क्योंकि इस प्रयोगात्मकता के द्वारा ही हम वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के संघर्षों एवं वैचारिक विवादों का निराकरण कर सकते हैं। अनेकांतवाद को मात्र जान लेना या समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसे व्यावहारिक जीवन में जीना भी होगा और तभी उसके वास्तविक मूल्यवत्ता को समझ सकेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेकांत एवं स्याद्वाद के सिद्धान्त दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं पारिवारिक जीवन के विरोधों के समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं जिससे मानव जाति को संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है।



5

जैनागम और चार्वाक दर्शन

प्राचीन जैनागमों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतिकरण

चार्वाक या लोकायत दर्शन का भारतीय दार्शनिक चिन्तन में भौतिकवादी दर्शन के रूप में विशिष्ट स्थान है। भारतीय चिन्तन में भौतिकवादी जीवन दृष्टि की उपस्थिति के साहित्यिक प्रमाण अति प्राचीन काल से ही उपलब्ध होने लगते हैं। भारत की प्रत्येक धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तनधारा ने उसकी समालोचना भी की है। जैन धर्म एवं दर्शन के ग्रन्थों में भी इस भौतिकवादी जीवनदृष्टि का प्रतिपादन एवं उसकी समीक्षा अति प्राचीन काल से ही मिलने लगती हैं। जैन धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य में महावीर के युग से लेकर आज तक लगभग 2500 वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में इस विचारधारा का प्रस्तुतीकरण एवं समालोचना होती रही है। इस समग्र विस्तृत चर्चा को प्रस्तुत निबन्ध में समेट पाना सम्भव नहीं है, अतः हम प्राचीन प्राकृत आगम साहित्य तक ही अपनी इस चर्चा को सीमित रखेंगे। प्राचीन प्राकृत जैन आगम साहित्य में ऋषिभाषित एक ऐसा ग्रन्थ है, जो चार्वाक दर्शन को भौतिकवादी और स्वार्थपरक अनैतिक जीवन दृष्टि का समर्थक न मानकर उसे एक मूल्यपरक सदाचारी जीवन दृष्टि का सम्पोषक और भारतीय श्रमण संस्कृति का अंग मानता है।

प्राचीनतम प्राकृत आगम साहित्य में मुख्यतया आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित को समाहित किया जा सकता है। ये सभी ग्रन्थ ई. पू. पाँचवी शती से लेकर ई. पू. तीसरी के बीच निर्मित हुए हैं, ऐसा माना जाता है।¹ इसके अतिरिक्त उपांग साहित्य के एक ग्रन्थ राजप्रश्नीय को भी हमने इस चर्चा में समाहित किया है। इसका कारण यह है कि राजप्रश्नीय का वह भाग जो चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण और समीक्षा करता है एक तो चार्वाक दर्शन के पूर्वपक्ष की स्थापना एवं उसकी समीक्षा दोनों ही दृष्टि से अति समृद्ध है, दूसरे अति प्राचीन भी माना जाता है, क्योंकि ठीक यही चर्चा हमें बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भगवान बुद्ध और राजा पयासी के मध्य होने का उल्लेख मिलता है।² जैन परम्परा में इस चर्चा को पार्श्वपत्य परम्परा के भगवान महावीर के समाकालीन आचार्य केशीकुमार श्रमण और राजा पयासी के मध्य और बौद्ध त्रिपिटक में भगवान बुद्ध और राजा पयासी के बीच सम्पन्न हुआ बताया गया है। यद्यपि कुछ जैन आचार्यों ने पयासी का

संस्कृत रूप प्रदेशी मान लिया है किन्तु देववाचक, सिद्धसेनगणि, मलयगिरि और मुनिचन्द्रसुरि^९ ने पयासी का संस्कृत रूप प्रसेनजित ही माना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रमाणिक लगता है। प्रसेनजित को श्वेताम्बिका (सेयविया) नगरी का राजा बताया गया है जो इतिहाससिद्ध हैं। उनका सारथि चित्त केशीकुमार को श्रावस्ती से यहां केवल इसलिये लेकर आया था कि राजा की भौतिकवादी जीवन दृष्टि को परिवर्तित किया जा सके। कथावस्तु की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा तार्किकता की दृष्टि से ही इसे भी प्रस्तुत विवेचन में समाहित किया गया है।

प्रस्तुत विवेचना में मुख्यरूप से चार्वाक दर्शन के तज्जीवतच्छरीरवाद एवं उसकी परलोक तथा पुण्य-पाप की अवधारणाओं का पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ समीक्षाएं भी प्रस्तुत की गई हैं। इनमें भी ऋषिभाषित (ई.पू. चौथी शती) में चार्वाकों की जीवनदृष्टि का जो प्रस्तुतीकरण है, वह उपर्युक्त विवरण से कुछ विशिष्ट प्रकार का है। उसमें दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देसोक्कल, सव्योक्कल के नाम से इनके जिन पाँच प्रकारों का उल्लेख है, 'वह भी अन्यत्र किसी भी भारतीय दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं राजप्रश्नीय में चार्वाक दर्शन की स्थापना और खण्डन, दोनों के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे भी महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्राकृत आगमिक-व्याख्या साहित्य में मुख्यतः विशेषावश्यकभाष्य (छठी शती) के गणधरवाद^{१०} में चार्वाक दर्शन की विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा-महावीर और गौतम आदि 11 गणधरों के मध्य हुए वाद-विवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है, वह भी दार्शनिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण कही जा सकती है। अन्य आगमिक संस्कृत टीकाओं (10 वीं-11वीं शती) में भी चार्वाक दर्शन की जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षाओं में दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। चूर्णि, वृत्ति, टीका आदि के अतिरिक्त जैन दार्शनिक ग्रन्थों में भी भौतिकवादी जीवन दृष्टि की समीक्षाएं उपलब्ध हैं। किन्तु इस सबको तो किसी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही समेटा जा सकता है। अतः इस निबंध की सीमा मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए हम अपनी विवेचना को पूर्व निर्देशित प्राचीन स्तर के प्राकृत आगमों तक ही सीमित रखेंगे।

आचारांग में लोक संज्ञा के रूप में लोकायत दर्शन का निर्देश

जैन आगमों में आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अतिप्राचीन माना जाता है। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि इस ग्रन्थ में स्वयं महावीर के वचनों का संकलन हुआ है। इसका रचनाकाल चौथी-पाँचवी शताब्दी ई.पू. माना जाता है। आचारांग में स्पष्ट रूप से लोकायत दर्शन का उल्लेख तो नहीं है, किन्तु इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लोकायत दर्शन की पुनर्जन्म का निषेध करने वाली अवधारणा की समीक्षा की

गई है। सूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है कि कुछ लोगो को यह ज्ञात नहीं होता है कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म करने वाली) हैं। मैं कहाँ से आया हूँ और यहाँ से अपना जीवन समाप्त करके कहाँ जन्म ग्रहण करूँगा? सूत्रकार कहता है कि व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म ग्रहण करने वाली) है, जो इन दिशाओं और विदिशाओं में संचरण करती है और मैं भी ऐसा ही हूँ वस्तुतः जो यह जानता है – वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी हैं।^{१०} इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं के विरुद्ध चार बातों की स्थापना की गई है – आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। आत्मा की स्वतंत्र और नित्य सत्ता को स्वीकार करना आत्मवाद है। संसार को यथार्थ मानकर आत्मा को लोक में जन्म-मरण करने वाला समझना लोकवाद है। शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों में विश्वास करना कर्मवाद है। आत्मा को शुभाशुभ कर्मों की कर्ता-भोक्ता एवं परिणामी (परिवर्तनशील) मानना क्रियावाद है। इसी प्रकार आचारांग में लोकसंज्ञा का परित्याग करके इन सिद्धान्तों में विश्वास करने का निर्देश दिया गया है। ज्ञातव्य है कि आचारांग में लोकायत या चार्वाक दर्शन का निर्देश लोक संज्ञा के रूप में हुआ है।^{११} लोकसंज्ञा से ही लोकायत नामकरण हुआ होगा। यद्यपि इस ग्रन्थ में इन मान्यताओं की समालोचना तो की गई है किन्तु उसकी कोई तार्किक भूमिका प्रस्तुत नहीं की गई है।

सूत्रकृतांग में लोकायत दर्शन

आचारांग के पश्चात् सूत्रकृतांग का क्रम आता है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध को भी विद्वानों ने अतिप्राचीन (लगभग ई.पू. चौथी शती) माना है। सूत्रकृतांग के प्रथम अध्याय में हमें चार्वाक दर्शन के पंचमहाभूतवाद और तज्जीवतच्छरीवाद के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसमें पंचमहाभूतवाद को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और आकाश ऐसे पाँच महाभूत माने गये हैं। उन पाँच महाभूतों से ही प्राणी की उत्पत्ति होती है और देह का विनाश होने पर देही का भी विनाश हो जाता है।^{१२} साथ ही यह भी बताया गया है कि व्यक्ति चाहे मूर्ख हो या पण्डित प्रत्येक की अपनी आत्मा होती है जो मृत्यु के बाद नहीं रहती। प्राणी औपपातिक अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करने वाले नहीं हैं। शरीर का नाश होने पर देही अर्थात् आत्मा का भी नाश हो जाता है। इस लोक से परे न तो कोई लोक है और न पुण्य और पाप ही हैं।^{१३} इस प्रकार सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं का उल्लेख तो मिलता है किन्तु यहाँ भी उनकी कोई स्पष्ट तार्किक समालोचना परिलक्षित नहीं होती है। यद्यपि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार्वाक प्रश्न की समीक्षा प्रस्तुत की गई है, किन्तु विद्वानों ने उसे किंचित् परवर्ती माना है। अतः उसके पूर्व हम उत्तराध्ययन का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

उत्तराध्ययन में लोकायतदर्शन

उत्तराध्ययन में चार्वाक दर्शन को जन-श्रद्धा (जन-सिद्धि) कहा गया है।¹⁰ सम्भवतः लोकसंज्ञा और जनश्रद्धा में लोकायत दर्शन के ही पूर्व नाम हैं। उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये सांसारिक विषय ही हमारे प्रत्यक्ष के विषय हैं। परलोक को तो हमने देखा ही नहीं। वर्तमान के काम भोग हस्तगत हैं जबकि भविष्य में मिलने वाले (स्वर्ग-सुख) अनागत अर्थात् संदिग्ध हैं। कौन जानता है कि परलोक है भी या नहीं? इसलिए मैं तो जनश्रद्धा के साथ होकर रहूँगा।¹¹ इस प्रकार उत्तराध्ययन के पंचम अध्याय में चार्वाकों की पुनर्जन्म के निषेध की अवधारणा का उल्लेख एवं खण्डन किया गया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्याय में भी चार्वाकों के असत् से सत् की उत्पत्ति का एवं पंचमहाभूत से चेतना की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। जो वस्तुतः असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त है। यद्यपि उत्तराध्ययन में असत्कार्यवाद का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह असत्कार्यवाद के पक्ष में न जाकर सत्कार्यवाद के पक्ष में ही जाता है। उसमें कहा गया है कि जैसे – अरणि में अग्नि, दूध में घृत और तिल में तेल असत् होकर भी उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव भी असत् होकर ही उत्पन्न होता है और उस शरीर का नाश हो जाने पर वह भी नष्ट हो जाता है।¹²

सम्भवतः उत्तराध्ययन में चार्वाकों के असत्कार्यवाद की स्थापना के पक्ष में ये सत्कार्यवाद की सिद्धि करने वाले उदाहरण इसलिये दिये गये होंगे, ताकि इनकी समालोचना सरलतापूर्वक की जा सके। उत्तराध्ययन में आत्मा को अमूर्त होने के कारण इन्द्रिय ग्राह्य नहीं माना गया है और अमूर्त होने से नित्य कहा गया है।¹³ उपरोक्त विवरण से चार्वाकों के सन्दर्भ में निम्न जानकारी मिलती है -

1. चार्वाकदर्शन को “लोकसंज्ञा” और “जनश्रद्धा” के नाम से अभिहित किया जाता था।
2. चार्वाक दर्शन आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता था, अपितु पंचमहाभूतों से चेतना की उत्पत्ति बताता था।
3. कारणतावाद में असत्कार्यवाद अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करता था।
4. शरीर के नाश के साथ आत्मा के विनाश को स्वीकार करता था तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अस्वीकार करता था। पुनर्जन्म की अस्वीकृति के साथ-साथ वह परलोक अर्थात् स्वर्ग-नरक की सत्ता को भी अस्वीकार करता था।
5. वह पुण्य पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों को भी अस्वीकार करता था, अतः कर्मसिद्धान्त का विरोधी था।

6. उस युग में दार्शनिकों का एक वर्ग अक्रियावाद का समर्थक था। जैनों के अनुसार अक्रियावादी वे दार्शनिक थे, जो आत्मा को अकर्ता और कूटस्थनित्य मानते थे। आत्मावादी होकर भी शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फल (कर्मसिद्धान्त) के निषेधक होने से ये प्रच्छन्न चार्वाकी ही थे।

इस प्रकार आचारांग, सूत्रकृतांग, और उत्तराध्ययन में चार्वाक दर्शन के जो उल्लेख हमें उपलब्ध होते हैं, वे मात्र उसकी अवधारणाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। उनमें इस दर्शन की मान्यताओं से साधक को विमुख करने के लिए इतना तो अवश्य कहा गया है कि यह विचारधारा समीचीन नहीं हैं, किन्तु इन ग्रन्थों में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण और निरसन दोनों ही न तो तार्किक है और न विस्तृत ही।

सूत्रकृतांग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा¹⁴

चार्वाकों अथवा तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का तार्किक दृष्टि से प्रस्तुतीकरण और उसकी तार्किक समीक्षा का प्रयत्न जैन आगम साहित्य में सर्व प्रथम सूत्रकृतांग के द्वितीय पौण्डरिक नामक अध्ययन में और उनके पश्चात् राजप्रश्नी सूत्र में उपलब्ध होता है। अब हम सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आधार पर तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष को प्रस्तुतीकरण करेंगे और उसकी समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

तज्जीवतच्छरीरवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि “पादतल से ऊपर मस्तक के केशों के अग्र भाग से नीचे तक तथा समस्त त्वक्पर्यन्त जो शरीर है वही जीव है। इस शरीर के जीवित रहने तक ही यह जीव जीति रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए शरीर के अस्तित्व पर्यन्त ही जीवन का अस्तित्व है। इस सिद्धान्त को युक्ति-युक्त समझना चाहिए। क्योंकि जो लोग युक्ति पूर्वक यह प्रतिपादित करते हैं कि शरीर अन्य है और जीव अन्य है वे जीव और शरीर को पृथक्-पृथक् करके नहीं दिखा सकते। वे यह भी नहीं बता सकते कि आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व है या वह परिमण्डलाकार अथवा गोल है। वह किस वर्ण और किस गन्ध से युक्त है अथवा वह भारी है, हल्का है, स्निग्ध है या रुक्ष है, अतः जो लोग जीव और शरीर को भिन्न नहीं मानते उनका ही मत युक्ति संगत है।” क्योंकि जीव और शरीर को निम्नोक्त पदार्थों की तरह पृथक्-पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता, यथा –

1. तलवार और म्यान की तरह
2. मुंज और इषिका की तरह
3. मांस और हड्डी की तरह
4. हथेली और आंवले की तरह

5. दही और मक्खन की तरह
6. तिल की खली और तेल की तरह
7. ईख और उसके छिलके की तरह
8. अरणि की लकड़ी और आग की तरह

इस प्रकार जैनागमों में प्रस्तुत ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम देहात्मवादियों के दृष्टिकोण को तार्किक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। पुनः उनकी देहात्मवादी मान्यता के आधार पर उनकी नीति संबंधी अवधारणाओं को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया गया है -

यदि शरीर मात्र ही जीव है तो परलोक नहीं हैं। इसी प्रकार क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, भला-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, स्वर्ग-नरक आदि भी नहीं हैं। अतः प्राणियों के वध करने, भूमि को खोदने, वनस्पतियों को काटने, अग्नि को जलाने, भोजन पकाने आदि क्रियाओं में भी कोई पाप नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में देहात्मवाद की युक्ति-युक्त समीक्षा न करके मात्र यह कहा गया है कि ऐसे लोग हमारा ही धर्म सत्य है ऐसा प्रतिपादन करते हैं और श्रमण होकर भी सांसारिक भोग विलासों में फँस जाते हैं।

इसी अध्याय में पुनः पंचमहाभूतवादियों तथा पंचमहाभूत और छठा आत्मा मानने वाले सांख्यों का भी उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ की सूचना के अनुसार पंचमहाभूतवादी स्पष्ट रूप से यह मानते थे कि इस जगत् में पंचमहाभूत ही सब कुछ हैं। जिनसे अर्थात् पंचमहाभूतों से हमारी क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, अच्छा-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, नरक गति या नरक के अतिरिक्त अन्यगति; अधिक कहाँ तक कहें तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी होती है, क्योंकि आत्मा तो अकर्ता है।

उस भूत समवाय (समूह) को पृथक्-पृथक् नाम से जानना चाहिए जैसे कि - पृथ्वी एक महाभूत है, जल दूसरा महाभूत है, तेज तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पाँचवा महाभूत है। ये पाँच महाभूत किसी कर्त्ता के द्वारा निर्मित नहीं हैं न ही ये किसी कर्त्ता द्वारा बनाये हुए हैं, ये किये हुये भी नहीं हैं, न ही ये कृत्रिम हैं और न ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं। ये पाँचों महाभूत आदि एवं अन्त रहित हैं तथा अवध्य और आवश्यक कार्य करने वाले हैं। इन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ये स्वतन्त्र एवं शाश्वत नित्य हैं। यह ज्ञातव्य है कि जैनागमों में ऐसा कोई भी सन्दर्भ उपब्ध नहीं होता है कि जिसमें मात्र चार महाभूत (आकाश को छोड़कर) मानने वाले चार्वाकों का उल्लेख हुआ हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पंचमहाभूतवादियों के उपरोक्त विचारों के साथ-साथ पंचमहाभूत और छठा आत्मा ऐसे छः तत्वों को मानने वाले विचारकों का भी उल्लेख हुआ है। इनकी मान्यता को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही जीवकाय है, इतना ही अस्तिकाय है और इतना ही समग्र लोग हैं। पंचमहाभूत ही लोक का कारण हैं। संसार में तृण-कम्पन से लेकर जो कुछ होता है वह सब इन पाँच महाभूतों से होता है। आत्मा के असत् अथवा अकर्ता होने से हिंसा आदि कार्यों में पुरुष दोष का भागी नहीं होता, क्योंकि सभी कार्य भूतों के हैं सम्भवतः यह विचारधारा सांख्य दर्शन का पूर्ववर्ती रूप है। इसमें पंचमहाभूतवादियों की दृष्टि से आत्मा को असत् माना गया है तथा पंचमहाभूत एवं षष्ठ आत्मा को मानने वालों की दृष्टि से आत्मा को अकर्ता कहा गया है। सूत्रकृतांग इनके अतिरिक्त ईश्वर कारणवादी और नियतिवादी जीवन दृष्टियों को भी कर्म सिद्धान्त का विरोधी होने के कारण मिथ्यात्व का प्रतिपादक ही मानता है। इस प्रकार ऋषिभाषित के देशोत्कल और सूत्रकृतांग के पंचमहाभूत एवं षष्ठ आत्मवादियों के उपरोक्त विवरण में पर्याप्त रूप से निकटता देखी जा सकती है। जैनो की मान्यता यह थी कि वे सभी विचारक मिथ्यादृष्टि हैं, जिनकी दार्शनिक मान्यताओं में धर्माधर्म व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त की अवधारणा स्पष्ट नहीं होती है। हम यहाँ यह देखते हैं कि यद्यपि सूत्रकृतांग में शरीर आत्मवाद की स्थापना करते हुए देह और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, इस मान्यता का तार्किक रूप से निरसन किया गया है, किन्तु यह मान्यता क्यों समुचित नहीं है? इस संबंध में स्पष्ट रूप से कोई भी तर्क नहीं दिये गये हैं। सूत्रकृतांग देहात्मवाद के समर्थन में तो तर्क देता है किन्तु उसके निरसन में कोई तर्क नहीं देता है। यहाँ हमने आचारांग, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन की अपेक्षा से चार्वाक दर्शन की चर्चा की है ऋषिभाषित और राजप्रश्नीय की अपेक्षा से चार्वाकदर्शन की समीक्षा अग्रिम लेखों में करेंगे।

संदर्भ -

1. जैन साहित्य का वृहद इतिहास भाग-1, भूमिका पृ.39
2. दीघनिकाय पयासी सुत्त
3. राजप्रश्नीयसूत्र (मधुकर मुनि), भूमिका पृ. 18
4. ऋषिभाषित (इतिभासियाई) अध्याय 20
5. विशेषावश्यकभाष्य गाथा 1549-2024
6. आचारांग (मधुकर मुनि) 1/1/1-3
 "एवमेवेसिं णो जातं भवति-अत्थि मे आया उववाइए
 से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी।"

7. आचारांग 1/2/6/104- परिणाय लोग सण्णं सव्वसो
8. सूत्रकृतांग (मधुकर मुनि) 1/1/1/7-8
9. वही 11-12
10. उत्तराध्ययनसूत्र 5/7-जणेणसद्धिं होक्खामि।
11. वही 5/5-7
12. जहा य अग्गी अरणी उ सन्तो खीरे घटां तेल्ल महातिलेसु।
एमेव जाया! सरिरंसि सत्ता संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे।
..... उत्तराध्ययनसूत्र, 14/18
13. नो इन्दियग्गेज्जां अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होई निच्चो। वही, 14/19
14. सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध अध्याय 1, सूत्र 648-656



ऋषिभाषित में प्रस्तुत चार्वाक दर्शन

प्राचीन जैन आगमों में चार्वाकदर्शन की तार्किक प्रतिस्थापना और तार्किक समीक्षा हमें सर्वप्रथम ऋषिभाषित (ई.पू. चौथी शती) में ही मिलती है उसके पश्चात् सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध (ई.पू. प्रथम शती) में तथा राजप्रश्नीय (ई.पू. प्रथम शती) में मिलती हैं। ऋषिभाषित का बीसवाँ “उक्कल” नामक सम्पूर्ण अध्ययन ही चार्वाक दर्शन की मान्यताओं के तार्किक प्रस्तुतीकरण से युक्त हैं। चार्वाकदर्शन के तज्जीवतच्छरीरवाद का प्रस्तुतीकरण इस ग्रन्थ में निम्न प्रकार से हुआ है –

“पादतल से ऊपर और मस्तक के केशाग्र से नीचे तक सम्पूर्ण शरीर की त्वचापर्यन्त जीव आत्मपर्याय को प्राप्त हो जीवन जीता है और इतना ही मात्र जीवन है। जिस प्रकार बीज के भुन जाने पर उससे पुनः अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर उससे पुनः शरीर (जीवन) की उत्पत्ति नहीं होती है। इसीलिए जीवन इतना ही है (अर्थात् शरीर की उत्पत्ति से विनाश तक की कालावधि पर्यन्त ही जीवन है)। न तो परलोक है, न सुकृत और दुष्कृत कर्मों के फल विपाक हैं। जीव का पुनर्जन्म भी नहीं होता है। पुण्य और पाप जीवन का संस्पर्श नहीं करते हैं और इस तरह कल्याण और पाप निष्फल हैं।” ऋषिभाषित में चार्वाकों की इस मान्यता की समीक्षा करते हुए पुनः कहा गया है कि “पादतल से ऊपर तथा मस्तक के केशाग्र से नीचे और शरीर की सम्पूर्ण त्वचा पर्यन्त आत्मपर्याय को प्राप्त ही जीव है, यह मरणशील है, किन्तु जीवन इतना ही नहीं है। जिस प्रकार बीज के जल जाने पर उससे पुनः उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर उससे पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए पुण्य-पाप का अग्रहण होने से सुख-दुःख की सम्भावना का अभाव हो जाता है और पाप कर्म के अभाव में शरीर के दहन से या शरीर के दग्ध होने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता है।” इस प्रकार व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यहाँ हम देखते हैं कि ग्रन्थकार चार्वाकों के अपने ही तर्क का उपयोग करके यह सिद्ध कर देता है कि पुण्य-पाप से ऊपर उठकर व्यक्ति पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति पा लेता है।

इस ग्रन्थ में चार्वाक दर्शन के सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें कर्म सिद्धान्त का उस्थापन करने वाले चार्वाकों के पाँच प्रकारों का उल्लेख हुआ है और ये प्रकार अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में मिलने वाले देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनःआत्मवाद आदि प्रकारों से भिन्न हैं और सम्भवतः अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते हैं। इसमें निम्न पाँच प्रकार के उक्कलों का उल्लेख है- दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देशोक्कल और सव्युक्कल। इस प्रसंग में सबसे पहले तो यही विचारणीय है कि उक्कल शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? प्राकृत के उक्कल शब्द को संस्कृत में निम्न चार शब्दों से निरूपण माना जा सकता है- उत्कट, उत्कल, उत्कुल और उत्कूल। संस्कृत कोशों में उत्कट शब्द का अर्थ उन्मत्त दिया गया है। चूँकि चार्वाकदर्शन अध्यात्मवादियों की दृष्टि में उन्मत्तों का प्रलाप था अतः उसे उत्कट (उन्मत्त) कहा गया है। मेरी दृष्टि में उक्कल का संस्कृत रूप उत्कट मानना उचित नहीं है। उसके स्थान पर उत्कल, उत्कुल या उत्कूल मानना अधिक समीचीन है। उत्कल का अर्थ है जो निकाला गया हो, इसी प्रकार उत्कुल शब्द का तात्पर्य है जो कुल से निकाला गया है या जो कुल से बहिष्कृत है। चार्वाक आध्यात्मिक परम्पराओं से बहिष्कृत माने जाते थे, इसी दृष्टि से उन्हें उत्कल या उत्कुल कहा गया होगा।

यदि हम इसे उत्कूल से निष्पन्न माने तो इसका अर्थ होगा किनारे से अलग हटा हुआ। “कूल” शब्द किनारे अर्थ में प्रयुक्त होता है, अर्थात् जो किनारे से अलग होकर अर्थात् मर्यादाओं को तोड़कर अपना प्रतिपादन करता है वह उक्कूल है। चूँकि चार्वाक मर्यादाओं को अस्वीकार करते थे अतः उन्हें उत्कूल कहा गया होगा। अब हम इन उक्कलों के पाँच प्रकारों की चर्चा करेंगे -

दण्डोक्कल

ये विचारक दण्ड के दृष्टांत द्वारा यह प्रतिपादित करते थे कि जिस प्रकार दण्ड अपने आदि, मध्य और अन्तिम भाग से पृथक् होकर दण्ड संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है, उसी प्रकार शरीर से भिन्न होकर जीव, जीव नहीं होता है। अतः शरीर के नाश हो जाने पर भव अर्थात् जन्म-परम्परा का भी नाश हो जाता है। उनके अनुसार सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर जीव जीवन को प्राप्त होता है। वस्तुतः शरीर और जीवन की अपृथक्ता या सामुदायिकता ही इन विचारकों की मूलभूत दार्शनिक मान्यता थी। दण्डोक्कल देहात्मवादी थे।

रज्जूक्कल

रज्जूक्कलवादी यह मानते हैं कि जिस प्रकार रज्जु तन्तुओं का स्कन्ध मात्र है उसी प्रकार जीवन भी पंचमहाभूतों का स्कन्ध मात्र है। उन स्कन्धों के

विच्छिन्न होने पर भव-सन्तति का भी विच्छेद हो जाता है। वस्तुतः ये विचारक पंचमहाभूतों के समूह को ही जगत् का मूल तत्त्व मानते थे और जीव को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। रज्जुक्कल स्कन्धवादी थे।

स्तेनोक्कल

ऋषिभाषित के अनुसार स्तेनोक्कल भौतिकवादी अन्य शास्त्रों के दृष्टान्तों को लेकर उनकी स्वपक्ष में उद्भावना करके यह मानते थे कि हमारा भी यही कथन है। इस प्रकार ये दूसरों के सिद्धान्तों का उच्छेद करते हैं। परपक्ष के दृष्टान्तों का स्वपक्ष में प्रयोग का तात्पर्य सम्भवतः वाद-विवाद में 'छल' का प्रयोग हो। सम्भवतः स्तेनोक्कल या तो नैयायिकों का कोई पूर्व रूप रहे हों या संजयवेलट्टी पुत्र के सिद्धान्त का यह प्राचीन कोई विधायक रूप था, जो सम्भवतः आगे चलकर अनेकान्तवाद का आधार बना हो। ज्ञातव्य है कि ऋषिभाषित में देहात्मवादियों के तर्कों से मुक्ति की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है।

देशोक्कल

ऋषिभाषित में जो आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करके भी जीव को अकर्ता मानते थे, उन्हें देशोक्कल कहा गया है। आत्मा को अकर्ता मानने पर पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पाती है। इसलिए इस प्रकार के विचारकों को भी आंशिक रूप से उच्छेदवादी ही कहा गया है, क्योंकि पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष आदि का निरसन करने के कारण ये भी कर्मसिद्धान्त, नैतिकता एवं धर्म के अपलापक ही थे। अतः इन्हें भी इस वर्ग में समाहित किया गया था।

सम्भवतः ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो आत्मा अकर्तावादियों को उच्छेदवादी कहता है। वस्तुतः ये सांख्य और औपनिषदिक वेदान्त के ही पूर्व रूप थे। जैन उन्हें उत्कूल या उच्छेवादी इसलिए मानते थे कि इन मान्यताओं से लोकवाद (लोक की यथार्थता) कर्मवाद (कर्म सिद्धान्त) और आत्मकर्तावाद (क्रियावाद) का खण्डन होता था।

सव्वुक्कल

सर्वोत्कूल सर्वदा अभाव से ही सबकी उत्पत्ति बताते थे। ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है जो सर्वथा सर्व प्रकार से सर्वकाल में रहता हो, इस प्रकार ये सर्वोच्छेदवाद की संस्थापना करते थे। दूसरे शब्दों में ये लोग समस्त सृष्टि के पीछे किसी नित्य तत्त्व को स्वीकार नहीं करते थे और अभाव से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे। वे कहते थे कि कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो सर्वथा और सर्वकालों में अस्तित्व रखता हो। संसार के मूल में किसी भी सत्ता को अस्वीकार करने के कारण ये सर्वोच्छेदवादी

कहलाते थे। सम्भवतः यह बौद्ध ग्रन्थों में सूचित उच्छेदवादी दृष्टि का कोई प्राचीनतम रूप था जो तार्किकता से युक्त होकर बौद्धों के शून्यवाद के रूप में विकसित हुआ होगा।

इस प्रकार ऋषिभाषित में आत्मा, पुनर्जन्म, धर्म-व्यवस्था एवं कर्म सिद्धान्त के अपलापक विचारकों का जो चित्रण उपलब्ध होता है उसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है -

1. ग्रन्थकार उपरोक्त विचारकों को 'उक्कल' नाम से अभिहित करता है जिसके संस्कृत रूप उत्कल, उत्कुल अथवा उत्कूल होते हैं। जिनके अर्थ होते हैं बहिष्कृत या मर्यादा का उल्लंघन करने वाला। इन विचारकों के संबंध में इस नाम का अन्यत्र कहीं प्रयोग हुआ है ऐसा हमें ज्ञात नहीं होता।
2. इसमें इन विचारकों के पांच वर्ग बताये गये हैं - दण्डोत्कल, रज्जुत्कल, स्तेनोत्कल, देशोत्कल और सर्वोत्कल। विशेषता यह है कि इसमें स्कन्धवादियों (बौद्ध स्कन्धवाद का पूर्व रूप) सर्वोच्छेदवादियों (बौद्ध शून्यवाद का पूर्व रूप) और आत्म-अकर्तावादियों (अक्रियावादियों-सांख्य और वेदांत का पूर्व रूप) को भी इसी वर्ग में सम्मिलित किया गया है। क्योंकि ये सभी तार्किक रूप से कर्म सिद्धान्त एवं धर्म व्यवस्था के अपलापक सिद्ध होते हैं। यद्यपि आत्म-आकर्तावादियों को देशोत्कल कहा गया है अर्थात् आंशिक रूप से अपलापक कहा गया है।
3. इसमें शरीर पर्यन्त आत्म-पर्याय मानने का, जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, वही जैनों द्वारा आत्मा को देह परिणाम मानने के सिद्धान्त का पूर्व रूप प्रतीत होता है। क्योंकि इस ग्रन्थ में शरीरात्मवाद का निराकरण करते समय इस कथन को स्वपक्ष में भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इसमें जैन, बौद्ध और सांख्य तथा औपनिषदिक वेदांत की दार्शनिक मान्यताओं के पूर्व रूप या बीज परिलक्षित होते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन मान्यताओं के सुसंगत बनाने के प्रयास में ही इन दर्शनों का उदय हुआ है।
4. इसमें जो देहात्मवाद का निराकरण किया गया है वह ठोस तार्किक आधारों पर स्थित नहीं है। मात्र यह कह दिया जाता है कि जीव का जीवन शरीर की उत्पत्ति और विनाश की काल सीमा तक सीमित नहीं है। इससे यह फलित होता है कि कुछ विचारक जीवन को देहाश्रित मानकर भी देहान्तर की सम्भावना अर्थात् पुनर्जन्म की सम्भावना को स्वीकार करते थे।

ऋषिभाषित में उत्कटवादियों (चार्वाकों) से सम्बन्धित अध्ययन के अंत में कहा गया है - एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताङ्गो पुणरवि

इच्चत्थं हव्वमागच्छति तिबेमि । अर्थात् इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, करुणा से द्रवित एवं पूर्ण त्यागी बनता है और पुनः इस संसार में नहीं आता है । आदि कहा गया है अतः देहात्मवादी होकर लोकायत दार्शनिक भौतिकवादी या भोगवादी नहीं थे । वे भारतीय ऋषि परम्परा के ही अंग थे, जो निवृत्तिमार्गी, नैतिक दर्शन के ही समर्थक थे । वे अनैतिक जीवन के समर्थक नहीं थे — उन्हें विरत या दान्त कहना उनको त्यागमार्ग एवं नैतिक जीवन का सम्पोषक ही सिद्ध करना है ।

वस्तुतः लोकायत दर्शन को जो भोगवादी जीवन का समर्थक कहा जाता है, वह उनकी तत्त्वमीमांसा के आधार पर विरोधियों द्वारा प्रस्तुत निष्कर्ष है । यदि सांख्य का आत्मा अकर्तावाद, वेदान्त का ब्रह्मवाद, बौद्धदर्शन का शून्यवाद और विज्ञानवाद तप, त्याग और सम्पोषक माने जा सकते हैं तो देहात्मवादी लोकायत दर्शन को उसी मार्ग का सम्पोषक मानने में कौन सी बाधा है । वस्तुतः चार्वाक या लोकायत दर्शन देहात्मवादी या तज्जीव तच्छरीरवादी होकर नैतिक मूल्यों और सदाचार का सम्पोषक रहा है । इस सीमित जीवन को सन्मार्ग में बिताने का संदेश देता है, उसका विरोध कर्मकाण्ड से रहा है न कि सात्विक नैतिक जीवन से । यह बात ऋषिभाषित के उपरोक्त विवरण से सिद्ध हो जाती है ।



राजप्रश्नीय सूत्र में चार्वाक मत का प्रस्तुतिकरण

जैन आगमों में चार्वाक दर्शन के देहात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थन में और उसके खण्डन के लिए तर्क प्रस्तुत करने वाला सर्वप्रथम राजप्रश्नीयसूत्र हैं। यह एक मात्र ऐसा प्राकृत आगम ग्रन्थ है जो चार्वाक दर्शन के उच्छेदवाद और तज्जीवितच्छरीरवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के सन्दर्भ में अपने तर्क प्रस्तुत करता है। राजप्रश्नीय में चार्वाकों की इन मान्यताओं के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है -

राजा पएसी कहता है, हे केशीकुमार श्रमण ! मेरे दादा अत्यन्त अधार्मिक थे। आपके कथनानुसार वे अवश्य ही नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह को अत्यन्त प्रिय था, अतः मेरे पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिए कि हे पौत्र ! मैं तुम्हारा पितामह था और इसी सेयंविया (श्वेताम्बिका) नगरी में अधार्मिक कृत्य करता था यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन-रक्षण नहीं करता था। इस कारण बहुत एवं अतीव कलुषित पापकर्मों का संचय करके मैं नगर में उत्पन्न हुआ हूँ। किन्तु हे पौत्र ! तुम अधार्मिक मन होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन-रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप कर्मों का उपार्जन-संचय ही करना।

देहात्मवादियों के इस तर्क के प्रतिउत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न समाधान प्रस्तुत किया- हे राजन ! जिस प्रकार तुम अपने अपराधी को इसलिए नहीं छोड़ देते हो कि वह जाकर अपने पुत्र-मित्र और ज्ञाति जनों को यह बताये कि मैं अपने पाप के कारण दण्ड भोग रहा हूँ, तुम ऐसा मत करना। इसी प्रकार नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के लिए आना चाहकर भी यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। नारकीय जीव निम्न चार कारणों से मनुष्य लोक में नहीं आ सकते। सर्वप्रथम तो उनमें नरक से निकल कर मनुष्य लोक में आने की सामर्थ्य ही नहीं होती। दूसरे नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति भी नहीं देते। तीसरे नरक संबंधी असातावेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने से वे वहाँ से नहीं निकल पाते। चौथे उनका नरक संबंधी आयुष्य कर्म जब तक क्षीण नहीं होता तब तक वे वहाँ से नहीं आ सकते। अतः तुम्हारे पितामह के द्वारा तुम्हें आकर प्रतिबोध न दे

पाने के कारण यह मान्यता मत रखो कि जीव और शरीर एक ही हैं, अपितु यह मान्यता रखो की जीव अन्य है और शरीर अन्य है। अन्य है। स्मरण रहे कि दीर्घनिकाय में भी नरक से मनुष्य लोक में न आ पाने के इन्हीं चार कारणों का उल्लेख किया गया है। केशिकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क प्रस्तुत किया।

हे श्रमण! मेरी दादी अत्यन्त धार्मिक थीं आप लोगों के मत अनुसार वह निश्चित ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होगी। मैं अपनी दादी का अत्यन्त प्रिय था अतः उसे मुझे आकर यह बताना चाहिए कि, हे पौत्र! अपने पुण्य कर्मों के कारण मैं स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूँ। तुम भी मेरे समान धार्मिक जीवन बिताओं, जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन कर स्वर्ग में उत्पन्न होओ। क्योंकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर मुझे ऐसा प्रतिबोध नहीं दिया अतः मैं यह मानता हूँ कि जीवन और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया - हे राजन! यदि तुम स्नान, बलिकर्म और कौतुकमंगल करके देवकुल में प्रविष्ट हो रहे हो, उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि, हे स्वामिन्! यहाँ आओ! कुछ समय के लिए यहाँ बैठो, खड़े होओ। तो क्या तुम उस पुरुष की बात को स्वीकार करोगे। निश्चय ही तुम उस अपवित्र स्थान पर जाना नहीं चाहोगे। इसी प्रकार हे राजन! देवलोक में उत्पन्न देव वहाँ के दिव्य काम भागों में इतने मूर्छित, गृद्ध और तल्लीन हो जाते हैं कि वे मनुष्य लोक में आने की इच्छा नहीं करते। दूसरे देवलोक संबंधी दिव्य भोगों में तल्लीन हो जाने के कारण उनका मनुष्य संबंधी प्रेम व्युच्छिन्न हो जाता है अतः वे मनुष्य लोक में नहीं आ पाते। तीसरे देवलोक में उत्पन्न वे देव वहाँ के दिव्य कामभागों में मूर्छित या तल्लीन होने के कारण अभी जाता हूँ- अभी जाता हूँ ऐसा सोचते रहते हैं किन्तु उतने समय में अल्पायुष्य वाले मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं। (क्योंकि देवों का एक दिन-रात मनुष्य लोक के सौ वर्ष के बराबर होता है, अतः एक दिन का भी विलम्ब होने पर यहाँ मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाता है।) पुनः मनुष्य लोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि उसकी दुर्गन्ध के कारण देव मनुष्य लोक में आना नहीं चाहते हैं। अतः तुम्हारी दादी के स्वर्ग से नहीं आने पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

केशिकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया। राजा ने कहा कि मैंने एक चोर को जीवित ही एक लौहे की कुम्भी में बन्द करवा कर अच्छी तरह से लौहे से उसका मूख ढक दिया फिर उस पर गरम

लौहे और रांगे से लेप करा दिया तथा उसकी देख-रेख के लिए अपने विश्वास पात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिन पश्चात् मैंने उस कुम्भी को खुलावाया तो देखा कि वह मनुष्य मर चुका था किन्तु उसे कुम्भी में कोई भी छिद्र, विवर या दरार नहीं थी जिससे उसमें बन्द पुरुष का जीव बाहर निकला हो, अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

इसके प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया - जिस प्रकार एक ऐसी कूटागारशाला जो अच्छी तरह से आच्छादित हो उसका द्वार गुप्त हो यहाँ तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके। यदि उस कूटागारशाला में कोई व्यक्ति जोर से भेरी बजाये तो तु बताओं कि वह आवाज बाहर सुनायी देगी कि नहीं? निश्चय ही वह आवाज सुनायी होगी। अतः जिस प्रकार शब्द अप्रतिहत गति वाला है उसी प्रकार आत्मा भी अप्रतिहत गति वाला है अतः तुम यह श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। (ज्ञातव्य है कि अब यह तर्क विज्ञान सम्मत नहीं रह गया है, यद्यपि आत्मा की अमूर्तता के आधार भी राजा के उपरोक्त तर्क का प्रतिउत्तर दिया जा सकता है।) केशिकुमार श्रमण के इस प्रतिउत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया -

मैंने एक पुरुष को प्राण रहित करके एक लौह कुम्भी में सुलवा दिया तथा ढक्कन से उसे बन्द करके उस पर रांगे का लेप करवा दिया, कुछ समय पश्चात् जब उस कुम्भी को खोला गया तो उसे कृमिकुल से व्याप्त देखा, किन्तु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था जिससे उसमें जीव प्रवेश करके उत्पन्न हुए हों। अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने अग्नि से तपाये लौहे के गोले का उदाहरण दिया। जिस प्रकार लौह के गोले में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार जीव भी अप्रतिहत गति वाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है।

केशिकुमार श्रमण का यह प्रत्युत्तर सुनकर राजा ने पुनः एक नया तर्क प्रस्तुत किया। उसने कहा कि, मैंने एक व्यक्ति को जीवित रहते हुए और मरने के बाद दोनों ही दशाओं में तौला किन्तु दोनों के तौल में कोई अन्तर नहीं था। यदि मृत्यु के बाद आत्मा उसमें से निकली होती तो उसका वजन कुछ कम अवश्य होना चाहिए था। इसके प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने वायु से भरी हुई और वायु से रहित मशक के तौल के बराबर होने का उदाहरण दिया और यह बताया कि जिस प्रकार वायु अगुरुलघु है उसी प्रकार जीव भी अगुरुलघु हैं। अतः तुम्हारा यह तर्क भी युक्ति संगत नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं। (अब यह तर्क भी

वैज्ञानिक दृष्टि से युक्ति संगत नहीं रह गया हैं। क्योंकि वैज्ञानिक यह मानते हैं कि वायु में वजन होता है। दूसरे यह भी प्रयोग करके देखा गया है कि जीवित और मृत शरीर के वजन में अंतर पाया जाता है। उस युग में सूक्ष्म तुला के अभाव के कारण यह अन्तर ज्ञात नहीं होता रहा होगा।)

राजा ने फिर एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि मैंने एक चोर के शरीर के विभिन्न अंगों को काटकर, चीरकर देखा लेकिन मुझे कहीं भी जीव नहीं दिखाई दिया। अतः शरीर से पृथक् जीव की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसके प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने उसे निम्न उदाहरण देकर समझाया -

“हे राजन! तू बड़ा मूढ़ मालूम होता है मैं तुझे एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। एक बार कुछ वनजीवी साथ में अग्नि लेकर एक बड़े जंगल में पहुँचे। उन्होंने अपने एक साथ से कहा, हे देवानुप्रिय! हम जंगल में लकड़ी लेने जाते हैं तू इस अग्नि से आग जलाकर हमारे लिए भोजन बनाकर तैयार रखना। यदि अग्नि बुझ जाय तो लकड़ियों को घिस कर अग्नि जला लेना। संयोगवश उसके साथियों के चले जाने पर थोड़ी ही देर बाद आग बुझ गई। अपने साथियों के आदेशानुसार वह लकड़ियों को चारों ओर से उलट-पलट कर देखने लगा, लेकिन आग कहीं नजर नहीं आई। उसने अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीरा उनके छोटे-छोटे टुकड़े किये किन्तु फिर भी आग दिखाई नहीं दी। वह निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि देखों, मैं अभी तक भी भोजन तैयार नहीं कर सका। इतने में जंगल में से उसके साथी लौटकर आ गये, उसने उन लोगों से सारी बातें कही। इस पर उनमें से एक साथी ने शर बनाया और शर को अरणि के साथ घिस कर अग्नि जलाकर दिखायी और फिर सबने भोजन बना कर खा। हे पएसी! जैसे लकड़ी को चीर कर आग पाने की इच्छा रखने वाला उक्त मनुष्य मूर्ख था, वैसे ही शरीर को चीर कर जीव देखने की इच्छा वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। जिस प्रकार अरणि के माध्यम से अग्नि अभिव्यक्त होती है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होती है किन्तु शरीर को चीरकर उसे देखने की प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खता पूर्ण है जैसे अरणि को चीर फाड़ कर अग्नि को देखने की प्रक्रिया। अतः हे राजा यह श्रद्धा करो कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये सभी तर्क वैज्ञानिक युग में इतने सबल नहीं रह गये हैं, किन्तु ई.पू. सामान्यतया चार्वाकों के पक्ष के समर्थन में और उनका खण्डन करने के लिये ये ही तर्क प्रस्तुत किये जाते थे। अतः चार्वाक दर्शन के ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से इनका अपना महत्व है। जैन और बौद्ध परम्परा में इनमें अधिकांश तर्क समान होने से इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वतः सिद्ध है।

जैन साहित्य में दार्शनिक दृष्टि से जहाँ तक चार्वाक दर्शन के तर्कपुरस्सर प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा का प्रश्न है- सर्वप्रथम उसे आगमिक व्याख्या साहित्य के एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य (ईस्वी सन् की सातवीं शती) में देखा जा सकता है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा ईस्वी सन् की छठी शती में प्राकृत भाषा में निबद्ध इस ग्रन्थ की लगभग 500 गाथायें तो आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मुक्ति आदि अवधारणाओं की तार्किक समीक्षा से संबंधित हैं। इस ग्रन्थ का यह अंश गणधरवाद के नाम से जाना जाता है और अब स्वतंत्र रूप से प्रकाशित भी हो चुका है। प्रस्तुत निबंध में इस समग्र चर्चा को समेट पाना सम्भव नहीं था, अतः इस निबंध को यहीं विराम दे रहे हैं।

□□

6

बौद्ध धर्मदर्शन

भारतीय संस्कृति के दो प्रमुख घटकों का सहसम्बन्ध

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ

भारतीय संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है। उसकी संरचना में आर्य और द्रविड़ तथा उनसे विकसित वैदिक और श्रमण धाराओं का महत्वपूर्ण अवदान है। यह सत्य है कि जहां वैदिक धारा मूलतः प्रवृत्ति प्रधान रही है, वहीं श्रमण धारा मूलतः निवृत्ति प्रधान रही है। चाहे प्रारंभ में वैदिक धारा और श्रमण धारा स्वतंत्र रूप में अस्तित्व में आए हों, किन्तु कालान्तर में इन दोनों धाराओं ने परस्पर एक दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण किया है। वर्तमान युग में जहां वैदिक धारा का प्रतिनिधित्व हिन्दू धर्म-दर्शन करता है, वहीं श्रमण धारा का प्रतिनिधित्व जैन और बौद्ध धर्म करते हैं। किन्तु यह समझना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि वर्तमान हिन्दू धर्म अपने शुद्ध स्वरूप में मात्र वैदिक धारा का प्रतिनिधि है। वर्तमान हिन्दू धर्म में श्रमणधारा के अनेक तत्त्व समाविष्ट हो गये हैं और उसी प्रकार आज यह कहना भी कठिन है कि श्रमण धारा के प्रतिनिधि जैन और बौद्ध धर्म वैदिक धारा और उससे विकसित हिन्दू धर्म से पूर्णतः अप्रभावित रहे हैं। यदि हम भारतीय संस्कृति के सम्यक् इतिहास को समझना चाहते हैं तो हमें इस तथ्य को दृष्टिगत रखना होगा कि उसमें कालक्रम में उसकी विभिन्न धाराएं एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करती रही हैं। कोई भी संस्कृति और सभ्यता शून्य में विकसित नहीं होती है। देशकालगत परिस्थितियों के प्रभाव के साथ-साथ वह सहवर्ती अन्य संस्कृतियों से भी प्रभावित होती है। यह सत्य है कि प्राचीन वैदिक धर्म यज्ञ-याग और कर्मकाण्ड प्रधान रहा है और उसके प्रतिनिधि वर्तमान हिन्दू धर्म में भी आज भी इन तत्त्वों की प्रधानता देखी जाती है। किन्तु वर्तमान हिन्दू धर्म में सन्यास और मोक्ष की अवधारणा का भी अभाव नहीं है। यह सत्य है कि कालक्रम में वैदिक धर्म ने सन्यास और मोक्ष की अवधारणा का भी अभाव नहीं है। यह सत्य है कि कालक्रम में वैदिक धर्म ने अध्यात्म, सन्यास, वैराग्य एवं तप-त्याग के तत्त्वों को श्रमण परम्परा से लेकर आत्मसात किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक वैदिक काल में ये तत्त्व उसमें पूर्णतः अनुपस्थित थे। प्राचीन स्तर की वैदिक ऋचाएं इस संबंध में पूर्णतः मौन हैं, किन्तु

आरण्यकों और उपनिषदों के काल में ही श्रमण परम्परा के, इन तत्त्वों को वैदिक परम्परा में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। ईशवास्योपनिषद्, जो अथर्ववेद का अन्तिम परिशिष्ट भी है, सर्वप्रथम वैदिकधारा और श्रमणधारा के समन्वय का प्रयास ही है। औपनिषदिक चिन्तन निश्चित रूप से तप-त्याग मूलक, अध्यात्म और वैराग्य को अपने में स्थान देता है। उपनिषद् तप-त्याग मूलक अध्यात्मिक संस्कृति पर बल देते हुए प्रतीत होते हैं। मात्र यही नहीं वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति प्रश्नचिन्ह उपस्थित करने वाले भी वे ही प्रथम ग्रन्थ हैं। वैदिक और श्रमण संस्कृति के समन्वय का जो प्रयत्न आरण्यकों एवं उपनिषदों ने किया था, वही गीता और महाभारत में विकसित एवं पल्लवित होता रहा है। उपनिषद्, गीता और महाभारत वैदिक और श्रमणधारा के सांस्कृतिक समन्वय स्थल हैं। उनमें प्राचीन वैदिक धर्म एक नया आध्यात्मिक स्वरूप लेता हुआ प्रतीत होता है। जिसे आज हम हिन्दू धर्म के रूप में जानते हैं।

साथ ही यह भी सत्य है कि निवृत्ति प्रधान श्रमणधारा भी वैदिक धारों से पूर्णतः असम्प्रक्त नहीं रही है। श्रमणधारा ने भी चाहे-अनचाहे रूप में वैदिक धारा से बहुत कुछ ग्रहण किया है। यह सत्य है कि प्रारंभ में श्रमण धारा के आध्यात्म ने वैदिक धारा को प्रभावित किया। किन्तु कालान्तर में उसे भी वैदिक धारा के अनेक तत्त्वों को आत्मसात करना पड़ा है। श्रमणधारा में जो कर्मकाण्ड और पूजा पद्धति का विकास हुआ है वह वैदिक धारा से विकसित हिन्दू परम्परा का प्रभाव ही है। अनेक हिन्दू देवी-देवता और उनकी पूजा-उपासना की पद्धति श्रमण परम्परा में आत्मसात कर ली गई। किस परम्परा ने किससे कितना और कब किन परिस्थितियों में आत्मसात कर ली गई। किस परम्परा ने किससे कितना और कब किन परिस्थितियों में ग्रहण किया है इसकी चर्चा आगे करेंगे। किन्तु यहां यह समझ लेना आवश्यक है। कि इन दोनों धाराओं का स्वतंत्र विकास कितना भौतवैज्ञानिक परिस्थितिक कारणों से हुआ है और वे क्यों और कैसे एक-दूसरे के तत्त्वों को ग्रहण करने के लिये विवश हुई अथवा इन दोनों धाराओं में पारस्परिक समन्वय की आवश्यकता क्यों हुई?

वैदिक और श्रमण धारा के उद्भव के मूल में किसी न किसी रूप में मानव अस्तित्व का वैविध्यतापूर्ण होना ही है। मानव अस्तित्व द्विआयामी और विरोधाभासपूर्ण है। वह स्वभावतः परस्पर दो विरोधी केन्द्रों के मध्य सन्तुलन बनाने का प्रयत्न करता रहता है। मनुष्य न केवल शरीर है और न केवल चेतना। शरीर के स्तर पर वह जैविक वासनाओं और इच्छाओं से प्रभावित है तो चेतना के स्तर पर वह विवेक से अनुशासित भी है। वासना और विवेक का यह अंतर्छन्द मनुष्य

की नियति है और इन दोनों के मध्य सांग सन्तुलन स्थापित करना उसकी अनिवार्यता है। शारीरिक स्तर पर वह जैविक वासनाओं से चलित है और इस स्तर पर उस पर जैविक यांत्रिक नियमों का आधिपत्य है। यही उसकी परतंत्रता भी है। किन्तु चैतसिक स्तर पर वह विवेक से शासित है। यहां उसमें संकल्प स्वातंत्र्य है। शारीरिक स्तर पर वह बद्ध है, परतंत्र है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह स्वतंत्र है, मुक्त है। दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति और आध्यात्मिक तोष वह इन दोनों में से किसी की भी एक की उपेक्षा करने में वह समर्थ नहीं है।

एक ओर उसका वासनात्मक अहं उसके सम्मुख अपनी मांगें प्रस्तुत करता है। तो दूसरी ओर उसे विवेक चालित अपनी अन्तरात्मा की बात भी सुनना होती है। उसके लिये इन दोनों में से किसी की भी पूर्ण उपेक्षा असंभव है। मनुष्य के जीवन की सफलता इसी में रही हुई है कि वह अपने वर्तमान अस्तित्व में इन दोनों छोरों में एक सांग-सन्तुलन बना सके। मानवीय संस्कृति में श्रमण और वैदिक धाराओं के उद्भव के मूल में वस्तुतः मानव अस्तित्व का यह द्विआयामी या विरोधाभासपूर्ण स्वरूप ही है। मनुष्य को दैहिक वासनात्मक स्तर पर तथा चैतसिक आध्यात्मिक स्तर पर जीवन जीना होता है। वैदिक एवं प्रवर्तक धर्मों के मूल में मनुष्य का वासनात्मक जैविक पक्ष ही प्रधान रहा है। जबकि श्रमण या निवर्तक धर्मों के मूल में विवेक बुद्धि प्रमुख रही है। आगे हम यह विचार करेंगे कि इन प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों की विकास यात्रा का मनोवैज्ञानिक क्रम क्या है? और उनके सांस्कृतिक प्रदेय किस रूप में हैं?

वैदिक एवं श्रमणधारा के उद्भव का मनोवैज्ञानिक आधार

मानव-जीवन में शारीरिक विकास, वासना को और चैतसिक विकास विवेक को जन्म देता है। प्रदीप्त-वासना अपनी सन्तुष्टि लिये 'भोग' की अपेक्षा रखती है तो विशुद्ध-विवेक अपने अस्तित्व के लिये 'संयम या विराग' की अपेक्षा करता है। क्योंकि साराग-विवेक सही निर्णय देने में अक्षम होता है। वस्तुतः वासना भोगों पर जीती है और विवेक विराग पर। यहीं दो अलग-अलग जीवन दृष्टियों का निर्माण होता है। एक का आधार वासना और भोग होता है तो दूसरी का आधार विवेक और विराग। श्रमण-परम्परा में इनमें से पहली को मिथ्या-दृष्टि और दूसरी को सम्यक्-दृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषदों में इन्हें क्रमशः प्रेय और श्रेय के मार्ग कहे गये हैं। 'कठोपनिषद्' में ऋषि कहता है कि प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। उसमें से मन्द-बुद्धि शारीरिक योग-क्षेम अर्थात् प्रेय को और विवेकी पुरुष श्रेय को चुनता है। वासना की तुष्टि के लिये

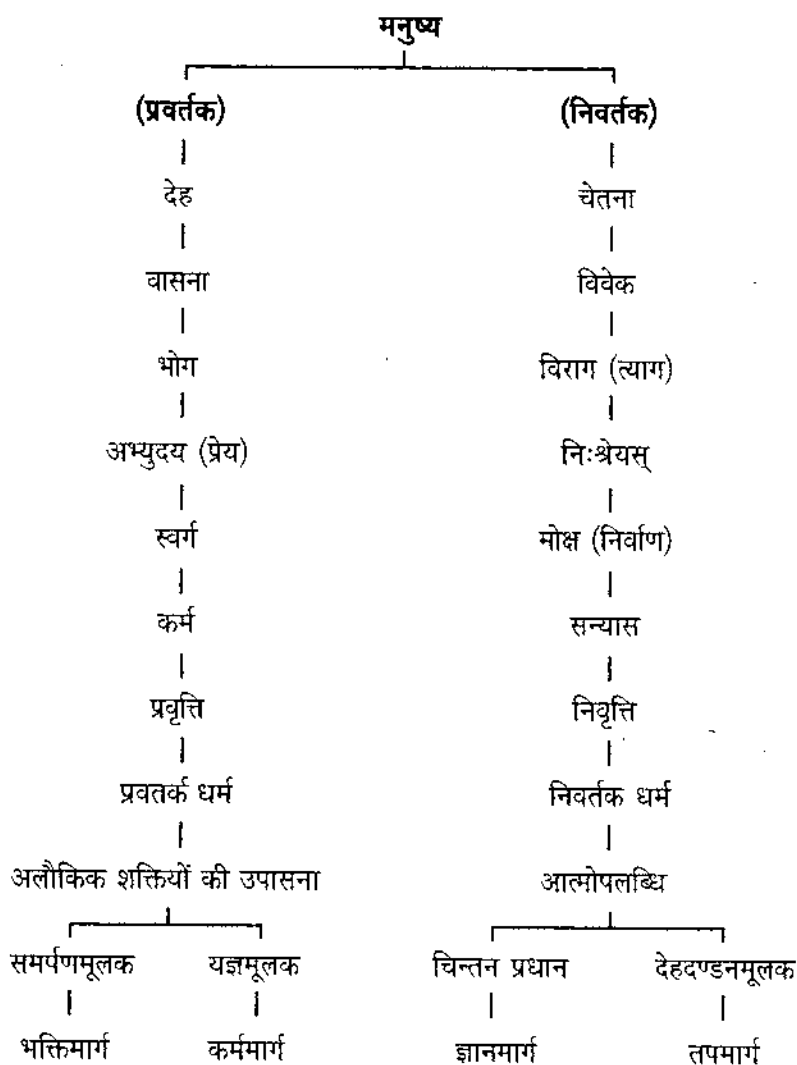
भोग और भोगों के साधनों की उपलब्धि के लिये कर्म अपेक्षित है। इसी भोगप्रधान जीवन-दृष्टि से कर्म-निष्ठा का विकास हुआ है। दूसरी ओर विवेक के लिये विराग (संयम) और विराग के लिये आध्यात्मिक मूल्य-बोध (शरीर के ऊपर आत्मा की प्रधानता का बोध) अपेक्षित है। इसी से आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि या त्याग-मार्ग का विकास हुआ।

इनमें पहली धारा से प्रवर्तक धर्म का और दूसरी से निवर्तक धर्म का उद्भव हुआ। प्रवर्तक धर्म का लक्ष्य भोग ही रहा, अतः उसने अपनी साधना का लक्ष्य सुविधाओं की उपलब्धि को ही बनाया। जहाँ ऐहिक जीवन में उसने धन-धान्य, पुत्र, सम्पत्ति आदि की कामना की, वहीं पारलौकिक जीवन में स्वर्ग (भौतिक सुख-सुविधाओं की उच्चतम अवस्था) की प्राप्ति को ही मानव-जीवन का घरम लक्ष्य घोषित किया। पुनः आनुभाविक जीवन में जब मनुष्य ने यह देखा कि अलौकिक एवं प्राकृतिक शक्तियाँ उसकी सुख-सुविधाओं की उपलब्धि के प्रयासों को सफल या विफल बना सकती हैं, अतः उसने यह माना कि उसकी सुख-सुविधाएँ उसके अपने पुरुषार्थ पर नहीं, अपितु इन शक्तियों की कृपा पर निर्भर हैं, तो वह इन्हें प्रसन्न करने के लिए एक ओर इनकी स्तुति और प्रार्थना करने लगा तो दूसरी ओर उन्हें बलि और यज्ञों के माध्यम से भी सन्तुष्ट करने लगा। इस प्रकार प्रवर्तक धर्म में दो शाखाओं का विकास हुआ-1, श्रद्धाप्रधान भक्ति-मार्ग और 2 यज्ञयाग प्रधान कर्म-मार्ग।

दूसरी ओर निष्पाप और स्वतंत्र जीवन जीने की उमंग में निवर्तक धर्म ने निर्वाण या मोक्ष अर्थात् वासनाओं एवं लौकिक एषणाओं से पूर्ण मुक्ति को मानव-जीवन का लक्ष्य माना और इस हेतु ज्ञान और विराग को प्रधानता दी, किन्तु ज्ञान और विराग का यह जीवन सामाजिक एवं पारिवारिक व्यस्तताओं के मध्य सम्भव नहीं था। अतः निवर्तक धर्म मानव को जीवन के कर्म-क्षेत्र से कहीं दूर निर्जन वनखण्डों और गिरि कन्दराओं में ले गया। उसमें जहाँ एक ओर दैहिक मूल्यों एवं वासनाओं के निषेध कर बल दिया गया जिससे चिन्तन और विमर्श के द्वार खुले, जिज्ञासा का विकास हुआ, जिससे चिन्तनप्रधान ज्ञान-मार्ग का उद्भव हुआ। इस प्रकार निवर्तक धर्म भी दो शाखाओं में विभक्त हो गया -

1. ज्ञान-मार्ग और 2. तप-मार्ग।

मानव प्रकृति के दैहिक और चैतसिक पक्षों के आधार पर प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों के विकास की इस प्रक्रिया को निम्न सारणी के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है -



निवर्तक (श्रमण) एवं प्रवर्तक (वैदिक) धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का यह विकास भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है -

प्रवर्तक धर्म	निवर्तक धर्म
1. जैविक मूल्यों की प्रधानता	1. आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता
2. विधायक जीवन-दृष्टि	2. निषेधक जीवन-दृष्टि
3. समष्टिवादी	3. व्यष्टिवादी
4. व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी दैविक शक्तियों की कृपा पर विश्वास	4. व्यवहार में नैष्कर्मण्यता का समर्थन फिर आत्मकल्याण हेतु वैयक्तिक पुरुषार्थ पर बल।
5. ईश्वरवादी	5. अनीश्वरवादी
6. ईश्वरीय कृपा पर विश्वास	6. वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास, कर्म सिद्धान्त का समर्थन।
7. साधना के बाह्य साधनों पर बल	7. आन्तरिक विशुद्धता पर बल।
8. जीवन का लक्ष्य स्वर्ग/ईश्वर के सानिध्य की प्राप्ति।	8. जीवन का लक्ष्य मोक्ष एवं निर्वाण की प्राप्ति।
9. वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	9. जातिवाद का विरोध, वर्ण-व्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन।
10. गृहस्थ-जीवन की प्रधानता	10. संन्यास जीवन की प्रधानता।
11. सामाजिक जीवन शैली	11. एकाकी जीवन शैली।
12. राजतन्त्र का समर्थन	12. जनतन्त्र का समर्थन।
13. शक्तिशाली की पूजा	13. सदाचारी की पूजा।
14. विधि विधानों एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता	14. ध्यान और तप की प्रधानता।
15. ब्राह्मण-संस्था (पुरोहित वर्ग) का विकास	15. श्रमण-संस्था का विकास।
16. उपासनामूलक	16. समाधिमूलक

प्रवर्तक धर्म में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं। उदाहरणार्थ-हम सौ वर्ष जीयें, हमारी सन्तान बलिष्ठ हों, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हों आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया, उसने सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बंधन है और संसार दुःखों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन-लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म सन्तोष की

सर्वोच्च जीवन मूल्य है। एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ है कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वांछनीय और रक्षणीय माना गया, तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमें शारीरिक माँगों को ठुकराना ही जीवन-लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और आध्यात्मिकता के प्रतीक बन गए। प्रवर्तक धर्म जैविक मूल्यों पर बल देता है अतः स्वाभाविक रूप से वह समाजगामी बना, क्योंकि दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति, जिसका एक अंग काम भी है, तो समाज-जीवन में ही सम्भव थी, किन्तु विराग और त्याग पर अधिक बल देने के कारण निवर्तक धर्म समाज-विमुख और वैयक्तिक प्रयासों के बावजूद उनकी पूर्ति या आपूर्ति किन्हीं अन्य शक्तियों पर निर्भर है, तो वह दैववादी और ईश्वरवादी बन गया। विश्व व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियों के नियंत्रक तत्त्वों के रूप में उसने विभिन्न देवों और फिर ईश्वर की कल्पना की और उनकी कृपा की आकांक्षा करने लगा। इसके विपरीत निवर्तक धर्म व्यवहार में नैष्कर्मण्यता का समर्थक होते हुए भी कर्म-सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगा कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वयं उसके कारण है, अतः निवर्तक धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासों में आस्था रखने लगा। अनीश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्मसिद्धान्त उसके प्रमुख तत्त्व बन गए। साधना के क्षेत्र में जहाँ प्रवर्तक धर्म में अलौकिक दैवीय शक्तियों की प्रसन्नता के निमित्त कर्मकाण्ड और बाह्य-विधानों (यज्ञ-योग) का विकास हुआ, वहीं निवर्तक धर्मों ने चित्त शुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया तथा किन्हीं दैवीय शक्तियों के निमित्त कर्मकाण्ड के सम्पादन को अनावश्यक माना।

श्रमण और वैदिक धाराओं की प्राचीनता का प्रश्न

यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रमण धारा और वैदिक धारा में कौन प्राचीन है?

इस प्रश्न का उत्तर दो दृष्टियों से दिया जा सकता है -(1) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और (2) ऐतिहासिक दृष्टि से।

जहाँ तक मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि का प्रश्न है हमें यह स्वीकार करना होगा कि मानवीय सभ्यता और संस्कृति का एक कालक्रम में विकास हुआ है। मनुष्य प्रारंभ में एक विवेकशील विकसित प्राणी के रूप में ही प्रकृति पर आश्रित होकर अपना जीवन जीता था। उसमें सभ्यता, संस्कृति और आध्यात्मिक चेतना का विकास एक परवर्ती घटना है। अपने प्राकृत जीवन से सामाजिक जीवन और सामाजिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर उसका क्रमिक विकास हुआ है। जैन परम्परा की दृष्टि से भी विचार करें तो यौगलिक परम्परा से कुलकर परम्परा

और उससे राज्य व्यवस्था, धर्म व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है। विशुद्ध प्राकृतिक जीवन से सामाजिक जीवन और सामाजिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर उसने एक यात्रा की है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह लगता है कि प्रारंभ में प्रवर्तक धारा या वैदिक धारा ही अस्तित्व में आयी। जैसे-जैसे प्राकृतिक संसाधनों में कमी आई और मनुष्यों की संख्या में भी वृद्धि हुई। जैविक आवश्यकताओं के साधनों पर आधिपत्य की भावना जागृत हुई। उन जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की अधिकतम उपलब्धि कैसे हो, उसी हेतु प्रकृति पूजा और तज्जन्य प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व का आरोपण करने वाले वैदिक धर्म का विकास हुआ। किन्तु जब व्यक्ति इन भौतिक उपलब्धियों से आत्मतोष नहीं पा सका और उनके निमित्त से उसके वैयक्तिक और सामाजिक जीवन संघर्षों और तनावों से ग्रस्त हो गया तो वह आध्यात्मिक शांति की खोज में निकला होगा और उसी से आध्यात्मिक श्रमण धारा का विकास हुआ। प्रारंभिक अवस्था में उसके सामने मुख्य समस्याएं उसकी जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति ही रही होगी। कहा भी है- “भूखे पेट भजन नहीं होई गोपाला”। अतः स्वभाविक है कि पहले प्रवर्तक वैदिक धर्म का विकास हुआ होगा किन्तु जैसा ईसामसीह का कथन है कि - “Man can not live by bread alone” अर्थात् मनुष्य केवल रोटी पर जिन्दा नहीं रह सकता, परिणामतः उसकी आध्यात्मिक भूख और जिज्ञासावृत्ति जाग्रत हुई और उसने आध्यात्मिक एवं निवृत्तिमूलक धर्मों को जन्म दिया। क्योंकि मूल्य व्यवस्था के क्रम में भी जैविक और सामाजिक मूल्यों के बाद ही आध्यात्मिक मूल्यों की ओर रुझान होता है। जैविक और सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा करके आध्यात्मिक मूल्यों को जीना, चाहे किसी व्यक्ति विशेष के लिए संभव हो, किन्तु वह सार्वभौमिक और सार्वजनिक नहीं हो सकता।

जहां तक ऐतिहासिक साक्ष्यों का प्रश्न है कि भारतीय संस्कृतियों को समझने के लिए हमारे सामने दो ही प्रमाण हैं 1. साहित्यिक और 2. पुरातात्विक। साहित्यिक प्रमाणों की अपेक्षा से हमें जो प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध है, वह ऋग्वेद ही है। ऋग्वेद न केवल भारतीय साहित्य अपितु विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। दूसरी ओर पुरातात्विक दृष्टि से जो साक्ष्य हमें उपलब्ध है उनमें मोहनजोदड़ों और हड़प्पा ही प्राचीनतम है। वैदिक और श्रमण संस्कृतियों में कौन प्राचीन है इसका ऐतिहासिक दृष्टि से निर्णय इन्हीं दो साक्ष्यों पर निर्भर करेगा।

जैसा कि हमने पूर्व में कहा कि साहित्यिक साक्ष्यों पर ऋग्वेद प्राचीनतम है। ऋग्वेद में श्रमण धारा के प्रमुख शब्दों में अरहन्त, वातरसनामुनि, श्रमण, ब्राह्म आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद आर्हत और बार्हत ऐसी दो परम्पराओं का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख करता है। ऋग्वेद में इन दोनों परम्पराओं के उल्लेख इस

तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि ऋग्वेद के रचनाकाल में दोनों ही परम्पराएं अपना अस्तित्व रखती थीं। ऋग्वेद में न केवल अरहन्त एवं अर्हत् शब्द मिलते हैं, अपितु आर्हत् परम्परा का ओर उसके आद्य संस्थापक ऋषभ के भी उल्लेख हैं। ऋग्वेद में 112 ऋचाओं में ऋषभ शब्द का उल्लेख है। यद्यपि सर्व स्थलों पर ऋषभ शब्द तीर्थंकर ऋषभ का वाचक है, यह कहना तो कठिन है किन्तु उन ऋचाओं के आधार पर यह मानना भी संभव नहीं है कि वे सभी ऋचाएं सामान्यतः वृषभ (बैल) की वाचक हैं। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि-औपनिषदिक सूक्तों और वैदिक ऋचाओं में अनेक ऐसी हैं जो प्रतीकात्मक हैं। क्योंकि उन्हें प्रतीकात्मक माने बिना उनका कोई भी वास्तविक अर्थ नहीं निकल सकता है। उदाहरण के रूप में कठोपनिषद् का यह कथन लें,- “अजां एकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वि प्रजा-सृजामाणास्वरूपा”- सामान्य शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से इसका अर्थ होगा कि लाल, काले और सफेद रंग की एक बकरी अपने ही समान सन्तानों को जन्म देती है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से इसका अर्थ है कि सत्य रजस् और तमसूगुण से युक्त प्रकृति ही अपने ही समान सृष्टि को जन्म देती है। वस्तुतः यही स्थिति ऋग्वेद की ऋषभ वाची ऋचाओं की है। अतः उनका प्रतीकात्मक अर्थ किस प्रकार जैन या श्रमण परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होता है इसकी विस्तृत चर्चा हमने ऋग्वेद में ऋषभ वाची ऋचाएं नामक एक लेख में की है। विस्तार भय से यहां उस चर्चा में उतरना तो संभव नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि ऋग्वेद के काल में इस देश में आर्हत् और बार्हत् दोनों ही परम्पराएं जीवित थीं अर्थात् वैदिक और श्रमण धाराओं का सह-अस्तित्व था।

जहां तक पुरातात्विक साक्ष्यों का प्रश्न है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जो श्रमण या आर्हत् परम्परा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। हड़प्पा के उत्खनन में हमें ध्यानस्थ योगियों की अनेक सीलें उपलब्ध होती हैं, जिनमें खड्गासन या पद्मासन की मुद्रा में योगी ध्यान में बैठे दिखाये गये हैं। यद्यपि इन पुरातात्विक साक्ष्यों में अनेक अभिलेख भी हैं, जो अभी तक नहीं पढ़े गये हैं। किन्तु इनसे इतना तो सिद्ध होता है कि उस काल में एक सुसंस्कृत सभ्यता अस्तित्व में थी और उसका बहुत कुछ संबंध प्राचीन आर्हत् धारा की योग, शैव आदि श्रमण धारा की परम्पराओं से रहा है। शैव परम्परा अवैदिक परम्परा है इसे अनेक विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। वस्तुतः सांख्य योग, शैव, आजीविक बौद्ध और जैन ये सभी परम्पराएं मूल में प्राचीन आर्हत् श्रमण धाराओं के ही विविध रूप हैं। इन सब साक्ष्यों को चाहे हम स्पष्ट रूप से निर्ग्रन्थ या जैन उद्धोषित न भी कर सके तो भी ये सभी साक्ष्य आर्हत् श्रमण धारा के ही सूचक

हैं। औपनिषदिक धारा के साथ-साथ सांख्य योग आदि परम्पराएं भी मूलतः श्रमण ही हैं और इस दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि श्रमण परम्परा भी उतनी ही प्राचीन है जितनी वैदिक परम्परा।

भारतीय श्रमण परम्परा के विभिन्न घटक

भारतीय श्रमण परम्परा या आर्हत परम्परा एक अतिव्यापक परम्परा है। औपनिषदिक, जैन और बौद्ध साहित्य के प्राचीन अंशों में इसके अस्तित्व के संकेत उपलब्ध होते हैं। इस श्रमण परम्परा का प्राचीनतम संकेत ऋग्वेद (10/136/2) में वातरशना मुनि के उल्लेख के रूप में भी उपलब्ध है। जिसका सामान्य अर्थ नग्न मुनि या वायु का भक्षण कर जीवित रहने वाले मुनि ऐसा होता है। ऋग्वेद में जीर्ण और मलयुक्त अर्थात् मैले वस्त्र धारण करने वाले पिशांगवसना मुनियों का भी उल्लेख मिलता है। यह सब उल्लेख इस तथ्य के प्रमाण हैं कि ऋग्वैदिक काल में श्रमण परम्परा का अस्तित्व था। पुनः ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में जो ब्राह्मणों का उल्लेख उपलब्ध होता है वह भी श्रमण धारा की प्राचीनता का सूचक है। इसका एक प्रमाण यह है कि आरण्यकों में श्रमणों और वातरशना मुनियों को एक ही बताया गया है। इसी प्रकार उपनिषदों (बृहदा; 4/3/22) में तापसों और श्रमणों को एक बताया गया है। जैन परम्परा में भी श्रमणों के पांच प्रकारों के चर्चा करते हुए उनमें निर्ग्रन्थ, आजीवक शाक्यपुत्रीयश्रमण, गैरिक और तापस ऐसे पांच विभाग मिलते हैं। यदि हम औपनिषदिक, बौद्ध और जैन धारा के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करते हैं, तो हमें इस प्राचीन श्रमण धारा की व्यापकता का ज्ञान हो जाता है। इस संबंध में अति विशद चर्चा तो यहाँ संभव नहीं है किन्तु यदि हम बृहदारण्यकोपनिषद् (6/5/3-4 पृ.356 तथा 4/6/1-3 पृ.327) के ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की वंशावली का बौद्ध परम्परा की थेरगाथा का तथा जैन परम्परा के ग्रन्थ ऋषिभाषित के ऋषियों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करे तो हमें भारतीय श्रमण धारा की व्यापकता का पता लग सकता है। क्योंकि इन तीनों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर इनमें अनेकों नाम समान रूप से पाये जाते हैं जो इस तथ्य के सूचक हैं कि भारतीय श्रमणधारा का मूल स्रोत एक ही है।

औपनिषदिक धारा को श्रमण धारा के साथ संयोजित करने के पीछे मुख्य रूप से निम्न आधार हैं:-

औपनिषदिक धारा मूलतः कर्मकाण्ड की विरोधी है। उपनिषदों में न केवल वैदिक कर्मकाण्ड की उपेक्षा की गई है अपितु मुण्डकोपनिषद (1/2/7) में यह कहकर कि यज्ञ-रूपी ये नौकाएं अदृढ़ हैं, सछिद्र हैं, ये संसार सागर में डूबने वाली हैं, न केवल वैदिक कर्मकाण्ड की आलोचना की है अपितु यह कहकर कि जो इसे श्रेय मानकर इसका अभिनन्दन करता है, वह मूढ़ पुरुष जरा और मृत्यु को

प्राप्त होता है। कर्मकाण्ड की हेयता को भी उजागर किया गया है। इसके साथ-साथ बृहदारण्यकोपनिषद् (6/2/8) में जनक के द्वारा याज्ञवल्क्य को स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह अध्यात्म विद्या पहले किसी भी ब्राह्मण के पास नहीं रही है, तुम्हारी नम्रतायुक्त प्रार्थना को देखकर ही मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ। इस परिचर्चा में न केवल भौतिक उपलब्धियों को हीन बताया गया है, अपितु यज्ञ रूपी कर्मकाण्ड को प्राकृतिक शक्तियों के साथ समन्वय करते हुए उनका किसी रूप में आध्यात्मीकरण भी किया गया है। इस उपनिषद् में (6/2/16 पृ. 345) स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वे लोक जो यज्ञ, दान, तपस्या के द्वारा लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं वे धूम मार्ग को प्राप्त होते हैं। ज्ञातव्य है कि यहाँ धूम मार्ग को जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाने वाला कहा गया है। यद्यपि उपनिषदों में अनेक स्थलों पर कर्मकाण्ड संबंधी उल्लेख मिल जाते हैं किन्तु औपनिषदिक ऋषि उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते थे। दूसरा महत्वपूर्ण संकेत उपनिषदों में यह मिलता है कि उनमें यज्ञीय कर्मकाण्ड का आध्यात्मीकरण किया गया है। आत्मतत्त्व की सर्वोपरिता औपनिषदिक चिन्तन के आध्यात्मीक होने का सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण हैं (ऐतरेयोपनिषद् 1/1/1/1)। यज्ञ के आध्यात्मीकरण के कुछ उल्लेख यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं:-

बृहदारण्यकोपनिषद् (6/2/12) में कहा गया है कि पुरुष ही अग्नि है। उसका खुला हुआ मुख ही समिधाएं हैं, प्राण ही धुंआ है, वाणी ही ज्वाला है, चक्षु ही अंगारें हैं, श्रोत्र ही चिंगारी है। इस अग्नि में ही समस्त देवता अन्न का होम करते हैं। यहा यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि बृहदारण्यक को उपनिषद् की कोटि में गिना जाता है, किन्तु मूल में यह आरण्यक वर्ग का ही है। आरण्यक उस स्थिति के सूचक है जब वैदिक कर्मकाण्ड आध्यात्मिक स्वरूप ग्रहण करने की ओर प्रथमतः प्रस्थित हुआ था। उपनिषदों के आध्यात्मिक पक्ष को समझने के लिए मुण्डकोपनिषद् के प्रथम खण्ड के दस और द्वितीय खण्ड के आठ श्लोक विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट रूप से औपनिषदिक धारा के श्रमण धारा होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। इसी प्रकार कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की द्वितीय वल्ली के प्रारम्भ में जो श्रेय और प्रेय मार्ग का विवेचन कर जो श्रेय मार्ग की प्रमुखता बताई गई है वह भी औपनिषदिक धारा के श्रमण धारा के निकट होने का प्रमाण है।

मुण्डकोपनिषद् का यह कथन कि (मुण्डकोपनिषद् 3/1/5) इस शरीर के भीतर जो आत्मतत्त्व उपस्थित है उसे सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा दोषों से क्षीण यतीगण देख लेते हैं।” यह कथन जैन दर्शन के सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक्, चारित्र और सम्यक् तप रूप मोक्षमार्ग को ही प्रतिध्वनित करता है। इसी प्रकार “यह आत्मा वाणी, मेधा (बुद्धि) अथवा शास्त्र-श्रवण से प्राप्त नहीं होती।

वस्तुतः जो इसे जानना चाहता है उसके सामने यह आत्मा स्वयं ही अपने स्वरूप को उद्घाटित कर देता है।” (मुण्डकोपनिषद् 3/2/3) यही कथन हमें जैन आगम आचारांग में भी मिलता है। उपनिषदों में ऐसे अनेकों वचन उपलब्ध हैं जो श्रमण परम्परा की अवधारणा से तादात्म्य रखते हैं। यह सत्य है कि उपनिषदों पर वैदिक परम्परा का भी प्रभाव देखा जाता है, क्योंकि मूलतः औपनिषदिक धारा वैदिक धारा पर श्रमण धारा के समन्वय का ही परिणाम है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (4/5/6) में भी सांख्य दर्शन का विशेष रूप से त्रिगुणात्मक प्रकृति का एवं दो पक्षियों के उदाहरण द्वारा आसक्त एवं अनासक्त जीवों का जो चित्रण है वह स्पष्ट रूप से सांख्य दर्शन और औपनिषदिक धारा की श्रमण परम्परा के साथ सहधर्मिता को ही सूचित करता है। इसी क्रम में बृहदारण्यक उपनिषद् (4/4/12) का यह कथन कि, “पुरुष के द्वारा आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर उसे किसी कामना या इच्छा से दुःखी नहीं होना पड़ता है।” इसी उपनिषद् (4/4/22) में आगे यह कथन कि, “यह आत्मा महान्, अजन्मा, विज्ञानमय, हृदयकाशशायी है और इसे जानने के लिये ही मुनिजन पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकेषणा का परित्याग कर भिक्षाचर्या से जीवन जीते हैं। इस आत्मा की महिमा नित्य है, वह कर्म के द्वारा न तो वृद्धि को प्राप्त होती है न ह्रास को। इस आत्मा को जानकर व्यक्ति कर्मों से लिप्त नहीं होता। इस आत्मा का ज्ञान रखने वाला शांत चित्त तपस्वी उपरत, सहनशील और समाहित चित्त वाला आत्मा, आत्मा में ही आत्मा का दर्शन कर सभी को अपनी आत्मा के समान देखता है। उससे कोई पाप नहीं होता। वह पापशून्य, मलरहित, संशयहीन ब्राह्मण ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है (बृहदारण्यक 4/4/23)। यह कथन भी औपनिषदिक धारा के श्रमण धारा के नैकट्य को ही सूचित करता है। वस्तुतः बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद तथा याज्ञवल्क्य का अपनी पत्नियों मैत्रेयी और कात्यायनी का संवाद औपनिषदिक ऋषियों के श्रमणधारा से प्रभावित होने की घटना को ही अभिव्यक्त करते हैं (बृहदारण्यकोपनिषद् 4/5/1 से 7 तक)। यहां हमने प्रसंगवशात् केवल प्राचीन माने जाने वाले कुछ उपनिषदों के ही संकेत प्रस्तुत किये हैं। परवर्ती उपनिषदों में तो श्रमणधारा के प्रभावित यह आध्यात्मिक चिंतन अधिक विस्तार और स्पष्टता से उपलब्ध होता है।

यह एक सुनिश्चित सत्य है कि वैदिक धारा ब्राह्मणों और आरण्यकों से गुजरते हुए औपनिषदिक काल तक श्रमणधारा के अध्यात्म से प्रभावित हो चुकी थी। प्राचीन औपनिषदिक चिन्तन वैदिक और श्रमणधारा के संगम स्थल हैं। यह श्रमणधारा एक ओर वैदिकधारा से समन्वित होकर कालक्रम में सनातन हिन्दू धर्म के रूप में विकसित होती है तो दूसरी ओर वैदिक धारा से अपने को अप्रभावित रखते हुए मूल श्रमणधारा जैन, बौद्ध और आजीवक परम्परा के रूप में विभक्त होकर विकसित होती है। फिर भी जैन, बौद्ध और आजीवक सम्प्रदायों के नामकरण एवं

विकास के पूर्व भी यह श्रमणधारा सामान्य रूप से प्रवाहित होती रही है। यही कारण है कि इन धाराओं के अनेक पूर्व पुरुष न केवल जैन, बौद्ध और आजीवक परम्परा में समान रूप में स्वीकृत हुए, किन्तु औपनिषदिक चिन्तन और उससे विकसित परवर्ती हिन्दू धर्म की विविध शाखाओं में भी समान रूप से मान्य किए गये हैं। यदि हम उपनिषदों में दिये गये ऋषिवंश, जैन ग्रन्थ ऋषिभाषित उल्लेखित ऋषिगणों तथा बौद्ध ग्रन्थ धेरगाथा में उल्लेखित धेरों को तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें ऐसा लगता है कि औपनिषदिक, बौद्ध, जैन और आजीवक धाराएं अपनी पूर्व अवस्था में संकुचितता के घेरे से पूर्णतया मुक्त थी और एक समन्वित मूलस्रोत का ही संकेत करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त सूचियों के अवलोकन से एक बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि इन तीनों ही सूचियों में कुछ नाम समान रूप से पाये जाते हैं। विशेष रूप से औपनिषदिक सूचियों के कुछ नाम ऋषिभाषित की सूची में और कुछ नाम धेरगाथा की सूची में पाये जाते हैं। मात्र यही नहीं ऋषिभाषित की सूची के कुछ नाम धेरगाथा की सूची के साथ-साथ सुत्तनिपात आदि बौद्ध पिटक साहित्य के ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। सामान्यतया यहां यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि एक नाम के कई व्यक्ति विभिन्न कालों में भी हो सकते हैं और एक काल में भी हो सकते हैं? किन्तु जब हम इन सूचियों में प्रस्तुत कुछ व्यक्तियों का गंभीरता से अध्ययन करते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि इन सूचियों में जो नाम समान रूप से मिलते हैं वे भिन्न व्यक्तियों के सूचक नहीं हैं, अपितु इससे भिन्न यही सिद्ध होता है कि वे एक ही व्यक्ति के नाम हैं। उदाहरण के रूप में- याज्ञवल्क्य का नाम शतपथ ब्राह्मण, सांख्यन आरण्यक, बृहदारण्यकोपनिषद्, महाभारत के सभापर्व, वनपर्व एवं सांख्यपर्व में मिलता है तो दूसरी ओर वह हमें ऋषिभाषित की सूची में भी मिलता है। जब हम ऋषिभाषित प्रस्तुत याज्ञवल्क्य के उपदेश की बृहदारण्यकोपनिषद् में उनके उपदेश से तुलना करते हैं तो स्पष्ट रूप से लगता है कि वे दोनों ही स्थलों पर वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा के त्याग की बात करते हैं। दोनों परम्पराओं में उनके उपदेश की इस समानता के आधार पर उन्हें दो भिन्न व्यक्ति नहीं माना जाता सकता। इसी प्रकार जब हम धेरगाथा के गोशाल धेर, ऋषिभाषित के मंखलीपुत्र (गोशालक) तथा महाभारत के मंकी (मंखी) ऋषि के उपदेशों की तुलना करते हैं तो तीनों ही स्थानों पर उनकी प्रमुख मान्यता नियतिवाद के सम्प्रेषक तत्व मिल जाते हैं। अतः हम इन तीनों को अलग-अलग व्यक्ति नहीं मान सकते हैं। इस प्रकार जब हम ऋषिभाषित के वर्धमान और धेरगाथा के वर्धमान धेर की तुलना करते हैं तो हम पाते हैं कि धेरगाथा की अङ्कथा में वर्धमान धेर को वैशाली गणराज्य के लिच्छवी वंश का राजकुमार बताया गया है, अतः ये वर्धमान महावीर ही हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल धेरगाथा अपितु बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में उल्लेखित नाटपुत्र (ज्ञातपुत्र) जैन परम्परा के वर्धमान महावीर ही हैं। सूत्रकृतांग की महावीर स्तुति में महावीर के लिये जो 'सव्यवारिवारित्तो' का जो निर्देश है वह त्रिपिटक के ग्रन्थों में समान रूप से पाया जाता है। अतः धेरगाथा के वर्धमान धेर और जैन परम्परा के महावीर भिन्न व्यक्ति नहीं हैं। इसी प्रकार पिंग ऋषि का जो उल्लेख ऋषिभाषित, सुत्तनिपात और महाभारत में पाया जाता है कि उसके आधार पर उन्हें अलग-अलग व्यक्ति नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार जैन परम्परा के ऋषिभाषित सूत्रकृतांग, स्थानांग और अनुत्तरोऔपपात्तिक तथा बौद्ध परम्परा के त्रिपिटक साहित्य के अनेक ग्रन्थों में रामपुत्त का उल्लेख मिलता है, उन्हें भी अलग-अलग व्यक्ति नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार तीनों परम्परा में जो कुछ नाम समान रूप से मिलते हैं उन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानना पक्षाग्रह का ही सूचक होगा।

इन समरूपताओं से यही सूचित होता है कि जिस प्रकार चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में भारत में जो संतों की सामान्यपूर्ण परम्परा रही है वैसे ही स्थिति बुद्ध और महावीर के पूर्व और उनकी समकालिक ऋषि परम्परा की है। वस्तुतः कालान्तर में जब धर्म-सम्प्रदायों का गठन हुआ, तो इसी पूर्व परम्परा में से मन्तव्य आदि की अपेक्षा जो अधिक समीप लगे उनको अपनी धारा में स्थान दे दिया गया और शेष की उपेक्षा कर दी गई। यह भी हुआ कि कालान्तर में जब साम्प्रदायिक आग्रह दृढ़मूल होने लगे तो पूर्व में स्वीकृत ऋषिओं को भी अपनी परम्परा से अभिन्न बताने हेतु उन्हें भिन्न व्यक्ति बताने का प्रयत्न किया गया। यह स्थिति जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में घटित हुई। यही कारण रहा है कि कालान्तर में ऋषिभाषित को मूलागम साहित्य से हटाकर प्रकीर्णक साहित्य में डाल दिया गया और आगे चलकर उसे वहां से भी हटा दिया गया। चाहे हम सहमत हो या न हो किन्तु यह सत्य है कि प्राचीन भारत की इसी श्रमण धारा की ऋषि परम्परा से औपनिषदिक बौद्ध, जैन, अजीवक और सांख्य योग आदि का विकास हुआ है। जैन धारा मूलतः श्रमण धारा का ही एक अंग है। सूत्रकृतांग में आचार और विचारगत मतभेदों के बावजूद भी विदेह, नमी, रामपुत्त, बाहुक, उदक, नारायण, असितदेवल, द्वैपायन, पाराशर आदि को अपनी परम्परा से सम्मत बताते हुए तपोधन, तात्त्विक, महापुरुष तथा सिद्धी को प्राप्त कहा गया है वह इस तथ्य का सूचक है कि मूल में कहीं भारतीय श्रमण धारा एक रही हैं और औपनिषदिक, सांख्य, योग, बौद्ध, जैन और आजीवक परम्पराएँ इसी श्रमणधारा से विकसित हुई हैं और किसी न किसी रूप में उसकी अंगीभूत भी हैं।



भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म एवं दर्शन

भारतीय संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है। इसमें ब्राह्मणों और श्रमणों का समान अवदान है। बौद्ध धर्म-दर्शन भारतीय श्रमण धारा का एक प्रमुख अंग है। भारतीय श्रमण परम्परा का उल्लेख वैदिक काल से ही उपलब्ध होने लगता है। वेद विश्व-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों में से है। ऋग्वेद में हमे बार्हतों के साथ-साथ आर्हतों एवं ब्राह्मणों के भी उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में आर्हत-बार्हत ऐसी दो धाराओं के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदकालीन आर्हतों और ब्राह्मणों की यह परम्परा ही कालान्तर में श्रमण धारा के रूप में विकसित हुई है। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो औपनिषदिक चिन्तन प्राचीन वैदिक एवं श्रमण चिन्तन का समन्वय स्थल है।

मात्र यहीं नहीं औपनिषदिक चिन्तन में श्रमणधारा के अनेक तथ्य स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं, जो यह बताते हैं कि इस युग में वैदिकधारा श्रमणधारा से, विशेष रूप से उसकी आध्यात्मिक जीवन दृष्टि से, प्रभावित हो रही थी। आरण्यकों के काल से ही वैदिक ऋषि श्रमणधारा से प्रभावित होकर अपने चिन्तन में श्रमणधारा के आध्यात्मिक मूल्यों को आत्मसात कर रहे थे। त्याग-वैराग्यमूलक जीवन-मूल्यों, संन्यास और निर्वाण के प्रत्ययों को आत्मसात् करके वैदिक संस्कृति में आध्यात्मिक जीवन दृष्टि का विकास हो रहा था। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य द्वारा अपनी सम्पत्ति को दोनों पत्नियों में विभाजित कर लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा का त्यागकर संन्यास ग्रहण करने और भिक्षाचर्या द्वारा जीवनयापन करने का, जो निर्देश उपलब्ध होता है, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वैदिकधारा श्रमणधारा के जीवन मूल्यों को आत्मसात् कर एक नव आध्यात्मिक संस्कृति को जन्म दे रही थी। उपनिषदों में यज्ञ-याग की समालोचना एवं ईशावास्योपनिषद् का त्यागमूलक भोग का निर्देश इस बात का प्रमाण है कि उपनिषद् श्रमणधारा के चिन्तन को आत्मसात कर रहे थे। सांख्य-योग की ध्यान एवं योग की परम्परा एवं महाभारत

और गीता में हिंसापरक यज्ञों के स्थान पर प्राणीमात्र की सेवारूप भूल-यज्ञ का प्रतिपादन और तीर्थ, स्नानादि अनेक वैदिक कर्मकाण्डों को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करना वैदिकधारा के श्रमणधारा के साथ समन्वित होने का परिणाम था।

यह भारतीय श्रमण धारा भी कालान्तर में विभिन्न रूपों में विभाजित होती रही है। इसके कुछ संकेत हमें प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रन्थों से मिल जाते हैं। प्राकृत भाषा में निबद्ध प्राचीन जैन ग्रन्थ इसीभासियाई एवं सूत्रकृतांग और बौद्धग्रन्थ थेरगाथा एवं सुत्तनिपात में अनेक औपनिषदिक ऋषियों का सम्मान-पूर्वक उल्लेख मिलता है। इसीभासियाई में जो पैतालीस ऋषियों के उल्लेख हैं, उनमें नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, आरुणी, उद्दालक आदि औपनिषदिक ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर उन्हें अपनी श्रमण परम्परा से सम्बद्ध बताया गया है, इसी प्रकार सूत्रकृतांग में असितदेवल, पाराशर, रामपुत्र आदि को आचारगत विभिन्नता के बावजूद भी अपनी परम्परा के सम्मत एवं सिद्धि को प्राप्त बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रमणधारा भारतीय चिन्तन की एक व्यापक धारा रही है। जैन ग्रन्थों में पाँच प्रकार के श्रमणों के उल्लेख मिलते हैं - (1) निर्ग्रन्थ (2) शाक्यपुत्रीय (बौद्ध) (3) आजीवक (4) गैरिक और (5) तापस। तापसों एवं गैरिक (गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासियों) को श्रमण कहना इस बात का प्रमाण है, हिन्दूधर्म में संन्यास मार्ग का जो विकास हुआ है, वह श्रमणधारा का ही प्रभाव है। तापसों और गैरिकों की यह परम्परा ही सम्भवतः सांख्य और योगदर्शन की जनक और उन का ही पूर्वरूप हो।

भारतीय श्रमण धारा से विकसित बौद्ध परम्परा के अस्तित्व के उल्लेख हमें वेदों एवं उपनिषदों में तो नहीं मिलते हैं किन्तु हिन्दू पुराणों में बुद्ध और बौद्ध धर्म के उल्लेख हैं। इसके विपरीत जैन आगमों में प्राचीन काल से ही बौद्धों के उल्लेख मिलने लगते हैं। जहाँ एक ओर पाली त्रिपिटक में निर्ग्रन्थों, आजीवकों और तापसों के उल्लेख मिलते हैं, वहीं जैन ग्रन्थों में भी शाक्यपुत्रीय श्रमणों (बौद्धश्रमणों) के उल्लेख मिलते हैं। जैन ग्रन्थ ऋषिभासित में वज्जीयपुत्र, सारीपुत्र और महाकश्यप के उल्लेख उपलब्ध है। सूत्रकृतांग में उदकपेढाल- पुत्र का बौद्ध श्रमणों के साथ संवाद का एवं बौद्धों के पंचस्कन्धवाद एवं संततिवाद की सामान्य समीक्षा भी उपलब्ध होती है। इसी प्रकार दीर्घनिकाय और सुत्तनिपात में बुद्ध के समकालीन छह तैर्थिकों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (महावीर) और मंखलि गोशालक प्रमुख हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ एक ओर भारतीय धर्म-दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में प्राचीनकाल से ही बौद्ध धर्म-दर्शन तथा उसकी तत्त्व-मीमांसा और

प्रमाणमीमांसा सम्बन्धी मान्यताओं के निर्देश और उनकी समीक्षा उपलब्ध होती है, वहीं दूसरी ओर बौद्धग्रन्थों में भी अन्य धर्मदर्शनों और उनकी मान्यताओं के उल्लेख मिलते हैं। 1. बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में बासठ मिथ्यादृष्टियों के उल्लेख मिलते हैं, वही जैनग्रन्थों में मेरी व्याख्या के आधार पर त्रेसठ मिथ्यादृष्टियों के उल्लेख मिलते हैं जहाँ तक जैन ग्रन्थों का प्रश्न है उसमें ऋषिभाषित, वज्जीपुत्त, सारीपुत्त और महाकाश्यप जैसे बौद्ध परम्परा के ऋषियों के उपदेश को श्रद्धापूर्वक उल्लेखित करते हैं और उन्हें अर्हत् ऋषि एवं बुद्ध ऋषि के रूप में उल्लेखित करता है। त्रिपिटक साहित्य में भी हम वर्धमान आदि छह तैत्थिकों के सामान्य सिद्धान्तों के उल्लेख के साथ मात्र इतना संकेत पाते हैं कि इनकी मान्यताएं समुचित नहीं हैं। कालान्तर में विशेष रूप से सूत्रयुग में हमें बौद्ध धर्म की दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षाएँ इन सूत्र ग्रन्थों-न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, सांख्यसूत्र आदि में उपलब्ध होने लगती हैं।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन के मूल बीज चाहे औपनिषदिक चिन्तन में उपलब्ध हों, किन्तु भारत में व्यवस्थित रूप से दार्शनिक प्रस्थानों का प्रादुर्भाव सूत्र युग से ही देखा जाता है। सूत्र युग में विभिन्न भारतीय दार्शनिक निकायों ने अपने-अपने सूत्र ग्रन्थों को निर्माण किया। जैसे सांख्यसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, योगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि। इन ग्रन्थों में चिन्तकों ने न केवल अपने-अपने दर्शनों को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, अपितु अन्य दर्शनिक मतों का, उनका नामोल्लेख किये बिना यथावसर सूत्र रूप में खण्डन किया है, जैसे योगसूत्र के केवल्यपाद के 20वें सूत्र “एक समय चोभयानावधारणम्” “चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च” द्वारा बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन किया गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जहाँ प्राचीन स्तर के सूत्र ग्रन्थों में बौद्धों के पंच स्कन्धवाद, क्षणिकवाद, संततिवाद आदि का खण्डन मिलता है, वहीं परवर्ती काल के सूत्र ग्रन्थों में विज्ञानवाद और शून्यवाद के भी खण्डन के सूत्र मिलने लगते हैं। बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि यदि पूर्वक्षण वाले चित्त को उत्तरक्षण वाला चित्त जानता है, तो फिर उत्तर क्षण वाले चित्त को जानने वाले किसी अन्य चित्त की कल्पना करनी होगी और इससे अनवस्था एवं स्मृतियों के सम्मिश्रण सम्बन्धी दोष होगा (योगसूत्र केवल्य पाद पृष्ठ 335)। इसी प्रकार इसी योगसूत्र में बौद्धों के पंचस्कन्धवाद का भी खण्डन किया है।

यदि हम ब्रह्मसूत्र पर विचार करें तो उसके द्वितीय पाद के द्वितीय अध्याय के सूत्र क्रमांक 18 से लेकर 32 तक बौद्ध दर्शन के पंचस्कन्धवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणिकवाद और शून्यवाद की समीक्षा की गई है। इससे एक

महत्त्वपूर्ण तथ्य उभर कर यह आता है कि यदि ब्रह्मसूत्र में बौद्धों के शून्यवाद की समालोचना है, तो फिर ब्रह्मसूत्र ईसा की दूसरी शती से पूर्व का नहीं हो सकता है। क्योंकि बौद्ध दर्शन में शून्यवाद का विकास दूसरी शती से ही देखा जाता है।

इसी प्रकार सांख्यसूत्र 5/52 में बौद्धों के असत्-ख्यातिवाद अर्थात् शून्यवाद का खण्डन किया गया है। इससे सांख्यसूत्र का रचनाकाल भी शून्यवाद के पश्चात् ही मानना होगा। इन संकेतों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रयुग में भारतीय दार्शनिक बौद्धों के क्षणिकवाद, संततिवाद, पंचस्कन्धवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद से परिचित हो चुके थे।

सूत्र ग्रन्थों की रचना के पश्चात् भारतीय दर्शन-प्रस्थानों में तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाण शास्त्र सम्बन्धी समीक्षात्मक ग्रन्थों का रचना काल प्रारम्भ होता है। ईसा की चौथी-पाँचवीं शती से लेकर प्रायः बारहवीं-तेरहवीं शती तक तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाण-मीमांसा सम्बन्धी एवं दूसरे दार्शनिक प्रस्थानों के समीक्षा रूप गम्भीर ग्रन्थों का प्रणयन तार्किक शैली में हुआ। इन ग्रन्थों में अन्य दर्शनों की समीक्षा में उन्हें समझे बिना न केवल बाल की खाल उतारी गई, अपितु उनकी स्थापनाओं को इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया कि उनको खण्डित किया जा सके। इस काल में दो प्रकार के ग्रन्थों की रचना देखी जाती है- या तो वे किसी सूत्र ग्रन्थों की टीका के रूप में लिखे गये या फिर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में लिखे गये-इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों में प्रत्येक दार्शनिक प्रस्थान ने स्वपक्ष के मण्डन और विरोधीपक्ष के खण्डन का प्रयास किया। इस युग में भारतीय दार्शनिकों ने जहाँ एक ओर अपनी कृतियों में बौद्ध अवधारणाओं की समीक्षा की, वहीं बौद्ध चिन्तकों ने अन्य भारतीय दर्शनों की समीक्षा की। बौद्ध धर्मदर्शन में ऐसे दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की परम्परा ईसा की प्रथम-द्वितीय शती से लेकर लगभग ग्याहरवीं शताब्दी तक निरन्तर बनी रही है। इस काल में प्रारम्भ में मुख्यतः विज्ञानवाद और शून्यवाद के ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें दार्शनिक चिन्तन की जो गम्भीरता देखी जाती है, वह निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। पश्चिम में लगभग पन्द्रहवीं शती से आधुनिक काल तक जिन दार्शनिक प्रस्थानों का विकास हुआ है उन सभी के आधारभूत तत्त्व मात्र बौद्ध परम्परा के विभिन्न दार्शनिक निकायों में मिल जाते हैं।

बौद्धधर्मदर्शन में तार्किक शैली के दार्शनिक रचना का प्रारम्भ नागार्जुन से देखा जाता है। नागार्जुन की दार्शनिक रचनाओं में माध्यमिककारिका, युक्ति-षष्टिका, विग्रहव्यावर्तिनी और बैदल्यसूत्रप्रकरण प्रमुख हैं। नागार्जुन की माध्यमिककारिका माध्यमिक सम्प्रदाय या शून्यवाद का प्रमुख ग्रन्थ है। जहाँ माध्यमिक कारिका

शून्यवाद के आधारभूत चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन करती है, वहाँ विग्रह व्यावर्तिनी माध्यमिक परम्परा की प्रमाण मीमांसा का आधारभूत ग्रंथ है। जहाँ माध्यमिक कारिका में नागार्जुन ने सत्, असत्, उभय और अनुभय इन चार कोटियों से भिन्न परमतत्त्व (शून्यतत्त्व) के स्वरूप का निरूपण किया है, वहीं विग्रह व्यावर्तिनी में उन्होंने न्यायसूत्र के प्रमाणों की गंभीर समीक्षा की है। इस ग्रंथ में नागार्जुन ने न्यायदर्शन द्वारा मान्य चार प्रमाणों का उपस्थापन कर उनका खण्डन किया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नागार्जुन न्यायसूत्र एवं उसकी विषय वस्तु से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने न्यायसूत्र में प्रतिपादित प्रमाणों को अपनी समीक्षा का आधार बनाया था। न्यायदर्शन में नागार्जुन के इस खण्डन का प्रत्युत्तर परवर्ती कालीन न्याय दार्शनिकों द्वारा न्यायसूत्रों की टीकाओं में दिया गया। विशेष रूप से उद्योतकर (छठीशती उत्तरार्ध) एवं वाचस्पति मिश्र (९वीं शती उत्तरार्ध) ने अपने ग्रंथों में नागार्जुन के इन मन्तव्यों का खण्डन किया है।

नागार्जुन के पश्चात् मैत्रेय ने बौद्ध विज्ञानवाद पर अपने ग्रंथों की रचना की। इसमें बोधिसत्वचर्या निर्देश, सप्तदशाभूमि, अभिसमय-अलङ्कारिका आदि प्रमुख हैं। सप्तदशा भूमिशास्त्र में मैत्रेय ने वाद विषय, वादाधिकरण, वादकरण आदि के निरूपण के साथ-साथ सिद्धान्त, हेतु, उदाहरण, साधर्म्य, वैधर्म्य, अनुमान एवं आगम ऐसे आठ प्रमाणों का उल्लेख किया। ज्ञातव्य है कि मैत्रेय ने गौतम द्वारा प्रणीत न्यायसूत्र के उपमान प्रमाण का कोई उल्लेख नहीं किया है, फिर भी वे जिन आठ प्रमाणों का उल्लेख करते हैं वे न्यायदर्शन से अवतरित प्रतीत होते हैं।

नागार्जुन एवं मैत्रेय के पश्चात् बौद्ध विज्ञानवाद के प्रतिष्ठित आचार्यों में असंग और वसुबन्धु-इन दोनों भाइयों का नाम आता है। असंग की रचनाओं में “योगाचारभूमिशास्त्र” एक प्रमुख ग्रंथ है। योगाचारभूमिशास्त्र में उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-ये तीन प्रमाण ही स्वीकार किये हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त साधर्म्य एवं वैधर्म्य को अनुमान का ही अंग माना है। इस प्रकार असंग अपनी प्रमाण व्यवस्था में किसी सीमा तक न्याय दर्शन से निकटता रखते हैं। यद्यपि इनकी व्याख्याओं को लेकर इनका न्यायदर्शन से स्पष्ट मतभेद भी देखा जा सकता है।

असंग एवं वसुबन्धु (ईसा की पाँचवी शताब्दी) के पश्चात् बौद्ध परंपरा में दिङ्नाग का स्थान आता है। दिङ्नाग के पूर्व बौद्धन्यायशास्त्र पर आंशिक रूप से गौतम के न्याय सूत्र का प्रभाव देखा जाता है, किन्तु दिङ्नाग ने बौद्धन्याय को एक नवीन दिशा दी। परवर्ती काल में नैयायिकों मीमांसकों और जैन आचार्यों ने दिङ्नाग के मन्तव्यों को ही अपनी आलोचना का आधार बनाया है। न्यायदर्शन में उद्योतकर

ने, मीमांसादर्शन में कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर ने और जैन दर्शन में द्वादशारनयचक्र के कर्ता मल्लवादी, आप्तमीमांसा के कर्ता समन्तभद्र आदि ने दिङ्नाग का खण्डन किया है। दिङ्नाग की प्रमुख रचनाओं में आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, हेतुचक्र, न्यायमुख, हेतुमुख प्रमाणसमुच्चय एवं उसकी वृत्ति, आदि प्रमुख रचनाएँ हैं। ज्ञातव्य है कि दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय का खण्डन करने के लिए उद्योतकर ने न्यायवार्तिक एवं कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक की रचना की थी। जैन दार्शनिक मल्लवादी ने भी द्वादशारनयचक्र की न्यायागमानुसारिणी टीका में प्रमाणसमुच्चय की अवधारणाओं का खण्डन किया। इसके अतिरिक्त जैन ग्रंथ तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सन्मतिप्रकरणटीका आदि में भी प्रमाणसमुच्चय की स्थापनाओं की समीक्षा उपलब्ध होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के काल से भारतीय दार्शनिक चिन्तन में विशेष रूप से प्रमाण सम्बन्धी विवेचनाओं के खण्डन, मण्डन को पर्याप्त महत्व मिला। कुछ ऐसा भी हुआ कि अन्य परम्परा के लोगों ने अपने से भिन्न परम्परा के ग्रन्थों पर टीकाएँ भी लिखी हैं। दिङ्नाग का 'न्याय प्रवेश' बौद्धन्याय का एक प्रारम्भिक ग्रंथ है, किन्तु यहाँ यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि इस ग्रंथ पर जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने न्यायप्रवेश-वृत्ति और पार्श्वदेवगणि ने पंजिका लिखी। ध्यान देने योग्य बात यह है कि न्यायप्रवेश मूलतः प्रमाण व्यवस्था के सन्दर्भ में केवल बौद्ध मन्तव्यों को प्रस्तुत करता है। इस पर हरिभद्रसूरि की टीका विशेष रूप से इसलिये महत्वपूर्ण है कि उन्होंने इस सम्पूर्ण टीका में कहीं भी जैन मन्तव्यों को हावी नहीं होने दिया है। संभवतः ऐसा उदारवादी दृष्टिकोण हरिभद्र जैसे समवर्ती आचार्य का ही हो सकता है। न्यायप्रवेश की वृत्ति में हरिभद्र ने न्यायसूत्र उसके भाष्यकार वात्स्यायन, वार्तिककार उद्योतकर, तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र और तात्पर्यटीका पर परिशुद्धि लिखने वाले का भी उल्लेख किया है। दूसरी ओर इस ग्रंथ की टीका में धर्मकीर्ति के "वादन्याय" न्यायविन्दु एवं प्रमाणवार्तिक, शान्तरक्षित के तर्क संग्रह और नागार्जुन के माध्यमिकशास्त्र एवं दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय के भी निर्देश किये गये हैं। डॉ. रंजन कुमार शर्मा ने इसी प्रसंग में "न्यायप्रवेशसूत्रम्" की भूमिका में हेमचन्द्र के 'प्रमाण मीमांसा' का जो निर्देश दिया है, वह भ्रान्त है क्योंकि यह ग्रंथ हरिभद्र से परवर्ती है। अतः इसका निर्देश हरिभद्र की न्यायप्रवेश की टीका में सम्भव नहीं है।

दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय और न्यायप्रवेश के पश्चात् बौद्धन्याय के प्रमुख आचार्यों में धर्मकीर्ति का नाम आता है। धर्मकीर्ति ने जहाँ एक ओर अपने ग्रंथ प्रमाणवार्तिक में उद्योतकर, भर्तृहरि और कुमारिल की उपस्थापनाओं का खण्डन

किया है वहीं दूसरी ओर वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, व्योमशिव तथा जैन चिन्तक अकलंक और विद्यानन्द ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के मन्तव्यों की समीक्षा की है। धर्मकीर्ति के पूर्व जहाँ बौद्ध दार्शनिकों का बौद्धदर्शन की समीक्षा का आधार दिङ्नाग का प्रमाण समुच्चय रहा था वहीं परवर्तीकाल में धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्तिक बन गया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में बौद्धेतर दार्शनिक बौद्ध-ग्रंथों का और बौद्ध दार्शनिक बौद्धेतर दार्शनिकों के ग्रंथों का अध्ययन करते थे। ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति के अन्य भी प्रमुख ग्रन्थ न्यायबिन्दु, प्रमाणविनिश्चय, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, वादन्याय आदि रहे हैं। जिनमें नैयायिकों, मीमांसकों एवं जैन उपस्थापनाओं की समीक्षा मिलती है। धर्मकीर्ति के पश्चात् बौद्धन्याय के क्षेत्र में धर्मोत्तर और अर्चट के नाम आते हैं। जैन ग्रंथ प्रमाणनय-तत्वालोक के टीकाकार रत्नप्रभसूरि ने 'रत्नाकर अवतारिका' में शब्दार्थ सम्बन्ध के संदर्भ में नैयायिकों, मीमांसकों, और वैयाकरणिकों के मतों की समीक्षा धर्मोत्तर के नाम से की। इसी प्रकार रत्नप्रभसूरि ने अर्चट के नाम का भी निर्देश किया है। ज्ञातव्य है कि अर्चट आचार्य हरिभद्र के समकालीन प्रतीत होते हैं। धर्मकीर्ति के हेतुबिन्दु पर अर्चट की टीका बौद्धप्रमाणशास्त्र के लिये आधारभूत मानी जाती रही है। ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ के बौद्ध दर्शनिकों ने अपनी समालोचना का विषय मुख्य रूप से न्याय दर्शन को बनाया था, किन्तु अर्चट की हेतु-बिन्दु टीका में जैन दर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त का पैतालीस पद्यों में खण्डन किया है। इसी प्रकार अर्चट ने द्रव्य एवं पर्याय की कथंचित् अव्यतिरेकता का प्रतिपादन करने वाले समन्तभद्र की 'आप्त-मीमांसा' के श्लोक का भी खण्डन किया है। इसी प्रकार अर्चट ने तत्त्वार्थसूत्र के "उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्" की समीक्षा करते हुए सत् को क्षणिक सिद्ध किया। बौद्ध दर्शनिकों के क्रम में आगे शान्तरक्षित और कमलशील के नाम आते हैं। शान्तरक्षित का आठवीं शती का तर्कसंग्रह बौद्धन्याय की एक महत्वपूर्ण कृति है। शान्तरक्षित ने अपने तत्वसंग्रह में अविद्धकर्ण शंकरस्वामी, भावीविक्त तथा जैन दार्शनिक सुमति और पात्रस्वामी के मन्तव्यों को उपस्थापित कर उनका खण्डन किया है। इसी प्रकार शान्तरक्षित के तत्व संग्रह पर कमशील की पंजिका में भी जैन दार्शनिक सुमति एवं पात्रस्वामी के मतों की समीक्षा मिलती है। दुर्वेकमिश्र का बौद्धन्यायशास्त्र के रचयिताओं में अन्तिम नाम आता है। इनकी हेतुबिन्दुटीका-लोक, धर्मोत्तरप्रदीप, और न्यायबिन्दुटीका प्रमुख ग्रंथ है। हेतु बिन्दुटीकालोक में दुर्वेकमिश्र ने जैन मन्तव्यों की समीक्षा की है। इस प्रकार ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत में बौद्धदर्शन एवं न्याय के अनेक ग्रंथों की रचना हुई इनमें जहाँ बौद्ध दार्शनिकों ने

भी बौद्धेतर दार्शनिकों के मन्तव्यों की समीक्षा की, वहीं बौद्धेतर दार्शनिकों ने इन बौद्ध आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों को आधार बना कर बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा की है। इस प्रकार लगभग ईसा की बारहवीं शताब्दी तक भारतीय दार्शनिक एक दूसरे की परम्परा का सम्यक् रूप से अध्ययन करते रहे और उन्हें अपनी समीक्षा का विषय बनाते रहे। इस काल के बौद्ध एवं बौद्धेतर दर्शन ग्रंथों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल तक अपने से भिन्न परम्परा के ग्रंथों के अध्ययन एवं समीक्षा की एक जीवन्त परम्परा रही थी, जो परवर्तीकाल में लुप्त होती गई।

जैन विचारकों की दृष्टि में बौद्ध धर्म दर्शन

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया है कि जैन ग्रन्थों में बौद्ध धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी उल्लेख आगम युग से ही मिलने लगते हैं, सर्वप्रथम इसिभासियाई (ऋषिभाषित) में सारिपुत्त, महाकश्यप और वज्जीपुत्र के उपदेशों का संकलन किया गया है, इनमें बौद्ध सन्ततिवाद, स्कन्धवाद आदि का स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त सूत्रकृतांग में बौद्धों के पंचस्कन्धवाद की समीक्षा भी है। इसके पश्चात् सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क में एवं कुछ द्वात्रिंशिकाओं में -यथा बारहवीं द्वात्रिंशिका में न्यायदर्शन, तेरहवीं में सांख्यदर्शन, चौदहवीं में वैशेषिकदर्शन और पन्द्रहवीं द्वात्रिंशिका में बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद आदि पर चुटीले व्यंग्य कसे गये हैं, किन्तु वहीं सिद्धसेन ने सन्मतितर्क प्रकरण से बौद्ध क्षणिकवाद को ऋजुसूत्रनय के आधार पर समीचीन भी माना है। इसके पश्चात् मल्लवादी के द्वादशारनयचक्र और उसकी सिंहसूरि की टीका में भी बौद्ध मन्तव्यों की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है।

मल्लवादी और द्वादशारनयचक्र में बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा कहाँ और किस रूप में मिलती है, इसका मूल सन्दर्भों सहित निर्देश डॉ. धर्मचन्द जैन ने अपने ग्रन्थ बौद्ध-प्रमाणमीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा के परिशिष्ट तृतीय अध्याय-ख, पृ. 394-396 पर किया है। इसमें दिङ्नाग की उपस्थापनाओं को आधार बनाकर ही बौद्धदर्शन की समीक्षा की गई है। लगभग ईसा की छठी शती में 'विशेषावश्यक भाष्य' के गणधरवाद में बौद्धों के क्षणिकवाद, शून्यवाद आदि की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है। यद्यपि सिद्धसेन और समन्तभद्र ने अनेकांतवाद की स्थापना के अपने प्रयत्न में बौद्धों के सत् के परिवर्तनशीलता के सिद्धान्त और इसके विरोधी कूटस्थ नित्यता के सिद्धान्त के मध्य समन्वय का प्रयत्न कर बौद्धमन्तव्य की सापेक्षिक सत्यता का प्रतिपादन अवश्य किया-फिर भी हरिभद्र के पूर्व तक प्रायः जैन दार्शनिक बौद्धदर्शन को एकान्त क्षणिकवादी और अनात्मवादी मानकर उसकी समीक्षा करते रहे। तत्त्वार्थवार्तिक के लेखक अकलंक ने भी बौद्धों के तत्त्वमीमांसीय

और ज्ञानमीमांसीय मन्तव्यों की समीक्षा की है। वस्तुतः भारतीयदर्शन के दर्शन व्यवस्थायुग और प्रमाण-व्यवस्थायुग दर्शन निकायों के पारस्परिक खण्डन-मण्डन के काल ही रहे हैं। जैन दार्शनिक भी बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा के सन्दर्भ में इसके अपवाद नहीं हैं। हरिभद्र के पूर्ववर्ती सभी जैन दार्शनिकों ने भी बौद्ध-दर्शन और उसकी प्रमाण व्यवस्था की समीक्षा की और समीक्षा का यह क्रम आगे भी चलता रहा, हरिभद्र के पश्चात् भी विद्यानन्द, सुमति, प्रभावन्द्र, वादिदेवसूरि, मणिक्यनन्दी, अभयदेवसूरि रत्न-प्रभूसूरित, चन्द्रसेनसूरि, हेमचन्द्र आदि जैन दार्शनिकों ने बौद्धों के क्षणिकवाद, सन्ततिवाद, प्रमाणलक्षण, प्रमाण की अव्यवसायात्मकता, प्रमाण का मात्र स्वप्रकाशक होना, शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का अभाव, प्रत्यक्ष की निर्विकल्पता, अपोहवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि की जमकर समीक्षा की। इन सबके बीच आचार्य हरिभद्र का एक ऐसा व्यक्तित्व उभरा जिसने बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा करते हुए उसमें निहित सत्यता का उदारहृदय से स्वागत किया और दिङ्नाग के न्यायप्रवेश पर निष्पक्ष टीका लिखी। खण्डन-मण्डन के इस युग में हरिभद्र का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण अवदान दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों की रचना है। शास्त्रवार्ता-समुच्चय और षड्दर्शनसमुच्चय उनके इसी कोटि के ग्रन्थ हैं।

दर्शन संग्राहक ग्रन्थों में बौद्धदर्शन

यद्यपि दर्शन संग्राहक ग्रन्थों में सर्व दर्शन संग्रह को प्रथम स्थान दिया जाता है और उसे आदि शंकराचार्य की कृति बताया जाता है, किन्तु वह आदि शंकराचार्य की कृति है, इस सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं, यहां उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है। मेरी दृष्टि में दर्शनसंग्राहक ग्रन्थों की रचना का द्वार हरिभद्र ने ही उद्घाटित किया और षड्दर्शनसमुच्चय की रचनाकर खण्डन-मण्डन के इस युग में एक नवीन दृष्टि थी।

ज्ञातव्य है कि भारत के दर्शन संग्राहक सभी ग्रन्थों में हमें बौद्ध धर्म-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की जानकारी उपलब्ध होती है। भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में बौद्ध धर्म-दर्शन की स्थिति को समझने के लिए इन दर्शन संग्राहक ग्रन्थों की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप चाहे कुछ जैनाचार्यों ने उदारता का परिचय तो अवश्य दिया है, फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है, जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जाये, किन्तु ऐसे कितने हैं, जिन्होंने समन्वयात्मक और उदार दृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान् कृतियों का प्रणयन किया हो।

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया जाता है-एक तो उन परम्पराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से। पुनः आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट ऐसे दो रूप मिलते हैं। साथ ही जब ग्रन्थकर्ता का मुख्य उद्देश्य आलोचना करना होता है, तो वह अन्य परम्पराओं के प्रस्तुतीकरण में न्याय नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी भी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है। अपने ग्रन्थ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अन्धविश्वासों का सचोट खण्डन भी करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं और न उनके सम्बन्ध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं।

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धान्त को एक ही ग्रन्थ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप में एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की कोटि का और उससे प्राचीन दर्शनसंग्राहक कोई ग्रन्थ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक-तीनों ही परम्पराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रन्थों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भी खण्डनपरक ही रही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का नयचक्र महत्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना रहा है। पं. दलसुखभाई मालवगिया के शब्दों में नयचक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है, उसी प्रकार उसका खण्डन भी। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है। अतएव

अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करते हैं तभी उचित है, अन्यथा नहीं।¹ नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और परपक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है जैनैतर परम्पराओं के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में सन्देह है। इस ग्रन्थ में भी पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त की स्थापना की गयी है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली को नयचक्र की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है, किन्तु जहाँ नयचक्र, अन्तिम मत का भी प्रथम मत से खण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन को अन्तिम नहीं मानता है, वहाँ 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' वेदान्त को एकमात्र और अन्तिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शनसंग्राहक ग्रन्थ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की जो विशेषता है, वह इसमें नहीं है।

जैनैतर परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई. 1350?) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है। किन्तु 'सर्वदर्शनसंग्रह' की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदान्त ही एकमात्र सम्यग्दर्शन है। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' और 'सर्वदर्शनसंग्रह' दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के तटस्थ भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं। वहाँ वैदिक परम्परा के इन दोनों ग्रन्थों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अतः इन दोनों ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती, जो हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में है।

इसके पश्चात् वैदिक परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद' का क्रम आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों को वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक-अवैदिक दर्शनों में वे छः प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। आस्तिक-वैदिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का समावेश हुआ है। इन्होंने पाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के

अनुसार प्रस्थान-भेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है, जो उसे पूर्व उल्लिखित वैदिक परम्परा के अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों से अलग करती है, वह यह कि इस ग्रन्थ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कह कर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रान्त तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूँकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किये हैं।¹⁷ इस प्रकार प्रस्थान-भेद में यत्किंचित उदारता का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु यह उदारता केवल वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शनों के सन्दर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो प्रस्थान भेद एवं सर्वदर्शनकौमुदीकार को इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में हरिभद्र की जो निष्पक्षता और उदार दृष्टि है वह हमें अन्य परम्पराओं में रचित दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, किन्तु उनमें भी कुछ लेखकों का उद्देश्य तो कहीं न कहीं अपने इष्ट दर्शन को ही अन्तिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करना प्रतीत होता है।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परम्परा में लिखे गए दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में अज्ञातकर्तृक 'सर्वासिद्धान्तप्रवेशक' का स्थान आता है, किन्तु इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है, क्योंकि इसके मंगलाचरण में 'सर्वभाव प्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरं' ऐसा उल्लेख है। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय का ही अनुसरण करती है।¹⁸ अन्तर मात्र यह है कि जहाँ हरिभद्र का ग्रन्थ पद्य में है वहाँ सर्वासिद्धान्तप्रवेशक गद्य में है। साथ ही यह ग्रन्थ हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है। इसमें बौद्ध दर्शन पर भी एक अध्याय है।

जैन परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (विक्रम सं. 1265) के 'विवेकविलास' का आता है। इस ग्रन्थ के अष्टम उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है, जिसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक-इन छः दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

यह ग्रन्थ भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र 66 श्लोक परिमाण है।

जैन परम्परा में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा क्रम राजशेखर (विक्रम सं. 1405) के षड्दर्शनसमुच्चय का आता है। इस ग्रन्थ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) इन छः दर्शनों का उल्लेख किया गया है और अन्त में

नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रन्थ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और राजशेखर के षड्दर्शनसमुच्चय में एक मुख्य अन्तर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहाँ हरिभद्र जैनदर्शन को चौथा स्थान देते हैं वहाँ राजशेखर जैनदर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके।

पं. दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ आचार्य मेरुतुंगकृत 'षड्दर्शननिर्णय' है। इस ग्रन्थ में मेरुतुंग के जैन, बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, न्याय और वैशेषिक-इन छः दर्शनों की मीमांसा की है, किन्तु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यता जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिये लिखा गया है। इसकी एकमात्र विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पं. दलसुखभाई मालवणिया ने षड्दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरिकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' की वृत्ति के अन्त में अज्ञातकृत एक कृति मुद्रित है। इसमें भी जैन न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक-ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है, किन्तु अन्त में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैनदर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका।

फिर भी इतना निश्चित है कि हरिभद्र आदि जैन दार्शनिकों ने अपने दर्शन संग्राहक में अधिक उदारता का परिचय दिया है और इन सभी में बौद्ध दर्शन का प्रस्तुतीकरण अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिकता से हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन-संग्राहकः ग्रन्थों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र आदि जैन दार्शनिकों ने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रन्थों में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय हैं। दर्शन संग्राहक ग्रन्थों की यह परम्परा आधुनिक युग में भी देखी जाती है। भारतीय दर्शन पर लिखे गये समकालीन लेखकों सुरेन्द्र दासगुप्ता, डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. जदुनाथसिन्हा, प्रो. चन्द्रधरशर्मा, डॉ. उमेश मिश्र, प्रो. बलदेव उपाध्याय आदि के ग्रन्थों में बौद्धदर्शन और उसकी विभिन्न निकायों का उल्लेख

उपलब्ध होता है, यद्यपि प्रो. राधाकृष्णन् ने बौद्धदर्शन की समीक्षा भी की है किन्तु अधिकांश लेखकों का प्रयत्न यथावत् प्रस्तुतिकरण का रहा है।

समीक्षा में भी शिष्ट का भाषा का प्रयोग

दर्शन के क्षेत्र में अपनी दार्शनिक अवधारणाओं की पुष्टि तथा विरोधी अवधारणाओं के खण्डन के प्रयत्न अत्यन्त प्राचीनकाल से होते रहे हैं। प्रत्येक दर्शन अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिये अन्य दार्शनिक मतों की समालोचना करता है। स्वपक्ष का मण्डन तथा परपक्ष का खण्डन-यह दार्शनिकों की सामान्य प्रवृत्ति रही है। हरिभद्र भी इसके अपवाद नहीं है। फिर भी उनकी यह विशेषता है कि अन्य दार्शनिक मतों की समीक्षा में वे सदैव ही शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा विरोधी दर्शनों के प्रवर्तकों के लिए भी बहुमान प्रदर्शित करते हैं।

इसके कुछ उदाहरण हमें उनके ग्रन्थ “शास्त्रवार्तासमुच्चय” में देखने को मिल जाते हैं। अपने ग्रन्थ “शास्त्रवार्तासमुच्चय” के प्रारम्भ में ही ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं -

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः ।

जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः ।।

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष-बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रन्थ में वे कपिल को दिव्य-पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं - कपिलोदिव्यो हि स महामुनिः (शास्त्रवार्तासमुच्चय, 237)। इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत् महामुनि, सुवैद्यवत् (वही, 465-466) कहते हैं। यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं - न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वहीं दूसरी ओर हरिभद्र अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। ‘शास्त्रवार्तासमुच्चय’ में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समालोचना है, किन्तु इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इस प्रकार हरिभद्र ने बौद्ध आदि अन्य परम्पराओं के प्रति जिस शिष्टता और आदरभाव का परिचय दिया है, वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परम्परा के अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सारतत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया है, वह भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है।

‘शास्त्रवार्तासमुच्चय’ में हरिभद्र ने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की समीक्षा तो की है, किन्तु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धान्त का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिये ही किया है, क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है तो उसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं है तो उनके प्रति तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रखकर संसार की निस्सारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है। इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद-इन तीनों सिद्धान्तों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत् के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का प्रहाण हो। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हरिभद्र जैसी उदारदृष्टि का परिचय हमें हरिभद्र के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती किसी बौद्ध-दार्शनिक में भी नहीं मिलता है।

यद्यपि दिङ्नाग के पूर्व तक बौद्ध दार्शनिकों ने जैनदर्शन के प्रति उपेक्षा भाव रखा था, किन्तु परवर्तीकाल में जैन दर्शन भी उनकी समीक्षा का विषय बना है। भारतीय दार्शनिकों में अपने से इतर परम्पराओं के गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति प्रारम्भ में हमें दृष्टिगत नहीं होती है। बादरायण, जैमिनि आदि दिग्गज विद्वान् भी जब बौद्ध आदि अन्य दर्शनों की समलोचना करते हैं तो ऐसा लगता है कि वे दूसरे दर्शनों को अपने सतही ज्ञान के आधार पर भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करके उनका खण्डन कर देते हैं। यह सत्य है कि अनैकान्तिक एवं समन्वयात्मक दृष्टि के कारण अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्ययन की परम्परा का विकास सर्वप्रथम जैन दार्शनिकों ने ही किया है। ऐसा लगता है कि हरिभद्र आदि जैनाचार्यों ने समालोच्य बौद्ध आदि प्रत्येक दर्शन का ईमानदारीपूर्वक गम्भीर अध्ययन किया था, क्योंकि इसके बिना वे न तो उन दर्शनों में निहित सत्त्यों को समझा सकते थे, न उनकी स्वस्थ समीक्षा ही कर सकते थे और न उनका जैन मन्तव्यों के साथ समन्वय कर सकते थे। हरिभद्र अन्य दर्शनों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने उनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर तटस्थ भाव से टीकाएँ भी लिखीं। दिङ्नाग के बौद्ध ग्रन्थ ‘न्यायप्रवेश’ पर उनकी टीका महत्त्वपूर्ण मानी जाती। पतञ्जलि के ‘योगसूत्र’ का उनका अध्ययन भी काफी गम्भीर प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने उसी के आधार

पर एवं नवीन दृष्टिकोण से योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगविशिका आदि ग्रन्थों की रचना की थी। इस प्रकार हरिभद्र जैन और जैनेतर परम्पराओं के एक ईमानदार अध्येता एवं व्याख्याकार भी हैं। जिस प्रकार प्रशस्तवाद ने दर्शन ग्रन्थों की टीका लिखते समय तद्-तद् दर्शनों के मन्तव्यों का अनुसरण करते हुए तटस्थ भाव रखा, उसी प्रकार हरिभद्र ने भी बौद्ध आदि इतर परम्पराओं का विवेचन करते समय तटस्थ भाव रखा है।

आचार्य हरिभद्र की दार्शनिक प्रतियों में षड्दर्शन समुच्चय प्रमुख ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आ.हरिभद्र ने बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनी (मीमांसक) इन छः दर्शनों का उल्लेख किया है। ज्ञातव्य है कि इस षड्दर्शनसमुच्चय में षड् दर्शनों में बौद्ध दर्शन को प्रथम स्थान दिया गया है। बौद्धों के आराध्य सुगत का उल्लेख करते हुए चार आर्य सत्त्यों की बात कही गई। चार आर्य सत्त्यों के साथ-साथ इसमें पंचस्कन्धों का उल्लेख है और उसके पश्चात् संस्कारों की क्षणिकता को बतलाते हुए यह कहा गया है कि वासना का निरोध होना ही मुक्ति है, साथ ही इसमें बारह धर्म आयतनों और दो प्रमाणों प्रत्यक्ष और अनुमान का भी उल्लेख हुआ है। षड्दर्शनसमुच्चय में बौद्ध धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का निष्पक्ष दृष्टि से प्रतिपादन हुआ है, किन्तु षड्दर्शनसमुच्चय में टीकाकार गुणरत्न ने इनकी जैन दृष्टि से समीक्षा भी प्रस्तुत की।

हरिभद्र का दूसरा ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जहाँ षड्दर्शनसमुच्चय में विभिन्न दर्शनों के मन्तव्यों का निष्पक्ष दृष्टि से प्रतिपादन है वहाँ शास्त्रवार्तासमुच्चय में समादर भावपूर्वक समीक्षा एवं समन्वयात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किये गए हैं। इस ग्रन्थ के चतुर्थ और छठवें स्तबक में क्षणिकवाद की समीक्षा है। वहाँ पाचवें स्तबक में विज्ञानवाद और छठवें स्तबक में शून्यवाद की समीक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त दसवें सर्वज्ञता प्रतिषेधवाद में तथा ग्यारहवें स्तबक शब्दार्थ प्रतिषेधवाद में भी बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा की गई है। यद्यपि बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा की गई, किन्तु बुद्ध के प्रति समादरभाव व्यक्त करते हुए बुद्ध ने इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन तृष्णा के प्रहाण के लिए किया गया ऐसा उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अनेकान्तजयपताका के पांचवें आदि अधिकारों में बौद्ध के योगाचार दर्शन की समीक्षा उपलब्ध होती है। अनेकान्तवादप्रवेश में भी अनेकान्त जयपताका के समान ही अनेकान्तवाद को सरल ढंग से स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ में भी बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेख एवं समीक्षा उपलब्ध होती हैं। इसी क्रम में हरिभद्र के योगदृष्टिसमुच्चय में भी बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा

उपलब्ध होती है। संक्षेप में हरिभद्र ने बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद को ही मुख्य रूप में अपनी समालोचना का विषय बनाया।

किन्तु हरिभद्र के अनुसार क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद मूलतः बाह्यार्थों के प्रति रही हुई व्यक्ति की तृष्णा के उच्छेद के लिए है।

बौद्धदर्शन की तत्त्वमीमांसा की अन्य परम्पराओं से समानता और अन्तर

भारतीय चिन्तन में बौद्धदर्शन की तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा की क्या स्थिति है इसे निम्न बिन्दुओं से समझा जा सकता है -

1. सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में जहाँ अद्वैत वेदान्त उसे अपरिणामी या अविकारी मानता है वहाँ बौद्धदर्शन उसे सतत् परिवर्तनशील मानता है, जैन दार्शनिक उसे 'उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मक सत्' कहकर दोनों में समन्वय करता है। यहाँ मीमांसक भी जैनों के दृष्टिकोण के समर्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु सांख्य अपनी प्रकृति और पुरुष की अवधारणा में पुरुष को कूटस्थ, नित्य और प्रकृति को परिणामी मानते हैं।

2. बौद्ध दार्शनिक जहाँ सत् को क्षणिक कहता है, वहाँ वेदान्त उसे शाश्वत् कहता है। जैन दर्शन बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा तो करते हैं, किन्तु वे उसमें पर्यायों की दृष्टि से अनित्यता को भी स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि से द्रव्य नित्य हैं, किन्तु उसकी पर्यायें अनित्य हैं।

3. बौद्ध के शून्यवाद में तत्त्व को सत्, असत्, उभय और अनुभय-इन चारों विकल्पों से भिन्न शून्य कहा है, जबकि जैनों ने सत्, असत्, उभय और अनुभय चारों विकल्पों से युक्त माना गया है। सत्ता की अनिर्वचनीयता को लेकर प्रायः शून्यवाद और अद्वैतवाद में समानता परिलक्षित होती है, फिर भी जहाँ बौद्धों की अनिर्वचनीयता नकारात्मक है, वहाँ वेदान्त की अनिर्वचनीयता सकारात्मक है। जैनों ने परमसत्ता की इस अनिर्वचनीयता को भी सापेक्ष माना है, वे उसे कथंचित् अवक्तव्य और कथंचित् वक्तव्य मानते हैं। जैनों की अव्यक्तव्यता भाषागत समस्या है, जबकि बौद्धों और वेदान्तियों की अनिर्वचनीयता स्वरूपात्मक है, किन्तु जहाँ बौद्ध उसे निःस्वभाव मानता है, वहाँ वेदान्त अनिर्वचनीयता को सत्ता का स्वरूप लक्षण मानता है।

4. बौद्ध विज्ञानवाद में क्षणक्षयी चित्त (विज्ञान) को ही परम तत्त्व माना गया है वहाँ जैन दर्शन में आत्मा को महत्त्व देते हुए भी जड़ और चेतन दोनों की स्वतंत्र सत्ता मानी गई है, सांख्यों ने भी पुरुष एवं प्रकृति के रूप में इस द्वैतवाद को स्वीकारा है। न्याय वैशेषिक और मीमांसक बहुतत्त्ववादी है किन्तु वे भी चित्

और अचित् दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं। जैन चेतन(जीव) और जड़ अजीव दोनों के सम्बन्ध में बहुतत्त्ववादी हैं, यद्यपि वे आकाश, धर्म और अधर्म को एक-एक स्वतंत्र तत्त्व ही मानते हैं। सांख्य पुरुष की अनेकता और प्रकृति का एकत्व मानता है। जबकि विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध तथा शांकर वेदान्त द्वैतवादी हैं।

5. बौद्ध विज्ञानवाद बाह्यार्थ का निषेध करता है, वहाँ जैनदर्शन, नैयायिक एवं मीमांसक के समान बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करता है। ज्ञातव्य है कि बौद्धों में भी सर्वास्तिवादी-सौत्रान्तिक एवं वैभाविक बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं, फिर भी सौत्रान्तिक उसे प्रत्यक्ष का विषय न मानकर अनुमेय ही मानते हैं।

6. वस्तु की बहुआयामिता को आधार बनाकर जैनों ने अनेकांतवाद की स्थापना की। मीमांसकों ने भी इसका समर्थन किया किन्तु बौद्ध निषेधमुखी होने से अनेकांत की अपेक्षा शून्यवाद की दिशा में अग्रसर हो गये, फिर भी शून्यवाद और अनेकांतवाद दोनों ही एकान्त का विरोध तो समान रूप से करते हैं। अन्तर यह है कि बौद्ध एकान्तवाद का खण्डन जहाँ निषेधमुख से करते हैं, वहाँ जैन प्रतिपक्ष में निषेधमुख से और स्वपक्ष में विधिमुख से करते हैं।

7. शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध को लेकर जहाँ मीमांसक तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, वहाँ न्याय, वैशेषिक तदुत्पत्ति सम्बन्ध मानते हैं और जैन वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानते हैं, वहीं बौद्ध शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं मानते हैं। वे अपोहवाद के माध्यम से शब्द द्वारा अर्थबोध को घटित करते हैं, किन्तु शब्द को मात्र अपोहपरक या निषेधपरक मानने से उसकी वाच्यता सामर्थ्य अपूर्ण रहती है। वस्तुतः शब्द का विधिपरक अर्थात् 'ऐसा है' और निषेध परक 'ऐसा नहीं है', यह उभय रूप ग्रहण करने पर ही पूर्ण अर्थ बोध सम्भव होता है।

8. जहाँ तक विभज्यवादी दृष्टिकोण का प्रश्न है बौद्ध और जैन दोनों ही विभज्यवादी हैं दोनों ही एकांतिक प्रतिस्थापनाओं के विरोधी हैं और विश्लेषणपूर्वक उत्तर देने की बात करते हैं।

9. जैनों ने अपनी अनेकांतिक दृष्टि के कारण बौद्धों की अनेक अवधारणाओं का उनकी विरोधी अवधारणाओं के साथ समन्वय किया है।

बौद्ध और जैन प्रमाणमीमांसा में समानताएँ और अमानताएँ-जैन एवं बौद्ध प्रमाण मीमांसा के तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से डॉ. धर्मचन्द जी जैन ने अपने शोध प्रबन्ध व बौद्धप्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा में विस्तार से चर्चा की है। यहाँ हम उसी आधार पर यह तुलनात्मक विवेचन कर रहे हैं-

1. जैन और बौद्ध दर्शन दोनों ही दो प्रमाण मानते हैं, किन्तु जहाँ जैनदर्शन प्रमाण के इस द्विविध वर्गीकरण में प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों का उल्लेख करता है, वहाँ बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करता है। इस प्रकार प्रमाण के द्विविधवर्गीकरण के संबंध में एकमत होते हुए भी उनके नाम और स्वरूप को लेकर दोनों में मतभेद है। दोनों दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण तो समान रूप से स्वीकृत हैं, किन्तु दूसरे प्रमाण के रूप में जहाँ बौद्ध अनुमान का उल्लेख करते हैं, वहाँ जैन परोक्ष प्रमाण का उल्लेख करते हैं और परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदों में एक भेद अनुमान प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्षप्रमाण में वे स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम को भी प्रमाण मानते हैं। जहाँ तक अन्य दर्शनों का प्रश्न है वैशेषिक दो, सांख्य तीन, न्याय चार, मीमांसा (प्रभाकर) पाँच, वेदांत एवं भाट्ट मीमांसक छह प्रमाण मानते हैं।

2. बौद्धदर्शन में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक दो प्रमेयों के लिए दो अलग-अलग प्रमाणों की व्यवस्था की गई है, क्योंकि उनके अनुसार स्वलक्षण का निर्णय निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, किन्तु जैन दर्शन वस्तुतत्त्व को सामान्यविशेषात्मक मानकर यह मानता है कि जिस प्रमेय को किसी एक प्रमाण से जाना जाता है उसे अन्य-अन्य प्रमाणों से भी जाना जा सकता है। अर्थात् सभी प्रमेय सभी प्रमाणों के विषय हो सकते हैं, जैसे अग्नि को प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से जाना जा सकता है। इस आधार पर विद्वानों ने बौद्धदर्शन को प्रमाणव्यवस्थावादी और जैनदर्शन को प्रमाणसंप्लववादी कहा है।

3. प्रमाणलक्षण के संबंध में भी दोनों में कुछ समानताएँ और कुछ मतभेद हैं। प्रमाण की अविस्वादकता दोनों को मान्य है, किन्तु अविस्वादकता के तात्पर्य को लेकर दोनों में मतभेद है। जहाँ जैनदर्शन अविस्वादकता का अर्थ ज्ञान में आत्मगत संगति और ज्ञान और उसके विषय (अर्थ) में वस्तुगत संगति और उसका अन्य प्रमाणों से अबाधित होना मानता है, वहीं बौद्धदर्शन अविस्वादकता का संबंध अर्थक्रिया से जोड़ता है। बौद्धदर्शन में अविस्वादकता का अर्थ है अर्थक्रियास्थिति, अवचकता और अर्थप्रापकता। इस प्रकार दोनों दर्शनों में अविस्वादिता का अभिप्राय भिन्न-भिन्न है। दूसरे बौद्धदर्शन में अविस्वादिता को सांख्यवहारिक स्तर पर माना गया है जबकि जैन दर्शन का कहना है कि अविस्वादिता पारमार्थिक स्तर पर होना चाहिए। बौद्धों के प्रमाण के दूसरे लक्षण अनधिगत अर्थ का ग्राहक होना, अकलंक आदि कुछ जैन दार्शनिकों को तो मान्य है, किन्तु विद्यानन्द आदि कुछ जैन दार्शनिक इसे प्रमाण का आवश्यक लक्षण नहीं मानते हैं। मीमांसक अपूर्व को प्रमाण का आवश्यक लक्षण मानते हैं।

4. जैन और बौद्ध दोनों दर्शन इस संबंध में एकमत हैं कि प्रमाण ज्ञानात्मक है। वे ज्ञान के करण या हेतु (साधन) को प्रमाण नहीं मानते हैं, फिर भी जहाँ जैन दार्शनिक प्रमाण को व्यवसायात्मक मानते हैं वहाँ बौद्ध दार्शनिक कम से कम प्रत्यक्ष प्रमाण को तो निर्विकल्पक मानकर व्यवसायात्मक नहीं मानते हैं।

5. बौद्धदर्शन में जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्पक और अनुमान प्रमाण को सविकल्पक माना गया है वहाँ जैनदर्शन दोनों ही प्रमाणों को सविकल्प मानता है, क्योंकि उनके अनुसार प्रमाण व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक ही होता है। उनका कहना है कि प्रमाण ज्ञान है और ज्ञान सदैव सामान्यविशेषणात्मक और सविकल्पक ही होता है। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में दर्शन और ज्ञान में भेद किया गया है। यहाँ दर्शन को सामान्य एवं निर्विकल्पक और ज्ञान को विशेष और सविकल्पक कहा गया है। बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुतः जैनों का “दर्शन” है।

6. जैनदर्शन में सिद्धसेन दिवाकर ने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों को ही अभ्रान्त माना है, जबकि बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष को अभ्रान्त तथा अनुमान को भ्रान्त कहा गया है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की अभ्रान्तता तो दोनों को स्वीकार्य है, किन्तु अनुमान की अभ्रान्तता के संबंध में दोनों में वैमत्य (मतभेद) है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि जो भ्रान्त हो, उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है?

7. बौद्धदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को अभ्रान्त कहकर उसे प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है, जबकि जैनदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को, जिसे वे अपनी पारिभाषिक शैली में “दर्शन” कहते हैं, प्रमाण की कोटि में स्वीकार नहीं करते हैं जैनों के यहाँ प्रमाण व्यवसायात्मक होने से सविकल्पक ही होता है, निर्विकल्पक दर्शन और बौद्धों को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है। रत्नप्रभ की रत्नाकर अवतारिका में इसका विस्तार से खण्डन किया गया है।

8. प्रमाण की परिभाषा को लेकर भी दोनों में कथंचित् मतभेद देखा जाता है। बौद्धदर्शन में प्रमाण को स्व का प्रकाशक माना गया है, पर का प्रकाशक नहीं। क्योंकि उनके यहाँ योगाचार दर्शन में अर्थ अर्थात् प्रमाण का विषय (प्रमेय) भी वस्तुरूप न होकर ज्ञान रूप ही है। जबकि जैनदर्शन में प्रमाण को स्व-पर अर्थात् अपना और अपने अर्थ का प्रकाशक माना गया है (स्वपरव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्)। जैनों के अनुसार प्रमाण स्वयं अपने को और अपने विषय को दोनों को ही जानता है। जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शन “प्रत्यक्ष” को कल्पनाजन्य तो नहीं मानते हैं, किन्तु जैनों के अनुसार कल्पना रहित होने का तात्पर्य है वस्तुसत् अर्थात् वस्तुगतसत्ता (Objective Reality) होना है, जबकि बौद्ध दर्शन में कल्पना रहित होने का अर्थ अनुभूत सत् या आत्मगतसत्ता (Subjective Reality) है।

9. बौद्ध दार्शनिक अनुमान के दो भेद करते हैं, स्वार्थ और परार्थ। जैन दार्शनिक भी अनुमान के इन दोनों भेदों को स्वीकार करते हैं, किंतु जैनदार्शनिक सिद्धसेन न्यायावतार में प्रत्यक्ष के भी स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद करते हैं। सिद्धसेन दिवाकर के अतिरिक्त कुछ अन्य जैन आचार्यों जैसे शांतिसूरि एवं वादिदेवसूरि ने भी इन भेदों का उल्लेख किया है।

10. प्रत्यक्षप्रमाण के स्वरूप एवं भेदों को लेकर भी दोनों में मतभेद देखा जा सकता है। प्रथम तो जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है जहाँ बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष को कल्पना से रहित और निर्विकल्पक मानते हैं वहाँ जैन दार्शनिक उसे सविकल्पक कहते हैं। पुनः बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष के जैनों के समान सांख्यवहारिक और पारमार्थिक ऐसे दो भेद नहीं करते हैं। उनके यहाँ प्रत्यक्ष के चार भेद हैं-

1. स्वसंवेदना प्रत्यक्ष 2. इन्द्रिय प्रत्यक्ष 3. मानस प्रत्यक्ष और 4. योगज प्रत्यक्ष। प्रथम तो जहाँ जैन इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, वहाँ बौद्ध प्रत्यक्ष में ऐसा कोई विभाजन नहीं करते। पुनः जहाँ जैनदर्शन में इन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-ऐसे चार भेद किए गए हैं वहाँ बौद्ध दर्शन में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। बौद्ध दर्शन में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में योगज प्रत्यक्ष को रखा गया है जबकि जैनदर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप में है और उसके अन्तर्गत अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान को रखा गया है। जहाँ तक बौद्धों के स्वसंवेदन का प्रश्न है जैनों ने उसे दर्शन कहा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के स्वरूप और प्रकारों को लेकर दोनों में मतभेद है। नैयायिकों ने प्रत्यक्ष का एक भेद योगज माना है।

11. पुनः प्रत्यक्ष प्रमाण के अंतर्गत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में जहाँ बौद्ध दार्शनिक श्रोतृन्द्रिय और चक्षु-इन्द्रिय दोनों को अप्राप्यकारी मानते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक केवल चक्षु-इन्द्रिय को ही अप्राप्यकारी मानते हैं। जैनों के अनुसार श्रोतृन्द्रिय शब्द का ग्रहण उसके इन्द्रिय-सम्पर्क होने के आधार पर ही करती है, दूर से नहीं करती है। इस प्रकार श्रोतृन्द्रिय की प्राप्यकारिता को लेकर दोनों में मतभेद है। रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका में अनेक तर्कों के आधार पर श्रोतृन्द्रिय को प्राप्यकारी सिद्ध किया गया है, किन्तु चक्षु-इन्द्रिय को दोनों ही अप्राप्यकारी मानते हैं। नैयायिक सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं।

12. हेतु के लक्षण को लेकर भी दोनों परम्पराओं में मतभेद देखा जा सकता है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक त्रैरूप्य हेतु अर्थात् पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष-असत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक साध्यसाधन अविनाभाव अर्थात्

अन्यथानुपलब्धि को ही हेतु का एकमात्र लक्षण बताते हैं। जैन दार्शनिक पात्रकेसरी ने तो एतदर्थ “त्रिलक्षणकदर्थन” नामक स्वतंत्र ग्रंथ की ही रचना की थी।

13. अनुपब्धि को जहाँ बौद्ध दार्शनिक मात्र निषेधात्मक या अभाव रूप मानते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक उसे विधि-निषेध रूप मानते हैं। भट्ट मीमांसक और वेदान्त उसे प्रमाण ज्ञान में सहायक मात्र मानते हैं।

नैतिक एवं धार्मिक चिन्तन में प्रमुखतया समरूपता

जहाँ तक धार्मिक, नैतिक एवं आचार व्यवस्था सम्बन्धी प्रश्नों की स्थिति है जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा में समरूपताएँ ही अधिक हैं। यद्यपि आचार के क्षेत्र में भगवान बुद्ध ने मध्यममार्ग का प्रतिपादन कर कठोर तपश्चर्या रूप देह दण्डन और भोगों के प्रति अति आकर्षण से बचने का निर्देश किया। इस सम्बन्ध में जैनों की स्थिति भिन्न रही, उन्होंने आचार के क्षेत्र में कठोरता और विचार के क्षेत्र में, अनेकांतवाद के माध्यम से उदारता का परिचय दिया। इस सम्बन्ध में विशेष तुलनात्मक अध्ययन मैंने अपने शोधग्रन्थ जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन में किया है। आचारगत प्रश्नों पर जैन और बौद्धों में समरूपता ही अधिक है, त्रिपिटक और जैनागमों की सैकड़ों गाथाएँ अर्थतः या शब्दतः समान ही हैं। जैनों ने आचार शास्त्र का मुख्य लक्ष्य राग-द्वेष का त्याग, बौद्धों ने तृष्णा का त्याग और हिन्दू परम्परा ने आसक्ति का त्याग माना है। इस आलेख को यहीं विराम देना चाहेंगे।

संदर्भ -

1. षडदर्शन समुच्चय, सम्पादक डॉ. महेन्द्रकुमार प्रस्तावना पृ. 14
2. वही, पृ. 19
3. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ. 43



महायान बौद्ध धर्म की समन्वयात्मक जीवन-दृष्टि

बौद्धधर्म की महायान शाखा की मध्यम प्रतिपदा का विकास किन परिस्थितियों में और किन प्रभावों के परिणाम-स्वरूप हुआ, यही इस निबंध का विवेच्य विषय है।

यह सत्य है कि बौद्धधर्म श्रमण परम्परा का धर्म है, किन्तु इस सन्दर्भ में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया वह निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा का प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा के साथ समन्वय का प्राथमिक प्रयास था। श्रमणधारा और वैदिक धारा मूलतः दो भिन्न जीवनदृष्टियों पर खड़ी हुई थीं। सामान्यतया श्रमण परम्परा से निवृत्तिमार्गी धर्मों का ही ग्रहण होता है। निवृत्तिमार्गी धर्म मूलतः निर्वाणलक्षी, ज्ञानमार्गी एवं तपस्याप्रधान थे, उनका मूलभूत लक्ष्य तपस्या और ज्ञान के माध्यम से जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाना था। उनकी दृष्टि में सांसारिक अस्तित्व दुःखमय है और उससे छुटकारा पाना ही जीवन का आदर्श है। इसके विपरीत वैदिक परम्परा जीवन को और सांसारिक अस्तित्व को आशा भरी दृष्टि से देखती थी। वर्तमान जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाना ही उसका एक मात्र लक्ष्य था। यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि जहाँ वैदिक परम्परा में भौतिक सुख-समृद्धि की उपलब्धि ही जीवन का लक्ष्य बनी, वहाँ श्रमणधारा के प्रारम्भिक रूपों में जीवन के निषेध का स्वर ही अधिक उभरा। वस्तुतः वैदिक धारा और श्रमणधारा मानव जीवन के दो आधार-देह और चेतना अथवा भोग और त्याग की दो भिन्न जीवन दृष्टियों पर खड़ी हुई थी। प्रारम्भिक वैदिक धर्म का लक्ष्य भोग और प्रारम्भिक श्रमण धर्मों का लक्ष्य त्याग रहा, दूसरे शब्दों में वैदिक धर्म प्रवृत्ति प्रधान और श्रमणधर्म निवृत्ति प्रधान बना। किन्तु मानव अस्तित्व इस प्रकार का है कि वह न केवल भोग पर और न केवल त्याग पर खड़ा रहा सकता है, उसे जीवन के लिए भोग और त्याग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, वासना की सन्तुष्टि एवं विवेक का विकास सभी आवश्यक है। दैहिक और सामाजिक मूल्यों के साथ ही उसके लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य भी आवश्यक हैं।

अतः परिणाम यह हुआ कि भोग एवं त्याग के एकान्तिक आधारों पर खड़ी हुई धर्म-परम्पराएँ उसे अपने जीवन का सम्यक् समाधान नहीं दे सकीं। अतः भोग और त्याग तथा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य एक समन्वय अथवा सम्यक् सन्तुलन बनाने का प्रयत्न हुआ।

इस समन्वय की धारा को हम सर्वप्रथम ईशावास्योपनिषद् में देखते हैं जहाँ “तेन त्यक्तेन भुञ्जिथा” में त्याग और भोग का समन्वय किया गया है। वैदिक धारा में विकसित औपनिषदिक चिन्तन इस समन्वय का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यही समन्वय की धारा आगे चलकर गीता में अधिक पुष्पित एवं पल्लवित होती है। गीता की जीवन दृष्टि ईशावास्योपनिषद् की जीवन दृष्टि का ही एक विकसित रूप है। जिस प्रकार वैदिक धारा में उपनिषद् एवं गीता समन्वय की दृष्टि को लेकर आगे आते हैं उसी प्रकार श्रमण परम्परा में बौद्धधर्म समन्वय का सूत्र देकर आगे आता है। यद्यपि प्रारम्भिक बौद्धधर्म ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के मध्य या व्यक्ति और समाज के मध्य एक समन्वय का प्रयत्न तो किया था, किन्तु उसे विकसित किया उसकी महायान परम्परा ने।

वैदिक परम्परा में यदि गीता प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य एक उचित समन्वय का प्रयास करती है, तो श्रमण परम्परा में महायान सम्प्रदाय प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य एक सांग-संतुलन को प्रस्तुत करता है।

इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भगवद्गीता और महायान परम्परा एक दूसरे के अधिक निकट है। दोनों में कोई अन्तर है तो वह अन्तर उनके उद्गम स्थल या उनकी मूल धारा का है। अपने उद्गम के दो भिन्न केन्द्रों पर होने के कारण ही उनमें भिन्नता रही हुई है। वे अपनी मूलधारा से दूटना नहीं चाहते हैं अन्यथा दोनों की समन्वयात्मक जीवनदृष्टि लगभग समान है। अनेक तथ्यों के सन्दर्भों में हम उनकी इस समन्वयात्मक जीवनदृष्टि को देख सकते हैं।

गृहस्थ धर्म बनाम संन्यास

प्रारम्भिक वैदिक धर्म में संन्यास का तत्त्व अनुपस्थित था, गृहस्थ जीवन को ही एक मात्र जीवन का कर्मक्षेत्र माना जाता था। प्रारम्भिक वैदिक ऋषि पत्नियों से युक्त थे, जबकि श्रमण परम्परा प्रारम्भ से ही संन्यास को प्राथमिकता देती थी तथा पारिवारिक जीवन को बन्धन मानती थी।

वैदिक धर्म में यद्यपि आगे चलकर निवृत्तिमार्गी श्रमणधर्म के प्रभाव के कारण वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का प्रवेश हुआ, किन्तु फिर भी उसमें गृही जीवन को ही जीवन का उच्चतम आदर्श तथा सभी आश्रमों का आधार समझा गया

और “अपुत्रस्य गतिर्नास्ति” कहकर गृही जीवन के दायित्वों को निर्वाह करने हेतु बल दिया गया। जबकि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराओं में गृहस्थ जीवन की निन्दा की गयी और संन्यास को ही निर्वाण या मुक्ति का एक मात्र उपाय माना गया।

प्रारम्भिक जैन एवं बौद्धधर्म गृहस्थ जीवन की निन्दा करते हैं। जैन आगम दशवैकालिकसूत्र (चूलिका 1/11-13) में कहा गया है कि गृहस्थ जीवन क्लेश युक्त है और संन्यास क्लेश मुक्त; गृहस्थ जीवन पापकारी है और संन्यास निष्पाप है। इसी प्रकार सुत्तनिपात (27/2) में भी संन्यास जीवन की प्रशंसा तथा गृहस्थ की निन्दा करते हुए कहा गया है कि गृहस्थ जीवन कण्टकों से पूर्ण वासनाओं का घर है जबकि प्रव्रज्या खुले आसमान के समान निर्मल है। जैन एवं बौद्ध-दोनों ही धर्मों के प्राचीन ग्रन्थों से हमें ऐसा कोई उल्लेख देखने को नहीं मिला, जिसमें गृहस्थ जीवन की प्रशंसा की गयी हो।

जैन आगम उपासकदशांग में दश गृहस्थ उपासकों का जीवन वृत्तान्त वर्णित है, किन्तु उनको केवल स्वर्गवासी बताया गया है, मोक्षगामी नहीं। इसी प्रकार पिटक साहित्य में बुद्ध स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि गृहस्थ जीवन को छोड़े बिना निर्वाण सम्भव नहीं, किन्तु इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि महायान परम्परा और जैनों की श्वेताम्बर परम्परा तथा भगवद्गीता स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि निर्वाण या मुक्ति के लिए गृही जीवन का त्याग अनिवार्य नहीं है। महायान साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ साधक गृहस्थ जीवन से सीधा ही मुक्ति लाभ प्राप्त करता है। इसी प्रकार गीता मुक्ति के लिए संन्यास को आवश्यक नहीं मानती। उसके अनुसार गृहस्थ भी मुक्ति का अधिकारी है।

महायान, श्वेताम्बर जैन परम्परा और भगवद्गीता में किसके प्रभाव से यह अवधारणा विकसित हुई यह बता पाना तो कठिन है लेकिन इतना स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन में ईसा की प्रथम शताब्दी में जो प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच अथवा संन्यास एवं गृही जीवन के बीच जो समन्वयात्मक प्रवृत्ति विकसित हुई थी, यह इसका ही परिणाम था। इन तीनों परम्पराओं में यह स्वीकार कर लिया गया है कि निर्वाण के लिए संन्यास अनिवार्य तत्त्व नहीं है। मुक्ति का अनिवार्य तत्त्व है-अनासक्त, निष्काम, वीतदृष्टि और वीतराग जीवन दृष्टि का विकास। फिर भी इतना अवश्य मानना होगा कि यह श्रमण परम्परा पर वैदिक धारा का प्रभाव ही था, जिसके कारण उसमें गृहस्थ जीवन को भी कुछ सीमाओं के साथ अपना महत्त्व एवं स्थान प्राप्त हुआ। फिर भी जहाँ महायान और जैन परम्परा में भिक्षु संघ की श्रेष्ठता मान्य रही, वहाँ गीता में “कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते” कहकर गृही जीवन की श्रेष्ठता को मान्य किया गया।

वैक्तिकता बनाम सामाजिकता

यह स्पष्ट कि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ निवृत्तिमार्गी होने के कारण व्यक्तिनिष्ठ थीं। व्यक्ति की मुक्ति और व्यक्ति का आध्यात्मिक कल्याण ही उनका आदर्श था। प्रारम्भिक बौद्धधर्म एवं जैनधर्म भी हमें व्यक्तिनिष्ठ ही परिलक्षित होते हैं। जबकि प्रारम्भिक वैदिक धर्म के पारिवारिक जीवन की स्वीकृति के साथ ही सामाजिक चेतना का विकास देखा जाता है। वेदों में “संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्” अथवा “समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सहचिन्तयेषाम्” के रूप में सामाजिक चेतना का स्पष्ट उद्घोष है। यद्यपि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ घर-परिवार और सामाजिक जीवन से विमुख ही रही हैं फिर भी प्रारम्भिक बौद्धधर्म और जैनधर्म में श्रमण संघों के अस्तित्व के साथ एक दूसरे प्रकार की सामाजिक चेतना का विकास अवश्य हुआ है। इन्होंने क्रमशः “चरन्त्य भिक्षवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय” अथवा “सम्मचलोयं खेयन्ने हि पवइए” के रूप में लोकमंगल और लोक-कल्याण की बात कही है। फिर भी इनके लिए लोकमंगल और लोक-कल्याण का अर्थ इतना ही था कि संसार के प्राणियों को जन्म मरण के दुःख से मुक्त किया जाए। समाज का भौतिक कल्याण और समाज के दीन-दुःखियों को वास्तविक सेवा का व्यवहार्य पक्ष उनमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता है। भिक्षु-जीवन में संघीय चेतना का विकास तो हुआ था, फिर भी वह समाज के सामान्य सदस्यों के भौतिक कल्याण के साथ जुड़ नहीं पाया। जैनधर्म का भिक्षु संघ तो आज तक भी समाज के वास्तविक भौतिक कल्याण तथा रोगी और दुःखियों की सेवा को अपनी जीवन चर्या का आवश्यक अंग नहीं मानता है। मात्र सेवा का उपदेश देता है, करता नहीं है। श्रमण परम्पराओं ने सामाजिक जीवन में संबंधों की शुद्धि का प्रयत्न तो अवश्य किया और उन तथ्यों का निराकरण भी किया जो सामाजिक जीवन को दूषित करते थे। फिर भी वे अपनी निवृत्तिमार्गी दृष्टि के कारण विधायक सामाजिकता का सृजन नहीं कर सके। निवृत्तिमार्गी परम्परा में सामाजिक-चेतना का सर्वाधिक विकास यदि कहीं हुआ है तो वह महायान परम्परा में। महायान परम्परा में सामाजिक चेतना का जो विकास हुआ है, उसे उसके ग्रन्थ बोधिचर्यावतार में बहुत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। समाज की आंगिकता का सिद्धांत, जो आज बहुत चर्चा का विषय है, उसका स्पष्ट उल्लेख भी इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

बौद्धधर्म की महायान शाखा ने तो लोकमंगल के आदर्श को ही अपनी नैतिकता का प्राण माना। वहाँ तो साधक लोकमंगल के आदर्श की साधना में परममृत्यु निर्वाण की भी उपेक्षा कर देता है, उसे अपने वैयक्तिक निर्वाण में कोई

रुचि नहीं रहती है। महायानी साधक कहता है - दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनन्द मिलता है, वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें क्या लेना देना।

साधन के साथ सेवा की भावना का कितना सुन्दर समन्वय है। लोकसेवा, लोक-कल्याण-कामना के इस महान् आदर्श को देखकर हमें बरबस ही श्री भरतसिंह जी उपाध्याय के स्वर में स्वर मिलाकर कहना पड़ता है, कितनी उदात्त भावना है। विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात करने की कितनी विह्वलता है। परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है। आचार्य शान्तिदेव भी केवल परोपकार या लोक-कल्याण का सन्देश नहीं देते, वरन् उस लोक-कल्याण के सम्पादन में भी पूर्ण निष्कामभाव पर बल देते हैं। निष्कामभाव से लोक-कल्याण कैसे किया जाये, इसके लिए शान्तिदेव ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे उनके मौलिक चिन्तन का परिणाम हैं। गीता के अनुसार व्यक्ति ईश्वरीय प्रेरणा को मानकर निष्कामभाव से कर्म करता रहे अथवा स्वयं को और सभी साथी प्राणियों को उसी पर ब्रह्म का ही अंश मानकर सभी में आत्मभाव जागृत कर बिना आकांक्षा के कर्म करता रहे। लेकिन निरीश्वरवादी और अनात्मवादी बौद्ध दर्शन में तो यह सम्भव नहीं था। यह तो आचार्य की बौद्धिक प्रतिभा ही है, जिसने मनावैज्ञानिक आधारों पर निष्कामभाव से लोकहित की अवधारणा को सम्भव बनाया। समाज के सावयवता के जिस सिद्धान्त पर ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारक लोकहित और स्वहित में समन्वय साधते हैं और उन विचारों की मौलिकता का दावा करते हैं, वे विचार आचार्य शान्तिदेव के ग्रन्थों में बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं और उनके आधार पर उन्होंने निःस्वार्थ कर्मयोग की अवधारणा को भी सफल बनाया है। वे कहते हैं कि “जिस प्रकार निरात्मक (अपनेपन के भाव रहित) निज शरीर में अभ्यासवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से अपनेपन का भाव अवश्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि जैसे हाथ आदि अंग अपने शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी प्राणी उसी जगत के, जिसका मैं अवयव हूँ, अवयव होने के कारण प्रिय होंगे, उनमें भी आत्मभाव होगा और यदि सब में प्रियता और आत्मभाव उत्पन्न हो गया तो फिर दूसरों के दुःख दूर किये बिना नहीं रहा जा सकेगा, क्योंकि जिसका जो दुःख हो वह उससे अपने को बचाने का प्रयत्न तो करता है। यदि दूसरे प्राणियों को दुःख होता है, तो हमको उससे क्या? ऐसा मानों तो हाथ को पैर का दुःख नहीं होता, फिर क्यों हाथ से पैर का कंटक निकालकर दुःख से उसकी रक्षा क्यों करते हो। जैसे हाथ पैर का दुःख किये बिना नहीं रह सकता, वैसे ही समाज का कोई भी प्रज्ञायुक्त सदस्य दूसरे प्राणी का दुःख

दूर किये बिना नहीं रह सकता।” इस प्रकार आचार्य समाज की सावयवता को सिद्ध कर इस लोकमंगल की साधना में लोकमंगल का सन्देश देते हुए आगे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि इस लोकमंगल की साधना में निष्कामता होनी चाहिए। वे लिखते हैं - “जिस प्रकार अपने आपको भोजन कराकर फल की आशा नहीं होती है, उसी प्रकार परार्थ करके भी फल की आशा, गर्व या विस्मय नहीं होता है”।” क्योंकि परार्थ द्वारा हमें अपने ही समाज रूपी शरीर को या उसके अवयवों की सन्तुष्टि करते हैं इसलिए मात्र परोपकार के लिए ही परोपकार करके, न गर्व करना और न विस्मय और न विपाकफल की इच्छा ही”।” महायान में बोधिसत्त्व और गीता में स्थितप्रज्ञ के दो आदर्श हैं वे व्यक्ति के स्थान पर समाज को महत्व देते हैं। उन्होंने वैयक्तिक कल्याण या स्वहित के स्थान पर सामाजिक कल्याण को महत्व दिया है और इस प्रकार व्यक्ति के ऊपर समाज की प्रतिष्ठित किया है।

महायान के बोधिसत्त्व का लक्ष्य मात्र वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना नहीं। वह तो लोकमंगल के लिए अपने बन्धन और दुःख की भी कोई परवाह नहीं करता है। वह कहता है-

“बहुनामेकदुःखेन यदि दुःख विगच्छति,
उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सदयेन परात्मनो ।
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः,
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षणारसिकेन किम् ।।”

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दुःख दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर नीरस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है। वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने संकल्प को व्यक्त करते हुए भागवत, जिसमें गीता के चिन्तन का ही विकास देखा जाता है, के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने भी स्पष्ट रूप से कहा था कि -

“प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः ।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।।
नेतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः ।।”

हे प्रभु! अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधना किया करते थे। किन्तु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी। मैं तो अकेला इन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता।

स्वहित बनाम लोकहित का प्रश्न

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया-प्रारम्भिक श्रमणधर्म एकान्त साधना और वैयक्तिक मुक्ति पर ही बल देते थे। यद्यपि हमें ध्यान यह रखना होगा कि उनकी यह एकान्त साधना और वैयक्तिक मुक्ति की अवधारणा जन कल्याण के विपरीत नहीं थी, फिर भी उसमें लोकहित का एक विधायक पक्ष उपलब्ध नहीं होता है। सम्भवतः भगवान् बुद्ध प्रथम श्रमण थे, जिन्होंने लोकमंगल की चेतना को विकसित किया है। पालि अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध का कथन है कि भिक्षुओं, जैसे तालाब का पानी गन्दा हो, चंचल हो और कीचड़-युक्त हो, वहाँ किनारे पर खड़े आंख वाले आदमी को न सीप दिखाई दे, न शंख, न कंकड़, न पत्थर, न चलती हुई या स्थित मछलियां दिखाई दें। यह ऐसा क्यों? भिक्षुओं, पानी के गंदला होने के कारण। इसी प्रकार भिक्षुओं, इसकी सम्भावना नहीं है कि वह भिक्षु मैले (राग-द्वेषादि से युक्त) चित्त से आत्महित जान सकेगा, परहित जान सकेगा, उभयहित जान सकेगा और सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्यज्ञान-दर्शन को जान सकेगा। इसकी सम्भावना है कि भिक्षु निर्मल चित्त से आत्महित को जान सकेगा, परहित को जान सकेगा, उभयहित को जान सकेगा, सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्यज्ञान-दर्शन को जान सकेगा””।

बुद्ध के इस कथन का सार यही है कि जीवन में जब तक राग-द्वेष और मोह की वृत्तियाँ सक्रिय हैं, तब तक आत्महित और लोकहित की यथार्थदृष्टि उत्पन्न नहीं होती है। राग और द्वेष का प्रहाण होने पर ही सच्ची लोक मंगल की दृष्टि का उदय होता है और जब यह यथार्थ उत्पन्न हो जाती है तब स्वार्थ, परार्थ और उभयार्थ में कोई विरोध ही नहीं करता। हीनयान या स्थविरवाद में जो स्वहितवाद अर्थात् आत्मकल्याण के दृष्टिकोण का प्राधान्य है, उसका मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ मानी जा सकती हैं, फिर भी हीनयान का उस लोकमंगल की साधना से मूलतः कोई विरोध नहीं है, जो वैयक्तिक नैतिक विकास में बाधन न हो। जिस अवस्था तक वैयक्तिक नैतिक विकास और लोकमंगल की साधना में अविरोध है, उस अवस्था तक लोकमंगल उसे भी स्वीकार है। मात्र व लोकमंगल के लिए आन्तरिक और नैतिक विशुद्धि को अधिक महत्त्व देता है। आन्तरिक पवित्रता एवं नैतिक विशुद्धि से शून्य होकर फलाकांक्षा से युक्त लोकसेवा के आदर्श को वह स्वीकार नहीं करता। उसकी समग्र आलोचनाएँ ऐसे ही लोकहित के प्रति हैं। भिक्षु पारापरिय ने, बुद्ध के परवर्ती भिक्षुओं में लोकसेवा का जो थोथा आदर्श जोर पकड़ गया था, उसकी समालोचना में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं :-

लोगों की सेवा काय से करते हैं, धर्म से नहीं।

दूसरों को धर्म का उपदेश देते हैं,

(अपने) लाभ के लिए, न कि (उसके) अर्थ के लिए।^१

स्थविरवादी भिक्षुओं का विरोध लोकसेवा के उस रूप से है जिसका सेवा-रूपी शरीर तो है, लेकिन जिसकी नैतिक चेतनारूपी आत्मा मर चुकी है। वह लोकसेवा सेवा नहीं, सेवा का प्रदर्शन है, दिखावा है, ढोंग है, छलना है आत्मप्रवंचना है। डॉ. भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार एकांतता की साधना की प्रारम्भिक बौद्धधर्म में प्रमुखता अवश्य थीं, परंतु सार्थक तथ्य यह है कि उसे लोकसेवा के या जनकल्याण के विपरीत वहाँ कभी नहीं माना गया। बल्कि यह तो उसके लिए एक तैयारी थी।^१ दूसरी ओर यदि हम महायानी साहित्य का गहराई से अध्ययन करें तो हमें बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय, लंकावतारसूत्र जैसे ग्रन्थों में भी कहीं ऐसी सेवाभावना का समर्थन नहीं मिलता हो नैतिक जीवन के व्यक्तिगत मूल्यों के विरोध में खड़ी हो। लोकमंगल का जो आदर्श महायान परम्परा ने प्रस्तुत किया है, वह भी ऐसे किसी लोकहित का समर्थन नहीं करता, जिसके लिए वैयक्तिक नैतिकता को समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार सैद्धांतिक दृष्टि से लोकहित और आत्महित की अवधारणा में हीनयान और महायान में कोई मौलिक विरोध नहीं रहा जाता। यद्यपि व्यावहारिक रूप में यह तथ्य सही है कि जहाँ एक ओर हीनयान ने एकल साधना और व्यक्तिनिष्ठ आचार-परम्परा का विकास किया और साधना को अधिकांश रूपेण आंतरिक एवं वैयक्तिक बना दिया, वहाँ दूसरी ओर महायान ने उसी की प्रतिक्रिया में साधना के वैयक्तिक पक्ष की उपेक्षा कर उसे सामाजिक और बहिर्मुखी बना दिया। इस तरह लोकसेवा और लोकानुकम्पा को अधिक महत्त्व दिया। यहाँ हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि हीनयान और महायान ने जिस सीमा तक अपने में इस एक पक्षीयता को प्रश्रय किया है, वे उसी सीमा तक बुद्ध की मध्यमार्गीय देशना से पीछे भी हटे हैं।

हिन्दू परम्परा में गीता में स्वहित के ऊपर लोकहित की प्रतिष्ठा हुई है। गीताकार की दृष्टि में जो अपने लिए ही पकाता और खाता है वह पाप की खाता है।^१ स्वहित के लिए जीने वाला व्यक्ति गीता की दृष्टि में अधार्मिक और नीच है। गीताकार के अनुसार जो व्यक्ति प्राप्त भोगों को देने वाले को दिए बिना अर्थात् उनका ऋण चुकाये बिना खाता है वह चोर है।^१ सामाजिक दायित्वों का निर्वाह न करना गीता की दृष्टि में भारी अपराध है।

गीता के अनुसार लोकहित करना मनुष्य का कर्तव्य है। सर्वप्राणियों के हित सम्पादन में लगा हुआ पुरुष ही परमात्मा को प्राप्त करता है। वह ब्रह्म-निर्वाण का अधिकारी होता है।^१ जिसे कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है, जो

जीवन-मुक्त हो गया है, जिसे संसार के प्राणियों से कोई मतलब नहीं, उसे भी लोक-हितार्थ कर्म करते रहना चाहिए।¹⁰ श्रीकृष्ण अर्जुन से ही कहते हैं कि लोकसंग्रह (लोकहित) के लिए तुझे कर्तव्य करना उचित है।¹¹ गीता में भगवान् के अवतार धारणा करने का उद्देश्य साधुजनों की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की संस्थापना है।¹²

ऐसी लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें बौद्ध आचार्य शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय नामक ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दी में अनुदित उनकी निम्न पंक्तियाँ मननीय हैं -

इस दुःखमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित, पीड़ित विपत्ति विलीन है,
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन है।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन है,
वे मुक्त हो, निजबन्ध से, स्वच्छन्द हो सब द्वन्द से,
छूटे दलन के फन्द से,
हो ऐसा जग में, दुःख से विलखे न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका हो परम कल्याण,
सबका हो परम कल्याण।¹³

भोगवाद बनाम वैराग्यवाद

भोगवाद और वैराग्यवाद भारतीय चिन्तन की आधारभूत धारणायें हैं। वैराग्यवाद निवर्तक धर्मों का मूल है तो भोगवाद प्रवर्तन धर्मों का। वैराग्यवाद शरीर और आत्मा तथा वासना और विवेक के द्वैत पर आधारित धारणा है। वह यह मानता है कि शरीर बन्धन का कारण है और समस्त अधर्मों का मूल है, अतः शरीर और इन्द्रियों की मांगों को ठुकराना ही श्रेयस्कर है। इसके विपरीत भोगवाद यह मानता है कि शरीर की मांगों की पूर्ति करना उचित एवं नैतिक हैं भारतीय परम्परा में जैनधर्म विशुद्ध रूप से वैराग्यवादी परम्परा का समर्थक रहा है और इसी दृष्टि से उसने किसी सीमा तक देह-खण्डन और आत्म-पीड़न के तथ्यों की अपनी साधना पद्धति का अंग भी माना। जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया श्रमण परम्परा के भगवान् बुद्ध प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने इन दोनों के मध्य एक संतुलन बनाते हुए मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है। बुद्ध कठोर मार्ग (देह दण्डन) और शिथिल मार्ग

(भोगवाद) दोनों को ही अस्वीकार करते हैं। बुद्ध के अनुसार यथार्थ नैतिक जीवन का मार्ग मध्यम मार्ग है। उदान में भी बुद्ध अपने इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं - “ब्रह्मचर्य (संन्यास) के साथ व्रतों को पालन करना ही सार है-यह एक अन्त है। काम-भागों के सेवन में कोई दोष नहीं यह दूसरा अन्त है। इन दोनों प्रकार के अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है और मिथ्या धारणा बढ़ती है।” इस प्रकार बुद्ध अपने मध्यममार्गीय दृष्टिकोण के आधार पर वैराग्यवाद और भोगवाद में यथार्थ समन्वय स्थापित करते हैं। भगवान् बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग के विकास का उपदेश दिया था, उसी का विकास महायान परम्परा में हुआ, यद्यपि यह सत्य है कि मध्यम मार्ग का उपदेश देते हुए भी बुद्ध ने भोग की अपेक्षा वैराग्य पर कुछ अधिक बल दिया था, जबकि महायान साधना किसी सीमा तक भोगवाद की ओर अधिक झुक गयी। महायानी बौद्ध आचार्य अनंग वज्र कहते हैं कि चित्त शुद्ध होने से कभी भी मुक्ति नहीं होती, अतः इस प्रकार बरतना चाहिये कि जिससे मानसिक क्षोभ उत्पन्न न हो। वासनाओं के दमन की प्रक्रिया चित्त शान्ति की प्रक्रिया नहीं है। यही कारण है कि आगे चलकर महायान में दैहिक इच्छाओं के दमन को अनुचित माना गया, यद्यपि यह दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि भोगमार्ग की ओर महायान को यह झुकाव उसे तन्त्रयान और वामावर्ग की दिशा में प्रवृत्त कर देता है।

दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति और आत्म-पीड़न की आलोचना के संबंध में महायान का दृष्टिकोण गीता के अत्यंत निकट है। गीता का अनासक्ति योग भी भोगवाद और वैराग्यवाद की समस्या का यथार्थ समाधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि गीता में अनेक स्थानों पर वैराग्य भाव का उपदेश है, किन्तु यह स्पष्ट है कि गीता वैराग्य के नाम पर देह-खण्डन की प्रक्रिया की समर्थक नहीं है।

निष्कर्ष

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट रूप से यह पाते हैं कि महायान सम्प्रदाय ने प्रवर्तक धर्म की अनेक अवधारणाओं को श्रमण परम्परा के अनुरूप रूपान्तरित किया है, यही उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। गृहस्थजीवन से सीधे निर्वाण की सम्भावना को स्वीकार, उसने संन्यास और गृही जीवन के मध्य एक सार्थक सन्तुलन बनाया है, जिसमें संन्यास का महत्त्व भी यथावत् सुरक्षित रह सका है। इसके साथ ही श्रमण संस्था को समाज सेवा और लोकमंगल का भागीदार बनाकर श्रमण परम्परा पर होने वाले स्वार्थवादिता के आक्षेप का परिहार कर दिया है और भिक्षु संघ को समाज जीवन का एक उपयोगी अंग बना दिया है। वैदिक धर्म या गीता की अवतारवाद की अवधारणा को परिमार्जित कर श्रमण परम्परा के अनुरूप बोधिसत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की। यहां हम स्पष्ट रूप से यह देखते

हैं कि अवतार के समान बोधिसत्व भी लोकमंगल के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है- प्राणियों को कल्याण ही उसके जीवन का आदर्श है। बोधिसत्व और अवतार की अवधारणा में तात्त्विक अन्तर होते हुए लोकमंगल के सम्पादन में दोनों समान रूप से प्रवृत्त होते हैं। जैनों के तीर्थंकर और हीनयान के बुद्ध के आदर्श ऐसे आदर्श हैं, जो निर्वाण के उपरान्त अपने भक्तों की पीड़ा के निवारण में सक्रिय रूप से साझीदार नहीं बन सकते हैं। अतः भक्त हृदय और मानव को सन्तोष देने के लिए जहाँ जैनों ने शासन देव और देवियों (यक्ष-यक्षियों) की अवधारणा प्रस्तुत की, तो महायान सम्प्रदाय ने तारा आदि देवी-देवताओं को अपनी साधना में स्थान प्रदान किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान सम्प्रदाय वैदिक परम्परा में विकसित गीता की अनेक अवधारणाओं से वैचारिक साम्य रखता है। प्रवृत्तिमार्गी धर्म के अनेक तत्व महायान परम्परा में इस प्रकार आत्मसात् हो गये कि आगे चलकर उसे भारत में हिन्दू धर्म के सामने अपनी अलग पहचान बनाये रखना कठिन हो गया और उसे हिन्दू धर्म ने आत्मसात् कर लिया है। जबकि उसी श्रमण धारा का जैनधर्म निवृत्त्यात्मक पक्ष पर बराबर बल देता रहा है और इस प्रकार उसने अपना अस्तित्व बनाये रखा।

संदर्भ -

1. बोधिचर्यावतार, 8/99
2. वही, 8/116
3. वही, 8/109
4. अंगुत्तरनिकाय, 1/5
5. धेरगाथा, 941-942
6. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 609
7. गीता, 3/13
8. वही, 3/12
9. वही, 5/25, 12/4
10. वही, 3/18
11. वही, 3/20
12. वही, 4/8
13. शिक्षासमुच्चय, अनुदति धर्मदूत, मई 1941



बौद्ध धर्म में सामाजिक चेतना

बौद्धधर्म भारत की श्रमण परम्परा का धर्म है। सामान्यतया श्रमण परम्परा को निवृत्तिमार्गी माना जाता है और इस आधार पर यह कल्पना की जाती है कि निवर्तक धारा का समर्थक और संन्यासमार्गी परम्परा को होने के कारण बौद्ध धर्म में सामाजिक चेतना का अभाव है। यद्यपि बौद्धधर्म संसार की दुःखमयता का चित्रण करता है और यह मानता है कि सांसारिक तृष्णाओं और वासनाओं के त्याग से ही जीवन के परमलक्ष्य निर्वाण की उपलब्धि सम्भव है। यह भी सत्य है कि श्रमणधारा के अन्य धर्मों की तरह प्रारम्भिक बौद्धधर्म में भी श्रामण्य या भिक्षु-जीवन पर अधिक बल दिया गया। उसमें गृहस्थ धर्म और गृहस्थ जीवनशैली को वरीयता प्रदान नहीं की गयी, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि बौद्धधर्म सामाजिक चेतना अर्थात् समाज कल्याण की भावना से पराङ्मुख रहा है, भ्रांतिपूर्ण ही होगा। फिर भी यहाँ हमें यह ध्यान में रखना होगा कि श्रमण परम्परा में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं, वे अवश्य ही प्रवर्तक धर्मों की अपेक्षा थोड़े भिन्न प्रकार के हैं।

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिंतन को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। जहाँ वैदिक युग में संगच्छध्वं, संवदध्वं के उद्घोष के द्वारा सामाजिक चेतना को विकसित करने का प्रयत्न किया गया, वहीं औपनिषदिक युग में इस सामाजिक चेतना के लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतीकरण किया गया। समाज के सदस्यों के बीच अभेद निष्ठा जागृत करके एकात्मकता की अनुभूति कराने का प्रयत्न किया गया। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता था:-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

अर्थात् जो सभी प्राणियों को अपने से और अपने को सभी प्राणियों में देखता है, वह इस एकात्मकता की अनुभूति के कारण किसी से भी घृणा नहीं करता है। औपनिषदिक युग में यह एकात्मकता की अनुभूति ही सामाजिक चेतना का आधार बनी। किन्तु सामान्यरूप से श्रमण परम्परा में जो सामाजिक चेतना के सन्दर्भ उपस्थित हैं वे वस्तुतः संबंधों की शुद्धि के लिए हैं। बौद्धधर्म में मुख्यतः सामाजिक जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया।

बौद्धधर्म की पंचशील की अवधारणा में वस्तुतः उन दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया गया है जो हमारे सामाजिक संबंधों को विकृत करती थी। पंचशीलों के माध्यम से उसमें जो हिंसा, असत्यभाषण, चौर्यकर्म, व्यभिचार और मादक द्रव्यों के सेवन से दूर रहने की बात कही गयी है उसका मुख्य आधार हमारी सामाजिक चेतना ही है। हिंसा का अर्थ है दूसरे प्राणियों को कष्ट देना, उनके हितों की उपेक्षा करना, इसी प्रकार असत्य भाषण का तात्पर्य दूसरों को गलत जानकारी देना या उसके साथ कपटपूर्ण व्यवहार करना। चोरी का अर्थ है, दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण या शोषण करना। इसी प्रकार व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन संबंध स्थापित करना और सदाचार के मूल्यों की अवहेलना कर सामाजिक संबंधों को विषाक्त एवं अस्थिर बनाना। इसी प्रकार मादक द्रव्यों का सेवन भी सामाजिक चेतना और दायित्वबोध की उपेक्षा का ही कारण कहा जा सकता है। यदि हम गहराई से विचार करें तो सामाजिक जीवन के अभाव में इन पंचशीलों का कोई अर्थ और संदर्भ ही नहीं रह जाता। पंचशील के रूप में जो मर्यादाएँ बौद्ध धर्म के द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं, उनका मुख्य संबंध हमारे सामाजिक संबंधों की शुद्धि से ही है। बौद्ध साहित्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जो व्यक्ति को उसके सामाजिक संबंधों और दायित्वों का बोध कराते हैं, जिनकी चर्चा हम इसी आलेख के अंत में कर रहे हैं।

संघ की सर्वोपरिता

श्रमण परम्परा में और विशेष रूप से बौद्ध धर्म में धर्मसंघ की स्थापना का जो प्रयत्न हुआ वह वस्तुतः इस बात का सूचक है कि बौद्धधर्म में उसके प्रारम्भिक काल से ही सामाजिक चेतना उपस्थित थी। सामूहिक-साधना या संघीय जीवनशैली बौद्धधर्म की विशिष्ट देन है। बुद्ध ने अपने जीवन के अंतिम क्षण तक संघीय-जीवन और संघ की महत्ता को स्वीकार किया। अपने परिनिर्वाण के अवसर पर भी उन्होंने अपने स्थान पर महत्ता को स्वीकार किया। अपने परिनिर्वाण के अवसर पर भी उन्होंने अपने स्थान पर किसी भिक्षु को स्थापित न करके यही कहा कि मेरे पश्चात् संघ ही भिक्षु-भिक्षुणी वर्ग का अनुशास्ता होगा। जो लोग बौद्धधर्म को श्रमण या संन्यासमार्गीय परम्परा का धर्म होने के कारण यह कहते हैं कि उसमें सामाजिक चेतना का अभाव है वे वस्तुतः बौद्धधर्म की इस सामाजिक प्रकृति से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। बौद्धधर्म में सदैव ही संघ की महत्ता और गरिका का गुण-गान किया गया और साधनामय जीवन में सहवर्गीय भिक्षु और प्राणियों की सेवा को साधना का उच्च आदर्श माना गया। समस्त आचार नियमों का मूल स्रोत बुद्ध के पश्चात् संघ ही रहा है। संघ की दूसरे शब्दों में समाज की सर्वोपरिता

को बौद्धधर्म ने सदैव ही स्वीकार किया है। त्रिशरणों में 'संघशरण' का विधान इस बात का प्रमाण है कि बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना को सदैव ही महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

राग का प्रहाण और सामाजिक चेतना

बौद्धधर्म राग के प्रहाण पर बल देता है और इसीलिए वह श्रामण्य (संन्यास) और निर्वाण की बात कहता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि राग का प्रहाण ही ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति की सामाजिक चेतना को अवरुद्ध करता है, किन्तु यह मान्यता भ्रान्त ही है। राग या ममत्व से उपर उठने का अर्थ सामाजिकता की चेतना से विलग होना नहीं है। यह सत्य है कि राग के प्रहाण के लिये व्यक्ति श्रामण्य को स्वीकार करता है और अपने पारिवारिक संबंधों को भी तोड़ लेता है किन्तु यह पारिवारिक जीवन से विरक्त होना सामाजिक जीवन से विमुख होना नहीं है, अपितु यह हमारी सामाजिक चेतना और सामाजिक संबंधों को व्यापक बनाने का ही एक प्रयत्न है। वास्तविकता तो यह है कि रागात्मकता की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक संबंध बन ही नहीं पाते। राग हमें व्यापक बनाने की अपेक्षा-सीमित ही करता है। वह अपने और पराये का घेरा खड़ा करता है। यदि हम ईमानदारीपूर्वक विश्लेषण करें तो हम पावेंगे कि सामाजिक जीवन और सामाजिक संबंधों की विषमता के मूल में कहीं न कहीं व्यक्ति की रागात्मकता ही कार्य करती है। मैं और मेरा ऐसे प्रत्यय है, जो हमें चाहे कुछ लोगों को साथ जोड़ते हों, लेकिन वे हमें बहुजन समाज से तो अलग ही करते हैं। ममत्व की उपस्थिति हमारी सामाजिक चेतना की संकीर्णता की ही सूचक है। राग भावना जोड़ने का काम कम और तोड़ने का काम अधिक करती है। ममत्व की उपस्थिति में ममत्व संभव नहीं है और समता के अभाव में सामाजिकता नहीं होती है। सामान्यतया राग-द्वेष का सहगामी होता है और जब संबंध राग और द्वेष के आधार पर बनते हैं तो वे विषमता और संघर्ष को जन्म देते हैं। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं :-

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि च ।

सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ।।

आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।

यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ।

अर्थात् संसार के सभी दुःख और भय तथा तदजन्य उपद्रव ममत्व के कारण ही होते हैं, जब तक ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता, तब तक उन दुःखों की समाप्ति संभव नहीं है। जैसे अग्नि का परित्याग किये बिना तदजन्य दाह से बचना सम्भव नहीं है, वैसे ही ममत्व का परित्याग किये बिना दुःख से बचना

सम्भव नहीं है। ममत्वभाव, पर में आत्मबुद्धि या राग भाव के कारण ही “मैं” और “मेरे” पन का भाव उत्पन्न होता है। इसी आधार पर व्यक्ति मेरा परिवार, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ऐसे क्षुद्र घेरे बनाता है। परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज यदि मानव जाति के सुमधुर सामाजिक संबंधों में कोई भी तत्त्व सबसे अधिक बाधक है तो वह ममत्व या रागात्मकता का भाव ही है। ममत्व या रागात्मकता व्यक्ति को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देती है। अतः बौद्धदर्शन राग के प्रहाण पर बल देकर सामाजिक चेतना को एक यथार्थ दृष्टि प्रदान करता है। क्योंकि राग सदैव ही कुछ पर होता है और जो कुछ पर होता है वह सब पर नहीं हो सकता है। राग के कारण हमारे स्व की सीमा संकुचित होती है। यह अपने और पराये के बीच दीवार खड़ी करता है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसके हित की कामना करता है, और जिसे पराया मानता है उसके हितों का हनन करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि उन्हीं के प्रति किये जाते हैं जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। अतः यह सत्य है कि रागात्मक संबंधों के आधार पर सामाजिकता की सच्ची चेतना जागृत नहीं होती है।

यद्यपि रागात्मकता या ममत्व के घेरे को पूरी तरह तोड़ पाना सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं हैं, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किये बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। परिवार की सेवा के लिये हमें अपने वैयक्तिक क्षुद्र स्वार्थों को, समाज की सेवा के लिये पारिवारिक स्वार्थों को और राष्ट्र की सेवा के लिये जाति, धर्म और वर्ग के क्षुद्र स्वार्थों को छोड़ना होगा। इन क्षुद्र स्वार्थों का एक सीमा तक विसर्जन किये बिना सामाजिक चेतना का विकास सम्भव नहीं है। ममत्व एवं स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए एक व्यापक सामाजिक चेतना का विकास सम्भव नहीं होता है।

पुनः समाज त्याग और समर्पण के मूल्यों के आधार पर खड़ा होता है। यदि मुझे पत्नी, बच्चों एवं परिवार की सेवा करना है तो कहीं न कहीं अपने वैयक्तिक स्वार्थों को त्यागना ही होगा। इसी प्रकार राष्ट्र की सेवा के लिए पारिवारिक और जातीय स्वार्थों को छोड़ना होगा। यही नहीं, यदि हम समग्र मानव जाति या प्राणिमात्र का कल्याण चाहते हैं तो राष्ट्रीयता के क्षुद्र घेरे से भी ऊपर उठना होगा। इस विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध परम्परा में जो राग और तृष्णा के प्रहाण की बात की गयी है वह सामाजिक चेतना के विकास में बाधक

नहीं अपितु साधक है। वास्तविकता तो यह है कि हमारे सामाजिक संबंधों का आधार राग नहीं, अपितु विवेक का तत्त्व होना चाहिए। कर्तव्य बोध की भावना ही एक ऐसा तत्त्व है जो हमारी सामाजिक चेतना का आधार बन सकता है। वस्तुतः राग की भाषा मेरेपन की भाषा है, अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा कर्तव्यबोध की भाषा है। जहाँ केवल अधिकारों की बात होती है वहाँ केवल विकृत सामाजिकता पनपती है। राग के आधार पर जो भी सामाजिक चेतना निर्मित होगी वह अनिवार्य रूप से वर्ग भेद और वर्ण भेद को जन्म देगी। बौद्धधर्म में जिस सामाजिक चेतना के निर्माण की बात कही गयी है वह सामाजिक चेतना प्रज्ञा और सार्वभौम करुणा के आधार पर फलित होती है। उसमें मेरे और तेरे या अपने या पराये की चेतना ही समाप्त हो जाती है। परम प्रज्ञा से जो करुणा निःसृत होती है, वह सीमित नहीं होती है, वह अनन्त होती है, वह किसी एक पर नहीं, अपितु सभी पर होती है।

संन्यास और समाज-सेवा

सामान्यतया संन्यास की अवधारणा को भी सामाजिकता का विरोधी माना जाता है। बौद्धधर्म निश्चय ही एक संन्यासमार्गी परम्परा का धर्म है। यह भी सही है कि संन्यासी घर, परिवार और समाज से अपना संबंध तोड़ लेता है तथा धन, सम्पत्ति का भी परित्याग कर देता है। मात्र यहीं नहीं, एक सच्चा संन्यासी तो लोकेषणा का भी त्याग कर देता है, किन्तु धन, सम्पदा, परिवार और लोकेषणा का त्याग, समाज का परित्याग नहीं है, वस्तुतः यह त्याग स्वार्थवृत्ति का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है। संन्यासी का यह संकल्प उसे समाज विमुख नहीं बनाता है अपितु समाज कल्याण की उच्चतर भूमिका अधिष्ठित करता है। क्योंकि सच्चा समाज कल्याण निःस्वार्थता और विराग की भूमि पर अधिष्ठित होकर ही किया जा सकता है। अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए एकत्रित व्यक्तियों का समूह समाज नहीं होता है और ऐसे स्वार्थी और वासना-लोलुप व्यक्तियों तथाकथित सेवा का कार्य समाज-सेवा की कोटि में नहीं आता है। समाज उन लोगों का समूह होता है जो अपने वैयक्तिक और पारिवारिक हितों का परित्याग करते हैं। निःस्वार्थभाव से लोकमंगल के लिए उठ खड़े होते हैं। चोरों और लूटेरों का भी समूह होता है किन्तु वह समाज नहीं कहलाता। समाज की भावना ही वहीं पनपती है, जहाँ त्याग और स्वहित के विसर्जन का संकल्प होता है। भगवान बुद्ध ने जो भिक्षु संघ की व्यवस्था दी, वह सामाजिक चेतना की विरोधी नहीं है। बौद्ध भिक्षु लोकमंगल और सामाजिक दायित्वों से विमुख होकर भिक्षु नहीं बनता, अपितु वह लोककल्याण के लिए ही भिक्षु जीवन अंगीकार करता है। बुद्ध का यह आदेश-“चरत्थमिक्खवे

चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय अत्याय हिताय सुखाय देवमुनस्सानं” इस बात का प्रमाण है कि उनका भिक्षु संघ लोकमंगल के लिए ही है। सन्यास की भूमिका में निश्चित ही स्वार्थ और ममत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर भी संन्यास लोक कल्याण और सामाजिक दायित्वों से पलायन नहीं है, अपितु बहुजन समाज के प्रति समर्पण है। सच्चा श्रमण उस भूमिका पर खड़ा होता है जहां वह अपने को समष्टि में और समष्टि को अपने में देखता है। वस्तुतः निर्ममत्व और निःस्वार्थभाव से तथा अपने और पराये के संकीर्ण घेरे से ऊपर उठकर लोककल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहना, श्रमण जीवन की सच्ची भूमिका है। सच्चा श्रमण वह व्यक्ति है, जो लोकमंगल के लिए अपने को और अपने शरीर को भी समर्पित कर देता है।

सन्यास का तात्पर्य है व्यक्ति अपने और पराये के घेरे से ऊपर उठे और प्राणीमात्र के प्रति उसका हृदय करुणाशील बने। आचार्य शान्तिदेव बोधिचर्यावतार में लिखते हैं -

कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टा करादयः ।

जगतोऽवयवत्वेन तथा कस्मान्नदेहिनः ॥ ४/११४

जिस प्रकार हाथ आदि स्व शरीर के अवयव होने से प्रिय हो जाते हैं तो फिर जगत् के अवयव होने से सभी प्राणी प्रिय क्यों नहीं होंगे?

वस्तुतः सच्चा श्रमण और सच्चा सन्यासी वह व्यक्ति होता है-जिसकी चेतना अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाती है। श्रामण्य की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की, अपितु यह एक ऐसी भूमिका है जहां मात्र कर्तव्य भाव से लोक कल्याण के भाव से जीवन के व्यवहार फलित होते हैं। समाज में नैतिक चेतना को जागृत करना तथा समाज में आनेवाली दुष्प्रवृत्तियों से व्यक्तियों एवं समाज को बचाकर लोक मंगल के लिए प्रेरित करना ही सन्यासी का सर्वोपरि कर्तव्य माना जाता है।

निर्वाण का प्रत्यय और समाज

यद्यपि बौद्ध दर्शन में निर्वाण को साधना का सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है, किन्तु निर्वाण का यह प्रत्यय भी सामाजिक चेतना से विमुख नहीं कहा जा सकता है। निर्वाण का अर्थ है तृष्णा और आसक्ति का प्रहाण। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में यह मानसिक तनावों से मुक्ति का प्रयास ही है। वस्तुतः निर्वाण प्राप्त चित्त एक ऐसा शान्त चित्त होता है, जो तनावों एवं विक्षोभों से मुक्त रहता है। यदि हम निर्वाण के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता के सन्दर्भ में विचार करें तो हमें इन्हीं

मानसिक विक्षोभों के निराकरण के सन्दर्भ में ही उस पर विचार करना होगा। सम्भवतः इस संबंध में कोई भी दो मत नहीं होगा कि राग, द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि की मनोवृत्तियाँ हमारे सामाजिक जीवन के लिए अधिक घातक हैं। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का अर्थ है तो मुक्ति का संबंध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ जाता है। निर्वाण मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है अपितु वह हमारे जीवन से संबंधित है। भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष को पुरुषार्थ माना है। उसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन से प्राप्तव्य है। जो लोग निर्वाण को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे निर्वाण के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं।

इस जीवनमुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता को हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते, क्योंकि जीवनमुक्त एक ऐसा व्यक्ति है जो सदैव लोक-कल्याणकारी होता है। बौद्ध दर्शन में बुद्ध, अर्हत् एवं बोधिसत्व की जो अवधारणाएँ प्रस्तुत की गयी है और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है, उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि निर्वाण के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोक मंगल और मानव-कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है। जन-जन को दुःखों से मुक्त करना ही वास्तविक मुक्ति है। बौद्ध दार्शनिकों में वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्व दिया है। बौद्ध-दर्शन में बोधिसत्व का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से यह बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्व तो लोकमंगल के लिए अपने बंधन और दुःख की कोई परवाह नहीं करता है, वह कहता है:-

बहुनामेकदुःखेन यदि दुःख विगच्छति ।

उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सदयेन् परात्मनो ।।

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः ।

तैरेव ननु पर्याप्तां, मोक्षेणारसिकेन किम् ।।

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दुःखों को दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है, वह क्या कम है, फिर नीरस निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्वाण की अवधारणा भी सामाजिकता की विरोधी नहीं है। वस्तुतः बौद्ध दर्शन में निर्वाण का अर्थ है आत्मभाव का पूर्णतया

विगलन। वस्तुतः मैं, अहं और मेरेपन के भाव से मुक्त हो जाना ही निर्वाण प्राप्त करना है। इस दृष्टि से निर्वाण का अर्थ है, अपने आपको मिटाकर समष्टि या समाज में लीन कर लेना। बौद्ध दर्शन में वही व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है जो अपने व्यक्तित्व को समष्टि में लीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव 'बोधिचर्यावतार' में लिखते हैं:-

सर्वत्यागश्च निर्वाणं, निर्वाणार्थं च मे मनः।

त्यक्त्वं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम्।।

अर्थात् यदि सर्व का त्याग ही निर्वाण है और मेरा मन निर्वाण को चाहता है, तो सब कुछ जो त्याग करना है, उसे अन्य प्राणियों को क्यों न दे दिया जावे। इस प्रकार शान्तिदेव की दृष्टि में व्यक्ति का पूर्णतः समष्टि में लीन हो जाना अर्थात् अपने को प्राणी मात्र की सेवा में समर्पित कर देना ही साधना का एकमात्र आदर्श है। अतः निर्वाण का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, यह धारणा भ्रान्त है।

अंत में हम यह सकते हैं कि बौद्ध दर्शन में, चाहे श्रामण्य या सन्यास का प्रत्यय हो, चाहे निर्वाण का, वह किसी भी अर्थ में सामाजिकता का विरोध नहीं है। बौद्ध आचार्यों की दृष्टि और विशेषकर महायान आचार्यों की दृष्टि सदैव ही सामाजिक चेतना से परिपूर्ण रही है और उन्होंने सदैव ही लोक मंगलकारी दृष्टि को जीवन का आदर्श माना है। आचार्य शान्तिदेव बोधिचर्यावतार (8/125-129) में बौद्ध धर्म और दर्शन में सामाजिक चेतना कितनी उदात्त है इसका स्पष्ट चित्रण करते हैं। हम यहां उनके वचनों को यथावत् रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं -

यदि दास्यामि किं भोक्ष्य हत्यात्मार्यं पिशाचिता।

यदि भोक्ष्ये किं ददामीति परार्थं देवराजता।।

'यदि दूंगा तो मैं क्या खाऊंगा' यह विचार पिशाचवृत्ति है। अपने खाने की अपेक्षा पराये के लिए देने की भावना रखना ही देवराजता है।

आत्मार्थं पीडयित्वान्यं नरकादिषु पच्यते।

आत्मातं पीडयित्वा तु परार्थं सर्वसंपदः।।

अपने लिए दूसरे को पीड़ा देकर (मनुष्य को) नरक आदि में पकना पड़ता है। पर दूसरे के लिए स्वयं क्लेश उठाने से (मनुष्य को) सब सम्पत्तियां मिलती है।

दुर्गतिर्नीचता मोर्ख्यं ययैवात्मान्मनीच्छया।

तामेवान्यत्र संक्राम्य सुगतिः सत्कृतिर्मतिः।।

अपने प्रकर्ष की जिस इच्छा से दुर्गति, परवशता और मूर्खता मिलती है, उसी (इच्छा) का दूसरों के हित में संक्रमण करने से सुगति, सत्कार और प्रज्ञा मिलती है।

आत्मार्थं परमाज्ञाप्य दासत्वायधनुभूयते।

परार्थं त्वेनमाज्ञाप्य स्वामित्वायधनुभूयते।।

अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को आज्ञा देकर, उस कर्म के परिणाम स्वरूप दासता आदि का अनुभव करना पड़ता है। किन्तु दूसरे के हित के लिए अपने को आज्ञा देकर उस कर्म के फलस्वरूप प्रभुता आदि का अनुभव करने को मिलता है।

ये केचिद् दुःखिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया ।

ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्य सुखेच्छया ।।

संसार में जो कोई दुःखी हैं, वे सब अपनी सुखेच्छा के कारण। संसार में जो कोई सुखी हैं, वे परकीय सुखेच्छा के कारण हैं।

इस समग्र चिन्तन में यह फलित होता है कि बौद्ध धर्म में लोक मंगल की उदात्त भावना भगवान् बुद्ध से लेकर परवर्ती आचार्यों में भी यथावत कायम रही है। भगवान् बुद्ध ने जो 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का उद्घोष किया था यह बौद्ध धर्म दर्शन का मुख्य अधिष्ठान है।

ऐसी लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें आचार्य शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय नामक ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दी में अनुदित उनकी निम्न पक्तियां मननीय हैं -

इस दुःखमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित, पीड़ित विपत्ति विलीन हैं,
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन हैं।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन हैं,
वे मुक्त हो निजबन्ध से, स्वच्छन्द हो सब द्वन्द्व से,
छूटे दलन के फन्द से,
हो ऐसा जग में, दुःख से विलखे न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका हो परम कल्याण,
सबका हो परम कल्याण ।।



धर्मनिरपेक्षता और बौद्धधर्म

वैज्ञानिक प्रगति के परिणाम स्वरूप आज हमारा विश्व सिमट गया है। विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न धर्मों के लोग आज एक दूसरे के निकट सम्पर्क में हैं। साथ ही वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रगति के कारण और विशिष्टिकरण से हम परस्पराश्रित हो गये हैं। आज किसी भी धर्म और संस्कृति के लोग दूसरे धर्मों और संस्कृतियों से निरपेक्ष होकर जीवन नहीं जी सकते हैं। हमारा दुर्भाग्य यह है कि इस परिवेशजन्य निकटता और पारस्परिक निर्भरता के बावजूद आज मनुष्य मनुष्य के बीच हृदय की दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। वैयक्तिक या राष्ट्रीय स्वार्थलिप्सा एवं महत्वाकांक्षा के कारण हम एक-दूसरे से कटते चले जा रहे हैं। धर्मों और धार्मिक सम्प्रदायों के संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं और मनुष्य आज भी धर्मों के नाम पर दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्तप्लावन का शिकार हो रहा है। एक धर्म और एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे धर्म और सम्प्रदाय को मटियामेट करने पर तुले-हुए हैं। इन सब परिस्थितियों में आज राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर धर्मनिरपेक्षता की चर्चा हमारे सामने आई है, ताकि धर्मों के नाम पर होने वाली इन सब दुर्घटनाओं से मानवता को बचाया जा सके।

इन सन्दर्भ में सर्वप्रथम हमें यह विचार करना होगा कि धर्मनिरपेक्षता से हमारा क्या, तात्पर्य है? वस्तुतः धर्मनिरपेक्षता को अंग्रेजी शब्द 'सेक्युलरिज्म' का हिन्दी पर्यायवाची मान लिया गया है। हम अक्सर 'सेक्युलर स्टेट' की बात करते हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य ऐसे राज्य/राष्ट्र से होता है जो किसी धर्म विशेष को राष्ट्रीय धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करके अपने राष्ट्र में प्रचलित सभी धर्मों को अपनी-अपनी साधना पद्धति को अपनाने की स्वतंत्रता, अपने विकास के समान अवसर और सभी के प्रति समान आदर भाव प्रदान करता है। अतः राष्ट्रीय नीति के सन्दर्भ में 'सेक्युलरिज्म' का अर्थ धर्मविहीनता नहीं अपितु किसी धर्म विशेष को प्रमुखता न देकर, सभी धर्मों के प्रति समव्यवहार है। जो लोग धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म अथवा नीति विहीनता करते हैं, वे भी एक भ्रान्त धारणा को प्रस्तुत करते हैं। कोई भी व्यक्ति अथवा राष्ट्र धर्मविहीन नहीं हो सकता है, क्योंकि धर्म एक जीवनशैली है। सेक्युलरिज्म या धर्मनिरपेक्षता के लिए महात्मा गांधी ने हमें

‘सर्वधर्म समभाव’ शब्द दिया था, जो अधिक महत्वपूर्ण और सार्थक है। सभी धर्मों की सापेक्षिक मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए उनके विकास के समान अवसर प्रदान करना ही धर्मनिरपेक्षता है। इसका तात्पर्य है कि धार्मिक दुर्भिनिवेश एवं मताग्रह से मुक्त होना है - यही दृष्टि की परिवारसना से मुक्त होना है। वह किसी दृष्टि/कर्मकाण्ड/उपासना पद्धति से बंधना नहीं है। इसी प्रकार धर्म शब्द भी अनेक अर्थ में प्रयुक्त होता है। वह एक ओर वस्तुस्वरूप का सूचक है तो दूसरी ओर कर्तव्य और किसी साधना या उपासना की पद्धति विशेष का भी सूचक है। अतः जब हम धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के सन्दर्भ में धर्म शब्द का प्रयोग करें, तो हमें उसके अर्थ के संबंध में स्पष्टता रखनी होगी। प्रस्तुत सन्दर्भ में धर्म का अर्थ न स्वभाव है, न कर्तव्य और न सदाचरण है। धर्म निरपेक्षता के संदर्भ में धर्म शब्द आध्यात्मिक साधना और उपासना की पद्धति विशेष का परिचायक है, जो किसी सीमा तक नीति और आचार के विशेष नियमों से भी जुड़ा है। अतः धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य उपासना या साधना की विभिन्न पद्धतियों की सापेक्षिक सत्यता और मूल्यवत्ता को स्वीकार करना है। संक्षेप में किसी एक धर्म/सम्प्रदाय/कर्मकाण्ड और उपासना की पद्धति के प्रति प्रतिबद्ध न होकर साधना और उपासना की सभी पद्धतियों को विकसित होने एवं जीवित रहने का समान अधिकार प्रदान करना ही धर्मनिरपेक्षता है।

जब हम बौद्धधर्म के सन्दर्भ में इस धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा पर विचार करें तो हमें इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए कि बौद्धधर्म भी एक धर्मविशेष ही है, अतः उसमें धर्मनिरपेक्षता का वह अर्थ नहीं है जिसे सामान्यतया हम स्वीकार करते हैं। उसमें धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य दूसरे धर्मों के प्रति समादर भाव से अधिक नहीं है। यह भी सत्य है कि बौद्धधर्म में अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं की उसी प्रकार समीक्षा की गई है जिस प्रकार अन्य धर्मों एवं दर्शनों में बौद्धधर्म की गई थी। फिर भी बौद्धधर्म में सर्वधर्म समभाव एवं धार्मिक सहिष्णुता के पर्याप्त आधार हैं।

भारतीय संस्कृति और भारतीय चिन्तन प्रारम्भ से ही उदारवादी और समन्वयवादी रहा है। भारतीय चिन्तन की इसी उदारता एवं समन्वयवादिता के परिणामस्वरूप हिन्दूधर्म विभिन्न साधना और उपासना की पद्धतियों का एक ऐसा संग्रहालय बन गया कि आज कोई भी विद्वान हिन्दू धर्म की सुनिश्चित परिभाषा देने में असफल हो जाता है। उपासना एवं कर्मकाण्ड की आदिम प्रवृत्तियों से लेकर अद्वैत वेदान्त का श्रेष्ठतम दार्शनिक सिद्धान्त उसमें समाहित है। प्रकृति पूजा के विविध रूपों से लेकर निर्गुण-साधना का विकसित रूप उसमें परिलक्षित होता है। उसकी धार्मिक समन्वयशीलता हमारे सामने एक अद्वितीय आदर्श उपस्थित करती है।

भारतीय चिन्तन धारा का ही अंग होने के कारण बौद्धधर्म भी अपने प्रारम्भिककाल से लेकर आज तक धार्मिक समन्वयशीलता और सर्वधर्म समभाव का आदर्श प्रस्तुत करता रहा है। क्योंकि उसने प्रतिद्वन्द्वी धर्मों को शक्ति के बल पर समाप्त करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। एक ओर उसकी इस समन्वयवादिता का परिणाम यह हुआ कि वह व्यापक हिन्दू धर्म में आत्मसात् होकर भारत में अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रख सका, किन्तु दूसरी ओर उसने अपनी इस समन्वयवादिता के परिणामस्वरूप विश्व के धर्मों में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त कर लिया और भारत के बाहर भूटान, तिब्बत, चीन, वियतनाम, जापान, कम्बोडिया, थाईलैण्ड, बर्मा, लंका आदि देशों में उनकी संस्कृतियों से समन्वय साधते हुए अपने अस्तित्व का विस्तार किया है। यहां हमें यह भी स्मरण होगा कि बौद्धधर्म ने अपना विस्तार सत्ता और शक्ति के बल पर नहीं किया है। बौद्धधर्म की उदार और समन्वयशील दृष्टि का ही यह परिणाम था कि वह जिस देश में गया वहां के आचार-विचार और नीति व्यवहार को, वहां के देवी-देवताओं को इस प्रकार से समन्वित कर लिया कि उन देशों के लिए वह एक बाहरी धर्म न रहकर उनका अपना ही अंग बन गया। इस प्रकार वह विदेश की भूमि में भी विदेशी नहीं रहा। यह उसकी समन्वयवादिता ही थी, जिसके कारण वह विदेशी भूमि में अपने को खड़ा रख सका।

बौद्धधर्म में धर्मनिरपेक्षता का आधार-दृष्टिराग का प्रहाण

धर्मनिरपेक्षता या सर्वधर्मसमभाव की अवधारणा तभी बलवती होती है जब व्यक्ति अपने को आग्रह और मतान्धता के घेरे से ऊपर उठा सके। आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठने के लिए बौद्धधर्म में दृष्टिराग (दिट्ठी परिवासना) का स्पष्टरूप से निषेध किया गया है। बौद्धधर्म और साधना पद्धति की अनिवार्य शर्त यह है कि व्यक्ति अपने को दृष्टिराग से ऊपर उठाये, क्योंकि बौद्ध परम्परा में दृष्टिराग को ही मिथ्यादृष्टि और दृष्टिराग के प्रहाण को सम्यक्दृष्टि कहा गया है। यद्यपि कुछ विचारक यह कह सकते हैं कि बौद्धधर्म या दर्शन स्वयं में भी तो एक दृष्टि है। लेकिन यदि हम बौद्धधर्म का गम्भीरता से अध्ययन करें तो हमें यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध का सन्देश किसी दृष्टि को अपनाना नहीं था, क्योंकि दृष्टियाँ तृष्णा के ही, राग के ही रूप हैं और सत्य के एकांश का ग्रहण करती हैं। इन दृष्टियों से ऊपर उठना ही बुद्ध की धर्मदेशना का सार है। दृष्टिराग से ऊपर उठना ही दृष्टिनिरपेक्षता है और इसे ही हम धर्मनिरपेक्षता कह सकते हैं। यद्यपि यह एक निषेधात्मक प्रयास ही अधिक है, जैनों के अनेकांत के समान विधायक प्रयास नहीं है। फिर भी बौद्धधर्म में सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की चर्चा हुई है किन्तु उसकी सम्यक्दृष्टि दृष्टिनिरपेक्षता या दृष्टिशून्यता के अतिरिक्त कुछ नहीं

है। बौद्धधर्म की दृष्टि में सभी दृष्टियाँ एकांतिक होती हैं। वह यह मानता है कि आग्रह या एकांगीदृष्टि राग के ही रूप हैं और जो इस प्रकार के दृष्टिराग में रत रहता है वह सम्यक्दृष्टि को उपलब्ध नहीं होता है। अपितु जहां एक ओर स्वयं दृष्टिराग के कारण बन्धन में पड़ा रहता है वहां दूसरी ओर इसी दृष्टिराग के परिणामस्वरूप कलह और विवाद का कारण बनता है। इसके विपरीत जो मनुष्य दृष्टिपक्ष या आग्रह से ऊपर उठ जाता है, वह न तो विवाद में पड़ता है न बन्धन में। इस प्रकार वह विश्वशान्ति का साधक होता है। सुत्तनिपात में बुद्ध बहुत ही मार्मिक शब्दों में कहते हैं कि “जो अपनी दृष्टि का दृढ़ाग्रही हो, दूसरों को मूर्ख मानता है, वह दूसरे धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बतलाने वाला स्वयं ही कलह का आह्वान करता है। वह किसी धारणा या दृष्टि पर अवस्थित हो, उसके द्वारा संसार में विवाद या कलह उत्पन्न करता है। किन्तु जो सभी धारणाओं को त्याग देता है वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता है।”^१ क्योंकि दृष्टिराग बांधता है, जो बांधता है वह अन्यत्र से तोड़ता भी है और जो तोड़ेगा वह कलह और विनाश को आमन्त्रित करेगा। बुद्ध पुनः स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियाँ हैं, पण्डित उन सब में नहीं पड़ता है। दृष्टि को न ग्रहण करने वाला आसक्तिरहित पण्डित क्या ग्रहण करेगा? बुद्ध के शब्दों में जो लोग अपने धर्म को परिपूर्ण और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं वे दूसरों की अवज्ञा (निन्दा) से हीन होकर धर्म में श्रेष्ठ नहीं हो सकते हैं।^२ जो किसी दृष्टि विशेष को मानता है, जो किसी वादविशेष में आसक्त है वह मनुष्य शुद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता है। यही कारण है कि बुद्ध के शब्दों में विवेकी ब्राह्मण दृष्टि की तृष्णा में नहीं पड़ता है वह जो कुछ भी दृष्टि, श्रुति या विचार है, उन सब पर विजयी होता है और दृष्टियों से पूर्णरूप से मुक्त हो वह अनासक्त व्यक्ति संसार में लिप्त नहीं होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धधर्म दृष्टिराग का निषेध करके इस बात का संदेश देता है कि व्यक्ति को साधना और आध्यात्म के क्षेत्र में किसी प्रकार के दुराग्रह से ग्रसित नहीं होना चाहिए। बौद्धधर्म की यह स्पष्ट धारणा है कि बिना दृष्टिकोण को छोड़े कोई भी व्यक्ति न तो सम्यक्दृष्टि को प्राप्त हो सकता है और न निर्वाण के पथ का अनुगामी हो सकता है। इसीलिए बौद्धधर्म के सशक्त व्याख्याता विद्वान् दार्शनिक नागार्जुन स्पष्ट शब्दों में कहते हैं- तत्त्व का साक्षात्कार दृष्टियों के घेरे से ऊपर उठकर ही किया जा सकता है, क्योंकि समग्र दृष्टियाँ (दर्शन) उसे दूषित ही करती हैं। इस प्रकार बौद्ध दर्शन का दृष्टिराग के प्रहाण का सिद्धान्त धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण आधार है। बुद्ध का संदेश सदैव ही आग्रह और मतान्धता के घेरे से ऊपर उठने का रहा है। क्योंकि वे यह मानते हैं कि सत्य का दर्शन आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठकर ही हो सकता है।

बौद्ध दर्शन का विभज्यवाद का सिद्धान्त भी हमें यही संदेश देता है कि सत्य का समग्ररूप से दर्शन करने के इच्छुक व्यक्ति को सत्य को ऐकान्तिक दृष्टि से नहीं, अपितु अनेकान्तिक दृष्टि से देखना होगा। बौद्ध परम्परा में सत्य को अनेक पहलुओं के साथ देखना ही विद्वता है। धेरगाथा में स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो सत्य का एक ही पहलू देखता है वह मूर्ख है। पंडित तो सत्य को अनेक पहलुओं से देखता है।^१ विवाद का जन्म एकांगी दृष्टि से होता है क्योंकि एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते हैं। जब हम सत्य को अनेक पहलुओं से देखते हैं तो निश्चय ही हमारे सामने विभिन्न पहलुओं के आधार पर विभिन्न रूप होते हैं और ऐसी स्थिति में हम किसी एक विचारसारणी में आबद्ध न होकर सत्य का व्यापक रूप में दर्शन करते हैं। इसीलिए सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि मैं विवाद (आग्रह) के दो फल बताता हूँ-एक तो वह अपूर्ण और एकांगी होता है और दूसरे वह विग्रह और अशान्ति का कारण होता है।^२ निर्वाण जो कि हमारे जीवन का परम साध्य है। वह तो निर्विवादता की भूमि पर स्थित है। इसलिए बुद्ध कहते हैं कि निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझनेवाला साधक विवाद में न पड़े।^३ भगवान बुद्ध की दृष्टि में पक्षाग्रह या वाद-विवाद निर्वाणमार्ग के पथिक के कार्य नहीं है। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह तो मल्लविद्या है। राजभोजन से पुष्ट पहलवान की तरह अपने प्रतिवादी को ललकारने वाले वादी को उस जैसे प्रतिवादी के पास भेजना चाहिए, क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवादरूपी युद्ध का कोई कारण ही शेष नहीं है और जो अपने मत या दृष्टि को सत्य बताते हैं उनसे कहना चाहिए कि विवाद उत्पन्न होने पर तुम्हारे साथ बहस करने को यहां कोई नहीं है।^४ इस प्रकार बौद्धदर्शन इस बात को भी अनुचित मानता है कि हम केवल अपने मत की प्रशंसा और दूसरे के मत की निन्दा करते रहें। बुद्ध स्वयं कहते हैं कि शुद्धि यही है दूसरे वर्णों, में नहीं है ऐसा अपनी दृष्टि में अतिदृढ़ाग्रही व्यक्ति तैथिक (मिथ्यादृष्टि) है। इस प्रकार दृष्टिराग ही मिथ्यादृष्टि है और दृष्टिराग का प्रहाण ही सम्यग्दृष्टि है।

धार्मिक संघर्ष की नियन्त्रकतत्व प्रज्ञा

समग्र धार्मिक मतान्धता और संघर्ष इसलिए होते हैं कि व्यक्ति धार्मिक सन्दर्भों में विचार और तर्क की अपेक्षा श्रद्धा को अधिक महत्व देते हैं। तर्क और चिन्तन से रहित श्रद्धा अंधश्रद्धा होती है और ऐसी अंधश्रद्धा से युक्त व्यक्तियों का उपयोग तथाकथित धार्मिक नेता अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये कर लेते हैं। अतः धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा का स्थान स्वीकृत करते हुए, भी उसे विवेक या चिन्तन से रहित कर देना नहीं है। बौद्धधर्म ने सदैव ही श्रद्धा की अपेक्षा तर्क और प्रज्ञा

को अधिक महत्व दिया है। आलारकलामसुत्त में बुद्ध स्पष्टरूप में कहते हैं कि हे कलाम! तुम मेरी बात को केवल इसलिए सत्य स्वीकार मत करो कि इनको कहने वाला व्यक्ति तुम्हारी आस्था या श्रद्धा का केन्द्र है।⁷

अध्यात्म और साधना के क्षेत्र में प्रत्येक बात को तर्क की तराजू पर तौल कर और अनुभव की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करना चाहिए। बुद्ध अन्य विचारकों की वैचारिक स्वतंत्रता का कभी हनन करना नहीं चाहते हैं। इसके विपरीत वे हमेशा कहते हैं कि जो कुछ हमने कहा है उसको अनुभव की कसौटी पर कसो और सत्य की तराजू पर तौलो और यदि वह सत्य लगता है तो उसे स्वीकार करो।

बुद्ध के शब्दों में हे कलाम! जब तुम आत्म अनुभव से जानलो ये बातें कुशल हैं निर्दोष हैं, इनके आधार पर चलने से सुख होता है तभी इन्हें स्वीकार करो अन्यथा नहीं।⁸ बुद्ध आस्था प्रधान धर्म के स्थान पर तर्क प्रधान धर्म का व्याख्यान करते हैं और इस प्रकार के धार्मिक मतान्धता और वैचारिक दुराग्रहों से व्यक्ति को ऊपर उठाते हैं। एक अन्य बौद्धग्रन्थ तत्त्वसंग्रह में कहा गया है कि जिस प्रकार स्वर्ण को तपाकर काटकर भेदकर और कसकर परीक्षा की जाती है। हे भिक्षुओं उसी प्रकार धर्म की भी परीक्षा की जानी चाहिए।⁹ उसे केवल शास्ता के प्रति आदर के कारण स्वीकार नहीं करना चाहिए। वस्तुतः धार्मिक जीवन में जब तक विवेक या प्रज्ञा को विश्वास या आस्था का नियन्त्रक नहीं माना जाएगा तब तक हम धार्मिक संघर्षों और धर्म के नाम पर खेली जानी वाली होलियों से मानवजाति को नहीं बचा सकेंगे। धर्म के लिए श्रद्धा आवश्यक है किन्तु उसे विवेक का अनुगामी होना चाहिए। यह आवश्यक है कि शास्त्र की सारी बातों और व्याख्याओं को विवेक की तराजू पर तौला जाये और युगीन संदर्भ में उनका मूल्यांकन किया जाये। जब तक यह नहीं होता तब तक धार्मिक जीवन में आई संकीर्णता का मिटा पाना संभव नहीं। विवेक ही ऐसा तत्व है जो हमारी दृष्टि को उदार और व्यापक बना सकता है। श्रद्धा आवश्यक है, किन्तु उसके विवेक का अनुगामी होना चाहिए। आज आवश्यकता बौद्धिक धर्म की है और बुद्ध ने बौद्धिक धर्म का सन्देश देकर हमें धार्मिक मतान्धताओं और धार्मिक आग्रहों से ऊपर उठने का सन्देश दिया है।

बुद्ध का मध्यममार्ग धर्मनिरपेक्षता का आधार

बुद्ध ने अपने दर्शन को मध्यमार्ग की संज्ञा दी है। जिस प्रकार नदी की धारा कूलों में न उलझकर उनके मध्य से बह लेती है, उसी प्रकार बौद्धधर्म भी एकान्तिक दृष्टियों से बचकर अपनी यात्रा करता है। मध्यममार्ग का एक आशय यह भी है कि यह किसी भी दृष्टि को स्वीकार नहीं करता है। सांसारिक सुखभोग और देहदण्डन की प्रक्रिया दोनों ही उसके लिए एकान्तिक हैं एकान्तों के त्याग में

ही मध्यममार्ग की विशिष्टता है। मध्यममार्ग का अर्थ है-परस्पर विरोधी मतवादों में किसी एक ही पक्ष को स्वीकार न करना। बुद्ध का मध्यम मार्ग अनेकान्तिक दृष्टि का उदाहरण है। यद्यपि वे केवल निषेधमुख से इतना ही कहते हैं कि हमें ऐकान्तिक दृष्टियों में नहीं उलझना चाहिए। धार्मिक निरपेक्षता का भी किसी सीमा तक यही आदर्श है कि हमें किसी एक धर्म विशेष या मतवाद विशेष में न उलझकर एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। बुद्ध के शब्दों में एकांशदर्शी ही आपस में झगड़ते और उलझते हैं। मध्यममार्ग का तात्पर्य है-विवादों से ऊपर उठना और इस अर्थ में वह किसी सीमा तक धर्मनिरपेक्षता का हामी है। बौद्धधर्म यह मानता है कि जीवन का मुख्य लक्ष्य तृष्णा की समाप्ति है। आसक्ति और अहं से ऊपर उठना ही सर्वोच्च आदर्श है। दृष्टिराग वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं का ही एक रूप है और जब तक वह उपस्थित है तब तक मध्यममार्ग की साधना सम्भव नहीं है। अतः मध्यममार्ग का साधक इन दृष्टिरागों से ऊपर उठकर कार्य करता है। समाधिराजसूत्र में कहा गया है कि पण्डित वही है जो उभय अन्तों का विवर्जन कर मध्य में स्थित रहता है।¹⁰ वस्तुतः माध्यस्थ दृष्टि ही धर्मनिरपेक्षता है।

बुद्ध का जीवन और धार्मिक सहिष्णुता

यदि हम बुद्ध के जीवन को ही देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे स्वयं किसी धर्म या साधना पद्धति विशेष के आग्रही नहीं रहे हैं। उन्होंने अपनी साधना के प्रारम्भ में अनेक धर्मनायकों, विचारकों और साधकों से जीवन्त सम्पर्क स्थापित किया था और उनकी साधना पद्धतियों को अपनाया। उदकरामपुत्र आदि अनेक साधकों के सम्पर्क में वे आये और उनकी साधना पद्धतियों को सीखा। यह समस्त चर्चा पाली त्रिपिटक में आज भी उपलब्ध है। चाहे आत्मतोष न होने पर उन्होंने उनका बाद में त्याग किया हो फिर भी उनके मन में सभी साधकों के प्रति सदा आदरभाव रहा और ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी उनके मन में यह अभिलाषा रही कि अपने द्वारा उद्घाटित सत्य का बोध उन्हें करायें। यह दुर्भाग्य ही था कि पंचवर्गी भिक्षुओं को छोड़कर शेष सभी आचार्य उस काल तक कालकवलित हो चुके थे, फिर भी बुद्ध के द्वारा उनके प्रति प्रदर्शित आदरभाव उनकी उदार और व्यापक दृष्टि का परिचायक है। यद्यपि बौद्धधर्म में अन्य तीर्थकों के रूप में पूर्णकश्यप, निगंठनाटपुत्र, अजितकेशकंजल, मंखलिगोशाल आदि की समालोचना हमें उपलब्ध होती है किन्तु ऐसा लगता है कि यह सब परवर्ती साम्प्रदायिक अभिनिवेश का ही परिणाम है। बुद्ध जैसा महामनस्वी इन वैचारिक दुराग्रहों और अभिनिवेशों से युक्त रहा हो ऐसा सोचना सम्भव नहीं है।

पुनः बौद्धधर्म मूलतः एक कर्मकाण्डी धर्म न होकर एक नैतिक आचार पद्धति है। एक नैतिक आधार पद्धति के रूप में वह धार्मिक दुराग्रहों और अभिनिवेशों से मुक्त रह सकता है। उसके अनुसार तृष्णा की समाप्ति ही जीवन का परम श्रेय है और तृष्णा की परिसमाप्ति के समग्र प्रयत्न किसी एक धर्म परम्परा से सम्बद्ध नहीं किये जा सकते हैं। वे सभी उपाय जो तृष्णा के भेदन में उपयोगी हों बौद्धधर्म को स्वीकार हैं। शीलवान, समाधिवान और प्रज्ञावान होना बौद्ध विचारणा का मन्तव्य है किन्तु इसे हम केवल बौद्धों का धर्म नहीं कह सकते हैं। यह धर्म का सार्वजनीन और सार्वकालिक स्वरूप है और बौद्धधर्म इसे अपनाकर व्यापक और उदार दृष्टि का ही परिचायक बनता है। बौद्धधर्म में धर्म (साधना पद्धति) एक साधन है वह पकड़कर रखने के लिए नहीं है और उसे भी छोड़ना ही है, अतः वह साधना के किसी विशिष्ट मार्ग का आग्रही नहीं है।

उपसंहार

वस्तुतः वैयक्तिक भिन्नताओं के आधार पर साधनागत और आचारगत भिन्नताएं स्वाभाविक हैं। अतः मानवीय एकता और मानवीय संघर्षों की समाप्ति के लिए एक धर्म का नारा न केवल अशक्य है अपितु अस्वाभाविक भी है। जब तक व्यक्तियों में रुचिगत और स्वाभावगत भेद है तब तक साधनागत भेद भी अपरिहार्य रूप से बने रहेंगे। इसीलिए तो बुद्ध ने किसी एक यान का उपदेश न देकर विविध यानों (धर्म मार्गों) का उपदेश दिया था। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन साधनागत भेदों को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में समन्वित कर तथा उनकी उपादेयता को स्वीकार कर एक ऐसी जीवनदृष्टि का निर्माण करें जो सभी की सापेक्षिक मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए मानव कल्याण में सहायक बन सकें।

संदर्भ -

1. सुत्तनिपात 50/16-17
2. सुत्तनिपात 51/3, 10-11, 16-20
3. धेरगाथा 1/106
4. उदान 6/4
5. सुत्तनिपात 51/2
6. सुत्तनिपात 46/8-9
7. आलारकलामसुत्त
8. आलारकलामसुत्त
9. तत्त्वसंग्रह
10. समाधिराजसूत्र



7

सागरमल जीवनवृत्त

प्रो. सागरमल जैन का अद्यावधि जीवनवृत्त

जन्म और बाल्यकाल

प्रो. सागरमल जैन का जन्म भारत के हृदय मालव अंचल के शाजापुर नगर में विक्रम संवत् 1988 की माघ पूर्णिमा के दिन हुआ था। आपके पिता श्री राजमल जी शक्करवाले मध्यम आर्थिक स्थिति के गृहस्थ होने पर भी ओसवाल समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में माने जाते थे। आपके जन्म के समय आपके पिताजी सपरिवार अपने नाना-नानी के साथ ही निवास करते थे, क्योंकि आपके दादा-दादी का देहावसान आपके पिताजी के बचपन में ही हो गया था। बालक सागरमल को सर्वाधिक प्यार और दुलार मिला अपने पिता की मौसी पानबाई से। उन्होंने ही आपके बाल्यजीवन में धार्मिक-संस्कारों का वपन भी किया। वे स्वभावतः विरक्तमना थीं। उन्होंने पूज्य साध्वी श्री रत्नकुँवरजी म.सा. के सान्निध्य में संन्यास ग्रहण कर लिया था। वे प्रवर्तनी रत्नकुँवरजी म.सा. के साध्वी संघ में वयोवृद्ध साध्वी प्रमुखा के रूप में शाजापुर नगर में ही स्थिरवास रही थी। इस-प्रकार, आपका पालन-पोषण धार्मिक संस्कारमय परिवेश में हुआ। मालवा की माटी से सहजता और सरलता तथा परिवार से पौषभीरुता एवं धर्म-संस्कार लेकर आपके जीवन की विकास-यात्रा आगे बढ़ी।

शिक्षा

बालक सागरमल की प्रारम्भिक शिक्षा तोड़ेवाले भैया की पाठशाला में हुई। यह पाठशाला तब अपने कठोर अनुशासन के लिए प्रसिद्ध थी। यही कारण था कि आपके जीवन में अनुशासन और संयम के गुण विकसित हुए। इस पाठशाला से तीसरी कक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर आपको तत्कालीन ग्वालियर राज्य के ऐंग्लो वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल की चौथी कक्षा में प्रवेश मिला। यहाँ रामजी भैया शिस्तूतकर जैसे कठोर एवं अनुशासनप्रिय अध्यापकों के सान्निध्य में आपने कक्षा 4 से कक्षा 8 तक की शिक्षा ग्रहण की और सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। माध्यमिक परीक्षा में प्रथम श्रेणी के साथ-साथ शाजापुर जिले में प्रथम स्थान प्राप्त किया। ज्ञातव्य है कि उस समय माध्यमिक परीक्षा पास करने वालों के नाम ग्वालियर गजट

में निकलते थे। जिस समय इस मिडिल स्कूल में आपने प्रवेश लिया था, उस समय द्वितीय महायुद्ध अपनी समाप्ति की ओर था और दिल्ली एवं मुम्बई के मध्य आगरा-मुम्बई रोड़ पर स्थित शाजापुर नगर के उस स्कूल के पास का मैदान सैनिकों का पड़ाव-स्थल था, साथ ही उस समय ग्वालियर राज्य में प्रजामण्डल द्वारा स्वतन्त्रता-आन्दोलन की गतिविधियाँ भी तेज हो गई थीं। बाल्यावस्था की स्वाभाविक चपलतावश कभी आप आगरा-मुम्बई सड़क पर गुजरते हुए गोरे सैनिकों को 'वी फार विक्टोरी' कहकर प्रोत्साहित करते, तो कभी प्रजामण्डल की प्रभात-फेरियों के साथ 'भारतमाता की जय' का उद्घोष करते। बालक सागरमल ने इसी समय अपने मित्रों के साथ पार्श्वनाथ बाल मित्र-मण्डल की स्थापना की। सामाजिक एवं धार्मिक-गतिविधियों के साथ-साथ मण्डल का एक प्रमुख कार्य था - अपने सदस्यों की बीड़ी-सिगरेट आदि दुर्व्यसनों से मुक्त रखना। इसके लिए सदस्यों पर कड़ी चौकसी रखी जाती थी। परिणाम यह हुआ कि यह मित्र-मण्डली व्यसन-मुक्त और धार्मिक-संस्कारों से युक्त रही।

माध्यमिक परीक्षा (कक्षा 8) उत्तीर्ण करने के पश्चात् परिवार के लोग सब से बड़ा पुत्र होने के कारण आपको व्यवसाय से जोड़ना चाहते थे, परन्तु आपके मन में अध्ययन की तीव्र उत्कण्ठा थी। उस समय शाजापुर नगर ग्वालियर राज्य का जिला मुख्यालय था, फिर भी वहाँ कोई हाईस्कूल नहीं था। आपके अत्यधिक आग्रह पर आपके पिता ने आपकी ससुराल शुजालपुर के एकमात्र हाईस्कूल में अध्ययन के लिए आपको प्रवेश दिलाया, ज्ञातव्य है कि बालक सागरमल की सगाई इसके पूर्व ही चुकी थी। वहाँ प्रवेश के लगभग 15-20 दिन पश्चात् ही आप अस्वस्थ हो गये, फलतः मात्र डेढ़ माह के अल्प प्रवास के पश्चात् पारिवारिक ममता ने आपको वापस शाजापुर बुला लिया। इस प्रकार, आपका अध्ययन स्थगित हो गया और आप अल्पवय में ही सर्राफा के व्यवसाय से जुड़ गये।

विवाह एवं पारिवारिक तथा सामाजिक-गतिविधियाँ

आपकी सगाई तो बाल्यकाल में ही हो गयी थी और विवाह की योजना भी बहुत पहले ही बन गई थी, किन्तु आपकी सास के कैंसर की असाध्य बीमारी से ग्रस्त हो जाने और बाद में उनकी मृत्यु हो जाने के कारण विवाह थोड़े समय के लिए टला तो सही, किन्तु 17 वर्ष की वय में प्रवेश करते ही वैशाख शुक्ल त्रयोदशी वि. संवत् 2005 तदनुसार 21 मई 1948 को आपको श्रीमती कमलाबाई के साथ दाम्पत्य-सूत्र में बाँध दिया गया। अल्पवय में आपके विवाह का एक अन्य कारण यह भी था कि आपकी रुचि मातृतुल्या पूज्या साध्वीश्री एवं साधु-संतों के समीप

अधिक रहने की होने के कारण परिवार को भय था कि कहीं बालक के मन पर वैराग्य के संस्कार न जम जाएं? इस प्रकार, किशोरवय में ही आपको गृहस्थ-जीवन और व्यवसाय से जुड़ जाना पड़ा। जो दिन आपके खेलने और खाने के थे, उन्हीं दिनों में आपको पारिवारिक एवं व्यावसायिक-दायित्व का निर्वाह करना पड़ा। यद्यपि आपके मन में अध्ययन के प्रति अदम्य उत्साह था, किन्तु शाजापुर में हाईस्कूल का अभाव तथा पारिवारिक और व्यावसायिक-दायित्वों का बोझ इसमें बाधक था, फिर भी जहाँ चाह होती है, वहाँ कोई-न-कोई राह तो निकल ही आती है।

व्यवसाय के साथ-साथ अध्ययन

चार वर्ष के अन्तराल के पश्चात् सन् 1952 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से 'व्यापार विशारद' की परीक्षा उत्तीर्ण की और उसके दो वर्ष पश्चात् 1954 में अर्थशास्त्र विषय से साहित्यरत्न की परीक्षा उत्तीर्ण की। उस समय आपने अर्थशास्त्र को सुगम ढंग से अध्ययन करने और स्मृति में रखने का एक चार्ट बनाया था, जिसकी प्रशंसा उस समय के एम.ए. अर्थशास्त्र के छात्रों ने भी की थी। इसी बीच, आपका पत्र-व्यवहार इलाहाबाद के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री भगवानदास जी केला से हुआ। उन्होंने श्री नरहरि पारिख के मानव अर्थशास्त्र के आधार पर हिन्दी में मानव अर्थशास्त्र लिखने हेतु आपको प्रेरित किया था। तब आप हाईस्कूल भी उत्तीर्ण नहीं थे और आपकी वय मात्र बीस वर्ष की थी। इस समय आपके एक नये मित्र बने - सारंगपुर के श्री मदनमोहन राठी। इसी काल में आपने धार्मिक परीक्षा-बोर्ड, पाथर्डी से जैन सिद्धान्त विशारद की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1953 में शाजापुर नगर में एक प्राइवेट हाईस्कूल प्रारम्भ हुआ। यद्यपि अपने व्यावसायिक क्रिया-कलापों में व्यस्त होने के कारण आप उसके छात्र तो नहीं बन सके, किन्तु आपके मन में अध्ययन की प्रसुप्त भावना पुनः जाग्रत हो गई। सन् 1955 में आपने अपने मित्र श्री माणकचन्द्र जैन के साथ स्वाध्यायी छात्र के रूप में हाईस्कूल की परीक्षा दी। वय में माणकचन्द्र आपसे तीन वर्ष छोटे थे, फिर भी आप दोनों में गहरी दोस्ती थी। यद्यपि आप नियमित अध्ययन तो नहीं कर सके, फिर भी अपनी प्रतिभा के बल पर आपने उस परीक्षा में उच्च द्वितीय श्रेणी के अंक प्राप्त किये। अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने के परिणामस्वरूप आपके मन में अध्ययन की भावना पुनः तीव्र हो गयी। इसी अवधि में व्यवसाय के क्षेत्र में भी आपने अच्छी सफलता और कीर्ति अर्जित की। पिताजी की प्रामाणिकता और अपने सौम्य व्यवहार के कारण आप ग्राहकों का मन मोह लिया करते थे। परिणामस्वरूप, आपको व्यावसायिक-क्षेत्र में अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अल्प वय में ही आपको शाजापुर नगर के सराफा एसोसिएशन का मंत्री बना दिया गया। पारिवारिक और व्यावसायिक-दायित्वों का निर्वाह करते

हुए भी आपमें अध्ययन की रुचि सदैव जीवन्त रही, अतः आपने सन् 1957 में इण्टर कामर्स की परीक्षा दे ही दी और इस परीक्षा में भी उच्च द्वितीय श्रेणी के अंक प्राप्त किये। यह आपका सौभाग्य ही कहा जायेगा कि चाहे व्यवसाय का क्षेत्र हो या अध्ययन का, असफलता और निराशा का मुख अपने कभी नहीं देखा, किन्तु आगे अध्ययन का क्रम पुनः खण्डित हो गया, क्योंकि उस समय शाजापुर नगर में कोई महाविद्यालय नहीं था और बी.ए. की परीक्षा स्वाध्यायी छात्र के रूप में नहीं दी जा सकती थी। अतः एक बार पुनः आपकी व्यवसाय के क्षेत्र में ही केन्द्रित होना पड़ा, किन्तु भाग्यवानों के लिए कहीं-न-कहीं कोई द्वार उद्घाटित हो ही जाता है। उस समय म.प्र. शासन ने यह नियम प्रसारित किया कि 25,000 रु. की स्थायी राशि बैंक में जमा करके कोई भी संस्था महाविद्यालय का संचालन कर सकती है, अतः आपने तत्कालीन विधायक श्री प्रताप भाई से मिलकर एक महाविद्यालय खुलवाने का प्रयत्न किया और विभिन्न स्त्रोतों से धनराशि की व्यवस्था करके बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' महाविद्यालय की स्थापना की और स्वयं भी उसमें प्रवेश ले लिया। व्यावसायिक-दायित्व से जुड़े होने के कारण आप अधिक नियमित नहीं रह सके, फिर भी बी.ए. परीक्षा में बैठने का अवसर तो प्राप्त हो ही गया। इस महाविद्यालय के माध्यम से सन् 1961 में बी.ए. की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। इस समय आप पर व्यावसायिक, पारिवारिक और सामाजिक-दायित्व इतना अधिक था कि चाहकर भी अध्ययन के लिए आप अधिक समय नहीं दे पाते थे, अतः अंकों का प्रतिशत बहुत उत्साहजनक नहीं रहा, तो भी शाजापुर से जो छात्र इस परीक्षा में बैठे थे, उनमें आपके अंक सर्वाधिक थे। आपके तत्कालीन साथियों में भी श्री मनोहरलाल जैन एवं आपके ममेरे भाई रखबचन्द्र प्रमुख थे।

परिवार और समाज

गृही-जीवन में सन् 1951 में आपको प्रथम पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, किन्तु दुर्दैव से वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सका। अगस्त 1952 में आपके द्वितीय पुत्र नरेन्द्रकुमार का जन्म हुआ। सन् 1954 में पुत्री सौ. शोभा का और 1957 में पुत्र पीयूषकुमार का जन्म हुआ। बढ़ता परिवार और पिताजी की अस्वस्थता तथा छोटे भाई-बहनों का अध्ययन — इन सब कारणों से मात्र पच्चीस वर्ष की अल्पवय में ही आप एक के बाद एक जिम्मेदारियों के बोझ से दबते ही गये। उधर, सामाजिक और धार्मिक-क्षेत्र में भी आपकी प्रतिभा और व्यवहार के कारण आप पर सदैव एक के बाद दूसरी जिम्मेदारी डाली जाती रही। इसी अवधि में आपको माधव रजत जयंती वाचनालय, शाजपुर का सचिव, हिन्दी साहित्य समिति, शाजापुर का सचिव तथा कुमार साहित्य परिषद् और सद्-विचार निकेतन के अध्यक्ष पद के

दायित्व भी स्वीकार करने पड़े। आपके कार्यकाल में कुमार साहित्य परिषद् का म.प्र. क्षेत्र का वार्षिक अधिवेशन एवं नवीन जयंती समारोहों के भव्य आयोजन भी हुए। इस माध्यम से आप बालकवि बैरागी, पद्मश्री डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा आदि देश के अनेक साहित्यकारों से भी जुड़े। इसी अवधि में आप स्थानीय स्थानकवासी जैन संघ के मंत्री तथा म.प्र. स्थानकवासी जैन युवक संघ के अध्यक्ष बनाये गये। सादड़ी सम्मेलन के पश्चात् स्थानकवासी जैन युवक संघ के प्रान्तीय अध्यक्ष के रूप में आपने विभिन्न क्षेत्रों का व्यापक दौरा भी किया तथा जैन-समाज की एकता को स्थायित्व देने का प्रयत्न किया।

स्नातकोत्तर अध्ययन और व्यवसाय में नया जोड़

इन गतिविधियों में व्यस्त होने के बावजूद भी आपकी अध्ययन की अभिरुचि कुंठित नहीं हुई, किन्तु कठिनाई यह थी कि न तो शाजापुर में स्नातकोत्तर कक्षाएँ खुलनी सम्भव थी और न इन दायित्वों के बीच शाजापुर से बाहर किसी महाविद्यालय में प्रवेश लेकर अध्ययन करना ही, किन्तु शाजापुर महाविद्यालय के तत्कालीन प्राचार्य श्री रामचन्द्र 'चन्द्र' की प्रेरणा से एक मध्यम मार्ग निकाला गया और यह निश्चय हुआ कि यदि कुछ दिन नियमित रहा जाये, तो अग्रिम अध्ययन की कुछ सम्भावनाएँ बन सकती हैं। उन्हीं के निर्देश पर आपने जुलाई 1961 में क्रिश्चियन कॉलेज इन्दौर में एम.ए. दर्शन-शास्त्र के विद्यार्थी के रूप में प्रवेश लिया। इन्दौर में अध्ययन करने में आवास, भोजन आदि की अनेक कठिनाईयाँ रहीं। सर्वप्रथम आपने चाहा कि क्रिश्चियन कॉलेज के सामने नसियाजी में स्थित दिगम्बर जैन छात्रावास में प्रवेश लिया जाय, किन्तु वहाँ आपका श्वेताम्बर कुल में जन्म लेना ही बाधक बन गया, फलतः क्रिश्चियन कॉलेज के छात्रावास में प्रवेश लेना पड़ा। वहाँ नियमानुसार छात्रावास के भोजनालय में भोजन करना आवश्यक था, किन्तु उसमें शाकाहारी और मांसाहारी-दोनों प्रकार के भोजन बनते थे और चम्मच तथा बर्तनों का विवेक नहीं रखा जाता था। कुछ दिन आपने मात्र दही और रोटी खाकर निकाले, किन्तु अंत में विवश होकर छात्रावास छोड़ दिया। कुछ दिन इधर-उधर रहकर गुजारे, अंत में राजेन्द्र नगर में मकान लेकर रहने लगे। कुछ दिन पत्नी को भी साथ ले गये, किन्तु पारिवारिक स्थिति में यह सुख अधिक सम्भव नहीं था। फिर भी, आपने अपने अध्ययन-क्रम को निरन्तर जारी रखा। सप्ताह में दो-तीन दिन इन्दौर और शेष समय शाजापुर। इसी भाग-दौड़ में आपने सन् 1962 में एम.ए. पूर्वाह्न और सन् 1963 में एम.ए. उत्तराह्न की परीक्षाएँ न केवल प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की, अपितु तत्कालीन पश्चिमी मध्यप्रदेश के एकमात्र विश्वविद्यालय विक्रम विश्वविद्यालय की कला संकाय में द्वितीय स्थान भी प्राप्त किया। ज्ञातव्य है कि उस समय कला संकाय में सामाजिक विज्ञान संकाय भी समाहित था।

एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् आपके जीवन में एक निर्णायक मोड़ का अवसर आया। सन् 1962 में मोरारजी देसाई ने स्वर्ण-नियन्त्रण अधिनियम लागू किया, फलस्वरूप स्वर्ण-व्यवसाय प्रतिबन्धित व्यवसाय के क्षेत्र में आ गया और इस व्यवसाय को प्रामाणिकतापूर्वक कर पाना कठिन हो गया और चोरी-छिपे धन्धा करना आपकी प्रकृति के अनुकूल नहीं था, अतः आपने अपने व्यवसाय को एक नया मोड़ देने का निश्चय किया। आपका छोटा भाई कैलाश, जो उस समय एम.काम.(अंतिम वर्ष) में था, उसके लिए भी स्वतंत्र व्यवसाय का प्रश्न था, अतः आपने स्वर्ण के व्यवसाय के स्थान पर कपड़े का व्यवसाय प्रारम्भ करने का निश्चय किया। कठिनाई यह थी कि इन दोनों व्यवसायों को किस प्रकार संचालित किया जाय, क्योंकि अभी भाई कैलाश को अपना अध्ययन पूर्ण कर लौटने में कुछ समय था।

दर्शनशास्त्र के अध्यापक

एक ओर प्रबुद्ध वर्ग का आग्रह था कि दर्शन जैसे विषय में प्रथम श्रेणी एवं प्रथम स्थान में स्नातकोत्तर परीक्षा पास करके भी व्यावसायिक-कार्यों से जुड़े रहना - यह प्रतिभा का सम्यक् उपयोग नहीं है, तो दूसरी ओर पारिवारिक-परिस्थितियाँ और दायित्व व्यवसाय के क्षेत्र का परित्याग करने में बाधक थे। वस्तुतः सरस्वती और लक्ष्मी की उपासना में से किसी एक के चयन का प्रश्न आ खड़ा हुआ था। यहाँ आपके जीवन का निर्णायक मोड़ था। स्वर्ण-नियन्त्रण कानून लागू होना आदि कुछ बाह्य-परिस्थितियों ने भी जीवन के इस निर्णायक मोड़ पर आपको एक दूसरा ही निर्णय लेने को प्रेरित किया, फिर भी लगभग 50 वर्षों से सुस्थापित तथा अपने पूरे क्षेत्र में प्रतिष्ठित उस व्यावसायिक-प्रतिष्ठान को एकाएक बन्द कर देना न सम्भव ही था और न ही परिवार के हित में। यह भी संयोग था कि सन् 1964 के मध्य में म.प्र. शासन की ओर से दर्शनशास्त्र के व्याख्याताओं के कुछ पदों के लिए चयन की अधिसूचना प्रसारित हुई। अब यह निर्णय की घड़ी थी। एक ओर माता-पिता और परिजन व्यवसाय से जुड़े रहने का आग्रह करते थे, तो दूसरी ओर अन्तर में छिपी ज्ञानार्जन की ललक व्यवसाय से निवृत्ति लेकर विद्या की उपासना हेतु प्रेरित कर रही थी। आपके भाई कैलाश, जो उस समय उज्जैन विक्रम विश्वविद्यालय में एम.काम. के अन्तिम वर्ष में थे, उनसे आपने विचार-विमर्श किया और उसके द्वारा आश्वस्त किये जाने पर आपने दर्शनशास्त्र के व्याख्याता के रूप में शासकीय सेवा स्वीकार करने का निर्णय ले लिया। फिर भी, पिताजी का स्वास्थ्य और व्यवसाय का विस्तृत आकार ऐसा नहीं था कि आपकी अनुपस्थिति में केवल पिताजी उसे सम्भाल सकें, ये अन्तर्द्वन्द्व के कठिन क्षण थे। लक्ष्मी और सरस्वती की उपासना के इस द्वन्द्व में अन्ततोगत्वा सरस्वती की विजय हुई और दुकान पर दो मुनीमों की व्यवस्था करके आप शासकीय सेवा के लिये चल दिये।

आपकी प्रथम नियुक्ति महाकौशल महाविद्यालय जबलपुर में हुई। संयोग से वहाँ आपके पूर्व परिचित उस समय के आचार्य रजनीश (बाद के भगवान् ओशो) उसी विभाग में कार्यरत थे। आपने उनसे पत्र व्यवहार किया और दीपावली पर्व पर लक्ष्मी की अन्तिम आराधना करके सरस्वती की उपासना के लिए 5 नवम्बर, 1964 को जबलपुर के लिए प्रस्थान किया। बिदाई दृश्य बड़ा ही करुण था। पूरे परिवार और समाज में यह प्रथम अवसर था, जब कोई नौकरी के लिये घर से बहुत दूर जा रहा था। मित्रगण और परिजनों का स्नेह एक ओर था, तो दूसरी ओर आपका दृढ़ निश्चय। पिताजी की माँग पर बड़े पुत्र को उनके पास रखने का आश्वासन देकर अश्रुपूर्ण आँखों से बिदा ली।

जबलपुर में जिस पद पर आपको नियुक्ति मिली थी, वह पद वहाँ के एक व्याख्यता के प्रमोशन के रिक्त होना था, किन्तु वे जबलपुर छोड़ना नहीं चाहते थे। तीन दिन प्राचार्य के कार्यालय के चक्कर लगाये, किन्तु अन्त में शिक्षा सचिव से हुई मौखिक चर्चा के आधार पर प्राचार्य ने आपको एक पत्र दे दिया, जिसके आधार पर आपको ठाकुर रणमत्तसिंह कालेज, रीवा में दर्शनशास्त्र के व्याख्याता का पद ग्रहण करता था। रीवा आपके लिए पूर्णतः अपरिचित था, फिर भी आचार्य रजनीश आदि की सलाह पर तीन दिन जबलपुर में बिताने के पश्चात् रीवा के लिए रवाना हुए। यहाँ विभाग में डॉ. डी.डी. बन्दिष्टे का और महाविद्यालय के डॉ. कन्हेदीलाल जैन आदि अनेक जैन प्राध्यापकों का सहयोग मिला। एक मकान लेकर दोनों समय ढाबे में भोजन करते हुए आपने अध्यापन-कार्य की इस नई जिन्दगी का प्रारम्भ किया। पहली बार आपको लगा कि पढ़ने-पढ़ाने का आनन्द कुछ और है, किन्तु रीवा का यह प्रवास भी अधिक स्थायी न बन सका। शासन द्वारा वहाँ किसी अन्य व्यक्ति को भेज दिये जाने के कारण आपको आदेशित किया गया कि आप महारानी लक्ष्मीबाई स्नातकोत्तर महाविद्यालय ग्वालियर जाकर अपना पदभार ग्रहण करें। 'प्रथम ग्रासे भक्षिका पातः' की उक्ति के अनुसार शासकीय सेवा का यह अस्थायित्व और एक शहर से दूसरे शहर भटकना आपके मन को अच्छा नहीं लगा और एक बार मन में यह निश्चय किया कि शासकीय सेवा का परित्याग कर देना ही उचित है, किन्तु प्रो. बन्दिष्टे और कुछ मित्रों के समझाने पर आपने इतना माना कि आप ग्वालियर होकर ही शाजापुर जाएंगे।

ग्वालियर जाने में आपके दो-तीन आकर्षण थे, एक तो म.प्र. स्थानकवासी जैन युवक संघ की ग्वालियर शाखा के प्रमुख श्री टी.सी.बाफना आपके पूर्व परिचित थे, दूसरे प्रो. जी.आर. जैन से भी आपका पूर्व परिचय था और आप 'जैन

सापेक्षतावाद और आधुनिक विज्ञान' विषय पर शोधकार्य करने की दृष्टि से उनसे अधिक गहराई से विचार-विमर्श करना चाहते थे। अतः 27 नवम्बर 1964 को मात्र 17 दिन के रीवा प्रवास के पश्चात् आप ग्वालियर के लिए रवाना हुए। ग्वालियर पहुँचने पर आप मान-मन्दिर होटल में रुके और प्रातः महाविद्यालय के प्राचार्य प्रो. एम.एम. कुरैशी और विभागाध्यक्ष डॉ. एस.एस. बनर्जी से मिले। दोपहर में आपने टी.सी. बाफना और प्रो. जी.आर. जैन से मिलने का कार्यक्रम बनाया। जब प्रो. जी. आर.जैन से मिले, तो उनका पहला प्रश्न था – कहाँ रुके हो? यह बताने पर उनका पहला वाक्य था – तुम सामान लेकर आ जाओ और तत्काल ही उन्होंने एक हाल की साफ-सफाई कर आपके रहने की व्यवस्था अपने ही घर में कर दी। संध्या को महाविद्यालय के दर्शन-विभाग के व्याख्याता डॉ. अशोक लाड़ और वाणिज्य विभाग के श्री गोविन्ददास माहेश्वरी आपसे मिलने आये। इनसे प्रथम परिचय ही ऐसा रहा कि आप तीनों गहरे मित्र बन गये। एक ही दिन में परिवेश ही बदल गया और शाजापुर वापस लौट जाने का विकल्प समाप्त हो गया। दिसम्बर में शीतकालीन अवकाश के पश्चात् जनवरी 1965 में आप छोटे पुत्र, पुत्री और पत्नी को लेकर ग्वालियर आ गये। यद्यपि आपके लिए अध्यापन का कार्य बिल्कुल नया था, किन्तु पर्याप्त परिश्रम और विषय की पकड़ होने से आप शीघ्र ही छात्रों के प्रिय बन गये। संयोग से, महाविद्यालय में उसी वर्ष दर्शनशास्त्र की स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ हुई थीं, अतः आपने कठिन परिश्रम करके छात्रों को न केवल महाविद्यालय में पढ़ाया, बल्कि घर पर बुलाकर भी उनकी तैयारी कराते रहे। सभी का परीक्षाफल भी अच्छा रहा, अतः शीघ्र ही एक सुयोग्य अध्यापक के रूप में आपकी ख्याति हो गयी।

ग्वालियर में जब मनोविज्ञान का स्वतंत्र विषय प्रारम्भ हुआ, तो आपने प्रारम्भ में उसके अध्यापन का दायित्व भी दर्शनशास्त्र के अध्यापन के साथ-साथ सम्भाला। आपने 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' जैसा व्यापक विषय लेकर पी.एच.डी. की उपाधि हेतु अपना पंजीयन करवाया और शोध-प्रबन्ध लिखने की तैयारी में जुट गये। इसी सन्दर्भ में जैन और बौद्ध-परम्परा के मूल ग्रन्थों, विशेष रूप से जैन आगमों और बौद्ध त्रिपिटक-साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ किया।

अध्यापक के रूप में पुनः मालव-भूमि में

ग्वालियर में आपका प्रवास पूरे तीन वर्ष रहा। इसी अवधि में आपका चयन म.प्र. लोक सेवा आयोग से हो चुका था और उसमें वरीयताक्रम में आपको प्रथम स्थान प्राप्त हुआ था। सूची में सर्वोच्च स्थान पर होने के कारण सहायक प्राध्यापक के रूप में आपकी पदोन्नति करने के लिए शासन प्रतीक्षारत था।

उधर, परिवार के लोग भी यह चाहते थे कि ग्वालियर जैसे सुदूर नगर की अपेक्षा शाजापुर के निकटवर्ती उज्जैन, इन्दौर आदि स्थानों पर आपका स्थानान्तरण हो जाये। संयोग से, तत्कालीन उपशिक्षा मंत्री श्री कन्हैयालाल मेहता आपके परिजनों के परिचित थे, अतः नवम्बर 1967 में आपको शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय इन्दौर स्थानान्तरित किया गया एवं जुलाई 1968 में सहायक प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष बनाकर आपको हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल भेज दिया गया। वैसे तो इन्दौर और भोपाल-दोनों ही आपके गृहनगर शाजापुर से नजदीक थे, किन्तु इन्दौर की अपेक्षा भोपाल में अध्ययन की दृष्टि से अधिक समय मिलने की सम्भावना थी, अतः आपने 1 अगस्त 1968 को हमीदिया महाविद्यालय में दर्शनशास्त्र के सहायक प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष का पद ग्रहण किया। इस महाविद्यालय में दर्शनशास्त्र विषय प्रारम्भ ही हुआ था और मात्र दो छात्र थे, अतः प्रारम्भ में अध्यापन-कार्य का अधिक भार न होने से आपने शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने का प्रयत्न किया और अगस्त 1969 में लगभग 1500 पृष्ठों का बृहद्काय शोधप्रबन्ध परीक्षार्थ प्रस्तुत कर दिया। विभाग में छात्रों की अत्यल्प संख्या और महाविद्यालय में दर्शनशास्त्र विषय के उपेक्षित होने के कारण आपका मन पूरी तरह नहीं लग पा रहा था, अतः आपने दर्शनशास्त्र को लोकप्रिय बनाने का बीड़ा उठाया। संयोग से, आपके भोपाल पहुँचने के बाद दूसरे वर्ष ही भोपाल विश्वविद्यालय की स्थापना हो गयी और आपको दर्शनशास्त्र विषय की अध्ययन समिति का अध्यक्ष तथा कला संकाय का विद्वत्-परिषद् का सदस्य बनने का मौका मिला। आपने पाठ्यक्रम में समाजदर्शन, धर्मदर्शन जैसे रुचिकर प्रश्नपत्रों का समायोजन किया, साथ ही छात्र और महाविद्यालय की परिस्थितियों के अनुरूप मुस्लिम-दर्शन और ईसाई-दर्शन के विशिष्ट पाठ्यक्रम निर्धारित किये। एक ओर संशोधित पाठ्यक्रम और दूसरी ओर आपकी अध्यापन-शैली के प्रभाव से छात्र-संख्या में वृद्धि होने लगी। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई की बी.ए. प्रथम वर्ष में लगभग सौ से भी अधिक छात्र होने लगे और परिणामस्वरूप, अध्यापन-कक्ष छोटे पड़ने लगे। अन्ततोगत्वा महाविद्यालय के एक छोटे हाल में दर्शनशास्त्र की कक्षाएँ लगने लगीं। यह आपकी अध्यापन-शैली और छात्रों के प्रति आत्मीयता का ही परिणाम था कि सम्पूर्ण मध्यप्रदेश में दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों की संख्या की दृष्टि से आपका महाविद्यालय सर्वोच्च स्थान पर आ गया। लगभग 300 छात्रों को प्रतिदिन पाँच-पाँच पीरियड पढ़ाकर महाविद्यालय के कर्तव्यनिष्ठ अध्यापकों में आपने अपना स्थान बना दिया। महाविद्यालय में प्रवेश समिति, टाईम-टेबल समिति, छात्र परिषद् तथा परीक्षा सम्बन्धी गतिविधियों से भी

आप शीघ्र ही जुड़ गये और इस सम्बन्ध में प्राचार्य के द्वारा दिये दायित्वों का प्रामाणिकता के साथ निर्वाह किया। मात्र यही नहीं, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान विषयों के प्रारम्भ होने पर आपने उनकी कक्षाओं में भी अध्यापन किया। इस प्रकार, एक प्रबुद्ध और कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक के रूप में आपकी छवि उभरकर सामने आई। आपने दर्शनशास्त्र में अन्य अध्यापकों के पदों के सृजन और दर्शनशास्त्र के स्नातकोत्तर अध्ययन प्रारम्भ किये जाने के लिए भी प्रयत्न प्रारम्भ किये और इसमें आपको सफलता भी मिली। आपको श्री प्रमोद कोयल जैसा योग्य साथी मिल गया। स्नातकोत्तर कक्षाओं के खोलने के सम्बन्ध में भी शासन सहमत हो गया, किन्तु इसी बीच आपको प्रतिनियुक्ति पर पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान में निदेशक बनकर बनारस आना पड़ा। फिर भी, आपकी एवं आपके साथी प्रमोद कोयल की पहल असफल नहीं रही और शासन ने हमीदिया महाविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ करने का निर्देश दे ही दिया।

भोपाल में दर्शनशास्त्र अध्ययन समिति के अध्यक्ष होने के नाते आपको प्रो. चन्द्रधर शर्मा, प्रो. एस.एस. बारलिंगे जैसे सुप्रसिद्ध दार्शनिकों के आतिथ्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस अवधि में 2500 वीं महावीर निर्वाण शताब्दी के प्रसंग पर रायपुर, उज्जैन, इन्दौर, पूना और उदयपुर के विश्वविद्यालयों द्वारा व्याख्यान एवं संगोष्ठियों में भाग लेने हेतु आप आमन्त्रित किये गये। जब आप भोपाल में ही थे, तब दर्शनशास्त्र के पुनश्चर्या पाठ्यक्रम हेतु एक माह के लिए आप पूना विश्वविद्यालय गये। वहाँ प्रो. एस.एस. बारलिंगे के द्वारा दर्शनशास्त्र विभाग में एक जैन चेयर स्थापित करने के प्रयासों में आप भी सहयोगी बने। पूना के जैन समाज के अग्रगण्यों, विशेष रूप से श्री नवलमलजी फिरोदिया के सहयोग से वहाँ जैन चेयर की स्थापना भी हुई। फिरोदियाजी और प्रो. बारलिंगे की हार्दिक इच्छा थी कि आप पूना की जैन चेयर को सम्भालें, किन्तु नियति को कुछ और ही मंजूर था। पं. दलसुखभाई मालवणिया का आदेश था कि आप पार्श्वनाथ विद्याश्रम की चरमराती हुई स्थिति को सम्भालने के लिए वाराणसी जाएँ। आपके सामने एक कठिन समस्या थी, एक ओर स्थायित्वपूर्ण शासकीय सेवा तथा घर-परिवार और अपने लोगों के निकट रहने का सुख, तो दूसरी ओर घर-परिवार से दूर एक चरमराती हुई जैन विद्या संस्था को सम्भालने का प्रश्न। उस समय पार्श्वनाथ विद्याश्रम की प्रतिष्ठा तो थी, किन्तु उसकी आर्थिक स्थिति डॉवा-डोल थी, अतः कोई भी वहाँ रहना नहीं चाहता था, फिर भी एक जैन विद्या संस्थान के उद्धार का निश्चय लेकर आपने तत्कालीन संचालन समिति के अध्यक्ष श्री शादीलालजी जैन एवं कोषाध्यक्ष

गुलाबचन्द जी जैन को आश्वासन दिया कि यदि आप लोग मेरी प्रतिनियुक्ति का आदेश म.प्र. शासन से निकलवा सकें और संस्थान की अर्थ-व्यवस्था के सुधार हेतु प्रयत्न करें, तो मैं विद्याश्रम आ जाऊंगा। तत्कालीन बंगाल के उप मुख्यमंत्री विजयसिंह नाहर के प्रयत्नों से आपकी प्रतिनियुक्ति के आदेश निकले और आपने 1979 में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान में निदेशक का कार्यभार ग्रहण कर लिया।

सर्वविद्या की राजधानी काशी में

आपके काशी आगमन से संस्थान को एक नव जीवन मिला और आपने अपने श्रम से विद्याश्रम को एक नये कीर्तिमान पर लाकर खड़ा कर दिया।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम में आपके आगमन ने जहाँ एक ओर विद्याश्रम की प्रगति को नवीन गति दी, वहीं दूसरी ओर आपको अपने अध्ययन के क्षेत्र में भी नवीन दिशाएँ मिली। विद्याश्रम को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास विभाग, कला इतिहास विभाग, हिन्दी विभाग, दर्शन विभाग, संस्कृति और पालि विभाग आदि में शोध-छात्रों के पंजीयन की सुविधा मिली हुई है, अतः आपको इन विविध विषयों के शोध-छात्र उपलब्ध हुए। शोध-छात्रों के मार्ग-दर्शन हेतु यह आवश्यक था कि निर्देशक स्वयं भी उन विषयों से परिचित हों, अतः आपने जैन धर्म-दर्शन के अलावा जैन-कला, पुरातत्त्व और इतिहास का भी अध्ययन किया। प्रामाणिक शोधकार्य के लिए द्वितीय श्रेणी के ग्रन्थों से काम नहीं चलता है, मूल ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक होता है।

आपने शोध-छात्रों एवं जिज्ञासु विदेशी छात्रों के हेतु मूल ग्रन्थों के अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव किया, अतः आपने परम्परागत शैली से और आधुनिक शैली से मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया और करवाया। मूल ग्रन्थों में आगमों के साथ-साथ विशेषावश्यकभाष्य, सन्मतितर्क, आप्तमीमांसा, जैन तर्कभाषा, प्रमाणमीमांसा, न्यायावतार (सिद्ध ऋषि की टीका सहित), सप्तभंगीतरंगिणी, आदि जटिल दार्शनिक ग्रन्थों का भी सहज और सरल शैली में अध्यापन किया। आपके सान्निध्य में ज्योतिषाचार्य जयप्रभविजयजी, मुनि हितेशविजयजी, साध्वी श्री सुदर्शनाश्रीजी, साध्वी प्रियदर्शनाश्रीजी, साध्वीश्री सुमतिबाई स्वामी और उनकी शिष्याएँ, साध्वीश्री प्राणकुंवरबाई स्वामी एवं उनकी शिष्याएँ, साध्वीश्री शिलापीजी, मुमुक्षु बहन मंगलम् आदि अनेक साधु-साध्वियों एवं वैरागी भाई-बहनों ने आगमों के साथ-साथ इन दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। विविध साधु-साध्वियों के अध्यापन के साथ-साथ आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी जाकर जैनधर्म दर्शन सम्बन्धी प्रश्नपत्रों का अध्यापन कार्य करते रहे हैं। मैं (अम्बिकादत्त शर्मा) उन्हीं

दिनों स्नातकोत्तर कक्षा में जैन दर्शन पढ़ने के दौरान आपके सम्पर्क में आया था। अनेक विदेशी छात्र भी अध्ययन एवं अपने शोध-कार्यों में सहयोग हेतु आपके पास आते रहते थे। एक पोलिश प्राध्यापक ने आपके साथ तत्त्वार्थ-भाष्य का अध्ययन किया।

विद्याश्रम में आपको श्रमण के संपादन एवं प्रूफ रीडिंग के साथ-साथ अपने शोध-छात्रों द्वारा लिखे निबन्धों तथा विविध शीर्षस्थ विद्वानों के ग्रन्थों के संपादन, प्रकाशन और प्रूफरीडिंग का कार्य करना पड़ा। इसका सबसे बड़ा लाभ आपको यह हुआ कि जैनधर्म, दर्शन, साहित्य, कला, इतिहास आदि की विविध विधाओं में आपकी गहरी पैठ हो गई।

प्रतिष्ठा और पुरस्कार

हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल में कार्य करते समय भी आपकी राष्ट्रीय स्तर की अनेक संगोष्ठियों और सम्मेलनों में जाने का अवसर मिला, जहाँ आपने अपने विद्वत्तापूर्ण आलेखों एवं सौजन्यपूर्ण व्यवहार से दर्शन एवं जैनविद्या के शीर्षस्थ विद्वानों में अपना स्थान बना लिया। जब आप भोपाल में थे, तभी प्रो. बारलिंगे के विशेष आग्रह पर आपको न केवल दर्शन परिषद् के कोषाध्यक्ष का भार सम्भालना पड़ा, अपितु दार्शनिक त्रैमासिक के प्रबन्ध संपादक का दायित्व भी ग्रहण करना पड़ा था, जिसका निर्वाह वाराणसी आने के पश्चात् भी सन् 1986 तक करते रहे। कालक्रम में आप अ.भा.दर्शन परिषद् के वरिष्ठ उपाध्यक्ष बने। अ.भा. दर्शन परिषद् के उन्नयन एवं विकास में आपने प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय और प्रो. एस.पी. दुबे के साथ महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

हमीदिया महाविद्यालय के दर्शन विभागाध्यक्ष एवं पार्श्वनाथ विद्याश्रम के निदेशक के रूप में कार्य करते हुए आपकी प्रतिभा को सम्मान के अनेक अवसर उपलब्ध हुए। न केवल आपके अनेक आलेख पुरस्कृत हुए, अपितु आपके शोध-ग्रन्थ जैन, बौद्ध और गीता के आचारों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1 एवं भाग-2 को प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार से तथा जैन भाषादर्शन को स्वामी प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार से सम्मानित किया गया। आपको प्राप्त सम्मानों की सूची बड़ी लम्बी है। इसे अलग से आगे दिया गया है।

डॉ. सारगमल जैन पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी के निदेशक तो रहे ही, उसके साथ-साथ वे जैन-विद्या की अनेक संस्थाओं से भी जुड़े रहे हैं। वे आगम, अहिंसा, समता और प्राकृत संस्थान, उदयपुर के भी मानद निदेशक रहे हैं, जहाँ आपके मार्गदर्शन में प्रकीर्णक साहित्य का अनुवाद का कार्य हुआ है। अ.भा. जैन विद्वत् परिषद् के तो आप संस्थापक ही रहे हैं, वर्षों तक आप इसके उपाध्यक्ष रहे।

जैन-विद्या के क्षेत्र में जब और जहाँ कहीं भी कोई योजना बनती, मार्ग-निर्देशन हेतु आपका स्मरण अवश्य किया जाता। वस्तुतः आप विद्वान् तो हैं ही, किन्तु एक सामाजिक कार्यकर्ता भी हैं। आपके द्वारा राष्ट्रीय स्तर की अनेक सम्मेलनों और संगोष्ठियों का सफलतापूर्वक आयोजन हुआ है। जैनधर्म के आचार्यों एवं साधु-साधवियों ने विपुल संख्या में आपसे अध्ययन एवं शोधकार्य किया है, उनकी संख्या 300 से अधिक ही है।

देश-विदेश की यात्रा

देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों ने और जैन संस्थाओं ने आपके व्याख्यानो का आयोजन किया। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, अहमदाबाद, पाटण, उदयपुर, जोधपुर, दिल्ली, उज्जैन, इन्दौर आदि अनेक नगरों में आपके व्याख्यान आयोजित किये जाते रहे हैं, साथ ही आप विभिन्न विश्वविद्यालयों में विषय-विशेषज्ञ के रूप में भी आमन्त्रित किये जाते रहे हैं। यही नहीं, आपको एसोशिएशन आफ वर्ल्ड रिलीजन्स 1985 में तथा पार्लियामेन्ट आफ वर्ल्ड रिलीजन्स 1993 में जैन धर्म के प्रतिनिधि वक्ता के रूप में अमेरिका में आमन्त्रित किया गया। पार्लियामेन्ट आफ वर्ल्ड रिलीजन्स के अवसर पर न केवल आपने वहाँ अपना निबन्ध प्रस्तुत किया, अपितु अमेरिका के विभिन्न नगरों-शिकागो, न्यूयार्क, राले, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लासएन्जिल्स, फिनिक्स, आदि में जैनधर्म के विविध पक्षों पर व्याख्यान भी दिये। इस प्रकार, जैनधर्म-दर्शन और साहित्य के अधिकृत विद्वान् के रूप में आपका यश देश एवं विदेश में प्रसारित हुआ। सन् 1995 से 2000 तक आपको अनेक बार यू.एस.ए अमेरिका में पर्वषण व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया गया। मार्च 2009 में आपको लन्दन विश्वविद्यालय में जैनयोग पर व्याख्यान हेतु आमन्त्रित किया गया देश और विदेश के अनेकों विश्वविद्यालय में आपके व्याख्यान हुए हैं।

सत्यनिष्ठा

निरन्तर कार्यरत रहते हुए आपने अनेक ग्रन्थों, लघु पुस्तिकाओं और निबन्धों के माध्यम से भारती के भण्डार को समृद्ध किया है। आपने लगभग 150 से अधिक ग्रन्थों की लगभग एक लाख पृष्ठों की सामग्री को संपादित एवं प्रकाशित करके नया कीर्तिमान स्थापित किया है। आपके निर्देशन में जैन ई-लायब्रेरी का प्रोजेक्ट चल रहा है, जिसमें लगभग तीन हजार जैन-ग्रन्थों के दस लाख पृष्ठों की सामग्री सहज उपलब्ध हो रही है, साथ ही आपके निर्देशन में पचास से अधिक शोधार्थियों ने पीएच.डी. एवं डी.लिट् के हेतु शोधकार्य किया है। आपके चिन्तन और लेखन की विशेषता यह है कि आप सदैव साम्प्रदायिक-अभिनिवेशों से मुक्त होकर लिखते हैं। आपकी “जैन एकता” नामक पुस्तिका न केवल पुरस्कृत हुई

अपितु विद्वानों में समादृत भी हुई। बौद्धिक ईमानदारी एवं सत्यान्वेषण की अनाग्रही शैली आपने पं. सुखलालजी संघवी और पं. दलसुखभाई मालवणिया के लेखन से सीखी। यद्यपि सम्प्रदायमुक्त होकर सत्यान्वेषण के तथ्यों का प्रकाशन धर्मभीरु और आग्रहशील समाज को सीधा गले नहीं उतरता, किन्तु कौन प्रशंसा करता है और कौन आलोचना, इसकी परवाह किये बगैर आपने सदैव सत्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। उसके परिणामस्वरूप तटस्थ चिन्तकों, विद्वानों और साम्प्रदायिक-अभिनिवेशों से मुक्त सामाजिक-कार्यकर्त्ताओं में आपके लेखन ने पर्याप्त प्रशंसा अर्जित की।

आज यह कल्पना भी दुष्कर लगती है कि एक बालक जो 15-16 वर्ष की आयु में ही व्यावसायिक और पारिवारिक-दायित्वों के बोझ से दब-सा गया था, अपनी प्रतिभा के बल पर विद्या के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा। आज देश में जैन-विद्या के जो गिने-चुने शीर्षस्थ विद्वान् हैं, उनमें अपना स्थान बना लेना — यह डॉ. सागरमल जैन जैसे अध्यवसायी, श्रमनिष्ठ और प्रतिभाशाली व्यक्ति की ही क्षमता है। यद्यपि वे आज भी ऐसा नहीं मानते हैं कि यह सब उनकी प्रतिभा एवं अध्यवसायिता का परिणाम है। उनकी दृष्टि में यह सब मात्र संयोग है। वे कहते हैं — “जैन-विद्या के क्षेत्र में विद्वानों का अकाल ही एकमात्र ऐसा कारण है, जिससे मुझ जैसा अल्पज्ञ भी सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है।” किन्तु हमारी दृष्टि में यह केवल उनकी विनम्रता का परिचायक है।

आप अपनी सफलता का सूत्र यह बताते हैं कि किसी भी कार्य को छोटा मत समझो और जिस समय जो भी कार्य उपस्थित हो, पूरी प्रामाणिकता के साथ उसे पूरा करने का प्रयत्न करो।

आपके व्यक्तित्व के निर्माण में अनेक लोगों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पूज्य बाबाजी पूर्णमलजी म.सा. और इन्द्रमलजी म.सा. ने आपके जीवन में धार्मिक-ज्ञान और संस्कारों के बीज का वपन किया था। पूज्य साध्वीश्री पानकुँवरजी म.सा. को तो आप अपनी संस्कारदायिनी माता ही मानते हैं। आपने डॉ. सी.पी. ब्रह्मों के जीवन से, एक अध्यापक में दायित्वबोध एवं शिष्य के प्रति अनुग्रह की भावना कैसी होनी चाहिये — यह सीखा है। पं. सुखलालजी और पं. दलसुखभाई को आप अपना द्रोणाचार्य मानते हैं, जिनसे प्रत्यक्ष में कुछ नहीं सीखा, किन्तु परोक्ष में जो कुछ आप में है, वह सब उन्हीं का दिया हुआ मानते हैं। आपकी चिन्तन और प्रस्तुतीकरण की शैली बहुत कुछ उनसे प्रभावित है। आपने अपने पूज्य पिताजी से व्यावसायिक-प्रामाणिकता और स्पष्टवादिता को सीखा, यद्यपि आप कहते हैं कि स्पष्टवादिता का जितना साहस पिताजी में था, उतना आज भी मुझमें नहीं है। पत्नी

आपके जीवन का यथार्थ है। आप कहते हैं कि यदि उससे यथार्थ को समझने और जीने की दृष्टि न मिली होती, तो मेरे आदर्श भी शायद यथार्थ नहीं बन पाते। सेवा और सहयोग के साथ जीवन के कटु सत्यों को भोगने में, जो साहस उसने दिलाया, वह उसका सबसे बड़ा योगदान है। आप कहते हैं कि शिष्यों में श्यामनन्दन झा और डॉ. अरूणप्रताप सिंह ने जो निष्ठा एवं समर्पण दिया, वही ऐसा सम्बल है, जिसके कारण शिष्यों के प्रत्युप्रकार की वृत्ति मुझमें जीवित रह सकी, अन्यथा वर्तमान परिवेश में वह समाप्त हो गई होती। मित्रों में भाई माणकचन्द्र के उपकार का भी आप सदैव स्मरण करते हैं। आप कहते हैं कि उसने अध्ययन के द्वार को पुनः उद्घाटित किया था। समाज-सेवा के क्षेत्र में भाई मनोहरलाल और श्री सौभाग्यमल जी जैन वकीस सा आपके सहयोगी एवं मार्गदर्शक रहे हैं। आप यह मानते हैं कि “मैं जो कुछ भी हूँ, वह पूरे समाज की कृति हूँ, उसके पीछे अनगिनत हाथ रहे हैं। मैं किन-किन का स्मरण करूँ, अनेक तो ऐसे भी होंगे, जिनकी स्मृति भी आज शेष नहीं है।”

वस्तुतः व्यक्ति अपने-आप में कुछ नहीं है, वह देश, काल, परिस्थिति और समाज की निर्मिति होता है। जो इन सबके अवदान को स्वीकार कर उनके प्रत्युपकार की भावना रखता है, वह महान् बन जाता है, चिरजीवी हो जाता है, अन्यथा अपने ही स्वार्थ एवं अहं में सिमटकर समाप्त हो जाता है।

प्राप्त सम्मानों की सूची

1. प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार, वर्ष 1986
2. प्रणवानन्द पुरस्कार (जैन भाषा दर्शन पर) वर्ष 1987
3. डिप्टीमल पुरस्कार, वर्ष 1992
4. आचार्य हरित पुरस्कार वर्ष 1994
5. प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार, (द्वितीय बार) वर्ष 1998
6. विद्या वारिधि सम्मान, वर्ष 2003
7. कला मर्मज्ञ सम्मान, वर्ष 2006
8. उ.प्र. शासन सम्मान (प्राकृत ग्रन्थ के लिए)
9. जैना का अध्यक्षीय सम्मान वर्ष 2007
10. वागर्थ सम्मान (म.प्र. शासन) वर्ष 2007
11. गौतम गणधर सम्मान वर्ष 2008
12. आचार्य तुलसी प्राकृत सम्मान वर्ष 2008
13. विद्याचन्द्र सूरी सम्मान, वर्ष 2011

इसके अतिरिक्त म.प्र. के पूर्व मुख्यमंत्री दिग्विजयसिंह जी, बाबूलाल जी गौर और वर्तमान मुख्यमंत्री शिवराजसिंह जी ने भी आपको सम्मानित किया है।

पदस्थापनाएँ

1. अध्यक्ष - कुमार साहित्य परिषद, शाजापुर
2. सचिव - हिन्दी साहित्य समिति, शाजापुर
3. सचिव - माधव रजत जयन्ती वाचनालय, शाजापुर
4. अध्यक्ष - अ.भा. स्थानकवासी युवक संघ, मध्यप्रदेश शाखा
5. अध्यक्ष - सद्विचार निकेतन, शाजापुर
6. कोषाध्यक्ष - अ.भा. दर्शन परिषद्
7. व्याख्याता दर्शनशास्त्र - म.प्र. शासन शिक्षा सेवा
8. सहायक प्राध्यापक - म.प्र. शासन, शिक्षा सेवा
9. प्रोफेसर दर्शनशास्त्र - म.प्र. शासन, शिक्षा सेवा
10. निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
11. मानद् निदेशक - आगम, अहिंसा, समता प्राकृत संस्थान, उदयपुर
12. संस्थापक निदेशक - प्राध्य विद्यापीठ, शाजापुर
13. वरिष्ठ उपाध्यक्ष - अ.भा. दर्शन परिषद,

डॉ. सागरमल जी जैन के मार्गदर्शन एवं निर्देशन में शोधार्थियों द्वारा किए गए शोधकार्यों का विवरण -

1. डॉ. भिखारीराम यादव, जैन तर्कशास्त्र के सप्तमंगीयनय की आधुनिक व्याख्या (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1983
2. डॉ. अरूणप्रताप सिंह, जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ का उद्भव, विकास एवं स्थिति (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1983
3. डॉ. रविशंकर मिश्र, महाकवि कालिदासकृत मेघदूत और जैन कवि मेरुतुंगकृत जैन मेघदूत का साहित्यिक अध्ययन (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1983
4. महो. चन्द्रप्रभासागर, सयमसुन्दर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा महोपाध्याय की पदवी हेतु) का.हि.वि.वि. वाराणसी, 1986
5. डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र, जैन कर्म सिद्धान्त का ऐतिहासिक विश्लेषण (का.हि. वि.वि. वाराणसी), 1986
6. डॉ. रमेशचन्द्र गुप्त, तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1986
7. डॉ. कमलप्रभा जैन, प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित आर्थिक जीवन : एक अध्ययन (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1986

8. डॉ. महेन्द्रनाथ सिंह, उत्तराध्ययन और धम्मपद का तुलनात्मक अध्ययन (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1986
9. डॉ. त्रिवेणीप्रसाद सिंह, जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में मानव व्यक्तित्व का वर्गीकरण (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1987
10. डॉ. उमेशचन्द्र सिंह, जैन आगम साहित्य में शिक्षा, समाज एवं अर्थव्यवस्था, (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1987
11. डॉ. रज्जन कुमार, जैनधर्म में समाधिमरण की अवधारणा, (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1987
12. डॉ. (श्रीमती) रीतासिंह, प्राकृत और जैन संस्कृत साहित्य में कृष्ण कथा (का. हि.वि.वि. वाराणसी), 1989
13. डॉ. इन्द्रेशचन्द्र सिंह, जैन साहित्य में वर्णित सैन्यविज्ञान एवं युद्धकला (का. हि.वि.वि. वाराणसी), 1990
14. डॉ. श्रीनारायण दुबे, जैन अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1990
15. डॉ. (श्रीमती) संगीता झा, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में आचार्य हरिभद्र का अवदान (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1990
16. डॉ. धनंजय सिंह, हरिभद्र का योग के क्षेत्र में योगदान (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1991
17. डॉ. (श्रीमती) गीता सिंह, औपनिषदिक साहित्य में श्रमण परम्परा के तत्त्व (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1991
18. डॉ. (श्रीमती) अर्चना, भाषा दर्शन को जैन दार्शनिकों का योगदान (का.हि. वि.वि. वाराणसी), 1991
19. डॉ.(श्रीमती) मंजूला भट्टाचार्य, जैन दार्शनिक ग्रन्थों में ईश्वर कर्तृत्व की समालोचना (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1992
20. डॉ. रवीन्द्रकुमार, शीलदूत एवं संस्कृत दूतकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1992
21. डॉ. के.वी.एस.पी.बी. आचार्यलु, वैखानस जैन योग का तुलनात्मक अध्ययन (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1992
22. डॉ. जितेन्द्र बी. शाह, द्वादशार नयचक्र का दार्शनिक अध्ययन, (का.हि.वि. वि. वाराणसी), 1992
23. श्री असीमकुमार मिश्र, ऐतिहासिक अध्ययन के जैन स्रोत और उनकी प्रामाणिकता : एक अध्ययन (का.हि.वि.वि. वाराणसी), 1996

24. श्री मणिनाथ मिश्र, जैन चम्पू काव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन (का.हि.वि. वि. वाराणसी), 1997
25. श्रीमति कंचन सिंह, पार्श्वभ्युदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन (का. हि.वि.वि. वाराणसी), 1997
26. साध्वी उदितप्रभाश्रीजी, जैनधर्म में ध्यान की विकास यात्रा (महावीर से महाप्रज्ञ तक), जैन विश्वभारती वि.वि.लाडनूँ (राज.)
27. साध्वी दर्शनकलाश्रीजी, जैन साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
28. साध्वी प्रियलताश्रीजी, जैनधर्म में त्रिविध आत्मा की अवधारणा, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
29. साध्वी प्रियवन्दनाश्रीजी, जैनधर्म में समत्वयोग, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
30. श्रीमती विजयागोसावी (मुंबई), जैन योग और पार्तजल योगसूत्र : एक अध्ययन, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
31. श्री रणवीरसिंह भदौरिया (ग्वालियर), गीता में प्रतिपादित विभिन्न योगों का तुलनात्मक अध्ययन, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर
32. साध्वी दिव्याजनाश्रीजी, संवेगरंगशाला : एक अध्ययन, जैन विश्वभारती वि. वि. लाडनूँ (राज.)
33. साध्वी मोक्षरत्नश्रीजी, आचारदिनकर में प्रतिपादित संस्कार और संस्कार विधि, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
34. साध्वी विचक्षणश्रीजी, विशेषावश्यक के गणधरवाद और निह्नववाद का समीक्षात्मक अध्ययन, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
35. साध्वी विजयश्रीजी, जैन श्रमणी संघ का अवदान, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
36. साध्वी स्थितप्रज्ञाश्रीजी, पिण्डनिर्युक्ति का समीक्षात्मक अध्ययन, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
37. साध्वी प्रीतिदर्शनाश्रीजी, आचार्य यशोविजयजी का आध्यात्मवाद, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
38. श्री प्रवीण जोशी, भारतीय चिन्तन में कर्तव्य और अधिकार की अवधारणा, विक्रम वि.वि. उज्जैन
39. श्री संजीव जैन, गणधरवाद का दार्शनिक अध्ययन, विक्रम वि.वि. उज्जैन
40. साध्वी प्रतिभाजी (प्रथम), जैन संघ को श्राविकाओं का अवदान, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)

41. साध्वी संवेगप्रज्ञाश्रीजी, पंचसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
42. साध्वी ज्योत्सनाजी, रत्नाकरावतारिका में बौद्धदर्शन की समीक्षा, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
43. साध्वी प्रतिभाजी (द्वितीय), आराधनापताका में समाधिमरण, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
44. साध्वी प्रभुदिताश्रीजी, जैन दर्शन में संज्ञा की अवधारणा, जैन विश्वभारती वि. वि. लाडनूँ (राज.)
45. आशीष नागर, राधा तत्त्व, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
46. कु. तृप्ति जैन, जैनदर्शन में तनाव प्रबन्धन, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
47. नवीन बुधोलिया, महात्मा गांधी का दर्शन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

अनौपचारिक समग्र मार्गदर्शन -

1. डॉ. श्यामनन्दन झा, कुन्दकुन्द और शंकर के दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, 1973
2. साध्वी प्रियदर्शनाश्रीजी, आनन्दधन का रहस्यवाद, 1982
3. साध्वीश्री सुदर्शनाश्रीजी, आचारांगसूत्र का नैतिक दर्शन, 1982
4. साध्वीश्री प्रमोदकुमारीजी, इसिभासियाई सूत्र का दार्शनिक अध्ययन, 1991
5. साध्वी विनीतप्रज्ञाश्रीजी, उत्तराध्ययनसूत्र-एक अनुशीलन, 2001
6. डॉ. सुरेश सिसौदिया, जैन धर्म के सम्प्रदाय, 1995

वाराणसी से प्रस्थान के समय कार्यरत शोध छात्रों की सूची -

1. श्रीमती शुभा तिवारी, पठमचरिय में सामाजिक चेतना एक समीक्षात्मक अध्ययन
2. श्री वीरेन्द्र नारायण तिवारी, प्रमुख स्मृतियाँ तथा जैनधर्म में प्रायश्चित्त-विधि
3. श्री दयानन्द ओझा, जयोदय महाकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन
4. कुमकुम राय, धर्मशर्माभ्युदय काव्य: एक अध्ययन
5. कु. बेबी, सोमेश्वरदेव कृत कीर्तिकौमुदी का आलोचनात्मक अध्ययन
6. कु. आभा, आख्यानक मणिकोश का आलोचनात्मक अध्ययन
7. हनुमानप्रसाद मिश्र, जैन प्रायश्चित्त-विधि

वर्तमान में कार्यरत शोध छात्र (सभी के शोध-प्रबन्ध प्रायः पूर्ण हो चुके हैं।)

1. साध्वी सौम्यगुणाश्री (डी.लिट.हेतु), जैनविधि-विधानों का समीक्षात्मक, जैनविश्वभारती वि.वि.लाडनूँ (राज.)
2. मुनि मनीषसागर जी, जैनदर्शन में जीवन प्रबन्धन के तत्त्व, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)

3. साध्वी कनकप्रभाश्रीजी, पंचाशक प्रकरण : एक अध्ययन, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
4. साध्वी सम्यकप्रभाश्री, जैनदर्शन में षडावश्यक : एक विवेचन, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
5. साध्वी स्नेहांजनाश्री, द्रव्य गुणपर्यायिनो रास, जैन विश्वभारती वि.वि. लाडनूँ (राज.)
6. साध्वी श्रद्धांजनाश्री, ध्यानशतक (टीकासहित), विक्रम वि.वि. उज्जैन

का.हि.वि.वि.एम.ए. दर्शन (अन्तिम वर्ष) की परीक्षा हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्धों की सूची

1. उदयप्रताप सिंह, जैनधर्म में समाधिमरण, 1979-80
2. अवधेश कुमार सिंह, द सिस्टम आव वैल्यूज इन जैन फिलासफी, 1979-80
3. कृष्णकान्त कुमार, जैनधर्म के सम्प्रदाय, 1980
4. ताड़केश्वर नाथ, जैनधर्म में मोक्ष एवं मोक्षमार्ग, 1980
5. रामाश्रयसिंह यादव, जैन कर्म सिद्धान्त, 1980
6. सतीशचन्द्र सिंह, जैनदर्शन में प्रमाण, 1980-81
7. शिवपरसन सिंह, आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन में आत्मा का स्वरूप, 1980-81
8. अशोककुमार, उपासकदशांग के अनुसार श्रावक धर्म, 1980-81
9. वीरेन्द्र कुमार, जैनदर्शन में जीवन की अवधारणा, 1980-81
10. त्रिवेणीप्रसाद सिंह, रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुसार गृहस्थ धर्म, 1981
11. मुकुलराज मेहता, जैनधर्म में आध्यात्मिक विकास: एक तुल. विवेचन, 1981

प्रो. सागरमल जैन कृतित्व

1. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग-1, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर एवं प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 1982
2. जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-2, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर एवं प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 1982
3. जैन बौद्ध और गीता का समाजदर्शन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर 1982
4. जैन बौद्ध और गीता का साधना मार्ग, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, 1982
5. जैनकर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, 1982
6. धर्म का मर्म, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1986, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (द्वितीय एवं तृतीय संस्करण)

7. अर्हत्, पार्श्व और उनकी परम्परा, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1988
8. ऋषिभाषितः एक अध्ययन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, 1988
9. जैन भाषा दर्शन, भो.ल. भारतीय संस्कृति मंदिर, दिल्ली-पाटण, 1986
10. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1994
11. तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1994
12. अनेकान्त, स्यादवाद और सप्तभंगी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1990
13. सागर जैन विद्या भारती भाग-1, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1994
14. सागर जैन विद्या भारती भाग-2, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
15. सागर जैन विद्या भारती भाग-3, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
16. सागर जैन विद्या भारती भाग-4, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
17. सागर जैन विद्या भारती भाग-5, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
18. सागर जैन विद्या भारती भाग-6, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
19. सागर जैन विद्या भारती भाग-7, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
20. Doctoral Dissertations in Jainism and Buddhism (With Dr. A.P. Singh), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1983
21. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1996
22. जैनधर्म और तांत्रिक साधना, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1997
23. अहिंसा की प्रासंगिकता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 2002
24. स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी 2003
25. An Introduction to Jaina Sadhana, P.V.R. I Varanasi, 1995
26. Jaina Literature & Philosophy, P.V.R. I Varanasi, 1999
27. Peace, Religious Harmony and Solution of World Problems form Jaina Perspective, Prachya Vidyapeeth Shajapurs, 2001
28. Jain Philosophy of Language Tran. by Prof. S. Verma, P.V.R. I Varansai, 2005
29. Rishibhashita : A Study, Prakrit Bharti, Jaipur
30. Jain Religion : Its Historical Journey of Evolution, P.V.R. I Varansai, 2007

31. Keynote Address at Ram Krishna Mission, Calcutta
32. डॉ. सागरमल जैन, अभिनन्दन ग्रंथ (डॉ. सागरमल जैन के लेखों का संग्रह, डॉ. सुदर्शनलाल जैन के साथ), पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1998
33. अनेकान्त की जीवनदृष्टि (श्री सौभाग्यमल जी जैन के साथ), भारत जैन महामण्डल, बम्बई, 1975
34. अहिंसा की संभावनायें, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1980
35. जैन साहित्य और शिल्प में बाहुबली (डॉ. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी के साथ), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, बाहुबली, 1981
36. पर्युषणपर्व : एक विवेचन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1983
37. जैन एकता का प्रश्न (प्रथम संस्करण), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 1983
38. जैन अध्यात्मवाद : आधुनिक सन्दर्भ में (प्रथम एवं द्वितीय संस्करण), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, 1983, वाराणसी, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 2011
39. श्रावक धर्म की प्रासंगिकता का प्रश्न (प्रश्न एवं द्वितीय संस्करण), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, 1983, वाराणसी, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 2011
40. धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म (प्रथम एवं द्वितीय संस्करण), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, 1985, वाराणसी, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 2011
41. धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म (प्रथम एवं द्वितीय संस्करण), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, 1985, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 2011
42. भारतीय संस्कृति में हरिभद्र का अवदान (प्रथम एवं द्वितीय संस्करण), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, 1987, वाराणसी, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 2011
43. जैन साधना पद्धति में तप, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1981
44. जैन साधना पद्धति में ध्यान, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1994
45. जैन धर्म में नारी की भूमिका, प्रथम संस्करण-द्वितीय संस्करण, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1995, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 2011
46. जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1999
47. अध्यात्मवाद और विज्ञान, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 2011
48. जैन दर्शन में द्रव्य, गुण और पर्याय, एल.डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी अहमदाबाद, 2011

49. जैन धर्म एवं दर्शन, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.) 2015.
50. नीतिशास्त्र के इतिहास की रूपरेखा (हेनरी सिजविक की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद), प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.) 2017

ग्रंथों की विस्तृत प्रस्तावनाएँ

1. चरणकरणानुयोग, द्वितीय खण्ड की विस्तृत भूमिका, मुनि कन्हैयालालजी 'कमल', आगम अनुयोग प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
2. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन, डॉ. शिवप्रसाद, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध, संस्थान, वाराणसी
3. प्रमुख जैन साध्वियाँ और महिलाएँ, डॉ. हीरालाल बोर्डियाँ, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध, संस्थान, वाराणसी
4. स्याद्वाद और सप्तभंगी, डॉ. बी.आर. यादव, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
5. इसिभासियाइ, अनुवादक विनयसागरजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
6. चन्द्रध्वेयक-प्रकीर्णक, अनुवादक डॉ. सुरेश सिसोदिया, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
7. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, अनुवादक डॉ. सुरेश सिसोदिया, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
8. तंदुल वैचारिक प्रकीर्णक, अनुवादक डॉ. सुरेश सिसोदिया, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
9. देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक, अनुवादक-डॉ. सुरेश सिसोदिया, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
10. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति प्रकीर्णक, अनुवादक डॉ. सुरेश सिसोदिया, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
11. Lord Mahavira, इसका फ्रेंच भाषा का संस्करण भी प्रकाशित है और उसमें भूमिका का फ्रेंच अनुवाद भी है, डॉ. बलचंद्र जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
12. जिनवाणी के मोती, डॉ. दुलीचंद्र जैन, जैन विद्या अनुसंधान प्रतिष्ठान, मद्रास
13. द्रव्यानुयोग की विस्तृत भूमिका, मुनि कन्हैयालालजी, आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद
14. पंचाशक-प्रकरणम् की विस्तृत भूमिका, हरिभद्र सूरि, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

15. वसुदेवहिण्डी : एक अध्ययन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
16. सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ. एस.पी. पाण्डे, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
17. प्रवचनसारोद्धार की विस्तृत भूमिका, साध्वी हेमप्रभाश्रीजी, प्राकृत भारती, जयपुर
18. प्राकृत एवं संस्कृत ग्रन्थों में गुणस्थान सिद्धान्त, साध्वी दर्शनकलाश्री राज राजेन्द्र प्रकाशन, अहमदाबाद
19. जैन साधना पद्धति में ध्यान, साध्वी प्रियदर्शना, रत्न जैन पुस्तकालय, अहमदनगर
20. ध्यानशतक जिनभद्रगणि, अनु. सुषमा सिंघवी, प्राकृत भारती, जयपुर
21. कायोत्सर्ग, श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा, प्राकृत भारती, जयपुर
22. सकारात्मक अहिंसा, श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा, प्राकृत भारती, जयपुर
23. पुण्यपापतत्त्व, श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा, प्राकृत भारती, जयपुर
24. बन्धतत्त्व की भूमिका, श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा, प्राकृत भारती, जयपुर
25. अध्यात्मसार, अनु. साध्वी प्रीति दर्शना श्रीजी, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
26. बौद्धदर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन, साध्वी ज्योत्सनाश्रीजी म.सा., प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
27. जैन धर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकासक्रम, साध्वी उदितप्रभाश्रीजी, म.सा., प्राकृत भारती, जयपुर
28. जैन गृहस्थ की षोडश संस्कार विधि, साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
29. जैन मुनि जीवन के विधि-विधान, साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
30. प्रतिष्ठा शान्तिकर्म पौष्टिककर्म एवं बलिविधान, साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
31. प्रायश्चित्त आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि, साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

प्रो. सागरमल जैन के शोध निबन्ध

प्रो. सागरमल जैन के शोध निबन्ध दार्शनिक, परामर्श, श्रमण, जिनवाणी, विक्रम, तुलसीप्रज्ञा, अनेकांत, जिनभाषित, जैनमूश्री आदि शोध-पत्रिकाओं के साथ-साथ विभिन्न अभिनन्दन ग्रन्थों, स्मृति ग्रन्थों, स्मारिकाओं आदि में प्रकाशित होते रहे हैं। अनेक ग्रन्थों की भूमिकाएँ भी शोध-आलेख रूप रही हैं। आपके इन

महत्त्वपूर्ण प्रकीर्ण आलेखों को एकत्रित कर प्रकाशित करने के प्रयत्न हुए, उनमें डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ (Aspects of Jainology vol-6) और सागर जैन विद्या भारती भाग-1 से 7 तक, जो अब जैन धर्म दर्शन एवं संस्कृत के नाम से पुनः प्रकाशित है, प्रमुख हैं। इन दोनों में मिलाकर लगभग 160 आलेख हैं, इसके अतिरिक्त भी अनेक आलेख छूट गये थे, उन्हें भी www.jainealibrary.org के और डॉ. साहब की स्मृति के आधार पर समाहित करने का प्रयत्न किया गया है। इन सब आधारों पर उनके शोध आलेखों की संख्या लगभग 300 के आसपास होती है। कोष्ठक () में दिये गये नम्बर www.jainealibrary.org के संदर्भ के हैं, ज्ञातव्य है कि आपके अनेक लेख अनुवादित होकर प्रबुद्ध जीवन (गुजराती) श्रमण (बंगला) Jain studies (अंग्रेजी) में भी छपे हैं।

1. अर्द्धमागधी भाषा का उद्भव एवं विकास, सुमनमुनि अमृतमहोत्सव ग्रन्थ, चेन्नई
2. अद्वैतवाद में आचार दर्शन की सम्भावना : जैन दृष्टि में समीक्षा (210030), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
3. अध्यात्म और विज्ञान (210030), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
4. अध्यात्म बनाम भौतिकवाद, श्रमण, अप्रैल 1990
5. अर्द्धमागधी आगम साहित्य : एक विमर्श (2100062)
6. अर्द्धमागधी आगम साहित्य में समाधिमरण की अवधारणा, श्रमण, 1994
7. अशोक के अभिलेखा की भाषा मागधी या शौरसेनी (210128), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
8. अशोक के अभिलेखा की भाषा मागधी या शौरसेनी (210126), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
9. अहिंसा एक तुलनात्मक अध्ययन (210136), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
10. अहिंसा का अर्थ विस्तार, सम्भावनाएँ, श्रमण जनवरी 1980
11. अहिंसा की सार्वभौमिकता (210141), जैन विद्यालय स्मारक ग्रन्थ, कलकत्ता
12. आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का स्थान 'महत्त्व', रचनाकाल एवं रचयिता (210161), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
13. आचारांग सूत्र: आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में, तुलसीप्रज्ञा, खण्ड 6, अंक 9, 1981
14. आचारांगसूत्र: एक विश्लेषण (210178), सागरमल जैन अभिनन्दन, पा.वि., वाराणसी

15. आत्मा और परमात्मा एक तुलनात्मक विवेचन, श्रमण, मार्च 1980
16. आचार्य हेमचन्द्र : एक युगपुरुष (210204), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
17. इक्कीसवीं सदी की प्रमुख समस्याएँ और जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में उनके समाधान (210265), विजयानन्दसूरि स्वर्गारोहण शताब्दी ग्रन्थ
18. उच्चैर्नागर शाखा के उत्पत्ति स्थल एवं उमास्वाति के जन्मस्थान की पहचान (210302), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
19. खजुराहो की कला और जैनाचार्यों की समन्वयात्मक एवं सहिष्णु दृष्टि (210432), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
20. गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास, श्रमण-जनवरी-मार्च 1992
21. गीता में नियतिवाद और पुरुषार्थवाद की समस्या और यथार्थ जीवनदृष्टि, प्राच्य प्रतिभा (पत्रिका), बिरला, केन्द्र भोपाल
22. जटासिंहनन्दी का वाराणसि और उसकी परम्परा (210499), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
23. जैन एकता का प्रश्न?, श्रमण-जनवरी 1983
24. जैन अध्यात्मवाद, आधुनिक सन्दर्भ में (210559), भवरलाल नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ
25. जैन आगमिक व्याख्या साहित्य में नारी की स्थिति का मूल्यांकन (210574), सज्जनश्री अभिनन्दन ग्रन्थ
26. जैन आगमों की मूल भाषा अर्द्धमागधी या शौरसेनी (210574), समन मुनि प्रज्ञामहर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ
27. जैन आगम साहित्य में श्रावस्ती, अप्रकाशित
28. जैन आगमों की मूल भाषा अर्द्धमागधी या शौरसेनी (210575), विजयानन्दसूरि स्वर्गारोहण शताब्दी ग्रन्थ
29. जैन आगमों में मूल्यात्मक शिक्षा और वर्तमान सन्दर्भ (210580), अष्टदशी
30. जैन आचार दर्शन एक मूल्यांकन (210584), केसरीमलजी सुराणा अभिनन्दन ग्रन्थ
31. जैन आचार में अचेलकत्व और सचेलकत्व का प्रश्न (210586) सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
32. जैन आचार में उत्तर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग (210588), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
33. जैन साधना में ध्यान, यतीन्द्रसूरि दीक्षा शताब्दी स्मारक ग्रन्थ, मोहनखेड़ा

34. जैन एवं बौद्धधर्म में स्वहित एवं लोकहित का प्रश्न (210604), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
35. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन की शोध संक्षेपिका, तुलसीप्रज्ञा, अंक 5
36. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों में कर्म का शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व, महावीर जयन्तीस्मारिका, जयपुर 1978
37. जैनकर्म सिद्धान्त एक विश्लेषण (210616), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
38. जैनधर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता का स्वरूप (210635), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
39. जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान (210655), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
40. जैनदर्शन में आत्मा : स्वरूप एवं विश्लेषण सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, (210679), पा.वि. वाराणसी
41. जैनदर्शन में तर्क प्रमाण का आधुनिक संदर्भ में मूल्यांकन, दार्शनिक, अक्टूबर 1978
42. जैनदर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य और कथन की सत्यता का प्रश्न (210390), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
43. जैनदर्शन में निश्चय एवं व्यवहार नय, दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई 1974
44. जैनदर्शन में नैतिक मूल्यांकन का विषय (210697), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
45. जैनदर्शन में नैतिकता की सापेक्षता और निरपेक्षता (210398), मुनि द्वय अभिनन्दन ग्रन्थ
46. जैनदर्शन में पुद्गल और परमाणु (210702), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
47. जैनदर्शन में मिथ्यात्व और सम्यक्त्व : एक तुलनात्मक विवेचन (210710), जैन दिवाकर स्मृति ग्रन्थ
48. जैनदर्शन में मोक्ष का स्वरूप : एक तुलनात्मक अध्ययन (210710), तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रन्थ
49. जैनदृष्टि में धर्म का स्वरूप (210729), लेखेन्द्रशेखरविजय अभिनन्दन ग्रन्थ
50. जैनधर्म और सामाजिक समता (210742), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
51. जैनधर्म में स्वाध्याय का अर्थ, श्रमण, 1994

52. जैनधर्म का एक विलुप्त सम्प्रदाय : यापनीय (210743), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
53. जैनधर्म का त्रिविध साधना मार्ग (210744), विजयानन्दसूरि स्वर्गारोहण शताब्दी ग्रन्थ
54. जैनधर्म की परम्परा, इतिहास के झरोखे से (210751), विजयानन्दसूरि स्वर्गारोहण शताब्दी ग्रन्थ
55. जैनधर्म में नारी की भूमिका (210771), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
56. जैनधर्म के धार्मिक अनुष्ठान एवं कला तत्व
57. जैनधर्म में प्रायश्चित्त एवं दण्ड व्यवस्था (210774), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
58. जैनधर्म में सामाजिक चिंतन (210779), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
59. जैननीतिदर्शन के मनोवैज्ञानिक आधार (210795), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
60. जैन परम्परा में काशी (210807), राजेन्द्रसूरी जन्म शताब्दी ग्रन्थ
61. जैन परम्परा का ऐतिहासिक विश्लेषण, श्रमण, जुलाई-सितम्बर 1990
62. जैन परम्परा में बाहुबलि (210810) सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
63. जैन, बौद्ध और औपनिषदिक ऋषियों के उपदेशों का प्राचीनतम संकलन ऋषिभाषित (210821), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
64. जैन, बौद्ध और गीतादर्शन में मोक्ष का स्वरूप: एक तुलनात्मक अध्ययन (210822), राजेन्द्रसूरी जन्म शताब्दी ग्रन्थ
65. जैन वाक्य दर्शन (210854), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
66. जैन अध्यात्मवाद : आधुनिक संदर्भ में, श्रमण, अगस्त 1983
67. जैन शिक्षादर्शन (210876), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
68. जैन कर्मसिद्धान्त : एक विश्लेषण, श्रमण, 1994
69. जैन साधना और ध्यान (210911), महासती द्वय स्मृति ग्रन्थ,
70. जैनसाधना का आधार समयदर्शन, (210914), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी

71. जैनसाधना के मनोवैज्ञानिक आधार (210918), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
72. जैनसाधना में प्रणव का स्थान (210926), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
73. जैन साधना का त्रिविध साधना मार्ग (210971), नानचन्दजी जन्म शताब्दी स्मृति ग्रन्थ
74. जैनदर्शन में सत् का स्वरूप (210983), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
75. जैनधर्म का लेश्या सिद्धान्त: एक मनोवैज्ञानिक विमर्श (211000), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
76. जैनधर्म के मूल तत्त्व (211003), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
77. जैनधर्म में अहिंसा की अवधारणा : एक विश्लेषण (211010), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
78. जैनधर्म में तीर्थ की अवधारणा (211015), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
79. जैनधर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता का स्वरूप (211017), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
80. जैनधर्म में पूजा विधान और धार्मिक अनुष्ठान (211018), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
81. जैनधर्म में प्रायश्चित एवं दण्ड व्यवस्था (211019), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
82. जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा (211020), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
83. जैनधर्म में मुक्ति की अवधारणा (211023), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
84. जैनधर्म में स्वाध्याय का अर्थ एवं स्नान (211031), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
85. जैन नीति दर्शन की सामाजिक सार्थकता (211031), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
86. जैनसाहित्य में स्तूप, सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
87. जेनागम साहित्य में स्तूप (211048), बेचरदास डोसी अभिनन्दन ग्रन्थ

88. जैनागमों में समाधिमरण की अवधारणा (211052), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
89. ज्ञान और कथन की सत्यता का प्रश्न : जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में, परामर्श, जून 1983
90. तन्त्रसाधना और जैन जीवन दृष्टि (211103), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
91. तार्किक शिरोमणि आचार्य सिद्धसेनदिवाकर (211118), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
92. दशलक्षणपर्व : दशलक्षण धर्म (211156), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
93. धर्म क्या है?, श्रमण, जनवरी, फरवरी और मार्च 1990
94. धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र की सहिष्णुता (211191), उमरावकुँवरजी दीक्षा स्वर्ण जयन्ती स्मृति ग्रन्थ
95. धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान, श्रमण, अक्टूबर 1986
96. धर्म का मर्म : जैन दृष्टि (211194), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
97. धार्मिक सहिष्णुता और जैनधर्म (211215), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
98. निर्युक्ति साहित्य एक पुनर्विन्तन (211277), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
99. निश्चय और व्यवहार किसका आश्रय लें? (211281), आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ
100. नीति के मानवतावादी सिद्धान्त और जैन आचार दर्शन (211286), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
101. नीति के निरपेक्ष और सापेक्ष तत्त्व, दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल 1976
102. नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता (211294), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
103. नैतिक मानदण्ड : एक या अनेक?, दार्शनिक त्रैमासिक, जनवरी 1980
104. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के द्वारा सम्पादित एवं अनुदित षड्दर्शनसमुच्चय की समीक्षा (211300), महेन्द्र कुमार जैन शास्त्री न्यायचन्द्र, स्मृति ग्रन्थ
105. पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैनधर्म (211323), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी

106. पर्यूषण पर्व : एक विवेचन (211332), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
107. पर्यूषण पर्व क्या, कब, क्यों और कैसे, श्रमण, अगस्त 1981
108. प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषयवस्तु की खोज (211397), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
109. प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक स्वरूप और विकास, दार्शनिक त्रैमासिक, जून 1978
110. प्राचीन जैन आगमों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा (211419), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
111. पार्श्वनाथ जन्मभूमि मंदिर का पुरातत्वीय वैभव, श्रवण, 1990
112. फ्रायड और जैनदर्शन, तीर्थकर
113. बन्धन से मुक्ति की ओर (211460), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
114. बालकों के संस्कार निर्माण में अभिभावक, शिक्षक और समाज की भूमिका, श्रमण, जनवरी 1980
115. महावीर का जीवन दर्शन, श्रमण, अप्रैल 1986
116. भगवान् महावीर का अपरिग्रह सिद्धान्त और उसकी उपादेयता (211499), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
117. भाग्य बनाम पुरुषार्थ, श्रमण, जुलाई 1985
118. भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना (211551), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
119. भारतीय संस्कृति का समन्वित स्वरूप (211578), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
120. भेद-विज्ञान : मुक्ति का सिंहद्वार (211605), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
121. मन शक्ति स्वरूप और साधना : एक विश्लेषण (211625), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
122. मानवतावाद और जैन आचार दर्शन, तीर्थकर, जनवरी 1978
123. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जैन धर्म सम्बन्धी मन्तव्यों की समालोचना (211650), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
124. महावीर का दर्शन : सामाजिक परिप्रेक्ष्य में, श्रमण, अप्रैल 1981
125. महावीर कालीन विभिन्न आत्मवाद एवं जैन आत्मवाद का वैशिष्ट्य (211670), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी

126. महावीर के सिद्धान्तः आधुनिक संदर्भ में, महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर 1976
127. मूलाचारः एक विवेचन (211734), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
128. मूल्य बोध की सापेक्षता, दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर 1977
129. मूल्य दर्शन और पुरुषार्थ चतुष्टय (211738), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
130. रामपुल्ल या रामगुप्तः सूत्रकृतांग के संदर्भ में (211845), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
131. व्यक्ति और समाज, सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
132. श्रमण एवं वैदिक धारा का विकास एवं पारस्परिक प्रभाव (2122025), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
133. श्रावक आचार (धर्म) की प्रासंगिकता का प्रश्न (212054), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
134. श्वेताम्बर परम्परा में रामकथा (212077), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
135. श्वेताम्बर साहित्य में रामकथा का स्वरूप, श्रवण, अक्टूबर 1985
136. श्वेताम्बर मूलसंघ एवं माथुरसंघ : एक विमर्श (212078), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
137. षट्जीवनिकाय के वर्गीकरण की समस्या (212082), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
138. संयम जीवन का सम्यक् दृष्टिकोण, श्रमण, जुलाई 1980
139. सत्ता कितनी वाच्य और कितनी अवाच्य, दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल 1981
140. स्याद्वाद : एक चिन्तन, महावीर जयन्ती स्मारिका, 1977
141. सती प्रथा और जैन धर्म (212116), कुसुमवती साध्वी अभिनन्दन ग्रन्थ
142. सदाचार के शाश्वत मानदण्ड और जैन धर्म (212124), जैन दिवाकर स्मृति ग्रन्थ
143. सप्तभंगी त्रिमूल्यात्मक तर्क शास्त्र के सन्दर्भ में, महावीर जयन्ती स्मारिक, जयपुर 1977
144. समदर्शी आचार्य हरिभद्र (212138), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
145. समाधिमरण की अवधारणा की समीक्षा, सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी

146. समाधिमरणः एक तुलनात्मक विवचेन (212152), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
147. सम्राट अकबर और जैनधर्म (212166), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा. वि. वाराणसी
148. सदाचार के शाश्वत मानदण्ड और जैन धर्म (212181), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
149. साधना और सेवा का सहसम्बन्ध (212185), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
150. साधना और सेवा का सहसम्बन्ध (212185), सुमनमुनि प्रज्ञा महर्षि ग्रन्थ
151. सामाजिक समस्याओं के समाधान में जैन धर्म का योगदान (212194), देशभूषणजी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ
152. स्त्री : अन्यतैथिक एवं सवस्त्र की मुक्ति का प्रश्न (212225), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
153. स्याद्वाद और सप्तभंगी : एक चिन्तन (212228), सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ, पा.वि. वाराणसी
154. हरिभद्र के दर्शन के क्रान्तिकारी तत्त्व, श्रमण, अक्टूबर 1986
155. हरिभद्र की क्रान्तिकारी दृष्टि और धूर्त्ताख्यान, श्रमण, फरवरी 1987
156. हरिभद्र के धूर्त्ताख्यान का मूलस्रोत, श्रमण, फरवरी 1987
157. जैनधर्म दर्शन का सत्त्व (229110), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
158. महावीर का जीवन और दर्शन (229111), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
159. जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा (229112), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
160. जैन धर्म में स्वाध्याय का अर्थ एवं स्नान (229113), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
161. जैन साधना में ध्यान (229114), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
162. अर्द्धमागधी आगम साहित्य में समाधिमरण की अवधारणा (229115), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
163. जैन कर्म सिद्धान्त (229116), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
164. भारतीय संस्कृति का समन्वित स्वरूप (229117), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
165. पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैन धर्म (229118), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)

166. जैन धर्म और सामाजिक समता (229119), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
167. जैन आगमों में मूल्यात्मक शिक्षा और वर्तमान सन्दर्भ (229120), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
168. ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचाएं (229123), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
169. जैन एवं बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के अर्थ निर्धारण की समस्या (229125), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
170. जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन (229126), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
171. महावीर की निर्वाण तिथि पर पुनर्विचार (229127), सागर जैन विद्या भारती, भाग-1 (001684)
172. अर्द्धमागधी आगम साहित्य (229128), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2 (001685)
173. प्राचीन जैनागमों में चार्वाक दर्शन (229129), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2 (001685)
174. महावीर के समकालीन विभिन्न आत्मवाद एवं जैन आत्मवाद का वैशिष्ट्य (229130), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2, (001685)
175. सकारात्मक अहिंसा की भूमिका (229131), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2, (001685)
176. तीर्थंकर और ईश्वर के सम्प्रत्ययों का तुलनात्मक विवेचन (229132), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2, (001685)
177. जैन धर्म में भक्ति का स्थान (229133), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2 (001685)
178. मन शक्ति स्वरूप और साधना (229134), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2 (001685)
179. जैन दर्शन में नैतिकता की सापेक्षता और निरपेक्षता (229135), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2 (001685)
180. सदाचार के शाश्वत मानदण्ड और जैन धर्म (229136), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2 (001685)
181. जैन धर्म का लेश्या सिद्धान्त (229137), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2 (001685)

182. पंडित जगन्नाथ की दृष्टि में बुद्ध व्यक्ति नहीं प्रक्रिया (229138), सागर जैन विद्या भारती, भाग-2 (001685)
183. जैन धर्म के अचेलकत्व और सचेलकत्व का प्रश्न (229145), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
184. स्त्रीमुक्ति, अन्यतैर्थिकमुक्ति एवं सबस्वमुक्ति का प्रश्न (229145), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
185. प्रमाण लक्षण निरूपण में प्रमाणमीमांसा का अवदान (229146), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
186. पं. महेन्द्रकुमार सम्पादित षड्दर्शन समुच्चय की समीक्षा (229147), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
187. आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का स्थान, महत्व, रचनाकाल एवं रचयिता (229148), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
188. जैनदर्शन में आध्यात्मिक विकास (229149), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
189. युगीन परिवेश में महावीर के सिद्धान्त (229150), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
190. जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान (229151), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
191. श्वेताम्बर मूल संघ एवं माथुरसंघ (229153), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
192. षट्जीवनिकाय में त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण की समस्या (229154), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
193. ऋषिभाषितः एक अध्ययन (229155), सागर जैन विद्या भारती, भाग-3 (001686)
194. भद्रबाहु सम्बन्धी कथानकों का अध्ययन (229156), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)
195. कौमुदीमित्रानन्द में प्रतिपादित रामचन्द्र सूरि की जैन जीवनदृष्टि (229157), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)
196. अंगविज्ञा और नमस्कार मन्त्र की विकास यात्रा (229158), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)
197. जीवसमास (229159), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)
198. जैन विद्या के अध्ययन की तकनीक (229160), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)

199. कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव (229161), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)
200. स्वाध्याय की मणियाँ (229162), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)
201. हरिभद्र कृत श्रावक धर्म विधि प्रकरण (229163), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)
202. अपभ्रंश में महाकवि स्वयम्भू (229164), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)
203. जैन परम्परा में काशी (229165), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)
204. पुण्य की उपादेयता का प्रश्न (229166), सागर जैन विद्या भारती, भाग-4 (001687)
205. अर्द्धमागधी आगम साहित्य : कुछ सत्य और तथ्य (229167), सागर जैन विद्या भारती, भाग-5 (001688)
206. प्राकृतविद्या में प्रो. टाटियाजी के नाम से प्रकाशित उनके व्याख्यान की समीक्षा (229169), सागर जैन विद्या भारती, भाग-5 (001688)
207. अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या शौरसेनी (229170), सागर जैन विद्या भारती, भाग-5 (001688)
208. क्या ब्राह्मी लिपि में न और ण के लिये एक ही आकृति थी (229171), सागर जैन विद्या भारती, भाग-5 (001688)
209. भारतीय दार्शनिक चिन्तन में निहित अनेकान्त (229172), सागर जैन विद्या भारती, भाग-5 (001688)
210. जैनदर्शन की द्रव्य, गुण एवं पर्याय की अवधारणा (229173), सागर जैन विद्या भारती, भाग-5 (001688)
211. प्रवचनसारोद्धार : एक अध्ययन (229174), सागर जैन विद्या भारती, भाग-5 (001688)
212. भारतीय संस्कृति के दो प्रमुख महाघटकों का सम्बन्ध (229175), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
213. महावीर का श्रावक वर्ग अब और तब (229176), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
214. महावीर जन्मस्थल (229177), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
215. महावीर का केवलज्ञान स्थल (229178), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
216. महावीर की निर्वाणभूमि पावा (229179), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)

217. जैन तत्त्वमीमांसा की विकास यात्रा (229180), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
218. जिन दर्शन में मोक्ष की अवधारणा (229181), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
219. जिन प्रतिमा का प्राचीन स्वरूप (229182), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
220. अंगविज्जा में जैन मन्त्रों का प्राचीनतम स्वरूप (229183), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
221. उमास्वाति एवं उनकी उच्चैनागरी शाखा का स्थल एवं विचरण क्षेत्र (229184), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
222. उमास्वाति का काल (229185), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
223. उमास्वाति और उनकी परम्परा (229186), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
224. जैन आगम साहित्य में श्रावस्ती (229187), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
225. प्राकृत और अपभ्रंश जैन साहित्य में कृष्णा (229188), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
226. मूलाचार (229189), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
227. प्राचीन जैनागमों में चार्वाकदर्शन का प्रस्तुतिकरण (229190), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
228. ऋषिभाषित में प्रस्तुत चार्वाकदर्शन (229191), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
229. राजप्रश्नीय सूत्र में चार्वाक मत का प्रस्तुतिकरण (229192), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
230. भागवत के रचना काल के सम्बन्ध में जैन साहित्य के कुछ प्रमाण (229193), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
231. बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना (229194), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
232. धर्मनिरपेक्षता और बौद्ध धर्म (229195), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)
233. महायान सम्प्रदाय की समन्वयात्मक जीवन दृष्टि (229196), सागर जैन विद्या भारती, भाग-6 (001689)

234. भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म एवं दर्शन, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
235. गुणस्थान सिद्धान्त पर एक महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
236. जैनधर्म में ध्यान-विधि की विकास-यात्रा, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
237. ध्यानशतक : एक परिचय, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
238. आचारांगसूत्र की मनोवैज्ञानिक दृष्टि, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
239. क्या तत्त्वार्थसूत्र स्त्रीमुक्ति का निषेध करता है?, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
240. राजप्रश्नीयसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
241. वृष्णिदशा: एक परिचय, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
242. जैन इतिहास : अध्ययन विधि एवं मूल एवं मूलस्रोत, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
243. शंखेश्वर तीर्थ का इतिहास, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
244. नवदिगम्बर सम्प्रदाय की कल्पना कितनी समीचीन?, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
245. जैन कथा-साहित्य : एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
246. जैन जीवन-दृष्टि, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
247. विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता: जैन साहित्य के सन्दर्भ में, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
248. षट्जीवनिकाय की अवधारणा: एक वैज्ञानिक विश्लेषण, जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग-7
249. जैन धर्म में सरस्वती उपासना, जिनभाषित जून 2009
250. क्या आर्यावती (मथुरा-शिल्प) सरस्वती है?, अनुसंधान 50 (2), सन् 2010
251. जैन आगम साहित्य में श्रुतदेवी सरस्वती जिनभाषित, अक्टूबर 2011
252. भारतीय तन्त्र साधना और जैनधर्म दर्शन, जिनवाणी, 2009-2010 (9 किश्तों में समाप्त)
253. जैन दार्शनिकों का अन्य दर्शनों को अवदान, जिनवाणी, मार्च-अप्रैल 2011
254. जैन दर्शन में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व, भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद (अम्बिकादत्त शर्मा), 2006
255. बौद्ध और जैन प्रमाण मीमांसा : एक तुलना, श्रमण, जुलाई-सितम्बर 2004

256. जैनयोग और पातंजलयोग : एक तुलना, परमतत्व जनवरी 2011
257. Bramhanic and Sramanic Culture : A Comparative study (250030), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
258. Concept of Violence in Jainism (250057), Aspect of Jainology Vol. 6th P.V.R.I. Varansai
259. Concept of Vibhajjavada and its impact on Philosophical and Religious tolerance in Buddhism and Jainism (250060), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
260. Equanimity and Meditation (250085), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
261. Historical Development of Jaina Philosophy and Religion (250112), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
262. Jain Concept of Peace(250132), Vijayanandsuri Swargarohan, Shatabdi Granth 012023
263. Jaina Literature from earliest time to century 10th AD(250158), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
264. K.S. Murti's philosophy of peace and non violence (250196), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
265. Origin and Development of Jainism (250233), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
266. Purpose of the Botika Sect (250257) (with M.A. Dhaky), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
267. Reconsidering the date of Nirvan of Lord Mahavira (250268), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
268. Religious Harmony and Fellowship of Faiths (250275), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
269. Role of Parents, Teachers and Society in Stilling Cultural Values (250281), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
270. Samatva Yoga the Fundamental Teaching of Jainism and Gita (250287), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
271. Solution of World Problem's : A Jaina Perspective (250305), Aspect of Jainology Vol. 6th, P.V.R.I. Varansai
272. An Introduction to Dr Charlotte (269074), Sagar Jain Vidya Bharti Part_4 (001687)

273. Spiritual Foundation of Jainism (269076), Sagar Jain Vidya Bharti, Part_4 (001687)
274. Human Solidarity and Jainism (269077), Sagar Jain Vidya Bharti Part_6 (001689)
275. Impact of Nyaya and Vaisesika School on Jaina Philosophy (269078), Sagar Jain Vidya Bharti, Part_6 (001689)
276. The ethics of Jainism and swami narayan sect, New Dimenson in Vedant Philosophy
277. Relvance of Jainism in present world, Jain journal Vol-22 No-1
278. The Historical Delevelopment of Jaina Yoga system, Jainvani April, may, June 2010
279. Jain sadhana and Yoga
280. The Teaching of Arhat Parshva and the Distinctness of his sect, Arhat Parshva and Dharanendra, Nexus B Institute Delhi
281. Intoduction of Loard Mahavira, P.V.R.I. Varanasi
282. Role of Religion in unity of Mankind and word peace, Jain Jouranal Vol-XLI No.4,2007
283. Jaina Litereature, Jain Journal Vol-XLIII No.1,2008
284. How appropriate is the proposition of Neo-Digambara school, Jain Journal Vol-XLI No.3,2007
285. Jaina Canonical Literature, Jainadharma Darshana Eavam Samskriti Vol-7
286. An investigation of the earlier subject matter of Prasnavyakarana sutra
287. Risibhasita : A valuable Jain work, Jinvani Nov-2010
288. Same Refelction on Samansuttam, Jinvani Oct-2011
289. Risibhasita- A Prakrit work of Universal Values, Jinvani July-August 2011

प्रो. सागरमल जैन द्वारा सम्पादित ग्रन्थ

1. रत्न ज्योति, स्थानकवासी जैन संघ, शाजापुर, 1970
2. चिन्तन के नये आयाम, सौभाग्यमल जी, स्था. जैन कान्फ्रेंस देहली, 1971
3. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पा.वि. वाराणसी, 1981
4. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पा.वि. वाराणसी, 1989

5. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, पा.वि. वाराणसी, 1982
6. आनन्दघन का रहस्यवाद, पा.वि. वाराणसी, 1982
7. प्राकृत दीपिका, पा.वि. वाराणसी, 1982
8. जैनदर्शन में आत्मविचार, पा.वि. वाराणसी, 1984
9. खजुराहो के जैन मन्दिरों की मूर्तिकला, पा.वि. वाराणसी, 1984
10. जैनाचार्यों का अलंकार शास्त्र में अवदान, पा.वि. वाराणसी, 1984
11. वज्जालम्गं, पा.वि. वाराणसी, 1984
12. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, पा.वि. वाराणसी, 1986
13. आचारांगसूत्र: एक अध्ययन, पा.वि. वाराणसी, 1987
14. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पा.वि. वाराणसी, 1987
15. तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार, पा.वि. वाराणसी, 1987
16. स्याद्वाद और सप्तभंगी, पा.वि. वाराणसी, 1988
17. संबोध सप्ततिका, पा.वि. वाराणसी, 1988
18. प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन, पा.वि. वाराणसी, 1988
19. जैन साहित्य के विविध आयाम, भाग-1, पा.वि. वाराणसी, 1989
20. जैन साहित्य के विविध आयाम, भाग-2, पा.वि. वाराणसी, 1989
21. जैन साहित्य के विविध आयाम, भाग-3, पा.वि. वाराणसी, 1990
22. जिनचन्द्रसूरि काव्यांजलि, पा.वि. वाराणसी, 1989
23. जैनधर्म की प्रमुख साध्वियां, पा.वि. वाराणसी, 1990
24. मध्यकालीन राजस्थान में जैनधर्म, पा.वि. वाराणसी, 1992
25. जैन प्रतिमा विज्ञान, पा.वि. वाराणसी, 1985
26. जैनतीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन, पा.वि. वाराणसी, 1991
27. मानव जीवन और उसके मूल्य, पा.वि. वाराणसी, 1990
28. जैन मेघदूत, पा.वि. वाराणसी, 1989
29. जैनकर्म सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास, पा.वि. वाराणसी, 1993
30. Theory of Realty in Jaina Philosophy, PVRI, 1991
31. Concept of matter in Jaina Philosophy, PVRI, 1987
32. Jaina Epistemology, PVRI, 1990
33. The Concept of Panchasheel in Indian Thought, PVRI, 1983
34. The Path of Arhat, PVRI, 1993
35. Jaina Perspective in Philosophy & Religion, PVRI, 1983
36. Aspect of jainology, VOL, I, PVRI, 1987
37. Aspect of jainology, VOL, I, PVRI, 1987

38. Aspect of jainology, VOL, I, PVRI, 1991
39. Aspect of jainology, VOL, I, PVRI, 1993
40. Aspect of jainology, VOL, I, PVRI, 1987
41. Samana Suttam, Sarva Seva Prakashan, Varanasi, 1993
42. Ishibhasiyayim, PVRI, Varansai & Prakrit Bharti, Jaipur
43. उपासकदशा में वर्णित श्रावकाचार, आ.अ.स.प्रा. संस्थान, उदयपुर, 1987
44. जैनधर्म के सम्प्रदाय, आ.अ.स.प्रा. संस्थान, उदयपुर 1994
45. नेमिदूत, पा.वि. वाराणसी, 1994
46. महावीर निर्वाण भूमि पावा, पा.वि. वाराणसी, 1992
47. हरिभद्र के साहित्य में समाज एवं संस्कृति, पा.वि. वाराणसी, 1994
48. गाथा सप्तशती, पा.वि. वाराणसी, 1995
49. शृंगारवैराग्य तरंगीणि, पा.वि. वाराणसी, 1995
50. मातृकापद शृंगार कलित गाथाकोश, पा.वि. वाराणसी, 1995
51. आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, पा.वि. वाराणसी, 1983
52. जैन नीतिशास्त्र, पा.वि. वाराणसी
53. नलविलास नाटक, पा.वि. वाराणसी
54. कौमुदी भिन्नानन्द (नाटक), पा.वि. वाराणसी
55. अनेकांतवाद एवं पाश्चात्य व्यवहारिकतावाद, पा.वि. वाराणसी, 1997
56. बौद्ध प्रमाण मीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा, पा.वि. वाराणसी, 1995
57. भारतीय जीवन मूल्य, पा.वि. वाराणसी, 1997
58. जैन महापुराण : एक कलापरक अध्ययन, पा.वि. वाराणसी, 1997
59. शीलदूत, पा.वि. वाराणसी, 1997
60. वसुदेवहिण्डी : एक अध्ययन, पा.वि. वाराणसी, 1997
61. जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहारनय : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पा.वि. वाराणसी, 1997
62. पंचाशक प्रकरण- हिन्दी अनुवाद, पा.वि. वाराणसी, 1997
63. De Chargeotte Krause-Her life and work, पा.वि. वाराणसी, 1997
64. Multi-dimentional Application of Anekant Vada, पा.वि. वाराणसी, 1997
65. Pearls of Jain Wisdom, पा.वि. वाराणसी, 1996
66. सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पा.वि. वाराणसी, 1995
67. कषाय- साध्वी हेमप्रज्ञाश्री, इन्दौर

68. चन्द्रवेधक प्रकीर्णक- हिन्दी अनुवाद, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर, 1991
69. देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक- हिन्दी अनुवाद, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर, 1987
70. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक- हिन्दी अनुवाद, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर, 1991
71. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति- हिन्दी अनुवाद, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर 1987
72. तन्दुलवैचारिक- हिन्दी अनुवाद, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर, 1991
73. गच्छाचार- हिन्दी अनुवाद, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर
74. मणीविद्या- हिन्दी अनुवाद, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर
75. संस्तारक- हिन्दी अनुवाद, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर
76. चतुःशतक प्रकीर्णक
77. सारावली प्रकीर्णक
78. प्रकीर्णक साहित्य मनन और मीमांसा
79. अंग साहित्य मनन और मीमांसा
80. प्रा.त व्याकरण-व्याख्या प्यारचंदजी, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर
81. जैनधर्म जीवनधर्म, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर
82. प्रा.त सुक्तावली, आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर
83. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी), आ.अ.स.प्रा.संस्थान, उदयपुर
84. Chandra Vedhyaka Prakirnaka (English Version), A.A.S.P.S.Udipur
85. Devendra Stava, A.A.S.P.S.Udaipur
86. Mahapratykhyan, A.A.S.P.S.Udaipur
87. Dvipasagara Pragyaapti, A.A.S.P.S.Udaipur
88. Tandulvaicharika, A.A.S.P.S.Udaipur
89. Chatushataka, A.A.S.P.S.Udaipur
90. Samstaraka, A.A.S.P.S.Udaipur
91. Tattvarthsutra, A.A.S.P.S.Udaipur
92. Virastava, A.A.S.P.S.Udaipur
93. Gacchacara, A.A.S.P.S.Udaipur
94. Devindatharva, A.A.S.P.S.Udaipur
95. नवतत्त्व, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
96. जैन गृहस्थ को षोडश संस्कार, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
97. जैन मुनि जीवन के विधि विधान, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
98. प्रायश्चित्त, आवश्यक, तप एवं पदारोपण विधि, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
99. प्रतिष्ठा, शान्तिकर्म पौष्टिक कर्म एवं बलि विधान, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

100. जैन संस्कार और विधि विधान, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
101. उपदेश पुष्पमाला, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
102. सुकरन्तावली, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
103. ऋषिभाषित : एक दार्शनिक अध्ययन, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
104. जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
105. बौद्ध दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
106. उपाध्याय यशोविजयजी का अध्यात्मवाद, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
107. जैनधर्म में आराधना का स्वरूप, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
108. अध्यात्मसार (हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित), प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
109. अनुभूति और दर्शन, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
110. सर्वसिद्धान्त प्रवेशक, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
111. विद्याचन्द्रसूरि दीक्षा शताब्दीग्रन्थ, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

इनके अतिरिक्त, प्रो. सागरमल जैन की जो 43 कृतियाँ हैं, उनका सम्पादन भी उन्होंने स्वयं किया है। इस प्रकार उनके सम्पादित ग्रन्थ 155 से भी अधिक हैं। साथ ही, आप Encyclopaedia of Jaina Studies, जो सात खण्डों में प्रकाशित हो रहा है और जिसका प्रथम खण्ड प्रकाशित हो चुका है, के भी सम्पादक हैं।

प्रो. सागरमल जैन द्वारा संस्थापित प्राच्य विद्यापीठ

स्थापना एवं उद्देश्य :

मालव ज्योति पूज्या श्री वल्लभकुँवरजी म.सा. साध्वीवर्या पूज्या श्रीपानकुँवरजी म.सा. (दादाजी) की पुण्य स्मृति में एवं मरुधरमणि साध्वी पूज्या श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा. एवं साध्वीवर्या पूज्या श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा. की प्रेरणा से भारतीय प्राच्य विद्याओं (विशेष रूप से जैन और बौद्ध परम्पराओं) के उच्च स्तरीय अध्ययन, शिक्षण, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ-साथ उच्चस्तरीय अध्ययन, शिक्षण, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करने के पुनीत उद्देश्य को लेकर-दर्शनशास्त्र के आचार्य, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के भूतपूर्व निदेशक, जैन बौद्ध और हिन्दू धर्म एवं दर्शन, कला एवं संस्कृति, साहित्य और इतिहास एवं पुरातत्व के अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त मूर्धन्य विद्वान डॉ. सागरमलजी जैन ने वाराणसी से प्रत्यागमन के पश्चात् वर्ष 1997 में अपने गृहनगर शाजापुर में प्राच्य विद्यापीठ की स्थापना की, जिसे वर्ष 2000 में विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन (म.प्र.) द्वारा शोध संस्थान के रूप में मान्यता प्रदान की गई।

उपलब्ध सुविधाएँ :

पश्चिमी मध्यप्रदेश के मालवांचल में उज्जैन के अंतर्गत शाजापुर नगर जिला मुख्यालय है, जो देश के सभी प्रमुख नगरों व प्रदेश के महत्वपूर्ण स्थानों, जैसे नई दिल्ली, मुम्बई, अहमदाबाद, जयपुर, इंदौर, उज्जैन, भोपाल आदि स्थानों से रेल/बस सेवा से जुड़ा हुआ है। शाजापुर नगर से होकर गुजरने वाले आगरा-मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग के समीप तथा नगर के केन्द्र से लगभग 1.5 कि.मी. दूर प्रदूषण रहित एवं सुरम्य प्राकृतिक वातावरण में दुपाड़ा रोड़ पर 9000 वर्ग फीट के क्षेत्रफल में निर्मित विद्यापीठ का दो मंजिला भव्य एवं सुसज्जित सभाकक्ष। इसके अतिरिक्त इस भवन में 700 वर्गफीट क्षेत्रफल के 5 हाल, भोजनशाला, दो अतिथि कक्ष (प्रसाधन सहित), सेवक कक्ष तथा नित्यकर्म एवं स्नान आदि के लिये 8 प्रसाधन भी निर्मित है। साथ ही विद्यापीठ में अध्ययन, अध्यापन के लिये फर्नीचर एवं कम्प्यूटर आदि की समुचित व्यवस्था है। साथ ही आचार्य श्री जयंतसेन सूरेश्वरजी की प्रेरणा से साधुओं के लिये आराधना भवन का निर्माण भी हो चुका है।

राजगंगा ग्रंथागार :

संस्था का राजगंगा ग्रंथागार विद्यापीठ के परिसर में ही स्थित हैं, जिसमें जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म एवं दर्शन तथा प्राकृत, पाली और संस्कृत के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी संरक्षित हैं, जो 15वीं शती से 20वीं शती तक की हैं। लगभग 40 पत्र-पत्रिकाएँ भी नियमित रूप से विद्यापीठ में आती हैं। शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु विद्यापीठ के संस्थापक-निर्देशक डॉ. सागरमलजी जैन का सतत सानिध्य प्राप्त है।

विद्यापीठ परिसर में साधु-साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिये अध्ययन, अध्यापन के साथ-साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

विद्यापीठ की उपलब्धियाँ वर्ष 1997-2010 तक

स्नातकोत्तर अध्यापन :

प्राच्य विद्यापीठ के परिसर, समृद्ध राजगंगा ग्रंथागार और मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सानिध्य-इस अधोसरचना रुपी त्रिवेणी के फलस्वरूप शाजापुर जिले में भारतीय विद्याओं के अध्ययन के लिये प्रेरक वातावरण निर्मित हुआ है। इसका लाभ लेते हुए जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाइन्सू (राज.) द्वारा संचालित दूरस्थ शिक्षा पाठ्यक्रमों के अंतर्गत जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन तथा जीवनविज्ञान, प्रेक्षाध्यान एवं योग विषय में शाजापुर नगर के लगभग 20 विद्यार्थियों ने प्रथम एवं उच्च द्वितीय श्रेणी में एम.ए. की

उपाधि प्राप्त की। मात्र यहीं नहीं विद्यापीठ की छात्रा श्रीमती मीनल आशीष जैन ने जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ की वर्ष 2002 की एम.ए. जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर प्रावीण्य सूची में सम्पूर्ण भारत में प्रथम स्थान प्राप्त करने का गौरव हासिल किया है।

पी-एच.डी उपाधि

प्रो. सागरमलजी जैन के मार्गदर्शन एवं निर्देशन में तथा राजगंगा ग्रन्थागार का लाभ लेकर शोधार्थियों द्वारा किये गये शोधकार्य संबंधी उपलब्धियों का विवरण इस प्रकार है।

1. साध्वी विनीतप्रज्ञाश्रीजी (औपचारिक), उत्तराध्ययन: एक अनुशीलन, गुजरात वि.वि.अहमदाबाद
2. साध्वी उदितप्रभाजी, जैन धर्म में ध्यान की विकास यात्रा महावीर से महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)
3. साध्वी दर्शनकलाश्रीजी, जैन साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)
4. साध्वी प्रियलताश्रीजी, जैन धर्म में त्रिविध आत्मा की अवधारणा, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)
5. साध्वी प्रियवंदनाश्रीजी, जैन दर्शन में समत्व योग, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)
6. श्रीमती विजयागोसावी (मुंबई), जैन योग और योगसूत्र, एक अध्ययन, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)
7. श्री रणवीर सिंह भदौरिया, गीता में प्रतिपादित विभिन्न योगों का तुलनात्मक अध्ययन, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)
8. साध्वी दिव्यांजनाश्रीजी, संवेगरंगशाला : एक अध्ययन, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)
9. साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी, आचारदिनकर में प्रतिपादित संस्कार और संस्कार विधि, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)
10. साध्वी विवेक्षणश्रीजी, विशेषावश्यक के गणधर वाद और निह्वाद का अध्ययन, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)
11. साध्वी विजयश्रीजी, जैन श्रमणी संघ का अवदान, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)
12. साध्वी स्थितप्रज्ञाश्रीजी, जैनमुनि की आहारचर्या, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)

13. साध्वी प्रीतिदर्शनाश्रीजी, यशोविजयजी का अध्यात्मवाद, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज.)
14. साध्वी ज्योत्सनाजी, रत्नाकरावतारिका में बौद्धदर्शन की समीक्षा, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज)
15. साध्वी संवेगप्रज्ञाश्रीजी, पंचवस्तुप्रकरण: एक अध्ययन, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज)
16. संजीव जैन, गणधरवाद की दार्शनिक समीक्षा, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
17. प्रवीणकुमार जोशी, भारतीय चिन्तन में मानवाधिकार एवं कर्तव्य की अवधारणा, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
18. आशीष नगर, राधातत्त्व एक अनुशीलन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
19. साध्वी प्रतिभाजी, जैन श्राविकाओं का जैनधर्म की अवदान, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
20. साध्वी प्रतिभाजी, आराधना पताका में समाधि मरण की अवधारणा, जैन विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राज)
21. साध्वी प्रमुदिताश्रीजी, जैन दर्शन में संज्ञा की अवधारणा, जैन विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राज)
22. सुश्री तृप्ति जैन, जैन दर्शन में तनाव प्रबंधन, जैन विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राज)
23. श्री नवीन बुधोलिया, महात्मा गाँधी का दर्शन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

इस प्रकार प्रो. सागरमल जैन के अद्यावधि जीवनवृत्त से सहज की विदित होता है कि उनके जीवन में एक अज्ञात प्रेरणा सक्रिय रूप से उनका निर्माण करती रही है। इस दृष्टि से उनके जीवन को प्रायोजित जीवन कहा जा सकता है। ऊपर से देखने पर उनका जीवन एक कर्मयोगी का दिखता है परन्तु अन्दर से देखने पर वे ज्ञान-योग की साधना में रत दिखाई पड़ते हैं। उनकी आत्म प्रतिमा एक ज्ञानयोगी की है। आजीवन उन्होंने इसी आत्म प्रतिमा को न केवल पल्लवित किया है बल्कि उसका संस्थानिकरण किया है। इसलिए प्रो. सागरमल जैन के सम्पूर्ण जीवन को आत्मक्रियान्वयन की साधना से अभिहित किया जा सकता है। स्वयं को पढ़ाने हेतु शाजापुर में बालकृष्ण नवीन महाविद्यालय की स्थापना में साधकतम सहयोग, काशी में पार्श्वनाथ विद्याश्रम का एक अग्रणी जैनविद्या शोध संस्थान के रूप में पुनरोद्धार और फिर अपने ही गृह नगर शाजापुर में प्राच्य विद्यापीठ की स्थापना – यह सब कुछ उनकी आत्मविस्तारक, कर्मठता को ही प्रमाणित करते हैं। प्रो. सागरमल जैन

को एक व्यक्ति की वैयक्तिकता में नहीं समझा जा सकता। उन्होंने अपने जीवन की हर एक प्रस्थिति और भूमिकाओं में अपने को ही आत्मार्पित किया है। ज्ञान की निजी साधना से वृहत्तर उनके वाङ्मयी व्यक्तित्व को उन सन्दर्भों में हृदयंगमित किया जा सकता है जहाँ उनके सम्पर्क में आया हुआ प्रत्येक विद्यार्थी और शोधार्थी अपने-अपने तरीके से सागरमल को ही सर्जित करता रहा है। उनके द्वारा स्थापित संस्थाएँ, संयोजित पुस्तकालय और स्वयं उनका वाङ्मयी कृतित्व अनेकानेक सागरमल के प्राज्ञ-पुनर्भव की सम्भावना को ही प्रस्तुत करते हैं।

अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे





प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

13ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर

फोन : 0141-2524827, 2520230

E-mail : prabharati@gmail.com

Web-Site : prakritbharati.net



बैंक ऑफ महाराष्ट्र
Bank of Maharashtra

भारत सरकार का उद्यम

एक परिवार एक बैंक

के सहयोग (सी.एस.आर.) से



9 789381 571736